UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186628

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. H 330.1 D51A

Accession No. P.G.H 3980

Author डयूवेट केवल कृष्ण

Title अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धांत

This book should be returned on or before the date last marked below.

SOME INDISPENSABLE BOOKS ON ECONOMICS

Studies in Advance Economic Theory. By Prof. J.K. Mehta. (*2nd Edition* 1950) 8

Elements of Economics. By Prof. Nandlal Bhatnagar, M.A. (1949) 10

Principles of Economics. By the late Prof. Brij Narain. (*New Edition in preparation*) 9 8

Economics for Bankers. By Dr. K.K. Dewett. (*Edition* 1951) 6 (

Indian Economics. By Dr. K.K. Dewett & G.C. Singh (1953) 13 !

भारतीय अर्थशास्त्र ले० केवल कृष्ण डयूवेट तथा गुरुचरणसिह (*Hindi Edition to the above*) (१९५४) १२ ८

Introduction to Money, Exchange and Banking, with special reference to India. By Rajnarain Mathur, M.A. (*8th Edition* 1951) 8 ,

द्रव्य विनिमय तथा बैंकिंग का परिचय ले० राजनारायण माथुर (१९५२) ८ ०

Reserve Bank of India and Rural Credit. By Dr. K.K. Sharma. 7 8

भारतीय मुद्रा का इतिहास ले० गिरिराज प्रसाद गुप्ता (१९५२) ३ १२

भारत का आर्थिक विकास, ले० दयाशकर नाग (१९५२) ५ ४

Money and Banking. By the late Prof. Brijnarain. Revised by Dr. K.K. Dewett, M.A. (in press) 8 (

Co-operative Problems in India. By Prof. Mahesh Chand. (*Edition* 1949) 4 (

Co-operation in the East and West. By Mahesh Chand & Kushwaha (1954) 5

Industrial Organisation in India. By Mahesh Chand and S.D. Misra. (*Edition* 1950) 5

Recent Trends in India's Foreign Trade. By Dr. R. N. Poduval. (*Edition* 1950) 1

Finance of the Government of India since 1935. By Dr. R.N. Poduval. (*Edition* 1951) 12

General Economics Refresher Course. By Dr. K. K. Dewett and Prof. J.D. Verma. (*4th Edition* 1954) 5

Indian Economics Refresher Course. By Dr. K.K. Dewett and Prof. J.D. Verma. (*4th Edition* 1954) 5

Hindi editions to the above each 5

S. CHAND & CO. FOUNTAIN, DELHI.

अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त

लेखक

केवल कृष्ण डचूवेट

एम० ए०, पी० एच० डी०, पी० ई० एस०

अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, गवर्नमेंट कॉलेज, होशियारपुर

अनुवादक

अनन्तराम निगम एम० ए०, त्रिभुवननाथ भगोलीवाल एम० ए०,
जगदीश प्रताप सिंह एम० ए०, हनुमान दयाल
माथुर एम० ए०, प्राध्यापक अर्थशास्त्र विभाग
दयानन्द महाविद्यालय,
कानपुर-१७

प्रोमियर पब्लिशिंग कम्पनी
पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता
फव्वारा—मेरठ

लेखक की अन्य पुस्तकें—

भारतीय अर्थशास्त्र–१९५४ १२॥)
सुबोध अर्थशास्त्र-सिद्धांत–१९५४ ५॥)
सुबोध भारतीय अर्थशास्त्र–१९५४ ५॥)

इनके अतिरिक्त ये ग्रन्थ अंग्रेजी मे भी उपलब्ध है।

मूल्य १२)

प्रकाशक:—
गौरी शंकर शर्मा मैनेजर,
प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी

मुद्रक:-
नेशनल प्रिंटिंग वर्क
दरियागंज, दिल्ली

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

(अंग्रेज़ी का पंचम संस्करण)

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम संस्करण का हाथों हाथ बिक जाना इसकी लोकप्रियता का और हिंदी-भाषा-भाषी विद्यार्थी-समाज द्वारा इसके हार्दिक स्वागत का प्रमाण है। ऐसी सर्वप्रिय पाठ्य पुस्तक के लेखक पर निस्सन्देह बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। उसे पुस्तक को सर्वथा समयानुकूल बनाना ही चाहिए। यह अर्थशास्त्र की पुस्तक के लिए तो विशेषतया आवश्यक है, जहां हाल ही के वर्षों मे अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु तथा व्याख्याओं मे नवीन विकास हुए है। यह तो सर्वविदित ही है कि हमारे बहुत-से भारतीय विश्वविद्यालयों मे अर्थशास्त्र की पढ़ाई का तरीका वही है, जो आज से पचास वर्ष पहले था और यही कारण है कि उच्च श्रेणी के विद्यार्थी भी आधुनिक अर्थशास्त्र के व्याख्यानों को अच्छी तरह नहीं समझ सकते। मैंने इस संस्करण मे पुस्तक का पूर्णतः संशोधन एवं परिवर्द्धन करके और इसे आधुनिकतम बनाकर इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया है। लगभग प्रत्येक अध्याय मे नए विभाग जोड़े गए है और हरेक विभाग को फिर से अच्छी प्रकार दोहरा लिया गया है, जिससे कि इसमे पिछले संस्करण से अधिक सुधार दृष्टिगोचर होगा। पुस्तक के आकार से और प्रत्येक अध्याय के अंत मे दी गई पुस्तकों की सूची से इस कथन की सत्यता सिद्ध हो जाएगी। मैंने पुस्तक के विषय को अत्यन्त व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है और इसमे मै कहां तक सफल हुआ हूं, इसका निर्णय मै पाठकों पर छोड़ता हूं।

इस पर भी मै अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धांतों के विस्तृत ज्ञान-भंडार को पाने के इच्छुक विद्यार्थियों को यह सलाह दूंगा कि वे मेयर की Elements of Modern Economics, सैमुअलसन की Economics, टारशिस की Elements of Economics और स्टिगलर की Theory of Price सरीखी पुस्तकों का अवश्य अध्ययन करे। प्रस्तुत पुस्तक उनका स्थान नहीं ले सकती।

मै भारतवर्ष के उन अनेकों अर्थशास्त्र के शिक्षकों का धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता जिन्होंने समय-समय पर प्रस्तुत पुस्तक में सुधार के लिए अपने अमूल्य सुझाव मुझे भेजे है। मै अपने मित्र और सहकारी डा. एस. बी. रंगनेकर, जो पंजाब यूनिवर्सिटी में अर्थशास्त्र के रीडर है, का विशेषतया हृदय से आभारी हूं, जिन्होंने प्रस्तुत संस्करण में अनेकों अमूल्य सुझाव दिए है।

होशियारपुर,
जनवरी, १९५४

केवल कृष्ण डचूवेट

विषय-सूची

अध्याय	विषय		पृष्ठ सं०
१.	अर्थशास्त्र का स्वरूप तथा क्षेत्र	..	१
२.	आर्थिक शब्द तथा मूल धारणाएं	..	२४
३.	उपभोग	..	३८
४.	उपभोग (विस्तृत)	..	४६
५.	उपभोग (विस्तृत) सम-सीमान्त प्रत्याय नियम	..	६०
६.	मांग Demand	..	८४
७.	उत्पत्ति (सामान्य रूप में)	..	१०६
८.	उत्पत्ति के साधन—भूमि Production	..	११३
९.	उत्पत्ति के साधन—श्रम	..	१२४
१०.	यन्त्र तथा श्रम-विभाजन	..	१४१
११.	पूंजी Capital	..	१५०
१२.	साहसी तथा उसकी समस्याएं	..	१६१
१३.	विभिन्न साधनों का परस्पर सहयोग	..	१७८
१४.	उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता	..	१८८
१५.	व्यवसाय संगठन के रूप	..	१९७
१६.	एकाधिकार Rent	..	२१२
१७.	विनिमय-बाजार	..	२३०
१८.	पूर्ति तथा पूर्ति का नियम	..	२५०
१९.	मांग और पूर्ति का साम्य बाजार	..	२६३
२०.	लागत और उत्पत्ति	..	२७४
२१.	सामान्य मूल्य का सिद्धांत	..	२९२
२२.	मूल्य से सम्बन्धित वास्तविक लागत	..	३०८
२३.	परस्पर-निर्भर मूल्य	..	३२६
२४.	एकाधिकार में मूल्य	..	३३५
२५.	अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य	..	३५७
२६.	वितरण : सामान्य सिद्धांत	..	३६४
२७.	लगान का Taxes	..	३७५
२८.	मजदूरी Wages	..	३९५
२९.	श्रम की कुछ समस्याएं	..	४१२

अध्याय	विषय		पृष्ठ सं०
३०.	व्याज Interest	..	४३४
३१.	लाभ Profits.	..	४६०
३२.	विनिमय की कार्य-विधि	..	४७७
३३.	मुद्रा-प्रणालियां	..	४९७
३४.	द्रव्य का मूल्य	..	५१३
३५.	मुद्रा और कीमतें	..	५२७
३६.	साख	..	५४९
३७.	बैंक	..	५५८
३८.	द्रव्य-बाजार तथा केन्द्रीय बैंक	..	५७२
३९.	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धांत	..	५९९
४०.	स्वतंत्र व्यापार तथा संरक्षण	..	६१४
४१.	भुगतान-तुला	..	६२५
४२.	विदेशी विनिमय	..	६३४
४३.	व्यापार-चक्र और संकट-काल	..	६६२
४४.	सार्वजनिक-अर्थशास्त्र	..	६८६
४५.	राजकीय अर्थ-व्यवस्था	..	६९६
४६.	राजकीय अर्थ-व्यवस्था (गत अ. से आगे)	..	७१०
४७.	कर का भार	..	७३७
४८.	राजकीय ऋण	..	७६०
४९.	आर्थिक व्यवस्था	..	७८०
५०.	नियोजन-सिद्धांत	..	८०८
	कुछ प्रश्न	..	८१८

"अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त"

अध्याय १

अर्थशास्त्र का स्वरूप तथा क्षेत्र

(THE NATURE AND SCOPE OF ECONOMICS)

१. परिभाषा की समस्या (The Problem of Definition)—डा० जे० एन० कीन्स (Dr. J. N. Keynes) का यह कथन अनुचित नही है कि "राज्य अर्थ-व्यवस्था अपनी परिभाषाओ में फंसी हुई कही जाती है।"[१] अतएव कुछ ऐसे भी अर्थशास्त्री है जैसे रिचर्ड जोन्स (Richard Jones) और कॉम्टे (Comte) जो किसी प्रकार की परिभाषा की आवश्यकता ही नही समझते। परन्तु एक विद्यार्थी के लिए यह परम आवश्यक है कि कोई परिभाषा उसके अध्ययन के आधार के लिए हो। इसके अतिरिक्त, परिभाषा की ओर ले जाने वाला विवेचन विषय के मौलिक विचारों के स्पष्टीकरण के लिये बहुत लाभदायक है। इसलिए हमको समय-समय पर दी गई परिभाषाओ पर विचार करना चाहिए।

२. क्या अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है? (Is Economics a Science of Wealth?)—एडम स्मिथ (Adam Smith) के कथनानुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध "राष्ट्रों के धन की प्रकृति तथा कारणो की जाच" से था। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान (Science of Wealth) कहा था। ऐसे समय में जब कि धार्मिक भावनाये दृढ थी और आत्मिक धारणाओ का मनुष्य के विचारों पर अधिकार था, प्रगतिशील मनुष्य को धन का विचार धनी पुरुषो के दूषित और पतित पथ के कारण घृणा की ओर उत्तेजित करता था। इसी कारण कार्लायल (Carlyle) तथा रस्किन (Ruskin) जैसे साहित्यिक लेखक इसकी उचित निन्दा के लिए अग्रसर हुए। प्राचीन अर्थशास्त्री जो कि 'कुबेर पूजा' (Mammon-Worship) की नई विचारधारा के अनुयायी थे, घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे। अर्थशास्त्र स्वार्थता का ज्ञान देनेवाला शास्त्र समझा जाने लगा और 'निकृष्ट विज्ञान' (Dismal Science) कहा जाने लगा।

भाग्यवश अर्थशास्त्र को अब ऐसी शोचनीय दशा से छुटकारा मिल गया है। धन का अत्यधिक महत्त्व क्षीण हो गया है। अब धन को अनुचित प्रभुत्व नही दिया जाता है। यह अब सर्वमान्य है कि धन केवल लक्ष्य का एक साधन है; लक्ष्य तो मानवीय क्षेम

---

१ Keynes J. N.—Scope and Method of Political Economy, 1930, P. 153.

(Human Welfare) है। धन न तो मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य तथा उसके प्रयत्नों का अन्त है और न यह आशा की जा सकती है कि केवल यह ही मनुष्य के सुख का एकमात्र कारण हो सकता है। अब धन के स्थान पर मनुष्य का महत्त्व अधिक हो गया है। मनुष्य का स्थान प्राथमिक और धन का द्वितीय है। मॉर्शल का कथन उचित है कि अर्थशास्त्र "एक ओर धन का अध्ययन है, और दूसरी ओर जो अधिक महत्त्वपूर्ण है मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।" इस प्रकार अर्थशास्त्र धन का विज्ञान नहीं है परन्तु प्राथमिक मनुष्य का अध्ययन है। इसको मनुष्य के क्षेम का विज्ञान कहा जा सकता है।

वर्तमान समय मे रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र को उसके निन्दा करनेवालो के द्वारा उसे नीच तथा तुच्छ कहे जाने से बचा लिया है। रॉबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र लक्ष्य से सम्बंधित नही है। लक्ष्य उच्च, अथवा नीच हो सकते है। यदि उनकी प्राप्ति मे न्यून साधनो का प्रयोग किया जाता है तो वे आर्थिक रूप रखते है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के अन्तर्गत वह सब अच्छा व बुरा व्यवहार जिस पर न्यूनता का प्रभाव पडता है सम्मिलित है। अतएव हम अर्थशास्त्र को उच्च अथवा नीच लक्ष्यो पर आश्रित होने का दोष नही दे सकते।

३. **क्या अर्थशास्त्र भौतिक क्षेम का विज्ञान है?** (Is Economics a Science of Material Welfare?)—बहुत समय से यह एक मान्य मत है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन मानवीय क्रियाओ से है जो कि धन की ओर केन्द्रित होती है, अपने लिए नही वरन् भौतिक क्षेम के विकास के लिए। निम्नलिखित परिभाषाए इस प्रचलित दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है:—

"अर्थशास्त्र उन सामान्य रीतियो का जिनके हेतु मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहयोग करते है, अध्ययन है।"—बेवरिज "Economics is the study of the general methods by which men co-operate to meet their material needs."—Beveridge

"राज्य-अर्थव्यवस्था का उद्देश्य उन सामान्य कारणो का स्पष्टीकरण है जिन पर मनुष्य का भौतिक क्षेम निर्भर है।"—कैनन "The aim of political Economy is the explanation of the general causes on which the material welfare of human beings depends."—Cannon

"हमारी जाच का क्षेत्र सामाजिक क्षेम के उस भाग तक सीमित हो जाता है जोकि द्रव्य के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष मापदण्ड (Measuring rod) से सम्बद्ध किया जा सकता हो।"—पीगू "The range of our inquiry becomes restricted to that part of social welfare that can be brought directly or indirectly into relation with the measuring rod of money."—(Pigou)

"राज्य-अर्थव्यवस्था अथवा अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय के सम्बन्ध में

मानव जाति का अध्ययन है; इसमे भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति और उपभोग से अत्यन्त निकट सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तिगत और सामाजिक प्रयत्नों की छानबीन की जाती है।"—मार्शल "Political Economy or Economics is a study of mankind in the ordinary business of life; it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of the material requisites of well-being." (Marshall)

इन सब परिभाषाओ के अन्तर्गत एक सूत्र व्यापक है अर्थात् भौतिक क्षेम। बेवरिज भौतिक आवश्यकताओ का, कैनन भौतिक क्षेम के कारणों का ओर मॉर्शल भौतिक सुख के साधनो का वर्णन करते है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार अर्थशास्त्र मनुष्य की उन क्रियायो का अध्ययन है जो कि मनुष्य के भौतिक क्षेम की सहायक है।

अर्थशास्त्रियो ने अपना सम्बन्ध भौतिक क्षेम से क्यों रक्खा है? मानवीय क्षेम प्रत्येक प्रकार से ही अमाप्य है। परन्तु अर्थशास्त्रियों के पास एक ऐसा उपकरण है जिससे भौतिक दृष्टिकोण से मनुष्य का क्षेम नापा जा सकता है। यह उपकरण धन है। यह मानव जाति को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के भौतिक साधन उपलब्ध कराता है और उसके क्षेम को बढाता है। जो अर्थशास्त्री धन का अध्ययन करते है, उनका भौतिक क्षेम के कारणो का अध्ययन उचित ही माना जा सकता है।

परंतु लियोनेल राबिन्स (Lionel Robbins) ने इस धारणा पर प्रत्यक्ष आक्रमण कर दिया है। वह अर्थशास्त्रियों के लिए यह उचित नही समझते कि वे अपने विचार भौतिक क्षेम तक सीमित रक्खे। अर्थशास्त्र के वास्तविक अध्ययन में 'भौतिक तथा अभौतिक' दोनो मिश्रित है। "मजदूरी का वह सिद्धान्त असहनीय होगा जिसमें भुगतान की उस राशि का जो या तो अभौतिक सेवाओ के लिये प्रदान की गई हो या अभौतिक लक्ष्य के हेतु व्यय की गई हो, तिरस्कार किया गया हो।"[१] अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन की 'अभौतिक' परिभाषा को भी एकमत से ग्रहण किया है। रॉबिन्स ने अपनी पुस्तक "Nature and Significance of Economic Science" मे उन पदार्थो के अनेको उदाहरण दिये है जो मानवीय क्षेम के लिये अत्यन्त सहायक है परंतु जिनमें कोई भी भौतिकत्व नही है। उदाहरणार्थ डाक्टरों, वकीलो इत्यादि की सेवायें। इन सेवाओ का आर्थिक महत्व है। वे न्यून है और उनकी उपयोगिता है। रॉबिन्स (Robbins) का कथन है "यह तृप्ति के साधनों का भौतिकत्व नही है वरन् उनसे मूल्य निर्णय का सम्बन्ध है जो उनको आर्थिक वस्तुओं का पद देता है।" यह 'भौतिक' परिभाषा निन्दित निर्बाधावादी (Physiocratic) विचारों पर आधारित है। इस प्रकार अर्थशास्त्र भौतिक तथा अभौतिक दोनों वस्तुओं से सम्बद्ध है।

१ L. Robbins—Nature and Significance of Economic Science, P. 6.

रॉबिन्स (Robbins) का विरोध, तो भी, केवल 'भौतिक' शब्द से ही नही है। वे अर्थशास्त्र का क्षेम से कोई भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहेंगे। जो अर्थशास्त्र को क्षेम के प्रति अध्ययन कहते है उनकी अव्यवस्था स्पष्ट है। मादक वस्तुएं धन समझी जाती है। परन्तु किसी भी दृष्टिकोण से वे मनुष्य के क्षेम को सहायक नही समझी जा सकतीं। न्यून होने के कारण वे मूल्य निर्णय विधि के अधीन है। संक्षेप में उनका आर्थिक महत्त्व है, यद्यपि वे मानवीय क्षेम के लिये उपयोगी नही है। रॉबिन्स (Robbins) यह कहेंगे, "क्षेम का प्रलाप क्यों किया जाय? इस परदे को बिल्कुल हटा क्यो न दिया जाय?"

इन अव्यवस्थाओं के अतिरिक्त जिनमें क्षेम में विश्वास करने वाले अर्थशास्त्री फंस जाते है कुछ अन्य कारण भी है जो केवल आर्थिक वार्तालापों से क्षेम के विचार को हटा देते है। क्षेम के विचार समय-समय पर देश-देश में और व्यक्ति-व्यक्ति से भिन्न होते है। एक माननीय विज्ञान बनाने के हेतु क्षेम पर्याप्त आधार प्रदान करने के लिए अत्यन्त अस्थिर और अनिश्चित विचार है।

एक यह भी विरोध है कि मानवीय क्षेम के निर्धारण में हमको यह निर्णय देना होगा कि हम मानवीय क्षेम के लिए क्या प्रवर्तक समझते है और क्या इतना प्रवर्त्तक नही समझते। हम लोग नीतिशास्त्र (Ethics) के क्षेत्र में पहुच जायेंगे जब कि रॉबिन्स के मतानुसार अर्थशास्त्र लक्ष्य के सम्बन्ध में अपक्षपाती है। इसका कार्य नीति का निर्णय करना और बुरे-भले का अन्तर बताना नही समझा जाता है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र भौतिक क्षेम के कारणो का अध्ययन नही समझा जा सकता है। "अर्थशास्त्र चाहे जिससे भी सम्बद्ध हो, यह भौतिक क्षेम के इस प्रकार के कारणों से सम्बद्ध नही है।"—(रॉबिन्स)

४. रॉबिन्स की परिभाषा (Robbin's Definition)—मार्शल द्वारा अर्थशास्त्र की परिभाषा की समस्या हल की हुई प्रतीत होती है और अनेकों निपुण अनुकूल मत उनके विचारों पर निर्धारित हैं। परन्तु रॉबिन्स की पुस्तक "Nature and Significance of Economic Science" के सन् १९३१ में प्रकाशन से वाद-विवाद का चक्कर फिर से चलने लगा। लियोनेल रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र विज्ञान के स्वरूप के प्रचलित दृष्टिकोण को चुनौती दी है। हमने ऊपर दिये हुए विभाग में कुछ उनके विरोधों का निरूपण किया है। वह अब तक की स्वीकृत और विख्यात अर्थशास्त्र की परिभाषाओं को श्रेणीयुक्त तथा अवैज्ञानिक कहते हैं। "भौतिक" शब्द ने अनावश्यक सीमा बना दी है। अर्थशास्त्र की क्षेम को धारणा में सर्वव्यापकता और यथार्थता नही है। रॉबिन्स का दृढ़ कथन है कि उनकी परिभाषा में इनमें से कोई भी त्रुटि नहीं है।

रॉबिन्स (Robbins) के अनुसार "अर्थशास्त्र" वह विज्ञान है जिसमें मानव-व्यवहार का साध्य और न्यून और अनेक उपयोग वाले साधनों के बीच सम्बन्ध के रूप में

अध्ययन किया जाता है। "Economics is the Science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses" परिभाषा द्वारा हमको ज्ञात होगा कि यह परिभाषा उन तीन मौलिक प्रस्तावनाओं को स्पष्ट करती है जो अर्थ शास्त्र-विज्ञान के आकार के आधार का निर्माण करती है।

(अ) 'साध्यों' का सम्बन्ध आवश्यकताओं से है। मनुष्यमात्र की आवश्यकताएं अनेक है। आवश्यकताओं का वर्द्धन अपनी संतुष्टि के लिये निरन्तर प्रयत्न चाहता है और आर्थिक क्रियाओं का अनन्तर चक्र चलता ही रहता है। यदि आवश्यकताएं सीमित होतीं तो उनकी संतुष्टि पर्याप्त मात्रा मे हो सकती और आर्थिक प्रयत्न के लिये उद्दीपक नष्ट हो जाता। क्योकि मनुष्य की आवश्यकताएं असीमित है अतएव अधिक आवश्यक अथवा कम आवश्यक आवश्यकताओ मे निर्णय करना पड़ता है।

(ब) यद्यपि आवश्यकताएं असीमित है तो भी उनकी तृप्ति के लिये साधन बहुत सीमित है। निःसन्देह कुछ स्वामित्वहीन पदार्थ (Free Goods) है जो मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति करते है। तो भी अनेक वस्तुए जिनकी हमे आवश्यकता है न्यून है। यदि साधन असीमित होते तो कोई भी आर्थिक समस्या न उठती। परन्तु जैसा पाया जाता है एक समाज के पास ससाधन (Resources) सीमित है ओर उनको किफायत करना चाहिये।

'न्यून' शब्द यहा पर एक विशेष भाव में प्रयोग किया गया है। यह न्यूनता आवश्यकताओं के सम्बन्ध में है। न्यूनता का अर्थ निरपेक्ष भाव मे नही लेना चाहिए। एक वस्तु थोडी मात्रा मे हो सकती है, किन्तु यदि इसका किसी के लिए कोई उपयोग नही है तो हम इसको आर्थिक दृष्टिकोण से न्यून नही कहेगे। दूसरी ओर गेहूं अथवा कोयला जैसी कोई वस्तु ससार मे यदि अधिक राशि (stock) में हो तो भी वह न्यून कही जायेगी क्योंकि माग वस्तु की पूर्ति से भी अधिक है। केवल मात्रा ही नही वरन् वस्तु की मांग का क्षेत्र यह निश्चय करेगा कि वस्तु न्यून है अथवा नही।

(स) रॉबिन्स (Robbins) की परिभाषा के अन्तर्गत तीसरी प्रस्तावना यह है कि न्यून साधनो के अनेक उपयोग हो सकते है। यदि एक वस्तु का एक ही उपयोग हो सकता हो ओर अन्य कोई नही तो उसके सम्बन्ध में बहुत कम आर्थिक समस्याएं उठेंगी। जब इसका वह उपयोग हो चुकेगा तो यह स्वामित्वहीन वस्तु हो जायेगी और इसका कोई आर्थिक महत्त्व नहीं होगा। तो भी, वास्तव में, जिन उपयोगों में कोई वस्तु लाई जा सकती है वह अनेक अथवा लगभग असीमित है। अतएव उस वस्तु की सामूहिक मांग लगभग अतृप्य है। यह वैकल्पिक उपयोग इसलिये भिन्न-भिन्न महत्त्व वाले है ताकि हम उस उपयोग का निर्णय कर सके जो एक वस्तु से लिया जा सके।

जब तक यह सब परिस्थितियां उपस्थित नहीं हैं तब तक कोई आर्थिक समस्या

उत्पन्न नहीं होगी। केवल साध्यों का वर्द्धन अथवा केवल साधनों की न्यूनता न तो एक आर्थिक समस्या और न केवल न्यून साधनों की वैकल्पिक प्रयोजनीयता उत्पन्न कर सकती है। "परन्तु जब साध्य की प्राप्ति के लिये समय और साधन सीमित होते हैं तथा वैकल्पिक प्रयोग के योग्य होते हैं और साध्य महत्त्व की दृष्टि से भिन्न करने योग्य, तब व्यवहार अवश्य ही निर्वाचन का रूप धारण कर लेता है।"[१] अर्थात् इसका एक आर्थिक रूप होता है।

रॉबिन्स (Robbins)के मत के अनुसार आर्थिक क्रिया अनेक साध्यो की तृप्ति के लिये मनुष्य के न्यून साधनों का उपयोग है। 'साधनो' का अभिप्राय समय, द्रव्य अथवा किसी अन्य प्रकार की सम्पत्ति से है। वे सब सीमित है।

प्रत्येक दशा में हम अपने सीमित संसाधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करने का प्रयत्न करते है। राज्य के दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र "उन नियमों का अध्ययन है जिन पर एक समाज के संसाधन इस प्रकार विहित तथा शासित हों जिनसे सामाजिक लक्ष्य बिना क्षय के प्राप्त हो सकें।"—विकस्टीड "Study of those principles on which the resources of a community should be so regulated and administered as to secure communal ends without waste."
—(Wicksteed)

स्टिगलर (Stigler) के शब्दों में अर्थशास्त्र उन सिद्धान्तों का अध्ययन है जो प्रतिस्पर्धी लक्ष्यों में न्यून साधनो के बटवारे को नियत करता है जबकि बटवारे का उद्देश्य लक्ष्यों की प्राप्ति को परम सख्या तक बढाना है।

"Economics is the study of the principles governing the allocation of scarce means among competing ends when the objective of allocation is to maximise the attainment of the ends."

रॉबिन्स (Robbins) ने इस प्रकार अर्थशास्त्र के भौतिक क्षेम पर आधारित पुराने स्वरूप का विनाश कर दिया है और एक नया स्वरूप दिया है जिसके दो आधार आवश्यकताओं का वर्द्धन ओर साधनों की न्यूनता है।

रॉबिन्स (Robbins) का यह दृढ़ विश्वास है कि उनकी परिभाषा दूसरी परिभाषाओं से श्रेष्ठ है। यह अधिक वैज्ञानिक है। यह उस क्षेत्र को बढाती है जिसमें कि भौतिक परिभाषा अर्थशास्त्र को संकुचित करती है। यह कुछ ऐसे सिद्धान्त सामने रखती है जो हर समय प्रत्येक स्थान पर सही है। जैसा कि विकस्टीड (Wicksteed) का कथन है "इसके नियम जीवन के नियमों की भांति हैं और उन क्षेत्रों के अनुकूल हैं जिन का व्यवसाय तथा धन के उत्पादन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।"

१. Robbins—Nature and Significance of Economic Science, P. 14.

जब अर्थशास्त्र की इस प्रकार परिभाषा दी जाती है तब इस पर मलिनता अथवा कुबेर की गाथा का कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता। इसको अब एक 'निकृष्ट' विज्ञान (Dismal Science) नहीं कहा जा सकता। इस पर साध्यों के चुनाव का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। जहां कहीं साध्य अनेक है तथा साधन न्यून है वहीं अर्थशास्त्र का उससे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

परन्तु रॉबिन्स के भी समालोचक है। मार्शल (Marshall) की विचारधारा का अभी अन्त नही हुआ है। डरबिन (Durbin), फ्रेजर (Fraser), वूटन (Wootton) तथा बेवरिज (Beveridge) जैसे अर्थशास्त्रियों ने मार्शल के अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की प्रबल रक्षा की है। वूटन (Wootton) का कथन है "अर्थशास्त्रियों के लिए यह बहुत ही कठिन है कि वे अपने विवेचन से अर्थशास्त्र के आदर्श के महत्त्व का पूर्ण अपहरण करे।" फ्रेजर के अनुसार "अर्थशास्त्र मूल्य सिद्धान्त अथवा साम्य-विश्लेषण से कही अधिक है।" यद्यपि रॉबिन्स (Robbins) की अर्थशास्त्र की धारणा अधिक वैज्ञानिक है फिर भी साध्यों के प्रति वह निष्पक्ष, अव्यक्तिगत और तटस्थ है। उनका कहना है कि "साम्य का अर्थ केवल साम्य ही है।"

कहा जाता है कि रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र को केवल मूल्य निर्णय का सिद्धान्त ही बना दिया। मूल्य निर्णय पर, जो अब अर्थशास्त्र की मुख्य समस्या है, ध्यान केन्द्रित किया जाता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन के अन्य रूपों का बहिष्कार कर दिया गया है। रॉबिन्स की परिभाषा उस एकत्रित ज्ञान को जो विद्यमान है परिमित नही करती परन्तु यह अर्थशास्त्र के क्षेत्र से उसके उस भाग को जो वर्तमान है अलग कर देती है।[1]

रॉबिन्स की परिभाषा में मानवीय स्पर्श पूर्णतया लुप्त है। ऐली (Ely) के अनुसार यह दृढ कथन उचित होगा कि "अर्थशास्त्र विज्ञान से कही बढकर है, एक ऐसा विज्ञान है जो मानव जीवन के अनेक प्रकार के रूपों में अन्तर्गत है जिसके लिए केवल क्रमानुसार विचार ही नही वरन् मानवीय सहानुभूति, कल्पना तथा असाधारण मात्रा में व्यावहारिक ज्ञान का संचित अनुग्रह भी आवश्यक है।"[2]

रॉबिन्स (Robbins) ने अर्थशास्त्र को अधिक निराकार तथा मिश्रित और इसलिए कठिन बना दिया है। यह साधारण मनुष्य के लिए उसकी उपयोगिता घटा देती है। अर्थशास्त्र की उपयोगिता अधिक मात्रा में साकार तथा वास्तविक अध्ययन में है।

यह सब होते हुए भी अर्थशास्त्र की वह प्रचलित परिभाषा कि "अर्थशास्त्र मानव-जीवन के साधारण व्यवसाय का" अथवा "मनुष्य के धनसम्बद्ध कार्यों का" अध्ययन है, अनुचित नही है। धन का अभिप्राय न्यून साधनों से है और उनसे सम्बद्ध मानव क्रियाओं

---

1. A paper read by M. H. Gopal in the Indian Economic Conference held in 1940.

2. Ely and Others—Outlines of Economics 1930, P. 4.

से उनकी मितव्ययता प्रतीत होती है। अतएव इसमें "न्यून साधनों का उपयोग जिनका वैकल्पिक प्रयोग हो सकता है" विद्यमान है और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि मनुष्य मात्र को यह निरन्तर सर्वप्रथम स्थान देता है। इसलिए हमें मार्शल (Marshall) का बहिष्कार नहीं करना चाहिए।

५. अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Economics)—केवल अर्थशास्त्र की परिभाषा पर ही नही वरन् उसके क्षेत्र पर भी वाद-विवाद केन्द्रित है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र के विवेचनों में हमारा सम्बन्ध विशेषकर उसके विषय से सम्बद्ध प्रश्नो से होता है। क्या यह व्यक्ति का एकातवासी रूप में अध्ययन करता है अथवा समाज के एक सदस्य के रूप में? क्या यह व्यावहारिक समस्याओं को हल कर सकता है? क्या यह वास्तविक विज्ञान (Positive Science) है अथवा आदर्श विज्ञान (Normative Science)?

विषय (Subject-matter)—हम पहले से परिभाषा मे ही इसके विषय का उल्लेख कर चुके है। हम फिर दोहरा सकते है कि मनुष्य की वे सब क्रियाएं जिनका सम्बन्ध धन से है अथवा वे सब घटनाएं (Phenomena) जो "प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से द्रव्य के मापदंड से सम्बद्ध की जा सकती है" अर्थशास्त्र से सम्बद्ध है। रॉबिन्स का अभिप्राय है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन मानव-व्यवहारों से है जो असीमित साध्यों की तृप्ति के वैकल्पिक उपयोग वाले न्यून साधनों के प्रयोग से सम्बद्ध है। अवश्य ही इसमे चुनाव और मूल्य निर्णय की आवश्यकता है। अतएव यह कहा जाता है कि मूल्य निर्णय प्रत्येक दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र की प्रमुख समस्या है।

वास्तव मे अर्थशास्त्र का विषय बहुत विस्तृत है। यह मनुष्य की आवश्यकताओ का विश्लेषण करता है और उनकी तृप्ति के नियमो को स्पष्ट करता है। यह उत्पादन के उन चार साधनों के प्रयत्नो का जो धन के उत्पादन में लग्न है और उनकी कार्यकुशलता की दशाओं का अध्ययन करता है। इसके उपरान्त वह यह विवेचन करता है कि माग और पूर्ति की शक्तियां कैसे पारस्परिक प्रतिकार करती है और फिर धन का वितरण समाज मे कैसे होता है। विनिमय की रचना द्रव्य तथा बैंकिग प्रथाओं पर आधारित है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्यायें, वैदेशिक विनिमय और राजस्व भी इसके अध्ययन का एक मुख्य भाग है। यह वितरण की समस्याओ का भी अध्ययन करता है अर्थात् लगान, मजदूरी, ब्याज और लाभ का निर्धारण करता है।

एक सामाजिक विज्ञान (A Social Science)—अर्थशास्त्र में प्राथमिक अध्ययन मनुष्य का है न कि धन का। किन्तु **यह एकान्तवासी व्यक्ति का**, जिसने संसार को तज दिया हो, **अध्ययन नहीं करता**। दूसरी ओर यह उन मनुष्यों का अध्ययन करता है जो समाज में रहते है, अपने कार्यों से समाज को प्रभावित करते है और जिन पर समाज का प्रभाव पड़ता है। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध "आर्थिक मनुष्य" से इतना अधिक नही है—

जो निराकार है, जितना उस मनुष्य से है जो वास्तविक है और जो साधारण प्रेरणाओं से, चाहे वह शिष्ट हों अथवा अप्रतिष्ठित, प्रभावित है और जिसमें साधारण मानवीय गुण तथा अवगुण का अंश है। परन्तु अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान इस भाव मे नही है कि वह सामाजिक क्रियाओं का व्यक्तिगत क्रियाओं से पृथक् अध्ययन करता है।

क्या यह व्यावहारिक समस्याओं को हल कर सकता है ? (Can it solve practical problems ?)—अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का प्रायः यह विश्वास है कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य यह नहीं है कि वह व्यावहारिक समस्याओं को हल करे। यद्यपि इन समस्याओं का आर्थिक स्वरूप बहुत महत्त्वपूर्ण और परमावश्यक हो सकता है तब भी केवल आर्थिक आधारों पर ही कोई समस्या हल नहीं की जा सकती क्योंकि वह राजनीतिक तथा नीति के विचारों मे भी ग्रस्त हो सकती है। **"अर्थशास्त्र के सिद्धान्त मे ऐसे निश्चित निष्कर्ष नहीं प्राप्त है जिनका नीति के लिए तत्काल प्रयोग हो सकता हो। यह एक मत नहीं वरन् एक रीति है, मस्तिष्क का एक यन्त्र तथा विचार की एक कला है जो इसके अधिकारी को सही निष्कर्ष प्राप्त करने में सहायता करती है।** "—कीन्स "The theory of Economics does not finish a body of settled conclusions immediately applicable to policy. It is a method rather than a doctrine, an apparatus of the mind, a technique of thinking which helps its possessor to draw correct conclusions."—(Keynes).

हम इस कथन से बिल्कुल सहमत नही है। कोई अर्थशास्त्री इस आदर्श का प्रतिपादन नही कर सकता है। एडम स्मिथ (Adam Smith), रिकार्डो (Ricardo), माल्थस (Malthus) तथा इस युग के स्वर्गीय लार्ड कीन्स (Lord Keynes) स्वय ने भी अपने अपने समय की समस्याओ मे अपनी तीव्र रुचि रक्खी है। फ्रेज़र (Fraser) के शब्दो में **"वह अर्थशास्त्री जो केवल अर्थशास्त्री ही है, वह एक शोचनीय दशा वाली सुन्दर मछली के समान है।"** टगवेल (Tugwell) के अनुसार यह अर्थशास्त्र का अधूरा विकास है जो उसको व्यावहारिक जीवन से अलग करने का उत्तरदायित्व रखता है। वूटन (Wootton) यह असतोष प्रगट करते है कि "हम सैद्धान्तिक साधनों के गढ़ने मे अधिक समय और उनके व्यावहारिक प्रयोग करने मे कम समय व्यतीत करते है।" अतएव इसका अधिकाधिक अनुभव किया जाता है कि अर्थशास्त्री को व्यावहारिक समस्याओं को अवश्य ही हल करना चाहिए। जब हम अर्थशास्त्र का अध्ययन करते है तो **"हमारी प्रवृत्ति एक दार्शनिक की प्रवृत्ति अर्थात् ज्ञान के हेतु ज्ञान नहीं है वरन् ऐसा ज्ञान है जो शरीर विज्ञान-शास्त्री के व्याधिमुक्त ज्ञान के समान पीड़ाओं को दूर करने में सहायता दे।"**—पीगू "Our impulse is not the philosopher's impulse, knowledge for the sake of knowledge, but rather the physiologist's know-

ledge for the healing that knowledge may help to bring."

—Pigou

अतएव हमारा मत यह है कि अर्थशास्त्री को व्यावहारिक समस्याओं को हल करने में सहायक होना चाहिए। वह ऐसा करने में आर्थिक ज्ञान से रहित एक राजनीतिज्ञ की अपेक्षा कहीं अच्छी अवस्था मे है। अर्थशास्त्रियों से प्रतिदिन की व्यावहारिक समस्याओं पर सहायता ली जाती है। पीगू के शब्दों में अर्थशास्त्र का मान न तो बुद्धि सम्बन्धी व्यायाम होने में है और न अपने लिये सच्चाई प्राप्त करने के साधन में, परन्तु नीति-शास्त्र की दासी तथा व्यवहार का एक नौकर होने मे है।

"Economics is chiefly valuable neither as an intellectual gymnastic, nor as a means of winning truth for its own sake, but as a hand maid of Ethics and a servant of practice."

क्या यह वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान? (Is it a Positive or a Normative Science ?)—हम अब यह विचार करेंगे कि अर्थशास्त्र शीलाचार का निर्णय अथवा केवल वस्तुओं का 'कारण' स्पष्ट कर सकता है। अंग्रेजी प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (English Classical School) के मतानुसार अर्थशास्त्री का आर्थिक अवस्था की सत्यता या असत्यता की व्याख्या करने का कोई कार्य नहीं था। सीनियर (Senior) का विचार था कि अर्थशास्त्री उपदेश का एक शब्द भी नहीं जोड सकता। कैरनेस (Cairnes) के अनुसार राज्य-अर्थव्यवस्था साध्यों के सम्बन्ध मे पूर्णतया इस प्रकार अपक्षपाती थी जैसे शिल्पकार रेलों के निर्माण की वैकल्पिक योजनाओं में निष्पक्ष रहते है। हाल में ही रॉबिन्स ने इस अपक्षपात को फिर से पुष्ट किया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध साध्यों के उचित तथा अनुचित होने से नहीं है। यह कहा जाता है कि **अर्थशास्त्री का कार्य अनुसंधान करना और व्याख्या करना है न कि समर्थन करना तथा निन्दा करना।** हमारे विचार मे यह उचित मत नहीं है।

हम हाट्रे (Hawtrey) से सहमत है कि अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र से पृथक् नहीं किया जा सकता है। "आर्थिक यथार्थता" पर भी विचार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ धन के अनुचित वितरण के कारणों का विश्लेषण कर के अर्थशास्त्री यह कहने में क्यों संकोच करें कि इसका उचित रूप से वितरण होना चाहिए? "अतएव मनोविज्ञान से असम्बद्ध अर्थशास्त्र को अवश्य ही या तो एक दिखावटी कल्पना या स्पष्ट रूप से अवैज्ञानिक शास्त्र समझना चाहिए। यह **हैमलेट** (Hamlet) का ड्रामा बिना हैमलेट के है।"[1] अतएव अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान तथा आदर्श विज्ञान दोनों है। हम रॉबिन्स के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि वास्तविक अर्थशास्त्र और आदर्श अर्थशास्त्र में इतना अधिक

1. Wolfe in Tugwell's Trends of Economics, 1935, P. 466.

अन्तर है कि मनुष्य की कोई युक्ति उसकी पूर्ति नहीं कर सकती। जब साध्य भी दिये हुए हों तो अर्थशास्त्र उन साधनों पर निर्णय कर सकता है जो उन साध्यों की प्राप्ति के लिये प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

कैरनक्रास (Cairncross) ने इस अवस्था का इस प्रकार भलीभांति संग्रह किया है : "अर्थशास्त्री अपने विश्लेषण मे नीतिशास्त्र के टूट जाने वाले सूत्र (जिसमें प्रायः विरोधी मत अन्तर्गत है) का परिचय देने में चाहे जितने अनिच्छुक हों, वे वह मार्ग-प्रदर्शक, जो उनके लिए इतना आवश्यक है, नहीं कर सकते जब तक वे ऐसा न करें। वे व्याख्या कर सकते हैं कि आर्थिक पद्धति अर्थशास्त्र विज्ञान को उसके दूषित कपड़ों पर बिना दर्शनशास्त्र का जामा पहनाए हुए कैसे कार्य कर सकती है। परन्तु वे यह नहीं कह सकते कि यह पद्धति किस प्रकार और भलीभांति कार्य कर सकती है। वे ज्ञान प्रदान कर सकते हैं परन्तु व्यावहारिक लाभ नही, परन्तु बहुत से लोग अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यावहारिक लाभ ही के लिए करते हैं। जैसे अर्थशास्त्री उपदेश देने का साहस ही करता है जैसा कि उससे आशा की जाती है, वैसे ही वह भेडिये के रूप मे भेड का कार्य करता हुआ प्रतीत होता है अर्थात अर्थशास्त्री दर्शनशास्त्री मे परिवर्तित हो जाता है। यदि उसके निष्कर्षों को ध्यान और मान प्राप्त करना है तो उसे यह निर्धारित कार्य सचेत रूप से अवश्य करना चाहिए न कि भेड के सदृश धोखे का जामा पहन कर।"[1]

लक्ष्य और साधन (Ends and Means)—यह उल्लेख किया जा चुका है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध साधनो से है और साध्य उसके क्षेत्र से बाहर है। इसका अर्थ केवल यह है कि साध्यो या उद्देश्यों के स्थिर करने मे अर्थशास्त्र का कोई हाथ नहीं है। यह निश्चित करना सरकार अथवा व्यक्तियों का कार्य है कि वे क्या प्राप्त करना चाहते हैं अथवा क्या करना चाहते है। जब वे यह निश्चित कर लेते है तो अर्थशास्त्री आकर यह अनुमति देते है कि ससाधनों के कम-से-कम व्यय से उन साध्यों को भलीभाति कैसे प्राप्त किया जा सकता है। अर्थशास्त्री केवल विशिष्ट साध्यों की पूर्ति के लिए साधनों के न्यूनतम उपयोग का समर्थन करते है। अर्थशास्त्र साध्यो का सापेक्ष मूल्य निर्णय (Valuation) के परिमाणों में दिये गये रूप में लेता है। यह केवल इन साध्यों की पूर्ति के लिए साधनों के उपयोग पर व्याख्या कर सकता है। इस विचार से साध्य इसके क्षेत्र के बाहर हैं। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्थशास्त्री पर साध्यो के स्वरूप का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। साध्य चाहे श्रेष्ठ अथवा अप्रतिष्ठित हों, अर्थशास्त्री उनसे सम्बन्ध नही रखता। अतएव आर्थिक साध्य जैसी कोई वस्तु नहीं है। "जहां तक न्यून साधनों पर किसी साध्य की प्राप्ति आश्रित है वह अर्थशास्त्री की धारणाओं को आकर्षित करने के लिए युक्त है।[2] तब भी हमने पिछले परिच्छेद में यह स्पष्ट कर दिया है कि अर्थशास्त्री नीति निर्णय करना

1. Cairncross—Introduction to Economics, 1944, P. 9.
2. Robbins—Nature and Significance of Economic Science, P. 24.

नही त्याग सकता है।

यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र के विवेचन में हमें अनेक विवादसम्बन्धी प्रश्नों को जिनका सम्बन्ध अर्थशास्त्र विज्ञान के स्वरूप से है यह कहकर हल करना पडता है कि यह क्या है और क्या नही, यह क्या करता है और क्या नही करता।

अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध (Relation of Economics to other Social Sciences)—अर्थशास्त्र के स्वरूप का अध्ययन कर के अब हम इसके अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध पर विचार कर सकते है। मनुष्य का स्वभाव एक समान है। मनुष्यो की समस्याओ का आर्थिक दृष्टिकोण दूसरे—कानून-सम्बन्धी, राजनीतिक इत्यादि—दृष्टिकोणो से पृथक् नही किया जा सकता। अतएव अर्थशास्त्र का उन अन्य विज्ञानो से, जो मानवीय समस्याओ को हल करने मे सहायता करते है, घनिष्ट सम्बन्ध है। यह प्रत्येक विज्ञान मुख्यतः इतिहास, गणित सांख्यिकी (Statistics), भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान (Psychology) इत्यादि से बहुधा सहायता लेता है। तब भी अर्थशास्त्र न तो भौतिक विज्ञानों के नियमो को निश्चित करने का और न उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। यह केवल उनका प्रयोग अपने विवेक के आधारों के प्रति करता है। अर्थशास्त्र मे मनोविज्ञान का अधिक उपयोग हुआ है। निर्वाचन के सिद्धान्त का, जो अर्थशास्त्र का अत्यन्त मौलिक सिद्धात है, एक मनोवैज्ञानिक आधार है। मिल (Mill) की व्याख्या के अनुसार राज्य-अर्थव्यवस्था "एक शीलाचार सम्बन्धी अथवा मनोवैज्ञानिक विज्ञान" है। जैवन्स (Jevons) ने इसको और अधिक मनोवैज्ञानिक बना दिया। उनके लिए अर्थशास्त्र के सिद्धात, "उपयोगिता तथा स्वार्थभाव की रचना" और "केवल सुख और दु:ख की गणना के आधार" है।

वास्तव मे अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानो से घनिष्ट सम्बन्ध है। काम्टे (Comte) जैसे दार्शनिक अर्थशास्त्र को समाजशास्त्र के अधीन मानेगे और इसे उसका एक अंग समझेगे। परन्तु समाजशास्त्र का विकास होना अभी बाकी है जब कि अर्थशास्त्र उन्नतिशील अवस्था पर पहुच गया है। इसलिए इसका पृथक् रूप से अध्ययन हो सकता है। यह विशेषीकरण वैज्ञानिक पूर्णता के लिए अत्यन्त सहायक है, यद्यपि इसको पूर्ण रूप से स्वतत्र विज्ञान मानना अनुचित है। अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र को पूर्णतया पृथक् करने का कोई प्रश्न ही नही उठता।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि समस्त आर्थिक क्रियाएं नैतिक विचारों से अवश्य ही प्रभावित होनी चाहिएं। उत्पत्ति तथा वितरण का विवेचन करने में हमें नैतिक विचार निरन्तर ध्यान में रखना चाहिए। आर्थिक क्रियाओं का संचालन आचार के संक्षेत्र में होना चाहिये। प्राचीन अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र के अधीन मानते थे। "वह केवल नीतिशास्त्र की दासी ही नहीं थी वरन् उसके इस पुष्ट तथा समृद्धिशाली सहविज्ञान ने उसे कुचलकर नष्ट कर दिया।"

हम अर्थशास्त्र पर नीतिशास्त्र के प्रभाव का पहले ही विवेचन कर चुके है, जब हमने यह विचार किया था कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान। (खंड ५ देखिये)।

नीतिशास्त्र मूल्यों का अध्ययन है, यह उन साध्यो के उचित तथा अनुचित होने का विवेचन करती है जिनकी प्राप्ति के लिए न्यून साधनों का बटवारा किया जाता है। परन्तु बहुत से अर्थशास्त्री इस मत के है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उचित अनुचित अथवा अच्छे बुरे के प्रश्न से नही है। ऐसा करना एक दार्शनिक का काम है। अधिकतर एक अर्थशास्त्री यह कह सकता है कि कुछ ससाधनो का प्रयोग लक्ष्य के अनुसार उचित नही है।

इसी भांति अर्थशास्त्र न्यायशास्त्र पर निर्भर है। आर्थिक क्रियाओं का संचालन कानून सम्बन्धी ढांचे के अन्तर्गत होना चाहिए। अर्थशास्त्री लुटेरों की क्रियाओं का, वे चाहे कितनी भी लाभदायक क्यो न हों अनुमोदन नहीं कर सकता। कानून-पद्धति हमारी आर्थिक क्रियाओं को सीमित तथा निर्धारित करती है।

अर्थशास्त्र ओर इतिहास का भी एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र लक्ष्यों और साधनो के सम्बन्ध तथा उनके अन्तर्गत अनेक धारणाओ का अध्ययन करता है। आर्थिक इतिहास समय-समय पर इन सम्बन्धो के रूप का अध्ययन करता है। आर्थिक इतिहास एक आवश्यक चित्रपट बनाता है जिसके सम्मुख आर्थिक सिद्धान्त तथा समस्याओं का भली भांति गुण अध्ययन किया जा सकता है। इतिहास के द्वारा हम पुराने सिद्धान्तों की पुष्टि तथा खंडन और नये सिद्धान्तों का अनुसन्धान कर सकते हैं। सोने की खानों के अनुसंधान ने मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त (Quantity theory of Money) और प्लेग की घटना ने श्रम की मांग तथा पूर्ति के सिद्धान्त को पुष्ट कर दिया। इसी प्रकार इतिहास व्यापार-चक्र (Trade Cycles) के सिद्धान्तों के बनाने में अत्यन्त सहायक हुआ है परन्तु जब कि अर्थशास्त्र इतिहास का ऋणी है आर्थिक सिद्धान्त का ज्ञान भी इतिहासकारों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में वह इतिहास जो आर्थिक दशाओं का विश्लेषण त्याग देता है, यदि भ्रम उत्पादक नही तो अधूरा तो है ही। यह कथन सत्य है कि—

"Economics without History has no root,
History without Economics has no fruit."

अर्थात् अर्थशास्त्र बिना इतिहास के नींवरहित है और इतिहास बिना अर्थशास्त्र के फलहीन है।

सब विज्ञानों में अर्थशास्त्र का राजनीति-शास्त्र से सबसे अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। यह अब अधिकाधिक माना जाता है कि अर्थशास्त्र अधिक-से-अधिक राज्य अर्थव्यवस्था होता जा रहा है। इसका अर्थ है कि यह राजनीति-शास्त्र से अत्यन्त मिश्रित होता जा

रहा है। राजनीतिज्ञ के लिए आर्थिक विचार अत्यन्त महत्त्व रखते है। एक राजनीतिज्ञ को नीति ग्रहण करने से पूर्व आर्थिक व्यवहार तथा सस्थाओं का अवश्य विचार करना चाहिए। राजनीतिक नीतियो को निश्चित करने मे आर्थिक विचार सर्वप्रधान है।

इसी प्रकार राजनीतिक दशाये और सस्थाएं एक देश की आर्थिक दशाओं पर अत्यन्त प्रभाव डालती है। कुछ ही लोग यह अस्वीकार करेंगे कि भारतवर्ष मे आर्थिक विकास पर राजनीतिक कारणो का प्रभाव पडा है। राजनीति-शास्त्र तथा अर्थशास्त्र एक-दूसरे पर अपना-अपना प्रभाव डालते है। सब प्रचलित राजनीतिक समस्याएं मुख्यतः आर्थिक प्रकृति की है। बाजार तथा पदार्थो के ग्रहण के प्रति उत्कट प्रयत्नो के कारण आधुनिक काल में समस्त युद्ध होते है। हमारे देश की साम्प्रदायिक समस्या वास्तव में एक आर्थिक समस्या है। यह सम्प्रदाय के आर्थिक हितो को बढाने की इच्छा से उत्पन्न होती है। राजनीतिज्ञो को सलाह देने के लिए आर्थिक सलाहकार परिषदो (Economic Advisory Councils) की स्थापना यह स्पष्ट करती है कि अर्थशास्त्र राजनीति-शास्त्र का दास होता जा रहा है।

अर्थशास्त्र तथा गणित की सीमा पर एक नया विज्ञान अकशास्त्र है। अर्थशास्त्र अंकशास्त्र का जिसको यथार्थता तथा अको का शास्त्र कहते है अधिकाधिक प्रयोग कर रहा है। कोई भी आर्थिक वादविवाद पूर्ण नही होता जब तक कि उसको सम्बन्धित अंको का सहारा न मिले। तथा कोई भी आर्थिक समस्या का हल सतोषजनक नही हो सकता जब तक कि सम्बन्धित सही अक प्राप्त न हो। उदाहरणार्थ भारत की खाद्य समस्या। बिना सही अको के एक आर्थिक पद्धति केवल अधेरे मे उछलना है। अक आर्थिक सिद्धान्तो को दृढ कर सकते है अथवा उनका फिर से अनुसन्धान कर सकते है यदि वे यथार्थता अथवा अंको के विपरीत है। ऐसा भी हो सकता है कि अको की सूचना अपूर्ण अथवा अशुद्ध हो यदि यह एक स्थापित सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस प्रकार अकशास्त्र अर्थशास्त्र सिद्धान्त बनाने वालों के लिए अमूल्य है। सिद्धान्त के लिए अंको का न मानना भय से खाली नही है, जैसा कि कोलिन क्लार्क (Colin Clark) का कहना है कि "तमाम किताबो तथा लेखों में आधुनिक पेचीदो आर्थिक समस्याओ को बिना यथार्थता की ओर संकेत किये हुए व्याख्या करना यदि दुःखद नही तो हंसने के योग्य अवश्य होगा।" फिर "विज्ञान के विकास मे सिद्धान्त का एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, परन्तु सिद्धान्त को यथार्थता का आदर करना चाहिये न कि उल्लघन।"

७. **अर्थशास्त्र के नियम** (Laws of Economics)—अन्य विज्ञानो की भाति अर्थशास्त्र में उसके भी कुछ पृथक् सिद्धान्त है जो अर्थशास्त्र के नियम कहलाते है। उन नियमों से यह आशा की जाती है कि वे समस्त आर्थिक क्रियाओं की व्याख्या तथा उनका संचालन करेंगे। मार्शल (Marshall) के शब्दो में इसकी परिभाषा इस प्रकार है :—

"आर्थिक नियम या आर्थिक प्रवृत्तियां आचरण की उन शाखाओं से सम्बद्ध

सामाजिक नियमों को कहते है जिनमें मनोवृत्तियों की शक्ति मुद्रा द्वारा मापी जा सकती है।" "Economic laws or statements of economic tendencies are those social laws which relate to branches of conduct in which the strength of the motives chiefly concerned can be measured by money price." रॉबिन्स (Robbins) की आर्थिक क्रियाओं की परिभाषा के अनुसार हम यह कह सकते है कि आर्थिक नियम एकरूपता के कथन है जो उस मानव व्यवहार का सचालन करते है जो असीमित साध्यों की पूर्ति के प्रति सीमित संसाधनो की उपयोगिता से सम्बद्ध है। संक्षेप में ये वे सिद्धान्त है जिनके अनुसार हम जीवन के साधारण व्यवसाय मे कार्य करते है।

किन्तु इन नियमो की क्या प्रकृति है? वे किनके समान है? क्या वे सरकारी कानूनों अथवा शीलाचार के नियमो या प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो के समान है? सरकार के कानून अति अनिवार्य है, उनका उल्लघन करने से दण्ड मिलता है। शीलाचार के नियम इतने अनिवार्य नही है, वे केवल यह स्पष्ट करते है कि हम किस प्रकार जनमत की अथवा अपनी आत्मा की सन्तुष्टि के लिये कार्य करे। प्राकृतिक विज्ञानों के नियम निश्चित रूप से वर्णित किये जाते है और सर्वव्यापक है। आर्थिक नियम इन सब से पृथक् है। आर्थिक नियमो की प्रकृति न तो "अवश्य" शब्द से जैसा कि परिनियमों (Statute Laws) के सम्बन्ध मे है और न 'उचित' शब्द से जैसा कि शीलाचार के नियमो के सम्बन्ध मे है, स्पष्ट होती है, परन्तु उनकी प्रकृति "अन्य बातें समान रहे" वाक्यखंड से स्पष्ट होती है।

कुछ आर्थिक नियम स्वभाव में स्वयसिद्ध है, उदाहरणार्थ अधिक लाभ को कम लाभ से श्रेष्ठ समझा जाता है। कुछ अन्य ऐसे आर्थिक नियम है जिनकी प्रकृति भौतिक नियमो की सी है उदाहरणार्थ क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)। परन्तु अधिकतर आर्थिक नियम कल्पित (Hypothetical) होते है। वे कुछ ही दशाओ मे सत्य होते है। अमुक परिस्थितियो मे अमुक परिणाम होंगे। आर्थिक सामग्री जटिल और अस्थिर है। रीतियों के कारण अनेक आर्थिक सघर्ष उत्पन्न हो जाते है। सामाजिक त्रुटियां तथा कानूनी बाधाए आर्थिक नियम के कार्य मे बाधा डालती है। इनमे मानवीय अश की भी प्रबलता है। इन्ही कारणों से आर्थिक नियम अनिश्चित है। इनमें निश्चितता तथा यथार्थता इतनी नही है जितनी प्राकृतिक विज्ञान जैसे विज्ञानो के नियमों मे है। यही कारण है कि मार्शल ने **आर्थिक नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण** (Law of gravitation) **जैसे साधारण नियमों की अपेक्षा ज्वारभाटा** (Law of tides) **के नियमों से की है।**

तो भी, यह स्मरण रहना चाहिए कि अर्थशास्त्र के नियम किसी अन्य सामाजिक शास्त्र से अधिक ठीक है क्योंकि आर्थिक घटनाओं का द्रव्य द्वारा माप किया जा सकता है। किसी अन्य सामाजिक शास्त्र में ऐसा कोई द्रव्य का मापदण्ड नही है।

यदि प्रारम्भिक कल्पनाओं की पूर्ति हो जाए तो आर्थिक नियम अनिवार्य तथा अटल है। परन्तु इन कल्पनाओं को सदा पूर्ति नही होती। अतएव आर्थिक नियम भविष्य नहीं बता सकते। "ऐसा कोई सरल मापदण्ड नही है जिससे व्यवसाय के कार्यों के प्रवाह को मापा जा सके, क्योंकि ये भय की उमंगों अथवा भूडोल जैसे अनिश्चित आश्चर्यजनक आशावाद के अधीन है।" [१]

अतएव हम यह नहीं कह सकते कि आगे क्या होगा क्योंकि यह अनेक स्थितियों की पूर्ति पर निर्भर है। हम केवल यह कह सकते है कि क्या हो सकने की सम्भावना है। अतएव अर्थशास्त्र के नियम केवल प्रवृत्तियो का अथवा सांख्यकीय अनुमानों का विवरण है। रॉबिन्स (Robbins) घोषणा करते है कि "अर्थशास्त्र के समालोचकों में उस राजनीतिज्ञ के अनेक उत्साही अनुसरण करने वाले है जिसका कथन था कि इस बात की निन्दा की जाय कि अन्य बातें समान रहें।"

आर्थिक नियमों के प्रयोग में एक मतभेद है। प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्रियों का मत था कि आर्थिक नियम अचल, अनन्त, दृढ ओर बिना किसी अड़चन के सब जगह लागू है। ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School) ने दूसरी ओर इनके सापेक्षावाद को महत्व दिया और आग्रह किया कि एक निश्चित वातावरण में इनका प्रयोग सीमित है। उदाहरणार्थ बेगहाट (Bagehot) ने यह घोषित किया कि इंगलैड मे प्रतिपादन किये हुए आर्थिक नियम "स्पर्धी वाणिज्य के बढ़े हुए समाज" में प्रयोग किये जा सकते थे।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि जहा तक आर्थिक नियम मनुष्य के वास्तविक स्वभाव पर आधारित है वे लगभग सब सम्प्रदायों के अनुकूल है। तो भी वास्तविक आर्थिक नीतियों के बनाने में स्थिर स्थानीय स्थितियों का भी ध्यान रखना चाहिए। यह कौन संदेह कर सकता है कि ग्रेशम का नियम (Gresham's Law), मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त (Quantity theory of Money), क्रमागत उपयोगिता-ह्रास-नियम (Law of Diminishing Utility), निर्वाचन का नियम (Law of Choice) ओर दूसरे अनेक आर्थिक नियम सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों पर आश्रित नही है। जब ऐसी परिस्थितियां जिनमें वे सत्य हैं, दी होती है, तो उनसे निकलने वाले परिणाम अटल होते है। यह कहना अनुचित है कि आर्थिक नियम इतिहास के सापेक्ष है और कुछ ऐतिहासिक स्थितियों के बाहर उनका कोई महत्व नहीं है। वास्तव में वे मनुष्य के अत्यन्त विस्तृत अनुभव पर आधारित है और सब जगह लागू है।

८. **क्या अर्थशास्त्र विज्ञान है ? (Is Economics a Science?)**—वूटन (Wootton) का कथन है कि "जहां कही छः अर्थशास्त्री होते हैं वहां सात मत

[१] Moore and others—Modern Economics, 1940. P. 3.

होते हैं।" [१] अर्थशास्त्रियों में इतनी मात्रा में मतभेद होने पर अर्थशास्त्र का विज्ञान माने जाने का निषेध किया गया है। वूटन फिर कहते है "अर्थशास्त्रियों पर छली होने का संदेह किया जाता है और वे अपने लिये माननीय पदवियां स्वयं ही ग्रहण नहीं कर सकते .... सैद्धान्तिक अर्थशास्त्रियों का अपने अध्ययन को बहुधा विज्ञान शब्द से पुकारना भ्रमपूर्ण है।" फिर "अर्थशास्त्र के उत्साही विद्यार्थी को समय-समय पर यह याद रखना चाहिए कि सब मांग तथा पूर्ति की सारिणी (Demand and Supply Schedules), लागत वक्र (Cost Curves) अथवा तटस्थता वक्र (Indifference Curves) जो उसके साहित्य को इतना कल्पनायुक्त रूप देते हैं, एक भी (कुछ अपवादों को छोड़कर) किसी यथार्थता पर आधारित नहीं है। पाठक को एक ऐसी भविष्यवाणी पाने के लिए जो उन घटनाओं की प्रगति के प्रभुत्वशाली मत के प्रभाव से दृढ़ की गई है और जिसका पूर्वज्ञान किसी साकार ऐतिहासिक अवस्था में किया जा सकता है, विश्लेषक अर्थशास्त्रियों के साहित्य में अधिक छानबीन करनी पड़ेगी।" [२] फिर अर्थशास्त्र को विज्ञान कैसे कहा जा सकता है?

फिर यह कहा जाता है कि आर्थिक घटनाएं अत्यन्त जटिल, अनेक तथा अस्थिर हैं क्योंकि मनुष्य इच्छा की स्वतंत्रता से सम्पन्न है। एक विज्ञान को इतने क्षीण आधार पर निर्धारित करना न केवल कठिन है वरन् असम्भव है। अतएव अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक रूप पूर्णतया नष्ट किया गया प्रतीत होता है। परन्तु यह ऐसा नहीं है।

एक अमुक ज्ञान की शाखा को हम विज्ञान कहें अथवा नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि हम एक विज्ञान को कैसा रूप देते हैं। यदि हम एक विज्ञान से यह आशा करते हैं कि वह ऐसे सिद्धान्तों को रूप देगा जो प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक समय में लागू हों या वह भविष्य की घटनाओं को घोषित करेगा, तब तो, वास्तव में अर्थशास्त्र एक विज्ञान नहीं है। परन्तु विज्ञान में होने वाली यह आवश्यक बातें विज्ञान की परिभाषा के आधुनिक मत के अनुकूल नहीं है। विज्ञान से हमारा अभिप्राय ज्ञान के एक क्रमबद्ध रूप से है। यह केवल तथ्यों का संचय नही है। परन्तु तथ्य इस प्रकार क्रमबद्ध हैं कि वे स्वयं ही स्पष्ट हैं। जब नियम बना दिये जाते हैं तो ज्ञान की एक शाखा विज्ञान हो जाती है। प्वाइनकेयर (Poincare) के शब्दों में, "विज्ञान तथ्यों से इस प्रकार बना है जिस प्रकार पत्थरों से एक मकान बनाया जाता है; परंतु केवल तथ्यों का एकत्रीकरण इस प्रकार विज्ञान नहीं कहा जा सकता जैसे पत्थरों के ढेर को मकान नहीं कह सकते।"

इस प्रमाण के अनुसार अर्थशास्त्र अवश्य ही एक विज्ञान है। यह मनुष्य के अनुभव के किसी निश्चित क्षेत्र में वैज्ञानिक रीति के प्रयोग का परिणाम है। अर्थशास्त्रियों ने पहले तो तथ्यों को एकत्रित किया है, फिर तथ्यों का विश्लेषण ध्यानपूर्वक किया है तथा उनका

---

१. Wootton—Lament for Economics, 1938, P. 14

२. Ibid.

उचित वर्गीकरण किया है और तब इन तथ्यों को निश्चित करने वाले साधारण सिद्धान्तों का अनुसंधान तथा उनका वर्णन किया है। इसको विज्ञान बनाने के लिए और अधिक क्या आवश्यकता हो सकती है ?

यह अब पूरी तौर से मान लिया गया है कि अर्थशास्त्र एक परिपूर्ण विज्ञान है। कुछ अर्थशास्त्री इसको दूसरे विज्ञानों के पूर्णतया समान समझने हैं। "आर्थिक नियम दूसरे विज्ञानों के नियमों से समता रखते हैं।[१]

परन्तु अर्थशास्त्र के वास्तविक स्वरूप का समझना आवश्यक है। अर्थशास्त्र का विरोधाभास यह है कि एक विज्ञान होते हुए भी यह भौतिक तथा रसायन-शास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञान की भांति घटनाओं की भविष्यवाणी नहीं कर सकता। प्राकृतिक विज्ञानों के परिणाम सदैव सत्य रहे हैं और रहेंगे। किन्तु ऐसा अर्थशास्त्र में नहीं है। अर्थ-शास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानों का अन्तर अध्ययन की रीति में नहीं वरन् उसके लक्ष्य में है। अर्थशास्त्र मनुष्य का अध्ययन करता है। मनुष्य अपने अनुभव से सीखने की शक्ति रखता है। साथ ही साथ वह इच्छा की स्वतंत्रता से सम्पन्न है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति एक ही बाह्य प्रोत्साहन का भिन्न प्रकार से प्रत्याघात करता है। अतएव मानव-व्यवहार में भविष्यवाणी करना असम्भव है। डरबिन (Durbin) के कथनानुसार "निश्चितता हमसे पृथक् रहेगी और भविष्यवाणी झूठी हो जायगी—जिस प्रकार मनुष्य अनुभव से सीखते हैं उसी प्रकार वे अर्थशास्त्र से भी सीख सकते हैं और इस प्रकार विषय अपनी ही खोज से अपने परिणामों को नष्ट कर देता है।"[२] इस प्रकार अर्थशास्त्र "निरंतर बदलने वाले मतों" को प्रस्तुत करता है।

९. क्या अर्थशास्त्र कला भी है ? (Is Economics also an Art ?)—यह निश्चित हो चुका है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान कहा जा सकता है, परन्तु क्या यह कला भी समझा जा सकता है ? अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है और कला नहीं। "विज्ञान का रूप, जिसके विकास करने का अर्थशास्त्री प्रयास करेगा, कला के आधार के अनुकूल होना चाहिये। वास्तव में यह स्वयं कला न होगा।" "यह एक शुद्ध तथा व्यावहारिक विज्ञान न कि विज्ञान तथा कला होगा।"—मार्शल "The type of Science that the economist will endeavour to develop must be one adopted to form the basis of an art. It will not indeed itself be an art. It is a science pure and applied, rather than a science and an art." (Marshall).

इस अवस्था के लिए प्रस्तुत किया गया तर्क यह है कि सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र वैज्ञानिक

---

१. Robbins, Op. Cit., P. 104.

२. Economics, Man and His Material Resources (New Education Library) pp. 333-34.

पूर्णता की एक मात्रा केवल इसी एक विधि से प्राप्त कर सकता है। इसको एक कला बनाने के असम्बद्ध विचार उसके कार्य में बाधा डालेंगे और उसको बिल्कुल अपूर्ण कला बना देंगे। अर्थशास्त्र का कार्य केवल अनुसंधान तथा व्याख्या करना है और विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विधि तथा धारणाएं प्रस्तुत करना नहीं।

फिर भी हम इस मत से सहमत नहीं हैं। प्रत्येक कला का सैद्धान्तिक अथवा वैज्ञानिक पक्ष है और इसी प्रकार प्रत्येक विज्ञान में कला अथवा उसका व्यावहारिक पक्ष है। हमारे मतानुसार अर्थशास्त्र में कला का भाग अधिक महत्त्व रखता है। यदि अर्थशास्त्र एक निराकार विज्ञान हो जाये, जैसा कि अधिकाधिक हो रहा है, तो साधारण जनता के लिये यह अधिक अज्ञात हो जायेगा; वह अपनी व्यावहारिक उपयोगिता से पृथक् हो जायेगा। हमारे अनुसार अर्थशास्त्र ऐसा विज्ञान है जो प्रकाश डालने वाला तथा फलदायक भी है। वे भी, जो इसे शुद्ध विज्ञान मानते हैं, व्यावहारिक अर्थशास्त्र जैसी शाखा को स्थान देते हैं।

१०. अर्थशास्त्र-विज्ञान की रीतियां (Methods of Economic Science)—अर्थशास्त्र के विज्ञान माने जाने का एक कारण यह है कि दूसरे विज्ञानों की भांति यह वैज्ञानिक रीतियों का उपयोग करता है। अब हमें यह देखना चाहिए कि यह रीतियां क्या हैं?

प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने, जिन्होंने प्रतिष्ठित सम्प्रदाय बनाया, अर्थशास्त्र को कुछ थोड़े से साधारण सामान्य अनुमानों से विज्ञान निर्माण करने का प्रयत्न किया। जो रीति उन्होंने प्रयोग की उसे निगमन, विश्लेषक, निराकार अथवा कारण से कार्य के तर्क की रीति कहते हैं। उनमें से सीनियर (Senior), मिल (Mill), कैरनेस (Cairness) तथा मुख्यतः रिकार्डो (Ricardo) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस रीति के समर्थक मानवीय प्रवृत्ति के कुछ निर्विवाद तथ्यों से कार्य प्रारम्भ करते हैं और साकार व्यक्तिगत स्थितियों के विषय में अनुमान निकालते हैं; उदाहरणार्थ, वे विश्वास करते हैं कि केवल निजी स्वार्थ ही मनुष्य के दैनिक जीवन का मार्गदर्शक है और वे अनेक मानवीय व्यवहारों की निजी स्वार्थ के रूप में व्याख्या करते हैं तथा उनकी भविष्यवाणी करने का प्रयत्न करते हैं—जो स्पष्ट रूप से अनुचित है।

यदि कल्पनाएं ठीक हों तो इस रीति की श्रेष्ठता यह है कि वह साधारण, प्रभावशाली तथा निश्चित होगी। वास्तव में यह "यदि" बड़ा महत्त्वपूर्ण है। बहुधा यह कल्पनाएं असत्य या थोड़ी मात्रा में सत्य होती हैं। यह अर्थशास्त्र विज्ञान को अन्धविश्वासी बना देती हैं क्योंकि वे अपने अन्तर्गत अपनी धारणाओं में कोई त्रुटि नहीं मानतीं। जब अपूर्ण अथवा असत्य कल्पनाओं पर आधारित सामान्य अनुमान सर्वत्र ठीक समझे जाते हैं और इन सामान्य अनुमानों के आधार पर देश की व्यावहारिक रीतियों की व्यवस्था करने का प्रयास किया जाता है, निगमन रीति विशेषकर हानिकारक सिद्ध होती है।

ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School) इस स्थिति के विरुद्ध

है। यह विरोध विशेषकर जर्मनी में अनुभव किया गया था और इसे रासचर (Roscher), हिल्डब्रैंड (Hildebrand) तथा फ्रेडरिक लिस्ट (Frederich List) जैसे अर्थशास्त्रियों ने प्रस्तुत किया था। इस नये आन्दोलन के अनुयायी इंग्लैंड में क्लिफ लैसले (Cliffe Leslie) जैसे भी थे। उन्होंने एक रीति का समर्थन किया जिसे ऐतिहासिक, आगमन (Inductive) अथवा वास्तविक (Realistic) रीति कहते हैं। यह रीति तथ्यों की जांच पर आग्रह करती है और तब सामान्य नियम प्रस्तुत करती है। यहां हम "विशिष्ट" से "सामान्य" की ओर जाते हैं जब कि निगमन रीति (Deductive Method) में हम "सामान्य" से "विशिष्ट" की ओर आते हैं।

अवलोकन तथा अनुभव आगमन अर्थशास्त्री के मुख्य शस्त्र हैं। इस रीति की यही श्रेष्ठता है कि यह यथार्थता पर निर्भर है और इसलिए एक निश्चित आधार रखती है। परन्तु अपूर्ण तथ्यों से तात्कालिक परिणाम निकाले जाने का भय है। यह हो सकता है कि कुछ मुख्य तथ्य छोड़ दिए गए हों और परिणाम अनुचित हों। इसके अतिरिक्त, उस विज्ञान में, जो मानवीय क्रियाओं से सम्बद्ध है, अवलोकन तथा अनुभव का बहुत ही सीमित प्रयोग होता है।

इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सचेत अनुभव अर्थशास्त्र विज्ञान से परे है तो भी इतिहास समय-समय पर प्रयोग में लाये गये आर्थिक साधनों के रूप में अनेक अनुभव प्रदान करता है। भारत में विभेदक रक्षण (Discriminating Protection) का प्रदान करना एक महत्त्वपूर्ण अनुभव है। आधुनिक काल में आगमन रीति (Inductive Method) का प्रयोग अत्यन्त बढ़ा दिया गया है। प्रत्येक देश में सांख्यकीय प्रकाशनों (Statistical Publications) की अधिकता है। "सरकारी पुस्तकें" तथ्यों तथा अंकों से भरी हैं और अर्थशास्त्री के पास अपने परिणामों को प्राप्त करने के लिए अधिक तथा विश्वसनीय सामग्री है। आधुनिक युग को आगमन युग (Inductive Era) कहा गया है।

फिर भी आधुनिक अर्थशास्त्री एक रीति पर दूसरी का निषेध करके आश्रय नहीं लेता। वह दोनों का प्रयोग करता है। प्रो. मार्शल के प्रायः दोहराये हुए शब्दों में, "आगमन तथा निगमन दोनों रीतियों की वैज्ञानिक विचारधारा के लिए आवश्यकता होती है जैसे चलने में दाहिने तथा बायें दोनों पैरों की आवश्यकता है।" सर्वप्रथम अर्थशास्त्री निगमन विचार पर आधारित एक निश्चित उपकल्पना (Hypothesis) से आरम्भ करता है और तब तथ्यों की कसौटी से उसकी जांच करता है और तब उपकल्पना सिद्धान्त के समक्षेत्र तक उठा दी जाती है। सिद्धान्त के नियम में परिवर्तित होने से पूर्व उपस्थित दशा के आधार पर और जांच करनी पड़ती है। इस प्रकार एरिक राल (Eric Roll) के अनुसार "निगमन तथा आगमन का अन्तर प्रवेश" होता है।

इस प्रकार "रीति के इस विवाद का वास्तविक हल निगमन अथवा आगमन के

निर्वाचन में नहीं वरन् निगमन तथा आगमन की स्वीकृति में है।"—वैगनर (Wagner)। एक विशिष्ट अवसर पर इन दो रीतियों में से कौन-सी प्रयोग में लाई जाये यह जांच की प्रकृति, उपस्थित सामग्री तथा जांच की स्थिति पर निर्भर है। वास्तविक वैज्ञानिक रीति की भिन्न-भिन्न तीन रीतियां हैं, अर्थात् अवलोकन, कल्पना तथा विचार-शक्ति का प्रयोग और अन्त में सिद्धान्तों का प्रमाण।

११. अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व (Value of the Study of Economics)—अर्थशास्त्री का यह अभिमान उचित ही होगा कि उसका विज्ञान निश्चित ही अन्य ज्ञान की शाखाओं से अधिक लाभदायक है। किसी अन्य विज्ञान में मानवीय क्षेम से इतना प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक सम्बन्ध नहीं होता। अर्थशास्त्री अपने नम्र भाव से मानवीय क्षेम को बढ़ाने का भरसक प्रयत्न करता है।

अर्थशास्त्र का **ज्ञानसम्बन्धी महत्त्व** अधिक है। जो आर्थिक समस्याओं के समझने और विश्लेषण में अपना समय व्यतीत करते हैं, उन्हें बुद्धि की तीव्रता के रूप में उचित पुरस्कार मिल जाता है। अनेक मूल्य, मजदूरी तथा ब्याज के सिद्धान्तों का अध्ययन, वैदेशिक विनिमय (Foreign Exchange) की गूढ़ समस्याओं को सुलझाना और जटिल मुद्रा तथा आर्थिक समस्याओं के समझने का प्रयत्न उत्तम मानसिक शिक्षा का अभ्यास प्रदान करते हैं। यह दृढ़ विचारों द्वारा जनता का सुधार करता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का **सांस्कृतिक महत्त्व** भी है। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी आर्थिक यन्त्र (Economic Machine) की कार्यप्रणाली की गूढ़ समस्याओं में प्रवेश करता है। वह समझ लेता है कि यह स्वयं ही किस प्रकार बिना प्रत्यक्ष झटके के और बिना किसी कुशल संचालक के कार्य करती रहती है। प्रत्येक व्यक्ति इस विस्तृत तथा पेचीदी उत्पादन की प्रणाली में कार्य करता है। संचयी (Cumulative) परिणाम प्राप्त करने में उसका स्वयं भी एक भाग है। यह उसको पारस्परिक आर्थिक आश्रित होने की शिक्षा देता है। यह उसे अभिमान, उत्तरदायित्व की चेतना और वस्तुओं की व्यवस्था की अच्छी प्रकार से प्रशंसा करने की शक्ति देता है। यह कोई कम प्राप्ति नहीं है। चाहे कोई भी मानसिक संस्कृति की व्यवस्था हो, उसमें अर्थशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अंश अवश्य ही रहेगा। उस मनुष्य को जिसे अर्थशास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान न हो अर्धशिक्षित समझना चाहिये।

अर्थशास्त्र का **व्यावहारिक महत्त्व अथवा व्यवसायी लाभ** भी अधिक है। राजनीतिज्ञ को अर्थशास्त्र का ज्ञान उसके सन्मुख आने वाली राजनीतिक समस्याओं को ग्रहण करने में अधिक सहायता देता है। अर्थप्रबन्धक के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। श्रमनेता को यह औद्योगिक स्थिति समझने में सहायता देता है। यह उसको पूंजी के विरुद्ध श्रम की लड़ाई लड़ने में प्रभावशाली शक्ति प्रदान करता है। वह यह जान जायेगा कि कब अपनी मांग पर ज़ोर डालना चाहिये और कब शिष्टतापूर्वक झुक जाना चाहिये।

अर्थशास्त्र व्यवसायी मनुष्य का सबसे बड़ा सहायक है। वह व्यापार के संगठन के सिद्धान्तों को सीख सकता है। वह अपने व्यापार की उचित रूप से योजना बना सकता है और उत्पत्ति तथा क्रय-विक्रय की समस्याओं को भली भांति हल कर सकता है। यह व्यवसायी मनुष्य को इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से सहायता देता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन से प्राप्त किया हुआ विस्तृत दृष्टिकोण उसको संकट के समय में लाभदायक सिद्ध होता है। वास्तव में अनेक क्रियाओं से परिपूर्ण मानवीय जीवन के किसी भी स्वरूप को सोचना कठिन है जिसमें अर्थशास्त्र का ज्ञान लाभदायक न हो। वूटन (Wootton) का कथन है कि "आप वास्तव में किसी देश के निवासी नहीं हो सकते जब तक कि आप किसी मात्रा में एक अर्थशास्त्री नहीं हैं।"

यह देखकर के कि आर्थिक विज्ञान के अनुयायी बढ़ते जा रहे हैं तथा इसके विद्यार्थी अत्यधिक संख्या में आकर्षित होते जा रहे हैं, हम डरबिन (Durbin) के शब्दों में यह कह सकते हैं कि "अर्थशास्त्र आधुनिक युग का मानसिक धर्म है।"

आर्थिक विकास की कोई भी स्थिति क्यों न हो मनुष्य के लिए आर्थिक विचार अधिक महत्त्व रखते हैं। राबिन्सन क्रूसो (Robinson Crusoe) के सामने भी साधनों की न्यूनता तथा आवश्यकताओं के वर्धन की समस्याएं उठीं। एक समाजवादी राज्य (Socialist State) भी बिना अर्थशास्त्र के कुछ नहीं कर सकता। चाहे शान्ति हो अथवा चाहे युद्धकाल हो अर्थशास्त्र मानवीय क्षेम को बढ़ाने में एक प्रबल शस्त्र है।

अतएव, अर्थशास्त्र प्रत्येक दृष्टिकोण से अत्यन्त लाभदायक तथा महत्त्वपूर्ण विषय है। इसकी महत्ता अन्य विषयों की महत्ता को ढक लेती है। आधुनिक काल विज्ञान का युग कहलाता है। अतएव जनता भौतिक-शास्त्र तथा रसायन-शास्त्र जैसे विज्ञानों को बहुत महत्त्वपूर्ण मानती है, परन्तु थोड़े विचार से ही स्पष्ट हो जायगा कि अर्थशास्त्र इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। इन विज्ञानों से प्राप्त किये हुए परिणामों को अन्त में वाणिज्य के प्रयोगों में लाना पड़ता है। यही अर्थशास्त्र की महत्ता है। अन्त में यह आर्थिक संगठन ही है जो मनुष्य की सेवा में अन्य विज्ञानों के परिणामों के तत्त्वों को एकत्रित करता है।

१२. एक आर्थिक पद्धति के कार्य (Functions of an Economic System)—अर्थशास्त्र विज्ञान के स्वरूप का यह संक्षिप्त निरीक्षण पढ़ने वाले को इस बात की भावना दे सकता है कि एक आर्थिक पद्धति का क्या कार्य हो सकता है। प्रोफेसर नाइट (Professor Knight) ने आर्थिक पद्धति के चार कार्यों का भेद किया है।

१. लक्ष्यों का निर्धारण अथवा उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्णय उनकी मात्राओं के साथ।

२. संसाधनों का इन वस्तुओं तथा सेवाओं को उत्पन्न करने वाले व्यवसायों में इस प्रकार बटवारा करना ताकि लक्ष्यों की संतुष्टि पूर्ण रूप से हो जाय।

३. उपभोग का वस्तुओं तथा सेवाओं की सीमित पूर्ति से एकीकरण।

४. उत्पत्ति का समाज के सदस्यों में वितरण अर्थात् यह निश्चय करना कि किस की आवश्यकताएं कितनी मात्रा में संतुष्ट की जायंगी।

५. आर्थिक पद्धति के निर्वाह तथा विस्तार के लिये सामग्री जुटाना।

१३. सामूहिक अर्थशास्त्र (Macro-Economics)—आर्थिक पद्धति के अध्ययन के दो रास्ते हैं। पहला रास्ता व्यक्ति के व्यवहार तथा प्रवृत्ति का अध्ययन करना है। यह अध्ययन व्यक्तिगत अर्थशास्त्र (Micro-Economics) कहलाता है। दूसरा रास्ता आर्थिक पद्धति का सामूहिक अध्ययन है जिसको सामूहिक अर्थशास्त्र (Macro-Economics) कहते हैं। परन्तु इनमें से कोई भी अध्ययन अपने आप पूर्ण नहीं है। आर्थिक शक्तियों के संचालन को ठीक से समझने के लिये यह आवश्यक होगा कि एक को दूसरे से पूर्ण किया जाय। व्यक्ति बाजार पर निर्भर है और बाजार व्यक्तियों के कार्यों पर निर्भर है। व्यक्तिगत विश्लेषण इतना महत्त्वपूर्ण है जितना कि समूह का अध्ययन। हम अर्थशास्त्र में आर्थिक पद्धति के संचालन को सामूहिक रूप से अध्ययन करते हैं न कि व्यक्तियों के व्यवहार को।

निर्देशक पुस्तकें

Marshall—Principles of Economics.
Robbins—Nature and Significance of Economic Science.
Keynes, J. N.—Scope and Method of Political Economy
Wicksteed—Commonsense of Political Economy.
Ely and others—Outlines of Economics.
Wootton—Lament for Economics.
Tugwell—Trends of Economics.
Moore and others—Modern Economics.
Cairncross—Introduction to Economics, Chapter 1.
Benham—Economics.
Pigou—Economics of Welfare.
Economics, Man and His Material Resources (New Education Library) Ch. XII.
Indian Journal of Economics (Allahabad), Vol. XX, 1939-40.

अध्याय २

आर्थिक शब्द तथा मूल धारणायें
(ECONOMIC TERMS AND BASIC CONCEPTS)

१. भूमिका (Introduction)—पहले अध्याय में हम अर्थशास्त्र के स्वरूप का प्राथमिक तथा सूक्ष्म निरीक्षण कर चुके है। इसके पूर्व कि हम, विषय का विस्तृत अध्ययन प्रारम्भ करे यह आवश्यक है कि हम कुछ उन शब्दों तथा धारणाओं का जिनका हम प्रयोग करेंगे यथार्थ अर्थ भली भांति समझ लें। अर्थशास्त्र के अध्ययन में कठिनाई का एक मूल कारण यह है कि साधारण बोलचाल के शब्दों का प्रयोग तो होता है किन्तु अभिप्राय दूसरा होता' है ।

२. वस्तुएं तथा उनका वर्गीकरण (Goods and their Classification)—'वस्तु' अथवा 'वस्तुओं' के प्रयोग का अर्थशास्त्र में विशेष अभिप्राय होता है। **कोई चीज जो मानवीय आवश्यकता की संतुष्टि करने योग्य होती है एक 'वस्तु' कही जाती है।** वायु, रोटी, मेज़ इत्यादि सबकी मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये इच्छा अथवा आवश्यकता होती है और इसलिये वे वस्तुएं कहलाती है। जो चीज आवश्यक है वह 'वस्तु' है ।

वस्तुओं का इस प्रकार वर्गीकरण हो सकता है:—

(१) **निर्मूल्य वस्तुएं** (Free Goods)—उदाहरणार्थ वायु, धूप इत्यादि। ये सब प्रकृति की निर्मल्य देन (Free Gifts of Nature) है। ये किसी व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति नही है। ये अत्याधिक्य में पाई जाती हैं।

(२) **आर्थिक वस्तुएं** (Economic Goods)—ये वस्तुएं न्यून तथा सीमित हैं। इनको प्राप्त करने के लिये मनुष्य को बलिदान करना पड़ता है। क्योंकि यह किसी व्यक्ति की सम्पत्ति है अतएव इनके लिये नकदी अथवा वस्तुओं के रूप में कुछ देना पड़ता है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से इन वस्तुओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण है। अर्थशास्त्र आर्थिक वस्तुओं से ही सम्बद्ध है क्योंकि मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये न्यून वस्तुओं के उपयोग से ही आर्थिक क्रिया होती है।

इस पर ज़ोर दिया जा सकता है कि आर्थिक वस्तुओं की न्यूनता सापेक्ष है निरपेक्ष नहीं; यह आकांक्षाओं से सम्बद्ध है। एक वस्तु बहुत थोड़ी मात्रा में हो सकती है, किन्तु यदि मनुष्य ने इसके किसी उपयोग का अनुसंधान नहीं किया तो वह न्यून नहीं कही जावेगी। दूसरी ओर कोई अन्य वस्तु हो सकती है जो अधिक मात्रा में हो किन्तु यदि वह मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कम हो तो वह न्यून समझी जावेगी। इस प्रकार आर्थिक

वस्तु की धारणा बिलकुल व्यावहारिक है। एक वस्तु आर्थिक वस्तु है या नहीं उसकी आवश्यकता पर निर्भर है। यह एक सापेक्ष धारणा है।

आर्थिक वस्तुओं तथा निर्मूल्य वस्तुओं में अन्तर एक स्थायी रूप का नहीं है। एक वस्तु आज निर्मूल्य वस्तु है कल वही आर्थिक वस्तु हो सकती है अथवा वह एक स्थान पर निर्मूल्य वस्तु हो सकती है और दूसरे स्थान पर आर्थिक वस्तु हो सकती है। एक प्राकृतिक स्रोत के निकट जल एक निर्मूल्य वस्तु है परन्तु एक नगर में नहीं। किसी समय में भूमि एक निर्मूल्य वस्तु थी परन्तु अब नहीं है। इसके अतिरिक्त मनुष्यों के आर्थिक स्वभावों में परिवर्तन अथवा सरकार द्वारा बनाया हुआ कानून आर्थिक वस्तुओं को निर्मूल्य वस्तुओं में परिणत कर सकता है और इसके विपरीत भी सत्य है। यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि यह वर्गीकरण लागत (Cost) पर आधारित नहीं है वरन् आवश्यकताओं से सम्बद्ध न्यूनता पर है। एक वस्तु की कुछ भी लागत न हो फिर भी हो सकता है कि वह निर्मूल्य वस्तु न हो। आपको एक हीरा पड़ा हुआ मिल सकता है परन्तु यह निर्मूल्य वस्तु नहीं होता है, क्योंकि आवश्यकताओं के सम्बन्ध में हीरे न्यून है।

रॉबिन्स (Robbins) के शब्दों में हम यह निर्णय दे सकते हैं कि "वस्तुओं में उनके मनुष्य के सम्बन्ध से पृथक् कोई लक्षण नहीं है जो उन्हें आर्थिक वस्तु बना सके... एक विशेष वस्तु या विशेष सेवा एक आर्थिक वस्तु है या नहीं यह पूर्णतया उसके मूल्य पर निर्भर है।"

एक देश की समृद्धि निर्मूल्य वस्तुओं की मात्रा से मापी जाय अथवा आर्थिक वस्तुओं की मात्रा से ? स्पष्ट रूप से एक देश अधिक समृद्धिशाली होगा यदि निर्मूल्य वस्तुओं का घेरा विस्तृत है और आर्थिक वस्तुओं का संकुचित क्योंकि आर्थिक वस्तुएं न्यूनता, भुगतान की आवश्यकता तथा उनको प्राप्त करने के लिए दुःखद प्रयत्न प्रतीत करती हैं। **"यह कथन विरोधाभास-सा प्रतीत होगा कि एक सम्प्रदाय धन के रूप में जितनी अधिक वस्तुएं रखता है उतना ही वह कम समृद्धिशाली है"** (टाजिग)। यह इसलिये है कि सम्प्रदाय का क्षेम केवल धन अर्थात् न्यून अथवा आर्थिक वस्तुओं पर ही निर्भर नहीं है। निर्मूल्य वस्तुएं मानवीय क्षेम के लिये स्वयं सहायक है। यदि इस वर्ग में अधिक वस्तुएँ हं तो मानवीय क्षेम शीघ्र ही बढ़ेगा और विस्तारपूर्वक फैलेगा। यदि दूसरी ओर आर्थिक वस्तुओं का घेरा और विस्तृत होता है, इसका अभिप्राय केवल यह है कि वे वस्तुएं जो पहले बिना मूल्य मिल सकती थीं अब भुगतान द्वारा ही मिल सकेंगी। स्पष्ट रूप से इसका अर्थ यह है कि मानवीय क्षेम कम होगा।

३. उपयोगिता (Utility)—हमने ऊपर देखा है कि प्रत्येक 'वस्तु' एक गुण रखती है जिससे मनुष्य की आवश्यकता की संतुष्टि होती है। अर्थशास्त्र में यह आवश्यकता—संतुष्टि करने की शक्ति, उपयोगिता कहलाती है। **प्रत्येक वस्तु जो प्रत्यक्ष**

अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की आवश्यकता की संतुष्टि करती है, उपयोगिता रखती है। उपयोगिता किसी वस्तु का प्रयोग मूल्य (Value in use) है।

जब हम यह कहते हैं कि आम की उपयोगिता १० इकाई (Units) है और एक पेस्ट्री के टुकड़े की ७ इकाई तो हम केवल अपना अधिमानमाप (Scale of Preference) घोषित करना चाहते हैं और इन दो वस्तुओं के उपभोग से अपनी संतुष्टि की सापेक्ष मात्राएं प्रकट करना चाहते हैं। अतएव उपयोगिता केवल एक लौकिक प्रदर्शन अथवा किसी निराकार वस्तु का साकार भाव अर्थात् अपने अधिमान की मात्रा है।

प्रत्येक वस्तु में कुछ स्वाभाविक गुण होते हैं जिसके कारण वह मनुष्य की एक आवश्यकता की तृप्ति करती है। परन्तु जब हम उपयोगिता का वर्णन करते हैं तो हमारा सम्बन्ध वस्तु के इस प्रकार के आन्तरिक गुणों से नहीं है। दूसरी ओर हम वस्तु का एक व्यक्ति की आवश्यकता के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं। उदाहरणार्थ एक सिगरेट में स्वयं ही कुछ गुण होते है जिनके कारण वह एक मानवीय आवश्यकता की तृप्ति के योग्य है। परन्तु एक न पीने वाले के लिये यह किसी उपयोग की नही। **अतएव उपयोगिता स्वानुभूति और सापेक्ष है।** स्वानुभूति होने के कारण यह व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न होती है। एक घोड़े की उस मनुष्य के लिये जो उस पर सवार नहीं हो सकता और एक चित्र की उसके लिए जो उसे देख नहीं सकता कोई उपयोगिता नही है। एक मनुष्य जिसको न संगीत सुनने से और न कला के देखने से प्रेम है, उनकी प्रशंसा के अयोग्य होगा। चैपमैन (Chapman) के शब्दों में, "बाह्य वस्तुएँ (External goods) केवल आन्तरिक वस्तुओं के सम्बन्ध में ही वस्तुएं हैं।"

उपयोगिता केवल व्यक्ति व्यक्ति ही से भिन्न नहीं होती। यह एक ही व्यक्ति के लिए भिन्न समय पर भिन्न हो सकती है। रुचि, ऋतु अथवा फैशन में परिवर्तन और विज्ञापन अथवा प्रचार किसी वस्तु अथवा किसी सेवा की उपयोगिता पर प्रभाव डाल सकते हैं।

उपयोगिता और सन्तुष्टि (Satisfaction) **में अन्तर किया जा सकता है।** उपयोगिता वस्तु की संतुष्टि देने वाली शक्ति को कहते हैं। संतुष्टि वह है जो हमें प्राप्त होती है; यह उपयोगिता का परिणाम है। यदि किसी वस्तु में उपयोगिता है तो यह हमें संतुष्टि प्रदान करती है।

उपयोगिता और हित (Usefulness) में और अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। साधारण बोलचाल में दोनों शब्दों के अर्थ में प्रायः गड़बड़ी हो जाती है और वे पर्यायवाची शब्द की भांति प्रयोग किये जाते हैं। यदि कोई वस्तु उपयोगी है तो यह आवश्यक नहीं कि वह हितकर भी है। धूमपान करना हितकर नहीं है, शराब पीना अथवा अन्य मादक वस्तुओं का प्रयोग अहितकर है परन्तु अर्थशास्त्री की दृष्टि में सिगरेट, शराब तथा अन्य ऐसी वस्तुओं में केवल इस कारण उपयोगिता है कि मनुष्य इनके लिए भुगतान करने को तत्पर रहते हैं क्योंकि ये उनकी आवश्यकताओं की तृप्ति करती हैं। अर्थशास्त्री वस्तुओं

को एक नीतिज्ञ के दृष्टिकोण से नहीं देखता। जब वह यह देखना चाहता है कि कोई वस्तु उपयोगिता रखती है अथवा नहीं, वह नीति के विचारों से प्रभावित नहीं होता। उसकी कसौटी यह है कि "क्या यह मनुष्य की आवश्यकता-तृप्ति करती है ? कोई मनुष्य इसको अपने उपभोग में लाने के लिये भुगतान करने को तत्पर है अथवा नहीं ?" यदि है तो इसका उपभोग चाहे जितना भी हानिकारक हो उस वस्तु में उपयोगिता होगी। **अतएव उपयोगिता शब्द का कोई नैतिक अभिप्राय नहीं है।**

यह भी कहा जा सकता है कि **उपयोगिता शब्द का सम्बन्ध केवल उपभोक्ता की वस्तुओं से है उत्पादक की वस्तुओं से नहीं।** साइकिल की उपयोगिता उसके लिये है जो उसका प्रयोग करता है। यह उसे संतुष्टि प्रदान करती है। परन्तु यंत्र जिनका प्रयोग साइकिलें बनाने में हुआ है निर्माता (Manufacturer) को कोई संतुष्टि नहीं देते। वह केवल लाभ से ही प्रेरित होता है और यंत्र से उसे कोई आत्मिक संतुष्टि नहीं मिलती। उपयोगिता का सम्बन्ध आत्मिक संतुष्टि से है और किसी अन्य भाव में संतुष्टि से नहीं।

कभी-कभी यह संकेत किया जाता है कि हमें उपयोगिता के स्थान पर "काम्यत्व" (Desirability) का प्रयोग करना चाहिये। परन्तु इस पर भी उपर्युक्त आक्षेप लगाया जा सकेगा। "काम्यत्व" से नैतिक विचार प्रतीत होते हैं जबकि उपयोगिता नैतिक दृष्टि से अपक्षपाती है। कोई वस्तु अयोग्य हो सकती है किन्तु यदि उसके खरीदने और प्रयोग करने के लिए अनेक मूर्ख हैं तो हम कहेंगे कि "यह उपयोगिता रखती है।"

एक अच्छा प्रस्ताव यह है कि महत्ता (Significance) शब्द का प्रयोग किया जाय। यह विकस्टीड (Wicksteed) जैसे अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रयोग में लाया जा चुका है। यह उपर्युक्त आक्षेपों से रहित है। यदि एक वस्तु मानवीय आवश्यकताओं के सम्बन्ध में न्यून है तो वह आर्थिक महत्ता रखती है चाहे भले ही वह अपने उपयोग में अनिष्ट अथवा हानिकारक हो। आधुनिक अर्थशास्त्री भी 'उपयोगिता' के स्थान पर 'अधिमान' (Preference) शब्द प्रयोग करते हैं।

४. मूल्य (Value)—मूल्य दूसरा शब्द है जो अर्थशास्त्र के अध्ययन में प्रायः गड़बड़ी डालता है। एडम स्मिथ (Adam Smith) के शब्दों में "मूल्य शब्द के दो भिन्न अर्थ हैं और कभी-कभी यह विशिष्ट पदार्थ की उपयोगिता तथा कभी-कभी अन्य वस्तुओं की वह क्रय-शक्ति जो उस पदार्थ के अधिकार से प्रकट है, स्पष्ट करता है।" किन्तु मूल्य शब्द का आधुनिक प्रयोग एडम स्मिथ के प्रयोग से भिन्न है।

अब अर्थशास्त्री मूल्य शब्द का प्रयोग केवल एक ही विचार से करते हैं। एडम स्मिथ द्वारा बताये हुए शब्द के पहले प्रयोग अर्थात् प्रयोग मूल्य (Value in use) के लिए वे 'उपयोगिता' शब्द प्रयोग करते हैं। **मूल्य शब्द केवल दूसरे विचार में ही अर्थात् विनिमय मूल्य** (Value in Exchange)—**वास्तविक अथवा संभावित भाव में प्रयोग किया जाता है।**

किसी वस्तु के मूल्य का अर्थ केवल यह है कि कितनी अन्य वस्तु अथवा वस्तुएं इसके विनिमय से प्राप्त हो सकती हैं। किसी वस्तु के अपने विनिमय से दूसरी वस्तुओं को प्राप्त करने की शक्ति को मूल्य कहते हैं। यदि एक फाउन्टेनपैन का आपकी दो पुस्तकों से विनिमय हो सकता है तो उसका मूल्य दो पुस्तकों के बराबर होगा। जब मूल्य द्रव्य के रूप में स्पष्ट किया जाता है तो कीमत कहलाता है।

क्या मूल्यों अथवा कीमतों में सामान्य वृद्धि हो सकती है ? (Can there be a general rise in values or prices ?)—मूल्य सापेक्ष है। हम किसी वस्तु के मूल्य को निरपेक्ष रूप में नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ हम यह नहीं कह सकते कि किसी विशिष्ट वस्तु का मूल्य अधिक है जब तक साथ ही यह न जानें कि कितनी वस्तुएं यह अपने विनिमय से प्राप्त कर सकती है। सैमुएल बेले (Samuel Bailey) के शब्दों में, "एक वस्तु स्वयं बिना किसी अन्य वस्तु से सम्बन्ध के उसी प्रकार मूल्य नहीं रख सकती जिस प्रकार एक वस्तु बिना अन्य वस्तु से सम्बन्ध के उससे दूर नहीं हो सकती।" अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि **मूल्यों में सामान्य वृद्धि नहीं हो सकती जबकि कीमतों में सामान्य वृद्धि हो सकती है।**

हमें यह समझ लेना चाहिए कि मूल्यों में सामान्य वृद्धि क्यों नहीं हो सकती ? उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार एक फाउन्टेनपैन दो पुस्तकों के बराबर है। यदि फाउन्टेनपैन के मूल्य में वृद्धि होती है तो यह पहले की अपेक्षा अधिक पुस्तकें विनिमय में प्राप्त करेगा। दूसरे शब्दों में पुस्तकों का मूल्य कम हो जायेगा। दोनों वस्तुओं के मूल्यों में साथ-साथ वृद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार चूकि मूल्य सापेक्ष है अतएव समस्त वस्तुओं के मूल्यों में एक ही समय में वृद्धि नहीं हो सकती अर्थात् मूल्य में सामान्य वृद्धि नहीं हो सकती।

परन्तु कीमतों में सामान्य वृद्धि हो सकती है जैसा आधुनिक समय में है। प्रत्येक वस्तु की कीमत में वृद्धि हो गई है। यहां समीकरण के दो पक्ष है, वस्तुओं का पक्ष तथा द्रव्य का पक्ष। इस दशा में वस्तुओं के पक्ष में वृद्धि हो गई है जबकि द्रव्य के पक्ष (अर्थात् द्रव्य के मूल्य) में कमी हो गई है। अतएव जब कीमतों में वृद्धि हो जाती है तो इसका अर्थ यह है कि वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। किन्तु द्रव्य का मूल्य घट जाता है। इस प्रकार कीमतों में सामान्य वृद्धि हो सकती है परन्तु मूल्यों में नहीं।

५. धन (Wealth)—इस विषय में अत्यधिक मतभेद है कि धन क्या है और क्या नहीं। भाग्यवश इस मौलिक विचार के स्वरूप के विषय में अब एक सामान्य मत है। जब भी 'धन' शब्द हमारे सन्मुख आता है तो हम फौरन नकदी, भूमि, इमारतों, यन्त्र, लकड़ी के सामान, प्राधिअधिकार (Mortgage Rights), राज्य प्रतिभूतियों (Government Securities), स्कंध तथा अंशों (Stocks and Shares) इत्यादि का विचार करते हैं।

अब यदि हम इन 'वस्तुओं' के स्वरूप को सामान्य रूप देने का प्रयत्न करें तो हमें

ज्ञात होगा कि वे सब मनुष्य की इच्छा के पदार्थ है। उनकी आवश्यकता इसलिये होती है कि वे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मानवीय आवश्यकताओं की तृप्ति कर सकते हैं। **संक्षेप में उनमें उपयोगिता है**। अतएव किसी वस्तु को 'धन' कहने के पूर्व हम एक गुण जो वस्तुओं में अवश्य होना चाहिये निश्चित कर सकते है ।

परन्तु इस विषय पर और विचार करने पर हम यह देखेंगे कि धन की निश्चित कसौटी केवल उपयोगिता होना ही नही है। वायु में अत्यधिक उपयोगिता होती है। किन्तु क्या यह धन है ? क्या कोई मनुष्य इसके लिए भुगतान करता है ? नहीं। यह धन नहीं है। हम इस प्रकार की अनेक 'वस्तुओं' को स्मरण कर सकते हैं जैसे धूप, अरब सागर के किनारे की रेत, प्राकृतिक स्रोतों से निकला हुआ जल इत्यादि। वे धन नहीं हैं क्योकि वे असीमित मात्रा में है। अतएव **सीमित होना अथवा न्यूनता धन का दूसरा आवश्यक गुण है।**

एक और भी गुण आवश्यक है अर्थात् हस्तांतरित साध्यता (Transferability) अथवा विक्रय-शक्ति (Marketability)। जब तक हम वस्तुओं पर अधिकार न कर सकेगे उनका कोई मूल्य न होगा। बिना हस्तांतरित साध्यता के अधिकार असंभव है। जब तक किसी वस्तु का विनिमय न हो सके तब तक वह अधिकारी के लिए धन नही हो सकती । वस्तु का स्वयं हस्तातरण होना आवश्यक नही है केवल अधिकार का हस्तांतरण होना यथेष्ट है। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि वस्तुओं का वास्तव मे विक्रय हो। उदाहरण के लिये सार्वजनिक पार्क, पुस्तकालय, स्कूल, अस्पताल इत्यादि धन है यद्यपि उनका क्रय-विक्रय नही होता।

सारांश यह है कि धन के तीन आवश्यक गुण हैं:—(१) **उपयोगिता, (२) पूर्ति में न्यूनता अथवा सीमित होना; तथा (३) हस्तांतरित साध्यता अथवा विक्रय शक्ति।**

कुछ अन्य गुण भी प्रस्तावित किये जाते है, उदाहरणार्थ, धन एकत्रित करने के योग्य हो। परन्तु यह हर समय संभव नहीं है क्योंकि 'सेवाएं' धन के अन्तर्गत है तथा वे एकत्रित करने योग्य नही है जैसा हम अभी देखेंगे ।

एक दूसरे आवश्यक गुण का भी संकेत किया जाता है कि यह श्रम का परिणाम हो अथवा इसकी प्राप्ति में कुछ बलिदान हो। यह भी वास्तविकता के अनुसार नहीं है : उन मनुष्यों को जिन्हें हीरे पहले मिले उनकी प्राप्ति के लिये कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा। कुछ भी हो उनका मूल्य उनकी प्राप्ति के लिए किये गये परिश्रम से कहीं अधिक है। भूमि का उदाहरण लीजिये। यह मनुष्य द्वारा बनाई हुई नहीं है, यह प्राकृतिक प्रसाद है। प्रथम पाने वालों को अधिक परिश्रम नही करना पड़ा। यद्यपि उनकी प्राप्ति के लिये अधिक मात्रा में श्रम नहीं लगा तो भी ऐसी सब वस्तुएँ धन मानी जाती हैं। अतएव यह निर्णय करने के लिए कि एक वस्तु धन है अथवा नहीं उपर्युक्त तीन गुण यथेष्ट हैं।

धन की उपर्युक्त परिभाषा आर्थिक वस्तुओं के समानार्थ है क्योंकि वे उपयोगिता रखती हैं, सीमित हैं तथा हस्तांतरणीय हैं। जे० एन० कीन्स (J. N. Keynes) के शब्दों

में "धन के अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताओं की तृप्ति के समस्त प्रभावयुक्त विनिमय-शील साधन हैं।" प्रत्येक वस्तु जिसमें विनिमय मूल्य (Value in Exchange) **(संक्षेप में मूल्य) है वह धन है।**

हमको एक विषय पर जोर देना चाहिये। धन एक सापेक्ष शब्द है। यह वस्तुओं का मनुष्य से सम्बन्ध है जो उन्हें धन बनाता है। ऐसी अनेक वस्तुएं हैं जिनका मनुष्य जाति के लिए कभी कोई उपयोग न था। वे निर्मूल्य वस्तुएं थीं और धन नहीं। उद्योग के अनेकों उपोत्पाद (Bye-products) कूड़े की भांति फेंक दिये जाते थे। अभी हाल ही में भारत में शक्कर के कारखानों में शीरा इतना एकत्रित हो गया था कि वे इस क्लेशकारक पदार्थ से छुटकारा पाने के लिए कुछ भुगतान करने को तत्पर थे। शराब खींचने के कारखानों के स्थापित होने से वह धन बन गया। कालिदास के नाटक एक जंगली मनुष्य के लिए धन नही है। रॉबिन्स (Robbins) के शब्दों में "धन अपने सारपूर्ण गुणों के कारण धन नहीं है। यह न्यून होने के कारण धन है।"

धन के इस अभिप्राय में समस्त भौतिक तथा अभौतिक पदार्थ और उनके प्रयोग से उत्पन्न होनेवाले अधिकार तथा लाभ और साथ ही सब प्रकार की सेवायें यदि उनमें विनिमय मूल्य है, उसके अन्तर्गत होती हैं। प्रेम, मित्रता तथा चरित्र जैसी अत्यन्त प्रशंसनीय वस्तुएं धन की परिभाषा के बाहर केवल इस कारण है कि उनका क्रय-विक्रय नहीं हो सकता।

अब हमें कुछ प्रकार की वस्तुओं को इन कसौटियों पर रखना चाहिए और यह देखना चाहिए कि क्या वे धन हो सकती है। हमें एक बार फिर सावधानी से विचार करना चाहिये। हम अन्धविश्वास से यह नहीं कह सकते कि यह धन है और वह धन नहीं। एक वस्तु कुछ दशाओं में, किसी निश्चित स्थान पर अथवा किसी निश्चित समय में धन हो सकती है और अन्य प्रकार की दशाओं में पूर्णतया धन नहीं होती। उदाहरणार्थ साधारणतया वायु धन नहीं है किन्तु भूमि के नीचे के कमरों में जहां उसकी प्राप्ति के लिए द्रव्य व्यय करना पड़ता है वह धन हो जाती है। निम्नलिखित पर विचार कीजिये :-

वैयक्तिक गुण (Personal Qualities)—क्या शस्त्रवैद्य की कुशलता, वकील की तर्क चतुराई, एक मनुष्य की बुद्धि तथा योग्यता धन है? यह वैयक्तिक योग्यताएं धन का एक मूल कारण हैं। हम शस्त्रवैद्य को उसकी कुशलता के लिये भुगतान देते हैं। उसने कदाचित् इसकी प्राप्ति के लिये अत्यधिक द्रव्य तथा श्रम व्यय किया होगा। किन्तु वैयक्तिक गुण धन नहीं माने जाते। वे हस्तांतरणीय नहीं हैं अतएव विनिमयशील नहीं हैं। जब हम शस्त्रवैद्य को उसकी सेवा के लिये भुगतान देते हैं उसकी कुशलता को नहीं खरीदते। उसकी कुशलता उसके शरीर से अलग नहीं की जा सकती। धन में हम यह नहीं देखते कि एक मनुष्य के अन्तर्गत क्या है। उसमें हम यह देखते हैं कि वह अपने से बाह्य क्या रखता है? किन्तु ऐसे गुण शिष्टाचार के नाते वैयक्तिक धन कहे गये हैं।

वैयक्तिक सेवायें (Personal Services)—क्या डाक्टर, वकील, अध्यापक, घरेलू नौकर इत्यादि की सेवाएं धन हैं? हां, वे धन हैं। वे मानवीय आवश्यकता की संतुष्टि कर सकती है तथा इसलिये उपयोगिता रखती हैं; वे न्यून हैं और विनिमयशील हैं। वे द्रव्य से विनिमय के हेतु की जाती हैं।

द्रव्य(Money)—द्रव्य स्वयं क्या है? यह कहा जाता है कि द्रव्य केवल एक विनिमय माध्यम है। स्वयं इसका कोई मूल्य नहीं होता। अब यह विचार गलत है। धात्वीय द्रव्य (Metallic Money) आसानी से धन माना जा सकता है। इसमें आन्तरिक (Intrinsic) मूल्य है और यह न्यून तथा विनिमयशील है। परन्तु कागजी द्रव्य (Paper Money) भी धन है। यह क्रय-शक्ति(Purchasing Power) रखता है तथा यह उन वस्तुओं तथा सेवाओं का संग्रह प्रस्तुत करता है जिसे द्रव्य रखने वाला खरीद सकता है। निस्संदेह द्रव्य का विनिमय मूल्य (Value in Exchange) है और प्रत्येक वस्तु जिसका विनिमय मूल्य है वह धन है।

ख्याति (Goodwill)—यह अस्पृश्य है। किन्तु यह अवश्य ही धन है। बाज़ार में इसकी कीमत होती है। एक व्यवसाय-संस्था (Firm) जिसने अधिक परिश्रम करके अपनी ख्याति स्थापित कर ली है अवश्य ही इसे व्यवसाय के स्वामित्व को किसी अन्य को सौंपते समय द्रव्य में बदल सकती है।

पदवियों के प्रलेख (Documents of Title)—ऐसे अनेक प्रकार के प्रलेख हैं जिन्हें उनके स्वामी धन मानते हैं, उदाहरणार्थ चेक, विनिमय-पत्र (Bills of Exchange), प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Notes), वहन-पत्र (Bills of Lading), राज्य बंध (Govt. Bonds), परम प्रतिभूतियां (Gilt-edged Securities), स्कंध तथा अंश प्रमाण-पत्र (Stock and Share Certificates), आगोपलेख (Insurance Policies), भूमि तथा इमारतों से सम्बन्धित प्राधिसंलेख (Mortgage Deeds) तथा अन्य सम्पत्ति अधिकार (Property Rights)। यह सब द्रव्य मूल्य(Money Value) रखते हैं। यद्यपि आगोपलेख के विषय में द्रव्य मूल्य समय पर इसकी अध्यर्पण मूल्य(Surrender Value) के बराबर है; परन्तु यह प्रलेख स्वयं धन नहीं हैं। यह धन के अधिकार के साक्षी अथवा केवल उसके प्रमाण-पत्र हैं। वे कहीं पड़े हुए धन को प्रस्तुत करते हैं जिन पर इन प्रलेखों के रखने वालों का अधिकार है। इसलिये वे **प्रतिनिधि-धन** (Representative Wealth) कहलाते हैं।

६. धन का वर्गीकरण (Wealth Classified)—धन के वर्गीकरण के लिये प्रयत्न किये जा चुके हैं। एक साधारण वर्गीकरण नीचे दिया गया है:—

वैयक्तिक अथवा निजी धन (Individual or Private Wealth)—एक व्यक्ति का धन जो निजी धन भी कहा गया है उसमें उसके ऐसे भौतिक अधिकार

समावेशित हैं जैसे नकदी, भूमि, इमारतें, लकड़ी का सामान इत्यादि तथा अन्य वैयक्तिक प्रभाव, सम्पत्ति का अधिकार, राशि, अंश, राज्य-प्रतिभूति, एकस्व (Patents) और प्रतिलिप्यधिकार (Copyrights)। इसके अन्तर्गत उसके व्यवसाय की ख्याति जैसी अस्पृश्य परिसम्पत्ति भी है। **तो भी उसके वैयक्तिक गुण इससे अलग हैं**। उसके ऋण उसके कुल धन से घटा दिये जाते हैं।

सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक धन (Social or Communal Wealth)—इस वर्ग में हम धन के उन रूपों को रखते हैं जो केवल व्यक्तियों के अधिकार में नहीं हैं परन्तु सबकी सामूहिक सम्पत्ति है और उसमें सब भाग रख सकते हैं। इस प्रकार के धन के उदाहरण यह हैं: सार्वजनिक पार्क, सार्वजनिक पुस्तकालय, सार्वजनिक इमारतें, सरकारी भूमि तथा वन, सड़कें, रेलें, सरकारी कारखाने तथा सरकार की अन्य सम्पत्ति।

राष्ट्रीय धन (National Wealth)—यह देश के समस्त नागरिकों के धन का कुल योग है। यह उनकी अधिकार वाली आर्थिक वस्तुओं का समूह है। देश के कुल राष्ट्रीय धन की गणना करते समय हमें केवल अकेले नागरिकों के व्यक्तिगत धन को ही नहीं देखना चाहिये वरन् सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक धन को भी, जिस पर सम्प्रदाय का सामूहिक अधिकार है, देखना चाहिये। एक नागरिक के दूसरे नागरिक पर ऋण और इसी प्रकार व्यक्तियों के एकस्व (Patents) तथा प्रतिलिप्यधिकार (Copyrights) की गणना इसमें न की जायेगी क्योंकि उनकी समाप्ति अथवा उनके क्षय से सम्प्रदाय पर कोई अन्तर नहीं पड़ता।

परन्तु राष्ट्रीय धन की विस्तृत परिभाषा भी की जाती है। विस्तृत रूप में अन्य अनेक वस्तुएं जिन्हें राष्ट्रीय परिसम्पत् (Assets) समझा जा सकता है राष्ट्रीय धन के अन्तर्गत है। उदाहरणार्थ पहाड़, नदियां, स्वस्थ जलवायु, अच्छा शासन, नागरिकों का चरित्र इत्यादि। इस भाव में हिमालय पर्वत, गंगा तथा अन्य इस प्रकार के प्राकृतिक प्रसाद राष्ट्रीय धन के अन्तर्गत हो सकते हैं।

सार्वभौमिक धन (Cosmopolitan Wealth)—सम्पूर्ण विश्व का धन है।

नकारात्मक धन (Negative Wealth)—स्पष्ट ही नकारात्मक धन से अभिप्राय उस दायित्व से है जो सकारात्मक धन (Positive Wealth) के विरुद्ध हो। ऋणी के लिये ऋण नकारात्मक धन है परन्तु ऋण-दाता के लिये सकारात्मक धन है। एकस्व तथा प्रतिलिप्यधिकार उसके अधिकारी के लिये सकारात्मक धन हैं परन्तु उन मनुष्यों के लिये जो इन अधिकारों को स्वीकार करते हैं, नकारात्मक धन है। इसी प्रकार सरकारी ऋण समस्त सम्प्रदाय के लिये नकारात्मक धन हैं किन्तु उनके लिये जिन्हें प्राप्त होना है सकारात्मक धन है। कुछ पशु भयंकर होने के अतिरिक्त अत्यधिक हानि पहुंचाते हैं और नकारात्मक धन समझे जा सकते हैं। खरगोश, सुअर तथा बानरों को नकारात्मक धन समझा जा सकता है।

७. धन और आय (Wealth and Income)—धन और आय में भेद करना अति आवश्यक है। धन एक कोष अथवा एक व्यक्ति या समुदाय के संसाधनों अथवा परिसम्पत्ति की राशि है जब कि आय उससे निकली हुई समय की एक इकाई पर अर्थात् साप्ताहिक, माहवारी अथवा वार्षिक उपयोगिता या संतुष्टि है। इस प्रकार यह विदित होगा कि धन भूतकाल में संचय की हुई वह आय है जो वर्तमान काल में परम्परा से प्राप्त होती है। यह वह साख आधिक्य है जिससे कि एक व्यक्ति अथवा समुदाय अपना व्यवसाय आरम्भ करते हैं। एक मनुष्य अपनी ५ लाख की सम्पत्ति से २५००० रुपयों की आय पाता है। सम्पत्ति धन है और जो कुछ इससे प्राप्त होता है वह आय है। आय की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि यह वह राशि है जिसका एक समय में उपभोग किया जा सके और जिसके बाद मनुष्य उतना ही धनवान हो जितना कि पहिले था। एक मनुष्य जो अपनी आय से अधिक व्यय करता है बुरी दशा में होगा और जो अपनी आय से कम व्यय करता है अच्छी दशा में होगा। परन्तु यदि वह इतना व्यय करता है जिससे वह न बुरी दशा में रह जाता है न अच्छी दशा में तो यह उसकी आय होगी। यह ध्यान रखना चाहिये कि एक व्यक्ति की सब प्राप्ति उसकी आय के अन्दर नहीं आयगी। उदाहरण के लिये मकान तथा अंशों के बेचने से प्राप्ति उसकी आय नहीं कहलाती। मकान का किराया तथा अंशों से मुनाफा आय में आते हैं। परन्तु पूरा किराया भी आय नहीं है। इसमें से मरम्मत की लागत तथा क्षति (Depreciation) घटा देना चाहिये। प्रचुर मात्रा के लाभ आय नहीं माने जाते।

राष्ट्रीय आय (National Income):—एक व्यक्ति के लिये आकांक्षा वाली आय उतनी महत्वपूर्ण होती है जितनी कि प्राप्त की हुई आय। परन्तु राष्ट्र के लिये हम केवल व्यक्तियों की प्राप्त की हुई आय ले सकते हैं। राज्य द्वारा की गई सेवाओं तथा लाभ के हेतु लगाये हुए धन का भी ध्यान रखना चाहिये। राष्ट्रीय आय का लेखा करते समय व्यक्तिगत करों को व्यक्तिगत आय में से नहीं घटाया जाता। परन्तु व्यापार करों को घटाया जाता है क्योंकि वे व्यय में सम्मिलित हैं।

भारतीय राष्ट्रीय आय समिति की पहली रिपोर्ट के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय सं० १९४८–४९ में ८७१० करोड़ थी। कृषि, जानवर पालने का कार्य तथा इसके अधीन कार्यों का हिस्सा ४८ प्रतिशत अथवा लगभग $\frac{1}{2}$ और वाणिज्य, यातायात १९.५ प्रतिशत अथवा $\frac{1}{5}$ था। कृषि, खान, दस्तकारी तथा भूमि सम्बन्धी व्यापार का हिस्सा हमारी राष्ट्रीय आय का लगभग $\frac{3}{5}$ था।

राष्ट्रीय आय (या साधन की लागत पर उत्पत्ति) दो प्रकारों से देखी जा सकती है। सबसे सरल तरीका यह है कि उसको उत्पत्ति के साधनों से प्राप्त किये हुए कुल फायदे, मजदूरी, वेतन, साहसी की कमाई, लाभ, ब्याज तथा लगान के रूप में देखें अतएव राष्ट्रीय आय उत्पत्ति के साधनों द्वारा आर्थिक क्रिया में भाग लेने से प्राप्त की हुई रकम

को जोड़ने से मिलती है। यथाक्रम यही रकम उन भिन्न-भिन्न उद्योगों में बांटी जा सकती है जिनमें कि यह फायदे होते हैं। उत्पत्ति के समस्त साधनों द्वारा प्राप्त की हुई कुल रकम का सामूहिक योग उद्योगों के अनुसार वर्गीकरण किया हुआ राष्ट्रीय प्रदा (Output) या उत्पत्ति कहलाती है। इसी भांति यू. एन. प्रकाशन (U. N. Publication) "राष्ट्रीय आय की माप" ("Measurement of National Income") गणना की रीति तथा विषय का वर्णन करती है। सूत्र यह है।

कार्य अथवा सम्पत्ति से व्यक्तिगत आय जो इनसे प्राप्त होती है —
उद्योग आगम (Business Revenue)
उद्योग पूंजी (Business Capital)
प्रजाधिकारी (Public Authorities)
उद्योग संचय (Business Saving)
राष्ट्रीय आय अथवा साधन की लागत पर उत्पत्ति।

८. धन तथा क्षेम (Wealth and Welfare)—अर्थशास्त्रियों में धन तथा क्षेम के सम्बन्ध में निरंतर किन्तु व्यर्थ वाद-विवाद पाया जाता है। हम देख चुके हे कि अर्थशास्त्र धन को न कि क्षेम को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाता है। परन्तु अर्थशास्त्र पर स्वार्थता पर केन्द्रित होने का दोषारोपण तथा उसे निकृष्ट विज्ञान कहना अनुचित होगा। अर्थशास्त्रियों ने यह घोषित कर दिया है **कि धन का अध्ययन स्वयं उसके लिये नहीं होता परन्तु इसलिये होता है कि वह मानवीय क्षेम को बढ़ाता है।** धन साधन तथा क्षेम साध्य है। दोनों परस्पर भिन्न हैं। धन का अभिप्राय वस्तुओं की राशि से है किन्तु क्षेम का मस्तिष्क की दशा से। यह संतुष्ट तथा असंतुष्ट का योग है।

यह अब मान लिया गया है कि मनुष्य की क्रियाएं केवल स्वार्थभाव से ही प्रेरित नहीं होतीं। प्रत्येक मनुष्य द्रव्य के लिये उत्सुक है। तो भी, द्रव्य की आवश्यकता स्वयं उसके ही लिये नहीं होती किन्तु उन वस्तुओं तथा सेवाओं के लिये होती है जिनका इससे क्रय हो सकता है। अतएव जब अर्थशास्त्री धन का अध्ययन करता है तो क्षेम को नहीं भूलता। इसे सबसे आगे रक्खा जाता है।

धन का अध्ययन केवल इसीलिये किया जाता है क्योंकि इस संसार में धन ही केवल मानवीय प्रेरणाओं की तीव्रता का सरल माप है। प्रेम, मित्रता, कुटुम्ब अनुराग, दान इत्यादि जैसी अन्य प्रेरणायें भी अपना प्रभाव डालती हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि आर्थिक क्रिया के पीछे सबसे अधिक दृढ़ तथा परमावश्यक प्रेरणा द्रव्य आय (Money Income) प्राप्त करना है।

एक अन्य कारण भी है कि अर्थशास्त्री क्षेम की अपेक्षा धन का अध्ययन करता है। **क्षेम के प्रति व्यक्ति व्यक्ति के विचार भिन्न-भिन्न हैं। क्षेम के अन्तर्गत क्या है इसके प्रति प्रत्येक मनुष्य के अपने-अपने विचार हैं। कुछ चाहते हैं कि हमारी भौतिक समृद्धि**

बढ़ाई जाय और कुछ शील समृद्धि तथा कुछ आध्यात्मिक समृद्धि को उन्नति देने में विश्वास करते हैं। इसके अतिरिक्त क्षेम के विचार युग-युग में तथा देश-देश में भिन्न रहे हैं। अर्थशास्त्र का आधार एक ठोस धन की नींव है न कि एक अति अस्थिर दलदल। इस अवस्था के प्रति पूर्णतया एक मत है।

कुछ विषयों में धन तथा क्षेम में भिन्नता है। वायु तथा धूप जो जीवन अथवा मानवीय क्षेम के लिये अनिवार्य है, किसी प्रकार धन नहीं माने जाते हैं। फिर आनंद, प्रेम, मित्रता, स्वास्थ्य, संस्कृति इत्यादि जो जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं और जीवन को रहने योग्य बनाते हैं धन के क्षेत्र के बाहर है। अतएव वे वस्तुएं जो मनुष्य की समृद्धि की अधिक सहायक हैं धन में कोई स्थान नहीं रखतीं।

दूसरी ओर भी देखिये। अनेक वस्तुएं जो धन के अन्तर्गत हैं न केवल हमारी भौतिक समृद्धि को नहीं बढ़ाती परन्तु इसके विपरीत इसके लिये हानिकारक हैं। मादक पदार्थ, अश्लील साहित्य तथा अन्य अनेक निन्दित वस्तुएं तथा सेवायें जिन्हें अर्थशास्त्री धन मानता है हमारे क्षेम पर बुरा प्रभाव डालती हैं।

और फिर एक धनवान समाज अवश्य ही एक उन्नतिशील समाज वास्तविक रूप में नही है। इसके विपरीत घोर भौतिकवाद के इस युग में धनी वर्ग सम्पूर्ण समाज में पाई जाने वाली समस्त भ्रष्टता पर सर्वाधिकार करता हुआ प्रतीत होता है। धन मनुष्य की आत्मा को भ्रष्ट करता है, कुमार्ग पर ले जाता है तथा अशुद्ध करता है। गोल्डस्मिथ (Goldsmith) के उचित कथनानुसार,

"डूब ही जायेगा वह देश न हो जिसमें आचार विचार
जहां धन संचय ही हो मुख्य और मानव गौरव निस्सार"

(Ill faces the land, to hastening ills a prey
Where wealth accumulates and men decay)

व्यक्ति के दृष्टिकोण से जो धन है, यह हो सकता है कि वह समाज के दृष्टिकोण से धन न हो। उदाहरणार्थ एक ठग समाज का हित किये बिना ही द्रव्य प्राप्त कर सकता है। बहुधा निजी धन (Private Wealth) और सार्वजनिक क्षेम (Public Welfare) में भिन्नता होती है। कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो गम्भीरतापूर्वक विश्वास करते हैं कि एक धनी पुरुष के स्वर्ग में प्रवेश करने की अपेक्षा एक ऊंट के लिए सुई के नाके से निकलना सरल है। अतएव यह कहा जा सकता है कि धन और क्षेम में कोई सांसारिक सम्बन्ध नहीं हो सकता।

परन्तु ऐसा नहीं है। कदाचित् हमने धन का अनुचित निराशावादी रूप में चित्रण किया है। जहां हमने इसके भ्रष्ट करनेवाले प्रभावों का वर्णन किया है, हमें इसकी हित-कारी प्रबलता को भी अवश्य स्वीकार करना चाहिये। सब इसके उपयोग के ढंग पर निर्भर है। एक धनी पुरुष निस्संदेह अपना और अपने कुटुम्ब का अच्छा जीवन-निर्वाह-स्तर

(Standard of Living) स्थापित रखने के लिए सहायक हो सकता है तथा इस प्रकार अपना भौतिक क्षेम बढ़ा सकता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि वह अपने से कम भाग्यशाली भाइयों की सहायता कर सकता है।

आधुनिक काल में उत्पत्ति के स्थान पर वितरण पर अधिक ज़ोर दिया जाता है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि सम्प्रदाय का क्षेम केवल कुल धन पर ही नहीं निर्भर है किन्तु उसके समान वितरण पर भी। न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wage) प्रणालियां प्रचलित कर दी गई हैं, कुसीद (Usury) के विरुद्ध कानून पास किये गये हैं, लाभ सीमित करने के प्रयत्न किये गये हैं—सब इसको निश्चित करने के लिये किये गये हैं कि धन से मानवीय क्षेम के प्रति अधिकाधिक लाभांश (Dividends) प्राप्त किये जायें। राजस्व (Public Finance) में आधुनिक प्रवृत्तियां देखिये—धनी पर तीव्र प्रगामी कर, श्रेष्ठतर चिकित्सा सहायता, अच्छी शिक्षा, अच्छी सड़कें तथा सार्वजनिक पार्क, अजायबघर, पुस्तकालय इत्यादि जैसे अन्य सामाजिक वस्तुओं के साधन इत्यादि के रूप में निर्धनों के हेतु अधिकतम सुविधाओं का प्रबन्ध। ऐसे सब प्रयत्न स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि धन मानवीय क्षेम को बढ़ाने का एक प्रबल तथा कुछ के अनुसार एकमात्र प्रभावशाली साधन है। धन और क्षेम मे अति निकट सम्बन्ध है।

९. संचय तथा विनियोग (Savings and Investments)—व्यक्तिगत दृष्टिकोण से संचय उपभोग के बाद बची हुई आय है। प्रमण्डलों में बचत लाभांश के भुगतान के बाद वास्तविक लाभ की बची हुई रकम है।

विनियोग उत्पादक वस्तुओं तथा साज सामान के संग्रह का वह वास्तविक जोड़ है जो एक समय के अंत में उसके आरम्भ की अपेक्षा होता है। इसका अर्थ नई पूंजी वाले उस साज-सामान के खरीदने से है जो आय के समय से अधिक टिकाऊ है। अंशों तथा प्रतिभूतियों (Securities) का अधिक निर्गम (Issue) विनियोग नहीं कहलाता। यह जानने के लिये कि विनियोग हुआ है हमको यह मालूम करना होगा कि किस भांति वसूल की हुई नकदी का ठीक-ठीक व्यय हुआ है।

यह स्पष्ट है कि संचय अपने-आप विनियोग नहीं हो जाता, बचाने का निर्णय तथा व्यय करने का निर्णय दो पृथक्-पृथक् निर्णय हैं और आधुनिक उद्योग संसार में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किये जाते हैं।

१०. साम्य विश्लेषण (Equilibrium Analysis)—कभी-कभी आधुनिक अर्थशास्त्र साम्य विश्लेषण कहलाता है। यह उस स्थिति से सम्बन्ध रखता है जब आर्थिक प्रभावों ने एक संतुलन की स्थिति पैदा कर दी है। उदाहरणार्थ, यदि एक वस्तु की कमी है अर्थात् जब मांग पूर्ति से अति अधिक है, कीमत बढ़ेगी। परिणाम यह होगा कि मांग कम कर दी जावेगी, यहां तक कि मांग और पूर्त्ति एक साम्य पर पहुंच जायेंगे तथा

और कोई परिवर्तन न हो सकेगा। उत्पत्ति तथा कीमत साम्य में होते हैं यदि मांग तथा पूर्ति पर आधारित सामग्री दिये होने पर उत्पत्ति तथा कीमत में अधिक परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं है। साम्य की शर्तें वह सम्बन्ध हैं जिनका पूर्ण होना उत्पत्ति तथा कीमतों के साम्य होने से पहले आवश्यक है। यह शर्तें आर्थिक क्रिया की मुख्य निर्धारकों को संक्षेप में बताती हैं।

जबकि थोड़े से विघ्न में ऐसी शक्तियां कार्य करना प्रारम्भ कर देती हैं जो कि पहली स्थिति को फिर से स्थापित कर देती हैं तो साम्य स्थिर होता है। यह अस्थिर होता है जबकि एक बार विघ्न पड़ने पर फिर विघ्न पड़ने की सम्भावना होती है ताकि पहली स्थिति फिर से कभी स्थापित न हो। यह एक तटस्थ साम्य होता है जबकि विघ्न डालने वाली शक्तियां न तो उसको पहली स्थिति पर लाती हैं और न उसको उससे परे कर देती हैं। यह उसी स्थान पर रहता है जहां पर वह पहुंच जाता है। पीगू (Pigou) इन तीनों साम्यों का इस भांति वर्णन करते हैं, "एक जहाज़ एक भारी शहतीर के साथ स्थिर साम्य में होता है। एक अण्डा उसके एक तरफ पड़े होने पर तटस्थ साम्य तथा एक अण्डा उसके एक सिरे पर पसंघा रक्खा हुआ अस्थिर साम्य में होता है।" साम्य अपूर्ण होता है जब वह सीमित सामग्री पर आधारित होता है परन्तु यह सामान्य होता है जब यह पूर्ण सामग्री पर आधारित होता है।

११. स्थैतिक तथा प्रवैगिक विश्लेषण (Static and Dynamic Analysis)—स्थैतिक आर्थिक सिद्धान्त साम्य अवस्था की व्याख्या इसी कल्पना पर करने का प्रयत्न करता है कि एक समय के लिये सामग्री अपरिवर्तनशील रहे। सामग्रियाँ जिनको दृढ़ माना जाता है—जनसंख्या का आकार तथा बनावट, मनुष्यों की आय तथा रुचि, औद्योगिक ज्ञान की दशा इत्यादि है। आर्थिक स्थितियां या तो बदलने की प्रवृत्ति ही नही दिखातीं या वे एक बार बार आने वाले चक्र में बदलती हैं। प्रवैगिक अर्थशास्त्र साम्य अवस्था का अध्ययन नहीं करता वरन् उस मार्ग का अध्ययन करता है जिसको आर्थिक शक्तियां अपनी अन्तिम स्थिति पर पहुँचने से पहले पार करती हैं। घटनाओं में लगातार परिवर्तन होता रहता है।

प्रायः यह कहा जाता है कि आर्थिक सिद्धान्त केवल साम्य का ही अध्ययन करता है अथवा यह एक स्थैतिक स्थिति पर ही लागू होता है। परन्तु जैसा कि रॉबिन्स ने बताया है वास्तविकता यह है कि परिवर्तन के नियमों को समझने के लिये हम स्थिरता के नियमों का अध्ययन करते हैं।

अध्याय ३

उपभोग
(CONSUMPTION)

१. उपभोग क्या है ? (What is Consumption)—अर्थशास्त्र के स्वरूप का अध्ययन करने के बाद और इनमें प्रयोग किये जाने वाले शब्दों से परिचित होने के बाद हम अब मुख्य विषय का अध्ययन करेंगे। हम अर्थशास्त्र का पहला भाग अर्थात् उपभोग को लेते हैं। उपभोग में हम यह विवेचन करते हैं कि असीमित आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये सम्प्रदाय के सीमित संसाधन किस प्रकार प्रयोग में लाये जाते हैं, अथवा सम्प्रदाय अपने संसाधनों को अपनी आवश्यकताओं से किस प्रकार सामंजस्य करता है। ऐली (Ely) के शब्दों में "उपभोग का विस्तृत भाव में अर्थ मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि में आर्थिक वस्तुओं तथा वैयक्तिक सेवाओं का प्रयोग है।" "Consumption in its broader sense, means the use of economic goods and personal services in the satisfaction of human wants".

जिस प्रकार मनुष्य पदार्थ की उत्पत्ति नही कर सकता और केवल उसका रूप बदल कर उसे उपयोगिता दे सकता है, इसी प्रकार मनुष्य पदार्थ का नाश नहीं कर सकता। वह केवल उपयोगिता का प्रयोग करके इसका **रूप भंग** कर सकता है। अतएव उपभोग की "उपयोगिताओं का नाश" कह कर भी परिभाषा की गई है। नाश तुरन्त हो सकता है जैसे भोजन जो हम खाते है या जल जो हम पीते है; अथवा नाश धीरे-धीरे हो सकता है जैसे लकड़ी के सामान का, मकान का, साइकिल इत्यादि जैसी टिकाऊ वस्तुओं का।

परन्तु इस पर ज़ोर देना आवश्यक है कि **उपभोग का तात्पर्य केवल इस प्रकार के नाश से ही नहीं है।** घर में आग लग सकती है, चाय के बर्तन मेज़ से गिर सकते हैं और नौकर से रुष्ट स्वामी उसके मुंह पर भोजन फेंक कर मार सकता है। ऐसी दशा में वस्तुओं का बिल्कुल नाश हो जाता है किन्तु कोई संतुष्टि नहीं प्राप्त होती। इस प्रकार की क्रियायें उपभोग के अन्तर्गत नहीं है क्योंकि उपभोग का अर्थ वस्तुओं तथा सेवाओं के प्रयोग से मिलने वाली संतुष्टि से है।

कभी-कभी उपभोग का वर्गीकरण उत्पादी उपभोग (Productive Consumption) तथा अनुत्पादी उपभोग (Unproductive Consumption) में किया जाता है। जब मैं पत्र लिखने के लिए कागज़ का उपयोग करता हूं तो यह अनुत्पादी उपभोग का उदाहरण है किन्तु जब पुस्तक का प्रकाशक उसका प्रयोग करता है तो वह उत्पादी उपभोग है।

२. उपभोग का महत्त्व (Importance of Consumption)–अधिक समय तक अर्थशास्त्रियों का ध्यान विशेषकर धन की उत्पत्ति पर केन्द्रित था किन्तु अब उपभोग ने अपना उचित स्थान प्राप्त कर लिया है और उसका महत्त्व बढ़ गया है। इसका अब स्पष्ट रूप से अनुमान किया गया है कि उपभोग ही उत्पत्ति को एक प्राथमिक प्रोत्साहन प्रदान करता है। समस्त आर्थिक क्रियाओं का प्रधान आधार वस्तुओं के उपभोग की आकांक्षा है। यह कहावत है कि "सुस्त उपभोक्ता, सुस्त व्यवसाय"। उपभोक्ताओं की वस्तुओं तथा सेवाओं की आकांक्षायें उत्पादी क्रिया के क्षेत्र तथा प्रवाह को निर्धारित करती हैं।

एक सम्प्रदाय का जीवन निर्वाह स्तर उसके उपभोग के तरीके से स्पष्ट होता है। उपभोग का लाभ अथवा उसकी हानि उत्पत्ति की कुशलता को निश्चित करेगा। कुछ देशों में औद्योगिक श्रमिकों की कार्य-अकुशलता का सबसे बड़ा कारण योजना-रहित अथवा अनुचित उपभोग है। भारतीय श्रमिकों की तुलनात्मक कार्य-अकुशलता अत्यधिक मात्रा में अनुचित उपभोग के कारण है। उनका आहार असंतुलित है तथा रहने के स्थान शोचनीय हैं। वे मदिरा पान पर धन नष्ट करते हैं। जब कि सामाजिक संस्कारों पर उन का व्यय अत्यधिक होता है, शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर वह न्यून होता है। हमको बुद्धिमानी से उपभोग करने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कुशलतापूर्वक उत्पत्ति तथा समान वितरण की है।

३. मानवीय आवश्यकताएं (Human Wants)–उपभोग का अध्ययन मानवीय आवश्यकताओं से जुड़ा है। यह कहा जाता है कि मनुष्य इच्छाओं की एक गठरी है। "एक सामान्य मनुष्य के जीवन का इतिहास अपूर्णता के निरंतर भाव का अभिलेख है।" यह एक स्वर्णपूर्ण काल्पनिक प्रदेश की ओर दौड़ है तथा एक मृगतृष्णा है। कुछ मनुष्य इसको "दैवी असंतुष्टि" मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धिमान् परमेश्वर ने असंतुष्टि निर्दिष्ट कर दी है ताकि मानवीय आनन्द तथा उत्साह के स्रोत सूख न जायें। स्टीवेन्सन (Stevenson) का यह कथन है कि "लालसा सर्वदा ही आनन्द है।" "Aspiration", says Stevenson "is a joy for ever". निस्संदेह ही, मानवीय आवश्यकतायें आर्थिक जीवन की एक मूल वास्तविकता तथा समस्त आर्थिक उन्नति की एक मूल कारण हैं। आवश्यकतायें किस प्रकार उत्पन्न होती हैं? भोजन, जल इत्यादि से सम्बद्ध आवश्यकतायें इसलिये उत्पन्न होती हैं कि मनुष्य एक प्राणी है। यह हमारी प्रारम्भिक आवश्यकतायें है। शारीरिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त आत्मिक आवश्यकतायें भी होती हैं। मनुष्य केवल प्राणी ही नहीं है, उसको श्रेष्ठतर तथा उच्चतर वस्तुओं की भी लालसा रहती है। उसकी सौन्दर्य सम्बन्धी रुचि तथा परोपकारी प्रवृत्तियों की भी संतुष्टि अवश्य होनी चाहिये। इनकी आवश्यकता उसके नैतिक होने के नाते होती है और फिर सामाजिक प्राणी होने के नाते उसे कुछ रूढ़ आवश्यकताओं (उदाहरणार्थ

कपड़ा) की संतुष्टि करनी पड़ती है। आवश्यकताओं का सचेत विश्लेषण कुछ अधिक आवश्यक लक्षणों को प्रकट करता है।

(१) **आवश्यकतायें संख्या में असीमित हैं** (Wants are unlimited in number)—मानवीय आवश्यकतायें असंख्य हैं। हमारी कुछ आवश्यकतायें सचेत रूप से प्रतीत होती हैं। परन्तु उनकी अधिक संख्या हमारे अन्दर प्रायः अचेत रूप से पाई जाती है जिनका एक-एक करके अनुभव होता है। जब पहली अत्यन्त तीव्र आवश्यकताओं की तृप्ति हो जाती है तो उससे कम तीव्र आवश्यकतायें उनका स्थान ग्रहण कर लेती हैं। यह निरन्तर जारी रहता है और इसीलिये हम अपनी आवश्यकताओं की समाप्ति तक कदापि नहीं पहुंच सकते। जब हम किसी आवश्यकता की तृप्ति कर लेते हैं तो दूसरी प्रत्यक्ष हो जाती है और उसका स्थान ले लेती है।

(२) **किसी विशेष आवश्यकता की तृप्तता हो सकती है** (Satiability of a Particular Want)—यद्यपि सब आवश्यकताओं की पूर्णतया तृप्ति कदापि नहीं हो सकती तो भी प्रत्येक विशेष आवश्यकता की तृप्ति संभव है। फिर भी कुछ आवश्यकतायें ऐसी हैं जिनकी पूर्ण तृप्ति कदापि संभव नहीं है। आदर्श स्वास्थ्य, यश, आत्मिक मोक्ष इत्यादि की आकांक्षा केवल स्वप्न ही रह जाती है। मानवीय आवश्यकताओं का यह लक्षण सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का आधार है। क्योंकि प्रत्येक आवश्यकता तृप्य है, इसलिये जैसे-जैसे उपभोग प्रगतिशील होता जाता है, वैसे ही हमारी संतुष्टि क्रम से घटती जाती है।

(३) **आवश्यकतायें पूरक होती हैं** (Wants are Complementary)—इसका अर्थ यह है कि एक आवश्यकता की पूर्ण तृप्ति करने में हमें अनेक वस्तुओं की एक-साथ आवश्यकता होती है। घोड़ा और गाड़ी, चश्मे का शीशा और उसका फ्रेम, फाउन्टेन पैन तथा स्याही इत्यादि की साथ-साथ आवश्यकता होती है। वास्तव में केवल अकेले पदार्थ की मांग बहुत कम होती है। प्रत्येक वस्तु की आवश्यकता मांग की प्रणाली का एक भाग है। **हमें वस्तुओं की सामूहिक रूप में आवश्यकता होती है**। आवश्यकताओं के इस लक्षण का परस्पर सम्बद्ध मूल्यों के सिद्धांत पर एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यदि किसी वस्तु की मांग बढ़ती है तो इससे उसी वर्ग की अन्य वस्तुओं की मांग में भी अनुकूल वृद्धि होती है।

(४) **आवश्यकताओं में आपस में प्रतिस्पर्धा होती है** (Wants are Competitive)—वास्तव में यह आवश्यकतायें साधनों की न्यूनता से उत्पन्न होती हैं। हमारी आवश्यकतायें असीमित हैं परन्तु हमारे पास साधन सीमित हैं। हम अपनी समस्त आवश्यकताओं की तृप्ति नहीं कर सकते अतएव हमको निर्वाचन करना ही पड़ता है। हम काफी हाउस, सिनेमा देखने, खेल-कूद अथवा दंगल देखने, किताब खरीदने इत्यादि जाना चाहते हैं। हमारे धन, समय तथा शक्ति पर जो सब बहुत ही सीमित हैं विरोधी अभिलाषाओं का अधिकार होता है। अतएव हमारी आवश्यकताओं में प्रतिस्पर्धा निरन्तर

रहती है। इससे एक सिद्धान्त निकलता है जिसको प्रतिस्थापन नियम कहते हैं जिसका हम फिर विवेचन करेंगे।

(५) **कुछ आवश्यकतायें वैकल्पिक होती हैं** (Some Wants are Alternative)—कभी-कभी एक विशिष्ट आवश्यकता की तृप्ति के लिए हमारे सम्मुख भिन्न-भिन्न वैकल्पिक साधन होते हैं। जब हम कुछ पीना चाहते हैं तो हम चाय, काफी अथवा कोको पी सकते है अथवा यदि गर्मी की ऋतु है तो हम शरबत, लस्सी, सोडा, नींबू या कुचला पी सकते हैं। यह है बहुत-सी स्थानापन्न वस्तुएं।

यह विशेषता ऊपर लिखी हुई विशेषता से अर्थात् आवश्यकताओं में आपस में प्रतिस्पर्धा होती है, भिन्न की जा सकती है। हमको यह चुनना पड़ता है कि किस आवश्यकता की संतुष्टि की जाय। परन्तु जब एक बार हम एक आवश्यकता को चुन लेते हैं तो उस विशेष आवश्यकता की संतुष्टि के लिये हमारे सामने अनेकों वैकल्पिक प्रयोग होते है। अतएव आवश्यकताएं प्रतिस्पर्धी तथा वैकल्पिक दोनों हैं।

(६) **आवश्यकतायें दुबारा उत्पन्न हो जाती हैं** (Wants Recur)—बहुत-सी दशाओं में किसी आवश्यकता की एक बार संतुष्टि उसे सदैव के लिये समाप्त नहीं कर देती। यह निरन्तर दुबारा उत्पन्न होती हैं, जिसके कारण भविष्य में हमें उनकी फिर संतुष्टि करनी पड़ती है। बार-बार की संतुष्टि उसको स्वभाव में परिणत कर देती है, और इसी प्रकार जीवन-निर्वाह-स्तर की स्थापना होती है। इसका वेतन के निर्धारण पर एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

(७) **अचेत आवश्यकतायें** (The Unconscious Wants)—आवश्यकताएं सचेत अथवा अचेत हो सकती है। कुछ आवश्यकतायें शिथिल रहती हैं। वे तब ही उत्पन्न होती हैं जबकि सचेत आवश्यकतायें संतुष्ट हो जाती हैं। एक सचेत आवश्यकता कष्ट देती है और उसकी संतुष्टि उस कष्ट का निवारण करती है। उसमें कोई निश्चित लाभ नहीं होता है। परन्तु अचेत आवश्यकता की संतुष्टि में निश्चित लाभ होता है। हमको अकस्मात् एक घड़ी उपहार के रूप में मिल सकती है। हमने कभी उस घड़ी की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया था, पर इसपर भी उपहार का स्वागत करते हैं। इस भांति बिना कष्ट के लाभ होता है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम अपनी अचेत आवश्यकताओं को जाग्रत करें और उनकी संतुष्टि का प्रयत्न करें। सचेत तथा अनुभवशील आवश्यकताओं की संतुष्टि भी एक अति विषम कार्य है। हमें जीवन के भार को व्यर्थ बढ़ाना नहीं चाहिये।

हमने आवश्यकताओं का उसी रूप में जिसमें वे हैं, विश्लेषण किया है। उपभोक्ता के स्वभाव पर आलोचना करना हमारे क्षेत्र के बाहर है। चाहे वह अमितव्ययी है अथवा मितव्ययी इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। आवश्यकतायें जिनकी संतुष्टि का किसी व्यक्ति ने निश्चय किया है अच्छी या बुरी हो सकती हैं, परन्तु एक अर्थशास्त्री के नाते न

हम उनकी प्रशंसा कर सकते हैं और न निन्दा कर सकते हैं। हम एक नीतिज्ञ अथवा एक उपदेशक का कार्य नही कर सकते। तो भी हम यह कहने से नही सकुचायेंगे कि जीवन के उच्च स्वभाव तथा उचित उपभोग से आनन्द तथा समृद्धि मिल सकती है।

४. अनिवार्यताएं, सुविधाएं तथा विलासिताएं (Necessaries, Comforts and Luxuries)—आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए जो वस्तुएँ प्रयोग में लाई जाती है उनका वर्गीकरण अनिवार्यताओं, सुविधाओं तथा विलासिताओं में किया जा सकता है। इनपर थोड़ा-सा विचार कीजिये :–

(अ) **अनिवार्यताएं** (Necessaries)—अनिवार्यताओं से हमारा अभिप्राय उन वस्तुओ और सेवाओं से है जिनकी आवश्यकताओं की तृप्ति अवश्य होनी चाहिए।

अनिवार्यताओं का वर्गीकरण इस प्रकार है : (१) जीवनरक्षक अनिवार्यतायें (Necessaries for Life)—जिनका अभिप्राय उन वस्तुओं से है जो हमारी तथा जाति की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

(२) **कार्यकुशलता के लिये अनिवार्यताएं** (Necessaries for Efficiency)–वे है जो अनिवार्य न हो पर यदि प्राप्त हो जावें तो हमारी कार्यकुशलता में वृद्धि हो सकती है और हमको श्रेष्ठतर कार्यकर्त्ता बना सकती है। उदाहरणार्थ एक मेज़, एक कुर्सी तथा एक टेबुल लैम्प एक विद्यार्थी के लिये। उनके प्रयोग से लाभ लागत से अधिक है।

(३) **प्रतिष्ठा-रक्षक अनिवार्यताएं** (Conventional Necessaries)—इनका अभिप्राय उन वस्तुओं से है जिनको एक उपभोक्ता अपने को संतुष्ट समझने से पूर्व अवश्य खरीदेगा तथा जिनके खरीदने के लिए अपनी जीवन-रक्षक अनिवार्यताओं का बलिदान करने को भी तैयार हो जाएगा। वह एक मादक वस्तु तम्बाकू अथवा शराब के वशीभूत हो गया हो, उसको एक ऐसा व्यय करना हो जिसकी समाज उससे आशा करता है, उदाहरणार्थ, विवाह और अन्य सामाजिक संस्कारों पर व्यय; उसको एक प्रतिष्ठा-रक्षक वस्त्र पहनना पड़ता है। जैसाकि एक दफ्तर के बाबू, एक कालेज के विद्यार्थी और अध्यापक को ऐसे वस्त्र पहनने पड़ते हैं जिससे वे अपने को सामाजिक कुदृष्टि से बचा सके। यह सब प्रतिष्ठा-रक्षक अनिवार्यताएं है और एक उपभोक्ता की अधिमान माप (Scale of Preferences) के दृष्टिकोण से जीवन-रक्षक अनिवार्यताओं से भी बढ़कर हो सकती है।

(ब) **सुविधाएं** (Comforts)—वे वस्तुएं तथा सेवाएं हैं जिनका एक मनुष्य अपने आप को सुखी बनाने के लिए अनिवार्यताओं के अतिरिक्त उपभोग करता है, उदाहरणार्थ, गर्मी में बिजली का पंखा तथा जाड़ो मे हीटर, मोटी गद्देदार कुर्सियां अथवा पलंग, कई नौकरों का रखना इत्यादि। निस्सन्देह ये वस्तुएँ भी निजी कार्यक्षमता को तो बढ़ाती

हैं परन्तु व्यय के अनुपात में नहीं। एक निरन्तर सुखी जीवन मनुष्यों को "सुकुमार" बना देता है। यह शक्ति को घटाता है, उनको जीवन के कष्ट का सामना करने के लिए कम योग्य बनाता है तथा उनको रोगों का जल्द ही शिकार बनाता है। जीवन-निर्वाह की विधि में थोड़ा-सा भी परिवर्तन दुःखदायक होता है।

(स) **विलासिताएं** (Luxuries)—एक विशिष्ट साधनों के उपयोग अथवा जीवन स्तर के बाहर मनुष्य जो व्यय करता है उस पर विलासिताएं प्रकाश डालती हैं। यह व्यर्थ व्यय है। ऐली (Ely) के अनुसार विलासिताओं की परिभाषा अत्यधिक निजी उपभोग है। उनका कथन है कि "साधारण भाव में विलासिता का अर्थ कोई भी वह वस्तु है जो व्यर्थ की आवश्यकताओं की संतुष्टि करे।"

विलासिताओं का समर्थन (Defence of Luxuries)—हम विलासिता को अनुचित उपभोग से सम्बद्ध करते हैं परन्तु कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं जो विलासिताओं के प्रयोग का समर्थन भी करते है। यह कहा जाता है कि विलासितायें संकटकाल के लिए व्यवस्था करती हैं। उदाहरणार्थ, आपत्तिकाल में आभूषण तथा हीरे-जवाहरात ही उनके एकमात्र सहायक होते हैं।

इसके उपरान्त, विलासिताओं के उपभोग की इच्छा मानवीय प्रयास को उत्तेजित करती है। मनुष्य अधिक परिश्रम से तथा अच्छा कार्य करने लगते हैं। यह आर्थिक उन्नति को प्रोत्साहन देती है।

यह भी कहा जाता है कि विलासिताओं का प्रयोग मनुष्य की रुचि बढ़ाता है; यह मनुष्य को शिष्ट तथा सभ्य बना देता है। यह जीवन में परिवर्तन करके उसे आनन्ददायक तथा परिपूर्ण बना देता है। अतएव यह संकेत किया जाता है कि प्रत्येक मनुष्य चाहे वह एक मजदूर ही हो, कुछ-न-कुछ विलासिताएं अपने उपभोग की व्यवस्था में रक्खे। विलासिताओं का समर्थन इसलिए भी किया गया है कि वे मनुष्य के चरित्र पर शिक्षा-सम्बन्धी प्रभाव डालती है। वे इस कारण भी कभी-कभी उचित मानी जाती है कि प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि वह अपनी आय को जिस भांति चाहे व्यय करे। यह भी कहा जाता है कि धनी मनुष्यों द्वारा विलासिताओं पर व्यय मजदूर के हेतु व्यवसाय प्रदान करता है।

परन्तु यह सत्य तर्क नहीं है। मनुष्यों को अपनी आय का अपनी इच्छानुसार व्यय करने का अधिकार हो सकता है, परन्तु वह अपने को असामाजिक तथा चरित्रहीन व्यवहार के लिये सामाजिक घृणा से नहीं बचा सकता। काम प्रदान करने के सम्बन्ध में यह संकेत किया जा सकता है कि उसी व्यय से अधिक तथा उच्चतर कार्य प्राप्त किया जा सकता है और समाज को भी लाभ हो सकता है। एक विलासी महल बनाने की अपेक्षा यदि कोई एक कारखाना बनाये तो स्थायी व्यवसाय प्रदान होगा और उत्पादक वस्तुओं से समस्त समाज का लाभ होगा।

यह सब होते हुए भी विलासिताओं पर व्यय प्रशंसनीय नहीं है।

परन्तु 'विलासिताएं' 'अनिवार्यताएं' तथा 'सुविधाएं' सापेक्ष शब्द हैं। वे स्थान, समय अथवा मनुष्य से सापेक्ष हैं। किसी भी वस्तु को विलासिता अथवा अनिवार्यता कहने के लिये उसपर कोई पक्की छाप नहीं लगाई जा सकती। वही वस्तु किसी मनुष्य के लिये विलासिता हो सकती है और दूसरे के लिए अनिवार्यता। एक रईस के लिए जो निकट स्थान पर रहता हो और विशेषकर जब वह प्रत्यक्ष व्यवसाय न कर रहा हो तथा अपने धन पर जीवन व्यतीत कर रहा हो, एक मोटर विलासिता है। परन्तु एक लीन व्यवसायी मनुष्य या एक मन्त्री अथवा एक उच्च अधिकारी के लिए कार अनिवार्य है।

५. जीवन-निर्वाह-स्तर (Standard of Living)—अनिवार्यताएं, सुविधाएं तथा विलासिताएं जिनके प्रयोग का मनुष्य अभ्यस्त हो जाता है, हमारे जीवन-निर्वाह-स्तर को बनाती है। यह स्तर भिन्न-भिन्न प्रभावों का परिणाम है। कुछ मात्रा में हम अपने जीवन-निर्वाह-स्तर को अपने माता-पिता से ग्रहण करते है और तब हम उसे अपनी रुचि, शिक्षा, अनुभव, सामाजिक वातावरण तथा अनुकरण की प्रेरणा से बदल देते हैं। यह धीरे-धीरे बिना सोचे-समझे बनाया जाता है और धीरे-धीरे ही उसमें संशोधन किया जा सकता है। यही कारण है कि किसी की आय में कमी होने पर सुख का अभाव तथा कष्ट हो सकता है। युद्ध-काल के बढ़ते हुए निर्वाह-व्ययों से साधारण मनुष्य के जीवन-स्तर पर पूर्ण धक्का लगा। प्रत्येक मनुष्य ने इसका अनुभव किया। इन दशाओं में स्वयं को उनके योग्य बनाना सरल नहीं है।

एक देश में जीवन-निर्वाह-स्तर उत्पत्ति की विभिन्नता तथा राशि पर निर्भर है। यह विदेशी ऋण अथवा दान पर अधिक समय तक संभाला नही जा सकता। हमारी निजी उत्पत्ति ही हमारे जीवन-स्तर का आधार है। जैसाकि बेन्हुम ने कहा है:—"भोजन आकाश से नहीं गिरता है।"

निम्नलिखित स्थितियों में एक समुदाय का जीवन-निर्वाह-स्तर ऊंचा रक्खा जा सकता है तथा उसकी उन्नति हो सकती है—

(१) कोई भी आर्थिक संसाधन जो प्रयोग के लिए प्राप्त हो बेकार न रहे।

(२) जो आर्थिक संसाधन उपलब्ध हों उन्हें उन पदार्थों के उत्पादन में लगाना चाहिए जिनकी उपभोक्ता अधिक इच्छा करते हैं।

(३) समुदाय की आय व्यक्तियों में इस तरह विभाजित होनी चाहिये कि सीमित राष्ट्रीय आय से अधिकाधिक संतुष्टि प्राप्त हो।

(४) यदि काम और विश्राम में उचित संतुलन न रक्खा जाय और जब तक समस्त जनसंख्या तथा पूंजी का कुल संग्रह उचित मात्रा में पर्याप्त न हो जीवन-निर्वाह-स्तर अधिक-से-अधिक ऊंचा नहीं हो सकता।

कभी-कभी जीवन-निर्वाह-स्तर और जीवन-स्तर तथा जीवन-अनुमाप में अन्तर माना जाता है। जीवन-निर्वाह-स्तर से अभिप्राय उस खाने, कपड़े, रहने के स्थान इत्यादि

से है जिसका मनुष्य अभ्यस्त है। जीवन-स्तर से अभिप्राय जीवन में उसके आदर्शों से है। हो सकता है कि एक आध्यात्मिक भारतवासी का जीवन-निर्वाह-स्तर नीचा हो परन्तु उसका जीवन-स्तर ऊंचा हो। जीवन-निर्वाह-स्तर हमको उन वस्तुओं के सम्बन्ध में बताता है जिनको मनुष्य प्राप्त करना चाहेगा। परन्तु जीवन-अनुमाप का सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जो उसके पास है।

६. ऐंजिल का उपभोग नियम (Engel's Law of Consumption)– इस विवेचन को समाप्त करने के पूर्व हम एक नियम की ओर संकेत करेंगे जिसको ऐंजिल का उपभोग नियम कहते है। यह अनेक परिवारों के जीवन-निर्वाह-स्तर अथवा पारिवारिक आय-व्यय के अध्ययन पर आधारित है :—

अर्नेस्ट ऐंजिल प्रशा (Prussia) के सांख्यकीय कार्यालय का अध्यक्ष था। पारिवारिक आय-व्यय के यथाक्रम अध्ययन से उसने निम्नलिखित मुख्य परिणाम इस बारे में निकाले कि एक परिवार अपनी आय का किस प्रकार वितरण करता है।

(१) जैसे-जैसे आय बढ़ती है भोजन तथा जीवन की अन्य अनिवार्यताओं पर प्रतिशत व्यय घटता जाता है और इसके विपरीत भी सत्य है। (२) आय के बढ़ने पर विलासिताओं पर तथा अन्य सांस्कृतिक और मनोरंजक आवश्यकताओं पर प्रतिशत व्यय बढ़ता जाता है और आय घटने पर घटता है। यह नीची आय में प्रायः लुप्त हो जाता है। (३) निवास-स्थान का किराया, ईधन तथा प्रकाश पर प्रतिशत व्यय सब आयों पर लगभग बराबर रहता है। (४) कितनी भी आय हो कपड़ों पर प्रतिशत व्यय एक-सा रहता है।

यह सावधानी से जानना होगा कि प्रतिशत व्यय बढ़ता-घटता है न कि कुल व्यय। जबकि एक मनुष्य की आय १००) मासिक से ५००) मासिक हो जाय तो उसका भोजन व्यय बढ़ जाता है अर्थात् ५०) से १२५) हो जाता है परन्तु प्रतिशत व्यय ५०) से घटकर २५) हो जाता है।

हमारे देश में पारिवारिक व्यय के संबंध में गहरी खोज की गई है। डा० हेराल्ड मन (Dr. Herald Mann) ने दक्षिण में कुछ खोज की तथा पंजाब की आर्थिक-जांच समिति ने भी इस प्रकार की विस्तृत खोज की है। इन सब खोजों ने ऐंजिल के पिछली शताब्दी के बनाये हुए नियमों की सत्यता को निश्चित किया है, यद्यपि प्रतिशत में थोड़ा-सा अन्तर है।

अध्याय ४

उपभोग (विस्तृत)

क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility)

१. भूमिका (Introduction)—हमने पिछले अध्याय में 'उपयोगिता' शब्द के अर्थ का अध्ययन किया है। उपयोगिता का अर्थ किसी वस्तु की आवश्यकता-तृप्ति की शक्ति से है। हमने यह भी देखा है कि उपयोगिता निजात्मक है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न है। उपयोगिता का अभिप्राय न तो संतुष्टि से है और न "उपयोगिता" शब्द "हितकर" के समानार्थ है। इसका कोई नैतिक महत्त्व नहीं है। अब हम उपभोग में एक महत्त्वपूर्ण नियम जिस पर उपयोगिता आधारित है अर्थात् क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का अध्ययन करेंगे।

२. क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Marginal Utility)—यह नियम प्रत्येक उपभोक्ता के साधारण अनुभव से सम्बन्ध रखता है। माना कि एक मनुष्य एक-एक करके सेब खाना प्रारम्भ करता है। पहला उसको अधिक आनन्द देता है। दूसरा सेब खाने के पूर्व उसकी भूख कम हो जाती है और वह सेब, कम तीव्र आवश्यकता होने के कारण, कम सन्तुष्टि प्रदान करता है। तीसरे की सन्तुष्टि दूसरे से और चौथे की तीसरे से कम होगी और इसी प्रकार घटती जायगी। प्रत्येक क्रमिक सेब की सन्तुष्टि घटती जायगी यहां तक कि वही शून्य हो जायगी, और यदि उपभोक्ता को और सेब खाना पड़े तो सन्तुष्टि या तो ऋणात्मक हो सकती है या उपयोगिता अनुपयोगिता में परिवर्तित हो सकती है।

निम्नलिखित तालिका से यह विचार स्पष्ट हो जायगा :—

(१) इकाइयां (सेब)	(२) कुल उपयोगिता (सन्तुष्टि की इकाइयां)	(३) सीमान्त उपयोगिता (सन्तुष्टि की इकाइयां)
१	२०	२०
२	३८	१८
३	५३	१५
४	६४	११
५	७०	६
६	७०	०
७	६२	−८
८	४६	−१६

नोट:—यह संख्यायें उपयोगिता की मात्रा की व्याख्या करती हैं। यदि उपयोगिता की मात्रा में परिवर्तन ऊपर दी हुई तालिका की भाँति हो तो कोई दूसरे अंक लिये जा सकते हैं।

जब हमारा कल्पित उपभोक्ता सेब खाता जाता है, प्रत्येक क्रमिक सेब के उपभोग से प्राप्त अतिरिक्त सन्तुष्टि घटती जाती है; यहां तक कि छठी इकाई पर शून्य हो जाती है और तब ऋणात्मक हो जाती है (देखो पंक्ति ३)। कुल उपयोगिता पांचवीं इकाई के उपभोग तक बढ़ती जाती है परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि यह ह्रास गति से बढ़ती है। अतएव यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे एक वस्तु का उपभोग बढ़ता जाता है, आने वाली इकाइयों का पिछली इकाइयों की भांति स्वागत नहीं किया जाता। चैपमैन (Chapman) का कथन है कि हम किसी वस्तु का जितना अधिक उपभोग करते हैं उतनी ही उसकी इच्छा कम होती जाती है। मार्शल ने इस नियम को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

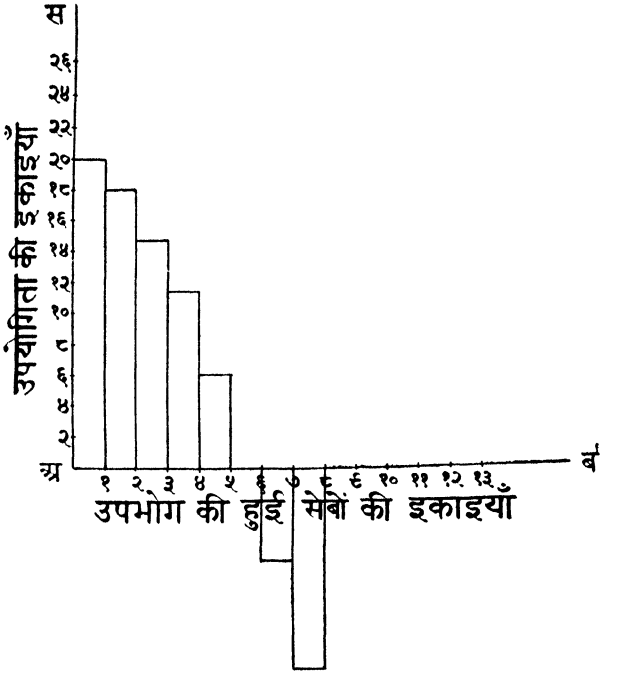
"किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु की दी हुई मात्रा में वृद्धि होने से उसके प्राप्त अधिकृत लाभ की मात्रा प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ घटती जाती है।" हम यह भी कह सकते हैं कि उसकी मात्रा की प्रत्येक घटौती पर सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जायगी। दूसरे शब्दों में उपयोगिता राशि के विपरीत बदलती है, यद्यपि उसी अनुपात में नहीं। सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के दो महत्त्वपूर्ण कारण हैं : (१) प्रत्येक विशिष्ट आवश्यकता संतुष्ट होने योग्य है और (२) वस्तुएं एक दूसरे के लिए पूर्ण रूप से स्थानापन्न नहीं हो सकतीं और वे उचित अनुपात में उपभोग की जाती हैं।

चित्र द्वारा निरूपण (Diagrammatic Representation)—अगले पृष्ठ पर दिया गया चित्र सेब के उपभोग पर लागू उपयोगिता ह्रास नियम की व्याख्या करता है। (पिछले पृष्ठ पर दी हुई तालिका देखिये)

अ ब तथा अ स दो अक्ष रेखायें हैं। सेब की इकाई अ ब पर और उपयोगिता की इकाई अ स पर मापी गई है। ब अक्ष रेखा के एक भाग पर खड़ा हुआ समकोण चतुर्भुज सेब की पहली इकाई की उपयोगिता बतलाता है (देखो चित्र १)। इसी भांति प्रत्येक उपभोग की हुई क्रमिक इकाई की उपयोगिता समकोण चतुर्भुजों द्वारा प्रस्तुत की गई है जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। जैसे-जैसे सेबों का उपभोग होता जाता है यह समकोण चतुर्भुज छोटे होते जाते हैं। छठे सेब की उपयोगिता कुछ नहीं है, सातवें तथा आठवें की ऋणात्मक उपयोगिताएँ हैं जैसा कि ब अक्ष रेखा के नीचे दिये हुए समकोण चतुर्भुजों द्वारा दिखाया गया है।

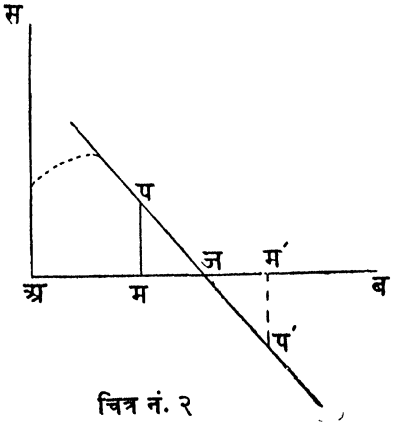
सेबों की बड़ी इकाइयां हैं। यदि कोई वस्तु अधिक छोटी इकाइयों में उपभोग की जाय तो समकोण चतुर्भुज पतले होते जायेंगे। हम सैद्धान्तिक रूप में कल्पना कर सकते हैं कि वे इतने पतले हो जाते हैं कि एक रेखा से ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अब यदि

ऐसे पास-पास रेखाओं के सिरे आपस में मिला दिये जायें तो एक ऐसी वक्र रेखा बन जाती है जोकि बायें से दाहिनी ओर नीची होती जाती है जैसा कि चित्र २ में दिखाया गया है।



चित्र नं. १

यदि वक्र रेखा पर किसी बिन्दु प से प म, अ ब के लम्ब रूप में, खींची जाय, तो प म, अ म, उपभोग की हुई मात्रा की सीमान्त उपयोगिता होगी। यदि उपभोग अ म' तक ले जाया जाय तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक अर्थात् प' म' हो जायगी। जब उपभोग अ ज है सीमान्त उपयोगिता शून्य होगी।



चित्र नं. २

हमने यह कल्पना की है कि यह नियम उपभोग की प्रथम इकाई के बाद लागू हो जाता है जैसा कि हमारे सेब के दृष्टान्त में है। परन्तु यह सम्भव है कि किसी सीमा तक सीमान्त उपयोगिता

बढ़ सकती है। यह उस वक्र रेखा द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है जो कि पहले दाहिनी ओर से बढ़ती है और फिर गिर जाती है। यह बिन्दु-रेखा से बतलाया गया है।

३. क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम की सीमाएं (Limitations of the Law of Diminishing Utility)—क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, कुछ कल्पनाओं पर आधारित है।

(१) यह मान लिया गया है कि वस्तु का उपभोग उचित इकाइयों में किया गया है। यदि आप प्यासे होने पर चम्मच भर-भर कर जल पीने लगें अथवा यदि आप पूरी चपाती के बजाय ग्रासों की उपयोगिता जांचने लगें तो आपकी प्यास अथवा भूख पहले शान्त होने की बजाय तीव्र होगी और उपयोगिता घटने की बजाय बढ़ेगी। परन्तु कभी-न-कभी एक ऐसी सीमा आयेगी जब कि उपयोगिता घटने लगेगी। अतएव जब तक इकाई उचित परिमाण में नहीं है, तब तक नियम लागू न होगा।

(२) फिर, यह कल्पना की गई है कि वस्तु का उपभोग किसी सीमित समय में किया गया है, अन्यथा नियम लागू न होगा। यदि आप अपना पहला भोजन सुबह १० बजे और दूसरा २ बजे दोपहर करें तो कोई कारण नहीं कि दूसरे भोजन की उपयोगिता कम हो। परन्तु यदि पहले भोजन करने के एक घन्टे के अन्दर आपको दूसरा भोजन मिले तो नियम लागू होगा और दूसरे भोजन की उपयोगिता कम होगी।

(३) तीसरी कल्पना यह है कि उपभोक्ता के स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं होता है। उपभोक्ता में लालसा न उत्पन्न हो गई हो। जितना अधिक गाना मनुष्य सुनता है, जितना अधिक वह साहित्य का अध्ययन करता है, जितनी ज्यादा मदिरा शराबी पीता है और जितना अधिक द्रव्य एक कंजूस रखता है, हर दशा में वस्तु की वृद्धि से उपयोगिता की वृद्धि होती है। ऐसा इसलिए है कि उपभोक्ता के स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। अधिक अध्ययन मनुष्य को ऊंचे स्थान पर पहुंचा देता है और वह साहित्य को पहले से अच्छी तरह समझ सकता है तथा उससे आनन्द ले सकता है। इसीलिए कहा गया है कि यह नियम अभौतिक सन्तुष्टि पर लागू नहीं होता। यह साधारण मनुष्यों पर लागू होता है न कि कंजूस जैसे असाधारण मनुष्यों पर।

(४) यह भी आवश्यक है कि उपभोक्ता की आय एक-सी रहे। आय में परिवर्तन होने से नियम असत्य हो जायगा। किसी मनुष्य की आय की वृद्धि से उसके बड़े हाते के उन भिन्न-भिन्न भूमिखण्डों का मूल्य उसकी दृष्टि में बढ़ जायगा जिनका कि वह पहले अधिक उपभोग न कर सकता था।

(५) वस्तुओं के दुर्लभ संग्रह के प्रति नियम लागू नहीं होता। यदि कोई मनुष्य पुराने सिक्के एकत्रित कर रहा है, तो जितने अधिक वह इकट्ठे करेगा, उतनी ही अधिक सन्तुष्टि उसको अपने बढ़े हुए संग्रह से मिलेगी।

(६) एक और भी अपवाद है कि नियम के अनुसार राशि की वृद्धि होने से

उपयोगिता घटती है। परन्तु कभी-कभी उपयोगिता में परिवर्तन हमारी राशि में परिवर्तन होने के कारण नहीं वरन् दूसरों की राशि में परिवर्तन होने से होता है। उदाहरणार्थ, यदि पुराने सिक्के संग्रह करने वाला शहर में कोई दूसरा व्यक्ति भी है और किसी कारण वह अपने संग्रह को खो देता है तो मेरे संग्रह किये हुए सिक्कों की उपयोगिता अपने आप बढ़ जाती है। इसी प्रकार हमारे टेलीफोन की उपयोगिता शहर में टेलीफोन की संख्या बढ़ने से बढ़ जाती है। निकट ही रेलवे स्टेशन बन जाने से मेरी भूमि का मूल्य बिना इसके क्षेत्र में परिवर्तन हुए ही बढ़ जाता है।

(७) उपयोगिता हमारी दूसरी वस्तुओं पर भी निर्भर है। चाहे गाड़ी हमारे पास बेकार पड़ी हो परन्तु एक घोड़ा खरीद लेने पर उनकी उपयोगिता तुरन्त बढ़ जाती है।

(८) उपयोगिता फैशन में परिवर्तन होने पर भी निर्भर है। जैसे ही मेरी पोशाक का फैशन हो जाता है उस पोशाक की उपयोगिता बढ़ जाती है। दूसरी ओर यदि उसका फैशन चला जाता है तो उसकी उपयोगिता कम हो जाती है, यद्यपि मेरी राशि में कोई वृद्धि नहीं हुई।

क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम दूसरे आर्थिक नियमों की भांति केवल एक प्रवृत्ति का विवरण है। यह अनेक स्थितियों पर निर्भर है। इन स्थितियों के न होने पर यह नियम लागू नहीं होता जैसा कि ऊपर लिखे हुए अपवादों में बताया गया है।

४. सीमान्त प्रतिस्थापनीय ह्रास नियम (The Law of Diminishing Marginal Substitutability):—हमने देखा है कि क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के विरुद्ध बहुत से आक्षेप लगाये गये हैं। इस कथन के अतिरिक्त कि उपयोगिता निजात्मक होने के कारण अनुमान योग्य होती है। एक उपभोक्ता एक वस्तु खरीदते हुए जो संतुष्टि की आशा करता है वह पाई हुई अथवा वास्तविक संतुष्टि से भिन्न हो सकती है। और एक विशिष्ट इकाई पर जिसको सीमान्त इकाई भी कहते हैं, खरीदना बन्द कर देना, एक विचार-शक्ति तथा सुन्दर गणना को सूचित करता है जो एक औसत उपभोक्ता में नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उपयोगिता के मापने के हर एक प्रयत्न में यह मान लिया जाता है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है परन्तु यथार्थ में हर एक नई खरीद के साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ जाती है क्योंकि मुद्रा का संग्रह घट जाता है। क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम में एक मुख्य दोष यह है कि ध्यान एक वस्तु पर दूसरों से पृथक् करके केन्द्रित किया जाता है। वास्तव में उपभोक्ता मुद्रा को व्यय करते समय केवल एक पृथक् वस्तु को ही नही परन्तु बहुत-सी वस्तुओं को जिनको कि वह उससे खरीद सकता है, सोचता है। अतएव यह अधिक उचित होगा कि उपभोक्ता की मांग उसके अधिमान मापों में प्रस्तुत की जाय। यह

मान लिया गया है कि हम एक वस्तु को अधिक मात्रा में तभी खरीद सकते हैं जब कि हम दूसरी का बलिदान करें। एक उपभोक्ता बहुत-सी वस्तुओं की थोड़ी सी वृद्धि की सापेक्ष उपयोगिता का विचार करता है और एक को दूसरे के हेतु स्थानापन्न करता है। यही कारण है कि यह संकेत किया गया है कि क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम के बजाय सीमान्त प्रतिस्थापनीय ह्रास नियम का उल्लेख करना ही अच्छा होगा। एक वस्तु की सीमान्त प्रतिस्थापनीयता को किसी दूसरी ऐसी वस्तु की इकाइयों की मात्रा से प्रस्तुत किया जाता है जो पहली वस्तु की कुछ इकाइयों से प्रतिस्थापन की जा सकती हो और जो उपभोक्ता को न उससे बुरी और न अच्छी दशा में छोड़ती है।

यदि एक उपभोक्ता एक विशिष्ट वस्तु की एक इकाई का बलिदान केवल दूसरी वस्तु की अधिक मात्रा के प्रस्ताव से ही कर देने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है तो यह अधिक सीमान्त प्रतिस्थापनीयता प्रकट करती है। तो भी आमतौर पर एक उपभोक्ता अपने पास की वस्तु की एक अधिक इकाई का बलिदान करने के लिये दूसरी वस्तु की कम इकाइयों से ही संतुष्ट हो जावेगा अतएव सीमान्त प्रतिस्थापनीयता घट जावेगी। इस प्रकार क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम का दूसरा नाम सीमान्त प्रतिस्थापनीय नियम भी कहा जा सकता है और यह एक सुधार होगा क्योंकि यह मार्शल के मुद्रा के स्थिर सीमान्त उपयोगिता की कल्पना तथा जेवन्स के उपयोगिता के मात्रिक विचार से परे हो जाता है।

५. नियम के कुछ आशय (Some Implications of the Law)—क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम इसलिए लागू नहीं होता क्योंकि एक वस्तु की क्रमिक इकाइयां हीन समझी जाती हैं। यद्यपि यह ठीक है कि यदि एक इकाई हीन लक्षण की हो तो वास्तव में उसकी उपयोगिता कम होगी; तो भी नियम कहीं अधिक मौलिक प्रकृति का है। **यह गुण से पृथक् है।** सेब एक से ही हो सकते हैं तो भी जैसे उपभोग अधिक होगा, वैसे ही उनकी अधिकृत उपयोगिता घटती जायगी।

यह नियम निर्वाचन से भी पृथक् है। प्रत्येक क्रमिक सेब की अधिकृत उपयोगिता इसलिए नहीं गिरती क्योंकि हमारी इच्छा उसके स्वाद पर केन्द्रित होती है। नियम तो पूर्णतया लागू होगा ही, चाहे सेब के अतिरिक्त और कोई वस्तु हमारे सामने हो ही नहीं। हम शीघ्र अथवा विलम्ब से एक वस्तु से तृप्त हो ही जायेंगे चाहे हमारे सम्मुख कोई दूसरा निर्वाचन हो अथवा नहीं।

इस नियम से सिद्ध होता है कि अधिक आवश्यक इच्छाओं की सन्तुष्टि पहले की जाती है। जैसे-जैसे राशि बढ़ती जाती है, वह कम आवश्यक प्रयोगों में लगाई जाती है और उनके घटने से क्रम उलटा हो जाता है।

यह नियम हर प्रकार की सन्तुष्टि में चाहे वह अच्छी हो अथवा बुरी लागू होगा। **हम यह कल्पना नहीं करते कि उपभोक्ता सदैव विचारयुक्त होता है।** हम यह कल्पना भी

नहीं कर लेते हैं कि प्रत्येक उपभोक्ता अपनी आवश्यकताएं एक दृढ़ स्थिर क्रम में रखता है, यद्यपि वह विधि एक श्रेणी के मनुष्यों में लगभग एक-सी ही होगी।

६. सीमान्त उपयोगिता अथवा महत्त्व (Marginal Utility or Significance)—एक मनुष्य के क्रय का अन्त अथवा सीमा कहां है? जब एक मनुष्य कोई वस्तु खरीदता है वह सचेत अथवा अचेत रूप से यह सोच लेता है कि उसको कितनी कीमत देनी है और उसको प्रत्येक इकाई से कितनी उपयोगिता मिलती है। वह खरीदता ही चला जायगा जब तक कि उपयोगिता और कीमत समान न हो जायं। भाग २ में दी हुई तालिका को देखिए।

हमारा उपभोक्ता कहां रुक जायगा? यह कीमत पर निर्भर है। यदि कीमत ६ पैसे प्रति सेब है तो वह ५ सेब खरीदेगा, क्योंकि वहां पर उपयोगिता कीमत के बराबर होगी (सीमान्त उपयोगिता पैसों की इकाइयों में प्रस्तुत की गई है)। यदि कीमत ११ पैसे प्रति सेब है तो वह केवल ४ सेब खरीदेगा। और यदि वे मुफ्त में मिलते हैं तो वह उपभोग करता जाएगा यहां तक कि उसकी अधिकृत उपयोगिता शून्य हो जायेगी (अर्थात् छठी तक)। वह इससे आगे न जायेगा क्योंकि परिणाम अनुपयोगिता होगा। **वह वहां रुक जाता है जहां कीमत और उपयोगिता प्रायः बराबर होते हैं**। यह सीमान्त क्रय और इसकी अधिकृत उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता कहलाती है। यह वह स्थिति है **जहां हम खरीदना उचित ही समझते हैं** क्योंकि यहां द्रव्य के त्याग से पीड़ा और वस्तु के खरीदने से लाभ में उचित संतुलन है। **सीमान्त उपयोगिता की परिभाषा इस प्रकार भी की गई है कि यह समस्त उपयोगिता की वह अधिकृत उपयोगिता है जो उचित समझी जाने वाली अन्तिम इकाई के उपभोग से मिलती है**। इस प्रकार यदि हम ५ सेब खरीदते हैं तो पांचवां सेब सीमान्त सेब है। परन्तु सीमान्त उपयोगिता पांचवें सेब की उपयोगिता नहीं है क्योंकि सब सेब समान है। इसका सम्बन्ध केवल उस अंश से है जो पूर्व योग में इस विशिष्ट इकाई के उपभोग से जुड़ता है। सीमान्त उपयोगिता समस्त उपयोगिता की वह वृद्धि है जो सीमान्त इकाई के उपभोग से मिलती है।

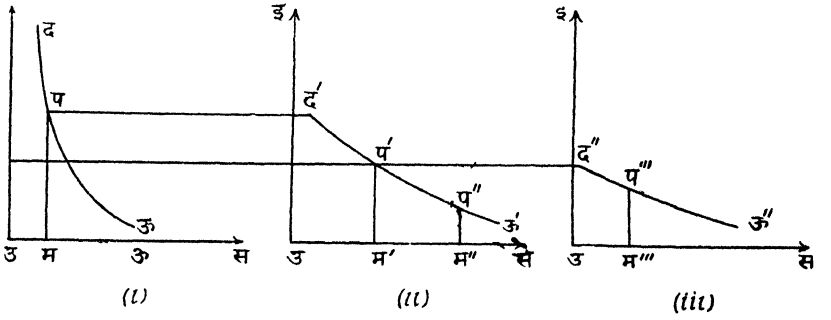
सीमान्त इकाई वह इकाई है जिस के लिये उपभोक्ता गम्भीरता से सोचता है कि ले या न ले। यह वह इकाई है जिसको उपभोक्ता शीघ्र ही छोड़ने के लिये तैयार हो जायगा यदि वह स्थिति के अनुसार ऐसा करने के लिये मजबूर है। यह इकाई सब से कम उपयोगिता के कारण ही उपयोग में लाई जाती है। समान गुण वाली इकाइयों के संग्रह में कोई भी इकाई सीमान्त इकाई हो सकती है। यदि हम इसके प्रयोग से वंचित रहने के लिये मजबूर हो जाते हैं तो हम उसका प्रयोग वहां नहीं करेंगे जहां कि वह सब से कम संतुष्टि देती है। वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसकी एक इकाई की सबसे कम महत्त्व रखने वाले प्रयोग में होने वाली उपयोगिता होगी।

इस उदाहरण में समस्त सेब एक ही प्रकार के लिये गये हैं। परन्तु यदि वे नहीं हैं,

तो मूल्य का ध्यान रखते हुए वह अन्तिम सेब जिसके खरीदने के लिए भी हम प्रोत्साहित हो जाते हैं, **सीमान्त गुण** का सेब कहलाता है। जब एक वस्तु कई प्रकार से प्रयोग में लाई जा सकती है, तो वह प्रयोग जिसके लिए वह कीमत का ध्यान रखते हुए उचित समझी जाती है, सीमान्त प्रयोग या सीमान्त आवश्यकता कहलाती है। इस स्थिति में यह सब से कम महत्त्व रखने वाला प्रयोग है। यदि कीमत ऊंची हो जाती तो वह वस्तु इस प्रयोग में न लाई जाती। भिन्न-भिन्न उपभोक्ताओं के भिन्न-भिन्न आय के साधन हैं और वह जो दुविधा की सीमा पर है कि इसे खरीदें या नहीं, तथा जो इसे प्रचलित कीमत पर खरीदने के लिए प्रोत्साहित ही होता है, वह सीमान्त उपभोक्ता या सीमान्त खरीदार कहलाता है। यदि कीमत कुछ अधिक होती, तो उसने न खरीदा होता।

यह सीमा कोई दृढ़ अथवा स्थिर नहीं है। यह कीमत के अनुसार आगे पीछे बदलती रहती है। यदि कीमत गिर जायगी तो सीमा नीचे हो जायगी और यदि कीमतें बढ़ जायेंगी तो सीमा ऊपर चली जायेगी।

७. जब एक वस्तु कई प्रयोगों में लाई जा सकती है (When a Commodity has Several Uses)—कुछ वस्तुएं असामान्य होती हैं। एक वस्तु सामान्यतः कई प्रयोगों में लाई जा सकती है। सर्वप्रथम यह सबसे आवश्यक प्रयोग में लाई जाती है। और जब प्रथम प्रयोग में सीमान्त उपयोगिता दूसरे प्रयोग में प्राथमिक उपयोगिता के समान आ जाती है तो यह दोनों प्रयोगों में लाई जाने लगेगी। जब दूसरे प्रयोग में सीमान्त उपयोगिता तीसरे प्रयोग में प्राथमिक उपयोगिता के समान आ जाती है तब वस्तु तीनों प्रयोगों में लाई जाती है तथा इसका प्रतिक्रम भी। इस घटना का निरूपण नीचे दिये हुए चित्र द्वारा हो सकता है।

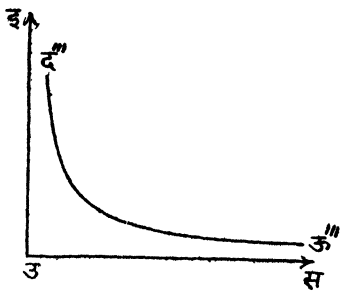


(i) (ii) (iii)

चित्र नं. ३ **चित्र नं. ४** **चित्र नं. ५**

उ, म इकाइयों तक वस्तु केवल पहले प्रयोग में लाई जायगी क्योंकि तब तक पहले प्रयोग में समस्त इकाइयों की उपयोगिता दूसरे प्रयोग में प्राथमिक उपयोगिता द′ उ से अधिक है। यदि हमारे पास उ, म से अधिक वस्तु है तो यह दोनों प्रयोगों में लाई जायगी

परन्तु केवल उ, म+उ, म′ तक। उसके बाद दूसरे प्रयोग में सीमान्त उपयोगिता, तीसरे प्रयोग में प्राथमिक उपयोगिता के बराबर है और वस्तु तीनों प्रयोगों में लाई जायगी क्योंकि तीसरे प्रयोग में कुछ इकाइयां उदाहरणार्थ चित्र ३ में उ, म″′ दूसरे प्रयोग में प″ म″ (चित्र २) से अधिक उपयोगिता (प″′म″′) रखती हैं। चित्र ४ एक मिश्रित वक्र है जो कि तीनों प्रयोगों में वस्तु की उपयोगिता दिखाता है।



(IV)

चित्र नं. ६

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि एक वस्तु कई प्रयोगों में लाई जा सकती है तो उसकी सीमान्त उपयोगिता उसके एक प्रयोग में लाई जाने वाली सीमान्त उपयोगिता से शीघ्र नहीं घटती। जब वह कई प्रयोगों में लाई जा सकती है तो उसकी सीमान्त उपयोगिता का गिराव रुक जायगा।

८. द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility of Money)—क्या क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम द्रव्य में लागू होता है? यह कहा जाता है कि वस्तु के क्रय की सीमा हो सकती है परन्तु द्रव्य के संचय की कोई सीमा सोची ही नहीं जा सकती। द्रव्य एक सामान्य क्रय-शक्ति है। यह खरीदार को अपनी इच्छा की वस्तु खरीदने का सामर्थ्य प्रदान करती है। अतएव यह कहा जाता है कि कोई ऐसी स्थिति नही आती जब कि द्रव्य के लिए इच्छा समाप्त हो जाय।

हम इस विवाद के महत्त्व को स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम द्रव्य में भी अवश्य लागू होता है। जैसे-जैसे द्रव्य बढ़ता है, उसका महत्त्व उसके स्वामी के लिए घटता जाता है। प्रत्येक द्रव्य की इकाई का महत्त्व एक धनी मनुष्य के लिए एक निर्धन की अपेक्षा कम है। वह उसको अधिक स्वतंत्र रूप से व्यय करता है तथा यदि वह इसका कोई एक भाग खो देता है तो वह उसकी बहुत कम चिन्ता करता है। एक मनुष्य के द्रव्य की मात्रा में हर एक वृद्धि से उसको कम-से-कम अधिकृत आनन्द प्राप्त होता है। अतएव क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम द्रव्य में भी लाग होता है।

९. सीमान्त उपयोगिता और कीमत (Marginal Utility and Price)—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि सीमान्त उपयोगिता और कीमत समान होते है अथवा कीमत से सीमांत उपयोगिता मापी जाती है। उपभोक्ता उपभोग करना तब बन्द कर देता है जब कीमत और उपयोगिता समान हो जाते हैं। और यह स्तर सीमान्त उपयोगिता का स्तर है। वस्तु की समस्त इकाइयां परस्पर बदलने योग्य होने से, जो कुछ

सीमान्त इकाई के लिए भुगतान किया जाता है वही हर एक इकाई के लिए दिया जाता है। अतएव हम कह सकते हैं कि सीमान्त उपयोगिता कीमत निर्धारित करती है। यह सीमान्त उपयोगिता है, समस्त उपयोगिता नहीं, जो कीमत निर्धारित करती है, अन्यथा जल की कीमत अधिक होती और सोने की कम। वास्तव में सीमान्त उपयोगिता कीमत निर्धारित नहीं करती, यह केवल उसको प्रकट करती है। निर्धारण करने वाले साधन मांग और पूर्ति हैं। यदि कीमत में परिवर्तन होता है तो सीमान्त उपयोगिता भी बदल जाती है। इस प्रकार कीमत तथा सीमान्त उपयोगिता साथ-साथ चलते हैं।

१०. सामाजिक सीमान्त उपयोगिता (Social Marginal Utility)—परन्तु किसकी सीमान्त उपयोगिता कीमत निर्धारित करती है? सीमान्त उपयोगिता निजात्मक है और व्यक्ति-व्यक्ति से भिन्न है, जब कि बाजार में एक ही कीमत प्रचलित रहती है। सीमान्त उपयोगिता जिससे बाज़ार में कीमत निर्धारित होती है, किसी व्यक्ति विशेष की उपयोगिता नहीं है वरन् समुदाय में **समस्त व्यक्तियों का एक प्रकार का माध्यम है**, और सामाजिक सीमान्त उपयोगिता कहा जा सकता है। यह समस्त समाज की सीमान्त उपयोगिता है। अतएव खरीदारों की भिन्न-भिन्न आय तथा स्थितियां होने के कारण बाजार कीमत उन सबकी सीमान्त उपयोगिताओं को नहीं बताती। प्रत्येक उपभोक्ता की अलग-अलग स्थितियों का प्रभाव भिन्न-भिन्न कीमतों के भुगतान करने पर नहीं वरन् भिन्न-भिन्न मात्राओं में खरीदे जाने पर पड़ता है। इसी प्रकार सबकी सीमान्त उपयोगिताएं समान समझी जाती हैं।

११. सीमान्त उपयोगिता तथा पूर्ति (Marginal Utility and Supply)—सीमान्त उपयोगिता पूर्ति पर निर्भर है अर्थात् यह पूर्ति के साथ बदलती है। एक निर्मूल्य वस्तु जिसकी पूर्ति असीमित है, उसकी सीमान्त उपयोगिता शून्य है। केवल न्यून पदार्थ की ही सीमान्त उपयोगिता वास्तविक होती है। यह पूर्ति के घटने पर बढ़ती है और उसके बढ़ने पर घटती है। जब पूर्ति अत्यधिक हो जाती है तो यह शून्य हो जाती है। अतएव सीमान्त उपयोगिता पूर्ति के विपरीत बदलती है।

१२. सापेक्ष सीमान्त उपयोगिता (Relative Marginal Utility)—एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अन्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता से पृथक् नहीं है। जब हम यह निर्णय कर रहे हों कि कौनसी वस्तु अधिक मात्रा में खरीदें और कौनसी वस्तु कम मात्रा में तो हम अन्य दूसरी वस्तुओं की जो कि हम खरीद सकते हैं सचेत अथवा अचेत रूप से तुलना करते हैं। इसी प्रकार एक निर्माता सदैव एक अतिरिक्त श्रमिक की सीमान्त उपयोगिता को एक यन्त्र की सीमान्त उपयोगिता से तुलना करता है। ऐसी तुलनाएं निरन्तर हमारे मस्तिष्क में हुआ करती हैं और इसी प्रकार एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अन्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता से सदैव

सम्बद्ध है। अतएव सीमान्त उपयोगिता निरपेक्ष रूप में विचार नहीं की जा सकती।

यद्यपि सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम केवल एक ही वस्तु के होने पर तथा निर्वाचन न होने पर भी लागू होता है, तो भी हमको व्यवहार में कुछ-न-कुछ निर्वाचन करना ही पड़ता है। बहुत-सी अन्य वस्तुएँ हैं, जिन्हें हम खरीद सकते हैं। हम आम खरीदना रोक देते हैं क्योंकि हम कुछ बेर भी खरीदना चाहते हैं और हम बेर खरीदना भी बन्द कर देते हैं ताकि हम कुछ संतरे भी ले सकें। इस प्रकार इन तीनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएं एक-दूसरे पर आश्रित हो जाती हैं। संक्षेप में सीमांत उपयोगिता सापेक्ष है।

१३. क्रमागत सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance of the Law of Diminishing Marginal Utility)—(१) क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम का व्यावहारिक महत्त्व बहुत है। हमने देखा है कि सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम द्रव्य पर भी लागू होता है। यह कर प्रणाली के सिद्धान्त तथा प्रयोग का आधार है। इस नियम का प्रगामी कर पद्धति में जो धनी पुरुषों पर अधिक भार डालती है, राजस्व के क्षेत्र में व्यावहारिक प्रयोग है।

(२) नियम यह स्पष्ट करता है कि पूर्ति में वृद्धि होने से वस्तु का मूल्य अवश्य ही क्यों गिर जाना चाहिये। इस प्रकार यह मूल्य सिद्धान्त का आधार बनता है। इस भांति सामान्य उपभोक्ता तथा व्यवसायी के हेतु उसका व्यावहारिक महत्त्व अत्यधिक है।

(३) नियम यह व्याख्या करता है कि मांग वक्र नीचे की ओर क्यों गिरती है। इस नियम के कारण ही छोटी उपयोगिता की रेखायें वस्तु की रेखा अर्थात् कक्ष रेखा को कई भागों में काटती है (भाग २ में उपयोगिता वक्र देखिये)।

(४) यह प्रयोग मूल्य और विनिमय मूल्य की भिन्नता की भी व्याख्या करता है। वायु की अधिक उपयोगिता (प्रयोग मूल्य) है परन्तु विनिमय मूल्य कम है, क्योंकि इसकी कोई सीमान्त उपयोगिता नहीं है।

(५) समाजवादी इस नियम का ही आश्रय लेते हैं जब वे गरीबों के पक्ष में धन के पुनर्वितरण का समर्थन करते हैं। धनी पुरुषों को उनके खोये हुए धन की सीमान्त उपयोगिता इतनी अधिक नहीं है जितनी कि उस धन की सीमान्त उपयोगिता गरीबों को है।

१४. सीमान्त विश्लेषण का महत्त्व (Importacne of the Marginal Analysis)— सीमान्त विश्लेषण का प्रयोग मूल्य तथा वितरण के सिद्धान्तों के स्पष्ट करने में किया गया है। वास्तविक जीवन में हमारा ध्यान सदैव सीमा पर केन्द्रित रहता है। यह कहावत है कि 'पेन्सों की रक्षा करो और पौंड अपनी रक्षा स्वयं कर लेंगे।' सीमान्त ग्राहक ही कीमत पर प्रभाव डालता है। हम समस्त उपयोगिता का बहुत कम ध्यान रखते हैं। हम सदैव किसी वस्तु की कुछ अधिक अथवा कुछ कम मात्रा में खरीदने से प्राप्त किए हुए वस्तु लाभ की तुलना किया करते हैं। हम यह सोचते हैं कि इसके बजाय किसी दूसरी वस्तु

की कुछ अधिक या कुछ कम मात्रा खरीदें। सीमा के द्वारा ही प्रतिस्थापन नियम कार्य करता है और हम अपना व्यय इस प्रकार ठीक कर लेते हैं कि हमको उससे अधिकतम संतुष्टि मिले। यह सीमा हमको हमारी बहुविध आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए न्यून साधनों के प्रयोग में सहायक होती है। यह हमको निर्वाचन करने तथा इस प्रकार हमारे सीमित संसाधनों के सर्वोत्तम प्रयोग के योग्य बनाती है।

सीमा एक स्थिर बिन्दु नही है। यह कीमत परिवर्तन होने से ऊपर-नीचे स्थान बदलती है। उदाहरणार्थ, यदि वस्तु की कीमत गिर जाती है तो इसका अधिक उपभोग होगा तथा सीमा आगे बढ़ जायगी ।

१५. सीमांत विश्लेषण की समालोचना (Criticism of Marginal Analysis)— सीमान्त विश्लेषण कुछ कल्पनाओं पर आधारित है जो सदा ठीक नहीं होतीं।

(१) यह कल्पना की गई है कि मांग तथा पूर्ति कीमत में बहुत कम परिवर्तन होने से घटती-बढ़ती रही है।

(२) एक वस्तु की इकाइयां एक ही प्रकार की मान ली जाती है जब कि वास्तविक व्यवहार में वे भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।

(३) हम मान लेते है कि मनुष्य अपने व्यवहार में विचार से काम लेता है हालांकि मनुष्य के सारे कार्य रीति, स्वभाव, भाव अथवा पक्षपात से निश्चित होते हैं। तो भी मनुष्य साधारणतया विचार से काम लेता है।

(४) सीमान्त विश्लेषण मांग तथा पूर्ति के वक्र में निरन्तर होने की परिस्थिति मान लेता है। परन्तु यथार्थ में हम वस्तुओं को लगातार तथा सूक्ष्म मात्रा में उपभोग नहीं करते। टिकाउ वस्तुएं जैसे साइकिलें, रेडियो इत्यादि एक अकेली इकाई में खरीदी जाती हैं। ऐसी स्थिति में सीमा का विवेचन असत्य दिखाई देने लगता है। परन्तु कठिनाई ऐसी नहीं है जो दूर न की जा सकती हो। ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि ऐसी वस्तुओं के प्रयोग से पाये हुए लाभ को समय की इकाई के अनुसार प्रतिदिन या प्रति सप्ताह मापा जाय।

इन विरोधों के होते हुए भी सीमान्त विश्लेषण, आर्थिक समस्याओं के विवेचन तथा सुलझाने में हितकर साबित हो रहा है। आधुनिक अर्थशास्त्री अपना ध्यान व्यक्तिगत व्यवहार से हटाकर सामूहिक व्यवहार की तरफ ला रहे हैं। इस भांति सीमान्त विश्लेषण की उपयोगिता घट गई है।

१६. स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओं की उपयोगिता (Utility of Substitutes and Complements)—इस कल्पना से कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं का मूल्य भिन्न-भिन्न होता है हमें यह प्रतीत होगा कि समस्त वस्तुओं की संचित उपयोगिता वास्तविक नहीं है। वास्तव में मूल्य एक दूसरे पर आश्रित तथा प्रभावित है। जैसा कि स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओं के मूल्यों से

स्पष्ट है। यदि काफी न होती, तो चाय की उपयोगिता अब से जब कि काफी उपलब्ध है कहीं अधिक हुई होती। इस प्रकार चाय तथा काफी की कुल उपयोगिता अब काफी न होने की स्थिति की अपेक्षा कहीं कम है। जूतों का उदाहरण लीजिये। यदि आप दाहिने पैर का जूता खो देते हैं तो आप के लिए बायें पैर के जूते का कोई उपयोग न होगा। इस प्रत्येक पूरक वस्तु का मूल्य दूसरे की अनुपस्थिति में कुछ न होगा। अतएव आप उस खोये हुए जूते के लिए उसके वास्तविक मूल्य से कहीं अधिक कीमत देने के लिए तैयार हो जायेंगे। यदि आपने बायां जूता खो दिया है, तो इसी प्रकार आप उसके लिये जोड़े के आधे मूल्य से कहीं अधिक भुगतान करने को तैयार हो जायेंगे। इस आधार पर दायें और बायें जूतों की उपयोगिताओं का योग उनकी वास्तविक उपयोगिता से अधिक होगा। अतएव यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य के एक दूसरे पर आश्रित होने के कारण उनकी सापेक्ष उपयोगिताओं का उचित अनुमान करना असम्भव है।

१७. क्या उपयोगिता मापी जा सकती है (Can Utility be Measured ?)—हम देख चुके हैं कि उपयोगिता किसी वस्तु की आवश्यकता की सन्तुष्टि करने की शक्ति है। यह स्वयं वस्तु के आन्तरिक गुण पर निर्भर नहीं वरन् उपभोक्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। एक आम में किसी उपभोक्ता की सन्तुष्टि के लिए स्वाभाविक गुण होता है। परन्तु यदि कोई मनुष्य डाक्टरी राय से उसे खाने से वंचित है, तो उसकी उसके लिए कोई उपयोगिता नहीं है। दूसरे शब्दों में उपयोगिता निजात्मक है।

उपयोगिता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में और एक ही व्यक्ति के लिए समय-समय पर तथा भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न होती है। एक व्यक्ति अपने आप अपने मन में भिन्न-भिन्न वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना कर सकता है, परन्तु उसके पास कोई बाहरी माप नहीं जिससे कि वह एक वस्तु की उपयोगिता पूर्ण रूप से नाप सके। उपयोगिता एक ऐसी मात्रा नहीं है जो जोड़ी या घटाई जा सके। इसकी तुलना की जा सकती है तथा इसका वर्गीकरण किया जा सकता है। हम इसकी कमी या अधिकता के बारे में कह सकते हैं परन्तु यह नहीं कह सकते कि कितनी अधिक या कितनी कम। उपयोगिता उपभोक्ता की मानसिक स्थिति प्रगट करती है।

क्या हम किसी मनुष्य की मानसिक स्थिति को माप सकते हैं ? स्पष्ट रूप से नहीं। हम किसी मनुष्य की सन्तुष्टि की तीव्रता को मापने के लिए कोई मापदण्ड नहीं रखते हैं। तो भी भाग्यवश हमारे पास द्रव्य के रूप में एक अपूर्ण तथा सरल माप है। यद्यपि द्रव्य सन्तुष्टि की उचित प्रकार से माप नहीं कर सकता, फिर भी यह कम-से-कम हमको दोनों संतुष्टियों की उग्रता की तुलना करने में सहायक होता है। मान लिया कि मेरे पास १००) हैं। मैं एक साइकिल खरीदना चाहता हूं। यदि मैं दुविधा की सीमा पर हूं कि मैं उसे खरीदूं अथवा नहीं, और यदि मैं अपना द्रव्य बचाये रखने अथवा साइकिल के खरीदने में तटस्थ

हूं तो यह स्पष्ट है कि मैं १००) तथा साइकिल को समान महत्त्व देता हूं। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि मेरे लिए साइकिल की उपयोगिता १००) के बराबर है। इसी प्रकार एक कैमरे की उपयोगिता भी १००) के बराबर हो सकती है। इस तरह यह १००) की रकम साइकिल तथा कैमरे की अथवा उस धन से प्राप्त की जाने वाली अन्य वस्तुओं की उपयोगिताओं को बराबर कर देती है। **द्रव्य उपयोगिताओं को नापता है। दो वस्तुओं की उपयोगिताओं में वही अनुपात होता है जो उनकी बाजार की कीमतों में होता है**। वास्तव में, हमारा कुछ वस्तुओं के उपभोग करने का अनुभव तथा पुराना स्वभाव हमको दो वस्तुओं की उपयोगिताओं को द्रव्य से पृथक् तुलना करने के योग्य बना देता है।

हम इच्छा को माप सकते हैं, संतुष्टि को नहीं। यह भी एक और विषय है। जब मैं इस दुविधा में हूं कि कैमरा खरीदूं या साइकिल तो वास्तव में मैं **आशा की जाने वाली** संतुष्टि की तुलना प्राप्त की जाने वाली सन्तुष्टि से करता हूं। परन्तु हम जानते हैं कि आशा किया जाने वाला आनन्द उस आनन्द से कहीं अधिक है जो वास्तव में प्राप्त होता है। कुछ भी हो दोनों समान नहीं होते। यहां भी हमारा पुराना अनुभव तथा दृढ़ स्वभाव हमारी सहायता करते हैं, और हम स्पष्ट रूप से निश्चित कर सकते हैं कि आशा की जाने वाली सन्तुष्टि कितनी होगी। परन्तु यह याद रखने योग्य है कि वह उग्रता जिससे किसी वस्तु की इच्छा होती है उस सन्तुष्टि से जो कि वास्तव में प्राप्त होती है, भिन्न है। सन्तुष्टि के मापने का कोई साधन नहीं है, परन्तु इच्छा की तीव्रता द्रव्य से मापी जा सकती है। अर्थशास्त्री साधारणतया यह कल्पना करते हैं कि दोनों समान हैं।

निर्देश पुस्तकें

Marshall—Principles of Economics
Devenport—Economics of Enterprise
Fisher—Elementary Principles of Economics
Brij Narain—Principles of Economics
Thomas S. E.—Elements of Economics
Benham—Economics
Chapman—Outlines of Political Economy
Viner—"The Utility Concept in Economic Theory," in the Journal of Political Economy, 1925.

अध्याय ५

उपभोग (विस्तृत)

सम सीमान्त उपयोगिता नियम

(LAW OF EQUIMARGINAL RETURNS)

१. भूमिका (Introduction)—हम यह देख चुके है कि आवश्यकताएं प्रतियोगी हैं। अतएव हमको अधिक आवश्यक और कम आवश्यक आवश्यकताओं में निरन्तर निर्वाचन करना होता है। उपयोगिता के दृष्टिकोण से हमको अधिक तथा कम उपयोगी वस्तुओं में चुनना पड़ता है। जब हम अपने मन में यह निर्णय कर रहे हों कि किसी वस्तु को कुछ अधिक अथवा कम मात्रा में खरीदें, तो हम वस्तु तथा द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता का सन्तुलन करने लगते है। **परन्तु हम वास्तव में उस विशिष्ट वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उस द्रव्य से खरीदे जा सकने वाली अन्य बहुत-सी वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं का सन्तुलन करते है।** द्रव्य इस प्रकार हमारे लिये एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक जाने के हेतु एक पुल का कार्य करता है। इसी प्रकार प्रतिस्थापन होता है। यह केवल एक वस्तु के लिए उसी आवश्यकता की सन्तुष्टि करने वाली दूसरी वस्तु का प्रतिस्थापन नही है, जैसे काफी के लिए चाय। परन्तु यह बिलकुल भिन्न वस्तुओं का एक दूसरे के लिए प्रतिस्थापन है जो एक साधारण द्रव्य माप द्वारा नापा जा सकता है। अब हम प्रतिस्थापन नियम का अध्ययन करेंगे।

२. नियम की व्याख्या (Statement of the Law)—प्रत्येक मितव्ययी मनुष्य अपने संसाधनों का अधिक से अधिक उपयोग करना चाहता है। यह इस कारण आवश्यक है कि आवश्यकताओं को देखते हुए संसाधन न्यून है—यह वह मौलिक साध्य है जिससे कि हमने अर्थशास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया था। प्रत्येक उपभोक्ता चाहता है कि जितनी भी अधिक से अधिक संतुष्टि हो सके मिले। इस कारण वह कम उपयोगी वस्तु के बजाय अधिक उपयोगी वस्तु का प्रतिस्थापन करेगा। जब वह ऐसा कर चुकता है तो यह उसको ज्ञात होगा कि क्रय की प्रत्येक दशा में सीमान्त उपयोगिताएं समान है। उपभोक्ता सचेत अथवा अचेत रूप से उस सिद्धान्त पर कार्य करता है जिसको भिन्न नामों से पुकारा गया है, जैसे प्रतिस्थापन नियम, तटस्थता नियम, सम सीमान्त उत्पत्ति नियम, व्यय मित-व्ययिता नियम अथवा अत्यधिक संतुष्टि नियम। इसको प्रतिस्थापन नियम इसलिये कहते हैं क्योंकि हम एक वस्तु के स्थान पर दूसरी को खरीदते हैं। अत्यधिक संतुष्टि नियम इस कारण कहलाता है कि इसके द्वारा हम अपनी संतुष्टि परमसंख्या तक पहुंचा सकते है। यह सम सीमान्त उपयोगिता नियम इस कारण कहलाता है कि हम अत्यधिक

संतुष्टि तभी प्राप्त कर सकते है जबकि प्रतिस्थापन की विधि के द्वारा सीमान्त उपयोगिताएं समान कर दी जाती है ।

प्रत्येक मनुष्य अपने (द्रव्य अथवा वस्तु के) संसाधनों को अनेक उपयोगों पर इस प्रकार बांटता है कि प्रत्येक उपभोग की सीमान्त उपयोगिता अथवा भिन्न-भिन्न उपयोगों पर व्यय किए हुए प्रत्येक आने की सीमान्त उपयोगिता समान है। केवल इसी भांति संतुष्टि अत्यधिक होगी। यह स्मरण करने योग्य है कि दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं से प्राप्त की हुई कुल उपयोगिता को जो कि अनिश्चित तथा अमापनीय है, समान करना असम्भव है। हम केवल सीमा पर उपयोगिताओं को बराबर कर सकते है ।

इसको इस प्रकार समझाया जा सकता है : जबकि उपभोक्ता किसी विशिष्ट वस्तु पर कुछ द्रव्य व्यय कर चुकता है तो उसके पश्चात् उस वस्तु की उपयोगिता उसके लिए गिरने लगती है और वह गिरती जाती है जब तक कि वह यह नहीं सोच लेता कि उसको अन्य वस्तु पर व्यय करने से अधिक संतुष्टि मिलेगी। वह एक स्थिति के बाद एक वस्तु के बदले में दूसरी का प्रतिस्थापन करता रहता है यहां तक कि कुल द्रव्य जो वह व्यय करना चाहता था समाप्त हो जाता है। जब यह होता है, वह सम सीमान्त उपयोगिता प्राप्त कर लेता है। वह अब किसी वस्तु पर अधिक और किसी पर कम व्यय करके कुल उपयोगिता की वृद्धि नही कर सकता। यदि वह ऐसा कर सकता होता तो पहले ही कर लेता। कोई भी हेर-फेर उपयोगिता में लाभ की अपेक्षा अधिक हानिकारक होगा। सबसे उत्तम स्थिति वह होगी जब कि प्रत्येक व्यय की रेखा मे उसकी सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाय।

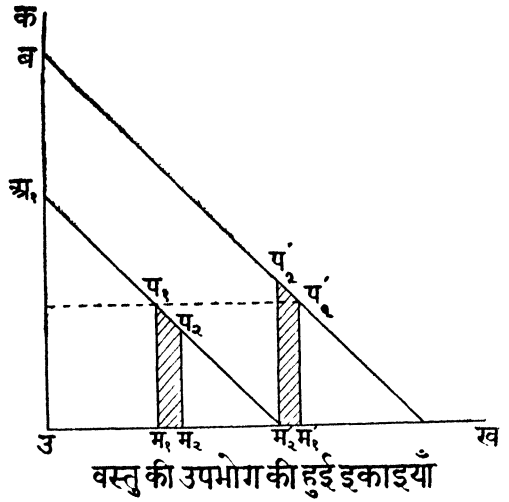
एक उपभोक्ता जितना द्रव्य रखता है उससे अधिकतम संतुष्टि पाने के लिये वह अपना खर्च इस प्रकार बाटेगा कि खरीदी हुई वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता उनकी कीमतों के अनुपात में होगी। इस प्रकार—

$$\frac{\text{क की अधिकतम उपयोगिता}}{\text{क की कीमत}} = \frac{\text{ख की अधिकतम उपयोगिता}}{\text{ख की कीमत}} = \frac{\text{ग की अधिकतम उपयोगिता}}{\text{ग की कीमत}}$$

और इसी प्रकार यदि एक वस्तु की कीमत बढ़ जाती है तो इस वस्तु की कम मात्रा तथा दूसरी वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जायगी ताकि अनुपात वही रहे । टिकाऊ वस्तुओं में यह अनुपात रहना सम्भव नही हो सकता है। ऊपर का समीकरण केवल तभी सही होगा जबकि उपभोक्ता की रुचि तथा अन्य स्थितियों में परिवर्तन न हो।

यह नियम आगे दिए हुए चित्र द्वारा स्पष्ट हो सकता है । मानो दो वस्तुएं दूध तथा रोटी है जिन पर उ म$_1$ + उ म′$_1$ द्रव्य व्यय किया जाता है । मानो कि अ$_1$ तथा ब रोटी तथा दूध के क्रमिक उपयोगिता वक्र हैं। यदि उ म$_1$ रोटी पर और उ म′$_1$ दूध पर व्यय होता है तो वस्तुओं (या उन पर व्यय किया हुआ द्रव्य) की सीमान्त उपयोगिता समान होती है, प$_1$ म$_1$ = प′$_1$ म′$_1$ । प्रतिस्थापन नियम अथवा सम-

सीमान्त उपयोगिता नियम यह दृढ़तापूर्वक बताता है कि द्रव्य का यह वितरण अत्यधिक कुल उपयोगिता प्राप्त करता है अर्थात् उ म$_1$ प$_1$ अ$_1$ + उम$_1$′ प$_1$′ ब अत्यधिक है। यदि यह ऐसा है तो किसी भी अन्य प्रकार के वितरण को उससे कम कुल उपयोगिता प्रदान करनी चाहिये। देखें ऐसा है कि नही ।



चित्र नं. ७

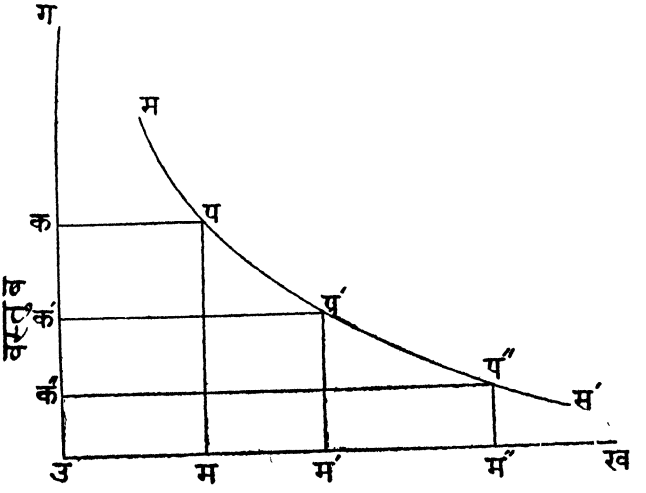
मान लिया कि (अ$_2$) का अभिप्राय द्रव्य की छोटी मात्रा से है। फिर यह मान लीजिये कि अ$_2$ रोटी पर अधिक और अ$_2$ दूध पर कम व्यय किया जाता है। दूध की सीमान्त उपयोगिता प$_2$′ म$_2$′ तक बढ़ जायेगी और रोटी की प$_2$ म$_2$ तक गिर जायेगी। जैसा कि गहरे रंग के क्षेत्र द्वारा दिखाया गया है। इस नये क्रम से उपयोगिता की हानि लाभ की अपेक्षा अधिक होगी। कुल उपयोगिता पहले से कम होगी। इस प्रकार योग अधिकतम होगा, जब सीमान्त उपयोगितायें बराबर होंगी।

सम सीमान्त का सिद्धान्त अधिक विस्तृत क्षेत्र में लागू होता है। यह समय के व्यय में, परिसम्पत्ति के अनेक रूपों के वितरण में तथा विभिन्न उपयोगों में संसाधनों के बंटवारे में लागू होता है। यह नियम न केवल द्रव्य संसाधनों के वर्त्तमान उपयोगों में, वरन् उसके भावी उपयोगों में भी लागू है। वर्त्तमान व्यय तथा भविष्य के लिए संचय पर वितरण इस ढंग से किया जाता है कि बचे हुए १० रु० की सीमान्त उपयोगिता व्यय किये हुए १०) के बराबर हो, सीमान्त उपयोगितायें सम होनी चाहियें, केवल तभी, वितरण एक आदर्श वितरण होगा।

यह बहुत दुर्लभ है कि इस प्रतिस्थापन की प्रवृत्ति में एक वस्तु दूसरी से पूर्णतः बदल जाय, उदाहरणार्थ, रोटी के बदले में बिस्कुट और तरकारी के बदले में दही। हम वस्तुओं की एक व्यवस्था चाहते हैं और सबसे उपयोगी व्यवस्था की खोज में हम वस्तुओं की मात्रा अर्थात् किसी वस्तु की कुछ अधिक तथा दूसरे की थोड़ी कम मात्रा में कुछ अदल-बदल करने का प्रयत्न करते हैं। प्रतिस्थापन सीमा पर होता है।

३. तटस्थता वक्र (Indifference Curves)—चूंकि उपयोगिता

मापी नहीं जा सकती, इसलिये उपयोगिता विश्लेषण से मांग के सही स्वभाव की व्याख्या नहीं हो सकती। यह अब मान लिया गया है कि एक उपभोक्ता एक विशेष वस्तु की पृथक् मांग के बजाय एक निश्चित अधिमान माप रखता है। आधुनिक अर्थशास्त्री उपभोक्ता के अधिमानों की श्रेणी के वर्णन करने के लिये तटस्थता वक्र का प्रयोग करते हैं। जब हम केवल एक वस्तु का विचार करते हैं तो एक उपयोगिता वक्र उसकी ह्रास सीमांत उपयोगिता बतलाती है। परन्तु जब दो वस्तुओं का प्रश्न उठता है तो हम तटस्थता वक्र का ही उपाय प्रयोग में लाते हैं। अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिये हम अपने मस्तिष्क में एक वस्तु की कुछ अधिक क्रय करने की उपयोगिता को दूसरी वस्तु की कुछ कम उपयोगिता से तुलना करते हैं। अर्थात् यह कहिये कि एक वस्तु का दूसरी से विनिमय करते है। यदि दोनों वस्तुओं का मूल्य—अनुपात ऐसा है कि एक का मूल्य दूसरे में निषेधार्थक है तो कोई विनिमय नहीं हो सकता। परन्तु कुछ सीमाओं के अन्तर्गत विनिमय सर्वथा लाभदायक होगा। परिणाम यह होता है कि दोनों वस्तुओं के कई संयोग हो जाते हैं, जो कि एक उपभोक्ता को स्वीकृत हो सकते हैं। वे उसके लिए एक समान महत्त्व रखते हैं और इस कारण वे एक दूसरे की अभिरुचि में तटस्थ है। ऐसे संयोग एक तटस्थता वक्र द्वारा दिखाये जा सकते हैं। जैसा कि नीचे दिए गए चित्र में दिखाया गया है।

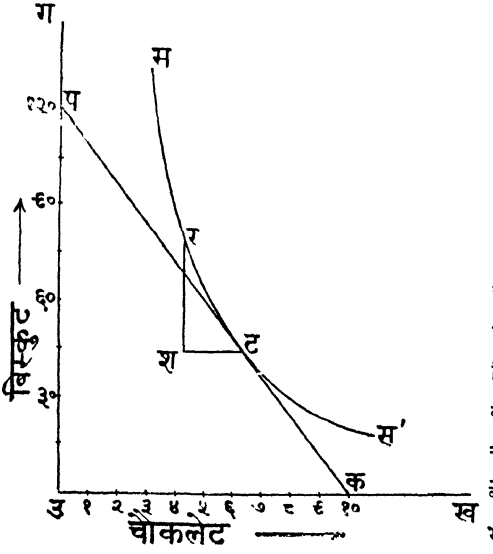


चित्र नं. ८

प, प' तथा प'' तटस्थता वक्र पर बिन्दु हैं। इसका अर्थ है कि इस विशेष उपभोक्ता के लिए जिसके अधिमानों की श्रेणी यह प्रस्तुत करता है वस्तु व के उ क (=प म) + वस्तु अ के उ म, वस्तु ब के उ क' (=प' म') + वस्तु अ के उ म' तथा

वस्तु ब के उ क'' (=प'' म'') + उ वस्तुओं के उ म'' का संयोग बराबर है ; अर्थात् उनकी उपयोगिता एक-सी है।

परन्तु इन संयोगों में से कौन-सा वह वास्तव में चुनेगा यह मूल्य के अनुपात पर निर्भर है। मूल्य-अनुपात को चित्र में दिखाने के लिये हम दोनों अक्ष रेखाओं के बीच में एक रेखा खीचेंगे जिसका ढाल मूल्य-अनुपात को प्रस्तुत करेगा। नीचे दिये हुए चित्र में प क रेखा की ढाल बिस्कुट तथा चौकलेट के बीच मूल्य-अनुपात प्रस्तुत करती है। अनुपात १ : १२ का है। एक बच्चे का उदाहरण लीजिये। माना कि केवल दो वस्तुएँ बिस्कुट तथा चौकलेट हैं जिन पर उसको अपना द्रव्य व्यय करना है। वह कुल द्रव्य चौकलेट पर व्यय कर के १० चौकलेट खरीद सकता है अथवा बिस्कुटों पर व्यय कर के १२० बिस्कुट खरीद सकता है। इस का अनुपात १ : १२ है अर्थात् १० चौकलेट बराबर है १२० बिस्कुट के। वास्तव में एक मितव्ययी उपभोक्ता मिश्रित संयोग रखना चाहेगा। इस मूल्य रेखा प क पर कोई बिन्दु उस बिस्कुट तथा चौकलेट के संयोग को प्रस्तुत करेगा जो कि वह इस मूल्य-अनुपात पर खरीद सकता है। इस रेखा प क पर कोई भी गति एक वस्तु का दूसरी के लिए त्याग सूचित करती है। उस बच्चे की अधिमानो की श्रेणी नीचे दी हुई उस सारिणी से सूचित की जा सकती है जोकि बिस्कुट तथा चौकलेट के उन अनेकों संयोगों को प्रकट करती है जिनमें वह सर्वथा तटस्थ है।



चित्र नं. ९

	चौकलेट	और	बिस्कुट
	२	,,	११४
या	३	,,	९३
या	४	,,	७५
या	५	,,	६६
या	६	,,	४५
या	७	,,	३६

	चौकलेट	और	बिस्कुट
या	८	,,	२८
या	९	,,	२१

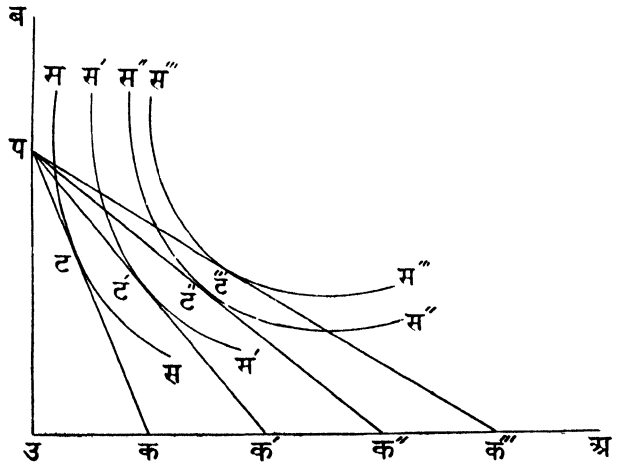
यह सारिणी उसके अधिमानों की पूरी श्रेणी को नहीं वरन् उसके एक भाग को प्रकट करती है। ये संख्यायें अंकगणित की श्रेणियों को प्रस्तुत नही करतीं। कोई भी संख्या उन संख्याओं के अतिरिक्त ठीक होगी जो कि यह प्रस्तुत करती हैं कि जितने अधिक चौकलेट बच्चा विनिमय में प्राप्त करेगा उतने ही कम बिस्कुट वह चौकलेट पाने के लिए देने को तय्यार होगा। मान लीजिये कि बच्चा ५ चौकलेट और ६६ बिस्कुटों से प्रारम्भ करता है। एक और चौकलेट पाने के लिए २१ (६६–४५) बिस्कुट देने को तैयार है, परन्तु सातवां पाने के लिए केवल ९ (४५–३६) ही देने को तैयार है। ऊपर दिये हुए संयोगों को प्रस्तुत करने वाले बिन्दुओं को स्थापित करके और उनकी अविच्छिन्नता मान कर हम स स′ तटस्थता वक्र प्राप्त करते है। प्रारम्भ में बच्चा ५ चौकलेट और ६६ बिस्कुट रखता है। यह बिन्दु र से प्रस्तुत होता है। अधिकतम लाभ के संयोग को चुनने के लिए बच्चे को वक्र पर उ से सबसे दूर बिन्दु तक जाना होगा। यह बिन्दु र है जहां पर प क मूल्य रेखा तटस्थता वक्र स स′ पर स्पर्श रेखा है। वह बिन्दु पर अपनी ५ चौकलेट तथा ६६ बिस्कुट की प्रथम व्यवस्था की अपेक्षा र स बिस्कुट देकर और श ट चौकलेट पाकर पहुंचता है। ट ७ चौकलेट तथा ३६ बिस्कुट का संयोग प्रस्तुत करता है। इस बिन्दु पर कुल उपयोगिता अधिकतम है। यदि वह इस बिन्दु से किसी ओर भी चलता है, तो वह एक नीचे वक्र तक उतर जायगा "मूल्य रेखा तथा एक तटस्थता वक्र में सम्पर्क, तटस्थता वक्र के द्वारा सीमान्त उपयोगिताओं तथा मूल्यों के अनुपातों का वर्णन है।"[१] इस प्रकार ही सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त का तटस्थता वक्र के द्वारा अनुवाद किया जा सकता है।

इस तटस्थता वक्र के आकार के विषय में भी कुछ कहना है। वक्र को नीचे दाईं ओर गिरना चाहिये। यह सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के अनुरूप है। एक वस्तु की कमी दूसरे की वृद्धि से पूरी हो जाती है। यदि एक वस्तु में वृद्धि दूसरी वस्तु में बिना कमी किये हो जाती है, तो हम उसी वक्र पर न रहेंगे वरन् एक ऊंचे पर पहुंच जायेंगे। जब बच्चा अधिक चौकलेट तथा कम बिस्कुट पाने के लिये इस तटस्थता वक्र पर चलता है तो पहले की सीमान्त उपयोगिता घट जाती है और दूसरे की बढ़ जाती है। इससे ढाल कम हो जायगी। ऐसा वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर (Convex) हो जायगा। सापेक्ष वस्तुओं के विषय में जहां एक वस्तु की मात्रा में परिवर्तन दूसरे की उपयोगिता पर प्रभाव डाल सकता है, वक्र की ढाल भिन्न हो सकती है। वस्तुओं की पूर्ण स्थानापन्नता की दशा में अर्थात् जहां प्रतिस्थापन की सीमान्त दर १:१ है, तटस्थता वक्र एक सीधा कर्ण वक्र है जो ४५

१. Hicks—Value and Capital, 1948, P. 17

डिगरी का कोण बनाता है। यदि वस्तुएं एक-दूसरे की पूरक हैं (उदाहरणार्थ घोड़ा तथा गाड़ी अथवा दायां तथा बायां जूता) तो तटस्थता वक्र हर अक्ष रेखा के समानान्तर होंगे और ९०डिगरी का कोण बनायेंगे।

तटस्थता मान-चित्र—पिछले पृष्ठ पर दी हुई सारिणी एक अधिमानों के अनुमाप को प्रस्तुत करती है जो तटस्थता वक्र में दिखलाये गये है। पर ऊंचे-नीचे बहुत से अनुमाप हो सकते है और फिर प्रत्येक नई श्रेणी की सगत में एक दूसरा तटस्थता वक्र हो जायगा। उदाहरणार्थ इस बच्चे का प्रथम संयोग ५ चौकलेट और ६६ बिस्कुट था। परन्तु वह दोनो अधिक मात्रा मे ले सकता है, अर्थात् ६ चौकलेट और ७०बिस्कुट अथवा ८ चौकलेट और ८० बिस्कुट इत्यादि। यह बिन्दु उपभोक्ता को एक से दूसरे ऊंचे तटस्थता वक्र पर ले जाते है जिनमें से प्रत्येक प्रथम वक्र की अपेक्षा अधिक लाभदायक स्थिति प्रस्तुत करते है। उसको उन कम लाभदायक संयोगो से ही संतुष्ट होना पड़ेगा जो कि नीचे वाले तटस्थता वक्र से प्रस्तुत होगे। तटस्थता वक्रो के सयोगों को तटस्थता चित्र (Indifference Map) कहते है जैसा कि नीचे दिखाया गया है।



चित्र नं. १०

प क, प क', प क'' तथा प क''' के झुकाव बदलते हुए मूल्य के अनुपातों को प्रस्तुत करते है। स स, स' स', स'' स'' तथा स''' स''' वक्र अधिमानों के अनुमापों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों की संगति के तटस्थता वक्र हैं। जितने ऊँचे वक्र होंगे उतने ही अच्छे समान तटस्थ संयोगों की श्रेणियां होंगी। बिन्दु ट, ट', ट'', ट''' हर क्रम में दो वस्तुओं के बीच में विनिमय के बाजारू दर पर अधिकतम लाभ के बिन्दु है, जिनको झुकी रेखाएं प क इत्यादि के द्वारा दिखाया गया है।

४. तटस्थता वक्र का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance of Indifference Curves)—तटस्थता वक्र एक व्यक्ति के अधिमानों के अनुमाप का मात्रिक प्रदर्शन देने में, जब कि दो वस्तुएं खरीदनी हों, बहुत लाभदायक हुए है। तटस्थता वक्र का यन्त्र विस्तृत रूप से लागू हो सकता है। बेन्हम तटस्थता वक्रों के उपयोगों को इस प्रकार लिखते है: "तटस्थता वक्रों का उपयोग दो विकल्पों के बीच (परंतु वे केवल दो ही हों) किसी व्यक्ति का अधिमान माप चित्रित करने के लिए हो सकता है। इस प्रकार के आय और अवकाश के बीच उसका अधिमान माप चित्रित कर सकते हैं जिससे यह प्रकट हो सकता है कि वह दिन-रात के २४ घंटों को, किसी निश्चित दर प्रति घंटे पर, काम और अवकाश के बीच किस प्रकार बाटेगा। इसके अतिरिक्त, उनका उपयोग उसके वर्तमान और भावी उपभोग के बीच, द्रव्य-सम्पत्ति और आय उत्पादक सम्पत्ति के बीच, तथा इस प्रकार के अन्य कार्यों में उसका अधिमान माप प्रकट करने के लिए भी हो सकता है।"[1]

स्टीगलर (Stigler) तटस्थता वक्र यन्त्र के तीन व्यवहार बताते हैं:—

(१) **दो व्यक्तियों के बीच अदला-बदली**: एजवर्थ (Edgeworth) ने, जिन्होंने यह यन्त्र मालूम किया, तटस्थता वक्र द्वारा यह दिखाया कि अदला-बदली की हुई वस्तुओं के बीच की विनिमय दर निर्धारित नही की जा सकती, केवल वह सीमाएँ बताई जा सकती है जिनके बीच विनिमय होगा।

(२) **कर**: तटस्थता वक्र द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि यदि एक मनुष्य पर वस्तु पर कर लगाने की अपेक्षा व्यक्तिगत आयकर लगाया जाता है, तो वह ऊंचे तटस्थता वक्र को चला जायगा।

(३) **सूचक अंक की समस्या**: तटस्थता वक्र यह बताते है कि एक व्यक्ति का जीवन-निर्वाह-स्तर बढ़ गया है या गिर गया है।

५. प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Substitution)—एक वस्तु की कितनी मात्रा दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा से प्रतिस्थापन की जाती है अथवा किस दर पर हम एक वस्तु का दूसरी वस्तु से प्रतिस्थापन करते है? इसका उत्तर प्रतिस्थापन की सीमान्त दर से मिलता है—इस विचार को डा० हिक्स (Dr. Hicks) तथा प्रो० आर० जी० एलन (Prof. R. G. Allan) ने प्रस्तुत किया।[2] विनिमय-अनुपात एक वस्तु की वह मात्रा होगी जो कि दूसरी वस्तु के लिए विनिमय में दी जायगी जैसे मिठाई की जगह केला।

परन्तु विनिमय तभी होगा जबकि अ, ब दो वस्तुओं का अनुपात अथवा सीमान्त उपयोगिताएं भिन्न हों। जब तक कि सीमान्त उपयोगिता के अनुपात भिन्न न होंगे, विनिमय

---

१. Benham—Economics, 1947, P. 96-97.

२. Hicks—Value and Capital, 1946, Ch. 1

नहीं हो सकता। इस अनुपात को प्रतिस्थापन की सीमान्त दर कहते हैं। हिक्स के शब्दों में "हम अ को ब में प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की परिभाषा ब की उस मात्रा से कर सकते हैं जो उपभोक्ता को अ की सीमान्त इकाई की हानि के लिये संतुलित करती है। वास्तव में यह अ की ब से संबन्धित सीमान्त उपयोगिता है।" खण्ड ३ में दी हुई तटस्थता अनुसूची में बच्चा १ अधिक चौकलेट (२ के बजाय ३) लेने के लिये तथा २१ बिस्कुट (११४ के बजाय ९३) देने के लिये तय्यार है। प्रतिस्थापन की सीमान्त दर १:२१ है। इसके बाद वह १ चौकलेट के लिये १८ (९३–७५) बिस्कुटों का त्याग करने को तय्यार है और इसलिये प्रतिस्थापन दर १ : १८ है तथा यथाक्रम भी। प्रतिस्थापन की सीमान्त दर सदैव गिरती रहती है।

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर एक उपभोक्ता को किसी वस्तु की कुछ इकाइयों को दूसरी की कुछ इकाइयों से प्रतिस्थापन करने के योग्य बनाती है। जिससे कि वह साम्य अर्थात् अधिकतम लाभ की स्थिति तक पहुंच सके। यह बतलाया जाता है "कि एक व्यक्ति का किसी समय पर लागू मूल्यों की पद्धति के प्रति तभी साम्य हो सकता है जबकि किन्हीं दो वस्तुओं के मूल्यों का अनुपात उन दोनों के बीच की सीमान्त प्रतिस्थापन दर को बराबर कर देता है, अन्यथा उस प्रचलित विशिष्ट दर पर उसके लिये यह लाभदायक होगा कि वह किसी वस्तु के एक भाग को दूसरे की सामान्य मूल्य के लिये प्रतिस्थापन करे।"[१]

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर इस प्रकार निश्चित की जा सकती है—अध्याय ४, भाग २, में दी हुई सारिणी पर विचार करो। यह मान लिया गया है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता स्थिर है। मान लिया कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता प्रत्येक रुपए की संतुष्टि की ३० इकाइयों के बराबर है। यदि हमारा उपकल्पित उपभोक्ता दो के बजाय तीन सेबों का उपभोग करता है, तो कुल उपयोगिता ३८ से बढ़कर ५३ इकाइयां हो जाती है अर्थात् १५ इकाइयों की वृद्धि होती है। यह आठ आने के व्यय के बराबर है (३० इकाइयाँ=१ रुपया; १५इकाइयां=८ आने के)। यह प्रतिस्थापन की सीमान्त दर है। "प्रतिस्थापन की सीमान्त दर द्रव्य की वह मात्रा है जो कि उस वस्तु की एक इकाई के बराबर ही संतुष्टि देगी।"[२] हम यह भी कह सकते हैं कि किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के द्रव्य के लिये प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के बराबर है जब तक कि प्रचलित मूल्य इस सीमान्त दर से कम है तब तक उस वस्तु के उपभोग को बढ़ाना उपभोक्ता के लिये स्पष्ट रूप से लाभदायक है।

हमको मार्शल के उपयोगिता के विचार को परेटो के विचार से भेद करना चाहिये। मार्शल ने वस्तु के आन्तरिक गुणों को सोचा जिसके कारण यह संतुष्टि देती है। इसका कोई भी सम्बन्ध किसी अन्य दूसरी वस्तु से नहीं है। यह निरपेक्ष उपयोगिता का विचार है

१. Briggs and Jordan—Text Book of Economics, 1935, P. 94.
२. Boulding—Economic Analysis. 1949, P. 618.

जब कि परेटो का विचार सापेक्ष है। वह किसी वस्तु की उपयोगिता को किसी दूसरी वस्तु की उन इकाइयों के सम्बन्ध में मानता है जो वस्तु की हानि को पूरा करती है। इस प्रकार प्रतिस्थापन की सीमान्त दर परेटो के उपयोगिता के विचार पर आधारित है। यह अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि यह उपयोगिता के मात्रिक माप की आवश्यकता अथवा सम्भावना को त्याग देता है।

६. प्रतिस्थापन नियम का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance of the Law of Substitution)—यह नियम आर्थिक विषयों में मानवीय व्यवहार की व्याख्या करने के लिये एक बड़ा मौलिक सिद्धान्त है। हममें से प्रत्येक इस सिद्धान्त पर सचेत अथवा अचेत रूप से कार्य करता है क्योंकि हमको इस समस्या का सामना करना पड़ता है कि अपने सीमित साधनों का अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये हम किस प्रकार अति उत्तम उपयोग करें। यह नियम आर्थिक सिद्धान्त की प्रत्येक शाखा में लागू होता है।

यह उपभोग में लागू होता है—प्रत्येक उपभोक्ता, यदि वह बुद्धिमान् है, तो अपने सीमित साधनों से अधिकतम संतुष्टि लेना चाहता है। उस लक्ष्य के अनुसार अपने व्यय की व्यवस्था करते समय उसको कम उपयोगिता रखने वाली वस्तु के लिये अधिक उपयोगिता रखने वाली वस्तु का प्रतिस्थापन करना चाहिये, जब तक कि सीमान्त उपयोगिताएं बराबर न हो जायें। इस प्रकार उपभोक्ता की संतुष्टि अधिकतम हो जायगी।

उत्पत्ति में इसका प्रयोग—व्यापारी तथा निर्माताओं के लिये यह नियम अधिक महत्त्व रखता है। वह लगाये हुए उत्पत्ति के साधनों का अति उत्तम मितव्ययी संयोग प्राप्त करना चाहता है। इस अभिप्राय से वह एक साधन दूसरे के लिये प्रतिस्थापन करेगा जिससे कि उनकी सीमान्त उत्पादिता समान हो जाय। यदि उसे ज्ञात होता है कि एक साधन, जैसे श्रम, की सीमान्त उत्पादिता पूंजी की सीमान्त उत्पादिता से अधिक है, तो उसको एक को दूसरे के अतिरिक्त प्रतिस्थापन करना अधिक लाभदायक होगा और वह ऐसा ही करेगा। इस भांति वह अपने लाभ को अधिकतम करने के योग्य हो जायेगा।

विनिमय में इसका प्रयोग—हमारे सभी प्रकार के विनिमय में यह सिद्धान्त लागू होता है क्योंकि विनिमय एक वस्तु का दूसरे के लिये केवल प्रतिस्थापन ही है। हमारे विनिमय की प्रतिस्थापन होने वाली प्रकृति इस आर्थिक सिद्धान्त की महत्ता को प्रतीत करने के लिए पर्याप्त है।

इस सिद्धान्त का **मूल्य के निर्धारण से महत्त्वपूर्ण** सम्बन्ध है। जब हम किसी वस्तु की न्यूनता की तीव्रता का, उसका मूल्य बढ़ जाने से, अनुभव करते हैं, तो प्रतिस्थापन नियम हमारी सहायता करता है और हम अधिक न्यून वस्तु के बदले कम न्यून वस्तु का प्रतिस्थापन करने लगते हैं। इस प्रकार दूसरे की न्यूनता कम हो जाती है और उसका मूल्य घट जाता है।

इसका वितरण में प्रयोग—वितरण में हमारा सम्बन्ध उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधनों के अंशों अर्थात् लगान, मज़दूरी, ब्याज तथा लाभ के निर्धारण से है। ये हिस्से सीमान्त उत्पादिता के सिद्धांत के अनुसार निर्धारित होते है। उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का प्रयोग **उपक्रमी** द्वारा लाभ की सीमा तक पहुंचाया जाता है और प्रत्येक स्थिति में सीमान्त उत्पत्ति बराबर होती है। यदि यह बराबर नही हो तो प्रतिस्थापन नियम उसकी सीमान्त उत्पादिता बराबर कर देता है। प्रतिस्थापन नियम इसी भांति राष्ट्रीय लाभांश को उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधनों में वितरण करने के क्षेत्र में लाभदायक सिद्ध होता है।

इस प्रकार प्रतिस्थापन नियम का प्रयोग सार्वलौकिक है। यह आर्थिक सिद्धान्त की प्रत्येक शाखा में मौलिक महत्त्व रखता है। जैसा कि रॉबिन्स ने अनुमान किया है, यह नियम अर्थशास्त्र का आधार है। न्यून साधनों का बहुत लक्ष्यों की संतुष्टि के प्रयोग में इस नियम की आवश्यकता होती है। इसको हम **अर्थशास्त्र का नियम** कह सकते है; दूसरे नियम इसके केवल उप-सिद्धान्त हैं। यह नियम उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय तथा वितरण में प्रधान है।

७. प्रतिस्थापन नियम की सीमाएँ (Limitations of the Law of Substitution)—अन्य आर्थिक नियमों की भांति यह नियम भी एक प्रवृत्ति का विवरण है। मनुष्यों का वास्तविक व्यय इस नियम के विरुद्ध हो सकता है। ऐसा नीचे दी हुई सीमाओं के कारण हो सकता है:—

(१) प्रतिस्थापन नियम में पाने वाली संतुष्टि का सावधानी से विचार करना पड़ता है और इस संतुष्टि की तुलना व्यय किये हुए द्रव्य तथा उस संतुष्टि से करनी होती है जो कि इसी द्रव्य को किसी दूसरी ओर व्यय करने से हो सकती है। हमको अपने मस्तिष्क में एक वस्तु की कुछ अधिक इकाई की उपयोगिता को दूसरी से भली भांति तुलना करना तथा दोनों का संतुलन करना चाहिये। परन्तु हममें से कितने ऐसी उत्तम गणना करने योग्य हैं और कितने ऐसा करने के हेतु धैर्य तथा योग्यता रखते है? क्या हम ऐसे बुद्धिमान तथा गणना करने में दक्ष हैं? वास्तव में हमारा अधिकांश व्यय स्वभाव पर निर्भर है। हम न तो इसकी गणना सचेत रूप से करते है और न सावधानी से उपयोगिताओं की तुलना करते है।

परन्तु अधिक व्यय करने में एक मितव्ययी पुरुष, व्यय करने से पहले कुछ सोच-विचार करता है और उसका व्यय अधिकतम संतुष्टि के नियम के अनुसार होता है। यहां पर भी हो सकता है कि सीमान्त उपयोगितायें बिलकुल समान न हों।

अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं कि समस्त विचारयुक्त तथा मितव्ययी पुरुष सचेत या अचेत रूप से इस नियम का पालन करते हैं। जैसा कि चैपमैन (Chapman) ने कहा है "हम प्रतिस्थापन नियम अथवा सम-सीमान्त व्यय नियम के अनुसार अपनी आय को वितरण करने में उस प्रकार विवश नहीं होते, जिस प्रकार कि एक पत्थर वायु में

फेंके जाने पर भूमि पर गिरने के लिये एक प्रकार से विवश हो जाता है; परन्तु हम वास्तव में ऐसा एक बेढंगे रूप से करते हैं क्योंकि हम न्याय-सिद्ध हैं।"[1]

(२) उपभोक्ता की अज्ञानता से एक और सीमा लग जाती है। हो सकता है कि विकल्पों के दूसरे प्रयोगों को जानते ही नहीं।

(३) मनुष्य कभी-कभी रीति-रिवाजों अथवा फैशन के अधीन हो जाते हैं और विचारयुक्त उपभोग करने योग्य नहीं रहते।

(४) एक और सीमा इसलिए लागू हो जाती है क्योंकि वस्तुओं का छोट-छोटे टुकड़ों में विभाजन नहीं हो सकता जिससे कि उपभोक्ता सीमान्त उपयोगिताओं को समान कर सके।

(५) व्यक्तियों का कोई निश्चित आय-व्ययक (Budget) समय नहीं है। इसलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि किसी के पास व्यय के लिये किसी समय पर कितना द्रव्य है। यदि एक निश्चित समय भी है तो भी इस सिद्धान्त का लागू होना व उपभोग की हुई वस्तुओं की स्थिरता की भिन्न-भिन्न मात्राओं के कारण कठिन है। एक स्थायी वस्तु कई क्रमिक लेखा किये हुए काल में उपभोग की जा सकती ह तथा यह सरल नही है कि उसको एक लेखा किये हुए समय के आय और व्यय के हिसाब में यह देखने के लिये लाया जाये कि इस काल में संतुष्टि सबसे अधिक हुई है।

(६) अन्त में सम सीमान्त उपयोगिता नियम की संतुष्टि तभी होगी जबकि उपभोग की हुई वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता तथा उनकी कीमतों के बीच में अनुपात है। इस प्रकार

$$\frac{\text{क की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{क की कीमत}} = \frac{\text{ख की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ख की कीमत}} = \text{ग}$$

जब तक ग==१ नहीं होगा, नियम की संतुष्टि न होगी। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि उपभोक्ता एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उसकी कीमत बराबर करें।

८. प्रतिस्थापन नियम और उपयोगिता ह्रास नियम का सम्बन्ध (Relation between the Law of Substitution and the Law of Diminishing Utility)—उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार जैसे-जैसे हम एक वस्तु का उपभोग करते जाते हैं उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। उपभोग बढ़ने पर हमको ज्ञात होता है कि एक स्थिति ऐसी आती है जहां उस वस्तु पर अधिक व्यय उचित न होगा। हमको अनुभव होता है कि इसमें परिवर्तन होना चाहिए और उसके बजाय हम किसी दूसरी वस्तु की कुछ इकाइयां खरीदें। इस प्रकार उपयोगिता ह्रास नियम प्रतिस्थापन नियम की ओर ले जाता है। यदि सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम लागू न होता तथा सीमान्त उपयोगिता घटने के बजाय बढ़ती,

1. Chapman—Outlines of Political Economy, P. 48

तो एक वस्तु को दूसरे से बदलने में कोई लाभ नहीं। क्योंकि सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है, इसीलिए हम एक वस्तु के बजाय दूसरी का प्रतिस्थापन करना सोचते हैं।

इसी भांति उत्पत्ति ह्रास नियम के प्रयोग से उत्पत्ति के एक साधन का प्रतिस्थापन दूसरे के लिए होता है। यदि उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है, तो एक साधन को दूसरे के लिए प्रतिस्थापन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)

९. अर्थ (Meaning)—मार्शल ने उपभोक्ता की बचत का विचार सबसे प्रथम प्रस्तुत किया। उनका विचार उस बात के उचित वर्णन करने का था जिससे सब उपभोक्ता परिचित है।

जब हम बाज़ार में एक वस्तु खरीदने जाते है तो हम प्रायः उसके लिए वास्तविक मूल्य से अधिक देने को तैयार रहते है और हम घर कुछ रुपया बचा कर ही लौटते हैं। यह द्रव्य कुछ अन्य वस्तुओं के खरीदने में व्यय किया जा सकता है जिनसे हमको अतिरिक्त संतुष्टि मिलेगी। साधारण खरीदारी में भी यही होता है।

उन वस्तुओं के खरीदने में जो विशेषतः लाभदायक तथा सस्ती होती है, उदाहरणार्थ पोस्ट कार्ड, अखबार, दियासलाई, नमक इत्यादि हम अत्यधिक उपभोक्ता की बचत प्राप्त करते है। यदि कोई विकल्प ही न हो, तो उनके लिए हम जो कुछ देते है उससे कहीं अधिक देने को तैयार हो जावेंगे। जो अतिरिक्त संतुष्टि हम पाते है, उसी को उपभोक्ता की बचत कहते है।

मार्शल के शब्दों मे, "**किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो कीमत देने को तैयार है और जो कि वह वास्तव में देता है उसका अन्तर ही इस अधिक संतुष्टि की आर्थिक माप है। इसको उपभोक्ता की बचत कह सकते हैं।**"

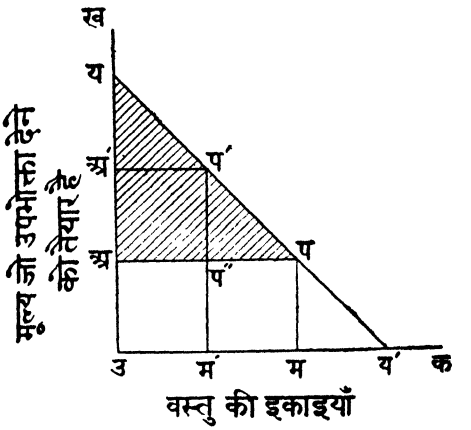
संक्षेप में, **उपभोक्ता की बचत**=जो कुछ हम देने को तैयार है — जो कुछ हम वास्तव में देते है।

१०. उपभोक्ता की बचत तथा ऋमागत उपयोगिता ह्रास नियम (Consumer's Surplus and the Law of Diminishing Utility)—उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त उपयोगिता ह्रास नियम से निकलता है। अध्याय ४, परिच्छेद २ में सारिणी को देखिए।

मान लिया प्रत्येक सेब का मूल्य बाज़ार में ६ पैसा है। एक उपभोक्ता उस सीमा तक सेब खरीदता जायेगा जहां तक कि उसकी सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर हो जाये। इस भांति वह ५ सेब खरीदेगा और प्रत्येक के लिये ६ पैसे देगा (उपयोगिता की एक इकाई एक पैसे के बराबर मान ली गई है)। इस प्रकार वह कुल ३० पैसे व्यय करेगा। परन्तु ५ सेबों से उसकी कुल उपयोगिता ७० पैसों से मापी जाती है। इस भांति वह ४० पैसों के बराबर उपभोक्ता की बचत प्राप्त करता है। यह प्रवृत्ति इस कारण है

कि उसने उसके उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा ७० पैसे दे दिये होते परन्तु वह वास्तव में ३० पैसे ही देता है। यदि मूल्य ११ पैसे हो जाता है तो वह ४ सेब खरीदेगा और ४४ पैसे देगा जब कि कुल उपयोगिता ६४ पैसे के बराबर है। इससे उसको २० पैसे के बराबर उपभोक्ता की बचत मिलेगी और इस ही प्रकार आगे होगा।

नीचे उपभोक्ता की बचत का चित्र द्वारा निरूपण किया गया है:—



चित्र नं. ११

उ क पर वस्तु की खरीदी जानेवाली इकाइयां मापी गई है और उ ख पर द्रव्य में उपयोगिता मापी गई है, जिसका अर्थ उस मूल्य से है जो उपभोक्ता वस्तु की किसी विशिष्ट इकाई के उपभोग की अपेक्षा देने को तैयार है।

यदि प्रचलित कीमत प म है, तो उपभोक्ता म इकाई तक खरीदेगा। वह उ म मात्रा खरीदेगा। यह ऐसा इस कारण है कि इस राशि पर उसकी सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर है। परन्तु उसकी पहली इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता प म से अधिक है। उदाहरणार्थ म' इकाई की सीमान्त उपयोगिता प' म' है, परन्तु वह इस इकाई के लिए दूसरी इकाइयों की भांति केवल प म (=प" म') प्रचलित मूल्य ही देता है। इस प्रकार म' इकाई के लिए प' प" के बराबर अधिक उपयोगिता प्राप्त करता है। यह उस इकाई की उपभोक्ता की बचत है। इस प्रकार जब उ म इकाई प म मूल्य पर खरीदी जाती है, तो जो उपभोक्ता की कुल बचत उसको मिलती है वह रंगे हुए क्षेत्र य अ प से दिखाई गई है। यदि प्रचलित कीमत प' म' तक बढ़ जाती है तो वह केवल उ म' मात्रा ही खरीदेगा और उपभोक्ता की बचत एक छोटे त्रिभुज य अ' प' तक गिर जायेगी।

उपभोक्ता की बचत इसलिए होती है कि कुछ खरीदार सीमान्त होते हैं तथा दूसरे नहीं। वह खरीदार जो सीमान्त खरीदार के ऊपर हैं, बचत प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार एक उपभोक्ता सीमा के भीतर के क्रय में अर्थात् वह क्रय जो सीमान्त नहीं है, बचत प्राप्त करता है।

उपभोक्ता की बचत की गणना करने में हम परिपूर्ण बाज़ार की अर्थात् प्रत्येक इकाई के लिये समान कीमत की कल्पना कर लेते हैं। यदि किसी उपभोक्ता के लिये

कीमत में अन्तर हो, अर्थात् पहिले की इकाइयों के लिये अधिक कीमत तथा क्रमिक इकाईयों के लिये कम कीमत ली जाय तो परिपूर्ण बाज़ार की अपेक्षा वस्तु की उसी ही मात्रा के लिये उसको अधिक देना होगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कीमत वाले बाज़ार की अपेक्षा परिपूर्ण बाज़ार में क्रय करने से बचत प्राप्त होगी।

११. क्या उपभोक्ता की बचत मापी जा सकती है? (Can Consumer's Surplus be Measured?)—ऐसा मालूम होता है कि यह मापी जा सकती है। हमने ऊपर स्पष्ट कर दिया था कि उपभोक्ता की बचत जो कुछ हम उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा देने को तैयार है तथा जो कुछ वास्तव में देते है दोनों का अन्तर है; अथवा यह नीचे दिये हुए सूत्र से निश्चय किया जा सकता है :—उपभोक्ता की बचत=कुल उपयोगिता—मूल्य × क्रय की हुई इकाइयों की संख्या। यह कितना साधारण प्रतीत होता है।

किन्तु उपभोक्ता की बचत की माप इतनी साधारण नही है। उपभोक्ता की बचत की ठीक-ठीक माप के लिये बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(१) **मांग की कीमतों की पूर्ण सूची प्राप्य नहीं है**—हम केवल मांग तालिका के एक भाग को ही जानते है। क्योंकि हम यह नही जानते कि प्रत्येक इकाई के लिये हम कितना देने को तैयार होंगे, उपभोक्ता की बचत निश्चय नहीं की जा सकती। तो भी वास्तविक जीवन में हम मांग तालिका के उस भाग से संबंध रखते है जिससे हम भली भांति परिचित है। कीमतों के छोटे-छोटे परिवर्तनों की प्रतिक्रियाओ का ज्ञान भली भांति रहता है। वास्तविक जीवन मे हम कल्पित न्यूनता की कीमतो से संबंध नही रखते।

(२) उपभोक्ता की बचत जीवन-रक्षक तथा लौकिक अनिवार्यताओं में असीमित और अमापनीय है। जीवन-रक्षक तथा लौकिक अनिवार्यताओं में से कोई निश्चित संतुष्टि नहीं मिलती। उनकी संतुष्टि से केवल दुःख दूर होता है और कोई आनन्द नही मिलता। पैटेन (Patten) इसको 'दुःखमय अर्थव्यवस्था' कहते है। जब जीवन-रक्षक अनिवार्यताओं की संतुष्टि हो जातीहै तभी उपभोक्ता की बचत का प्रश्न उठ सकता है। इस स्थिति में ही जिसको पैटेन 'आनन्दमय अर्थव्यवस्था' कहते है, उपभोक्ता की बचत होती है।

(३) **उपभोक्ता की स्थितियों में परिवर्तन होता रहता है**—कुछ उपभोक्ता धनी तथा कुछ निर्धन होते है। एक धनी पुरुष किसी वस्तु के लिये उसके उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा कहीं अधिक देने को तैयार रहता है। उपभोक्ता की स्थिति में इस भिन्नता से उपभोक्ता की बचत मापने में कठिनाई होती है। इस कठिनाई को औसत के निकालने से दूर किया जा सकता है। जब खरीदार धनी तथा निर्धन अधिक होते है तब व्यक्तिगत स्थितियों के अन्तर पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है।

(४) **उपभोक्ताओं की चैतन्यता भिन्न है**—प्रत्येक उपभोक्ता की भिन्न-भिन्न रुचि तथा चैतन्यता होती है। कुछ दूसरों की अपेक्षा एक वस्तु को पाने के बहुत उत्सुक होते हैं

तथा उसके लिये अधिक देने को तैयार रहते हैं। यह कठिनाई भी पहले की भांति औसत निकालने से दूर हो सकती है। जब हम तमाम उपभोक्ताओं के व्यवहार का विचार करते है तो व्यक्तिगत रुचि तथा चैतन्यता का ध्यान हटा देते हैं।

(५) **द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होता रहता है**—जैसे-जैसे हम किसी वस्तु को खरीदते जाते हैं, हमारे पास द्रव्य की मात्रा कम होती जाती है। इसलिये द्रव्य की प्रत्येक इकाई की सीमान्त उपयोगिता बढ़ जाती है। परन्तु जब हम उपभोक्ता की बचत मापते हैं तो हम द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में इस परिवर्तन का ध्यान नहीं रखते। इस आक्षेप के उत्तर में हम कह सकते हैं कि वास्तविक व्यवहार में हम अकेली वस्तु के खरीदने में केवल थोड़ी मात्रा में ही द्रव्य व्यय करते है। अतएव द्रव्य की सीमान्त उपयोगिताओं में परिवर्तन बहुत ही कम होता है। H330·1 | D51A

(६) एक और कठिनाई यह है कि एक वस्तु की क्रय में प्रत्येक वृद्धि के साथ पहली क्रय की हुई इकाइयों की आवश्यकता घट जाती है तथा उसकी उपयोगिता कम हो जाती है। जब हम उपभोक्ता की बचत मापते हैं तो पहली इकाइयों की उपयोगिता की इस कमी का ध्यान नही रखते। उपभोक्ता की बचत ठीक-ठीक मापने के लिये यह संकेत किया जाता है कि पहली इकाईयों की मांग के मूल्य की सूची को लगातार बदलना चाहिये। यह आक्षेप सही होता यदि प्रत्येक इकाई के सामने की लिखी हुई उपयोगिता औसत होती न कि अतिरिक्त उपयोगिता, क्योंकि केवल औसत ही हर क्रम पर बदलती है और अतिरिक्त उपयोगिता को बदलने की कोई आवश्यकता नही (अध्याय ४ परिच्छेद २ में सारिणी को देखो)। यदि उपभोक्ता दो सेब खरीदता है, तो औसत १९ है, तीन सेबों पर वह ५३/३ है और चार पर १६ है और ऐसे ही होता जाता है। इस प्रकार किसी वस्तु की चाहे जितनी भी इकाइयां खरीदी जायें औसत निस्संदेह ही बदलेगा परन्तु सीमान्त अथवा अतिरिक्त उपयोगिता नही बदली जायेगी। RGH 3980

(७) फिर प्रतिस्थापन वस्तुओं की उपस्थिति के कारण भी कुछ कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। यह पहले बता दिया गया है कि उनकी उपयोगिता की माप में कैसे कठिनाई उपस्थित हो जाती है।[1] इस कठिनाई को दूर करने के लिये चाय और कॉफी जैसी दो प्रतिस्थापन वस्तुओं को एक मान लेना चाहिये जैसा कि मार्शल ने बताया है।

(८) **श्रेष्ठता (Distinction) के लिये उपयोग की जाने वाली वस्तुएं**—हीरा जैसी वस्तुओं की कीमत में कमी से मांग में वृद्धि न होगी। जब ऐसी वस्तुएं सस्ती हो जाती हैं, तो वे उपभोक्ता के लिये कोई श्रेष्ठता नही रखतीं। अतएव उनकी मांग गिर सकती है। इसलिये ऐसी स्थितियों में कीमत में कमी होने से उपभोक्ता की बचत नही बढ़ेगी।

हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उपभोक्ता की बचत का ठीक-ठीक मापना असंभव है। परन्तु इस कारण उपभोक्ता की बचत का विचार व्यर्थ नहीं है। व्यावहारिक

---

१. Chapter IV. Section 12.

जीवन में, चाहे वह व्यवसाय से या राजस्व से सम्बद्ध हो, उपभोक्ता की बचत की माप के बारे में एक अपूर्ण तथा कार्ययुक्त विचार सदैव ही बना सकते हैं।

१२. उपभोक्ता की बचत की समालोचना (Criticism of Consumer's Surplus)—केनन (Cannan), निकलसन (Nicholson), रॉबिन्सन (Robinson) तथा डैविनपोर्ट (Davenport) जैसे अर्थशास्त्रियों ने उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त की कड़ी समालोचना की है। इसके वैज्ञानिक स्वभाव पर यह आक्षेप लगाया गया है कि यह ऐसी कल्पनाओं पर आधारित है जो अनुचित हैं। इसका माप करने में हम यह कल्पना कर लेते हैं कि उपयोगितायें ठीक-ठीक मापी जा सकती हैं और द्रव्य में बदली जा सकती है। यह भी मान लिया जाता है कि किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों की भिन्न-भिन्न उपयोगितायें होती ह। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता निरपेक्ष समझ ली गई है जो कि वह वास्तव में नहीं है। यह मान लिया जाता है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है। जब हम द्रव्य व्यय करते जाते हैं, तो हमारे पास रही हुई द्रव्य की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता बढ़ती जाती है, जबकि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता गिरती जाती है। इससे उपभोक्ता की बचत को मापने में अधिक कठिनाई होने लगती है। हिक्स (Hicks) ने तटस्थता वक्र द्वारा उपभोक्ता की बचत को प्रस्तुत किया है जिसके कारण यह सिद्धान्त इस कल्पना से स्वतंत्र हो जाता है।[1]

अनिवार्यताओं तथा रूढ़ आवश्यकताओं के उपभोग में यह नियम लागू नहीं होता क्योंकि ऐसी स्थितियों में उपभोक्ता उससे वंचित रहने की अपेक्षा सब कुछ देने को तैयार हो जाता है। उपयोगिता अनन्त होगी। एक **लखपती** रेगिस्तान में एक गिलास पानी के लिये १०००) रु. देने को तैयार हो सकता है, यदि प्यास से उसकी जान जा रही हो; परन्तु वह वास्तव में केवल एक पैसा ही बख्शीश में दे सकता है। अर्थशास्त्री यह कह सकता है कि उसको ९९९ रु. १५ आना ९ पाई की उपभोक्ता की बचत मिलती है। परन्तु हमारे **लखपती** को इसके बारे में निश्चय करना अत्यन्त कठिन होगा।

इसीलिये यह कहा जाता है कि सारा विचार **काल्पनिक, अमूलक तथा भ्रमात्मक** है। कोई मनुष्य निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि किसी वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा वह उसके लिये कितना देने को तैयार होगा। यह प्रश्न उसके सामने बाज़ार में कदाचित् ही उठता है। बाज़ार के मूल्य को मानना ही पड़ेगा। उसको केवल इस बात का निर्णय करना है कि वह कितना खरीदेगा। अतएव इस सिद्धान्त के बारे में बहुत कुछ असत्यता है। यह भी संकेत किया जाता है कि यदि बचत होगी तो उपभोक्ता को उस वस्तु की अधिक-से-अधिक मात्रा खरीदने में प्रोत्साहन मिलेगा यहां तक कि बचत नष्ट हो जायगी। वह साधारणतया विद्यमान नहीं रह सकती।

यह समालोचना वास्तव में दूषित है। केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन आक्षेपों में से

१. Hicks—Value and Capital, 1948, P-P. 38—40.

किसी भी आक्षेप की मान्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता। विशेष आक्षेप यह है कि इसको ठीक प्रकार से संख्या में मापा नहीं जा सकता। यह तुरन्त ही मान लिया जाता है। परन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वास्तविक जीवन में इस तरह की कोई वस्तु ज़रूर है। किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा हम वस्तु के लिये जो कुछ देते ह उससे अधिक देने को तैयार रहते हैं। इस प्रकार हमको संतुष्टि में बचत मिलती है यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि कितनी। यह हमको अवश्य बताता है कि एक सम कीमत की पद्धति कुछ उन उपभोक्ताओं की संतुष्टि में बचत प्रदान करती है जो उस वस्तु से वंचित होने की अपेक्षा उसके लिये अधिक देने के योग्य तथा तैयार होते हैं। उपर्युक्त लखपती साधारण जीवन का मनुष्य नहीं है—ऐसी स्थिति बहुत कम होती है। वास्तविक जीवन में व्यापार-व्यवसाय इस भांति होता है कि उपभोक्ता को अतिरिक्त संतुष्टि मिलती है।

१३. उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का महत्त्व (Importance of the Concept of Consumer's Surplus)—यद्यपि उपभोक्ता की बचत ठीक माप के योग्य नहीं है तो भी इसकी व्यावहारिक उपयोगिता तथा इसका सैद्धान्तिक महत्त्व अधिक है।

(१) **संयोगिक महत्त्व** (Conjunctural Importance)–इससे हम **वातावरण तथा अवकाश के लाभ अथवा संयोगिक महत्त्व के लाभ की तुलना कर सकते हैं**। एक मनुष्य जो देहली में २००) पाता है उस मनुष्य की अपेक्षा जीवन की अधिक सुविधाएं प्राप्त कर सकता है, जो ३००) एक ऐसे शहर में पाता है जो सभ्यता के केन्द्र से बहुत दूर है। इससे हम भिन्न-भिन्न समय में मनुष्यों की आर्थिक दशाओं की तुलना कर सकते हैं। जितनी अधिक उपभोक्ता की बचत होगी, उतनी ही अच्छी दशा मनुष्य की होगी।

(२) **राजस्व में महत्त्व**—चान्सलर आफ ऐक्सचैकर अथवा अर्थमंत्री नये कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखता है कि किसी वस्तु के लिये लोग कितना देने को तैयार हैं और एक कर लगाने के कारण बढ़ी हुई कीमत से उन पर कितना प्रभाव पड़ता है। जब उपभोक्ताओं की बचत हो रही है, तो कर लगाने का अधिक अवसर मिलेगा क्योंकि मनुष्य अधिक देने को तैयार होगा तथा मूल्य में वृद्धि होने से मांग पर अधिक प्रभाव न पड़ेगा।

कर लगाने तथा आर्थिक सहायता (bounty) देने से उपभोक्ता की बचत पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। पर प्रभाव व्यवसाय में उत्पत्ति ह्रास नियम, स्थिर नियम अथवा वृद्धि नियम के लागू होने के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा। उत्पत्ति स्थिर नियम के लागू होने में उपभोक्ता की बचत राज्य के सकल आगम से भी अधिक घट जायेगी। "उपभोग के उस भाग पर जो चलता रहता है, उपभोक्ता उतना खो देता है जितना कि राज्य को मिलता है; तथा उपभोग के उस भाग पर जो कीमतों में वृद्धि से खत्म हो जाता है उपभोक्ता की बचत जाती रहती है और राज्य को कुछ भी नहीं मिलता।" इसी प्रकार

आर्थिक सहायता (bounty) की दशा में बाउन्टी की अपेक्षा उपभोक्ता की बचत में लाभ कम होता है। जहा उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है वहां कर से सकल आगम उपभोक्ता की बचत की हानि की अपेक्षा अधिक हो सकता है। बाउन्टी से उपभोक्ता की बचत बढ़ जावेगी। उत्पत्ति वृद्धि नियम में कर अधिक हानिकारक तथा बाउन्टी अधिक लाभदायक होती है। कर उपभोक्ता की बचत में राज्य की आय से अधिक कमी कर देता है तथा बाउन्टी उपभोक्ता की बचत में राज्य से दी हुई रकम से अधिक वृद्धि कर देती है।

(३) **एकाधिकार मूल्य के सिद्धान्त के महत्त्व**—इसी प्रकार एक व्यवसायी अथवा एक एकाधिकारी को ज्ञात हो जायेगा कि यदि वस्तु से उपभोक्ताओं को अतिरिक्त संतुष्टि मिलती है तो वह मूल्यों मे सरलता से वृद्धि कर सकता है। वह यदि आवश्यकता पड़े तो अधिक भी देने को तैयार हो जायेंगे। वास्तव में किसी व्यवसायी के लिये यह उचित न होगा कि मूल्य को इतना बढ़ा दे कि समस्त बचत समाप्त हो जावे। वह इस सीमा तक कठिन सौदा न करेगा। वह अपने ग्राहकों की ख्याति को बढ़ाना तथा निभाये रखना चाहेगा और इसलिये समझौते की नीति मानेगा।

(४) **प्रयोग-मूल्य तथा विनिमय-मूल्य में भेद**—हम जानते है कि एक वस्तु का प्रचलित मूल्य उसकी उपयोगिता अथवा प्रयोग मूल्य से भिन्न होता है। नमक, दियासलाई जैसी वस्तुओं का प्रयोग-मूल्य अधिक है परन्तु उनका विनिमय-मूल्य बहुत कम है। ऐसी वस्तुओं में उपभोक्ता की बचत अधिक होती है, क्योंकि इनके लिये हम जो कुछ देते हैं उससे कहीं अधिक देने को तैयार रहते है। उपभोक्ता की बचत कुल उपयोगिता अर्थात् प्रयोग मूल्य पर निर्भर है और यह प्रयोग मूल्य अथवा विनिमय मूल्य के अन्तर को स्पष्ट कर देता है।

५. **उपभोक्ता की बचत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ को मापती है**—दूसरे देश से व्यापार करने से हम कुछ वस्तुएं जो सस्ती होती हैं बाहर से मंगाते हैं। बाहर से मंगाने से पहले हम उसी प्रकार की वस्तुओं के लिये अधिक देते थे। वे हमको अतिरिक्त संतुष्टि देती है जिसकी हम इस प्रकार माप कर सकते हैं—वह मूल्य जो हम देने के लिये तैयार थे, तथा वह मूल्य जो हम वास्तव में देते हैं, उसका अन्तर ही उस सतुष्टि का माप होगा। जितनी अधिक यह बचत होगी उतना ही लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होगा।

१४. उपभोक्ताओं के अधिमान (Consumer's Preferences)—यह अध्याय समाप्त करने के पहले उपभोक्ता के चुनावों के बारे में कुछ कहा जा सकता ह। जिस आर्थिक संसार में हम रहते हैं चुनाव अनिवार्य है। इसका कारण समय, शक्ति तथा द्रव्य में हमारे साधनों का सीमित होना और उनके प्रयोजनों का असीमित होना है। हमको उन वस्तुओं म जिनको हम खरीद सकते हैं अथवा जिनको खरीदते हैं निरन्तर चुनाव करना पड़ता है। ऐसे निर्णय हमारे अधिमानों को प्रकट करते हैं।

अर्थशास्त्र में हम मान लेते हैं कि उपभोक्ता अपनी अभिरुचि, लाभ तथा त्याग

का उचित विचार और सचेत गणना करके करता है। अतएव हम मान लेते है कि उपभोक्ता प्रेरणा, स्वभाव, रीति-रिवाज तथा अप्रवृत्ति से प्रभावित नही होता। हम यह भी मान लेते है कि प्रत्येक उपभोक्ता पर्याप्त समय यह सोचने में लगाता है कि वह एक वस्तु खरीदे या नहीं और खरीदे तो कितनी ? वह सबसे सस्ती दुकान खोजने तथा अच्छा सौदा करने के श्रम से पीछे नहीं हटना चाहता। हम यह इस कारण मानते हैं कि अन्यथा आर्थिक सामान्य अनुमान असंभव हो जायेंगे तब अर्थशास्त्री भिन्न-भिन्न आर्थिक स्थितियों में प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने के योग्य नही रहेगा।

परन्तु हमको यह न भूल जाना चाहिये कि उपभोक्ताओं की अभिरुचि वास्तव में विचारयुक्त नही होती। अधिक मनुष्य वस्तुओ को स्वभाव तथा केवल अनुकरण से ही खरीदते है। वह आकर्षित विज्ञापनों द्वारा प्रलोभित हो जाते है। कुछ ही व्यक्ति ऐसे हैं जो कीमत के सम्बन्ध में पूछताछ करने का कष्ट उठाते है। बहुत से व्यक्ति यों ही बिना सोचे समझे खरीदते हैं। व्यय के लिये पहले से प्रबन्ध नही किया जाता। हम कभी यह नहीं सोचते कि वास्तव में हमको एक वस्तु खरीदनी चाहिये या नही। केवल कुछ ही न्यून अपवाद होते है।

उपभोक्ताओं की अभिरुचि की कुछ भी प्रकृति हो तो भी वह हमारी आर्थिक पद्धति में निश्चित करने वाला साधन है। उपभोक्ता के प्रभुत्व का नीचे के परिच्छेद में विवेचन किया गया है।

१५. उपभोक्ता का प्रभुत्व (Sovereignty of the Consumer)--पूंजीवाद अथवा अबाध प्रतियोगिता में उपभोक्ता की तुलना एक सम्राट् से की गई है। समस्त उत्पादक यंत्र उसकी प्रभुता के अन्दर कार्य करते माने गये है। उसके मन की लहरें, उसका पक्षपात तथा उसकी इच्छायें उत्पत्ति के संसार पर शासन करती है। आधुनिक उद्योग के साहसी उसके गुलाम हैं और उसकी आज्ञा पालन करने के अभिकर्ता ह। यदि उपभोक्ता प्रसन्न है तो साहसी भी प्रसन्न तथा सौभाग्यशाली होंगे और यदि उपभोक्ता असंतुष्ट है तो साहसी के भी भाग्य पर ताला लग जायगा।

भूतकाल में उपभोक्ता का अधिकार स्पष्ट था। वह जूतों, कपड़ों इत्यादि का आर्डर करता था और बनाने वाला केवल आज्ञा का पालन सच्चाई से करता था। उपभोक्ता को, जो वह चाहता था, मिलता था। वह निःसंदेह सम्राट् था।

परन्तु आधुनिक उत्पादक आज्ञानुसार कार्य नही करता। वह कार्य का पहले से अनुमान करता है। साहसी का यह कार्य है कि वह चतुराई से यह अनुमान लगाये कि कौन-सी वस्तुओं से उपभोक्ता अधिक संतुष्ट होगा और तब उन वस्तुओं की उत्पत्ति करे या सेवाओं का उनकी इच्छानुसार पालन करे। परन्तु यहां भी उपभोक्ता के अधिमानों का पूरा प्रभाव पड़ता है। यदि साहसी उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का ठीक-ठीक चतुरतापूर्वक अनुमान नहीं लगा सकता अथवा उसका स्थिर किया हुआ मल्य

उपभोक्ता की जेब के अनुकूल नहीं है तो उसकी वस्तुओं की बिक्री नहीं होगी। वह कुछ समय तक बहादुरी से उसका सामना कर सकता है, परन्तु यदि वह अपने उपायों को बदल कर उनको उपभोक्ता की रुचि तथा जेब के अनुकूल नहीं बनाता, तो वह कभी-न-कभी नीचा अवश्य देखेगा।

पूजीतन्त्री अर्थव्यवस्था में ऐसे साहसी ही सफल होंगे जो उपभोक्ताओं को सबसे अधिक संतुष्ट रखते हैं। सार्वलौकिक उपभोग सार्वलौकिक मताधिकार की भांति है। यह नियंत्रण का एक सार्वलौकिक साधन है। उपभोग के लिये केवल इस गुण की आवश्यकता होगी कि उसकी आय पर अधिकार हो जिससे कि वांछनीय वस्तुएँ प्राप्त होंगी। आर्थिक चुनाव में एक उपभोक्ता उतने वोट डालता है जितने कि उसके पास खर्च करने के लिये हों। यदि आर्थिक नियोजकगण अपना रुपया आवश्यकताओं की अपेक्षा खिलौनों पर, तथा शुद्ध अथवा सुन्दर वस्तुओं की अपेक्षा बनावटी अथवा भद्दी वस्तुओं पर व्यय करना चाहते हैं तो उन वस्तुओं की उत्पत्ति की जावेगी। हमारी व्यवसाय-संबंधी क्रियायें उपभोक्ता का चुनाव, चाहे चतुर हो अथवा मूढ़, हमारे व्यवसाय की क्रियाओं का पथप्रदर्शक हैं। "यह एक बिजली के मंडल को बनाने के समान है, जो कि ऐसी धारा पैदा करे जिससे कि उत्पत्ति का यंत्र तीव्र गति से चालू हो सके।"[१] प्रत्येक अर्थिक क्रिया का मौलिक कारण उपभोक्ता की आवश्कताओं की संतुष्टि है।

१६. उपभोक्ता के प्रभुत्व की सीमायें (Limitations on Consumer's Sovereignty)—उपभोक्ता इतना निरंकुश सम्राट् नहीं है जैसा कि वह माना गया है। अधिक-से-अधिक हम उसको एक प्रतिबन्धित अथवा सीमित सम्राट् कह सकते हैं। एक प्रतिबन्धित सम्राट् प्रजा पर शासन करता है, किन्तु उसे आधीन नहीं करता। हमारे सम्राट् उपभोक्ता के प्रभुत्व पर कुछ कड़ी सीमायें हैं।

(अ) उसके प्रभुत्व पर सबसे आवश्यक रोक उसकी आय का विस्तार है। वस्तुएँ उसकी आज्ञानुसार नही चलतीं जब तक कि वह द्रव्य के कोड़े का प्रयोग नहीं करता। उपभोक्ता असली घी चाहता है पर भुगतान के साधन न होने के कारण उसको डालडा से ही संतुष्ट रहना पड़ता है। उपभोक्ताओं की वास्तविक आवश्यकताओं की संतुष्टि आधुनिक आर्थिक पद्धति में नही होती और केवल उन्हीं आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है जो कि द्रव्य में स्पष्ट की जाती है।

फिर व्यक्तिगत उपभोक्ता की क्या गणना ? यह तो केवल सबकी सम्मिलित मांग है, जो शासन करती है।

(आ) उपभोक्ता की संतुष्टि उन वस्तुओं पर निर्भर है जो बाज़ार म मिलती हैं। उसको कुछ भिन्न वस्तुओं की इच्छा को सकती है, परन्तु वह कुछ कर नहीं सकता।

---

१. Kiekhofer, W. H.—Economic Principles, Problems and Policies, 1936. P. 652.

कुछ भौतिक सीमायें भी हैं। वास्तविक उत्पत्ति उस समय के औद्योगिक ज्ञान पर निर्भर है और यंत्रकला का विकास उपभोक्ता की इच्छाओं से पीछे रहता है। हम ध्वनि-रहित रेलगाड़ियां चाहते है, परंतु हमें उस समय तक ठहरना होगा जबतक कि यंत्रकला का विकास न हो ले। उपभोक्ता के अधिमान, जो कुछ किसी समय पर प्रस्तुत हैं उससे आगे ही रहते है।

(इ) बेचने में अति कुशल होने तथा बराबर विज्ञापन होने से उपभोक्ता की वास्तविक इच्छाओं में वृद्धि होती है। व्यवसाय के प्रचार का यंत्र उपभोक्ता की रुचि का नियंत्रण करने तथा बनाने में लगाया जाता है। अतएव उनको जो कुछ वह खरीदते उससे कुछ भिन्न खरीदने का प्रोत्साहन मिलता है। हमारा सम्राट् उपभोक्ता निर्बल तथा असहाय है। वही व्यवसायी सफल होता है जो केवल उपभोक्ता की उभरी हुई आवश्यकताओं की संतुष्टि ही नहीं करता वरन् जो उपभोक्ता की रुचि अपनी विशेष प्रकार की वस्तुओं की ओर आकर्षित करता है। प्रत्येक देश में अधिक द्रव्य विज्ञापन पर व्यय किया जाता है। एक उपभोक्ता को सड़क के दोनों ओर लक्षस्थानों, रेल के प्लेटफार्म पर, पेड़ों के तनों पर, टेलीग्राफ के खंभों पर, घरों तथा ट्राम पर लम्बे और आकर्षक विज्ञापनों का सामना करना पड़ता है। एली (Ely) के मतानुसार "यू. एस. ए. में केवल राष्ट्रीय विज्ञापन पर ही प्रत्येक मर्द, औरत तथा बच्चे पर लगभग १० डालर खर्च होता है। **सैटरडे ईवनिंग पोस्ट** की प्रत्येक बार विज्ञापन की छाप पर लागत 'लगभग १० लाख डालर' है!"[१] एक दूसरी गणना यह भी है कि "केवल यू. एस. ए. में ही, लगभग ५ लाख मनुष्य विज्ञापन के कार्य में साधारणतः लग रहते है और राष्ट्र का वार्षिक विज्ञापन खर्च १५० से २०० करोड़ डालर तक होता है।"[२] यह सब द्रव्य उपभोक्ता को प्रसन्न करने के हेतु नहीं, परन्तु उत्पादक को मालदार बनाने के लिये खर्च किये जाते हैं। विज्ञापन तथा विक्रय दक्षता पर खर्च किया हुआ प्रत्येक रुपया उपभोक्ता के प्रभुत्व के शव के बक्स में एक कील के समान है। हम बेन्हम से सहमत नही हैं जब वह कहते है कि एक सम्राट् अपने कुछ कार्यों में अपने गुलामों से सलाह ले सकता है, पर तो भी वह एक सम्राट् ही रहता है। यह प्रभुत्व नाममात्र का है और **राजतन्त्रवाद** का एक बहुत तुच्छ प्रतिरूप है।

उपभोक्ता की लाचारी का एक प्रमाण भी देखिये। मूर (Moore) तथा अन्य लेखकों ने "आधुनिक अर्थशास्त्र" में इन विचारों पर प्रकाश डाला है। "निःसन्देह अनेक मनुष्य ऐसे है जो प्रति वर्ष अत्यधिक व्यय करते हैं, यद्यपि वे ऐसा करने में असमर्थ हैं। लैम्प भी खरीदते है जो कि एक ओर तो प्रकाश देता है और दूसरी ओर स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। कुछ अन्य बिजली के यंत्र भी खरीदते हैं जो कि कुछ सीमाओं तक तो मानव जाति के लिये अधिक लाभदायक हैं पर उसके परे भयंकर हानि-

१. Ely—Outlines of Economics, 1930, P. 145.

२. Kiekhofer, op. cit, p. 154.

कारक सिद्ध हुए हैं। कुछ उपभोक्ताओं की लाचारी उनकी अनभिज्ञता के कारण होती है, क्योंकि वह यह नही जानते कि कितने शक्ति की बिजली से कौन-सा कार्य लिया जा सकता है और तार खुले होने के कारण बिजली के यंत्र मनुष्य के लिये कितने घातक होते हैं। यह प्रत्येक अन्य उत्पादन के सम्बन्ध में भी लागू है।

(ई) एकाधिकारी भी उपभोक्ता पर नियंत्रण रखता है। आधुनिक काल में संघ अथवा गुटबन्दी की ओर प्रवृत्ति है। कुछ फर्मों का व्यवसाय अथवा उत्पत्ति पर अधिकार हो जाता है और फिर वे उपभोक्ताओं से, जिनका मूल्य निर्धारण में तथा उत्पत्ति में कोई प्रभाव नहीं होता, मनमाने दाम लेती हैं।

(उ) साथ ही सरकारी नियंत्रण भी हैं जिनसे हम भली भांति परिचित हैं। साधारण समय में भी सरकार कुछ मादक वस्तुओं का या तो निषेध कर देती है या उनके उपभोग पर रोकटोक लगा देती है। धनी मनुष्यों पर कर लगाकर और निर्धनों के व्यवसाय को धन से सहायता देकर, सरकार उत्पत्ति की प्रगति पर प्रभाव डाल सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार स्वयं ही सबसे बड़ा उपभोक्ता है और इसलिए मूल्य निर्धारण पर तथा वस्तुओं की उत्पत्ति की श्रेणी पर प्रभाव डाल सकती है।

(ऊ) उपभोक्ता का स्वभाव भी उसको जकड़ देता है और वह अपने बंधे हुए उपभोग की श्रेणियों से हटने का अनिच्छुक रहता है। अतएव चुनाव की स्वतन्त्रता का प्रयोग नही किया जा सकता।

(ए) उपभोक्ता के चुनाव पर समाज के वातावरण तथा रूढ़ियों का भी प्रतिबंधक प्रभाव पड़ता है। अतएव उपभोक्ता की असीमित स्वतन्त्रता केवल एक कल्पना है।

(ऐ) उपभोक्ता साधारणतया अज्ञानी होते हैं और वे यह नही जानते कि उनके लिये क्या सर्वोत्तम है। उनका अन्ध-चुनाव उनके स्वार्थ के अनुसार नही होता। अतएव अज्ञानता उपभोक्ता की प्रभुत्व प्रगति में एक और बाधा है। यदि उपभोक्ता को देव कहें, तो वह अवश्य ही एक अन्धा देव होगा।

(ओ) प्रमाणीकृत वस्तुओं की उत्पत्ति बिना व्यक्तियों की रुचि का ध्यान रक्खे हुए यह सिद्ध करती है कि आधुनिक आर्थिक पद्धति इस बात का पूरा ध्यान नही रखती कि उपभोक्ता क्या लेना चाहेगा। उपभोक्ताओं को एक में मिला दिया जाता है और वह समुदाय की भांति माने जाते हैं, सम्राटों के समान नही, वरन् भेड़ों के झुण्ड के समान।

वास्तव में एक निर्धन देहाती अथवा एक मिल में काम करने वाले को यह विश्वास दिलाना बहुत कठिन है कि वह जो निरीक्षण करता है उसका वह सम्राट् है और सारे कारखाने जो काम कर रहे हैं, रेल तथा जहाज जो चल रहे हैं तथा व्यवसायी जो अपनी दूकानों पर बैठे हैं अथवा बाजार में इधर-उधर दौड़ रहे हैं, वे सब उसकी अपनी जेब भरने की अपेक्षा सेवा करने तथा उसको संतुष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वास्तव में न केवल उपभोक्ता और न केवल उत्पादक सम्राट् है। दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। किसी देश

की आर्थिक सफलता उपभोग तथा उत्पत्ति के उचित सन्तुलन पर निर्भर है। ऐली के शब्दों में "उन्नति सावधान तथा उत्तरदायी उपभोक्ताओं और मितव्ययी तथा कुशल उत्पादकों पर निर्भर है। यदि उपभोक्ता आलसी हैं, तो आलसी ही उत्पादक होंगे।"

निर्देश पुस्तकें

Wicksteed—Common Sense of Political Economy, Vol. 1.
Wicksell—Lectures on Political Economy, Vol. 1.
Erich Roll—Elements of Economic Theory.
Hicks—Value and Capital.
Marshall—Principles of Economics.
Boulding—Economic Analysis.
Cairncross—Introduction to Economics.
Benham—Economics.
Review of Economic Studies 1941-43, (Symposium on Consumer's Surplus)
Meyers—Elements of Modern Economics. ch. 7.
Stigler—Theory of Price pp. 67-85.
Fraser—Economic Thought and Language ch. X.

अध्याय ६

मांग

(DEMAND)

१. मांग (Demand)—मांग तथा इच्छा अथवा आवश्यकता में भेद करना जरूरी है। एक बीमार बच्चे को एक टानिक (बलवर्धक औषधि) की आवश्यकता होती है तथा एक चपरासी को एक रेडियो रखने की इच्छा होती है। परन्तु ऐसी आवश्यकताएं तथा इच्छायें मांग नही होती। उस समय जब कि इच्छा करने वाला मनुष्य जो कुछ चाहता है उसके लिये भुगतान करने के योग्य और तैयार है, तो इच्छा मांग में परिवर्तित हो जाती है। चैपमैन के शब्दों में "**मांगें अधिमानों की परिमाण सम्बन्धी वर्णन है।**"

मांग सदैव किसी कीमत पर होती है। "**किसी वस्तु की एक दी हुई कीमत पर मांग उसकी वह मात्रा है जो समय की प्रति इकाई पर उस कीमत पर खरीदी जायगी।**"[१] दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय केवल यह है कि एक व्यक्ति किसी दी हुई कीमत पर एक वस्तु की कितनी मात्रा को खरीदने के लिये तैयार हो जायेगा। किसी दूसरी कीमत पर वह भिन्न मात्रा खरीदेगा, कम कीमत पर अधिक और अधिक कीमत पर कम खरीदेगा। मांग एक निरपेक्ष रूप में नही समझी जा सकती। यह कहना गलत है कि अ की दूध की मांग ५ सेर प्रति दिन है जब तक कि दर न बताई जाय। मांग के बारे में बिना कीमत के निर्देश दिये हुए कुछ भी कहना निरर्थक है। इसके अतिरिक्त मांग सदव समय की प्रति इकाई में ही मापी जाती है चाहे वह प्रति दिन, प्रति सप्ताह, प्रति माह अथवा प्रति वर्ष हो।

मांग-कीमत वह कीमत है जो एक उपभोक्ता किसी वस्तु की एक इकाई के लिए देना चाहेगा। विक्रेता के दृष्टिकोण से यह मांग-कीमत वह औसत आय है जो वह उस इकाई की बिक्री से कमाता है। अतः मांग-कीमत तथा औसत आमदनी एक-से है।

२. मांग-तालिका (Demand Schedule)—भिन्न-भिन्न मूल्यों पर खरीदी हुई अथवा मांगी हुई मात्रा की सूची मांग-तालिका कहलाती है। निम्नलिखित एक व्यक्ति ए की सेबों की मांग तालिका है।

मल्य प्रति दर्जन रुपया	मांगी हुई मात्रा (दर्जनों में)
७	१
६	२
५	३

१. Benham—Economics, 1943, P. 36.

मूल्य प्रति दर्जन रुपया	मांगी हुई मात्रा (दर्जनों में)
४	४
३	६
२	८
१	१०

यह ध्यान देने योग्य है कि मांग-तालिका अथवा मांग-वक्र (देखिये पृष्ठ ७७ पर) के विभिन्न बिन्दु विकल्प है क्रमबद्ध नहीं। इसका अर्थ यह है वह व्यक्ति एक दर्जन ७) अथवा दो दर्जन ६) इत्यादि के दर से खरीदेगा। इसका अर्थ यह नहीं कि ७) दर से १ दर्जन खरीद कर वह दूसरा दर्जन ६) के दर से खरीदेगा।

मांग तालिका द्वारा व्याख्या किये गये नियम को कीमत के बढ़ने पर ह्रासी उपभोग नियम कहते है।[1]

किसी एक व्यक्ति की मांग को निश्चित करने वाले तत्वों को समझ लेना आवश्यक है। व्यक्तिगत मांग को निश्चित करने वाले तत्व निम्नलिखित है:—

(१) व्यक्ति की आय।
(२) उसका स्वभाव अथवा अधिमान।
(३) वस्तु की कीमत।
(४) स्थानापन्न वस्तुओं की कीमत।
(५) सामाजिक रीतियां।

सारे बाजार की मांग तालिका समस्त भावी खरीदारों की उन मात्राओं के जोड़ने से प्राप्त होती है जो कि भिन्न-भिन्न मूल्यों पर वे खरीदने को तैयार है। मान लिया बाज़ार में ५ खरीदार (बेचने वालों के साथ) अ, ब, स, द, तथा इ हैं और उनकी सेवों की मांग ज़ालिकाएं इस प्रकार है :—

मू. प्रति दर्जन	मांग-मात्रा दर्जनों में					योग
रु.	अ	ब	स	द	इ	
७	१	३	०	०	०	४
६	२	४	१	०	०	७
५	३	५	३॥	॥	०	१२
४	४	५॥	४	१	॥	१५
३	६	७	५	३	२	२३
२	८	८	६	४	३	२९
१	१०	११	८	५	४	३८

१. Samuelson, P. A.—Economics (1948) P. 448.

अन्तिम पंक्ति बाज़ार की कुल मांग दिखाती है। पहली तथा अंतिम पंक्तियाँ मिला कर बाज़ार की मांग तालिका बनाई जाती है। बाज़ार की मांग तालिका बनाने में यह मान लिया जाता है कि मांग की दशाएँ अर्थात् उपभोक्ता का स्वभाव, आय तथा अन्य वस्तुओं की कीमतें नहीं बदलतीं। परिवर्तन केवल उस विशिष्ट वस्तु की कीमत में होता है। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। फिर भी मांग-तालिका अधिकतर वास्तविक होती है।

बाज़ार की मांग-तालिका व्यक्ति की माँग-तालिका से अधिक व्यावहारिक उपयोगिता रखती है। सरकार तथा व्यापारी केवल बाज़ार तालिका से सम्बन्ध रखते हैं। यह इतनी परिवर्तनशील तथा अस्थिर नहीं जितनी कि व्यक्ति तालिका होती है।

ऊपर की भांति एक काल्पनिक तालिका का खींचना तो बहुत सरल है, परन्तु एक मनुष्य की मांग-तालिका तैयार करना एक कठिन समस्या है। बाज़ार के लिये बनाना तो असम्भव-सा ही है। मनुष्यों के लिये यह कहना सरल नही कि वह भिन्न-भिन्न मूल्यों पर कितना खरीदेंगे। उन्होंने प्रायः उसके बारे में सोचा ही नहीं और उनसे उनके बारे में निश्चित तथा ठोस विचार रखने की आशा ही नही की जा सकती। अधिक-से-अधिक यह उनका अनुमान ही अनुमान है।

बाज़ार की मांग तालिका व्यक्तिगत मांग तालिका से अधिक सतत (निरन्तर) तथा बराबर होती है। कोई एक व्यक्ति अनिश्चित ढंग से व्यवहार कर सकता है। परन्तु वे सब अनिश्चित ढंग समुदाय के निरूपण में समाप्त हो जाते हैं। इसलिये बाजार की मांग तालिका इतनी अव्यवस्थित नहीं होती जितनी कि एक विशेष व्यक्ति की होती है।

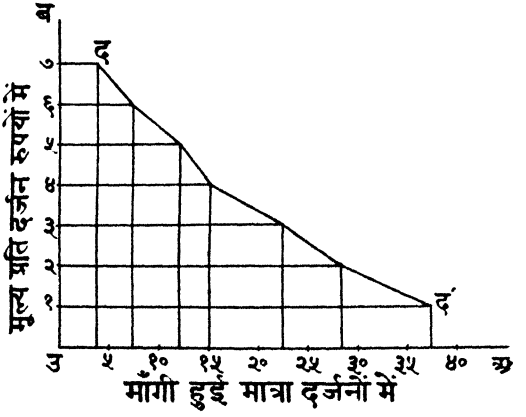
यह बड़ी सावधानी से समझ लेना चाहिये कि बाजार की मांग तालिका केवल सभी व्यक्तियों की मांग तालिका का जोड़ नहीं होती। हम यह जानते हैं कि किसी एक व्यक्ति की मांग बाजार के रुख को प्रभावित नहीं कर सकती बल्कि स्वयं उससे प्रभावित होती है। वे एक दूसरे का प्रतिकार करते है। अतएव बाजार तालिका व्यक्तियों की तालिकाओं के जोड़ के बजाय बाजार के स्वभाव को बतलाती है।

समय का प्रभाव—बाजार की तथा व्यक्तिगत मांग तालिका पर समय का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह दो प्रकार से होता है : (१) यदि उपभोक्ता को बदली हुई कीमत के साथ अपनी मांग को व्यवस्थित करने का समय मिल जाता है, तो उसकी मांग अधिक लोचदार हो जाएगी। अल्प-समय में सम्भव है कि मांग परिवर्तित कीमत से प्रभावित न हो परन्तु दीर्घकाल में ऐसा हो जाएगा। (२) विचार के लिये समय जितना ही अधिक होगा उतना ही उसपर अनुमान अथवा भावी कीमत का प्रभाव पड़ेगा। टिकाऊ वस्तुओं में ऐसा मुख्यतया होता है। यदि कीमत के गिरने की संभावना है, तो वस्तुओं का खरीदना स्थगित कर दिया जाएगा तथा यदि कीमतों के बढ़ने की संभावना है तो वस्तुएँ अधिक मात्रा में खरीदी जायेंगी।

३. मांग - तालिका की उपयोगिता (Utility of Demand Schedule)—यद्यपि मांग की ठीक तालिका तैयार करना बहुत कठिन ह, तो भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि मांग तालिका का कोई उद्देश्य ही नहीं है। अपूर्ण तथा अनुमान होते हुए भी इसकी अधिक व्यावहारिक उपयोगिता है। हम मात्राओं की वह पूर्ण सूची जिसको हम भिन्न-भिन्न मूल्यों पर खरीदेंगे, देने में असमर्थ हो सकते हैं, परन्तु हम निश्चित विचार रखते है कि यदि मूल्य कुछ अधिक हो गया या कम, तो हमारी प्रतिक्रिया क्या होगी। प्रचलित मूल्य की कुछ सीमाओं में हम सदैव यह भली भांति विचार कर सकते है कि मूल्य में परिवर्तन होने पर हम कितना खरीदेंगे और वास्तव में यही तो महत्व रखता है। उदाहरणार्थ यह सोचना बेकार है कि यदि दूध का मूल्य १ पैसा प्रति सेर अथवा ५) सेर हो तो मैं कितना खरीदूंगा। यह प्रश्न कदाचित् किसी दूसरे संसार से संबद्ध है जो हमारे संसार से भिन्न है। इस रूप में मांग तालिका का महत्व अधिक बढ़ जाता है। अर्थमंत्री को यह कूतना पड़ता है कि यदि कर लगाने से किसी वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है, तो मनुष्य कहां तक अपनी खरीदारी कम कर देंगे। बिना ऐसी गणना के आय-व्ययक का तैयार करना असम्भव होगा। एकाधिकारी को भी अधिकाधिक अपनी आय की खोज में उपभोक्ताओं की प्रतिक्रियाओं पर जो कि मूल्यों के साथ परिवर्तित होती है, विचार करना ही होगा।

४. मांग-वक्र (Demand Curve)—मांग की तालिका का एक वक्र में भी वर्णन किया जा सकता है जिसको मांग-वक्र कहते है। सेबों के बाजार मांग का वक्र नीचे दिया गया है :—

मांगी हुई मात्रायें (दर्जनो में) उ अ पर मापी गई है तथा मूल्य (रुपयों में) उ ब पर। यदि उ अ रेखा के मात्रा स्पष्ट करने वाले बिन्दुओं तथा उ ब के मूल्य स्पष्ट करनेवाले बिन्दुओं से लम्ब रेखायें खीची जायं तो इन लम्ब रेखाओं के मिलने के बिन्दु एक वक्र रेखा पर होंगे। मांग तालिका से प्रस्तुत की हुई दशाओं में सेबों की मांग का वक्र इससे प्रतीत होगा। वक्र बायें से दाहिने को उपयोगिता-वक्र की भांति तिरछा है और यह



चित्र नं. १२

दिखाता है कि जब मूल्य गिरता है तो मांग की मात्रा बढ़ती है और विपरीत रूप से जब मूल्य बढ़ता है तो मांग की मात्रा घटती है। मांग वक्र एक स्थिर स्थिति प्रस्तुत करता है। यह किसी समय के दौरान में परिवर्तन नही बतला सकता। आप किसी एक दी हुई कीमत पर मांग मालूम कर सकते है।

ऊपर खींची हुई मांग-वक्र की कुछ कल्पनाओं को समझ लेना आवश्यक है:—

(१) यह कल्पना की गई है कि उपभोक्ता के स्वभाव में किसी भी फैशन अथवा मौसम में कोई परिवर्तन नही होता।

(२) यह भी कल्पना की गई है कि उपभोक्ता की आय में कोई परिवर्तन नही होता।

(३) यह भी मान लिया गया है कि उन वस्तुओं की कीमतों में, जिनमें उपभोक्ता का स्वार्थ होता है, कोई परिवर्तन नही होता।

(४) कीमत-मांग के सम्बन्ध में अविच्छिन्नता अथवा अति सूक्ष्म अन्तर मान लिया गया है, यद्यपि कभी-कभी मांग एकदम से बदल सकती है जब कि कीमत में बहुत थोड़ा-सा परिवर्तन होता है। मांग वक्र इन 'अविरल' अथवा अलग परिवर्तनों को स्वीकार नही करता।

(५) यह कल्पना की गई है कि मांग अति सूक्ष्म इकाइयों में बदली जा सकती है। परन्तु यह वास्तविक कल्पना नही है। अविभाज्य वस्तुओं की मांग-वक्र बराबर तथा सतत (निरन्तर) नही होगी। वह अविरल होगी।

(६) यह भी मान लिया गया है कि कोई क्रेता कीमत को प्रभावित करने की स्थिति में नहीं होता। उसको कीमत को स्थिर मान कर अपनी खरीदारी को व्यवस्थित करना पड़ेगा। दूसरे शब्दो में, हम पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना करते है।

५. मांग-वक्र नीचे क्यों झुकता है ? (Why does Demand Curve slope downwards ?)—साधारणतया मांग का वक्र नीचे झुकता है। यह उपयोगिता ह्रास नियम के अनुकूल है। हमारे बहुत-से क्रय इस नियम से निश्चित होते हैं। जब मूल्य गिरता है तो नये खरीदने वाले बाजार में खरीदना प्रारंभ कर देते है। और संभव है पुराने खरीदार अधिक खरीदें। केवल ऐसे ही झुकाव वाले वक्र में हम को मूल्य की छोटी रेखाये मात्रा की कक्ष रेखा लम्बे टुकड़ों को काटती हुई मिलती है। यदि उपयोगिता ह्रास नियम सत्य है और यह साधारणतः सत्य ही उतरता है, तो वक्र रेखा को नीचे की ओर झुकना चाहिये। क्योंकि तभी गिरते हुए मूल्यों के साथ बढ़ती हुई मांग की घटना प्रस्तुत की जा सकती है।

इस बात के कि कीमत के गिरने पर लोग क्यों अधिक खरीदते है तीन मुख्य कारण है :—

(१) द्रव्य की इकाई आगे को बढ़ जाती है जिससे एक व्यक्ति अधिक खरीद सकता है।

(२) जब कोई वस्तु सस्ती हो जाती है तो लोगों का उसको अधिक खरीदना स्वाभाविक होता है।

(३) जब कोई वस्तु सस्ती हो जाती है तो उसका प्रयोग दूसरी वस्तुओं के स्थान में किया जा सकता है। अतः उस वस्तु के पुराने क्रेता पहले से अधिक खरीदते हैं और उसके नये क्रेता बन जाते हैं। इन सब का प्रभाव यह होता है कि जब कीमत गिरती है तो मांग बढ़ जाती है।

परन्तु हमको थोड़ा गहराई में जाकर यह मालूम करना चाहिये कि अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर **जब मूल्य गिरता है तो मांग क्यों बढ़ती है।**[1] बेन्हम ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है—प्रत्येक उपभोक्ता अपनी सीमित द्रव्य की मात्रा से अधिक-से-अधिक संतुष्टि प्राप्त करना चाहता है। अपने अधिमान माप को जानते हुए वह प्रतिस्थापन नियम तथा सम सीमांत प्रत्याय नियम के अनुसार अपने व्यय की इस प्रकार व्यवस्था करेगा कि अंतिम आने से जो वह भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर व्यय करता है बराबर सीमांत उपयोगिता प्राप्त हो। वह इस व्यवस्था को चालू रखेगा यदि मूल्य समान रहते हैं। परन्तु यदि उस वस्तु का मूल्य गिरता है जो कि उसके वस्तुओं और सेवाओं के चुनाव में है, तो उसको अपने व्यय मे उसके अनुरूप परिवर्तन करना पड़ेगा। मूल्य के गिरने से सीमांत उपयोगिता तथा मूल्य के बीच भिन्नता उत्पन्न हो जाती है जिसे दूर करना होगा। यह वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने से हो सकता है ताकि उसकी सीमांत उपयोगिता मूल्य के बराबर हो जाय। यही कारण है कि मनुष्य मूल्य गिरने पर अधिक खरीदते हैं।

६. अलौकिक मांग वक्र (Exceptional Demand Curves)—कभी-कभी मांग-वक्र नीचे झुकने की अपेक्षा ऊपर को उठेगा। दूसरे शब्दों में, मूल्य बढ़ने पर कभी-कभी लोग अधिक भी खरीदेंगे। यह केवल ऊपर बढ़ते हुए वक्र से प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी घटनायें बहुत कम होती हैं परन्तु हम कुछ का अनुमान कर सकते हैं। इनका सबसे पहले सर राबर्ट ग्रिफेन (Sir Robert Griffen) द्वारा अनुसन्धान किया गया था। उनके अनुसार मांग कीमत के बढ़ने से दृढ़ होती है तथा उसके गिरने से कमज़ोर होती है।

बेन्हम ने चार स्थितियां बतलाई हैं:[2] (१) यदि अधिक कमी की संभावना है तो मनुष्य भयभीत होकर बढ़ते हुए मूल्य पर भी अधिक खरीदेगा। (२) यदि किसी वस्तु के प्रयोग करने से उसकी सपत्ति का प्रदर्शन होता है तो धनी मनुष्य इस कारण मूल्य

1. Benham—Economics, 1943, p-p. 42-43.
2. Benham—Economics, 1943, P. 47—48.

बढ़ने पर भी अधिक खरीदेंगे ताकि वे कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों में गिने जा सकें। (३) कभी-कभी कुछ उपभोक्ता अज्ञान के कारण बढ़े हुए मूल्य पर अधिक मात्रा में खरीदते हैं। (४) यदि एक जीवन-रक्षक पदार्थ का मूल्य बढ़ जाता है तो उपभोक्ता को अपना सारा व्यय फिर से व्यवस्थित करना पड़ेगा। वह दूसरे खाने की वस्तुओं पर अपना व्यय कम करके उसको पूरा करने के लिए उस विशेष खाद्य पदार्थ पर अधिक व्यय करेगा। अतएव उसका मूल्य ऊंचा होने पर भी अधिक मात्रा खरीदी जायगी।

७. मांग का नियम (The Law of Demand)—अब हम इस अवस्था में है कि मांग का नियम प्रस्तुत कर सकें। यह केवल मांग की मात्रा तथा मूल्य के सम्बन्ध को बताता है। यह बताता है कि **मांग मूल्य के विपरीत परिवर्तित होती है पर यह आवश्यक नहीं है कि वह उसी अनुपात से बदले। यदि मूल्य गिरता है तो मांग बढ़ेगी तथा प्रतिक्रम भी।** इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं **"किसी वस्तु अथवा सेवा के मूल्य में वृद्धि होने से मांग में कमी हो जाती है और मूल्य में कमी होने से मांग में वृद्धि हो जाती है बशर्ते मांग की स्थितियां एक-सी रहें"**। या "किसी निश्चित समय में किसी वस्तु अथवा सेवा की मांग प्रचलित मूल्य पर ऊंचे मूल्य की अपेक्षा अधिक है और नीचे मूल्य की अपेक्षा कम है।"[१]

"किसी निश्चित समय में" अथवा यदि "मांग की स्थितियां एक-सी रहे" जैसे योग्य वाक्य बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि मांग पर बहुत-सी उन बातों का प्रभाव पड़ता है जिनका अभी विवेचन किया जायेगा और इनमें से कोई भी प्रभाव नियम को निष्फल बना सकता है।

यह भी कहा जा सकता है कि परिवर्तन एक अनुपात में नहीं होता। यदि मूल्य १०% घटता है, तो यह आवश्यक नही कि मांग ठीक १०% ही प्रतिशत बढ़ेगी। हम केवल यह कह सकते है कि जब मूल्य घटता है तो मांग बढ़ जाएगी लेकिन यह नही कह सकते कि कितनी बढ़ जाएगी। यह मांग की लोच पर निर्भर है जिसका कि हम अभी विवेचन करेंगे।

जब किसी वस्तु की कीमत गिर जाती है तो उस वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जाएगी और वह दूसरी वस्तुओं की जगह प्रयोग में लाई जाएगी। इसको हिक्स (Hicks) कीमत के परिवर्तन का "स्थानापन्न प्रभाव" कहते है। मार्शल मांग के केवल इसी रूप का आरोपण करते है परन्तु हिक्स एक और प्रभाव को बतलाते है जिसे वे 'आय प्रभाव' कहते हैं। जब कीमत गिर जाती है और वस्तुएं सस्ती हो जाती है तो उपभोक्ताओं के पास अन्य वस्तुएं खरीदने के लिये पहले से अधिक द्रव्य बच रहता है। उसकी वास्तविक आय बढ़ जाती है।

नियम की सीमाएं—फिर भी मांग के नियम के कुछ अपवाद है। दूसरे शब्दों में ऐसी

१. Thomas, S. E.—Elements of Economics p-p. 52-53.

भी स्थितियां हैं जब कि कीमत के बढ़ने-घटने से मांग नहीं घटती-बढ़ती। यह स्थितियां अलौकिक मांग वक्रों द्वारा बतलाई गई हैं। यह नियम तभी तक सत्य होगा जब तक कि मांग की स्थिति उसी प्रकार रहती है। नियम के सत्य होने के लिये निम्नलिखित स्थितियों का होना आवश्यक है :—

(१) उपभोक्ता का स्वभाव न बदलना चाहिये।

(२) उपभोक्ता की आय वही होनी चाहिये।

(३) दूसरी वस्तुओं की कीमतें न बदलनी चाहिये।

(४) कोई नई स्थानापन्न वस्तु न होनी चाहिये।

(५) कीमत में कोई परिवर्तन की आशा न होनी चाहिये।

(६) वह भेद का प्रतिपादन करनेवाली वस्तु न होनी चाहिये।

८. मांग की पद्धतियां (Systems of Demand)—किसी वस्तु को एक व्यक्ति पृथक् रूप में नहीं चाहता। यह एक पद्धति के मांग की भांति मानी जाती है। एक विद्यार्थी को एक फाउन्टेन पैन की आवश्यकता होती है। पर वह केवल फाउन्टेन पैन ही नहीं चाहता। उसको कागज़, किताबें, पेंसिल, कुर्सी मेज़ इत्यादि भी चाहिये। यह सब वस्तुएं मांग की एक पद्धति बनाती हैं। **हम वस्तुओं की मांग समूहों में करते हैं।**

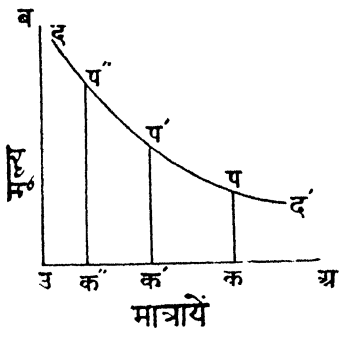
एक व्यक्ति की मांग की पद्धति उसके जीवन-निर्वाह-स्तर से निर्धारित होती है। यदि वह निर्धन है तो इसकी मांग की पद्धति में अधिकतर जीवन-रक्षक अनिवार्यताएं होंगी। दूसरी ओर यदि वह उच्च श्रेणी का मनुष्य है तो उसकी मांग-पद्धति में अधिक सुविधाएं तथा विलासिताएं भी होंगी। यह जीवन-निर्वाह-स्तर है जिस पर मांग की पद्धति निर्भर है। परन्तु जीवन-निर्वाह-स्तर स्वयं रुचि, चैतन्यता, व्यक्ति का जातीय स्वभाव, उसकी शिक्षा तथा विशेषकर उसकी आय जैसे अनेक कारणों से प्रभावित होता है।

९. मांग में परिवर्तन (Changes in Demand)—मांग का नियम मांग तथा मूल्य में संबंध बताता है। यदि मूल्य बढ़ता है तो मांग घटती है तथा **प्रतिक्रम भी।** परन्तु जब मूल्य घटता और बढ़ता है तो मांग के साथ प्रयोग किये हुए वृद्धि और कमी (Increase and Decrease) शब्द पूर्णतया ठीक नही समझे जाते। इसे मांग का **बढ़ाव और घटाव** (Extension and Contraction) कहना चाहिये। हमको एक ओर बढाव तथा वृद्धि और दूसरी ओर घटाव तथा कमी के अन्तर को समझना चाहिये।

हम मांग के बढ़ाव तथा घटाव शब्दों का प्रयोग तभी करते हैं जबकि केवल मूल्य में परिवर्तन होने पर मांग में परिवर्तन होता है। उपभोक्ता निष्क्रिय-सा है। वह विशेषकर मूल्य से ही प्रभावित होता है। उसकी मांग तालिका स्थायी है और उसके अनुरूप एक वक्र भी है और जैसा आगे के चित्र में दिखाया गया है, वह केवल उसी वक्र के ऊपर-नीचे चलता है।

उपभोक्ता द द' वक्र रेखा पर चलता है। यह उसका वह रास्ता है जो उसकी अधि-

मान माप से बनता है। प क मूल्य पर वह उ क मात्रा खरीदेगा। यदि मूल्य प' क" हो जाता है ता वह उ क' मात्रा क्रय करेगा तथा यदि वह प" क" तक बढ़ जाता है तो उसकी मांग घट कर उ क" हो जाती है। यदि मूल्य घटते हैं तो उपभोक्ता पीछे हटने लगता है। उसने अपने स्वयं अधिमान बना रखे है और अब वह पूर्णतया मूल्य के बस में है। यह मांग का बढ़ाव या घटाव कहलाता है।



चित्र नं. १३

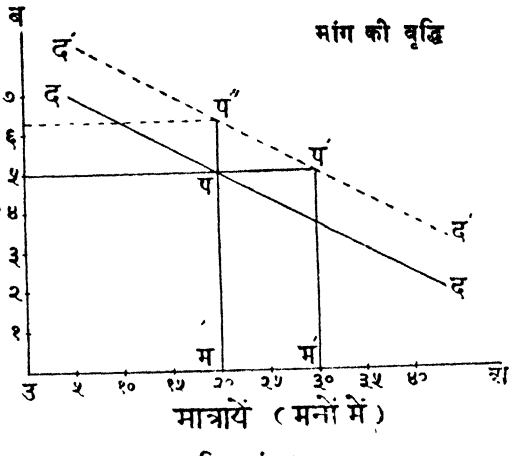
अब मांग की वृद्धि को लीजिये। यहां उपभोक्ता अपनी मांग को स्थिर कर लेता है, वह मूल्य से पृथक् अपनी मांग को बढाता या घटाता है। वह सक्रिय भाग लेता है। पहले की भाति मूल्य का दास होने की अपेक्षा उसकी घरेलू आवश्यकताएं तथा स्थितियां उसको मार्ग दिखाती है। एक मनुष्य की आय अथवा उसकी पारिवारिक आवश्यकताओं में वृद्धि हो सकती है। अतएव एक नवीन अधिमान माप का होना आवश्यक हो जायगा। इस स्थिति में उपभोक्ता पुराने वक्र पर नही, वरन् एक नवीन वक्र पर चलेगा और उस पर मूल्य का कोई प्रभाव न पड़ेगा।

उदाहरणार्थ जब दूध का मूल्य ६ आने सेर से घट कर पाच आने सेर हो जाता है और उपभोक्ता चार सेर के बजाय पाच सेर रोज खरीदने लगता है तो इसको माग का बढ़ाव (Extension) कहेगे। परन्तु यदि वह मूल्य वही रहने पर भी ४ सेर की अपेक्षा ५ सेर खरीदने को तैयार है अथवा वही पुरानी मात्रा मूल्य के बढने पर भी खरीदता है, तो वह मांग की वृद्धि कहलाएगी। इन दोनों स्थितियो मे वह पहले से अधिक खर्च करने को तैयार है परन्तु माग को बढ़ाने से खर्चे मे कोई वृद्धि नही हो सकती क्योंकि वह कम मूल्य पर अधिक मात्रा खरीदता है। सारांश यह है कि **मांग के बढ़ाव से अभिप्राय कम मूल्य पर अधिक मात्रा से है और मांग की वृद्धि से अभिप्राय या तो उसी मूल्य पर अधिक मात्रा से है या अधिक मूल्य पर उसी मात्रा से। इसी भाँति मांग के घटाव से अभिप्राय अधिक मूल्य पर कम मात्रा से है और मांग की कमी से अभिप्राय या तो उसी मूल्य पर कम मात्रा से अथवा कम मूल्य पर उसी मात्रा से है।** वे आगे के चित्र द्वारा प्रस्तुत किये जा सकते है।

चित्र नं० १४ मांग की वृद्धि प्रस्तुत करता है। उ अ कक्ष रेखा पर मनों में मात्रायें और उ ब पर मूल्य प्रति मन रुपयों में नापे गए हैं। मांग में परिवर्तन होने से पहले ५) प्रति मन पर (प म) मांग २० मन (उ म) धान की थी। अब मान लीजिए कि वही २० मन बढ़े हुए मूल्य ६$\frac{2}{3}$ प्रतिमन (प" म) पर मांगे गए हैं अथवा ५) के मूल्य पर (प म=प' म')

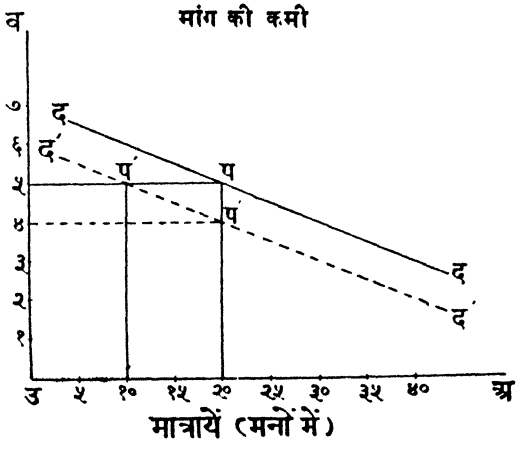
मांग ३० मन (उ म′) है । इस भांति बिन्दु प″ तथा प′ एक नए मांग वक्र (द′ द′) पर है जो मांग की वृद्धि प्रकट करते हैं।

चित्र नं० १३ मांग में कमी की व्याख्या करता है। परिवर्तन से पहले मांग ५) (म प) पर २० (उ म″) मन है। यदि मांग में परिवर्तन होने पर ५) (प म=प′ प′) के उसी मूल्य पर मांग १० (उ प′) मन हो जाय अथवा ४) (प″ म) प्रतिमन पर मांग २० मन (=उ म) हो जाय तो बिन्दु प′ प″ एक मांग के नए वक्र द′ द′ पर होंगे जो मांग की कमी प्रकट करेंगे।



चित्र नं. १४

१०. मांग में क्यों परिवर्तन होता है (Why Demand Changes)—



चित्र नं. १५

ऊपर के परिच्छेद से यह स्पष्ट है कि मांग में परिवर्तन से हमारा अभिप्राय केवल उसके बढ़ाव अथवा घटाव से नहीं है। दूसरी ओर हमारा अभिप्राय यह है कि मांग की परिस्थितियों में ही परिवर्तन होता है। उपभोक्ता के अधिमान माप में परिवर्तन है। ऐसा परिवर्तन मूल्य के बदलने से नही होता। दूसरी ओर ऐसे बहुत से कारण हैं जोकि मांग में परिवर्तन लाते हैं। वे उपभोक्ता के अधिमान माप पर प्रभाव डालते हैं और उसे अपनी मांग तालिका बदलने के लिए विवश करते हैं।

कुछ निम्नलिखित ऐसे कारण हैं जो मांग में परिवर्तन करते हैं:—

(१) **रुचि और फैशन में परिवर्तन**—चाय पीने के स्वभाव म वद्धि ने दूध की

मांग को घटा दिया है। पहनावे में परिवर्तन होने से भिन्न प्रकार के कपड़ों की मांग में परिवर्तन हो जाता है। महिलाओं के लम्बे या छोटे बाल रखने के फैशन से बालों की चिमटियां, बालों के जाल इत्यादि की मांग में परिवर्तन हो जाता है।

(२) **जलवायु तथा मौसम में परिवर्तन**—यह स्पष्ट है कि मांग में ऋतु के साथ-साथ परिवर्तन होना चाहिये। जाड़े में गरम कपड़ों, कुछ प्रकार की बलवर्धक औषधियों तथा कोयला और लकड़ी की मांग अधिक हो जाती है। गर्मियों में बिजली के पंखों, ठंडे शर्बतों तथा बरफ की मांग हो जाती है।

(३) **जनसंख्या में परिवर्तन**—आंग्ल औपनिवेशिक राज्य तथा अमरीका भारतवासियों को अपने देशों में स्वतंत्र प्रवेश करने की स्वीकृति देते है तो यह आशा है कि वहां की ओर इस देश से अगणित व्यक्ति गतिशील हो जायेंगे। उन राज्यों में जिनमें दूसरे देशों में बसने वालों की बाढ़ आती है, नई मांगें उपस्थित हो जाती हैं। यदि भारतवासी खाने और पहनने में रहन-सहन की रीतियों पर स्थिर रहें तो ऐसी वस्तुओं की मांग हो जायेगी।

केवल उपभोग करने वाली जनसंख्या के आकार में परिवर्तन ही नही वरन् जनसंख्या की बनावट के अन्तर्गत परिवर्तन भी कुछ वस्तुओं और सेवाओं की मांग पर प्रभाव डालता है। भारतवर्ष जैसे जन-संख्या में वृद्धि होने वाले देश में जहां कि सैकड़ों बच्चें बड़े-बड़े शहरों में प्रतिदिन पैदा होते है वहां खिलौनों, दूध पिलाने वाली बोतलों, निपिल, बच्चों की गाड़ियों इत्यादि की मांग स्वाभाविक ही होगी।

(४) **द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन**—जहां अत्यधिक मुद्रा-प्रसार है, जैसा कि इस समय भारतवर्ष में है, अतिरिक्त द्रव्य समुदाय की क्रय-शक्ति को बढ़ा देगा और मूल्य बढ़ जायगा। परन्तु मूल्यों में वृद्धि प्रत्येक वस्तु में एक-सी नहीं होगी। मनुष्यों को अपने व्यय को फिर से क्रय में लाना पड़ेगा। कुछ वस्तुओं की मांग घट जायगी और कुछ की बढ़ जायगी। उदाहरणार्थ शक्कर की कमी से देशी शक्कर और गुड़ की मांग बढ़ गई और बिजली की पूर्ति पर वंधेज से मिट्टी के तेल के चिरागों की मांग बढ़ गई।

(५) **वास्तविक आय में परिवर्तन**—यहां ऊपर दी हुई घटना के विपरीत अर्थात् मूल्य के गिरने की घटना है। यहाँ द्रव्य-आय अर्थात् मुद्रा की वह मात्रा जो एक मनुष्य पैदा करता है तथा वास्तविक आय जिसका अभिप्राय पदार्थ और सेवाओं की उस मात्रा से है जो वह द्रव्य की मात्रा से खरीद सकता है अन्तर किया जाता है। औद्योगिक उन्नति के समय सस्ते पदार्थों की उत्पत्ति बढ़ जाती है। मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है, या यों कहिये कि वास्तविक आय बढ़ जाती है। पदार्थों की वही मात्रा खरीदने के लिये कम द्रव्य की आवश्यकता होगी। और इस भांति जो द्रव्य बचेगा उससे दूसरी वस्तुएं खरीदी जायेंगी। मांग तालिकायें फिर से बनाना होंगी। कुछ पदार्थों को हटा दिया जा सकता है और पूर्णतया नये पदार्थ खरीदे जा सकते हैं। कुछ पदार्थों की मांग घट जायगी और कुछ की बढ़ जायगी।

(६) **धन के वितरण में परिवर्तन**—यदि राजस्व के यंत्र से, उदाहरणार्थ धनियों पर कर लगा कर तथा निर्धनों पर द्रव्य व्यय करके सरकार धन का फिर से वितरण करती है और व्यय-शक्ति को परिवर्तित कर देती है, तो मांग पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। लाभ पाने वालों के मांगे हुए पदार्थों की मांग अधिक हो जायेगी तथा वह पदार्थ जिसका लोग पहले उपभोग करते थे जिनकी क्रय-शक्ति कम कर दी गई है पूर्णतया छिप जायेंगे।

(७) **संचय में परिवर्तन**—पदार्थों की मांग उपभोक्ता की संचय करने की शक्ति (Propensity to Save) में परिवर्तन होने से प्रभावित होती है। अधिक संचय होने से पदार्थों के खरीदने के लिये कम द्रव्य रह जाता है।

(८) **सम्पत्ति अधिमानों में परिवर्तन**:—यह पूर्णतया स्पष्ट है कि यदि एक उपभोक्ता की द्रव्यताधिमान अधिक बढ़ जाती है, तो उसके पदार्थों की मांग में परिवर्तन हो जायगा।

(९) **एक-दूसरे से सम्बद्ध मूल्य वाले पदार्थ**:—चाय तथा काफी जैसे प्रतिस्थापन वस्तुओं में एक के उपभोग में वृद्धि से दूसरे की मांग में कमी हो जायगी। घोड़ा और गाड़ी जैसे पूरक वस्तुओं में एक की मांग में वृद्धि दूसरे की मांग को बढ़ा देगी।

गेहूं और भूसा जैसी संयुक्त पूर्ति में एक की मांग में वृद्धि से दूसरे का मूल्य कम हो जायेगा और इस प्रकार उसकी मांग भी कुछ समय पश्चात् बढ़ जायेगी।

संयुक्त मांग में मकान जैसी अन्तिम वस्तु की मांग की वृद्धि से उसके बनाने की आवश्यक वस्तुओं की मांग भी बढ़ जायेगी।

संग्रथित पूर्ति—उदाहरणार्थ बिजली, गैस अथवा मिट्टी के तेल से प्राप्त किये हुए प्रकाश में से किसी एक के सस्ते होने पर दूसरों की माग घट जायेगी।

संग्रथित मांग, उदाहरणार्थ, पीने, धोने, नहाने इत्यादि के लिये जल के प्रयोग में से किसी एक के बढ़ाव अथवा घटाव से जल की मांग में यथायोग्य परिवर्तन हो जायेगा।

अस्तु, एक वस्तु की मांग केवल उसके मूल्य पर ही नहीं वरन् दूसरी बातों पर भी निर्भर है।

(१०) **व्यवसाय की व्यवस्थायें**:—व्यवसाय की उन्नति के समय प्रत्येक वस्तु की मांग मूल्यों में वृद्धि होते हुए भी अधिक होती है। दूसरी ओर मंदी के समय में मांग में सामान्य शिथिलता होती है।

११. मांग की लोच (Elasticity of Demand)–हमने मांग के नियम का अध्ययन किया है और यह देखा है कि मांग और मूल्य में विपरीत सम्बन्ध है। मूल्य में परिवर्तन (घटाव या बढ़ाव) से मांग में भी परिवर्तन (विस्तार, बढ़ाव या संकोच, घटाव) हो जाता है। मांग का यह गुण जिससे मूल्य में परिवर्तन होने से यह बढ़ती-घटती है मांग की लोच कही जाती है। "लोच शब्द मांग और मूल्य के बीच परस्पर सम्बन्ध प्रकट करता है।" यह वह दर है जिस पर मूल्य में परिवर्तन होने से मांग की मात्रा बदलती है। मांग की

लोच यह संकेत करती है कि मूल्य के परिवर्तन में मांग किस हद तक उत्तरदायी है।

परन्तु मांग में परिवर्तन सदैव मूल्य के परिवर्तन के अनुपात में नहीं होता। मूल्य में थोड़े परिवर्तन से मांग में अधिक परिवर्तन हो सकता है। इस स्थिति में हम कहेंगे कि मांग **लोचदार** या सचेत अथवा उत्तरदायी है। दूसरी ओर यदि मूल्य में अधिक परिवर्तन होने से भी मांग में केवल थोड़ा परिवर्तन होता है तो उसको ***बेलोचदार*** मांग कहते है। उदाहरणार्थ यदि नमक के मूल्य में अधिक परिवर्तन भी हो जाता है तो भी हम उसकी लगभग वही मात्रा खरीदते रहते है। ऐसी माग बेलोचदार है। परन्तु यदि रेडियो का मूल्य गिर जाता है, तो बहुत से व्यक्ति जो पहले उसको नही खरीद सकते थे, अब उसको खरीदने के लिये प्रोत्साहित हो जायेंग। इस दशा में मांग बढ़ जायेगी; अथवा विस्तृत हो जायेगी अर्थात् वह लोचदार मांग होगी। मार्शल के शब्दों में "किसी बाजार में मांग की लोच अथवा (नम्पना) वैसा ही अधिक अथवा कम होगी जैसे कि मूल्य के विशिष्ट घटाव से वस्तुओं के मांग की मात्रा कम अथवा अधिक बढ़ती है, और मूल्य के एक विशिष्ट बढ़ाव से कम अथवा अधिक घटती है।"

तो भी शायद ही कोई वस्तुएँ हों जिनकी मांग बिल्कुल बेलोचदार हो। मांग मूल्य के परिवर्तनों से पूर्णतया अचेतन नही हो सकती। बेलोचदार कहने की अपेक्षा हमको कम लोचदार कहना चाहिए। लोच केवल दशा की मात्रा ही है।

मांग के सम्बन्ध में लोच शब्द से अभिप्राय उस सुविधा (ease) से है जिससे कि मनुष्य मूल्य में कमी होने से अधिक उपभोग करने को अथवा मूल्य में वृद्धि होने पर उपभोग कम कर देने को प्रोत्साहित होते है।

लोच ऐसी अवस्था मे हो सकती है, जब कि मूल्य गिरने पर वर्तमान खरीदार अधिक खरीदने लगें या नये खरीदार खरीदना आरम्भ कर दें। साधारणतः सम्भाव्य खरीदार ही मांग को लोचदार बनाते है। उदाहरणार्थ जब गेहूं का मूल्य गिर जाता है तो वर्तमान खरीदारों की अधिक खरीद से नही वरन् नये खरीदारों की बढ़ी हुई खरीद के कारण ही गेहूं की अधिक बिक्री होती है।

१२. आय की लोच तथा कीमत की लोच (Income Elasticity and Price Elasticity)—मांग की कीमत-लोच तथा मांग की आय-लोच में बड़ी सावधानी के साथ भेद करना चाहिये। कीमत-लोच कीमत के परिवर्तन पर मांग के उत्तरदायित्व तथा ग्राही गुण को नापता है; जब कि आय-लोच ऐसे उत्तरदायित्व को क्रेताओं के आय के परिवर्तन पर नापता है। पहला 'व्यय-प्रभाव' का आरोपण करता है और दूसरा 'आय-प्रभाव' का। विभिन्न वस्तुओं की मांग के नाप में दोनों प्रकार के लोच बड़ी सहायता देते है। यह कर के भार को नापने में भी बड़ी सहायता देते हैं।

१३. मांग की लोच का उपयोगिता ह्रास नियम से सम्बन्ध (Relation of Elasticity with the Law of Diminishing Utility) मांग की लोच का सिद्धान्त उपयोगिता ह्रास नियम से सम्बद्ध है। सीमान्त उपयोगिता पूर्ति के अनुसार बदलती है। यह गिरती है जब पूर्ति बढ़ती है और बढ़ती है जब कि पूर्ति घटती है। परन्तु प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता में कमी एक-सी नहीं होती। नमक जैसी कुछ वस्तुओं में हम तुरन्त ही संतुष्ट हो जाते हैं और सीमान्त उपयोगिता तुरन्त गिर जाती है। इन स्थितियों में मांग बेलोचदार होती है और मूल्य में कोई भी कमी हमको अधिक क्रय करने को प्रोत्साहित नही कर सकती। कुछ दूसरी स्थितियों में सीमान्त उपयोगिता धीरे-धीरे गिरती है, उदाहरणार्थ विलासितायें। ऐसी वस्तुओं के मूल्य में कमी से मांग अवश्य बढ़ेगी। अतएव मांग लोचदार होगी। संक्षेप में, **मांग बेलोचदार होती है जब कि सीमान्त उपयोगिता शीघ्रता से गिरती है और लोचदार होती है जब कि वह धीरे-धीरे गिरती है।**

१४. मांग की लोच तथा उपभोक्ता की बचत (Elasticity of Demand and Consumer's Surplus)—मांग की प्रकृति का प्रभाव उपभोक्ता की बचत की मात्रा पर भी पड़ता है। अनिवार्यताओं तथा प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताओ की मांग बेलोचदार होती है। उनके मूल्य बाजार में बहुत कम होते हैं। परन्तु उपभोक्ता उनके लिये जो कुछ वास्तव मे भुगतान करते हैं उससे अत्यधिक देने को तैयार रहते हैं। जो कुछ वे देने को तैयार है और जो कुछ वे वास्तव में देते है उनका अन्तर उपभोक्ता की बचत बताता है। अतएव हम कह सकते हैं कि **जब मांग बेलोचदार है तो उपभोक्ता की बचत अधिक होती है और जब लोचदार तो कम।**

१५. मांग की लोच कैसे निर्धारित होती है (What determines Elasticity of Demand)—पदार्थों का वर्गीकरण उनकी मांग की प्रकृति के अनुसार तथा यह निर्धारित करने के लिये दृढ़ नियम बनाना कि मांग लोचदार या बेलोचदार है संभव नहीं है। परन्तु हम इस सम्बन्ध में साधारण नियम बना सकते हैं। लोच एक सापेक्षिक शब्द है। किसी एक मनुष्य के लिये अथवा एक स्थान पर मांग लोचदार हो सकती है तथा दूसरे मनुष्य के लिये दूसरे स्थान पर यह बेलोचदार हो सकती है। इस महत्त्वपूर्ण आधार के आधीन हम निम्नलिखित नियम प्रस्तुत कर सकते हैं।

(१) **अनिवार्यताओं तथा प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताओं के लिये मांग बेलोचदार अथवा कम लोचदार होती है।** हम ऐसी वस्तुओं को चाहे जो कुछ मूल्य हो अवश्य एक बंधी मात्रा में खरीदते हैं। भारतवर्ष जैसे निर्धन देश में तो, नमक जैसी वस्तु की मांग भी कुछ लोचदार होती है। १९२३ में नमक कर को दूना करने से भारतवर्ष में नमक का उपभोग कम हो गया था। गेहूं के मूल्य में परिवर्तन उच्च तथा मध्यम श्रेणी के

मनुष्यों के लिये सारहीन हो सकता है, परन्तु उसका उपभोग निर्धन मनुष्यों में मूल्य गिरने पर अवश्य ही बढ़ेगा।

(२) **विलासिताओं की मांग लोचदार होती है**—यह ठीक प्रतीत होता है कि रेडियो, रेफरीजरेटर तथा सुन्दर लकड़ी के सामान के मूल्य में कमी से उनकी बिक्री में वृद्धि हो जायेगी। परन्तु कौन वृद्धि करेगा ? वास्तव में धनी पुरुषों से नहीं। उनके लिये ये वस्तुयें प्रतिष्ठारक्षक आवश्यकतायें हैं। वे उसको अवश्य ही खरीदेंगे और एक खरीदने के पश्चात् वे दूसरे नहीं खरीदेंगे चाहे जितना भी मूल्य क्यों न हो। अतएव उनकी मांग लोचदार नहीं है। यहां भी हम साधारणीकरण नहीं कर सकते। विलासिता एक सापेक्ष शब्द है। एक निर्धन मनुष्य की बहुमूल्य विलासिता धनी के लिये कम मूल्य वाली आवश्यकता होती है। एक वस्तु एक देश में विलासिता हो सकती है और दूसरे में अनिवार्यता ; प्राचीनकाल की विलासितायें आधुनिक काल की अनिवार्यतायें बन गई हैं। इस भांति एक ही वस्तु के लिये कुछ मनुष्यों की मांग लोचदार तथा दूसरों की बेलोचदार हो सकती है।

(३) **प्रतिस्थापन वस्तुओं की मांग लोचदार होती है**—जब चाय का मूल्य बढ़ जाता है, हम उसकी खरीद को घटा सकते हैं और काफी को खरीद सकते हैं तथा प्रतिक्रम भी। मूल्य में परिवर्तन होने से मांग में घटाव-बढ़ाव हो जायेगा। तो भी बहुत कम ऐसी वस्तुयें हैं जो ठीक प्रतिस्थापन कर सकती है ; काफी चाय के पूर्णतया समान नहीं है। इटली, अमरीका तथा अर्जेण्टाइना में जूट के प्रतिस्थापन करने के प्रयत्न किये गये हैं परन्तु वे अधिकतर निष्फल रहे हैं। यह माना जा सकता है कि शृंगार की वस्तुओं में बहुत से विकल्प हैं। आप पौड क्रीम या बाम्बे क्रीम, लिस्टरीन या मैक्लीन्स दंत मंजन, हमाम साबन या प्रीफैक्ट साबुन, कीवी पालिश या चेरी ब्लासम पालिश इत्यादि प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु क्या वास्तव में आप इनमें से किसी का प्रयोग कर सकते हैं ? व्यवसायी यह नहीं चाहता कि उसकी वस्तुयें ऐसी हों जिनकी मांग लोचदार हो। इसीलिये वह उस पर एक विशेष लेबिल लगाता है और चतुर तथा लगातार प्रचार से वह आपको उसे खरीदने के लिये प्रोत्साहित करेगा। आपको उसके प्रयोग की आदत पड़ जाती है। आप संतुष्ट नहीं होते जब तक कि वह विशिष्ट मार्के की वस्तु नही पाते। इस प्रकार उसने इसकी मांग को लोचदार से बेलोचदार बना दिया है। अतएव प्रतिस्थापन वस्तुएं वास्तव में प्रतिस्थापन नहीं कर पाती।

(४) **विभिन्न प्रयोग वाले पदार्थों की मांग**—ऐसे पदार्थों की मांग लोचदार होती है। कोयला एक ऐसी वस्तु है। जब सस्ता हो जाता है तो यह खाना पकाने, गरम करने और व्यवसाय सम्बन्धी कार्यों में प्रयोग किया जाता है और इस प्रकार उसकी मांग बढ़ जाती है। परन्तु जब मूल्य बढ़ जाता है तो वह केवल आवश्यक प्रयोगों में ही लगाया जायगा और कम खरीदा जायगा। अतएव मांग घट जायगी।

(५) **संयुक्त मांग वाली वस्तुयें**—संयुक्त मांग में लोच बहुत कम होती है। यदि गाड़ी के दाम गिर जायें और घोड़े के दाम ऊंचे रहें तो गाड़ी की मांग में कोई विशेष वृद्धि न होगी ।

(६) **उन पदार्थों की मांग जिनका प्रयोग टाला जा सकता है लोचदार होती है**—हममें से अधिक मनुष्यों ने लड़ाई के समय अपने क्रय को जहां तक हो सका टाला। उदाहरणार्थ मकान बनाना, फरनीचर खरीदना अथवा कई गर्म सूट रखना। हम इनकी अधिक मात्रा खरीदते हैं जबकि यह सस्ते होते हैं। अतएव उनकी मांग लोचदार होती है।

(७) **मांग की लोच मूल्य-स्तर पर भी निर्भर है**—यदि कोई वस्तु बहुत महंगी अथवा बहुत सस्ती है तो उसकी मांग बेलोचदार होगी। यदि मूल्य बहुत ऊंचा है तो इसमें कमी होने से मांग अधिक न बढ़ेगी। दूसरी ओर यदि यह बहुत कम हो, तो मनुष्य जितनी चाहते हैं उतनी ही खरीद लेंगे। यदि मूल्य इससे अधिक गिरता है तो मांग में कोई वृद्धि नहीं होगी। मार्शल के शब्दों में—**"मांग की लोच ऊंचे मूल्यों के लिए अधिक होती है, मध्यम मूल्यों के लिए अधिक अथवा विशेष होती है और जैसे मूल्य घटता जाता है वैसे ही लोच भी घटती जाती है और यदि मूल्य इतने गिरें कि सन्तुष्टि की सीमा आ जाय तो लोच धीरे-धीरे लुप्त हो जायेगी।"**[1]

(८) एक ही वस्तु की मांग कुछ प्रयोगों के लिये बेलोचदार हो सकती है, उदाहरणार्थ मनुष्यों के खाने के लिये गेहूं और कुछ दूसरे प्रयोगों के लिये लोचदार हो सकती है जैसे मवेशियों को खिलाने के लिये गेहूं।

(९) मांग की लोच **आय के साथ भी परिवर्तित होती है**। निर्धन मनुष्यों की मांग मूल्य परिवर्तन से अधिक बदलती है। अपनी थोड़ी आय से अधिकतम लाभ उठाने के लिये, उनको मूल्यों के साथ-साथ अपनी खरीदारी में परिवर्तन करने के लिये सचेत रहना पड़ता है। दूसरी ओर धनी पुरुष मूल्य की ओर विशेष ध्यान नहीं देते और उसम परिवर्तन होने पर वस्तुओं की लगातार वही मात्रायें खरीदते रहते हैं। निर्धन मनुष्य को सस्ती प्रतिस्थापन वस्तुओं की ओर भागना पड़ता है,पर धनी मनुष्य को ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। वह वही खरीदने की सामर्थ्य रखता है जो कुछ वह खरीद रहा है।

उपर्युक्त विवेचन इस मत को दृढ़ करता है कि कोई नियम इसके लिये बनाना सम्भव नहीं है कि कौन-सी वस्तु लोचदार मांग रखती है और कौन बे-लोचदार। जब हम यह जानना चाहते हैं कि मांग लोचदार अथवा बेलोचदार है, तो हमें यह निर्णय कर लेना चाहिए कि किस श्रेणी के मनुष्य के सम्बन्ध में हम यह जानना चाहते हैं।

(१६) **लोच की माप** (Measurement of Elasticity)—व्यावहारिक प्रयोजनों में केवल यह जानना ही पर्याप्त नहीं है कि मांग लोचदार है या बेलोचदार। यह मालूम करना अधिक उपयोगी है कि यह किस सीमा तक लोचदार है। इस प्रयो-

1. Marshall-Principles of Economics, 1936, P. 103.

जन के लिये इसको मापना आवश्यक है। यदि चाहे जितना भी मूल्य हो, लोग बिल्कुल एक-सी मात्रायें खरीदते रहें, तो लोच शून्य होगी। इसका अभिप्राय यह है कि चाहे जितना ऊंचा मूल्य हो, वे इस मात्रा को अवश्य ही खरीदेंगे, अथवा मूल्य चाहे जितना कम हो, वे कुछ और खरीदने के लिये प्रोत्साहित नहीं किये जा सकते। मांग पूर्णतया बेलोचदार है। दूसरी सीमा यह है कि जब मूल्य में थोड़ी-सी भी वृद्धि होती है तो आगे खरीदारी **पूर्ण रूप** से बन्द हो जाती है। यहां लोच अनन्त कही जाती है अर्थात् वह पूर्णतया लोचदार है। इन दो सीमाओं के बीच में मांग की लोच की अनेक परिवर्तनशील श्रेणियां होंगी।

लोच की माप की दो रीतियां बतलाई गई हैं :—

पहली रीति—मूल्य में परिवर्तन होने से पहले और बाद में कुल व्यय की तुलना करना पहली रीति है। मांग की लोच तीन प्रकार से बतलाई जाती है : (१) समानता (२) समानता से अधिक और (३) समानता से कम। जब मूल्य में परिवर्तन होने पर कुल व्यय की मात्रा एक ही रहती है तब लोच सम या एक मानी जाती है। मूल्य की वृद्धि क्रय में कमी से ठीक संतुलित हो जाती है तथा इसका प्रतिक्रम भी।

दो मूल्यों के बीच लोच समानता से अधिक कही जाती है जब मूल्य के गिरने से कुल व्यय की मात्रा बढ़ती है अथवा मूल्य में वृद्धि होने से कुल व्यय की मात्रा घट जाती है।

दो मूल्यों के बीच लोच सम या समानता से कम कही जाती है जब मूल्य में वृद्धि से कुल व्यय की मात्रा बढ़ जाती है और मूल्य में कमी होने से घट जाती है।

यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायेगा :—

पेंसिलों का मूल्य प्रति दर्जन	मांग की गई मात्रा	कुल व्यय
१. १॥)	३ दर्जन	४॥)
२. १।)	४ ,,	५)
३. १)	५ ,,	५)
४. ।।।)	६ ,,	४॥)
५. ॥=)	७ ,,	४।=)
६. ॥)	८ ,,	४)

(१) और (२) के बीच में लोच समानता से अधिक है क्योंकि मूल्य बढ़ने से कुल व्यय की मात्रा घटती और मूल्य गिरने से बढ़ती है। (२) और (३) के बीच में समानता क्योंकि कुल व्यय की मात्रा एक-सी रहती है। (४) और (५) के बीच में लोच समानता से कम है क्योंकि कुल व्यय की मात्रा मूल्य बढ़ने से बढ़ती है और गिरने से गिरती है।

दूसरी रीति—इसमें हम मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन की मांग की प्रतिशत परिवर्त्तन से तुलना करते हैं। माना मूल्य ५० प्रतिशत बढ़ जाता है। यदि मांग ५० प्रतिशत घट जाती है तो लोच समान रहती है; यदि यह ५० प्रतिशत से अधिक घट जाती है तो वह समानता से अधिक होती है ; और यदि यह ५० प्रतिशत से कम घटती है तो लोच समानता से कम है।

सूत्र इस प्रकार है:—

$$\text{लोच} = \frac{\%\ \text{मांग में परिवर्तन}}{\%\ \text{मूल्य में परिवर्तन}}$$

जबकि दोनों परिवर्त्तन अति सूक्ष्म है।

संकेत में,[1]

$$\text{लो} = \frac{\frac{\triangle \text{म}}{\text{म}}}{\frac{\triangle \text{क}}{\text{क}}} = \frac{\triangle \text{म}}{\triangle \text{क}} \cdot \frac{\text{क}}{\text{म}}$$

जिसमें— लो=लोच

म =मात्रा

क =कीमत

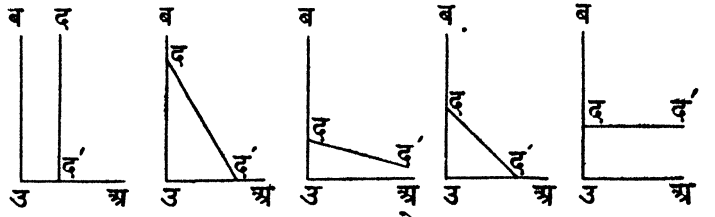
△म =मात्रा में अति सूक्ष्म परिवर्तन

△क =कीमत में अति सूक्ष्म परिवर्तन

मांग की लोच सदैव निषेधार्थक होती है, यद्यपि पद्धति के अनुसार उसे यथार्थ में समझा जाता है। इसलिए लो सदैव शून्य से कम होगी यदि मांग वक्र रीति-विरुद्ध, अर्थात् दाएं से बाएं को ऊपर की ओर झुकती हुई नहीं।

मांग की लोच की माप व्यापारी पुरुष तथा सरकार के अर्थ-विभाग के लिये बहुत महत्त्व रखती है क्योंकि उनको यह मालूम करना होता है कि कितनी मात्रा एक विशेष वस्तु पर मनुष्य व्यय करेंगे। इस सूचना के आधार पर व्यापारी मूल्य निर्धारित करेगा तथा सरकार कर की अनुमाप निर्धारित करेगी।

(१७) **मांग की लोच का चित्र द्वारा वर्णन**: (Diagrammatic Representation of Elasticity of Demand)—निम्न चित्र लोच की अनेक श्रेणियों की व्याख्या करते हैं। द′ हर एक चित्र में मांग वक्र है। शून्य तथा अनन्त लोच केवल सैद्धान्तिक ही है। पहले में द′ उ ब के और दूसरे में उ अ के समानान्तर है। लोच जितनी



चित्र नं. १४

1. Stigler, G. J.—Theory of Price, (1949) p. 52

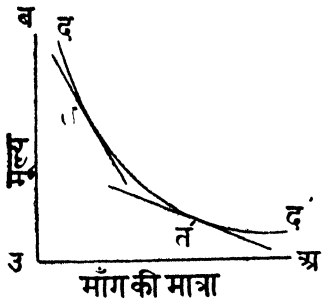
ही कम होती है, मांग वक्र शून्य वाली वक्र से उतनी ही समीप होती है और लोच जितनी ही अधिक होती है मांग वक्र अनन्त वाली वक्र से उतनी ही समीप होती है।

मांग की लोच के नापने की एक और भी रीति है। नीचे द द' एक सीधी मांग वक्र है लोच भिन्न अंक द्वारा प्रस्तुत किया जाता है: वक्र पर किसी बिन्दु से द' तक की दूरी ÷ उसी बिन्दु से द तक की दूरी। अतएव बिन्दु $प_1$, $प_2$, $प_3$ पर मांग की लोच—

$$\frac{द'प_1}{द\,प_1}, \quad \frac{द'प_2}{द\,प_2} \text{ तथा } \frac{द'प_3}{द\,प_3}$$

क्योंकि $प_2$ वक्र के बीच में है, इसलिए लोच $\frac{द'प_2}{द\,प_2} = १$ के होगी।

वक्र के ढाल को मांग की लोच से संभ्रांत नही करना चाहिये। वक्र का ढाल मांग की लोच नही बताता। ऊपर के चित्र में वक्र का ढाल सब जगह एक-सा है, परन्तु मांग की लोच सभी बिन्दु पर भिन्न है। यह उ ब के पास अधिक, बीच में इकाई तथा उ अ के पास कम लोचदार है। क्योंकि लोच पूर्ण परिवर्तन पर नहीं बल्कि प्रति सैकड़े परिवर्तन पर निर्भर रहती है, इसलिये यह वास्तव में कीमत से सम्बन्धित वक्र के ढाल/मात्रा अनुपात[1] पर निर्भर रहती है।



चित्र नं. १५

ऊपर दिये हुए उदाहरण में हमने मांग वक्र की एक सीधी रेखा सरलता के लिये ले ली है। जब वे सीधी रेखायें नहीं है परन्तु भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर झुकाव दिखाने वाले वक्र हैं तो मांग की लोच किसी विशेष बिन्दु पर स्पर्श रेखा के वक्र के उस बिन्दु पर झुकावों से स्पष्ट की जाती है।

इस भांति मांग वक्र त बिन्दु की अपेक्षा त' बिन्दु पर अधिक लोचदार है।

१८. मांग की लोच के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग (Practical Application of the Concept of Elasticity of Demand)—यह सिद्धान्त सरकारी अर्थव्यवस्था तथा व्यापार और वाणिज्य में अधिक महत्त्व रखता है। अर्थमन्त्री यदि उन वस्तुओं पर कर लगाता है जिनकी मांग बेलोचदार है तो वह सरकार की वार्षिक आय के लिये अधिक निश्चित हो सकता है। निःसन्देह, कर से मूल्य बढ़ जायगा परन्तु मांग बेलोचदार होने के कारण लोगों को वह वस्तु खरीदना ही पड़ेगी। मांग घटेगी नहीं। परन्तु शिष्टता के नाते ऐसे कर नहीं लगाये जाते क्योंकि ऐसी वस्तुयें जीवन-रक्षक अनिवार्यतायें हैं और उनपर कर लगाने से जनता के हित पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

1. See Samuelson, P.A.—Economics (1948) p. 451

इसी भांति व्यापारी को यदि वह एकाधिकारी है तो अपना मूल्य निर्धारित करते समय मांग की प्रकृति का ध्यान रखना पड़ेगा। यदि मांग बेलोचदार है तो उसको लाभ इसमें होगा कि वह ऊंचा मूल्य ले और उसकी कुछ कम मात्रा बेचे। दूसरी ओर यदि मांग लोचदार है तो वह मूल्य कम करके मांग बढ़ा देगा और इस प्रकार एकाधिकारी लाभ को अधिकतम कर सकेगा। परन्तु प्रतियोगितापूर्ण स्थिति में प्रत्येक फर्म के माल की माँग लोचदार होती है। इसलिये कोई एक फर्म मूल्य निर्धारित नहीं कर सकती।

लोच का सिद्धान्त संयुक्त उत्पत्ति पर भी लागू होता है। उनका पृथक् व्यय नहीं मालूम किया जा सकता। उत्पादक मूल्य निर्धारित करते समय मांग और उसकी प्रकृति से ही प्रभावित होगा। यातायात अधिकारी इस सिद्धान्त के अनुसार दर निर्धारित करते हैं—उतना ही दर हो जितना कि यात्री भार सह सकें। जब किसी उद्योग में वर्धमान उत्पत्ति नियम लागू होता है, तो उत्पादक बाज़ार का विकास करने के लिये मूल्य कम कर देते हैं जिससे कि वे बड़े पैमाने की उत्पत्ति से लाभ उठा सकें। अतएव हम देखते हैं कि लोच विषयक वाद-विवाद केवल ज्ञान-वृद्धि के लिये ही नही है।

औद्योगिक उत्पत्ति मांग की लोच से प्रभावित होती है, परन्तु इस सम्बन्ध में हमें एक व्यक्ति की लोच तथा समस्त बाजार की लोच में भेद करना पड़ेगा। मूल्य में कोई भी कमी होने के कारण एक व्यक्ति एक ही समाचार-पत्र या पत्रिका दूसरी बार लेने को प्रोत्साहित न होगा। व्यक्तिगत मांग बेलोचदार है परन्तु बाज़ार की मांग बेलोचदार नही है और उत्पादक के लिये यह बाजार की मांग ही है जो अधिक महत्व रखती है। मूल्य में कमी से समस्त बाजार में अवश्य ही बिक्री बढ जायेगी।

लोच का सिद्धान्त बहुतायत के बीच में निर्धनता के विरोधाभास की व्याख्या करता है। यदि मांग बेलोचदार है तो खूब अच्छी फसल सफलता का एक कारण होने की अपेक्षा विपत्ति पैदा कर सकती है। यह विशेषतः तब होती है जब कि उत्पादन शीघ्र नष्ट होने वाला हो। एक बुरी फसल की अपेक्षा अच्छी फसल से कम द्रव्य प्राप्त हो सकता है। कुछ समय तक रखी जाने वाली वस्तुओं की मांग कम बेलोचदार अथवा लोचदार होती है। मूल्य के घट जाने से वह अधिक खरीदी जायेगी तथा संग्रह की जायेगी। ऐसा किसी एक वर्ष में हो सकता है, परन्तु ५ वर्ष या अधिक समय में ऐसी वस्तुओं की भी मांग कम लोचदार होती है, उदाहरणार्थ गेहूं की मांग।

यदि गेहूं की मांग की लोच सम या इकाई (Unity) के बराबर है तो उत्पादकों की आय एक-सी रहेगी चाहे फसल की कैसी भी स्थिति क्यों न हो। (अतएव मूल्य की प्रत्येक स्थिति में यह समान रहेगी।) बुरी फसल होने वाले वर्ष में मूल्य की वृद्धि उत्पत्ति की कमी को पूरा कर देगी। अतएव किसानों की एक निश्चित आय स्थायी बनाने के लिये सरकार को एक विशिष्ट फसल की मांग की लोच की श्रेणी का ध्यान रखना चाहिये और उत्पत्ति तथा कमी को रोकने के लिये यथायोग्य कार्य करना चाहिये।

मांग की लोच का प्रभाव मजदूरी पर भी पड़ता है। यदि श्रम की मांग बेलोचदार है तो मजदूरी बढ़ाना सरल है अन्यथा नहीं।

१९. मांग का सिद्धान्त[1] (Theory of Demand)–पिछले तीन अध्यायों में हमने कीमत, आय, रुचि, आवश्यकता इत्यादि से प्रभावित उपभोक्ताओं अथवा क्रेताओं के व्यवहारों का अध्ययन किया है। इनमें किसी एक के परिवर्तन से विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं पर उपभोक्ता की आय में बटवारे में परिवर्तन हो जाता है। उपभोक्ता के उपभोग-आकार को प्रभावित करने वाले यही कारण हैं। मांग का सिद्धान्त इन सब को अलग कर देता है। यह सिद्धान्त इन कारणों तथा उपभोग-आकार के सम्बन्ध को अध्ययन करता है और इस प्रकार इनमें परिवर्तन के कारण उपभोग आकार के परिवर्तन को पहले से जानने में सहायता देता है।

परन्तु मांग का सिद्धान्त कुछ मूल कल्पनाओं पर आधारित है:—

(१) यह मान लिया गया है कि उपभोक्ताओं को उन वस्तुओं तथा सेवाओं के विषय में जिन्हें वे क्रय करना चाहते है पूरा ज्ञान है। यद्यपि यह कहा गया है कि "उपभोक्ता उन वस्तुओं को चाहता है जिन्हें वह क्रय नही करता और जिन्हें क्रय करता है उन्हें वह नही चाहता चाहे उसे बाज़ार का पूरा ज्ञान हो।" परन्तु यह केवल ऊपरी तौर से सत्य है क्योंकि जब एक उपभोक्ता कोई एक वस्तु खरीदता है तो इसका अर्थ यह है कि वह उसको चाहता है।

यह भी बताया जा चुका है कि हमारी आकांक्षाओं में कुछ अन्वेषण का तत्त्व होता है। हम सदैव जाने हुए अथवा निश्चित लक्ष्य का पीछा नही करते। **यह हमारी नई आवश्यकता की इच्छा है।** जैसा कि प्रो० नाइट का कहना है कि सभी क्रियाएं चारों ओर अनिश्चित ढंग से बुद्धिमानी के साथ की जाती हैं। परन्तु मांग का सिद्धान्त इस प्रकार की अनिश्चित क्रियाओं से सम्बन्धित नही है। यह हमारी स्वाभाविक खरीदारी से, जिसमें अन्वेषण का तत्त्व कम होता है, सम्बन्धित है।

(२) यह भी कल्पना की गई है कि उपभोक्ता अपने लक्ष्य को पाने के लिए विशेष रीतियां जानते हैं। परंतु यह बताया जा रहा है कि बहुत से उपभोक्ता अपनी खरीदी हुई वस्तुओं के विशेष तत्त्वों को नही जानते। यह नई वस्तुओं में अथवा उन वस्तुओं की जिनकी मांग दुबारा नही होती, पूर्णतया लागू होता है। जहां तक उन साधारण वस्तुओं का प्रश्न है जिन्हें उपभोक्ता बहुधा खरीदते हैं और जिनमें यह सिद्धान्त लागू होता है, क्रेताओं को वस्तुओं के विषय में पूरा ज्ञान होता है।

(३) यह भी मान लिया गया है कि संतुष्टि को अधिकतम करने के लिये उपभोक्ता बाज़ार के ज्ञान का पूरा लाभ उठाते हैं। यह 'आर्थिक मनुष्य' अथवा 'अधिकाधिक व्यक्ति' विचार का आरोपण करता है। यह विचार आर्थिक घटना के वैज्ञानिक व्यवहार तथा आर्थिक सामान्य अनुमान के बनाने के लिये अति आवश्यक है। परन्तु आलोचकों का

१. Stigler, G. J.—Theory of Price (1949) ch. 5

कहना है कि अधिकांश उपभोक्ता अपनी सन्तुष्टि को अधिकाधिक करने के लिए न्याय-पूर्वक काम करने में असमर्थ होते हैं, यद्यपि साधारण खरीदारी में कठिन अनुमान की आवश्यकता नहीं होती।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मांग का सिद्धान्त हमारी साधारण खरीदारी में अच्छी तरह से लागू होता है और यह विशेष प्रकार की खरीदारी में हमको कुछ नही बता पाता।

निर्देश पुस्तकें

Marshall—Principles of Economics.
Robinson, Joan—Economics of Imperfect Competition, 1942 chs. 1 and 2.
Meyers, A.L.—Elements of Modern Economics, ch. 6 and 7.
Stigler, G. J.—Theory of Price, ch. 4 and 5.
Samuelson, P.A.—Economics, 1948 pp. 447—454.
Moore and Others—Modern Economics.
Benham—Economics.
Erich Roll—Elements of Economic Theory.
Boulding—Economic Analysis, ch. 29.

अध्याय ७

उत्पत्ति—(सामान्य रूप में)

PRODUCTION—GENERAL

१. भूमिका (Introduction)—उपभोग के सिद्धान्त में हमने मानवीय आवश्यकताओं की तृप्ति के लिये सीमित साधनों के प्रयोग को नियमित करने वाली समस्याओं तथा नियमों का विवेचन किया। उत्पत्ति में हमारा सम्बन्ध स्वयं साधनों से अथवा वस्तुओं की पूर्ति के पीछे की शक्तियों से है। हम यह अध्ययन करते हैं कि उत्पादन के विभिन्न साधन या वस्तुओं के बनाने में तथा उनको उपभोक्ताओं के सामने प्रस्तुत करने में कहां तक सहायक होते हैं। हमको यह पहले समझना चाहिये कि उत्पत्ति का यथार्थ अर्थ क्या है।

२. उत्पत्ति क्या है ? (What is Production)—कभी-कभी उत्पत्ति का अर्थ उपयोगिता का निर्माण अथवा आवश्यकता की संतुष्टि करने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्माण किया जाता है। यह कहा जाता है कि ठीक जिस प्रकार मनुष्य पदार्थ नष्ट नही कर सकता, उसी प्रकार वह पदार्थ का निर्माण भी नही कर सकता; वह उसे केवल उपयोगिता प्रदान कर सकता है।

परन्तु वैज्ञानिक रूप से यह उचित परिभाषा नहीं है। अर्थशास्त्र में हमारा संबंध केवल उपयोगिता से नहीं वरन् उपयोगिता रखने वाली न्यून वस्तुओं से है। वायु की अधिक उपयोगिता है, किन्तु मात्रा में असीमित होने के कारण इसके सम्बन्ध में कोई आर्थिक समस्यायें उत्पन्न नही होती। ऐसी वस्तु को उत्पन्न करना जिसमें उपयोगिता हो किन्तु मूल्य न हो आर्थिक दृष्टि से उत्पत्ति नही है। मैं योग की विचारधारा फैला सकता हूं तथा अपने मित्रों की शारीरिक और अधात्मिक समृद्धि बढ़ा सकता हूं जिसकी उपयोगिता अधिक है। परन्तु जब तक मै इसे अपना व्यवसाय न बना लूं, मेरी क्रिया उत्पत्ति के अन्तर्गत नहीं होगी। **अतएव उत्पत्ति को उपयोगिता का निर्माण कहकर नहीं किन्तु मूल्य का निर्माण अथवा उसकी वृद्धि कह कर परिभाषित करना चाहिए।** यथार्थ में इसका अर्थ उन आर्थिक वस्तुओं की उत्पादन तथा उन सेवाओं के प्रतिपादन से है जो आर्थिक मूल्य रखते हैं। वास्तव में हम उपयोगिता अथवा मूल्य की उत्पत्ति नहीं करते किन्तु विनिमय मूल्य रखने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की उत्पत्ति करते है। हमारा सम्बन्ध उत्पत्ति की यंत्रकला से नहीं है किन्तु केवल इसके आर्थिक स्वरूप या पहलू से है।

इस भाव में, उत्पत्ति के अन्तर्गत नीचे दिये हुए उद्योगों के अनेक उत्पादक समावेषित हैं:—(१) **निकालने वाले** (Extractive Industries) जैसे खनिज

पदार्थ की उत्पत्ति, मछली पकड़ना, कृषि करना इत्यादि जिनका अधिकतर सम्बन्ध कच्चे माल की उत्पत्ति से है। (२) **शिल्प-उद्योग** (Manufacturing Industries) जो कच्चे माल को पक्के माल में बदलते हैं। (३) **वाणिज्य सम्बन्धी सेवायें** जैसे क्रय-विक्रय, यातायात, बैंकिंग तथा बीमा इत्यादि। और (४) **उपभोक्ताओं के लिये प्रत्यक्ष सेवायें** जैसे घरेलू नौकरों, डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों इत्यादि की सेवायें।

उत्पादक तीन प्रकार से उपयोगिता का निर्माण करते है :—(१) **रूप-उपयोगिता** अर्थात् वस्तु को रूप देना तथा उसे उपयोगी बनाना। (२) **स्थान-उपयोगिता** उदाहरणार्थ वस्तु को उस स्थान पर ले जाना जहां उसकी आवश्यकता है; और (३) **समय-उपयोगिता** जैसे उसे उस समय तक रखना जब उसकी आवश्यकता हो।

एक वस्तु उस समय तक उत्पन्न की हुई नही समझी जाती जब तक वह उपभोक्ताओं तक नही पहुंच जाती।

३. उत्पत्ति की मात्रा का सामाजिक महत्त्व (The Social Significance of the Volume of Production)—किसी देश के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी उत्पत्ति कार्य-कुशलता की अधिकतम सीमा पर हो ताकि उसकी उत्पत्ति का प्रसार अधिक-से-अधिक हो। अन्त में मनुष्य के जीवन-स्तर को देश की उत्पत्ति के प्रसार तथा भिन्नता पर निर्भर रहना ही पड़ता है।

यह सत्य है कि कोई देश अपनी कठिनाई और आपत्ति के समय का निवारण करने के लिए विदेश से रुपया उधार अथवा दान के रूप में ले सकता है। परंतु उधार लिया हुआ रुपया वापस करना होता है और दान निरन्तर नही होता रहता। जीवन-स्तर का कोई विश्वसनीय आधार ऐसे विदेशी अथवा आकस्मिक साधनों पर नही बनाया जा सकता। यदि जीवन-स्तर को स्थायी रूप से बढ़ाना है, तो देश की उत्पत्ति को बढ़ाना होगा।

भारत की बढ़ती हुई करोड़ों की जन-संख्या को देखते हुए इसकी उत्पत्ति की कुल मात्रा बहुत कम है तथा संसार में इसका जीवन-स्तर सब से नीचा है। प्रत्येक भारतीय के मुख से दीनता टपकती है—ऐसी दीनता जिसका कि संसार में कोई समानान्तर नही। अपना देश त्याग कर दूसरे देश में बसने से कोई विशेष संतुष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। इसका तो केवल एक ही उपाय है, वह यह कि कृषि तथा औद्योगिक उत्पत्ति की मात्रा को बढ़ायें। 'उत्पादन या विनाश'—यह हमारा नारा होना चाहिए।

४. उत्पत्ति की मात्रा को निर्धारित करने वाले कारण (Factors determining the Volume of Production)—उत्पत्ति की मात्रा को बढ़ाने के लिये हमें उन कारणों का जिन पर कि यह निर्भर है निरीक्षण करना होगा। उन कारणों का अध्ययन तथा उनकी सापेक्ष महत्ता का उचित ज्ञान हमें उत्पत्ति में वृद्धि करने वाले प्रधान और सही रास्ते पर डाल देंगे।

(१) किसी देश की उत्पत्ति सर्वप्रथम मनुष्य, द्रव्य तथा पदार्थ पर निर्भर है। यदि हमारे मनुष्य परिश्रमी तथा साधनपूर्ण हैं, यदि पूंजी बहुतायत से है और यदि भूमि हमें अनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थ प्रदान करती है, तो उत्पत्ति का विशाल प्रसार निश्चित है। किसी देश की उत्पत्ति वहां प्राप्त होने वाले उत्पत्ति के साधनों की मात्रा तथा कुशलता से मीमित होती है।

(२) उत्पत्ति यंत्र कला में उन्नति तथा कृषि और उद्योग में विज्ञान के प्रयोगों पर भी निर्भर है। बिना वैज्ञानिक तथा विशेष कला सम्बन्धी ज्ञान के अधिक सफलता नही हो सकती। एक बड़े कारखाने की तुलना में एक जुलाहा क्या कार्य कर सकता है ?

(३) इसके अतिरिक्त उत्पत्ति साख, बैंकिग तथा यातायात की सुविधाओं पर निर्भर होती है। यदि कारीगरों को वित्तीय सहायता देने वाली कोई संस्थायें नही है तो उन्हें बड़ी असुविधा होगी। आर्थिक सहायता उत्पत्ति का सुचारु रूप से संचालन करती है। वस्तुओं की उत्पत्ति से भी कोई अधिक लाभ नही होगा यदि वे बाजार में कम व्यय पर तथा शीघ्र ही न पहुंच सकती हों।

(४) राजनीतिक कारण भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि राज्य सहानुभूति रखता है और उत्पत्ति में ज्ञान, शिक्षा तथा आर्थिक और अन्य सहायतायें प्रदान करके क्रियाशील रूप से सहायक होता है तो उत्पत्ति में वृद्धि हो सकती है। रूस का अनुभव एक यथेष्ठ चिन्ह है कि इस प्रकार से क्या प्राप्ति हो सकती है।

(५) अन्त में, कुछ प्राकृतिक कारण भी है। जलवायु, मिट्टी, पर्वत तथा नदियां सब ही प्राकृतिक प्रसाद है। उत्पत्ति के प्रति उनके सम्बन्ध में कोई सन्देह नही। बाढ, भूडोल तथा अन्य प्राकृतिक संकट मनुष्य के कार्य को बिगाड़ देते है। यदि उत्पत्ति मे वृद्धि करना है तथा उनकी रक्षा करना है तो हमे मनुष्य की सेवा के लिए प्राकृतिक शक्तियो का प्रयोग करना सीखना होगा।

५. उत्पत्ति के परिमाण को किस प्रकार मापा जाय (How to measure the Volume of Production)—हमने देखा है कि उत्पत्ति वह आधार है जिस पर देश का जीवन-स्तर अवलम्बित किया जा सकता है। उत्पत्ति की मात्रा को मापने के लिये प्रयत्न किये गये है। उत्पत्ति का माप मनुष्यों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की क्षमता का माप है।

उत्पादन-परिमाण के माप के लिये साधारणतः प्रयोग में लाई जाने वाली दो रीतियां हैं: (१) उत्पत्ति की गणना की रीति और (२) आय की गणना की रीति। दोनों दशाओं में समय की एक इकाई ले ली जाती है, जो प्रायः एक वर्ष होती है। एक वर्ष के अन्दर अधिकतर फसलें तैयार हो जाती है और काट ली जाती है तथा मासिक विषमतायें स्वयं ही दूर हो जाती है।

(१) **उत्पत्ति की गणना की रीति** (The Census of Production

Method)—इस रीति के अनुसार सब प्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति का निरूपण किया जाता है। खाद्य-उपज तथा कच्चे माल की उत्पत्ति का निरूपण कृषि सम्बन्धी आंकड़ों (Agricultural Statistics) से किया जाता है। भारत में सरकार **मुख्य फसलों की उपज और उनके प्रयोग में लाई हुई भूमि क्षेत्र** (Area and Yield of Principal Crops) प्रकाशित करती है जो हमें देश की कृषि सम्बन्धी उत्पत्ति के निरूपण में सहायक हो सकती है। किन्तु हम 'वास्तविक' उत्पत्ति चाहते है; अतएव कृषि-सम्बन्धी क्रियाओं के संचालन के लिए हमें अवश्य ही कुछ घटाना चाहिये। उदाहरणार्थ बीजों पर व्यय किया हुआ मूल्य, बैलों के निर्वाह पर व्यय किया हुआ धन, कृषि-सम्बंधी यंत्रों की मरम्मत, नवीनी-करण तथा उनके बदलने इत्यादि पर खर्च किया हुआ धन। प्राध्यापक वाडिया (Wadia) तथा जोशी (Joshi) ने भारत की १९१३–१४ वर्ष की राष्ट्रीय आय की गणना करते समय इस कारण कुल कृषि-सम्बन्धी उत्पत्ति से २० प्रतिशत घटाया। वास्तविक आय मालूम करने के लिये राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) ने कृषि-उपज के कुल मूल्य से २१ प्रतिशत घटाया।

जहा तक खनिज पदार्थों की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, हम देश तें उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के खनिज पदार्थो को भौमकीय विभाग (Geological Department) द्वारा प्रकाशित भौमकीय आपरीक्षणो (Surveys) से प्राप्त कर सकते हैं। यहां भी, खनिजों के शुद्ध मूल्य को प्राप्त करने में २० प्रतिशत घटाया जा सकता है। अब हम उद्योग पर विचार करते है। भारत की सरकार कुछ चुने हूए उद्योगो की उत्पत्ति के आंकड़े (statistics) प्रकाशित करती है। किंतु यह हमें पूर्ण औद्योगिक उत्पत्ति की गणना प्रदान करने में अपर्याप्त है। पाश्चात्य देशों में पूर्ण आंकड़े प्राप्त है। प्राध्यापक वाडिया तथा जोशी ने औद्योगिक उत्पत्ति का कुल मूल्य कच्चे माल के मूल्य का २० प्रतिशत आंका है।

पहले से चेतना आवश्यक है। हमें दोहरी गणना करने से अवश्य बचना चाहिये। उदाहरणार्थ बने हुए कपड़े के मूल्य की गणना करते समय कपास का मूल्य फिर से शामिल नही करना चाहिए।

कुछ दशाओं मे, उदाहरणार्थ चमड़े तथा खाल के विषय में, बाहर भेजे हुए माल के अंकों से इस कल्पना पर निरूपण कर सकते है कि एक निश्चित प्रतिशत में प्रति वर्ष बाहर भेजा जाता है। हमें पशुओ के समुदाय के मूल्य की भी गणना अवश्य करनी चाहिए। भारत की सरकार पशुओं के समुदाय की एक पंचवार्षिक गणना प्रकाशित करती है जिसकी सहायता से हम पशुओं के समुदाय का मूल्य निश्चित कर सकते हैं। यहां फिर दोहरी गणना को बचाने के लिए कृषि के प्रति उनकी सेवाओं के मूल्य को अवश्य ही घटा देना चाहिए। साधारणतः मछलियों की उत्पत्ति की गणना इस व्यवसाय में लगे हुए कुल मछवाहों की संख्या से तथा उनकी प्रति व्यक्ति की प्रतिदिन की आय से की जाती है।

उत्पत्ति में केवल वस्तुएं ही नहीं परन्तु सेवाएं भी शामिल होती हैं। अतएव, गणना

अंकों के आधार पर भी हम डाक्टरों, अध्यापकों, शिल्पकारों, घरेलू नौकरों इत्यादि जैसे अनेकों व्यवसायी मनुष्यों के उपार्जित धन की गणना एक औसत आय पर कर सकते है। हम भिन्न प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं को एक साथ नहीं जोड़ सकते। हम केवल उनकी द्रव्य-मूल्य (Money Value) ले सकते हैं। परंतु मूल्य परिवर्तनों के प्रभावों को दूर करने के लिए हम उनका निरूपण एक आधारित वर्ष (Base Yèar) के सम्बन्ध में कर सकते है।

(२) **आय की गणना की रीति** (The Census of Income Method)—यह रीति उन गहरे आपरीक्षणों पर निर्भर है जो कि प्रतिनिधि ग्रामों तथा शहरों में उन्ही को आधार मानते हुए की जाती है।

उपरिवर्णित कार्य करने की रीति से यह प्रतीत होगा कि ऐसे निरूपणों में अनुमान का लोप असंभव है। दो अलग वर्षों की तुलना वस्तुओं के गुण में भिन्नता, नवीन ढांचों तथा नमूनों अथवा पूर्णतः नई वस्तुओं तथा सेवाओं की उत्पत्ति के कारण और भी कठिन बन जाती है। मनुष्यों की आवश्यकतायें भी, रुचि में तथा जनसंख्या के आकार तथा बनावट में परिवर्तनों के साथ बदल सकती है जिससे उत्पत्ति के उसी प्रसार से वही संतुष्टि न प्राप्त हो।

परन्तु यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि ऐसा अपूर्ण निरूपण हो सकता है जो व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए प्रयोग किया जा सकता है। यह किसी हद तक यथार्थता से कहना सदा सम्भव है कि मनुष्य अब पहले की यानी २५ वर्ष पूर्व की अपेक्षा अच्छे स्तर में रह रहे हैं। प्राध्यापक बौले (Bowley) तथा राबर्टसन (Robertson) जिन्होंने १९३३ मे भारत की सांख्यकीय स्थिति में जांच की थी "भारत में आर्थिक गणना की योजना" शीर्षक से अपनी विज्ञप्ति प्रस्तुत की। उन्होंने इस प्रचलित मत को दृढ़ किया कि भारत में सांख्यकीय अभाव है।

६. उत्पत्ति के साधन (Agents of Production)—उत्पत्ति के कार्य के लिए उत्पत्ति के कुछ साधनों की सहायता तथा सहयोग की आवश्यकता होती है। भूमि उत्पत्ति का पहला साधन है। भूमि अपने पूर्ण प्राकृतिक तथा निरर्थक दशा में भी कुछ उत्पन्न करने के योग्य है, किन्तु जब मनुष्य (श्रम) प्रकृति के साथ मिल गया तो भूमि से और भी अधिक उत्पत्ति की जाने लगी। फिर भी, केवल मनुष्य तथा भूमि भी अधिक उत्पत्ति न कर पाते यदि उन्हें प्रारम्भ से ही कुछ औज़ारों से, जिन्हें हम पूजी कहते हैं, सहायता न मिलती। आधुनिक काल में इन साधनों से अच्छे परिणाम पाने के लिये उनके बीच उचित प्रबन्ध और व्यवस्था की आवश्यकता हुई। वर्त्तमान समय में कभी-कभी भूमि तथा पूंजी ऐसे मनुष्यों के स्वामित्व में होती है जो उन्हें उत्पत्ति में नहीं प्रयोग कर सकते। श्रम भी पूंजी से पृथक् है। इन सब को साथ जुटाने तथा संगठित करने के लिये एक और व्यक्ति या साधन की आवश्यकता होती है। इसे साहसी-व्यवसायी (Entrepreneur)

कहते हैं।

७. उत्पत्ति के साधनों का वर्गीकरण (Classification of Production)—उत्पत्ति के साधनों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है : भूमि, श्रम, पूंजी तथा व्यवस्था अथवा साहस। अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ केवल मिट्टी से ही नहीं होता जैसा कि साधारण बोलचाल में होता है। यह वायु, जल, भूमि के धरातल के ऊपर तथा इसके नीचे से प्राप्त होने वाले सब साधनों के, जिनसे आय प्राप्त होती है, समानार्थ है।

इसी प्रकार श्रम का अभिप्राय केवल शारीरिक अथवा हस्त-सम्बन्धी परिश्रम से ही नही, किन्तु द्रव्य सम्बन्धी पुरस्कार के लिये मनुष्य द्वारा किये हुए सब प्रकार के कार्य से है। यह मनुष्य के समानार्थ है।

पूंजी से अभिप्राय उस तमाम धन राशि से है जिसमें यन्त्र, औज़ार, कच्चा माल इत्यादि शामिल है और जो कि धन की उत्पत्ति के लिए प्रयोग में लाये जाते है।

व्यवस्था में उपर्युक्त तीन साधनों को संगठित करना और प्रत्येक को कार्य निर्दिष्ट करना शामिल है। साहसी जो कि इस साधन की पूर्ति करता है, उत्पादन का कार्य स्वरूप बनाता है, उसको प्रारम्भ करता है और उसका संचालन करता है तथा जोखिम सहन करता है।

८. क्या साधन दो में बांटे जा सकते हैं? (Can the Factors be reduced to two?)—कुछ अर्थशास्त्री इस वर्गीकरण को चार से दो, भूमि तथा श्रम अथवा मनुष्य तथा प्रकृति, में इस कारण घटाते हैं कि केवल वे ही मौलिक अथवा प्रारम्भिक साधन है। यह कहा जाता है कि पूजी का कोई स्वतन्त्र आदि कारण नही है और वह केवल भूमि तथा श्रम के प्रयत्नों का परिणाम है, और व्यवस्था केवल श्रम का एक रूप है। परन्तु आदि कारण जो भी हो पूजी उत्पत्ति के एक पृथक् साधन के रूप मे एक बहुत आवश्यक कार्य करती है तथा एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी प्रकार साहसी का कार्य एक भिन्न प्रकार का है और उसे एक भिन्न आधार पर पुरस्कार मिलता है। आजकल जो कार्य साहसी करता है वह अन्य साधनों द्वारा किए हुए कार्यों को ढक देता है। अतएव चार विभाग वाला वर्गीकरण आधुनिक आर्थिक संसार में प्रचलित दशाओं का अच्छी प्रकार से प्रतिनिधित्व करेगा।

९. परम्परा-प्राप्त वर्गीकरण की आलोचना (The Traditional Classification criticized)—हाल में ही बेन्हम (Benham), विकस्टीड (Wicksteed), डेवनपोर्ट (Davenport) जैसे अर्थशास्त्रियों द्वारा इस वर्गीकरण का यह कहकर निषेध किया गया है कि यह टेकनिकल, अवैज्ञानिक तथा बिना किसी विशेष महत्व के है। वर्गीकरण पर दोष इस कारण लगाया जाता है कि श्रम के विभिन्न प्रकारों में बहुत अधिक भेद है; स्वयं भूमि में अन्तर है; और न पूंजी तथा साहस ही एक-सी प्रकृति के हैं। इसलिए उनको इस आधार पर कि वे मौलिक रूप

ये एक दूसरे से भिन्न हैं, पृथक् रखने का कोई कारण नहीं हैं जब कि वे स्वयं ही ए क-दूसरे के समान हैं।

पृथक् तथा भिन्न दोनों के बजाय उत्पत्ति के साधन एक दूसरे के लिए प्रायः प्रतिस्थापित किये जा सकते हैं। श्रम यन्त्रों का स्थान ले सकता है तथा प्रतिक्रम। साहसी अपनी योग्यता से पूंजी तथा श्रम दोनों को बचा सकता है जिसका अर्थ उनके लिए उसकी प्रवीणता का प्रतिस्थापन है।

इसके अतिरिक्त पूंजी से भूमि की पृथकता के विचार के पीछे कोई तर्क नहीं। एक व्यक्ति के लिये भूमि पूंजी है क्योंकि यह धन की उत्पत्ति में सहायता देती है। यदि भूमि तथा पूंजी में कुछ भिन्नताएं भी हैं तो भी आर्थिक विश्लेषण के दृष्टिकोण से उनका कोई वास्तविक अर्थ नहीं है। इसी प्रकार श्रम के विशेष लक्षणों को बढ़ा कर कहा गया है। यह चार विभाग वाला वर्गीकरण कुछ सार्थक होता यदि यह दिखाया जा सकता कि उत्पत्ति के साधनों के यह वर्ग उत्पत्ति अथवा वितरण के विभिन्न नियमों की क्रिया के आधीन हैं। किन्तु यह बात नहीं है। इस प्रकार इस वर्गीकरण के पीछे, सिवाय इसके कि यह विषय के अध्ययन करने की सरल विधि है, कोई वैज्ञानिक कारण नहीं प्रतीत होता है।

यद्यपि हमें साधनों का परम्परा-प्राप्त वर्गीकरण वैज्ञानिक कारणों से अवश्य अस्वीकार करना चाहिए, तो भी एक विद्यार्थी के प्रारम्भिक अध्ययन के लिये यह वर्गीकरण साधारण तथा सरलता के साथ समझे जाने के कारण स्थायी रखा जा सकता है।

निर्देश पुस्तकें

Pigou—Economics of Welfare, Part 1 ch. 6.
Hicks—Social Frame Work.
Indian National Income Committee Report-Census of Manufacture.
Robbins—Article in Encyclopedia of Social Sciences.
Fraser—Economic Thought and Language chs. 11 & 12.
Stigler—Theory of Price, ch. 7.
Knight—Risk, Uncertainty and Profit ch. 6.
Wicksteed—Common Sense of Political Economy, Book 1, ch. 9.
Davenport—Economics of Enterprise, ch. 22.

अध्याय ८

उत्पत्ति के साधन—भूमि

AGENTS OF PRODUCTION—LAND

१. अर्थ तथा महत्त्व (Meaning and Importance)—'भूमि' शब्द को अर्थशास्त्र में एक विशेष अर्थ दिया जाता है। इसका अर्थ मिट्टी नहीं है जैसाकि साधारण बोल-चाल में समझा जाता है वरन् यह बहुत विस्तृत भाव में प्रयोग किया जाता है। मार्शल (Marshall) के शब्दों में भूमि का अर्थ है "वह पदार्थ तथा शक्तियां जिन्हें प्रकृति मनुष्य की सहायता के लिये भूमि तथा जल में, वायु और रोशनी तथा गर्मी में स्वतन्त्रता से देती है।"[1] प्रकृति हमें केवल भूमि का धरातल ही नहीं देती वरन् पर्वत भी देती है जो हमें वन तथा चरागाह प्रदान करते हैं; यह हमें नदियां देती है जो मछलियाँ तथा उपजाऊ करने वाले पदार्थ तथा व्यापार का प्रधान मार्ग और बिजली की शक्ति प्रदान करती हैं और यह हमें समुद्र तथा सागर प्रदान करती है जो मछलियों के निरन्तर स्रोत हैं तथा एक महाद्वीप को दूसरे से संयुक्त करने वाली कड़ियों की भांति है। पृथ्वी के भीतरी भाग खनिज पदार्थों से परिपूर्ण हैं जो उद्योग संचालन के लिये अनिवार्य हैं। वायु, धूप तथा गर्मी हमारी फसलों के लिये ही नहीं वरन् हमारे समस्त जीवन के लिये भी आवश्यक है। **'भूमि' शब्द इन सब का संक्षेप में संग्रह करता है।** इसका अभिप्राय उन सब प्राकृतिक साधनों से है जो उपयोगी और साथ-साथ सीमित भी हैं।

आर्थिक विकास की प्रत्येक अवस्था में प्रकृति मनुष्य की सब से लाभदायक सहचरी रही है। शिकारी जीवन तथा मछली पकड़ने की अवस्था (Hunting and the fishing stage) में प्रकृति **भोजन की यथेच्छ स्वतंत्रता** से पूर्ति करती थी तथा मानवीय जीवन को पालती थी। पशु-पालन की अवस्था (Pastoral stage) में यदि भूमि का धरातल तथा चरागाह और घास वाली भमि न होती तो पशुओं तथा भेड़ों के समुदाय पाले तथा रक्खे नहीं जा सकते थे। कृषि की अवस्था (Agricultural stage) में भूमि की उपयोगिता स्पष्ट है। मिट्टी, वायु तथा धूप के बिना मनुष्य किस प्रकार फसलों की उपज कर सकता है? जब कृषि की अवस्था दस्तकारी तथा औद्योगिक अवस्था को स्थान देती है तब भूमि और भी अनिवार्य हो जाती है। प्रत्येक वस्तु जिसका हम प्रयोग करते हैं, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अन्त में भूमि से सम्बद्ध है। चाहे जिस ओर भी हम दृष्टि डालें प्रकृति के प्रति हमारा ऋण स्पष्ट रूप से बहुत अधिक है। बिना इसके हमारा जीवन ही असम्भव हो जायेगा। मार्शल के शब्दों में, "पृथ्वी का धरातल प्रत्येक कार्य की जो

१. Marshall—Principles of Economics, 1936, P. 138.

मनुष्य कर सकता है, प्रारम्भिक अवस्था है, यह उसे उसके कार्यों के लिये स्थान देता है।"

२. भूमि की विशेषताएँ (Peculiarities of Land)—उत्पत्ति के दूसरे साधनों से भेद करने में भूमि में कुछ स्पष्ट विशेषतायें पाई जाती हैं।

(१) **भूमि प्राकृतिक उपहार है**—यह कहा जाता है कि मनुष्य ने स्वयं अपने प्रयत्न से बन, भूमि तथा दलदलों को सुधारा है। उसने मिट्टी तथा खादों के मिश्रण से बंजर भूमि तथा रेगिस्तानों को उपजाऊ क्षेत्रों में परिवर्तित किया है। इस प्रकार भूमि उतनी ही 'मनुष्य द्वारा बनाई हुई' तथा एक 'उत्पन्न किया हुआ' साधन है जितना कि कोई और दूसरा हो सकता है। प्रारम्भ में चाहे जो कुछ भी स्थिति रही हो, यह कहा जाता है कि आधुनिक समय के मनुष्य भूमि को एक प्राकृतिक उपहार मानने को इतने अभिमत नहीं हैं।

परन्तु भूमि के बनाने में प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य का भाग लगभग शून्य है। जहां तक वायु, धूप तथा भूमि के एक क्षेत्र की स्थिति का सम्बन्ध है, मनुष्य ने वास्तव में उनके लिये कुछ नहीं किया है और वे प्रकृति के वैसे ही अंश है जैसे स्वयं पृथ्वी का धरातल। अतएव हम प्रकृति के इन उपहारों के लिये आभारी रहेंगे।

(२) **भूमि मात्रा में निश्चित है**—यह बढ़ाई नही जा सकती। जैसा कि कहा जा चुका है, मनुष्य के प्रयत्न इस ओर केवल नाममात्र को हैं और उनका भूमि की वृद्धि में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है।

यह कहा जाता है कि भूमि का **कोई पूर्ति-मूल्य** (Supply Price) **नहीं है**। इसकी कोई उत्पत्ति-लागत नही है। बाज़ार में भूमि का प्रचलित मूल्य इसकी पूर्ति को प्रभावित नही कर सकता। इसकी पूर्ति न तो अधिक मूल्य होने के कारण बढ़ सकती है और न कम मूल्य होने के कारण घट सकती है; भूमि स्थित तथा सीमित है और वैसे ही रहेगी। भूमि की राशि तथा पूर्ति के बीच कोई अन्तर नहीं। इसके कारण जैसे जनसंख्या में वृद्धि होती है यह न्यूनता-लगान (Scarcity Rent) प्राप्त करने लगती है।

(३) **भूमि स्थायी है**—युद्ध में बमों के द्वारा विध्वंस किये जाने पर भी भूमि थोड़े और साधारण सुधार से अपनी उत्पादकता पुनः प्राप्त कर लेगी। भूमि में स्वाभाविक गुण होते हैं जिन्हें रिकार्डो (Ricardo) ने 'मौलिक तथा अविनाशी' कहा है।

(४) भौगोलिक विचार से **भूमि में गतिशीलता का अभाव है**। यद्यपि अंगूर की लतर उगाने वाली मिट्टी फ्रांस से कैलीफोर्निया ले जाई गई है तो भी भूमि स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाई जा सकती। यह कारण भिन्न स्थानों में लगानों की असमानता का उत्तरदायित्व है।

(५) अन्त में, भूमि उपजाऊपन तथा स्थिति की मात्राओं के **अनन्त भेद** प्रदान करती है, जिसके कारण भूमि के कोई दो टुकड़े ठीक एक-से नहीं होते। यह विशेषता कृषि

की सीमा के सिद्धान्त को स्पष्ट करती है।

भूमि की इन विशेषताओं का अर्थशास्त्र के सिद्धांत, उदाहरणार्थ, लगान के सिद्धांत और जनसंख्या के सिद्धान्त की समस्याओं पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

३. भूमि की उत्पादकता (Productivity of Land)—उत्पत्ति में भूमि की सहायता का महत्त्व उसकी उत्पादकता पर निर्भर है। विभिन्न कारण हैं जिन पर यह उत्पादकता निर्भर है।

(१) **प्राकृतिक कारण**—सब से अधिक महत्त्वपूर्ण कारण जिस पर भूमि की उत्पादकता निर्भर है, प्राकृतिक कारण है। भारत के कुछ भाग **गंगा के मैदान की भांति बहुत उपजाऊ हैं**, कुछ ऊसर तथा बंजर हे और कुछ राजपूताना जैसे रेगिस्तान हे। वे वैसे ही हैं जैसा प्रकृति ने उन्हें बनाया है। मिट्टी की बनावट, जलवायु, खनिज पदार्थ, पर्वत तथा नदियों की गति मनुष्य के वश के बाहर है। वह अधिकतर प्रकृति के साधनों पर ही आधारित है।

(२) **मानवीय कारण**—उत्पादकता मानवीय कारण पर भी निर्भर है। मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। जंगल साफ किये गये हैं। दलदलें सुखाई गई हैं और सिंचाई की सुविधाओं द्वारा बंजर भूमि हरे-भरे लहलहाते उपवनों में परिणत की गई है। गर्मी में ठंडक तथा जाड़े में गर्मी करने के लिये तथा रात्रि में रोशनी करने के लिये नदियों से बिजली उत्पन्न की गई है। कृषि में विज्ञान के प्रयोग के द्वारा प्रति एकड़ उपज में अत्यधिक वृद्धि की गई है। यह सब मानवीय प्रयत्नों के कारण सम्भव हुए ह।

(३) **स्थिति का प्रभाव**—दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण जिस पर भूमि की उत्पादकता निर्भर है, वह है स्थिति का। नगर के पास स्थित भूमि का एक क्षेत्र, चाहे वह दूर बसे हुए भाग की अपेक्षा कम उपजाऊ क्यों न हो, अत्यधिक उत्पादक समझा जाता है। स्थिति ही यह सब अन्तर कर देती है। यहां मनुष्य अच्छी तथा सस्ती यातायात की सुविधायें प्रदान कर के बुरी स्थिति के दोषों को बहुत कुछ कम कर सकता है।

४. विस्तृत तथा गहन कृषि (Extensive and Intensive Cultivation)—हमने अनुभव किया है कि मनुष्य सदैव यह प्रयत्न करता रहता है कि कम-से-कम व्यय करके अधिक-से-अधिक पुरस्कार प्राप्त करे। उसने कृषि में दो रीतियों का प्रयोग किया है : (१) विस्तृत कृषि, (२) गहन कृषि।

विस्तृत कृषि में मनुष्य साधारण रूप से जितनी भूमि जोत सकता है उससे अधिक जोतता है। वह भूमि में प्रयोग होने वाले श्रम और धन में कोई अनुरूप वृद्धि नहीं करता। नये देशों में जहां भूमि काफी और आवश्यकता से अधिक है, वहां मनुष्य विस्तृत कृषि की रीति प्रयोग करता है। उसका उद्देश्य अपने प्रयासों और पूंजी का अधिक-से-अधिक लाभ उठाना है चाहे उसमें भूमि का उपयोग अत्यधिक क्यों न हो। ऐसी परिस्थितियों में प्रत्येक

किसान के पास विस्तृत भूमि होती है। परंतु वह भूमि के उचित उपयोग के लिये प्रयत्न नहीं करता क्योंकि भमि बहुत अधिक और सस्ती होती है ।

दूसरी रीति गहन-कृषि की रीति कहलाती है। इस अवस्था मे भूमि बहुत सीमित होती है। अस्तु, प्रत्येक किसान के पास बहुत थोड़ी भूमि होती है। निश्चय ही वह उससे अधिक-से-अधिक काम लेना चाहेगा। वह स्वयं उस पर कठिन परिश्रम करने को और अधिक पूँजी लगाने को तैयार रहता है। उसको सर्वोत्तम औज़ार तथा सामग्री खरीदनी चाहिये और जमीन को अच्छी तरह से जोतना चाहिए। उसे अपने बीजों का चुनाव अधिक औचित्य तथा सचेतता से करना चाहिए और उचित फासला देकर उन्हे बो देना चाहिए। उसके खेत मे सिचाई की उचित व्यवस्था होनी चाहिये। उसे यथाक्रम हेरफेर की विधि अपनानी चाहिये — सक्षेप मे उसकी रीति वैज्ञानिक होनी चाहिये। केवल तभी उसका वह छोटा खेत अधिकतम उपज दे सकता है। पहली रीति की अपेक्षा जिसमें कि केवल भूमि का ही प्रयोग अधिक था, अब ऐसी परिस्थिति मे श्रम और पूजी का अधिक प्रयोग होगा।

क्या विस्तृत रीति का अभिप्राय बडे खेत और गहन रीति का छोटे खेत से है ? यह कोई आवश्यक नही है। साधारणतया हम देखते है कि जहा भूमि का क्षेत्रफल विस्तृत है और खेत बडे है, वहा किसान कृषि मे विस्तृत रीति का प्रयोग करता है और दूसरी ओर जहा भूमि सापेक्ष रूप मे कम होती है,वहां उसी भूमि को अधिक गहन रीति से जोतना पडता है परन्तु सदैव ऐसा नही होता। अमेरिका और कनाडा मे बडे खेत है, परन्तु किसान कृषि की नई और वैज्ञानिक रीतियो का प्रयोग, जिसको हम गहन रीति कहते है, करके अधिक उपजाऊ बनाते है। दूसरी तरफ भारत मे जहा किसान गरीब और अनजान है, कृषि पुरानी रीतियों से होती है जोकि विस्तृत रीति कही जा सकती है। इस प्रकार विस्तृत रीति और बड़े खेत तथा गहन रीति और छोटे खेत हमेशा साथ-साथ नही दीखते।

५. क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishirg Returns)--कृषि मे क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है। केयरनेस (Cairnes) के कथनानुसार यदि यह नियम लागू न हो तो "अर्थशास्त्र इस प्रकार पूर्णतः परिवर्तित हो जायेगा जैसे कि मानव स्वभाव स्वय परिवर्तित हो गया हो।" इतना अधिक महत्त्व क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो मे है।

क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का अध्ययन दो दृष्टिकोणों से किया जा सकता है : (१) जिस तरह यह भूमि की जुताई पर लागू होता है; और (२) जिस तरह यह प्रत्येक स्थान पर लागू होता है अर्थात् नियम अपने सामान्य रूप में।

प्रत्येक कृषक का यह व्यावहारिक अनुभव है कि "एक निर्धारित भूमि में पूजी तथा श्रम के क्रमशः प्रयोग से, यदि अन्य वस्तुएं उसी अवस्था मे रहें, तो अन्त में उत्पत्ति-वृद्धि अनुपात से कम होगी।" यदि कोई पूजी और श्रम को दुगुना करने पर, वह उत्पत्ति को भी

दुगुना कर सके तो यह स्पष्ट है कि केवल एक एकड भूमि से उतना गेहूं पैदा किया जा सकता है जितना कि सम्पूर्ण विश्व की जन-सख्या के लिये आवश्यक है। परन्तु ऐसा नही हो सकता क्योंकि क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है। यदि लागत दुगुनी कर दी जाय तो इसमें सदेह नही कि उत्पत्ति बढेगी परन्तु उत्पत्ति दुगुनी से कम होगी। कुल उपज बढ़ेगी परन्तु घटती हुई दर से।

क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम की सीमाएं--क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम सदैव लागू नही होता। इस सिद्धान्त के कुछ अपवाद है :--

(अ) **उन्नतिशील कृषि की रीतियां**--उत्पादन कला मे प्रगति से मानव की कल्पना-शक्ति इस नियम की प्रतिक्रिया के लिये सदैव प्रयत्नशील रहती है। वैज्ञानिक रीति से फसलो का हेर-फेर, अच्छे बीज, कृषि के आधुनिक यत्र, बनाई हुई खाद (Artificial Manures) और सिचाई के अच्छे तथा सुगम साधन आदि से आवश्यक उपज अधिक होगी। परन्तु विज्ञान खाद्य पदार्थ की बढती हुई माग की पूर्ति नही कर सकता। प्रकृति की कृपणता अन्त मे अवश्य ही प्रभाव डालेगी और कभी-न-कभी नियम अवश्य ही लाग होगा।

(ब) **नई मिट्टी**--जब बिना जुती हुई भूमि कृषि के अन्तर्गत आती है तब क्रमशः बढाई हुई श्रम और पूजी की मात्रा के कारण कुछ समय के लिये सीमान्त उपज बढ सकती है। परन्तु कुछ सीमा के बाद क्रमागत ह्रास की प्रवृत्ति स्पष्ट होगी।

अन्त मे प्रोफेसर मार्शल (Prof. Marshall) ने इस नियम की व्याख्या इस प्रकार की है, "यद्यपि कृषि की कला में सुधार से वह उपज बढ सकती है जोकि साधारण किसी भूमि मे किसी निर्धारित श्रम और पूजी की मात्रा लगाने से उत्पन्न हो सकती है और यद्यपि किसी भूमि के टुकड़े पर पहले से लगाई हुई श्रम और पूजी उसकी पूर्ण शक्ति में वृद्धि करने के लिये इतनी अपर्याप्त हो कि कृषि की प्रचलित कला के अतिरिक्त भी अधिक धन के व्यय करने पर यह अनुपात से अधिक उत्पत्ति करेगी, परन्तु एक प्राचीन देश में ये दशाये न्यून है और यदि है तो भूमि अधिक श्रम और पूजी का प्रयोग करने से उत्पत्ति में वृद्धि अनुपात से उस समय तक कम होगी जब तक कि उसी समय मे कृषक की व्यक्तिगत कृषि कला मे उन्नति न हो जाय। दूसरी बात यह है कि कृषि-कला में भविष्य में चाहे जो कुछ भी उन्नतियां हो, भूमि पर पूजी और श्रम के लगातार अधिक प्रयोग से अन्त में अतिरिक्त उत्पत्ति कम होगी, जो कि श्रम और पूजी की एक दी हुई मात्रा से प्राप्त हो सकती है।"[1]

६. क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का सारिणी द्वारा विवरण (Tabular Representation of the Law of Diminishing Returns)--आगे दी हुई सारिणी पर विचार कीजिये :--

1. Marshall—Principles of Economics, 1936, P. 153.

५० एकड़ खेत द्वारा गेहूँ की उपज (मनों में)

१	२	३	४
श्रमिको की संख्या	कुल उपज	सीमान्त उपज	औसत उपज
१	८०	८०	८०
२	१७०	९०	८५
३	२७०	१००	९०
४	३६८	९८	९२
५	४३०	७०	८६
६	४८०	५०	८०
७	५०४	२४	७२
८	५०४	०	६३
९	४९५	—९	५५
१०	४७०	—२५	४७

इस सारिणी से ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के तीन भिन्न सामान्य विचार अथवा पहलू है —

(१) **क्रमागत कुल उत्पत्ति ह्रास नियम** (Law of Total Diminishing Returns)—(पंक्ति न० २) इस विचार से नवे श्रमिक से उपज घटना प्रारम्भ हो जाती है। प्रत्येक क्रमश. लगाया हुआ श्रमिक उपज मे कुछ वृद्धि करता है। किन्तु आठवा कुछ वृद्धि नही करता तथा नवे और दसवे स्पष्ट रूप से व्यर्थ है। क्योकि मनुष्य बिना मूल्य के नही मिल सकते इसलिये कोई बुद्धिमान किसान इस सारिणी के द्वारा प्रस्तुत दशाओ में सात श्रमिको से अधिक नही लगायेगा।

(२) **क्रमागत सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम** (Law of Diminishing Marginal Returns)—(पंक्ति न० ३) सीमान्त उपज तीसरे श्रमिक तक बढती जाती है। ऐसा इसलिये है कि श्रमिको का भूमि से अनुपात पहले अपर्याप्त था और भूमि पूर्णत. नही जोती गई थी। कृषि की यह स्थिति अस्थायी है और यह व्यवहार में नही पाई जायेगी। यदि किसान जानता है कि श्रमिको की सख्या बढाने से उपज समानुपात से अधिक बढेगी तो वह अवश्य ही ऐसा करेगा। सीमान्त अर्थात् अतिरिक्त उपज तीसरे श्रमिक के बाद घटती चली जाती है और आठवे पर शून्य हो जाती है। नवे तथा दसवें श्रमिक दूसरों के लिये केवल बाधा के कारण है तथा सीमान्त उपज को ऋणात्मक बनाने के उत्तरदायी है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि सीमान्त उपज उस अतिम मनुष्य द्वारा उपज से नहीं है जिसकी नियुक्ति केवल उचित ही समझी जाती है क्योकि सब मनुष्य एक से माने जाते है। सीमान्त उपज केवल वह वृद्धि है जो सीमान्त श्रमिक करता है।

(३) **क्रमागत औसत उत्पत्ति ह्रास नियम**—(पंक्ति न० ४) औसत उपज चौथे

श्रमिक पर अधिकतम सीमा पर पहुंचती है अर्थात् सीमान्त उपज के अधिकतम होने के एक संख्या बाद इसके बाद सीमान्त उपज और शीघ्रता से घटती है। दोनों चौथे तथा पाचवें के मध्य में किसी स्थान पर समान होगी अर्थात् जब पांचवा आंशिक समय तक काम करता है। किन्तु हम वास्तविक जीवन मे मनुष्यो को भागो में नही नियुक्त करते है। अतएव सीमान्त तथा औसत उपजों को हमेशा समान करना सम्भव नही होता है। यह भी स्पष्ट है कि जब सीमान्त उपज घटती है, तो औसत उपज में वृद्धि सम्भव है।

७. नियम गहन तथा विस्तृत दशाओं मे (The Law in the Intensive and Extensive Forms)—यह देखा जा सकता है कि जब केवल भूमि में वृद्धि हो अथवा केवल श्रम मे वृद्धि हो तो बढाए गए साधन की औसत उपज कम हो। इससे उत्पत्ति ह्रास की दो दशाये उत्पन्न होती है—विस्तृत तथा गहन। किसान स्थिति तथा उत्पादकता दोनो पर विचार करते हुए पहले सर्वश्रेष्ठ भूमि जोतता है। जब तक अतिरिक्त उपज का मूल्य खेती के व्यय से अधिक होता है, किसान और निम्न श्रेणी की भूमि लेता चला जाता है। वह खेती के विस्तार को आगे बढाना बन्द कर देगा जब कि अतिरिक्त आय अतिरिक्त व्यय के बराबर हो जाएगी। यह सीमान्त भूमि कहलाती है। **विस्तृत दशा में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम** उस समय लागू होता है जब कि जुताई निम्न श्रेणी की भूमि तक बढाई जाती है और उत्पत्ति हर बार घटती चली जाती है।

किन्तु जब किसान भूमि के एक ही टुकडे मे अधिक-से-अधिक श्रम तथा पूजी की मात्रायें लगाता जाता है तो प्रत्येक मात्रा के लगाने से उत्पत्ति क्रमश समानुपात से कम प्राप्त होगी। वह और अधिक मात्राओ का प्रयोग बन्द कर देगा। जब अतिरिक्त व्यय प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय के बराबर होता है तो आखिरी मात्रा जिसका प्रयोग बस उचित ही समझा जाता है सीमान्त मात्रा कहलाती है। **यह गहन दशा मे क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम है।** विस्तृत दशा मे श्रम तथा पूजी पर भूमि का अनुपात बढाया जाता है और गहन दशा मे भूमि पर श्रम तथा पूजी का अनुपात बढाया जाता है।

इसे महत्व देना उचित है कि इस वाद-विवाद मे यह माना जाता है कि उत्पत्ति मूल्य मे नही वरन् मात्रा मे मापी जाती ह। यह हो सकता है कि अतिरिक्त उपज तो घट गई हो किन्तु कीमत बढने से इसका मूल्य अधिक हो। किन्तु हम इसे क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि (Increasing Return) नही कहेगे।

८. क्या क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम की प्रतिक्रिया हो सकती है? (Can the Law of Diminishing Returns be Counteracted?)—हां, नियम की प्रतिक्रिया हो सकती है और हुई है। कोई भी वस्तु जो भमि की कोटि या शक्ति को बढाती है और इसकी उपज मे वृद्धि करती है अथवा कोई वस्तु जो **उपज के मूल्य** मे वृद्धि लाती है, नियम के संचालन को रोकेगी। आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग, मिट्टियों तथा खादों का बुद्धिमानी से मिश्रण, बीज को होशियारी से चुनना और उचित बोआई, गहरी-

से-गहरी जुताई तथा यथेष्ट सिचाई की सुविधाओं का प्रबन्ध इत्यादि, हम नियम में संचालन की प्रतिक्रिया करने के योग्य बना सकता है। सक्षेप में **वैज्ञानिक कृषि क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के संचालन को रोक सकती है।** सब उन्नतिशील देशो में कृषि में विज्ञान के प्रयोग और यातायात तथा बेचने की सुविधाओं मे उन्नति ने नियम को रोक रखा है। पाश्चात्य देशों, मुख्यत. रूस मे, कृषि-सम्बन्धी विकास से चकित करने वाले परिणाम प्राप्त हुए है। इन युक्तियों की भारत में बहुत अधिक आवश्यकता है क्योकि हमारी आबादी की अधिक संख्या कृषि पर निर्भर है और उत्पादकता लगभग संसार में सब से कम है।

९. क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का प्रयोग (Application of the Law of Diminishing Returns)—हमने ऊपर क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का कृषि के सम्बन्ध मे विवेचन किया है। किन्तु इसका संचालन खानो, मछली उद्योगों तथा इमारतो जैसे अन्य Extractive उद्योगो मे भी पाया जा सकता है।

जहा तक खानो का सम्बन्ध है, सब से पहले अच्छी स्थिति वाली तथा अधिक पहुंच वाली खानो पर काम किया जावेगा और जब खुदाई के कार्य कम सुविधा वाली तथा दूर की खानो पर बढाये जायेगे अथवा जब उसी खान पर अधिक गहराई तक कार्य होता है तो लगाए गए श्रम तथा पूजी द्वारा उत्पत्ति अनुपात मे कम होगी। फिर भी इसमे एक अन्तर है : खान केवल एक भडार है। एक बार समाप्त होने के बाद, यह सदा के लिये समाप्त हो जाता है, जब कि भूमि यदि उचित रूप मे प्रयोग मे लाई जाये तो फसलो की उत्पत्ति का एक निरन्तर साधन है।

यह नियम मछलियो के उद्योग मे भी लागू होता है। जब मछली पकडने का कार्य नदी मे अथवा समुद्र के किनारे एक स्थान पर केन्द्रित होता है, तो अतिरिक्त प्रयत्न क्रमशः कम मछलियां प्रदान करते है।

जहा तक इमारतो का सम्बन्ध है, वे इमारतें जो कि अच्छे स्थान पर स्थित है, अधिक किराया प्रदान करेंगी। जैसे-जैसे केन्द्र से हटते जायेगे किराया कम होता जायगा। इमारत पर मजिलें बना कर नियम की प्रतिक्रिया नही हो सकती क्योकि जैसे-जैसे ऊपर जाते है असुविधा बढती है और किराया कम होता है।

१०. क्या यह नियम केवल कृषि मे ही लागू होता है? (Does the Law apply to Agriculture alone)—यह बताया गया है कि क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम कृषि तथा अन्य निस्सारण सम्बन्धी उद्योगो में लागू होता है। इन सब उद्योगो मे प्रकृति का प्रभुत्व समान है। **अतएव यह प्रायः कहा जाता है कि उत्पत्ति में प्रकृति का जितना भाग है उसमें क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है और मनुष्य का जितना भाग है उसमें क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।** इससे परिणाम यह निकलता है कि कृषि में, जिसमें प्रकृति प्रधान होती है, क्रमागत

उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है, जबकि उद्योग मे, जिसमें मनुष्य प्रधान है, क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।

इसमें कोई संदेह नही कि कृषि में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के कई कारण है। कृषि-सम्बन्धी कार्य एक विस्तृत क्षेत्र मे फैले होते है और उनकी देखभाल उचित नही हो सकती। रीतियो में अधिक विशिष्टीकरण नही होता और प्रत्येक श्रमिक से एक ही समय पर अनेकों कार्य करने की आशा की जाती है। मशीन के प्रयोग का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। अतएव बड़े पैमाने पर उत्पत्ति (Large-scale Production) की मितव्ययतायें नही प्राप्त हो सकती। उद्योग की अल्पकालिक प्रकृति के कारण और भी सीमाये उत्पन्न होती है। कृषि-सम्बन्धी कार्यो मे वर्षा तथा अन्य जलवायु-सम्बन्धी परिवर्त्तनो द्वारा बाधा पड़ने की सभावना है। ऐसे समय मनुष्य अपनी लाचारी अनुभव करता है। ओले पडने से, असामयिक वर्षा से अथवा किसी टिड्डी दल के आक्रमण अथवा महामारी जैसे सकट से मनुष्य के प्रयत्न व्यर्थ हो सकते है। मनुष्य प्रकृति का पूर्णतः स्वामी नही है और कोई आश्चर्य नही कि कृषि मे क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

इसी प्रकार यह प्रतीत हो सकता है कि शिल्प-उद्योगों मे क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो। इसमे मनुष्य की युक्ति के प्रयोग के लिये अधिकतम क्षेत्र है। श्रम-विभाजन तथा पूर्णतः आधुनिक यत्रो के प्रयोग के प्रचार से उत्पत्ति कल्पना से परे सीमा तक बढाई जा सकती है। एक स्थान पर श्रमिको के केन्द्रित होने से देखभाल आसान तथा प्रभावशाली हो जाती है। प्रकृति के दूषित प्रभाव निरन्तर अलग कर दिये जाते है। मनुष्य योजना बनाने, उसे प्रारम्भ करने तथा चलाने मे स्वतन्त्र है। वह सब आन्तरिक और बाह्य मितव्ययताये प्राप्त कर सकता है।

परन्तु उद्योग-धन्धो का ऐसा वर्गीकरण करना अनुचित है जैसे कि वे उद्योग जिनमें क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है, और वे उद्योग जिनमे क्रमागत वृद्धि नियम लागू होता है अथवा यह कहना भी अनुचित है कि कृषि मे क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है और शिल्प उद्योगो मे क्रमागत वृद्धि नियम। क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम हर जगह लागू होता है। विकस्टीड (Wicksteed) के शब्दों में "यह नियम स्वयं जीवन के नियम की भाति सब जगह लागू है।" इसका प्रयोग कृषि में ही सीमित नही है; यह शिल्प उद्योगो मे भी लागू होता है। यदि उद्योग बहुत विस्तृत कर दिया जाय और स्थूल हो जाय, उसकी देखभाल ढीली हो जायेगी और व्यय बढ़ जायेगा। क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जायेगा। अंतर केवल इतना ही है कि कृषि में यह जल्दी लागू होता है जब कि उद्योग मे बहुत बाद मे। यह हो सकता है कि एक बुद्धिमान उद्योग-पति यह दशा आने ही न दे। प्रारम्भ मे कृषि मे भी क्रमागत वृद्धि होती है। अतएव दोनों नियम निःसारण-सम्बन्धी तथा शिल्प-उद्योग-सम्बन्धी सब प्रकार के उद्योगों में

लागू होते है। वास्तव में वे एक ही नियम के दो रूप है जिसे अनुरूपता का नियम भी कहा जाता है।

११. सामान्य रूप में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns in a General Form)—इग्लैन्ड के प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के समय से क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के भूमि के सम्बन्ध मे विवेचन ने इसके वास्तविक महत्त्व को ढक दिया है। कृषि के विषय मे कोई विशेषता नही है जिसके कारण नियम को केवल इसी से सम्बद्ध किया जाय। वास्तव मे उन्नतिशील देशो में वैज्ञानिक विधि की कृषि ने इस नियम को नही के बराबर कर दिया है। यह इससे स्पष्ट है कि जबकि जीवन-निर्वाह-स्तर के बढने से खाद्य के उपभोग मे वृद्धि हुई है, खाद्य की उत्पत्ति मे लगे हुए व्यक्तियो की सख्या वास्तव मे कम हो गई है। अब बहुत कम प्रतिशत जनसख्या कृषि पर निर्भर है (वास्तव मे भारत एक अपवाद है।) एक समय था जब यह नियम इगलैंड की कृषि मे लागू होता था। परन्तु "माल्थस तथा उसके अनुयायियो ने एक ऐसी घटना को जो केवल स्थानीय तथा अल्पकालिक थी, एक ऐसी वास्तविक ऐतिहासिक यथार्थता बना दिया, जिसका प्रयोग हर जगह हो सकता है।"

यथार्थता यह है कि नियम कृषि मे ही नही लागू होता। इसका सामान्य प्रयोग होता है और इसलिये इसको सामान्य रूप दिया जा सकता है। क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम केवल साधनो के मिश्रण के सिद्धान्त की ओर सकेत करता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि यदि एक परिवर्तनशील साधन कुछ स्थायी साधनो से मिलाया जाय, तो उस परिवर्तनशील साधन की औसत तथा सीमान्त उपज गिर जायगी। यह केवल इस कारण है कि मिश्रण साधनो के एक उचित अनुपात को नही दिखाता। दूसरो की तुलना मे एक साधन अत्यधिक हो जाता है। जब साधनो के बीच उचित सतुलन स्थापित हो जायगा तब क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम नही लागू होगा।

यह नियम इसलिये लागू होता है कि उत्पत्ति के साधन सीमित है। यदि साधनो के मिश्रण मे किसी एक की न्यूनता हो जिससे उसकी पूर्ति और नही बढ सकती अथवा वह निम्न कोटि का हो तो क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम अवश्य ही लागू होगा। चैपमैन के शब्दो मे **"यदि अन्य बातें समान रहें, तो एक उद्योग का विस्तार शीघ्र ही अथवा अन्त में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के अवश्य ही साथ चलेगा यदि उत्पत्ति मे किसी एक साधन की जो अनिवार्य है अधिक पूर्ति न प्राप्त हो सकती हो।"**

किसी मिश्रण में जब एक साधन की वृद्धि होती है तथा अन्य साधन स्थायी रहते है, क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम अवश्य ही लागू होता है। बेन्हम नियम का इस प्रकार वर्णन करते है: **"जैसे-जैसे साधनों के एक मिश्रण में कोई एक साधन अनुपात में बढ़ा दिया जाता है तो एक सीमा के पश्चात्, उस साधन की सीमान्त तथा औसत उपज कम हो जायेगी।** इसमे यह मान लिया जाता है कि कला-सम्बन्धी ज्ञान निश्चित है और

उस श्रेणी की उत्पत्ति मे कोई मितव्ययताये नही प्राप्त होती ।"

यदि हम जरा ध्यानपूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि घटती उत्पत्ति का नियम इस कारण लागू होता है कि उत्पत्ति के साधन एक दूसरे का पूर्ण रूप से प्रतिस्थापन नही कर सकते। यदि कर सकते होते तो एक साधन की कमी को दूसरे के प्रतिस्थापन द्वारा आसानी से दूर किया जा सकता। फिर तो कोई साधन मात्रा में सीमित न हो पाता और फलस्वरूप यह नियम लागू न हो पाता। श्रीमती जोन राबिन्सन ने इस बात पर उचित प्रकाश डाला है।

क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का अभिप्राय क्रमागत व्यय वृद्धि नियम से है। इस रूप मे यह बात है कि उत्पत्ति के कुछ साधनो के बढे हुए प्रयोग से, जब कि अन्य साधन स्थायी है, उपज की प्रति इकाई बढे हुए व्यय पर प्राप्त होगी। आप कह सकते है कि या तो उपज कम होती जाती है या व्यय बढता जाता है। यह एक ही बात है।

यह तो स्पष्ट ही है कि यह नियम तभी लागू होगा जब कि कुछ साधन स्थायी है और कुछ बढ रहे है। साथ ही आविष्कार, उन्नति आदि के प्रभाव से इस नियम का लागू होना रुक जायेगा।

१२. आर्थिक सिद्धान्त में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का महत्त्व (The Importance of the Law of Diminishing Returns in Economic Theory)—क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम प्रतिष्ठित अंग्रेज अर्थ-शास्त्रियो विशेषत. माल्थस तथा रिकार्डो द्वारा बनाये हुए अनेक आर्थिक सिद्धान्तों का आधार बन गया है। इसको प्रकृति का निष्ठुर नियम कहा गया था। इसके कारण अर्थ-शास्त्र मे बहुत से निराशावादी विचार हुए जिससे इसको निकृष्ट विज्ञान (Dismal Science) कहा गया। माल्थस का जनसख्या का सिद्धान्त जिसके अनुसार जन-सख्या खाद्य-पदार्थो से अधिक शीघ्रता से बढती है, स्पष्ट रूप से इस यथार्थता पर निर्धारित है कि खाद्यो की उत्पत्ति पर क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

रिकार्डो का लगान-सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि लगान इस कल्पना पर निश्चित होता है कि नीची श्रेणी की भूमि पर कृषि क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के कारण की जाती है। कृषि की सीमा गिरती जाती है और लगान बढता जाता है। व्यवसाय का आदर्शरूप भी इस सिद्धान्त के सचालन मे स्पष्ट किया जाता है। कीमत का सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त तथा सीमान्त उत्पादन का सिद्धान्त जो राष्ट्रीय आय (National Dividend) में उत्पत्ति के एक साधन का हिस्सा निश्चित करता है, इस आवश्यक नियम के सचालन पर आधारित है। अस्तु, क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम आर्थिक विचार-धारा मे एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

अध्याय ९

उत्पत्ति के साधन—श्रम

AGENTS OF PRODUCTION—LABOUR

१. श्रम का अर्थ (The Meaning of Labour)—साधारण बोल-चाल मे श्रम से अभिप्राय मिलों और खेतो के मजदूरो से अथवा अकुशल दस्तकारी के समुदाय से है। परन्तु अर्थशास्त्र मे 'श्रम' शब्द का प्रयोग इस सीमित अर्थ मे नही होता। **कोई भी काम चाहे वह हस्तसम्बन्धी हो अथवा मानसिक, जो कि मौद्रिक पारितोषिक के लिए किया जाता है, अर्थशास्त्र में श्रम कहलाता है।** इस शब्द का अभिप्राय प्रयास की उग्रता से नही वरन् उसकी प्रवृत्ति या उसके उद्देश्य से होता है। एक खिलाडी, एक अनिपुण संगीतज्ञ अथवा चित्रकार के कामो मे प्रयास तथा प्रवीणता संयुक्त रहती है; एक मां अपने बच्चे के पालन मे बहुत-सा कष्ट उठाती है। ये क्रियाये आर्थिक तात्पर्य से श्रम के अन्तर्गत नही आती क्योकि वे मौद्रिक पारितोषिक के लिये नही वरन् आनन्द अथवा प्रेम तथा स्नेह के लिये की जाती है। जब तक उद्देश्य रुपया कमाना नही होता तब तक अर्थशास्त्र मे कुछ भी श्रम नही कहा जा सकता। मार्शल के शब्दो मे श्रम की परिभाषा इस प्रकार से हो सकती है : "**कोई भी मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम जो कि अपूर्ण अथवा पूर्ण रूप से, प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त किये हुए आनन्द के अतिरिक्त किसी अन्य लाभ के लिए किया गया हो।**"[1]

अतएव श्रम शब्द अर्थशास्त्र मे अधिक विस्तृत रूप से प्रयोग होता है और निकल्सन (Nicholson) के शब्दो मे "हर प्रकार के अधिक ऊंचे व्यवसायी, प्रवीण तथा अप्रवीण और शिल्पकारी के श्रम भी सम्मिलित है; हमको इसमे केवल उन्ही का श्रम ही सम्मिलित नही करना चाहिए जो साधारणतया व्यापार में लगे है, वरन् उनका भी जो शिक्षा, सुन्दर कला, साहित्य, विज्ञान, न्याय के सचालन तथा सरकार की समस्त शाखाओं में लगे हुए है और हमको उसमे केवल वही श्रम समावेश न करना चाहिए जिसका परिणाम स्थायी रूप में होता है परन्तु वह श्रम भी जो कार्य में ही अन्त हो जाने वाली सेवाएँ प्रदान करता है।"[2]

२. उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम (Productive and Unproductive Labour)—निर्बाधावादी १८वी शताब्दी के फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों ने उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम का वाद-विवाद यह कह कर आरम्भ किया कि केवल किसानों

1. Marshall—Principles of Economics, (1936), P. 65.
2. Nicholson—Elements of Political Economy.

का कार्य उत्पादक था। आगे इसमें व्यवसाय-संबंधी कार्य भी सम्मिलित कर लिया गया परन्तु एडम स्मिथ के समय तक भी 'उत्पादक-श्रम' शब्द बहुत संकुचित रूप में प्रयोग किया जाता था। एडम स्मिथ उस समस्त कार्य को अनुत्पादक मानते थे जो एक "भौतिक पदार्थ अथवा बेचने योग्य वस्तु नही तैयार करता।" एक घरेलू नौकर की सेवाएँ अनुत्पादक है क्योकि वे करते समय ही नष्ट हो जाती है। उनका यह भी कथन है कि "समाज में अधिक सम्मान वाला श्रम भी एक नीच नौकर की भाति अनुत्पादक है, उदाहरणार्थ, सम्राट् अपने समस्त न्याय, शान्ति स्थापित करने वाले अफसरों, जल, थल सेना-नायको के सहित।"[1] इस मत के अनुसार, जब तक श्रम भौतिक मूल्य उत्पन्न नही करता वह अनुत्पादक है। परन्तु आधुनिक धारणा के अनुसार समस्त कार्य उत्पादक माना जाता है चाहे वह एक भौतिक वस्तु बनाता है अथवा सेवा करता है। अतएव सभी श्रेणी के मनुष्य जिनको एडम स्मिथ ने अनुत्पादक माना था, उत्पादक है। **इस दृष्टि से समस्त श्रम उत्पादक है।**

हम उस श्रम के विषय मे क्या कहेगे जो कि नष्ट हो जाता है, अनुचित मार्ग पर लगाया जाता है अथवा अपने उद्देश्य मे असफल हो जाता है; उदाहरणार्थ, वह श्रम जो उस पनामा नहर के खोदने मे लगाया गया जो कि बन्द हो गई। मार्शल[2] ऐसे श्रम को उत्पादक श्रम के वर्ग से पृथक् रखते है। परन्तु यह भी ठीक मत नही है। उस श्रम को भी जो फल-दायक होने मे असफल रहा, पारितोषिक मिला। प्रवृत्ति उत्पादन की थी, परिणाम से कोई तात्पर्य नही।

फिर भी कुछ श्रेणी के ऐसे मनुष्य भी है जिनसे उत्पत्ति मे न तो कुछ सहायता मिलने की आशा की जाती है और न वे सहायता देते ही है, उदाहरणार्थ, समुद्री और अन्य डाकू, चोर, कगाल, जुवारी, अयोग्य सट्टेबाज, गिरहकट इत्यादि। उनके स्वयं के लिए उनका कार्य कभी-कभी सर्वथा उत्पादक है। परन्तु ऐसे सब असामाजिक कार्यो को अनुत्पादक मानना चाहिए। एक मिथ्या चिकित्सक या कष्ट देने वाली शराब अथवा दूसरी मादक वस्तुए बनाने वाले अथवा हानिकारक किताबें लिखने वालो का कार्य उत्पादक समझा जाता है, क्योकि उनकी सेवाएँ, कुछ मार्गभ्रष्ट मनुष्य जो उनके लिए भुगतान करने को तैयार है, चाहते है। अर्थशास्त्र मे हम किसी कार्य को नैतिक दृष्टिकोण से नही देखते। बीमा कार्य तथा योग्य सट्टा उत्पादक समझे जाते है क्योकि उनकी सेवाएँ उत्पन्न करने वालों के लिए उपयोगी है।

३. श्रम की विशेषताएँ (Peculiarities of Labour)—श्रम उत्पत्ति के दूसरे साधनो से स्पष्ट रूप से भिन्न है। यह जीवित रहने वाला है और यही

---

1. Adam Smith—An Inquiry into the nature and causes of the Wealth of Nations—Annotated by J.R. McColloch, pp. 93-94.

2. Marshall: Op-cit, P. 65.

भिन्नता पैदा करता है। श्रम केवल उत्पत्ति का साधन ही नही वरन् उत्पत्ति का लक्ष्य भी है। इसकी कुछ विशेषताएँ है जो इसको उत्पत्ति के शेष साधनो से पृथक् करती है :—

(१) **श्रम स्वयं श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता**—जैसा कि मार्शल ने कहा है, "कार्यकर्ता अपना कार्य विक्रय करता है परन्तु वह स्वयं अपनी सम्पत्ति रहता है; उसको सेवाओ के बदले मे जो कुछ मिलता है उसके पालन तथा शिक्षा देने के व्यय के भार की अपेक्षा बहुत कम होना है।" अतएव बहुत से माता-पिता अपने बच्चो पर धन लगाने में या तो असमर्थ या अनिच्छुक होने है।

(२) **श्रमिक को जो वस्तु बेचनी होती है उसे स्वयं जाकर देनी पड़ती है**। अतएव जिन वातावरणो मे श्रमिक को काम करना होता है उनका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

(३) **श्रम टिकाऊ नहीं है**, यह नाशवान है। बिना कार्य किया हुआ दिन सदैव के लिए चला जाता है। चूँकि वह वस्तु जिसे उसे बेचना होता है नाशवान होती है अतएव उसको उसे बिना मूल्य का ध्यान दिये बेचना पडता है। जैसा कि एरिक रॉल (Erick Roll) का कथन है "उसका कोई रक्षित मूल्य नही है।"

(४) **श्रम में सौदा करने की शक्ति कम होती है**—मालिक श्रमिक की असमर्थता का लाभ उठाता है और बहुधा उसको जितना उचित है उससे कम देता है।

(५) **श्रम की कीमत में परिवर्तन उसकी पूर्ति पर विलक्षणता से प्रभाव डालता है**—साधारण वस्तुओं की पूर्ति मूल्य के साथ-साथ घटती-बढती है। अर्थात् जितनी ही कीमत अधिक होगी उतनी ही अधिक पूर्ति होगी तथा प्रतिक्रम भी। परन्तु श्रम की कीमत अर्थात् मजदूरी (वेतन) मे एक सीमा के नीचे कमी पूर्ति को बढा सकती है। ऐसी परिस्थिति में कुछ न काम करने वाले मनुष्य भी काम करने को कर सकते है ताकि वे अपने कम-से-कम जीवन-निर्वाह-स्तर को स्थिर रखने के लिए परिवार की आय को पर्याप्त बना सकें। यदि कीमत अर्थात् मजदूरी किसी सीमा से आगे बढ़ जाती है तो पूर्ति घट सकती है। यह भली भाति विदित है कि भारतीय मजदूर की कमाई मे वृद्धि होने से बहुधा कारखानों मे अनुपस्थिति बढ जाती है।

अन्त में, मांग और पूर्ति का शीघ्र सामंजस्य नहीं हो सकता। मदी (Depression) के समय की भाति यदि माग गिर जाती है तो पूर्ति कम नही की जा सकती तथा मजदूरी गिरेगी। परन्तु लड़ाई के समय श्रम की माग बढ जाने से मजदूरी अवश्य ही बढ़ेगी। कारण मनुष्यो की पूर्ति, गेहूं की पूर्ति की भाति, दूसरे वर्ष तक बढ़ाई नही जा सकती।

जब हम मजदूरी के निर्धारण का विवेचन करेंगे तो इन विशेषताओ का प्रभाव स्पष्ट हो जायेगा। यदि श्रम भी एक साधारण वस्तु होता तो मजदूरी का सिद्धान्त भिन्न होता।

श्रम की विशेषताये बढ़ा कर कही गई है—परन्तु ये विशेषतायें अवसर बढ़ा चढ़ाकर कही जाती है। कुछ सीमा तक यह विशेषताये दूसरे साधनो में भी पाई जाती है। यदि

किसी दूसरे साधन का प्रयोग नही होता, तो वह भी खराब होने लगता है। साहसी व्यवसायी की दृष्टि मे मनुष्य एक मशीन के समान है और वह मानवीय गुणो का महान् तिरस्कार कर के एक का दूसरे के लिए प्रतिस्थापन करता है। या यो कहिये कि वही माग और पूर्ति का नियम श्रम की कीमत को निर्धारित करता है। यह एक आर्थिक प्रश्न की अपेक्षा सामाजिक प्रश्न है कि श्रम को एक वस्तु से भिन्न माना जाय। एक अर्थ-शास्त्री को अर्थशास्त्री के नाते सामाजिक विचार बाहरी तथा असम्बन्धी है। यदि दूसरी वस्तुओ के बेचने वाले अज्ञानी है और बहुत कम माल रोकने की शक्ति रखते है, तो साहसी उनकी इस असमर्थता का भी लाभ उठाता है। अन्य दूसरे और आवश्यक पदार्थो की पूर्ति भी बहुधा बेलोचदार होती है। अतएव इन विशेषताओ मे से हमको यह न सोच लेना चाहिये कि श्रम के नियम भिन्न है। साधन की न्यूनता तथा लक्ष्यो के वर्धन से उत्पन्न होने वाली समस्त घटनाओ मे नि सन्देह एक ही आर्थिक विश्लेषण लागू होता है।

४. माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त (Malthusian Theory of Population)—श्रम के दो रूप है अर्थात् मात्रिक तथा गुणात्मक। किसी देश के श्रम की स्थिति का अनुमान करने के लिये इन दोनो रूपो पर विचार करना चाहिये। मात्रिक रूप हमको जनसख्या के सिद्धान्त का अध्ययन कराता है। सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त है। टामस राबर्ट माल्थस (Thomas Robert Malthus) ने "जनसंख्या के सिद्धान्त" पर अपना निबन्ध सन् १७९८ में लिखा था, और अपने कुछ परिणामो को १८०३ के दूसरे प्रकाशन मे सुधारा था। इग्लैंड की शीघ्रता से बढती हुई तथा मार्गभ्रष्ट पूवर ला (Poor Law) से प्रोत्साहित जनसंख्या ने इसको अधिक प्रभावित किया। इसको यह डर था कि इंग्लैंड एक विपत्ति की ओर जा रहा था और उसने अपने देशवासियो को सावधान करना अपना परम कर्त्तव्य समझा। इसने आदमियों की अपेक्षा जानवरो की वृद्धि मे अधिक सावधानी दिखाई जाने पर शोक प्रगट किया।

उनका सिद्धान्त बहुत ही साधारण है। उन्ही के शब्दानुसार "प्रकृति से, मानवीय भोजन मंद अकगणितीय अनुपात (Arithmetical Ratio) में बढता है; मनुष्य स्वयं तीव्र गुणोत्तर या रेखागणितीय अनुपात (Geometrical Ratio) मे बढ़ता है, जब तक कि आवश्यकताएं तथा दोष उसको न रोकें।"

"जनसंख्या मे वृद्धि विशेषतया निर्वाह के साधनो से सीमित होती है।" "जब निर्वाह के साधन बढ़ते है तो जनमख्या यदि शक्तिशाली और स्पष्ट अवरोध से रोकी न जाय तो स्थायी रूप से बढ़ेगी।"

उन्होने अपना विवेक जीवन-विद्या-सम्बन्धी तर्क पर आधारित किया कि हर एक जीवधारी (Organism) न अनुमान किये जाने वाली सीमा तक बढ़ते है। सारिका का एक जोड़ा अपने जीवन भर मे १९,५०० ००० तक बढ़ जायेगा और २० साल बाद १,२००,०००,०००,०००,०००,०००,००० और यदि कन्धे से कन्धा मिला

कर खड़े हों तो १५०,००० की संख्या में से केवल एक ही इस संसार में बैठने की जगह पा सकेगा। हक्सले (Huxley) के मतानुसार, केवल एक हेरटिड्डे का वंश यदि उसमें से कोई नष्ट न हो और बढ़ते ही जाये तो एक ग्रीष्म ऋतु के अंत में चीन की जनसंख्या से भी अधिक हो जायेगा।[1] मानवजाति का, प्रत्येक २५ साल में, दुगुना होने का अनुमान किया जाता है और एक युगल १७५० वर्ष मे वर्तमान जनसख्या के बराबर हो जायगा।

हर वर्ग के पैदा करने की शक्ति की ऐसी ही प्रकृति है। उत्पत्ति की शक्ति स्वाभाविक अन्तवर्ती तथा हठपूर्ण होती है और उसकी आकृति अवश्य ही होनी चाहिये। कैन्टिलन कहते है "कि मनुष्य खलिहान मे चूहो की भाति बढते है।"

दूसरी ओर भोजन की उत्पत्ति पर ह्रास नियम का प्रभाव पड़ता है। इन दोनों के आधार पर माल्थस ने यह निर्णय किया कि जनसख्या बहुत तेजी से बढती है परन्तु भोजन की पूर्ति इतनी शीघ्रता से नही बढती। अतएव जनसख्या भोजन की पूर्ति से कही आगे निकल जाती है। यदि निवारक अवरोध जैसे कि विवाह त्याग, विवाह विलम्ब (Late Marriage) अथवा प्रति विवाह कम बच्चो का होना लागू नही किया जाता तो युद्ध, अकाल तथा बीमारी जैसे प्राकृतिक अवरोध होने लगते है।

५. माल्थस के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Malthusian Theory)—अर्थशास्त्रियो ने माल्थस के जनसख्या सिद्धान्त का मिश्रित स्वागत किया :—

(१) आलोचक यह बतलाते है कि माल्थस का निराशावाद पश्चिमी देशो के इतिहास से स्पष्ट नही होता। जनसख्या मे वृद्धि हुई है। परन्तु यह जीवन-निर्वाह के साधनों से अधिक नही बढी है। वास्तव मे मनुष्यो का जीवन-निर्वाह-स्तर इतना ऊचा है कि माल्थस कदाचित् सोच ही न सकते थे। उनके अन्धकारमय अनुमान से यह बाढ़ कभी की आ गई होती। यह न केवल आई ही नहीं परन्तु यह कम हो रही है।

(२) माल्थस ने यह अनुमान नहीं किया कि मनुष्य पर जीवन-निर्वाह-स्तर का ऐसा प्रभाव पडेगा कि परिवारो के वर्ग को जान-बूझ कर सीमित रक्खा जायगा।

(३) माल्थस ने यह सोचा कि निर्वाह के साधनो मे वृद्धि से जनसख्या बढ़ जायेगी। इसकी अपेक्षा भौतिक उन्नति के कारण मनुष्य की उत्पत्ति शक्ति के घटने से जनसंख्या बढ़ने से रुक गई।

(४) माल्थस ने भोजन की उत्पत्ति पर अधिक ज़ोर दिया, जब कि दूसरे रूपों में धन की उत्पत्ति जनसख्या की वृद्धि के कारण नीचे जीवन-स्तर की प्रवृत्ति का सामना करने के लिये एक उच्च साधन पाया गया है। भोजन की उत्पत्ति में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो सकता है परन्तु देश शिल्प उद्योग से धन उत्पत्ति कर सकता है जिनमें वर्धमान उत्पत्ति नियम (Law of Increasing Returns) होता है। वह

१. Brij Narain— Principles of Economics (1945) P. 316.

दूसरे देश से भोजन का आयात कर सकता है।

(५) **माल्थस** का अन्धकारमय अनुमान उच्च तथा मध्यम श्रेणी के मनुष्यों के गर्भ-विरोधी प्रयोग से भी असत्य हो गया है। पश्चिमी यूरोपियन देशों, विशेषकर फ्रांस की जनसंख्या प्रत्यक्ष रूप से स्थिर रही है।

तो भी यह अत्यन्त शोक की बात है कि **जनसंख्या अनुचित स्थान पर बढ़ रही है।** निर्धन जो अपने बच्चों के पालन-पोषण तथा शिक्षित करने मे असमर्थ है, बढ़ रहे है। दूसरी ओर धनी जो कि अधिक अच्छे गुण वाले बच्चे उत्पन्न कर सकते है, अपनी उत्पत्ति प्रवृत्ति को रोक रहे है। इसका परिणाम राष्ट्र की दरिद्रता और गिरावट है।

(६) माल्थस इस बात को पूरी तरह समझ न सके कि क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना लगभग असीमित समय तक रोका जा सकता है। उस प्रवृत्ति को कृषि कला, यातायात तथा विनिमय के साधन इत्यादि में अद्भुत उन्नति से रोका जा सकता है। जनसख्या मे वृद्धि से दूसरे उत्पत्ति के साधनो का अधिक प्रभावशाली प्रयोग हो सकता है और इस प्रकार समानुपात से अधिक उत्पत्ति कर सकते है। इस भांति "जनसख्या की समस्या केवल एक संख्या की समस्या नही वरन कुशल उत्पत्ति तथा समान वितरण की समस्या है।" (सैलिगमैन)

माल्थस के दिये हुए गणितीय अनुपातों का भी निषेध किया गया है। परन्तु यह स्पष्ट रूप से जोर देने के लिये प्रयोग मे लाये गये थे और उसके सिद्धान्त के कोई आवश्यक भाग न थे।

माल्थस का सिद्धान्त भारतवर्ष में लागू होता है—ऊपर कहे जाने की अपेक्षा माल्थस के सिद्धान्त में कुछ सत्यता पाई जाती है। यदि जनसख्या प्राकृतिक अवरोध अथवा निवारक अवरोध से रोकी नही जाती, तो यह निर्वाह के साधनो से आगे बढ जायेगी। अधिक गर्भ-विरोधी प्रयोग उसके सिद्धान्त का प्रमाण है। यह प्रगट करता है कि माल्थस के उपदेश माननीय हैं। हम भारतवर्ष में अपने आपको उसी ईर्ष्याहीन स्थिति में पाते हैं जिससे माल्थस डरता था। हम संसार में सबसे अधिक जन्मार्घ तथा मृत्यु अर्घ रखते हैं। हमारी वृद्धि लगभग १ प्रतिशत प्रतिवर्ष हो रही है और इसका परिणाम निर्धनता, बराबर होने वाले व्यापक रोग, अकाल, साप्रदायिक दंगे, शिशु वध (जो कि साथ-साथ होते है) तथा संसार में सबसे नीचा जीवन-निर्वाह-स्तर है। जहां तक भारतवर्ष, चीन तथा अन्य पिछड़े देशों का सम्बंध है, माल्थस के उपदेश की सचाई को न मानना कठिन है।

६. आधुनिक जनसंख्या सिद्धान्त: अनुकूलतम सिद्धान्त (Modern Theory of Population : The Optimum Theory)—आधुनिक अर्थ-शास्त्रियों ने माल्थस के अधिकतम जनसंख्या के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया है जो यदि बढ़ जाय तो देश में आपत्ति फैला दे। अधिकतम जनसंख्या के स्थान पर आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने अनुकूलतम जनसंख्या के विचार का प्रतिस्थापन किया है।

अनुकूलतम जनसंख्या का क्या अर्थ होता है ?—अनुकूलतम जनसख्या का अर्थ किसी देश के साधनो को विचार मे रखते हुए आदर्श जनसंख्या से होता है । अनुकूलतम संख्या एक देश की सर्वश्रेष्ठ, आदर्श तथा इष्ट जनसंख्या है; यह ठीक संख्या है। जब किसी देश की जनसख्या न तो अधिक है और न कम है परन्तु, बस इतनी है जितनी कि उस देश मे होनी चाहिये तो वह अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है। साधनो की मात्रा, औद्योगिक ज्ञान की अवस्था तथा पूजी की कुछ राशियो पर जनसख्या का एक निश्चित परिमाण होगा जिस पर वस्तुओ तथा सेवाओं की वास्तविक आय प्रति व्यक्ति सब मे अधिक होगी। यही अनुकूलतम सख्या है। अतएव **अनुकूलतम संख्या** वह कही जा सकती है जिस पर प्रति व्यक्ति आय सब से अधिक है।

कम जनसंख्या तथा अधिक जनसंख्या—यदि किसी देश की जनसख्या अनुकूलतम से नीचे अर्थात् जो कुछ होना चाहिये उससे नीचे है, तो **वह देश कम जनसंख्या वाला कहलाता है**। मनुष्यो की सख्या देश के प्राकृतिक तथा पूजी के साधनों के श्रेष्ठ प्रयोग के लिए पर्याप्त न होगी। विशिष्टीकरण तथा श्रम-विभाजन के लिये कम अवसर होगा। कुछ कार्य खाली पड़े रहेगे या अपूर्ण रूप से किये जायेगे।

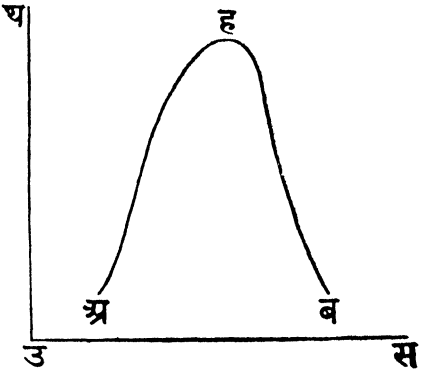
एक नवीन देश मे ऐसा होता है। साधन विस्तृत है। अधिक उत्पत्ति की जा सकती है परन्तु कुशलतापूर्वक उत्पत्ति के कार्य को करने के लिये पर्याप्त मनुष्य नही है; स्पष्टतः कम जनसख्या वाला ऐसा देश है। ऐसी जगह जनसंख्या का बढना अति सराहनीय होगा। सख्या मे वृद्धि से विशेषीकरण के लिए अधिक अवसर मिलेगे और देश के साधन पूर्णतया प्रयोग मे लाये जायेगे। अधिक जनसख्या उत्पन्न की हुई वस्तुओं के लिये बाजार में पर्याप्त रूप से पूर्ति करेगी। किसी भी उद्योग मे मनुष्य-शक्ति की कमी न होगी। ऐसी अवस्था मे जनसख्या की वृद्धि से **प्रति व्यक्ति** की आय में वृद्धि होगी।

परन्तु यह वृद्धि अनिश्चित मात्रा मे नही हो सकती। जब मनुष्य-शक्ति की कमी पूरी हो जायेगी तो प्रति व्यक्ति आय अधिक हो जायेगी और हम कहेगे कि जनसख्या अनुकूलतम या आदर्श हो गई है।

यदि जनसख्या फिर भी बढती जाती है, तथा अनुकूलतम से बढ़ जाती है तो **अधिक जनसंख्या** की दशा हो जायगी। देश मे अत्यधिक मनुष्य हो जायेंगे। मजदूरों के लिये कार्य अपर्याप्त मात्रा मे होगे। अधिक भीड़-भाड़ हो जायगी। जब काम करने वाले अत्यधिक होते है तो काम बिगड जाता है। अत्यधिक जनसंख्या से अशान्ति उत्पन्न होगी और कुछ साधनो को हानि पहुंचेगी। हर हालत में साधन सबको लाभजनक काम देने मे पर्याप्त न होगे। वे करोडों व्यक्तियो में बंटे होंगे और इस कारण उनमें किंचित्-मात्र ही सहायक होगे। भूमि पर जनसख्या का दबाव असह्य हो जायगा। प्रति व्यक्ति आय घट जायेगी; जीवन-निर्वाह का स्तर गिर जायेगा; लड़ाई, अकाल और रोग ऐसे मनुष्यो के स्थायी साथी हो जायेंगे। यह अधिक जनसंख्या के लक्षण हैं।

भारतवर्ष मे हम इस समय अपने आपको इस ईर्ष्याहीन स्थिति में पाते है। अब हम अनुकूलतम तक कैसे वापस जा सकते है ? हमे समस्याओं को दोनो तरह से सुलझाना चाहिये : (१) हम जिस गति से बढ रहे है उसको हमे मन्द करना चाहिये तथा (२) हम को अपने साधनो का विकास करना चाहिये। हमारा देश साधनों का न उपयोग अथवा कम उपयोग करने वाला है। बहुधधी योजनाए, जल-विद्युत तथा भूसिचन योजनाएं, नये उद्योगो की स्थापना तथा यातायात के साधनो का विकास इस लक्ष्य की ओर ले जाने वाले कुछ साधन है। जब हम अपनी सख्या को सीमित रखने तथा अपनी उत्पादक शक्ति को अधिकतम करने का प्रयत्न करते है तो हम अनुकूलतम के रास्ते पर होते है। **प्रति व्यक्ति** आय बढ जायेगी और अधिकतम हो सकती है। इस भाति अनुकलतम पुन. स्थापित हो जायेगा ।

निम्न चित्र तीन स्थितियो को प्रस्तुत करता है. (१) कम जनसंख्या, (२) अनुकूलतम जनसंख्या तथा (३) अधिक जनसख्या ।



चित्र नं. १६

हम अ बिन्दु से कम जनसख्या से चलते है और ऊपर को बढते है। जनसख्या बढती है और जब हम ह पर पहुचते है तो यह अनुकूलतम है। अ से ह तक कम जनसख्या की स्थिति थी और उसमे वृद्धि से हम अनुकूलतम ह तक पहुंचे। जब तक हम ह तक पहुँचे, **प्रतिव्यक्ति** आय बढ रही थी तथा ह पर यह अधिकतम थी । जब हम ह पार कर जाते है, तो **प्रति व्यक्ति** आय गिरने लगती है। हम अनुकूलतम से भी अधिक बढ गये है और हम अब अधिक जनसख्या रखते है। यदि अब हम सख्या घटा दे तो प्रति व्यक्ति आय बढ जायेगी।

कम जनसख्या और अधिक जनसख्या सापेक्षिक शब्द हैं। वे साधनों के सापेक्ष है। एक देश कम जनसख्या रखता है क्योकि उसके साधन अधिक है। यदि साधन थोड़े होते तो उसे अधिक जनसख्या वाला कहते। इसी भाति एक देश को हम अधिक जनसख्या वाला कहते है यदि उसके साधनो का विकास कम है। साधनों के पूर्ण विकास से अधिक जनसख्या लुप्त हो सकती है यद्यपि जनसख्यामें कोई कमी न हुई हो। इस प्रकार कुछ स्थितियो में जो कम तथा अधिक जनसख्या हो सकती है वह भिन्न स्थितियो में ऐसी न हो। यदि साधन अपर्याप्त हो तो थोडी जनसंख्या भी अत्यधिक हो सकती है तथा एक अधिक जनसख्या भी अत्यधिक न समझी जा सकती है यदि साधनों का विकास समान हो।

अनुकूलतम स्थिर नहीं वरन् अस्थिर है—यह नहीं सोचा जा सकता कि किसी देश

के लिये उसके साधनों का ध्यान रखते हुए एक स्थिर अनुकूलतम है जो कि उस देश का अनुकूलतम सदैव ही रहेगा। यह अनुकूलतम दृढ रूप से स्थिर नही है। यह देश की उत्पत्ति के साधनो की वृद्धि तथा कमी के अनुसार घटता-बढता रहता है। यह अनुकूलतम निरपेक्ष नही है। यह पर्याप्त साधनो के सापेक्ष है। किसी देश की उत्पादक शक्ति के विकास का ध्यान रखते हुए हम कह सकते है कि अब जनसख्या अनुकूलतम है। परन्तु यदि विकास की योजनाएँ भविष्य के लिए आरम्भ कर दी गई है और सफलतापूर्वक समाप्त हो रही हो, तो इससे अधिकाधिक सख्या का तृप्तिपूर्वक पालन-पोषण हो सकता है। **प्रति व्यक्ति** आय मे वृद्धि होगी और हमारा अनुकूलतम पहले की अपेक्षा एक नई उच्च सीमा पर पहुंच जायगा। यदि दूसरी ओर कुछ साधन युद्ध अथवा राजनीतिक झगडों के कारण नष्ट हो जाते है या उनको हानि पहुचती है, तो यह अनुकूलतम जनसख्या अधिक जनसख्या हो जाती है तथा नई अनुकूलतम नीची सीमा पर होगी।

प्रत्येक देश की अवस्था गतिशील होती है, स्थिर नही। उत्पादन-पद्धति में परिवर्तन होता रहता है; अधिक नये उपाय आरम्भ किये जा रहे है, नई क्रियाओ तथा नये पदार्थो का आविष्कार किया जा रहा है, पूजी की वृद्धि हो रही है, प्राकृतिक साधनो का प्रयोग किया जा रहा है। इन स्थितियो मे **प्रति व्यक्ति** आय बढनी चाहिये, परन्तु जनसख्या भी थोड़ी बहुत बढती है। अतएव वह जनसंख्या जिसको हम आज ठीक परिमाण मे समझते है, कल कम अथवा अधिक जनसख्या हो सकती है। इस प्रकार अनुकूलतम निरन्तर बदलता रहता है। इस प्रकार किसी देश के लिये अनुकूलतम सख्या मालूम करना असम्भव है। **प्रति व्यक्ति** आय का निरूपण करना केवल एक अनुमान है।

डा० डाल्टन (Dalton) ने अनुकूलतम जनसख्या के सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त किया है :—

$$\text{म} = \frac{\text{अ} - \text{ओ}}{\text{ओ}}$$

इसमें म = मात्रा की कुव्यवस्था

अ = वास्तविक संख्या

ओ = अनुकूलतम संख्या

यदि "म" धनात्मक है तो यह अधिक जनसंख्या होगी और यदि यह प्रेरणात्मक है तो वह कम जनसख्या कहलायेगी। तथा जब वह शून्य हो तो जनसंख्या अनुकूलतम होगी।

७. माल्थस के सिद्धान्त और आधुनिक सिद्धान्त की तुलना :—

इन सिद्धान्तो के अध्ययन से हम उन लोगो के दृष्टिकोणो के महत्त्वपूर्ण अंतर पर ध्यान दे सकते है जिन्होने उनको प्रस्तुत किया।

१. माल्थस ने अपना ध्यान अन्नोत्पादन की ओर रखा जबकि अनुकूलतम सिद्धान्त आर्थिक उन्नति के सब पहलुओं पर ध्यान रखता है। अतः यदि किसी देश में स्वयं उसके

लिये भी अन्न नही है तो भी यह आवश्यक नही है कि वह अधिक जनसंख्या वाला हो।

२. ऐसा मालूम होता है कि माल्थस के विचार से किसी देश के लिये एक अधिकतम जनसंख्या होती है जिससे अधिक होने पर दुःख में वृद्धि होती है।

अनुकूलतम सिद्धान्त के अनुसार ऐसी कोई अधिकतम सख्या नही होती है। देश के साधनो की उन्नति पर उचित सख्या निर्भर होती है।

३. माल्थस के अनुसार अकाल, युद्ध तथा बीमारी अधिक जनसंख्या के प्रतीक है। परंतु अनुकूलतम सिद्धान्त से हमें पता चलता है कि इन कष्टदायक घटनाओ के न होने पर भी जनसंख्या अधिक हो सकती है यदि प्रति व्यक्ति आय कम हो जाय अथवा जनसंख्या कम होने से प्रति-व्यक्ति आय बढ जाये।

४. आधुनिक सिद्धान्त आशावादी है जब कि माल्थस का सिद्धान्त निराशावादी है। माल्थस को यह डर था कि जनसख्या खाद्य पदार्थो से अधिक गति से बढ़ेगी। आधुनिक काल के अर्थशास्त्रियो को ऐसा डर नही है। यदि देश के साधनों को उचित ढग से काम में लाया जाय तो ऐसी परिस्थिति उपस्थित नही होगी। "माल्थस को आने वाले आर्थिक नरक का डर था; अनुकूलतम सिद्धान्त के प्रस्तुत करने वालों को आने वाले स्वर्ग का गर्व है।" (चैटर्जी)

८. क्या जनसंख्या की वृद्धि एक अभिशाप है? (Is Increasing Population a Curse?) नही, सदैव नही। और न जनसंख्या की वृद्धि सदैव सुखदायक ही है। अनुकूलतम का सिद्धान्त हमको जनसख्या की गति को ठीक भांति से समझने मे सहायता देता है।

डार्लिग (Darling) ने एक बार भारतवर्ष के बारे में कहा था कि प्रकृति अथवा अच्छे शासन के सभी गुण जनसख्या मे वृद्धि होने के कारण विनष्ट हो गये। वास्तव में भारतवर्ष अधिक जनसख्या वाला देश ह। निर्धनता, जिसकी समानता ससार मे नही है, यहा पाई जाती है। जीवन-निर्वाह-स्तर बहुत नीचा है, मृत्यु-दर संसार भर से ऊंचा है। इस देश में अकाल पड़ता ही रहता है और बीमारी फैलती रहती है। औसत रूप से, एक भारतवासी शारीरिक तथा मानसिक शक्ति मे एक अमरीकन अथवा योरुपियन के सामने मानव का एक तुच्छ प्रतिरूप है। इसका एकमात्र कारण हमारी बढती हुई जनसंख्या है। अधिक जनसख्या एक बहुत बडा अभिशाप है जिससे आजकल हम पीड़ित है।

परन्तु बढती हुई जनसंख्या सदैव एक अभिशाप ही नही है। अधिक जनसंख्या आर्थिक सहयोग में सहायता देती है तथा उत्पत्ति को प्रोत्साहित करती है। श्रम-विभाजन तथा विशेषोपयोजन के लिये अच्छा अवसर मिलता है। बढ़ती हुई जनसख्या एक निरन्तर बढ़ने वाली मण्डी प्रदान करती है जिसमे पूजी के सुरक्षित तथा लाभदायक प्रयोग की गारण्टी होती है। हम भारतवर्ष मे कोई भी उद्योग चला सकते है और इससे निश्चिन्त हो सकते है कि वस्तुओं की जल्दी बिक्री हो जाएगी। हमारी बढ़ती हुई असंख्य जनसंख्या

असीमित बाज़ार प्रदान करती है। कुछ नए उद्योग सदैव आरम्भ होते रहते है अथवा नये प्रकार के यन्त्र प्रयोग में लाए जाते है। इस प्रकार आधुनिक यन्त्र-कुशलता रखनेवाले (Latest Technical Skill) श्रमिको की आवश्यकता होती है। पिछले युग के श्रमिक बेकार होगे। परन्तु सदैव बढती हुई जनसख्या वाले देश मे नए युग के मनुष्य नये कार्यो के करने को तैयार हो जाते है। उत्पत्ति की पद्धति मे कोई असुविधा नही होती। यह अपने आपको नये परिवर्तनो तथा आवश्यकताओं के पूर्णतः अनुकूल बना लेती है।

परन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या तभी ठीक होगी जब कि जनसंख्या अनुकूलतम से कम है, अर्थात् जब मानव शक्ति ऐसे अनुपातो मे पर्याप्त नही है कि देश के साधनो का आर्थिक उपयोग सम्भव हो। इन स्थितियों मे जनसंख्या में वृद्धि का स्वागत किया जाता है क्योकि इससे प्रति व्यक्ति की आय मे वृद्धि होगी। यदि जनसंख्या अनुकूलतम से अधिक है, तो उसमें कमी लाना ठीक होगा क्योकि इससे अधिक अच्छे आर्थिक परिणाम निकलेगे।

इसलिये कौन-सी जनसंख्या अधिक उचित है—बढती हुई अथवा घटती हुई ? यह वर्तमान जनसंख्या पर निर्भर है। यदि यह अनुकूलतम से कम है तो बढती हुई जनसख्या अधिक अच्छी होगी, और यदि यह अनुकूलतम से अधिक है तो इसमे कमी होना उचित है। अनुकूलतम को पाने तथा उसकी ओर जाने की ही आवश्यकता है। हम दृढतापूर्वक नही कह सकते कि बढती हुई जनसख्या अधिक अच्छी है या घटती हुई; यह देश की स्थितियो पर निर्भर है।

९. वास्तविक प्रजनन दर (Net Reproduction Rate)—जनसख्या की वृद्धि जानने के लिये कुज़िन्सकी (Kuczynski) ने एक नवीन रीति बतलाई है; यह वास्तविक प्रजनन या पुनरुत्पादन दर के ज्ञात करने से सम्बद्ध है। साधारण मनुष्य को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जनसख्या की वृद्धि की दर जन्म दर (Birth rate) और मृत्यु दर (Death rate) की तुलना करके निश्चित की जा सकती है। यह ज्ञात होगा कि जन्म की मृत्यु से अधिकता जनसख्या में वास्तविक वृद्धि प्रस्तुत करती है। परन्तु यह ठीक नही है। वास्तविक प्रजनन की दर को तो छोडिये, यह कुल पुनरुत्पादन दर को भी नही बता सकता ? फ्रास और सयुक्त राज्य मे सन् १९४० मे जन्म दर तथा मृत्यु दर का अन्तर २ तथा ५ प्रति १००० है जो कि जन्मसंख्या मे वृद्धि बताता है। वास्तव मे यह देश घटती हुई जनसख्या प्रस्तुत करते है। यह इस नई रीति से दिखाया गया है।

कुजिन्सकी इस रीति को इस प्रकार वर्णन करते ह : "युक्त प्रश्न यह नही हे कि क्या मृत्यु दर से जन्म दर अधिक है, परन्तु यह है कि क्या जन्म दर तथा मृत्यु दर इतने है कि एक युग जिसमें यह स्थायी रूप से पाये जाते है, अपने जीवन काल में अन्त से पहले-पहल

युग की जगह लेने लिए के पर्याप्त शिशु उत्पन्न करते है ? .... क्योंकि हम यहां पर जन्म दर से ही सम्बद्ध है अतएव स्त्री जन्मसंख्या का ध्यान रखना उचित होगा। तब उचित प्रश्न यह है कि क्या मृत्यु दर तथा जन्म दर इतने है कि १००० नई पैदा हुई लडकिया अपने जीवनकाल मे १००० लडकियो को जन्म देंगी ?... सर्वप्रथम यह निश्चय करना आवश्यक हो जाता है कि प्रचलित मृत्यु दर के आधार पर १००० नई पैदा की हुई लडकियों मे से कितनी बच्चे पैदा करने वाली अवस्था अर्थात् १५ वर्ष तक पहुचती है, कितनी १६ तक पहुंचती है इत्यादि और अन्त में कितनी बच्चा पैदा करने की अवस्था अर्थात् ५० वर्ष को पार कर जाती है [1] सक्षेप मे हमे यह मालूम करना है कि उन पहली १००० लडकियों की कितनी लड़किया पैदा होती है। यदि १००० पैदा हुई लडकियों मे से १००० लड़कियां बच्चे पैदा करने की अवस्था तक जीवित रहती है तो जनसख्या बढती है अन्यथा घटती है। **"वह दर जिस पर कि स्त्री-जनसंख्या अपने आपको प्रतिस्थापित कर रही है वास्तविक पुनरुत्पादन दर है।"**

डाक्टर एरिड चार्ल्स के शब्दों में "विशेष बात यह है कि एक वर्ष मे जन्मसंख्या स्वय एक जनसंख्या की प्रजनन शक्ति का चिन्ह नही है, क्योकि मानव जाति अपने जीवन के एक काल मे ही माता-पिता हो सकते है।" इस प्रकार केवल जन्म दर तथा मृत्यु दर पर आधारित अंकगणितात्मक संख्या काफी नही है। हमे प्रत्येक बच्चा पैदा करने वाली आयु के समुदाय मे जन्म की आवृत्ति का अथवा मृत्यु दर का ध्यान रखकर हर समुदाय में जीवित रहने के अवसरों का विचार करना पडता है। केवल तभी हम वास्तविक पुनरुत्पादन दर मालूम कर सकते है।

हम अपने वास्तविक प्रजनन दर की गणना के लिये मिस्टर ईट्स (Mr. Yeats) के जो कि सन् १९४१ में भारतवर्ष के जनगणना के कमिश्नर थे, ऋणी है। निम्न सारिणी रीति स्पष्ट करती है[2] :—

भारतवर्ष में कुल तथा वास्तविक प्रजनन दर

आयु समुदाय	प्रत्येक समुदाय की १००० स्त्रियों में पैदा हुए बच्चों की कुल संख्या	प्रत्येक समुदाय १००० स्त्रियो मे पैदा हुई लडकियो की कुल सख्या	प्रत्येक १००० लडकियो मे से जीवित रहने वालो की सख्या	वर्त्तमान स्त्रियों का प्रतिस्थापन करने वाली जीवित स्त्रियो की संख्या
१	२	३	४	५
१५-२०	६९१·२	३३२	५४८·९४	१८२
२१-२५	१६७०·२	८०३	४९९·३७	४०१

1. Ibid, P. 19.
2. Brij Narain—Indian Economic Problems. Pre-war, War and Post-War, P. 16.

१	२	३	४	५
२६-३०	१५५६·५	७४८	४४७·९५	३३५
३१-३५	९०२·२	६३४	३९४·३८	१७१
३६-४०	४३०·५	२०७	३३९·७७	७०
४१-४५	१८८·८	९१	२८५·३२	२६
४६-५०	७९·९	३८	२३४·०९	९
	५५१९·३	२८५३	२७४९·७४	११९४

कुल प्रजनन दर पंक्ति ३ मे दी गई है जो कि १००० स्त्रियों में लड़कियों की पैदा होने की सख्या बताती है ।

यह $\frac{२८५३}{१०००}$=२.८५ है ।

वास्तविक प्रजनन दर जो कि पंक्ति ५ में है वर्त्तमान स्त्रियों का प्रतिस्थापन करने वाली जीवित जनसंख्या बताती है। यह $\frac{११९४}{१००००}$=१.१९४ है। इसका अर्थ यह है कि एक स्त्री १·१९४ से प्रतिस्थापित होती है। १००० स्त्रियों की अपेक्षा ११९४ स्त्रियां हो जाती है। यह जनसख्या की वृद्धि बताती है।

कुल तथा वास्तविक प्रजनन दर प्रति इकाई में दिया हुआ है, न कि प्रति १००० अथवा १०० मे ।

कुछ अन्य देशो का कुल तथा वास्तविक प्रजनन दर निम्नलिखित है:—[1]

देश	वर्ष	कुल	वास्तविक
यू० एस० ए०	१९३५	१·०६२	०·९६१
जापान	१९३७	२·१४५	१·४४
फ्रास	१९३६	१·०१०	०·८८
आयरलैण्ड	१९३५-१९३७	१·३८६	१·१६२
नीदरलैण्ड	१९३७	१·२३६	१·११९
इगलैण्ड तथा वेल्स	१९३७	०·८८३	०·७८२
स्काटलैण्ड	१९३८	१·०७३	०·९६१
स्वीडन	१९३८	०·८७९	०·७८३
स्विटजरलैंड	१९४०	०·८७७	०·७९५

इस सारिणी मे यू० एस० ए०, फ्रांस, इगलैण्ड तथा वेल्स, स्काटलैण्ड, स्वीडन तथा स्विटजरलैण्ड १·० से कम वास्तविक प्रजनन दर रखते है । वे गिरती हुई जनसंख्या

1. Kuczynski—Balances of Births and Deaths pp. 41-44. Quoted in Economic Problems of Modern India edited by Prof. Radha Kamal Mukerjee. pp. 90-91

प्रस्तुत करते है, उदाहरणार्थ इंगलैण्ड में १००० स्त्रियों में ७८२ जीवित रहती है। अन्य देशों में यह १·० से अधिक है जिसका अर्थ बढ़ती हुई जनसंख्या है।

बहुत से उन्नतिशील देशो में जिनकी जनसंख्या गिर रही है, जनसंख्या की समस्या की प्रकृति बदल गई है। उनमें अत्यधिक मनुष्यों की अपेक्षा बहुत कम के उत्पन्न होने का भय है। और क्योंकि उच्च श्रेणी वाले निवारक निरोधों का प्रयोग कर रहे है, इसलिये वहां जनसंख्या की कोटि के गिर जाने का भय है।

१०. श्रम-कुशलता के साधन (Factors of Labour Efficiency)—ऊपर हमने श्रम का मात्रिक रूप, अर्थात् जनसंख्या की समस्या का वर्णन किया है। अब हमको गुणात्मक रूप अर्थात् कार्य-कुशलता की समस्या के विषय मे ध्यान देना चाहिये। ऐसे बहुत से साधन है जो कि संसार अथवा किसी भी देश के श्रमिकों की सापेक्ष कार्य-कुशलता का विवरण करते है। निम्नलिखित कुछ विशेष ऐसे साधन है जो श्रम की कुशलता पर प्रभाव डालते है।

(१) **पैतृक गुण**—श्रम की कुशलता पित्रागत तथा पैतृक राशि पर जिससे कि श्रमिक सम्बद्ध होता है, निर्भर है। पंजाब के सीमा वाले प्रदेशो का जाट बहुत ही हृष्ट-पुष्ट तथा साहसी होता है। एक बगाली अथवा एक उत्तर प्रदेश का श्रमिक शारीरिक सहन-शीलता में उसके समान नही है। वे भिन्न-भिन्न राशि से सम्बद्ध है और अपनी राशि के गुणों का प्रदर्शन करते है।

(२) **प्राकृतिक तथा जलवायु के साधन**—एक ठडी, शक्ति देनेवाली जलवायु कठिन परिश्रम के लिये प्रोत्साहित करती है, जब कि शीतोष्ण जलवायु श्रमिक को दुर्बल बना देती है। जहां जीविका निरतर श्रम करके प्रकृति से खीचनी पडती है, मानवीय राशि उस स्थान से जहा प्रकृति उदार है, उत्तम है। प्रकृति उदार मनुष्यो में आलस्य तथा उदा-सीनता उत्पन्न करती है। ठडे तथा शीतोष्ण भागों में रहने वाले मनुष्य, जहां कि प्रकृति असावधान है, शीतोष्ण अथवा समशीतोष्ण भागों में रहने वालो की अपेक्षा अधिक परिश्रमी तथा हृष्ट-पुष्ट होते है।

(३) **शिक्षा**—कलात्मक तथा साधारण शिक्षा उचित प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित करती तथा दृढ चरित्र को बनाती है। इसमे तनिक सदेह नही है कि एक शिक्षित श्रमिक अधिक साधनपूर्ण तथा अधिक उत्तरदायित्व रखने वाला होता है। एक यत्रज्ञ मनुष्य अवश्य ही अधिक कुशल होगा।

(४) **व्यक्तिगत गुण**—एक श्रमिक की कुशलता उसके व्यक्तिगत गुणों पर भी निर्भर है। यदि एक श्रमिक हृष्ट-पुष्ट डील-डौल, मानसिक चौकसी, बुद्धि, पूर्ण साधन तथा संचालन शक्ति रखता है तथा वह गम्भीर और अधिक उत्तरदायित्व रखन वाला है तो वह अधिक उत्पादन करने वाला होगा। उसके लिये कम देखभाल तथा प्रेरणा की आवश्यकता होगी। वह न तो समय और न माल को नष्ट करेगा और साथ ही वह यन्त्रों

को सावधानी से प्रयोग में लायेगा। संक्षेप मे वह अधिक कुशल होगा।

(५) **औद्योगिक संगठन तथा साधन**——संगठन तथा श्रमिको को दी हुई सामग्री से भी उनकी कार्यक्षमता निश्चित होती है। एक दूसरे दर्जे का व्यवसायी जो कि पुरानी मशीन तथा घटिया माल इस्तेमाल करता है बढिया सामान तैयार नही कर सकता। श्रमिको की कुशलता मैनेजर की प्रवीणता तथा योग्यता पर निर्भर है।

(६) **कारखाने की स्थितियां**——यदि वातावरण खराब है तो श्रम कम कुशल होगा। संकुचित तथा कम हवादार कारखानो मे जो कि घनी तथा अस्वस्थ स्थितियों में स्थापित है, श्रमिक भली-भाति कार्य नही कर सकता; दूसरी ओर आनन्दित तथा उज्ज्वल स्थितिया अच्छा और अधिक काम करने को प्रोत्साहित करती है।

(७) **काम के घण्टे**——जितने घन्टे श्रमिक को काम करना पड़ता है, उनका भी प्रभाव कार्यकुशलता पर पड़ता है। लम्बे घंटे जिनमें विश्राम का ठीक प्रबन्ध न हो तथा जिनमें आराम अथवा मनोरंजन के हेतु कोई समय न मिलता हो, श्रमिकों की कार्य-क्षमता को गिराने के सिवाय और कुछ नही करते। यदि कार्य करने का दिन थोड़े समय का है तो श्रमिकों को अच्छा कार्य करने का प्रोत्साहन मिलेगा।

(८) **सन्तोषजनक तथा शीघ्र भुगतान**——एक अच्छी मजदूरी पाने वाला श्रमिक साधारणतः सतुष्ट रहता है और काम मे सलग्न हो जाता है। यह मुख्यतः तभी होता है जबकि मजदूरी शीघ्र और समय पर भुगतान की जाती है। यदि श्रमिको को ठीक तथा समय पर मजदूरी नही मिलती तो वे काम मे रुचि नही रखते। एक अच्छी मजदूरी से खाना, कपड़ा और स्वास्थ्यप्रद मकान आदि प्राप्त हो जाता है जिससे कार्यक्षमता बढ़ जाती है।

(९) **श्रम-संगठन**——सगठित प्रयत्न सदैव प्रभावपूर्ण होता है। यदि श्रम कारखाने के अन्दर श्रम-विभाजन के द्वारा तथा कारखाने के बाहर एक मजदूर सभा के रूप मे ठीक प्रकार से सगठित किया गया है, तो श्रमिको की कुशलता अवश्य बढ जायेगी।

(१०) **सामाजिक तथा राजनीतिक साधन**——सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ जो श्रमिको को आवश्यकता तथा भय से और बेकारी की भयकरता से मुक्त करती है, श्रम के गौरव और मर्यादा को बढ़ाती है। वे दृढ़तापूर्वक काम करने तथा समाज की सेवा के लिये दत्तचित्त रखेंगी। भविष्य की अनिश्चितता श्रम की कार्यकुशलता के लिये हानिकारक है, जबकि आशावाद तथा स्वतन्त्रता उसको प्रोत्साहित करती है।

भारतीय श्रमिकों की कार्यकुशलता क्यों कम है? यह स्मरण रहे कि उत्पत्ति एक सहकारी प्रयत्न है तथा श्रम की कार्यकुशलता केवल श्रमिक के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर नहीं है। दूसरे साधन भी जिन पर श्रमिक का कोई नियन्त्रण नहीं, महत्त्व रखते है। भारतीय मजदूर स्वाभाविक अयोग्यता के कारण नही वरन् प्राकृतिक तथा वातावरण वाले साधनों के कारण कम कुशल है। वह क्षीण करने वाली जलवायु में रहता है जिससे उसकी

शारीरिक दुर्बलता होती है। अत्यधिक गर्मी और जाडा एक कारखाने के काम को एक कठिन परीक्षा-सा बना देता है। पारिश्रमिक जो कुछ वह पाता है केवल उसके शोचनीय जीवन को व्यतीत करने के लिये उपयुक्त होता है। कारखाने की दशायें बहुत असंतोषजनक है और उसकी प्राकृतिक रुचि के विपरीत है। कार्य आनन्ददायक नही है, वह कष्टकर प्रयास है। साहसी की कुशलता तथा कारखाने की सामग्री नीचे दर्जे की है। वह ज्यादा समय तक काम करने को बाध्य किया जाता है जिससे कि वह विश्राम के लिये समय किसी तरह छीनने को विवश हो जाता है। वह अशिक्षित तथा पुरातनवादी है। जैसी कि दशाएँ है, वास्तव में यह आश्चर्यजनक है कि वह इतना भी काम कर रहा है।

१०. कुशल श्रम के लाभ (Advantages of Efficient Labour)—कुशल श्रमिक एक देश के लिय सुखदायक है और आर्थिक उन्नति और पुनर्जीवन का एक शक्तिशाली साधन है। उनको निरीक्षण की आवश्यकता नही पड़ती और वे पदार्थ तथा यंत्र को हानि नही पहुंचाते। वे अधिक बुद्धि से काम करते है और संचालन शक्ति तथा उत्तरदायित्व दिखाते है। जब हर ओर हार्दिक सहयोग होता है तो सारी स्थिति उत्साहित हो जाती है। वे उद्योग मे स्वदेशाभिमानी उत्साह लेने लगते है। कम लागत पर उत्पत्ति की वृद्धि देश को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के लिये योग्य बनाती है। जापान की औद्योगिक प्रधानता का कारण उसका श्रम है।

११. श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour)—श्रम की समस्याओ का विचार करने मे एक और महत्त्वपूर्ण साधन श्रम की गतिशीलता है। यह गतिशीलता निम्न प्रकार की है :—

(अ) **भौगोलिक की गतिशीलता**—अर्थात् एक ही देश मे अथवा एक देश से दूसरे देश मे, एक स्थान से दूसरे स्थान को गतिशील होना। यह गतिशीलता कठिन है। मनुष्य साधारणतः परिवर्तन से डरता है। भाषा, रीति-रिवाज, नियम इत्यादि बड़ी रुकावटें है। थोडे लाभ के लिये कोई भी विचित्र स्थितियो मे जाना नही चाहेगा।

(ब) **व्यवसाय की गतिशीलता**—इसका अर्थ एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय को उसी स्तर पर गतिशीलता से है, उदाहरणार्थ, एक बढई लोहार बन जाय। इस प्रकार की गतिशीलता उतनी कठिन नही है यद्यपि यह इतनी सरल भी नही है।

(स) **उदग्र (शीर्ष) गतिशीलता**—इसका अभिप्राय एक नीचे व्यवसाय से ऊंचे दर्जे के व्यवसाय पर जाना है। उदाहरणार्थ, एक साधारण मिस्त्री का इंजीनियर हो जाना। केवल बुद्धिमान मनुष्य ही इस गतिशीलता के योग्य होते है।

(द) **उद्योगों के बीच गतिशीलता**—यदि व्यवसाय में कोई परिवर्त्तन न हो तो यह सब से सरल है। उदाहरणार्थ, शक्कर के कारखाने का एक क्लर्क एक सूती मिल में क्लर्क हो जाय।

श्रम की गतिशीलता अधिक लाभदायक है। किसी देश में यदि श्रम की संतोषजनक

गतिशीलता है, तो आर्थिक तालमेल सरल हो जाते हैं। आर्थिक पद्धतियों में कोई विशेष उथल-पुथल न होगी जिससे मनुष्य जाति को अधिक हानि होती है । उपभोक्ताओं के अधिमानों का उचित ध्यान रखा जा सकता है। किसी असाधारण प्रभाव से आर्थिक पद्धति पूर्णतः नष्ट न हो जायगी चाहे थोड़ी प्रभावित हो जाय। जब किसी अर्थ-व्यवस्था में लोचशक्ति नहीं होती है, तो विदेशी प्रतियोगिता तथा व्यापारिक मंदी का बोझ उसके लिये असह्य हो जाता है । अर्थ-व्यवस्था में लचीलेपन का गुण अधिक लाभदायक होता है और श्रम की गतिशीलता इस गुण का सहायक है ।

निर्देश पुस्तकें

Marshall—Principles of Economics
Adam Smith—Wealth of Nations
Benham—Economics
Pearl—Biology of Population Growth
Yule—Growth of Population, J.R.S.S., Jan. 1925
Hicks—Theory of Wages
Robertson—Structure of Competitive Industry
Fraser—Economic Thought and Language

अध्याय १०

यन्त्र तथा श्रम-विभाजन

MACHINERY AND DIVISION OF LABOUR

१. भूमिका (Introduction)—आधुनिक युग यन्त्र-युग है। यद्यपि पुराने समय में भी मनुष्य सदैव किसी न किसी प्रकार के औज़ार व साधनों का प्रयोग करता था तथापि आज की परिस्थिति पूर्णतया भिन्न है। यन्त्र ने मनुष्य पर प्रभुत्व जमा रक्खा है। विद्युत् शक्ति, आश्चर्यजनक सुकुमारता तथा विस्मयकारी जटिलता से युक्त मशीनों ने प्रायः सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था पर अधिकार कर रक्खा है। जर्मनी की कोयले की खानों में, खान की तह से लगा कर दूसरे किनारे तक जहां कि कोयला बाहर निकाला जाता है, किसी भी कार्य में मनुष्य के हाथ लगाने की आवश्यकता नही पड़ती; मनुष्य लगभग अनावश्यक-सा प्रतीत होता है।

२. मशीन से लाभ (Advantages of Machinery)—यन्त्र-व्यवस्था द्वारा हुए हित को दो शब्दों मे वर्णन किया गया है; (१) शक्ति (Power) और (२) समीचीनता (Precision)। मशीनों के प्रयोग से अनेक बड़े लाभ होते हैं जो उत्पाद्य की उत्तमता, श्रमिक के लिए सुविधा और समाज के सामान्य उपकार में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते है।

(१) यन्त्र-व्यवस्था के सहारे ही मनुष्य ने प्रकृति पर अपना प्रभुत्व बढ़ाया है और फलस्वरूप प्रकृति की विशाल शक्तियां मानवता की सेवा के लिए संलग्न कर ली गई हैं। मनुष्य के लिये इतनी अधिक लाभदायी विद्युत् शक्ति यन्त्रों की सहायता द्वारा झरनों से उत्पन्न की गई है।

(२) समय, स्थल तथा पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की भौतिक सीमायें (Physical Limitations) शीघ्रता से समाप्त होती जा रही हैं। यातायात तथा यन्त्रोत्पादन की प्रत्येक अवस्था में अणुबम्ब (Atom Bomb) की उत्तेजनापूर्ण अनुसंधान के कारण एक नयी क्रान्ति की सम्भावना है। चन्द्रलोक की यात्रा भी अब बिल्कुल असम्भव नही कही जा सकती।

(३) मनुष्य के हाथों कार्य इतने शीघ्र नहीं हो सकते। एक सिगरेट का कारखाना एक मिनट में २५ हजार सिगरेट बना सकता है। साधारण बल्ब का कारखाना प्रतिदिन ३ हजार बल्ब बना सकता है। मशीन द्वारा बनाये जा सकने वाले 'पिनों' की संख्या तो गिनी भी नहीं जा सकती। उत्पादन की इस द्रुत गति को देखकर हाथ से काम करने वाला बेचारा श्रमिक घबड़ा जाता है।

(४) यन्त्र इस **आश्चर्यजनक समीचीनता** (Precision) से कार्य करता है कि प्रत्येक निर्मित सामग्री दूसरे के ठीक अनुरूप होती है। ऐसी एक समान उत्पादन-व्यवस्था बिना, तथा परस्पर परिवर्त्तनीय अगों वाले यन्त्रो के बिना, आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था कुछ भी प्रगति न कर पाती !

(५) विभिन्न उद्योगो मे प्रणाली की समता के कारण **श्रम की गतिशीलता और बढ़ गई है**। उद्योगों का परस्पर रूपान्तर सम्भव हो गया है। उद्योग-व्यवस्था ने युद्ध की आवश्यकताओ की तत्काल पूर्ति करके इस बात का युद्ध के समय प्रचुर प्रदर्शन कर दिया है ।

(६) **सस्ती तथा उपयोगी सामग्री के उत्पादन द्वारा** तथा यातायात की सुविधा में वृद्धि के कारण समाज को प्रचुर लाभ हुआ है। पुस्तको तथा समाचारपत्रो की सस्ती छपाई जो यन्त्रो के द्वारा ही सम्भव हो सकी है, मनुष्य के अनुरजन का प्रभावशील उपाय सिद्ध हुई है ।

(७) **श्रमिक का अरुचिकर तथा कष्टसाध्य कार्य से उद्धार हो गया है**। दिन भर के परिश्रम की अवधि को घटाकर अब वह अधिक अवकाश प्राप्त करता है।

(८) **उसकी प्रतिभा, कौशल, श्रम निपुणता का स्तर ऊंचा हो गया है** । आलसी श्रमिक यन्त्रो का समुचित सचालन नही कर सकता ।

३. मशीन से हानियां (Disadvantages of Machinery)—किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। **घने बसे हुए, दुर्गन्ध युक्त, गन्दे नगर, आवश्यकता से अधिक श्रमिकों से युक्त कारखाने, मनुष्य की नैतिकता के लिए अपनी सम्पूर्ण विपत्तियों सहित औरतों तथा बालकों से अनुचित लाभ, कारीगरों के स्वावलम्बन का अभाव** आदि यन्त्र-व्यवस्था के कुछ दोष है। **कारीगर बेचारा "कल चलाने वाले" की स्थिति को पहुंच गया है**। हम समझते है कि विदेश से होने वाली यन्त्र प्रतियोगिता ने किस प्रकार **हमारे उद्योगों को नष्ट कर दिया है** तथा ढाका की मलमल के बनाने वाले अब बड़ी संख्या मे कौशलविहीन साधारण मनुष्य-मात्र बन गये है। मनुष्य मशीन के भीतर का एक पुर्जा मात्र रह गया है। **कलात्मक निर्माण समाप्त हो गया है**। लाभ के लिये निर्मित अविश्वसनीय तथा कम टिकाऊ वस्तुओं से बाजार भरे पड़े है। **पूंजीवाद तथा फैक्टरी व्यवस्था की समस्त बुराइयाँ** यन्त्र प्रणाली के साथ प्रारम्भ हो जाती है ।

४. क्या यन्त्रों से बेकारी पैदा होती है ? (Does Machinery Create Unemployment ?) श्रम की बेकारी के लिये मशीन कहा तक उत्तरदायी है ? लूडीटीज (Luddites) ने कलो का इस भय से अन्त कर दिया था कि कही मनुष्य घूरे पर फेंकी जाने वाली वस्तु के समान बेकार न हो जाये। निःसन्देह **कलों का तात्कालिक प्रभाव श्रमिकों का कार्य से थक् होना ही होता है**। वह जो बेकार हो जाते है, विशेषकर वृद्ध श्रमिक, सम्भव है उन्हें भविष्य में कोई कार्य न मिले, अथवा यदि कार्य मिले भी तो

उतना अच्छा वेतन न मिले। मनुष्य किस सीमा तक और कितने समय तक बेकार रहेगे, यह श्रमिकों की अनुकूलता तथा नई परिस्थिति का अनुभव होने के लिये उद्योगपति की योग्यता पर निर्भर होगा।

किसी समय तो यह अनुकूलता ग्रहण करनी ही होगी और लम्बे समय में कभी न कभी व्यवसाय या काम की सीमा भी बढेगी। इसमे किसको संदेह होगा कि औद्योगिक व्यवस्था के पूर्व की अपेक्षा आज इंगलैण्ड कही अधिक मनुष्यो के लिये कार्य-नियोजन करता है। इस प्रकार अधिक कार्य-नियोजन होता है। यन्त्रनिर्मित वस्तुएँ सस्ती होती है। उनकी माग बढ जाती है तथा उत्पादन की सम्भावना की ओर अधिक वृद्धि से और अधिक मनुष्यो को कार्य मिलेगा। अथवा कई नई वस्तुओ की आवश्यकता बढेगी तथा उनको बनाने के लिये मनुष्यो की आवश्यकता होगी। यदि मनुष्य अधिक वस्तुएँ खरीदता नही है तो वह अपना धन जोडेगा। इस प्रकार सचित पूजी से नई उद्योगशालायें खोली जायेंगी। कलो के निर्माण के लिए मनुष्यो की आवश्यकता होगी। उनकी मरम्मत तथा इस सम्बन्ध के अनेक कार्यो के लिये मनुष्यो की आवश्यकता होगी। कलो द्वारा उत्पन्न नई शुरूआतों की सख्या वास्तव मे बहुत ह। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि मशीन से **तत्काल** तो चाहे बेकारी उत्पन्न हो, किन्तु **आगे जाकर** इससे अधिक कार्य-नियोजन होगा।

५. श्रम-विभाजन(Division of Labour)—यन्त्र के विस्तृत प्रयोग के अतिरिक्त वर्त्तमान उत्पादन की प्रधान **विशेषता** श्रम-विभाजन है। वास्तव में श्रम-विभाजन तथा यन्त्रो का प्रयोग साथ-साथ चलता है। आज हम यह देखते है कि **एक वस्तु का निर्माण अनेक प्रणालियों में विभक्त होता है और प्रत्येक प्रणाली श्रमिकों के पृथक्-पृथक् वर्ग द्वारा सम्पादित होती है।** इसे श्रम-विभाजन कहते है। अधिक उपयुक्त शब्दों में इसे विशेषीकरण (Specialisation) कहते हैं। यह (अ) साधारण श्रम-विभाजन (Simple Division of Labour) हो सकता है जबकि कार्य संयुक्त नीति से होता है, और यह कहना सम्भव नही होता कि प्रत्येक व्यक्ति ने कितना कार्य किया है—जैसे किसी भारी बोझ के उठाने मे। (ब) जटिल श्रम-विभाजन (Complex Division of Labour)—जब प्रत्यक प्रणाली पृथक् वर्ग द्वारा की जाती है और (स) स्थानीय श्रम-विभाजन (Territorial Division of Labour)—जब किसी स्थान के व्यक्ति किसी विशेष सामग्री के उत्पादन की विशेष योग्यता प्राप्त कर लेते है। इसे हम उद्योगो का स्थानीकरण (Localisation of Industries) कह सकते है।

६. श्रम-विभाजन के लाभ (Advantages of Division of Labour)—श्रम-विभाजन व्यवस्था से अनेक लाभ माने गए है। अर्थ सिद्धान्त के इस अंश के प्रति ऐडम स्मिथ(Adam Smith)की देन आज भी प्रतिष्ठित समझी जाती है। श्रम-विभाजन निम्नलिखित रूपों में लाभदायी सिद्ध हुआ है :—

(१) **उत्पादन शक्ति में वृद्धि** (Increase in Productivity)—ऐडमस्मिथ इस के लिये पिन निर्माण उद्योग का उदाहरण देते है। पिन निर्माण को वह १८ पृथक्-पृथक् कार्य भागों में विभक्त करते है। दस व्यक्ति एक दिन में ४८००० पिन बना सकते है। अस्तु, एक दिन मे यदि विचार किया जाये तो एक मजदूर ४८०० पिन बना लेता है। श्रम-विभाजन तथा यन्त्र-साधन के अभाव में एक व्यक्ति एक दिन में कठिनाई से एक 'पिन' बना पाता और बीस पिन तो कदापि न बना सकता। निस्संदेह समाज की उत्पादन-शक्ति पूर्व की अपेक्षा कही अधिक बढ़ी हुई है।

क्या उत्पादन-शक्ति की यह वृद्धि केवल श्रम-विभाजन ही के कारण है (Is Increase in Productivity due simply to Division of Labour)—यह तो असन्दिग्ध रूप से सत्य है कि श्रम-विभाजन के कारण ही बहुत अधिक बढ गई है किन्तु अन्य कारणो की उपेक्षा करके केवल इसी को इस वृद्धि का कारण मान लेना अनुचित होगा। उत्पादन, विशिष्ट ज्ञान की प्रगति, अनेक अन्वेषण और परिशोध तथा पूजी का संचय भी अन्य महत्त्वपूर्ण कारण है जिनसे उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हुई है। विज्ञान के कारण भूमि की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हुई है। इन सभी कारणों का सामूहिक फल उत्पादन-सामर्थ्य की संवृद्धि है। अस्तु, केवल श्रम-विभाजन ही अकेला कारण नही माना जा सकता।

(२) **श्रम-कौशल तथा निपुणता में वृद्धि** (Increase in dexterity and skill)–अभ्यास से ही मनुष्य में पूर्ण निपुणता आती है। बार-बार एक ही कार्य के करते रहने से मजदूर कुशल हो जाता है और तब शरीर तथा मन की शक्तियो का स्वभावसिद्ध संयोग हो जाता है। श्रमिक में विशेष निपुणता तथा श्रम-कौशल आ जाता है।

(३) **अनुसन्धान की अधिक सम्भावना** (Inventions are facilitated)—श्रमिक की क्रियाशीलता एक प्रकार से यन्त्रवत् हो जाती है और शरीर से अपना कार्य करते हुए भी श्रमिक की बौद्धिक एवं मानसिक वृत्तियां उस कार्य को और अधिक निपुणता से सम्पन्न करने की प्रणालियां सोचा करती है। प्रायः नये विचार आते रहते है और श्रमिक को नवीनता की ओर अग्रसर होने का अवसर मिलता है।

(४) **यंत्रों को प्रयोग में लाने की सुविधा** (Introduction of machinery facilitated):—जब मनुष्य को बार-बार एक ही कार्य करना पड़ता है तो अपनी सुविधा एवं बचत के लिये वह कोई यान्त्रिक व्यवस्था सोच निकालता है। श्रम-विभाजन प्रत्येक प्रणाली को केवल एक बार की जाने वाली क्रिया मात्र में परिणत कर देता है। इस साधारण कार्य को शीघ्र अथवा देर में यंत्र के द्वारा किया जाने लगना एक निश्चित सम्भावना हो जाती है। अस्तु, श्रम विभाग मशीन प्रयोग का कार्य सरल कर देता है।

(५) **समय की बचत** (Saving in time):—श्रम-विभाजन व्यवस्था के

अन्तर्गत श्रमिक को एक ही कार्य विधि में लगे रहना होता है। किसी विशिष्टतायुक्त व्यापार को समझने के लिये समस्त व्यापार की अपेक्षा कम समय लगता है। इस प्रकार श्रमिक में विशिष्ट निपुणता आती है और कार्य के लिये उसे अधिक मूल्य मिलने लगता है।

(६) **साधन तथा औजारों की बचत** (Saving in tools and implements):—जब श्रमिक को कुल कार्य का एक भाग विशेष ही करना रहता है, तो उसे सब तरह के औजार देने की आवश्यकता नही रह जाती। अगर किसी बढ़ई को पूरी कुर्सी बनानी हो तो उसे सब औजारों की जरूरत होगी लेकिन सब औजार एक साथ प्रयोग में नही लाये जा सकते। इसका अर्थ हुआ कि लगाई हुई पूजी पर आने वाले लाभ की कमी। इस प्रकार श्रम-विभाजन व्यवस्था औजारों तथा साधनों के प्रयोग की दृष्टि से बचत करने वाली है।

(७) **कार्य-नियोजन की अनेकरूपता** (Diversity of employment):—श्रम-विभाजन से कार्य की संख्या तथा विभिन्नता मे वृद्धि होती है तथा कर्म-नियोजन (Employment) में अनेकरूपता आ जाती है। श्रमिक को कार्य के चुनाव का अधिक अवसर रहता है। इसलिये प्रत्येक श्रमिक अपनी-अपनी पृथक् रुचि के अनुकूल कार्य प्राप्त कर सकता है।

(८) **बड़ी मात्रा की उत्पत्ति** (Large-scale Production):—श्रम-विभाजन से उत्पादन बड़ी मात्रा में होने लगता है। प्रचुर मात्रा में हुए उत्पादन का लाभ सभी प्रकार की बचत के रूप में समाज को होता है। समाज के उपयोग के लिये सस्ती सामग्री उत्पन्न होने लगती है और रहन-सहन का स्तर सस्ता, सुविधाजनक तथा उत्तम हो जाता है। उत्पन्न सामग्री की मात्रा में ही वृद्धि नही होती वरन् उसकी कोटि (Quality) में भी उत्कृष्टता आ जाती है। इसका कारण यह है कि श्रम-विभाजन पद्धति के अन्तर्गत कार्य उन श्रमिकों के द्वारा होता है जो अपने-अपने कार्य में कुशल एवं निपुण होते है।

(९) **उपयुक्त कार्य के लिये उपयुक्त व्यक्ति** (Right man in the right place):—श्रम-विभाजन के अन्तर्गत श्रमिक इस प्रकार बंट जाते है कि प्रत्येक श्रमिक अपने कौशल का कार्य करता है। इस प्रकार कार्य की अनुपयुक्तता तथा असंगति नही रहती। जब उपयुक्त व्यक्ति को उपयुक्त कार्य मिलता है तो कार्य-कुशलता का बढ़ना निश्चित है।

इस प्रकार श्रम-विभाजन समाज के लिये अत्यन्त लाभकारी है। एडम स्मिथ के शब्दों में हम कह सकते है: "श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न विभिन्न उत्पादन कौशलों की संवृद्धि ही किसी सुव्यवस्थित समाज में निकृष्टतम लोगों तथा प्रसारित सार्वभौम सम्पन्नता (Opulence) का अवसर प्रदान करती है।"

७. **श्रम-विभाजन से हानियां** (Disadvantages of Division of Labour) हमने देखा है कि श्रम-विभाजन पद्धति से समाज की उत्पादन-सामर्थ्य के

अवसरों की वृद्धि होती है। किन्तु चैपमैन (Chapman) का कथन है कि "किसी उत्पादन प्रणाली की उत्पत्ति-सामर्थ्य ही उसके महत्त्व की एकमात्र कसौटी नहीं है। जीवन का उद्देश्य केवल सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त कर लेना ही नहीं होता।" हमें यह देखना होगा कि मनुष्य जिसके लिए ही उत्पादन किया जाता है, श्रम-विभाजन के कारण किस प्रकार प्रभावित हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर यह सिद्ध नही होता कि श्रम-विभाग से केवल लाभ ही होते हैं। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप निम्नलिखित दोष भी होते हैं :——

(१) **नीरसता** (Monotony)—श्रमिक बार-बार एक ही कार्य करने के कारण एक प्रकार की नीरसता का अनुभव करने लगता है तथा कार्य साधारण कोटि का तथा कौशलहीन हो जाता है। जीवन में विविधता ही अनुरंजन का कारण होती है और इस प्रकार के श्रम-विभाजन से श्रमिक को इसी विविधता से वंचित रह जाना पड़ता है।

(२) **मनुष्य के विकास में बाधक** (Retards human development) मनुष्य का शरीरिक तथा मानसिक विकास उसके कार्य से बहुत प्रभावित होता है। कृषक बड़ा तत्पर तथा दृढ होता है। दूकानदार या हलवाई के शरीर मे विशेष प्रकार की विलक्षणता होती है किंतु किसान की अपेक्षा मानसिक दृष्टि से सचेत होता है। श्रमिक को एक ही प्रकार का कार्य बार बार करने से शरीर तथा मन की गति एक ही दिशा में रहती है। एक प्रकार की बार बार क्रियाशीलता व्यक्ति के मन को कुंठित तथा दृष्टिकोण को सीमित कर देती है। नीरसता से आत्मिक दमन होता है। Charlie Chaplin का 'Modern Times' नामक चित्र श्रमिको पर श्रम-विभाजन की हानियों का अच्छा दिग्दर्शन कराता है।

(३) **मानवीय प्रेरणा रहित उद्योग** (Industry de-humanised) श्रम-विभाजन के अन्तर्गत श्रमिक किसी वस्तु के विशेष भाग का ही निर्माण करता है जैसे कुर्सी का 'पाया'। कुर्सी के विभिन्न भाग पृथक्-पृथक् श्रमिक वृन्द द्वारा बनाए जाते हैं। यदि वस्तु-निर्माण असन्तोषजनक होता है तो कोई एक व्यक्ति अपने को उत्तरदायी नही मानता। "सब लोगों के द्वारा किया गया कार्य किसी भी व्यक्ति का नहीं होता।" संपूर्ण वस्तु को बनाने पर निर्माता को एक आनन्द मिलता है; उसे अपनी रचना पर अभिमान होता है और उसके रचनात्मक संस्कार की परितुष्टि होती है। निर्मित वस्तु से बनाने वाले का व्यक्तित्व झलकता है। किंतु विभाजित श्रम व्यवस्था में ये सब बातें असंभव है। निर्माता में उत्तरदायित्व तथा स्वाभिमान की भावना ही नही रह जाती। इस प्रकार कार्य में मानव स्वभावोचित संपर्क हो समाप्त हो जाता है। इस प्रकार उद्योग के भीतर से मानवोचित स्फूर्ति निकल जाती है।

(४) **निपुणता की हानि** (Loss of skill)—कुशल शिल्पकार अपनी निपुणता खो देता है। उसे या तो केवल कातना आता है अथवा बुनना। या तो वह कुर्सी

का पाया बना पाता है अथवा फिर कुर्सी पर बैठने का स्थान। संपूर्ण कुर्सी बनाने की सामर्थ्य उसमें नहीं रह जाती। यह बड़ी हानि है। किसी वस्तु के निर्माण की संपूर्ण विधि से श्रमिक अपरिचित रहता है। वे अर्ध-निपुण ही रह जाते हैं।

(५) **बेकारी की आशंका** (Risk of Unemployment)—कार्य के केवल एक अंग के निर्माण का ज्ञान रखने वाले श्रमिक को बेकारी का सदा डर रहता है। यदि उसका प्रस्तुत कार्य छूट जाय तो संभव है दूसरे स्थान पर उसे कार्य न मिल पाये। जिस विशेष कार्य को वह जानता है उसके लिये काम करने वालों की आवश्यकता न रहने की भी संभावना होती है। इस प्रकार अधिक विशेषता श्रमिक की गतिशीलता की दृष्टि से हानिकारक है।

(६) **श्रम-विभाजन से पारिवारिक जीवन में पृथकता आती है** (Disrupts family life)—औरतो तथा बच्चों को भी उनके अनुकूल कार्य मिलने से दृढ़ एवं सुकुमार सब प्रकार के श्रमिकों के लिये अवसर रहता है। कारखानों में औरतों का अधिक संख्या में कार्य करना गृहस्थ जीवन में पृथकता उत्पन्न कर देता है तथा बच्चों को काम में लगाने से राष्ट्र की मूल्यवान मानवीय संपत्ति का व्यर्थ क्षय होता है।

(७) **श्रम-विभाजन तथा फैक्टरी व्यवस्था से हानियां** (Division of Labour and evils of Factory System)—फैक्टरी व्यवस्था से संबद्ध होने से श्रम-विभाजन में अनेक दोष उत्पन्न हो गये है। कारखाने का वातावरण दुर्गन्धयुक्त बना रहता है। आबादी की अधिकता से चरित्र का पतन होता है। आस-पास की गन्दगी से रोग फैलते है। मनुष्य मशीन तथा उद्योगपति का दास हो जाता है।

(८) **स्थानीय श्रम-विभाजन से हानियां** (Evils of territorial division of labour)—स्थानीय श्रम-विभाजन से अनेक हानियाँ उत्पन्न होती हैं। इससे उद्योग एक ही स्थान तक सीमित होकर रह जाते हैं। इसका फल यह है कि स्थान-विशेष के व्यक्ति किसी विशेष प्रकार के उद्योग पर ही निर्भर रहते है। इससे कार्य नियोजन का क्षेत्र कम हो जाता है, और परिवार की आय भी घट जाती है।

(९) **अत्यधिक विशेषीकरण** (Specialisation)—इससे संकीर्णता उत्पन्न होती है तथा सांस्कृतिक एकता नष्ट होती है। विशेषज्ञ का अपना पृथक् संसार बन जाता है और उसी प्रकार के जीवन का स्वभाव भी। फलस्वरूप अपने आस-पास रहने वाले अन्य व्यक्तियों के हित की उपेक्षा करते हुए उन्हें अपने स्वार्थ की ही चिंता रहती है।

फिर भी श्रम-विभाजन पद्धति स्थायीरूप से चल रही है। दिन भर के कार्यों की अवधि का घट जाना तथा अवकाश की वृद्धि, शिक्षा का प्रसार, मजदूरी में वृद्धि इत्यादि कुछ रीतियां हैं जिनका प्रयोग किया जा सकता है जिससे श्रमिक के जीवन पर श्रम-विभाजन का हानिकारक प्रभाव न पड़े।

श्रम-विभाजन व्यवस्था के अन्तर्गत क्या श्रमिक अपनी योग्यता के बिल्कुल ही उप-

युक्त कार्य में नियोजित किया जाता है ? यह आवश्यक नहीं है कि सदैव ऐसा ही हो। किंतु नियोजक की चेष्टा यह अवश्य रहती है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुकूल ही कार्य प्राप्त हो। परन्तु सर्वदा यह संभव नही होता। यह सब 'मांग' पर निर्भर होता है कोई भी श्रमिक इतना विशेषज्ञ नही होता कि वह दूसरा कार्य न कर सके। अनेक उसके द्वारा करणीय कार्यों में उसे वह कार्य मिलेगा जिसके लिये मांग है और इस प्रकार मिला कार्य उसके सर्वथा उपयुक्त नही भी हो सकता है।

८. श्रम-विभाजन के आवश्यक तत्त्व (Requisites of Division of Labour)—श्रम-विभाजन प्रणाली के सफल निर्वाह के लिये निम्नलिखित शर्तें पूरी होनी ही चाहियें :-

(१) **बड़ी मात्रा की उत्पत्ति** (Large-Scale Production)—जब तक उत्पादन बड़ी मात्रा में नहीं होता श्रम-विभाजन असंभव है। यदि कुर्सियां अधिक संख्या में बनाई जाती हैं तभी कुछ श्रमिकों को पाया बनाने तथा कुछ को पिछला भाग बनाने का कार्य देना उचित होगा।

(२) **उत्पादन निरंतर होना चाहिये** (Production must be Continuous)—जब तक उत्पादन निरन्तर नही होता और सब कार्यप्रणालियां एक साथ नहीं चलती, विभिन्न श्रमिक वर्गों के बीच काम नही चल सकता है।

(३) **प्रतिभाशीलता तथा सहयोग की भावना** (Spirit of Co-operation and Intelligence)—जब तक श्रमिक परस्पर सहयोग नही करते तथा उनमें कार्य के विविध अगों को समझने की प्रतिभा नही होती, तब तक श्रम-विभाजन सफल नही हो सकता।

(४) **उद्योगपतियों में संगठन की योग्यता** (Organising ability of the entrepreneur)—उद्योगपति में आवश्यक सगठन की योग्यता होनी चाहिये अन्यथा श्रम-विभाजन की व्यवस्था तथा संगठन उचित नही होगा।

(५) **बाजार का विस्तार** (Extent of the Market)—अन्त में बाजार का विस्तार भी सीमित करने वाले कारणों मे से एक कारण है। इसका विवेचन नीचे दिया जाता है।

९. श्रम-विभाजन बाजार के द्वारा सीमित होता है (Division of Labour is limited by the Market)—यह बात बहुत स्पष्ट है। यदि जूते बनाने वाला एक जूता छः महीने में बेच पाता है तो उसका आधे दर्जन मनुष्यों का तले बनाने में लगाना तथा आधे दर्जन व्यक्तियों को ऊपरी भाग बनाने में लगाना, अन्य छः व्यक्तियों को इस प्रकार तले तथा ऊपरी भाग को जोड़ने में लगाना मूर्खतापूर्ण होगा। इस प्रकार की विधि अपनाने के पूर्व उस वस्तु की मांग होनी चाहिये। श्रम-विभाजन से बड़ी मात्रा में सामग्री बनेगी और जब तक बाजार में वस्तु की यथेष्ट खपत न हो, अधिक

मात्रा में किसी वस्तु का निर्माण निरर्थक होगा। या तो वस्तु के विक्रय का अवसर हो अथवा उस प्रकार के विक्रय का स्थान बनाया जाय। अस्तु, विस्तृत बिक्री का बाजार ही किसी वस्तु के निर्माण तथा विस्तार को निर्धारित करने वाला कारण होता है।

परन्तु कोई भी उद्योगपति व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार इस विषय को नहीं देखता। अपनी यन्त्र-व्यवस्था का आकार स्थिर करते समय वह बाजार का विचार रखता है और इस प्रकार उसके कर लेने के उपरान्त श्रम-विभाजन की सीमा लगाई गई मशीन की अपेक्षा प्रकृति पर निर्भर होगी। उद्योगपति का निजी संगठन योग्यता पर भी निर्भर करेगा। श्रम-विभाजन की मानवीय सीमाये (Limitations) अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं।

श्रम-विभाजन पर वस्तु का बाजार भी निर्भर होता है—श्रम-विभाजन के कारण अधिक मात्रा मे उत्पादन होने के कारण उत्पादन सस्ता होता है। जब वस्तुएं सस्ती होती हैं तो अधिक मनुष्य उन्हे खरीदते है। इस प्रकार बाजार मे बिक्री बढ़ जाती है। अस्तु, श्रम-विभाजन तथा बिक्री एक दूसरे पर निर्भर है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बाजार की सीमा श्रम-विभाजन का निर्धारण करती है।

निर्देश पुस्तकें

Marshall, A.—Principles of Economics.

Adamsmith—An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations, pp. 93-94 and p. 26

Cannan, E.—A Review of Economic Theory.

Benham, F.—Economics.

अध्याय ११

पूंजी
(CAPITAL)

१. पूंजी का महत्त्व (Importance of Capital)—अभी तक हमने उत्पादन के केवल दो साधनों, भूमि तथा श्रम, का ही अध्ययन किया है। अब हम तीसरे साधन पूंजी का अध्ययन करते हैं। आधुनिक उत्पादन प्रणाली में पूजी का बड़ा महत्व है। आजकल क्या कृषि बिना हल के, आटा बिना चक्की के अथवा बर्फ बिना बर्फ के कारखाने के संभव है ? वास्तव में आज कल बिना पूजी के उत्पत्ति संभव ही नही है। मनुष्य के प्रारंभिक जीवन में भी उसे उत्पत्ति के लिये कुछ औजारों की आवश्यकता पड़ती है।

पर्याप्त और उचित पूजी की सहायता से उत्पादन बड़ी मात्रा में और उच्च कोटि का हो सकता है। वर्त्तमान उत्पत्ति की विभिन्नता व बृहत् परिमाण केवल इस कारण संभव हो सके है कि पूजी की पूर्ति संतोषजनक है।

यदि राष्ट्र के पास समुचित पूजी हो तो देश के जीवन-निर्वाह-स्तर को स्थिर रक्खा तथा उठाया जा सकता है। भारतीय जनता अत्यन्त निर्धन है तथा इसका जीवन-निर्वाह-स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का है क्योकि हमारे पास यथेष्ट पूजी नही है।

हर प्रकार के आर्थिक विकास के लिये पूजीकृत वस्तुओं (Capital Goods) की आवश्यकता होती है। यदि हम चाहते है कि भारत खाद्य पदार्थो में आत्मनिर्भर हो, तो यह आवश्यक है कि सिचाई की योजनायें, ट्यूबवैल की मशीने, ट्रैक्टर आदि हमारे पास हों। औद्योगिक उन्नति के लिये भी मशीनों की आवश्यकता होती है; सड़कें बनाने में भी इसकी आवश्यकता होती है। अस्तु, पूजी के बिना किसी प्रकार की आर्थिक उन्नति असंभव है।

हम पूंजी के बिना यथेष्ट रक्षा का भी प्रबंध नही कर सकते। अमरीका धनवान देश है और वहां पूंजी की अधिकता है। वह इतनी फौज, जल सेना व वायु सेना रख सकता है कि संसार भयभीत हो उठे। पर भारत जैसा दरिद्र देश क्या कर सकता है।

पूजी के न होने पर श्रमिक किसी प्रकार की उत्पत्ति नही कर सकते। ऐसी दशा में व्यवस्थापकों को उत्पत्ति में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पूंजी उत्पादन-यंत्रों का संचालन करती है। इस प्रकार उत्पत्ति में पूजी का बड़ा महत्त्व है।

२. पूंजी का स्वरूप तथा अर्थ (The Nature and Meaning of Capital)—अर्थशास्त्रियों का पूंजी के अर्थ के विषय में बड़ा मतभेद है। चैपमैन (Chapman) के कथनानुसार यह शब्द "व्याकुल करने वाले विरोधी यद्यपि परस्पर संबद्ध अर्थों में प्रचलित है।"

पूंजी की प्रकृति तथा उसका तत्व बहुत स्पष्ट है। इसका संबंध आय से होता है। **मनुष्य अपने धन का कुछ भाग इस प्रकार रखता या प्रयोग करता है जिससे उसे अधिक आय प्राप्त हो या किसी उत्पादन कार्य में उसे सहायता मिले।** मनुष्य के धन के इस भाग को पूंजी कहते है। चैपमैन के शब्दों में[1] पूजी "उस धन को कहते है जो आय देता हो अथवा आय के उत्पादन मे सहयोग देता हो"। इस प्रकार इसमें रेले, जहाज, कारखाने, नहरें, औजार और सब प्रकार के राशि, हिस्से, प्रतिभूतियां तथा बैंक के अमानत सम्मिलित होते है। पीगू (Pigou) ने पूजी की तुलना एक ऐसी झील से की है, "जिसमें ऐसी विभिन्न वस्तुएं जो बचत (Savings) का परिणाम हैं सदैव सम्मिलित होती रहती है। पर वे सब वस्तुएं जो झील में प्रवेश करती है कुछ समय पश्चात् फिर इस में से निकल जाती है।[2]

इस प्रकार पूजी शब्द का प्रयोग तीन प्रकार से हो सकता है :–

(१) कलात्मक विचार (Technical Aspect) में पूजी Capital Equipment के लिये आता है—जैसे औजार मशीनें इत्यादि। यह "उत्पन्न किये हुए उत्पत्ति के साधन" है जो कि प्रकृति के दिये हुए साधनों से भिन्न है।

(२) Commodity Aspect :—वस्तुओं को विचार में रखते हुए (वस्तु शब्द का विस्तार रूप मे प्रयोग करते हुए) पूजी शब्द का तात्पर्य प्राकृतिक साधनो पर नियन्त्रण से है, अथवा पूजी खरीदने की शक्ति (Capital Purchasing Power) से है।

(३) (Distributional Aspect)—वितरण को विचार में रखते हुए पूजी शब्द का अर्थ "उस प्रकार की आय (Income) के अधिकार तथा आशाओं से है जो कि ब्याज कही जाती है।"

पूजी और पूजीवाद में अन्तर किया जा सकता है। पूजी का तात्पर्य केवल उत्पादन के साधनो से है। इसके विपरीत पूजीवाद समाज की उस दशा को कहते है जिसमें इस साधन का अधिकार व प्रयोग कुछ व्यक्ति केवल निजी स्वार्थ के लिए करते हैं। आधुनिक सभ्यता पूजीवादी कही जाती है। कुछ मुट्ठीभर पूजीपति अन्य लोगों पर शासन करते हैं। वे इस अवस्था मे है कि समस्त जनता पर अत्याचार कर सकें। जितनी भी पर्याप्त अच्छी वस्तुएं है उनका प्रयोग केवल धनवान ही कर सकते है जबकि निर्धन सदैव कष्ट उठाते है। धनवानों की प्रकृति अधिक धनवान होने की होती है, जबकि निर्धन गिरते चले जाते है जिससे कि थोड़े से भाग्यशालियों और अधिक अभाग्यशालियों में अन्तर बढ़ता जाता है। ऐसी पद्धति निन्दा के योग्य है। परन्तु पूजीवाद की निन्दा से पूजी की निन्दा नहीं होती ।

---

१ Chapman—Outlines of Political Economy 1920, p. 73.

२ Pigou—Economics of Welfare p. 43.

अब हम कुछ पदार्थों को देखकर यह ज्ञात करेंगे कि वे पूंजी है अथवा नही। जहां तक उत्पादक पदार्थों जैसे कल, आवागमन के साधन और उत्पत्ति की सहायता के लिये उत्पादकों के हाथ में उपभोक्ताओ के पदार्थों का संबंध है, संदेह का कोई कारण नही है। यह तो पूंजी है ही, पर प्रश्न यह है कि उपभोक्ता के हाथ में उपयोग के पदार्थ पूजी होते है या नही। इस विषय में अर्थशास्त्रियों के दो मत है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि यह पदार्थ पूंजी नही होते क्योंकि जहां तक इनका संबध है उत्पत्ति पूर्ण हो चुकी है और इसके आगे आर्थिक सौदा नही हो सकता। बेनहम (Benham) का कहना है कि यद्यपि यह पदार्थ उपभोक्ताओं तक पहुंच चुकते है पर बात यही समाप्त नही हो जाती। यह वस्तु वर्षों तक काम में आती रहती है। इसके सब से अच्छे उदाहरण मकान, फरनीचर, रेडियो सेट, मोटर आदि है। ऐसी वस्तुओं का मूल्य अपनी सेवाओ के कारण होता है। यही नही कभी कभी इन वस्तुओ से आगे के सौदे भी हो जाते है उदाहरणार्थ, कभी-कभी मकान वाले अपने मकान को किराये पर उठा देते है या मोटर को किराये पर चलाते है। बेनहम को यह बात अजीब लगती है कि डाक्टर जब कोई मरीज देखने कार पर जाय तो उसे पूजी माना जाय और जब उसके घर वाले उसी पर घूमने जांय तो उसे पूजी न माना जाय। अतएव वह इस प्रकार की सभी वस्तुओं को पूजी मानेगे। यह अवश्य है कि कभी कभी विपरीत बाते हो जाती है। पर यह जानना कि किसी पदार्थ का प्रयोग आय के लिये होगा या नही अत्यत कठिन नही है। पहली दशा मे वस्तु को पूजी के वर्ग मे रक्खा जायगा।

क्या भूमि पूंजी होती है (Is Land Capital) ? :– भूमि को पूजी के वर्ग में पाच कारणो से नही रक्खा जाता।

(अ) भूमि प्रकृति की ओर से उपहार स्वरूप मिलती है, पर पूजी मनुष्य स्वयं पैदा करता है।

(ब) पूजी नाशवान होती है, इसके विपरीत भूमि स्थाई व नष्ट न होने वाली होती है।

(स) भूमि स्थिर होती है पर पूजी गतिशील होती है।

(द) पूजी के परिमाण में वृद्धि हो सकती है पर भूमि निश्चित तथा सीमित होती है।

(ई) पूजी की आय समान होती है लेकिन भूमि का लगान भिन्न-भिन्न होता है।

पर इन भिन्नताओं को कुछ बढ़ा-चढ़ा दिया गया है। वास्तव में भूमि का भी बड़ा भाग मनुष्य-कृत होता है। मनुष्य ने अपने प्रयत्नों से बड़े-बड़े रेगिस्तानों को उपजाऊ मैदानों में परिवर्तित कर दिया है। पूंजी की भाति भूमि भी कुछ सीमा तक नश्वर है क्योंकि बहुत अधिक खेती इसकी उर्वरता को समाप्त कर देती है और फिर हम भूमि की सीमा को भले ही न बढा सके पर उसकी उत्पादन शक्ति को तो अवश्य बढ़ा सकते हैं। यह क्षेत्र वृद्धि के समान ही है। भूमि भी एक तरह से गतिशील होती है क्योंकि भूमि में उत्पन्न

की गई वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जा सकता है। इसलिये व्यक्तिगत रूप से भूमि को भी पूजी मान लेना अधिक उपयुक्त होगा। भूमि तथा पूजी का अन्तर किस्म का नहीं बल्कि मात्रा का अन्तर है। पर यह अवश्य है कि सब परिस्थितियों में भूमि पूंजी नही होती। दोनों में कुछ ऐसे मौलिक भेद है जिससे पूंजी उत्पति का एक भिन्न साधन बन गई है।

क्या द्रव्य पूंजी होता है (Is Money Capital):— द्रव्य और पूंजी एक ही वस्तु नही है। यह इस बात से स्पष्ट है कि भारत में आजकल द्रव्य की बहुतायत या मुद्रा प्रसार होते हुए भी पूजी की कमी है। द्रव्य की वृद्धि व्यक्ति के लिये अच्छी हो सकती है पर संपूर्ण समाज के लिये भयानक सिद्ध होती है। इसलिये व्यक्ति की दृष्टि से तो द्रव्य पूजी है पर समाज की दृष्टि से पूंजी नही है। व्यक्ति अपने द्रव्य के आधार पर पूजीकृत वस्तुएं प्राप्त कर सकता है पर समाज किसी बाह्य साधन से अपने द्रव्य को पूजी में परिवर्तित नही कर सकता।

पर विनिमय (Exchange) की आर्थिक प्रणाली में यह आवश्यक होता है कि संपूर्ण पूजी द्रव्य के रूप में हो। पर इसका अर्थ यह नही है कि सब द्रव्य पूजी है। सब पूंजी तो द्रव्य हो सकती है, पर सब द्रव्य पूजी नही हो सकता। पजी बनने के लिये यह आवश्यक है कि द्रव्य का प्रयोग उत्पादक कार्यों मे हो।

हमारी वर्त्तमान आर्थिक प्रणाली में पूजी से सबद्ध निर्णय द्रव्य से संबद्ध निर्णयों का रूप ले लेते है। वास्तव मे ऐसे निर्णय इसी प्रकार "वास्तविक साधनो के निर्णय होते है जिस प्रकार दूर से बाड़े से सबद्ध लगने वाले निर्णय वास्तव में क्षेत्र व बाडे के रूप के निर्णय होते है"— केरनक्रास (Cairncross)

राष्ट्रीय ऋण (National Debt) का पूजी संबधी मूल्य क्या होता है? हिस्सो (Shares) के स्वामी के लिये तो यह पूजी ही होता है क्योकि इससे आय होती है पर सरकार की दृष्टि से यह एक प्रकार का ऋण प्रकट करता है। जिस सीमा तक राष्ट्रीय पूजी का प्रयोग सड़कें, नहरे या दूसरे आमदनी वाले कार्यो में होता है, यह पूंजी होती है। पर यदि राष्ट्र के ऋण का प्रयोग युद्ध आदि पर होगा तो इसे पूजी नही कहा जा सकता।

क्या डाक्टर की योग्यता अथवा टाइपिस्ट की कुशलता जैसे व्यक्तिगत गुण भी पूंजी होते हैं (Are personal qualities like a Surgeon's skill or a typist's dexterity Capital)—नही, हस्तान्तरितसाध्य न होने के कारण ये गुण धन के वर्ग में नही रक्खे जा सकते। इसलिये यह गुण पूजी तो हो ही नही सकते। पर कुछ लोगों का कहना है कि यदि कोई मनुष्य दंतशास्त्र सीखने में २००० रुपये व्यय करता है और इतना ही रुपया दंत-विज्ञान-संबंधी औजार खरीदने में तो क्या कारण है कि एक को पूंजी माना जाय और दूसरे को नही। इस संबंध में एडम स्मिथ (Adam Smith) का कथन है कि किसी व्यक्ति की कुशलता में वृद्धि को उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे

उस कल को जिससे श्रम की बचत होती है व अतिरिक्त व्यय लाभ से पूरा हो जाता है। पर निर्जीव साधनों व जीवित मनुष्य में अन्तर होता है। कुछ अर्थशास्त्री इस प्रकार के गुणों को व्यक्तिगत पूजी कहना पसन्द करते है।

नदियां व पहाड़ आदि क्या हैं (What about the rivers and mountains)—यह असंगत-सा लगता है कि नहरों को तो पूंजी मान लिया जाय पर नदियों को नहीं; पर ऐसी वस्तुएं पूजी इसलिये नही मानी जाती है कि पूंजी का संबंध उत्पति के उत्पादक साधनों से है, प्रकृति के उपहारों से नही। इन्हें कभी-कभी प्राकृतिक पूजी कहते हैं।

क्या सभी धन पूंजी होता है? (Is all wealth Capital)–कुछ लोगों का मत है कि **सब प्रकार का धन पूंजी होता है** क्योंकि मनुष्य का सारा धन किसी न किसी रूप में धन की उत्पत्ति में सहायक होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी का मकान जल कर राख हो जाय तो उसे फिर मकान बनवाना पड़ेगा, इसके लिये उसे उत्पत्ति के अनेक साधन जुटाने पड़ेंगे जिससे उसकी आय में कमी हो जायगी। कोई भी वस्तु जिसकी उपस्थिति से उत्पादन को सहायता मिले और जिसके अभाव से उत्पादन रुकने लगे पूंजी होती है। इस विचार की पुष्टि करने के लिये एक तर्क और भी है। प्रत्येक वस्तु से आय की प्राप्ति होती है, इसलिये हर वस्तु को पूजी मानना चाहिये। पर आमतौर से **केवल धन का वह भाग पूंजी माना जाता है जिसका प्रयोग धन के अधिक उत्पादन में हो सके। सब पूंजी धन है पर हर प्रकार का धन पूंजी नहीं होता।**

पूजी के विभिन्न भेद किये गये है। निजी अथवा व्यक्तिगत व सामाजिक पूजी। राष्ट्रीय पूजी और वैयक्तिक पूजी का अन्तर वैसा ही अन्तर है जैसा कि धन के विभिन्न वर्गों में था (अध्याय २. Sec. ६)। कर्मवाहक पूजी का अर्थ उस द्रव्य से होता है जो व्यापारी अपने व्यवसाय को चलाने में प्रयोग करता है जैसे तनख्वाहें देने में व दूसरे इसी प्रकार के व्यय। सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर अचल पूंजी व परिचल पूजी और निमग्न (Sunk) व चलायमान पूंजी में किया जाता है।

अचल पूंजी (Fixed Capital) :—इसमें उत्पादकों के स्थिर पदार्थ जैसे कारखानों की इमारतें, मशीनें जो स्थाई रूप से कई वर्षों तक काम में आ सकती हैं, सम्मिलित हैं।

परिचल पूंजी (Circulating Capital)—अचल पूंजी के विपरीत परिचल पूजी स्थाई नहीं होती। यह एक बार के प्रयोग में ही समाप्त हो जाती है। इसमें उत्पादन के प्रयोग में आने वाले वह कच्चे माल सम्मिलित है जैसे जूतों के बनाने में चमड़ा अथवा बीज आदि कृषि के औजार अचल पूंजी होते है और श्रम के ऊपर व्यय किया गया रुपया परिचल पूंजी होता है। कृषि में प्रयुक्त पशु अचल पूंजी होते हैं पर उनके पालन का व्यय परिचल पूंजी है। विक्रय के लिये जमा किया गया पशुओं का समूह परिचल पूंजी होता है पर दूध आदि के लिये पाले गये जानवर अचल पूंजी हैं। एक ही वस्तु एक व्यक्ति

के लिये अचल पूंजी हो सकती है और दूसरे के लिये परिचल। कम्पनी के लिये सिलाई की मशीन परिचल पूंजी है पर वही मशीन दर्जी के लिये अचल पूंजी है।

निमग्न पूंजी (Sunk Capital)--जिस पूंजी का प्रयोग केवल किसी विशेष कार्य में हो सकता है, वह निमग्न पूजी कहलाती है जैसे बर्फ के कारखाने में लगी पूंजी का प्रयोग होजरी के लिये नही किया जा सकता।

चल पूंजी (Floating Capital)—इस रूप में होती है कि विभिन्न प्रयोगों में काम में लाई जा सकती है जैसे द्रव्य, ईधन, कच्चा माल आदि

३. पूंजी का निर्माण (Capital Formation)--यदि कोई राबिन्सन क्रूसो शिकार के लिये बन्दूक का निर्माण करना चाहता है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह खाने की सामग्री बड़ी मात्रा में एकत्रित करले। इस सामग्री को खाने में उसे कुछ संयम बरतना पड़ेगा। चीन की एक पुरानी कहावत है (सेमुएलसन (Samuelson) ने प्रमाणित की है) कि "जो मनुष्य प्रातः काल के बाद के समय को नही विचार सकता, उसको मध्याह्न में अच्छी से अच्छी शराब पीने को मिलेगी, सायंकाल में उसके सर के दर्द को ठीक करने के लिये अधिक हरी शराब मिलेगी, और अन्य दिनों के लिये उसको केवल वर्षा का जल ही पीने को मिलेगा"। **संयम अथवा प्रतीक्षा ही पूंजी का जन्मदाता कहा जाता है**। विकसेल (Wiksell) के शब्दों में "पूजी बचाये हुए श्रम व भूमि का ऐसा परिमाण होता है जो कई वर्षो में एकत्रित हो पाता है।" परन्तु धनवानों के लिये, जो विलासिता में रहन के उपरात भी बचत कर लेते है, इसमें किसी प्रकार का कष्ट या त्याग नही होता किंतु संयम शब्द में भावना शामिल है। इसलिये 'प्रतीक्षा' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा।

शताब्दियों की खोजों के फलस्वरूप प्रारंभ के भद्दे औजारों से बढ़कर पूजी ने वर्त्तमान काल की दैत्याकार कलों का रूप ले लिया है।

यह सब बचत का ही परिणाम है। टाज़िग के अनुसार "पूजी का उत्पादन तो किया ही जा सकता है पर इसकी बचत और इसका संचय भी होता है।" दूसरे शब्दों में पूजी का संचय **बचत करने की इच्छा व सामर्थ्य पर निर्भर रहता है।**

किसी व्यक्ति की **बचत करने की सामर्थ्य** उसकी आय और व्यय के अन्तर पर निर्भर रहती है। जहां तक राष्ट्र का संबंध है यह सामर्थ्य उसके व्यापार और उद्योग के समुचित संगठन, यातायात के साधनों के विकास और 'साख' व अधिकोषण प्रणाली की उन्नति पर निर्भर रहती है। शिक्षा व स्वास्थ्य के उचित प्रबंध से, मानव साधनों का अधिकतम विकास व प्राकृतिक साधनों के अधिकतम प्रयोग से भी पूजी का निर्माण होता है।

बचाने की इच्छा :— मनुष्य की बचत करने की प्रवृत्ति कई बातों पर निर्भर रहती है। इन बातों में सबसे महत्वपूर्ण ये हैं--घरेलू स्नेह, ऊंचे उठने की इच्छा, सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने की लालसा अथवा केवल सफलता प्राप्ति की भावना।

स्थाई सरकार द्वारा मानव जीवन और धन की सुरक्षा का समुचित प्रबंध मनुष्य की बचत करने की इच्छा व शक्ति दोनों को बढ़ा सकता है। ऐसी दशा में पूजी विनियोग (Investment) के अन्य साधन भी जैसे बैंक, बीमा कम्पनी, व्यापारिक संस्थायें सरकारी सिक्योरिटियों का चलन आदि बढ जायगा।

व्याज की ऊंची दर भी बचत को प्रेरणा देती है। यदि व्याज की दर ऊंची हो तो अधिक लोग बचत करने लगते है। पर व्याज की दर का बचत पर बहुत अधिक प्रभाव नही पडता। बहुत कम लोग ऐसे हैं जो केवल व्याज की इच्छा से बचत करते है। धनवान लोग स्वाभाविक रूप से बचत करते है और निर्धनो को कुछ आनो का कोई आकर्षण नही होता। इसके विपरीत जो लोग अपनी वृद्धावस्था के लिये या अपने बच्चो के लिये एक निश्चित आय की कोई व्यवस्था करना चाहते है वह प्राय व्याज की कम दर पर अधिक और ऊँची दर पर कम बचत करते है।

सामाजिक नियमों जैसे सामाजिक बीमा (Social Insurance) व वृद्धावस्था की उत्तर वेतन (Old-age Pension) का बचत पर क्या प्रभाव पड़ता है? बहुत संभव है कि यह हो कि श्रमिक अपने भविष्य से बिल्कुल निश्चित हो जाय और बचाने का बिल्कुल प्रयत्न न करे। पर हमारा यह विश्वास है कि बचाने की इच्छा अत्यन्त गहन होती है। मनुष्य सदैव बचाने का प्रयत्न करता है। और यदि श्रमिक अपने ऊपर अधिक व्यय भी करता है और प्रत्यक्ष रूप से बचत न भी करे तब भी इससे मानव पूजी मे वृद्धि ही होगी।

बचत वास्तव में पूजी का साधन है। ऐडम स्मिथ (Adam Smith) का कहना है कि "मितव्ययता से पूजी बढती है और अति व्यय से घटती है।" **पर बचत मात्र ही यथेष्ट नहीं होती।** भारतीय किसान अपने बचाये हुए धन को जमीन मे गाढ़ देता है। इस प्रकार बचत पूजी का निर्माण नही करती। बचत को पूजी का रूप देने के लिये यह आवश्यक है कि उसका विनियोग (Investment) हो।

परन्तु बचत पूजी निर्माण का एक भाग है। पूजी केवल घटे हुए वर्तमान उपभोग का ही परिणाम नही है परन्तु बढ़े हुए भविष्य के उपभोग का भी फल है। समुदाय को केवल अपनी समस्त प्रचलित आयों को व्यय करने से रोकना ही नही चाहिये बल्कि साहसी को भविष्य मे उपभोग बढ़ाने का विचार प्रगट करना चाहिये ताकि उद्योग से उत्पन्न की हुई वस्तुएं तुरन्त प्रयोग मे आ जायँ। पूजी निर्माण दो भिन्न बातो पर निर्भर है, उदाहरणार्थ, घटा हुआ **प्रचलित** उपभोग (Reduced *Current* Consumption) तथा बढ़ा हुआ भविष्य का उपभोग (Increased *Future* Consumption) समस्त आधुनिक समुदायों में कुछ प्रचलित उपभोग का बलिदान किया जाता है ताकि भविष्य में नई पूजी द्वारा उत्पादक प्रयत्न (Productive effort) की नींव डाल सकें। "प्रचलित उत्पादन के प्रयत्न (Current productive effort) का भविष्य के

लिये उत्पादन करना प्रथम कार्य है, ताकि वर्त्तमान उपभोग पिछले की पूर्ति कर दे"।[1]

४. बचत व व्यय (Saving *versus* Spending)—यदि कोई राष्ट्र न्यूनतम उपभोग से संपूर्ण अतिरेक की बचत करे तो इससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा अथवा नहीं? संभवतः इस प्रकार की बचत से उत्पादन में कठिनाइयां पड़ेंगी। बहुत अधिक बचत का परिणाम यह होगा कि उत्पादक वस्तुओं में पूंजी विनियोग (Investment) बढ़ जायगा व उपभोक्ताओं की वस्तुओं की माग कम हो जायगी। इसका परिणाम अवश्य ही अत्यधिक उत्पादन व व्यापारिक मंदी (Depression) होगा। दूसरी ओर अत्यधिक व्यय का परिणाम यह होगा कि वर्त्तमान जीवन-स्तर बहुत ऊंचा हो जायगा और भविष्य के लिये कोई प्रबंध नही होगा। द्रव्य का अधिकतर भाग उपभोग के पदार्थों पर व्यय होगा। उत्पादक वस्तुओं की उत्पति की ओर से उपेक्षा के कारण देश की उत्पादक शक्ति का ह्रास होने लगेगा। इसलिये बचत और व्यय दोनों से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। व्यय से बचत की अपेक्षा उत्पादन शक्ति का अनुमान अधिक उचित रूप से लगाया जा सकता है। पर बचत को यदि पूंजी का रूप दे दिया जाय तो अनुचित उपक्रम प्रारंभ हो जायगा। बचत श्रमिकों में विक्रय शक्ति उत्पन्न कर देती है जिससे आवश्यकताओं की मांग बढ जाती है और विलासिताओं की मांग कम हो जाती है।

५. पूजी के कार्य (Functions of Capital)—पूजी के उपर्युक्त वर्गीकरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वर्त्तमान उत्पादन में पूजी क्या कार्य करती है। पूंजी सदैव साहसी व्यवसायी की सहायता करती है। प्रथम तो वह इसको उत्पादन के लिये आवश्यक औजार जैसे यन्त्र तथा कल खरीदने मे प्रयोग करता है।

दूसरे, उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चे माल को खरीदने में पूजी सहायता देती है।

अन्तिम कार्य पूजी का यह है कि इसके द्वारा उत्पादन मे लगे हुए मनुष्यों के जीवन निर्वाह की वस्तुओं अर्थात् उपभोक्ताओं की वस्तुओं की प्राप्ति होती है। यह स्पष्ट है कि ये सब कार्य इतने महत्वपूर्ण है कि वर्त्तमान काल में बिना पूजी के किसी प्रकार का उत्पादन कार्य संभव नही है। जिस देश के पास पूजी नही होती वह देश सदैव दरिद्र व पिछड़ा हुआ रहता है।

६. पूंजी, उसका उपभोग व निर्वाह (Capital, its Consumption and Maintenance)—जो व्यक्ति भविष्य से निश्चित रहता है वह बहुत अति व्यय करता है। ऐसा व्यक्ति सदैव अपनी सामर्थ्य से बाहर खर्च करता है और "अपनी प्रसन्नता के लिये अपनी भूमि तथा घर बेच कर उपभोग की वस्तुएं खरीदता है। ऐसा मनुष्य अपनी पूजी पर निर्वाह करता है, वह भविष्य

[1] Samuelson, P. A.—Economics P: 44

का प्रबंध नहीं करता। यही नहीं कि वह केवल अपनी आय को ही व्यय कर देता हो वरन् अपनी पिछली बचत को भी समाप्त कर डालता है । शीघ्र ही उसे दरिद्रता घेर लेती है। वह थोड़े समय तक अपनी पूजी का उपभोग करके बहुत अच्छी प्रकार रह सकता है ।

इसी प्रकार राष्ट्र भी थोड़े समय के लिये अपनी पूंजी के उपभोग से अपना जीवन-स्तर ऊंचा उठा सकता है। यह राष्ट्र अपना समस्त श्रम व पूजी उपभोक्ताओं की वस्तुओं के उत्पादन में लगा देता है और रेलों, दूकानों, कारखानों, इमारतों आदि जैसी पूंजीकृत वस्तुओं की मरम्मत व परिवर्त्तन की उपेक्षा करता है। परिणामस्वरूप थोड़े ही समय में वे वस्तुएं बेकार हो जाती है। परिणाम यह होता है कि देश की पूंजी, जो शताब्दियों के परिश्रम या प्रयत्नों से संचित की गई थी, समाप्त हो जाती है। समृद्धि के इस क्षणिक काल के थोड़े ही समय बाद देश दरिद्रता व निम्न जीवन निर्वाह के गर्त मे गिर पड़ता है। पीगू (Pigou) के शब्दों में "झील तथा उससे बनने वाले पुराने बड़े जल केंद्र के समाप्त होते ही निकलने वाले चशमें पतली से पतली धारा में परिणत हो जाते है। पूजी के उपभोग का यह परिणाम होता है।"

इसलिये अत्यन्त आवश्यक है कि पूजी का निर्वाह समुचित ढंग से किया जाय और जैसा कि पीगू (Pigou) का कहना है, "उसके भौतिक पतन में सदैव सुधार होता रहे। समय के साथ कल व औजारों का ह्रास होता है।" इसलिये देश के उत्पादन कार्य को स्थायी कृषि संबंधी औजार, यातायात के साधन इत्यादि के रखने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि नियमित रूप से सुधार कार्य होते रहें। केवल इस प्रकार ही पूंजी सुरक्षित रह सकेगी।

पर पूजी के सुरिक्षत रखने का यह अर्थ नहीं है कि टूटी या पुरानी मशीनों के स्थान पर उसी प्रकार की दूसरी मशीनों की स्थापना कर दी जाय। जब पुरानी कार के स्थान पर नई कार खरीदी जाती है तो पुराने माडल की कार खरीदना ठीक न होगा। यदि सड़कों का यातायात बढ़ेगा तो बहुत-सी रेल की व्यवस्था समाप्त हो जायगी। अस्तु, पूंजी सुरक्षित रखने का आशय यह है कि कुछ मशीनों की मरम्मत होती रहे और कुछ के बदले में बिल्कुल नई मशीनें रक्खी जांय। इन सब बातों का ध्येय यह होता है कि उपभोक्ताओं को कम-से-कम वही सन्तुष्टि प्राप्त होती रहे।

पीगू (Pigou) के अनुसार "पूजी को अपने लिये सुरक्षित रखने का अर्थ न तो मूल्य-हानि (value losses) के प्रतिस्थापन से है और न समस्त भौतिक हानियों (physical losses) के प्रतिस्थापन से है, परन्तु ऊपर लिखे के अतिरिक्त ऐसे मूल्य हानि (value losses) के प्रतिस्थापन से है जो कि भौतिक हानियों (physical losses) के कारण होते हैं" (अर्थात् ईश्वर की क्रियाओं तथा राज्य के दुश्मनों के कारण)।[१]

[१] Ibid p.47.

७. कुटिल या परोक्ष उत्पत्ति (Roundabout Production)—कभी-कभी घर का सब से लम्बा रास्ता सब से छोटा सिद्ध होता है। वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन को कुटिल कहा जाता है। जिन वस्तुओं से उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन होता है उनके उत्पादन के लिये उत्पत्ति के साधनों का अधिक उपभोग होता है। उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में बहुत कम मनुष्य व्यस्त होते है। प्राचीन काल का शिकारी एक पत्थर या एक छड़ी से भी शिकार कर लेता था जैसा कि चैपमैन (Chapman) का कथन है "पर आज कल का शिकारी पहले खान खोदता है और तब लोहे को गलाकर शिकार के हथियार बनाता है" और तब उसका शिकार प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार की लम्बी रीतियों के प्रयोग में कोई विशेष आकर्षण नही है। पर तब भी आधुनिक उत्पादन इतना कुटिल क्यों है? इसके कारण विशेष है। इससे अधिक उत्पादन होता है और समाज की इच्छाओं की सन्तुष्टि में अधिक सहायता मिलती है। उत्पति के इस प्रकार की परोक्ष अथवा कुटिल रीतियों से जीवन-निर्वाह-स्तर बहुत उन्नतिशील हो गया है।

रीतियां सदैव परोक्ष नही होती। सदा ऐसे आविष्कार होते रहते है जिनसे उत्पादन की विधि छोटी होती रहती है। वर्त्तमान उत्पादन परोक्ष इसलिये कहलाता है कि इसमें उन वस्तुओं की उत्पत्ति में जिनसे आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है, अधिक प्रयत्न व परिश्रम किया जाता है। चैपमैन (Chapman) के शब्दों में "केवल इसलिये कि कोई प्रणाली अधिक परोक्ष है वह अधिक मितव्ययी नही हो जाती। पर सत्य यह है कि अधिक मितव्ययी रीतियां प्रायः परोक्ष हो जाती है।" डाक्टर हेयक (Hayek) ने पूजीवादी उत्पादन की तुलना एक ऐसे पंखे से की है जो पूजीवादी तरीकों की अधिकता अथवा न्यूनता से खुलता व बन्द होता है। यह पंखा जितना ही अधिक तेज चलता है उतना ही अधिक अन्तर कच्चे माल की प्राप्ति में और अन्तिम वस्तु के निर्माण में लगने वाले समय के मध्य होता है।

निर्देश पुस्तकें

Erich Roll—Elements of Economic Theory.
Pigou, A.C.—Economics of Welfare, Part I, Chap. 4.
Wicksell, K.—Lectures on Political Economy, Vol. I.
Cannan, E.—A Review of Economic Theory.
Cower—The Distribution of Wealth.
Benham—Economics.
Fraser, L. M.—Economic Thought and Language (1947), Ch. 14.
Stigler, G. J.—Theory of Price, 1947, Ch. 17.
Kaldove, N.—Article in Annual Survey of Economic Theory on "Recent Controversy on the Theory of Capital".

Econometric—Vol. I, No. 3 (1937).

Knight: Articles on

(i) Capital, Production, Time and the Rate of Return in Economic Essays in the honour of Gustav Cassel, 1933.

(ii) Capital Time and Interest Rate in Economics (1934)

(iii) Prof. Hayek and the Theory of Investment in Economic Journal 1935.

(iv) The Quantity of Capital and the Rate of Interest, Part I and II, Journal of Political Economy, August and October, 1936.

अध्याय १२

साहसी तथा उसकी समस्यायें

(THE ENTREPRENEUR AND HIS PROBLEMS)

१. भूमिका (Introduction)—उत्पत्ति का कोई भी साधन अकेले कुछ भी उत्पत्ति नही कर सकता। भूमि अकेले कुछ उत्पत्ति कर सकती है, परन्तु वह आधुनिक आवश्यकताओ के देखते हुए कुछ भी न होगा। वर्तमान श्रम के पास केवल अग के और कुछ नही है। इसके अतिरिक्त आज कल उत्पत्ति के साधन एक दूसरे से पृथक् है। अस्तु, आज किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जो इनको सगठित करके उत्पत्ति में लगा सके। यह कार्य आधुनिक काल मे वह करता है जिसे साहसी कहते है।

आर्थिक उन्नति की पहली स्थितियो मे, स्वतत्र भूमि अथवा कारीगर कारखाना स्वय अपना रखता था, अपनी पूजी का उपयोग करता था, अपने औजारो से कार्य करता था, स्वय क्रिया का उपाय रचता था तथा उसका जोखिम सहता था। संक्षेप में वह भूमि का मालिक, मजदूर, पूजीपति, तथा साहसी सब कुछ स्वयं ही था। परन्तु आज कल के उत्पत्ति के अनुमाप तथा पेचीदापन और आधुनिक उत्पत्ति की समस्याओ की प्रकृति तथा मात्रा का ध्यान रखते हुए इन सब जिम्मेदारियो का भार संभालना किसी एक मनुष्य की शक्ति से बाहर है।

२. साहसी के कार्य (The Entrepreneur's Functions)—विशेषोपयोजन के वर्त्तमान काल में, एक नवीन विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है। वह संगठन के कार्य मे विशिष्ट होता है। वह अपनी कोई भी भूमि और प्रायः कोई भी पूजी नही रखता तथा साधारणतया उससे परिश्रम भी नही कराया जा सकता। उसके पास केवल एक वस्तु अर्थात् सगठन की योग्यता होती है। वह लगान पर भूमि, उधार पूजी अथवा भाड़े पर मजदूर पा सकेगा। वह प्रत्येक साधन को ठीक अनुपात मे प्रयोग करते हुए सबसे अच्छा परिणाम प्राप्त करने के लिये उनको साथ-साथ कार्य करने मे लगाता है।

साहसी का कार्य उत्पत्ति के अन्य साधनों का जुटाना तथा परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना है। वह कार्य को आरम्भ करता है, उसका संगठन तथा प्रबन्ध करता है और परिणाम का सामना करता है। वह उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को परितोषण देता है : भूमि-स्वामी को लगान, पूजीपति को ब्याज तथा श्रम को मजदूरी और उनको पदार्थों की बिक्री के पहिले भुगतान करता है। यदि शेष बचता है तो उसका है। उसके आवश्यक भुगतान करने के बाद कुछ भी शेष न

रह सकता है। इस अवस्था में उसका साहस विफल हो सकता है। परन्तु यह भी सम्भव है वह पर्याप्त मात्रा में लाभ उठाये। परिणाम जो कुछ भी हो, वह सब कुछ स्वीकार करने को तैयार रहता है।

सब कुछ उसकी दूरदर्शिता पर निर्भर है। बुद्धिमान साहसी जानता है कि यदि उसने उपभोक्ताओ को अधिकतम संतुष्टि दी है तो वह भी अधिकतम लाभ उठायेगा। यदि उसने उपभोक्ताओं की इच्छाओं का उचित अनुमान लगा लिया है तो उसको पारितोषिक पर्याप्त मात्रा में मिलेगा। इस प्रकार **संगठन करना तथा जोखिम उठाना** अथवा जैसा कि कहा जाता है, अनिश्चितता का सामना करना आधुनिक साहसी के दो मुख्य कार्य है।

३. अच्छे साहसी के आवश्यक गुण (Essential Qualities of a Good Entrepreneur)—एक सफल साहसी में युक्त विचार, संतोष, चतुराई तथा विवेक-शक्ति होनी चाहिये। वह मानवीय स्वभाव को भली भाति जानने वाला तथा नायकत्व के गुण रखने वाला होना चाहिये। उसमे मस्तिष्क तथा हृदय के गुणों का अपूर्व संयोग होना चाहिये जो उसको एक सफल उद्योगपति बनाते है। यही कारण है कि भारतवर्ष में बिरला, टाटा, डालमिया तथा थापर जैसे अधिक उद्योगपति नही है।

४. उसकी समस्यायें (His Problems)—साहसी को बहुत-सी कठिन समस्याओं को सुलझाना पड़ता है। उसको सबसे पहले यह निर्णय करना पडता है कि वह कौन-सा उद्योग करे। उसको आगे देखना होता है और ऐसे उद्योग को चुनना होता है जो कि बढ़ने वाला हो। इसके बाद उसका ध्यान व्यवसाय के परिमाण की ओर जाता है। उद्योग की अभिरुचि तथा व्यवसाय-सस्था को स्थापित करने के पश्चात् उसको उत्पत्ति के साधनों तथा बाजार और पदार्थों से सम्बद्ध यातायात को ध्यान में रखते हुए अपने कारखाने को एक उचित स्थान पर स्थापित करना होता है। ऐसा करने के पश्चात् वह अपना मस्तिष्क यन्त्र के परिमाण, ढांचा तथा आकार पर लगाता है। उसको स्थापित करना, पदार्थो को खरीदना, श्रम-शक्ति की भर्ती करना तथा उसको मितव्ययता से लगाना पड़ता है। संक्षेप में, उस को उत्पत्ति के यन्त्र को चालू करना होता है। अब हम उसकी कुछ समस्याओं का ध्यानपूर्वक विचार करेंगे।

५. व्यवसाय वृद्धि की सीमायें (Limits to the Expansion of a Business)—साहसी को व्यवसाय-संस्था का सबसे अनुकूलतम परिमाण फैलाना चाहिये। जितनी बड़ी व्यवसाय-संस्था होगी साधारणत: उतना ही अधिक लाभ होगा। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से अनेकों बचतें ह। अतएव साहसी अपने

व्यवसाय के बढ़ाने के लिये जितना सम्भव है उत्साहित होगा।

व्यवसाय की किसी एक इकाई के विस्तार की क्या सीमायें हैं ? —यद्यपि व्यवसाय का विस्तार लाभदायक है तो भी ऐसा करना सदैव सम्भव नही होता। व्यवसाय के बढ़ाने में विशेष कठिनाइया यह है : (अ) आर्थिक (Financial) (ब) व्यवस्थापकीय (Managerial) तथा (स) बाजार-सम्बन्धी कठिनाइयां (Market Obstacles)। पहले आर्थिक या वित्तीय कठिनाइयो को लीजिये। व्यवसाय को विस्तृत करने के लिये साहसी को पूजी की नवीन पूर्ति की आवश्यकता होती है। वैसे तो अधिक पूजी के लिये प्रबन्ध करना सरल नही होता फिर भी कठिनाइयां ऐसी नही है जिन पर विजय न प्राप्त की जा सके। एक सफल व्यवसायी को, जो कि ईमानदारी तथा कार्य-कुशलता के लिये विख्यात है, पूजी सरलता से मिल जायेगी। यह कहा गया है कि वित्त केवल एक सेवक के समान है।

परन्तु कुछ अन्य कठिनाइया भी है। जैसे व्यवसाय विस्तृत होता है तो उत्पत्ति के साधनों का मूल्य बढ जायेगा, साधनो के अतिरिक्त पूर्ति को पाने के लिये अधिक लगान, मजदूरी तथा ब्याज के रूप मे देना पडेगा। अतएव लागत बढ जायेगी। दूसरी ओर अतिरिक्त उत्पत्ति बाजार मे मूल्य को कम कर सकती है। अतएव लागत शीघ्र ही अथवा देर में आय के बराबर हो जायेगी। वह व्यवसाय को बढाता जायेगा जब तक कि सीमान्त आगम (अतिरिक्त उत्पत्ति से अतिरिक्त आय) सीमान्त लागत (अतिरिक्त उत्पत्ति के कारण अतिरिक्त लागत) से अधिक होगी। **विस्तार की सीमा तब आ पहुंचेगी जब सीमान्त आगम सीमान्त लागत के बराबर हो गी।** इससे कम पर रुकने से उसको अधिकतम लाभ नही मिल सकेगा तथा आगे जाने से उसको हानि होगी।

सबसे बड़ी कठिनाई व्यवस्था सम्बन्धी है और एक साहसी चाहे वह जितना योग्य हो, उन समस्याओं को सफलतापूर्वक नही सुलझा सकता जो एक सीमा के पेचीलेपन से बाहर है। यही कारण है कि व्यवसाय का असीमित रूप से विस्तार नही किया जा सकता। एक ऐसी स्थिति आ जायेगी जब कि साहसी को यह ज्ञात होगा कि उसका व्यवसाय असाध्य हो गया है। तब निरीक्षण प्रभावशाली न रहेगा, कपट छल से बचाव करने से लागत बढ जायेगी। आन्तरिक लाभ धीरे-धीरे हट जायेगे और लाभ हानि में परिवर्तित हो जायेगा।

छोटा व्यवसाय क्यों चलता रहता है, यह बाजार की कठिनाइयों से स्पष्ट होता है। जब कि एक वस्तु की मांग कम तथा अस्थायी है तो व्यवसाय का विस्तार उचित नहीं होगा। कई साधन है जो यह स्पष्ट करते है कि कुछ वस्तुओं का बाजार क्यों सीमित है। **सबसे पहले भौगोलिक सीमाये** है। मांग पूर्णतः स्थानीय हो सकती है। छोटी व्यवसाय-संस्था स्थानीय आवश्यकताओं की अधिक मितव्ययता से संतुष्ट कर सकती है। यदि कच्चे माल भारी तथा इधर-उधर फैले हों, तो उत्पत्ति का विकेन्द्री-

करण अवश्य ही करना पडेगा तथा उन छोटी इकाइयों में करना पड़ेगा जहाँ कि वह स्थानीय पूर्ति पर निर्भर रह सके। इसी भाति कम जनसंख्या वाले नगरों में छोटी तथा विस्तृत इकाइयो मे उत्पत्ति करना अधिक लाभप्रद होगा। यदि बाजार तथा पूर्ति के साधन एक ही जगह पर हों ताकि उपभोक्ता तथा उत्पादक एक दूसरे से निकट सम्बन्ध में हों, उदाहरणार्थ जैसा कि दूध की पूर्ति में होता है तो ऐसे स्थान पर छोटी व्यवसाय-संस्था अधिक मितव्ययी सिद्ध होती है। इस प्रकार एक छोटी व्यवसाय-संस्था को दूरी से आश्रय मिलता है। व्यवसाय-संस्था का विस्तार बाजार के प्रतिबन्ध से रुकता है, विशेषतः यदि यातायात की लागत ऊंची है।

भौगोलिक सीमाओ के अतिरिक्त बाजार मानसिक कारणों से भी सीमित रहता है। उपभोक्ता का अपना अधिमान होता है जो कि प्रयोग में लाये जाने वाले पदार्थो की वास्तविक अथवा काल्पनिक श्रेष्ठता पर आधारित है। इस प्रकार यह केवल दूरी ही नही जो बाजार को नष्ट करती है परन्तु ग्राहक के पक्षपात, रुचि तथा स्वभाव पर भी प्रभाव डालती है। यह हर व्यवसाय-सस्था को स्वरक्षित ग्राहक देती है। इस बाजार के प्रतिबन्ध को हटाने के लिये नये ग्राहको को पता लगाना पड़ता है जोकि सदैव सरल नही होता। व्यवसाय की उन्नति के लिये यह एक और सीमा है। यह प्रतिबन्ध बहुमूल्य विज्ञापन से ही हटाया जा सकता है। एक उन्नतिशील व्यवसाय-सस्था को एक छोटी व्यवसाय-सस्था के सुरक्षित बाजार पर आक्रमण करने की यही सजा मिलती है।

भौगोलिक रुकावटो पर शाखाये स्थापित करके तथा मानसिक रुकावटो पर उत्पत्ति के प्रकार को विस्तृत करके विजय प्राप्त की जा सकती है। परन्तु ये उपाय न तो सदा सम्भव है और न मितव्ययी है क्योकि वे व्यवस्था-सम्बन्धी रुकावटों को ठुकरा देते है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कृषि उद्योग में इकाई शिल्प उद्योग से छोटी होती है और इसी प्रकार ऐसे रोजगार मे जैसे मरम्मत करना, वस्त्रों, जेवरों का बनाना इत्यादि, जहां व्यक्तिगत रुचि का महत्त्व है और जहां प्रमाणीकरण सम्भव नही है, जहां गुण के विचार अधिक महत्त्वपूर्ण है तथा फैशन महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है, एक छोटा व्यवसाय बड़े के साथ-साथ चल सकता है। उन उद्योगों में जहां कि लागत हिसाब, वैज्ञानिक व्यवस्था, तथा दफ्तर की प्रचलित सामग्री की पद्धति का लाभ नही उठाया जाता, एक छोटा व्यवसाय बड़े व्यवसाय से सरलतापूर्वक प्रतियोगिता कर सकता है। यही कारण है कि खेती साधारणतः अल्प मात्रा में की जाती है। ईट जैसी भारी वस्तुओ में भी जिनको एक जगह से दूसरी जगह आसानी से नही ले जाया जा सकता, उत्पत्ति की इकाई छोटी होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त आधुनिक समय में छोटे उत्पादक को बड़े उत्पादक के साथ साथ चलने में बिजली, सहकारिता, औद्योगिक पत्रिकाओं के द्वारा वैज्ञानिक तथा

औद्योगिक ज्ञान के विस्तार से सहायता मिलती है। ऐसा ज्ञान केवल बड़े व्यवसायों का ही एकाधिकार नही है। ऐसी परिस्थितियों में उत्पादक को अपना व्यवसाय बढ़ाने में कोई प्रोत्साहन नही होता।

साहसी की स्वयं अपनी प्रवृत्ति छोटी व्यवसाय-संस्था को बनाये रखने के लिये उत्तरदायी है। प्रवृत्तियों के मिलाप से स्वतंत्र रहने की चेष्टा अथवा अनिश्चितता, घमंड अथवा लालसा तथा निर्माण करने की प्रेरणा के कारण मनुष्य अधिक वेतन पर नौकरी करने की अपेक्षा एक छोटे व्यवसाय को स्वयं चलाना पसंद करेगा।

इस प्रकार छोटी व्यवसाय-सस्थाएं पायी जाती है क्योकि (अ) उनके मैनेजर (संचालक) उसकी उन्नति के लिये उदासीन है, (ब) वे व्यवसाय को विस्तृत करने के योग्य नही है अथवा (स) व्यवसाय-सस्था विस्तृत हो रही है।

६. उत्पत्ति का अनुमाप[1] (The Scale of Production)—महा-मात्रोत्पत्ति तथा अल्पमात्रोत्पत्ति के आपसी प्रश्न पर बहुत-सी ऐसी बातें है जिनका साहसी को विचार करना पड़ता है। अल्पमात्रा से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से लाभ है, जब कि महामात्रा के भी बहुत से आन्तरिक तथा बाह्य लाभ है।

अल्पमात्रोत्पत्ति के लाभ (Advantages of Small-scale Production):—(१) यह कहा जा सकता है कि छोटी मात्रा पर उत्पादन करने वाला अधिक चतुराई से प्रबन्ध कर सकता है। वह शीघ्र निर्णय तथा कार्रवाही से नई-नई युक्तियो द्वारा अपने व्यवसाय को बाजार के अनुकूल बना सकता है। यहा कोई बटा हुआ उत्तरदायित्व नही है।

(२) उसका उत्साह तथा उत्तरदायित्व उसके नीति क्रम से नष्ट नही हुए है। उसको बही खाते की लम्बी-चौड़ी पद्धति की और छल-कपट को रोकने के लिए अवरोध की, अथवा श्रम या पदार्थ के नाश को कम करने की कोई आवश्यकता नही जैसा कि मार्शल ने कहा है कि "मालिक की आख हर जगह रहती है," तथा निरीक्षण प्रभावशाली और सहानुभूति वाला होता है। छोटे से छोटा ब्यौरा उससे नही छूटता और हर एक बात अति उत्तम रहती है।

(३) श्रमिको से पारस्परिक सम्बन्ध तथा कभी कभी दयालुता के शब्द हड़-ताल या दुर्घटनाओं को असम्भव बना देते है।

(४) ग्राहकों से पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण वह सदैव सन्तुष्ट रहते है और इसका फल अच्छा ही होता है।

(५) यदि मांग सीमित तथा परिवर्तनशील है तो उसको अधिक लाभ होगा।

---

१. केरनक्रास ने अपनी पुस्तक Introduction to Economics के अध्याय ६.७ में महामात्रोत्पादन तथा अल्पमात्रोत्पादन का सर्वश्रेष्ठ विवेचन किया है।

(६) वह साधारणतः अकेला मालिक होता है, निजी स्वार्थ के कारण वह अधिक क्रियाओं की ओर आकर्षित होता है।

विस्तृत क्रियाकल्प-ज्ञान से बाह्य लाभ बढ़ते हैं; और उससे आन्तरिक लाभ घटते हैं। इससे छोटे उत्पादक को सहायता मिलती है। जहां व्यवसाय नीतिक्रम में परिवर्तित नही किया जा सकता, वहां छोटे उत्पादक को बडे उत्पादक की अपेक्षा लाभ होता है।

महामात्रे त्पत्ति के लाभ (Advantages of Large-scale Production):—बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के अपने अनेक लाभ है।

(१) श्रम तथा यन्त्र के विशेषीकरण होने की अधिक सम्भावना रहती है। प्रत्येक मनुष्य को उस कार्य के करने में रखा जा सकता है जिसको वह भली भांति कर सकता है तथा प्रत्येक कार्य सब से श्रेष्ठ मनुष्य को सौपा जा सकता है।

(२) यह भली भांति स्पष्ट है कि एक बड़ा तथा कुशलतापूर्वक स्थापित कारखाना विशिष्ट मशीनो का प्रयोग कर सकता है। एक छोटी रूई की मिल पूर्ण करने वाले अथवा चिकना करने वाले अपने निजी यन्त्र नही रख सकती।

(३) एक बडा व्यवसायी सब से नवीन यन्त्र लगा सकता है। वह अपना निजी मरम्मत विभाग भी खोल सकता है ताकि उसको विश्वासहीन मिस्त्रियों पर आश्रित न होना पड़े।

(४) कुछ व्यापार सम्बन्धी क्रय-विक्रय के लाभ भी है। उनके उत्पादक बड़ी व्यवसाय-सस्था के व्यापार को पाने के लिये प्रतियोगिता करते है। दूसरी ओर एक बड़ी व्यवसाय-संस्था का बाजार विस्तृत होता है। कारण, ग्राहक को शीघ्र तथा निश्चित वस्तु की पूर्ति होती रहती है। बडे आदेश की पूर्ति करना अधिक लाभदायक होता है। उनके पास निपुण ग्राहक तथा विक्रयदक्ष की सेवाये है। पदार्थो की जांच तथा वर्गीकरण किया जा सकता है और एक सी वस्तुओ की उत्पत्ति की जा सकती है। इस प्रकार दोषयुक्त पदार्थो से सम्बद्ध हानिया दूर की जा सकती है। उनका क्रय-विक्रय अनुकूलतम बाजार के समय पर होता है।

(५) उसके विस्तृत साधन उसको आपत्ति काल में भली भाति कार्य चालू रखने के योग्य बनाते है जब कि एक छोटी व्यवसाय-सस्था क्षय हो सकती है।

(६) वह खोज तथा प्रयोग पर अधिक व्यय कर सकता है जो कि उसको अन्त मे लागत से कही अधिक लाभ पहुंचाता है।

(७) वह विज्ञापन तथा बिक्री के कार्य पर अधिक व्यय कर सकता है और बाजार को अधिक विस्तृत कर सकता है।

(८) एक बड़ी व्यवसाय-संस्था के लिये प्रति इकाई पूरक लागत बहुत कम आती है। इसके अन्तर्गत प्रबन्ध की लागत जिसमें व्यवस्थापक तथा क्लर्कों का वेतन,

लगान, विज्ञापन तथा घूमने वाले विक्रताओं की लागत शामिल हैं।

(९) इसके अतिरिक्त बड़ी व्यवसाय-संस्था उपोत्पाद को भली भांति प्रयोग में ला सकती है। एक बड़ी शक्कर मिल शीरे को न फेंक कर उसको मदिरा के बनाने के प्रयोग में ला सकती है।

अनुकूलतम उत्पत्ति क्या है (What is the Optimum Output)?—बेन्हम के शब्दों में उत्तर यह होगा कि "प्रत्येक व्यवसाय-संस्था **उस सीमा तक उत्पत्ति करेगी जिससे कि सीमान्त लागत मूल्य के बराबर हो जाय**। व्यवसाय-संस्था की कुशलता में भिन्नता होने से सीमान्त लागत में नही वरन् उत्पत्ति की मात्रा में भिन्नता होगी। अधिक कुशल व्यवसाय-संस्था की उत्पत्ति अधिक होगी।"

७. अविभाज्यता का सिद्धान्त (Concept of Indivisibility):—एक बडी व्यवसाय-संस्था की कम खर्ची, अथवा बचत का एक महत्त्वपूर्ण मूल कारण उत्पत्ति के अविभाज्य साधनों का प्रयोग है। इस **अविभाज्यता के सिद्धान्त** को भली भांति समझना चाहिये। एक महाविद्यालय छात्रावास के रसोई घर को ले लीजिये। इसमें कम-से-कम बर्तनों तथा सेवकों की सामग्री होनी चाहिये; उदाहरणार्थ, एक महाराज तथा एक नौकर। यह अविभाज्य साधन है। यदि आप एक रसोई घर चलाना चाहते हैं तो कम से कम आपको इनको रखना होगा। अब यदि यह सामग्री १५ छात्रो के लिये काम दे सकती है तो रसोई मे १० छात्रों का रखना आर्थिक न होगा। ऐसा होने पर प्रति छात्र लागत अधिक होगी, और रसोइये तथा नौकर को कुछ समय के लिय बेकार रहना होगा। छात्रो का एक बडा समूह उनको पूर्ण रूप से लगाये रहेगा और उनसे अधिक से अधिक काम लेगा। इसी प्रकार एक अध्यापक अविभाज्य है। मान लीजिये वह ५० छात्रो के क्लास को भली भाति पढ़ा सकता है। एक छोटे महाविद्यालय में जहा कि कक्षा मे छात्र कम हों तो वहां के अधिकारी उसका पूर्ण प्रयोग नही कर सकेंगे। एक कारखाने की भी यही स्थिति है। एक शक्कर मिल का उदाहरण लीजिये। उसके पास कम से कम मकान, यन्त्र, क्लर्क और दूसरे अनेक प्रकार के सामान होने चाहिये। कारखाने का चौकीदार अविभाज्य है, इसलिये उसको पूरा रखना होगा आधा नही। इसी प्रकार क्लर्क भी अविभाज्य है और दूसरी सामग्रियाँ भी इसी प्रकार की है। इनसे एक निश्चित मात्रा मे काम लिया जा सकता है। परन्तु यदि कारखाना अपनी पूरी शक्ति से कम काम करता है तो यह सामग्री पूर्णतः प्रयोग में नही लाई जा सकती, उसका कुछ भाग व्यर्थ पड़ा रहेगा। सन् ३०-३९ के पहले वर्षो में हमारे उद्योग विशेषतः सीमेट और जूट अपनी सामर्थ्य से कम काम कर रहे थे जो कि निःसन्देह नष्टकारी थे। अविभाज्य सामग्री पूर्ण रूप से काम में नही लाई जा रही थी। अतएव तात्पर्य यह है कि जब बड़ी मात्रा में उत्पत्ति की जाती है तो सामग्री निरर्थक नही रहेगी, और अविभाज्य साधन पूर्ण रूप से प्रयोग में लगाये जायेंगे। यह

बहुत कम खर्च वाली उत्पत्ति होगी। अविभाज्य साधन का प्रयोग इस बात पर विशेष प्रभाव रखता है कि उत्पत्ति का कौन-सा नियम लागू होगा। जब कोई साहसी किसी अविभाज्य साधन का अधिकाधिक प्रयोग करता है तो उसे बढ़ती पैदावार (Increasing Returns) उस समय तक प्राप्त होती रहेगी जब तक कि वह साधन अपनी अधिकतम शक्ति तक प्रयोग नही होता है। यदि वह इस सीमा से आगे प्रयोग में लाया जाता है तो उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होने लगेगा। एक निश्चित सीमा के बाहर बड़ी मशीनें कम सहन करती है, मरम्मत के लिये बाधाएँ उपस्थित करती है, तथा उनमें अन्य खराबियां आ जाती है। यदि साधन पूरी तरह से न लगाया जाय तो उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो सकता है।

स्टिगलर (Stigler) ने कई प्रकार की अविभाज्यताएँ (Indivisibilities) प्रगट की है[1]:-

(१) मशीन की अविभाज्यता (Indivisibility of Machinery)।

(२) बाजार सम्बन्धी अविभाज्यताएँ (Marketing Indivisibilities)- इनका तात्पर्य विक्रेताओं (Salesmen) से, खरीद विभाग तथा विज्ञापन से है। जितनी अधिक बिक्री होगी उतना ही प्रति इकाई व्यय कम होगा।

(३) वित्त-सम्बन्धी अविभाज्यताएँ (Financial Indivisibilities)— इनका तात्पर्य कर्जो से सम्बन्धित व्यवस्थापकीय व्यय से है। अधिक मात्रा मे निकाली प्रतिभूतिया (Securities) स्टाक विनिमय मे सम्मिलित की जा सकती है।

(४) खोज-सम्बन्धी अविभाज्यताएँ (Research Indivisibilites)— यदि खोज में कुछ रुपया व्यय किया गया है तो जितनी अधिक मात्रा मे उत्पत्ति होगी उतनी ही अधिक उसमें किफायत होगी।

८. आन्तरिक तथा बाह्य बचत (Internal and External Economies)—आधुनिक व्यवसाय को बहुत से लाभ या बचते प्राप्त है। ऐसे लाभो को हम दो भागो में बाट सकते है—आन्तरिक लाभ तथा बाह्य लाभ।

आन्तरिक लाभ[2] व्यवसाय की आन्तरिक व्यवस्था से संबध रखते है। वे एक व्यवसाय-संस्था के व्यापारिक भेद है। वे विशिष्ट व्यवस्थापक के मस्तिष्क की देन है और वह उनको सुरक्षित रखता है। प्रत्येक व्यवस्थापक अपने अनुभव के अनुसार श्रम शक्ति को बढाने की अपनी पृथक् रीति रखता है। वह मशीन के चलाने मे अपनी पृथक् यन्त्र कला रखता है और कच्चे माल के प्राप्त तथा बने हुए माल की बिक्री के लिये बाजार ढूंढने के लिये अपनी निजी विशिष्ट योग्यता रखता है। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापक अपनी अर्थ-व्यवस्था की पद्धति बना लेता है, जैसे कैसे और कितना तथा

1. For a detailed study see Cairncross, 1944, Pages 64, 80.
2. Stigler, G. J.—Theory of Price (1947), Pages 135—137.

कब ऋण लिया जाय, कितना नकद रखा जाय, और कितनी मेहनत खर्च की जाय। इन सब को **आन्तरिक लाभ** कहते है।

यह भली भांति ध्यान रखना चाहिये कि आन्तरिक लाभ आविष्कारो के कारण से नही होते और न उनको बडी व्यवस्था के एकाधिकारी अथवा सौदा करने की शक्ति से प्राप्त लाभों में ही शामिल करना चाहिये। वे केवल उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि होने से ही होते है। वे उन रीतियो के प्रयोग से होते है जिनका छोटी व्यवसाय-संस्था प्रयोग में लाना उचित नही समझती।

आन्तरिक लाभ (Internal Economies) निम्न प्रकार के हो सकते है :—

मशीनों से लाभ (Technical Economies)—वे इस कारण होते है कि एक बड़ा यन्त्र बनाना सरल है और बड़े यन्त्र के प्रयोग में यान्त्रिक लाभ होते है। लाभ खड़ी गुटबंदी (Vertical Combination) तथा विशिष्टीकरण (Specialisation) से भी होते है।

(ब) **व्यवस्थापकीय लाभ** (Managerial Economies)—ये लाभ विशेषोपयुक्त विभाग के स्थापित करने से अथवा कार्यसम्बन्धी विशेषोपयोजन, नित्य क्रम और विस्तृत विषयो को आधीन पुरुषो को सौपने से होते है।

(स) **व्यापारिक लाभ** (Commercial Economies)—ये वस्तुओं के क्रय-विक्रय से होते है। बडे व्यवसायो मे सौदा करने का लाभ होता है और जिस व्यवसाय-संस्था से वह सौदा करते है उससे अधिमान्य व्यवहार मिलता है।

(द) **वित्तीय लाभ** (Financial Economics)—ये लाभ इसलिये होते है कि एक बडी व्यवसाय-संस्था की साख अच्छी होती है और वह उचित दर पर रुपया उधार ले सकती है। इसके अशो का अधिक विस्तृत बाजार होता है जो रुपया लगाने वाले को प्रोत्साहित करता है।

(इ) **जोखिम उठाने वाले लाभ** (Risk-bearing Economies)—एक बड़ी व्यवसाय-सस्था जोखिम को विस्तृत कर सकती है और अक्सर उसको दूर भी कर सकती है। वह अनेक प्रकार की उत्पत्ति करके ऐसा कर सकती है। इससे उसकी शक्ति तथा स्थिरता बढ़ जाती है और उसपर व्यापारिक उतार-चढाव का कम प्रभाव पड़ता है। बाजार, पूर्ति के साधन तथा उत्पत्ति-विधियो में भी विभिन्नता लाई जा सकती है।

दूसरी ओर **बाह्य लाभ** (External Economies) किसी एक विशिष्ट व्यवसाय की निजी सम्पत्ति नही है। सब उसको जानते है और उसमें सभी का अंश है। विशेषोपयुक्त यातायात की सुविधायें, उस स्थान पर साख तथा कच्चे माल की सुविधा है, पूरक तथा सहायक उद्योगों का होना जिससे कि प्रत्येक व्यवसाय-संस्था

लाभ उठा सकती है तथा वैज्ञानिक और औद्योगिक पत्रिकाओं में दिया हुआ यंत्रकला ज्ञान, बाह्य लाभ के कुछ उदाहरण है। सभी इनसे लाभ उठा सकते है। यदि उन्होने जूट मिल्स ऐसोसियेशन, काटन मिल्स ऐसोसियेशन इत्यादि जैसे संघ बना रखे हैं तो उनमें से प्रत्येक सरकार अथवा श्रम से बातचीत करने में पूर्णतः प्रतिनिधि होते है। उनके हितों को सुरक्षित रखा जाता है और अनेक समस्याएँ सफलतापूर्वक हल की जा सकती है। यह लाभ साधारणतः स्थानीय या केन्द्रित उद्योगो को प्राप्त होते है जहा कि कुछ उन्नति से सब व्यवसाय-सस्थाओ को एक सा लाभ होता है।

बाह्य लाभों (External Economies) **का निम्न वर्गीकरण हो सकता है :—**

(अ) **केन्द्रीकरण के लाभ** (Economies of Concentration)—यह लाभ कुशल श्रमिक की प्राप्ति से, यातायात के अच्छे साधनो के होने तथा सुधार के प्रोत्साहन इत्यादि से सम्बद्ध है। बिखरी हुई व्यवसाय-सस्थायें ऐसे लाभ नही उठा सकती।

(ब) **सूचना के लाभ** (Economics of Information) :—इन लाभो का सम्बन्ध उन सुविधाओ से है जो एक उद्योग के समस्त व्यवसाय-संस्था को व्यापार तथा औद्योगिक पत्रिकाओ के छपने तथा केन्द्रीय खोज-सस्था से प्राप्त होते है।

(स) **अलग करने के लाभ** (Economics of Disintegration):—जब एक उद्योग उन्नति करता है तो कुछ कार्यो को अलग २ करके विशिष्ट संस्थाओ को सौपना संभव हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक विशेष स्थान में स्थापित रूई की मिलें मिल कर एक चिकना करने वाले यत्र से लाभ उठा सकती है।

आन्तरिक तथा बाह्य लाभों के बीच मे कोई विशेष अन्तर नही किया जा सकता। जब अधिक व्यावसायिक संस्थायें मिल जाती है तो बाह्य लाभ आन्तरिक लाभ हो जाते है। कौन से विशिष्ट लाभ आन्तरिक अथवा बाह्य है, केवल इस पर निर्भर है कि किन कार्यो को सयुक्त करना लाभदायक होगा।

यह जानने योग्य है कि जैसे व्यापारिक तथा यंत्र-कला-सम्बन्धी शिक्षा फैलती है और ऐसी दूसरी उन्नति होती है तो आन्तरिक लाभो का क्षेत्र सीमित होता जाता है तथा बाह्य लाभो का विस्तृत होता जाता है। यह भिन्न-भिन्न क्षेत्रों मे उन्नति का फल है।

९. स्थापन की समस्या (The Problem of Location)—एक बड़ी कठिन समस्या जिसको एक साहसी को सुलझाना होता है, वह स्थापन की समस्या है। सब से महत्वपूर्ण विचार पदार्थो तथा बाजारो से सम्बद्ध यातायात के साधन है। टैरिफ बोर्ड को भारतवर्ष के उद्योगों की जांच से यह पता चला है कि उनका स्थापन असंतोषजनक है। सूती मिल उद्योग बम्बई मे अधिक केन्द्रित है और आधुनिक काल में उचित संतुलन के लिये वह बम्बई से हट रहा है। जैसा कि टैरिफ बोर्ड ने बताया कि १९२५ तक कलकत्ता

से ३५०मील तथा बम्बई से २५० मील तक जो कि सीमेण्ट की खपत के दो बड़े केन्द्र है, कोई सीमेण्ट का कारखाना न था। पश्चिमी भारतीय सीमेण्ट के कारखाने कोयले की खानों से अधिक दूर थे। शक्कर के उद्योग में भी वही स्थापन की अनुचितता पाई जाती है। भारत के बम्बई शहर में शक्कर का उपभोग प्रति व्यक्ति सबसे अधिक है परन्तु उत्पत्ति सबसे कम है, बिहार में उपभोग सबसे कम है परन्तु उत्पत्ति अधिक है। इससे अनावश्यक खेंचातानी होती है। बहुत से भारतीय उद्योग अधिकेन्द्रित है और बाजार तथा पदार्थो से सम्बद्ध यातायात से अनुचित व्यवहार रखते ^ ।

१०. स्थानीकरण के कारण (Causes of Localisation)—स्थानीकरण अथवा केन्द्रीकरण से हमारा अर्थ किसी एक स्थान या भाग मे किसी एक उद्योग का स्थापन है। इसको प्रादेशिक श्रम-विभाजन भी कहते है। एक नगर या प्रदेश एक उद्योग मे विशेषोपयुक्त हो जाता है। हमारे जूट का उद्योग बगाल में, लोहे का बिहार मे, शक्कर का उत्तर प्रदेश व बिहार मे, तथा सूती उद्योग बम्बई मे केन्द्रित है। प्रदेशी नगरो मे स्थानीकरण के उदाहरणो मे हम लुधियाना (पजाब) का होज़री उद्योग, फिरोजाबाद (यू. पी.) मे चूडियां, हजारी बाग (बिहार) में रेशम का निर्माण इत्यादि का जिक्र करते है।

स्थानीकरण को निश्चित करने वाले मुख्य साधन निम्नलिखित हो सकते है :—

(१) **कच्चे माल की समीपता** (Nearness to Raw Materials) :—कच्चे माल का समीप होना बडा लाभदायक है। इससे यातायात की लागत अधिक कम हो जायगी। उत्पत्ति अधिक मितव्ययी होगी। यह आश्चर्यजनक प्रतीत नही होता कि अधिक उद्योगो की स्थापना उन भागो में हुई है जहा कि कच्चा माल अधिक मात्रा मे प्राप्त है, उदाहरणार्थ, जूट के कारखाने बंगाल में तथा शक्कर के उत्तरप्रदेश मे।

(२) **शक्ति के साधनों की समीपता** (Nearness to Sources of Power) :—उद्योग के लिये दूसरा आकर्षण शक्ति के साधनो का उपलब्ध होना है। यदि कोयले की खाने समीप है तो बहुत से उद्योग शीघ्र ही वहा केन्द्रित हो जावेंगे, उदाहरणार्थ, लोहे के कारखाने कोयले के भागो मे।

(३) **बाजार से समीपता** (Proximity to Markets) —एक उद्योग के लिये एक विस्तृत बाजार का समीप होना लाभदायक है। यातायात की लागत में अधिक बचत होगी। उपभोग के केन्द्रों के समीप वाले कारखाने दूर वाले कारखानो से अधिक प्रभाव रखते है। भारतीय सूती कारखानों का उत्तरी भारतवर्ष तथा बंगाल में विस्तार बाजार के समीप होने की इच्छा से उत्तेजित हुआ।

(४) **श्रम का उपलब्ध होना** (Availability of Labour) —यदि शिक्षित श्रम उपलब्ध है तो यह एक बड़ी सुविधा गिनी जाती है। यही कारण है कि उद्योगपति एक पुराने स्थापित केन्द्र पर ही जमा होते है। यदि कोई होज़री का कारखाना

स्थापित करना चाहता है तो वह लुधियाना में स्थापित करने मे अपना लाभ समझेगा।

(५) **पूंजी का उपलब्ध होना** (Availability of Capital)—वित्त-व्यवस्था उद्योग का प्राणस्वरूप है। जहां बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाएँ उद्योगों की सहायता करने को तैयार तथा तत्पर रहती हैं, वहां यह एक बड़ा आकर्षण होता है। उद्योगों की इकाइया उनके चारों तरफ मधुमक्खी के छत्ते की भांति एकत्रित हो जाती है। बम्बई, कलकत्ता जैसे शहर उद्योगों के केन्द्र है क्योकि वे वित्त और साख के मुख्य केन्द्र है।

(६) कभी-कभी **राजनीतिक कारण** (Political Factors) भी एक उद्योग को स्थापित होने का उत्तरदायित्व रखते है। हैदराबाद जैसी भारतीय रियासतों ने उद्योगपतियों को आकर्षित करने के लिये उनको विशेष सुविधायें प्रदान की।

(७) कुछ स्थितियों में **धार्मिक कारण** (Religious Causes) अधिक मनुष्यों को एक स्थान पर केन्द्रित करके कुछ उद्योगो की स्थापना करते है।

(८) कभी-कभी केवल **पहले किसी उद्योग-धन्धे का आरम्भ** (Momentum of an Early Start) होने के अतिरिक्त अन्य कारण बताना असम्भव-सा हो जाता है। वह उद्योग वहां किसी प्रकार आरम्भ हो हो गया।

प्रकृति अथवा जलवायु सम्बन्धी कारण जो कच्चे माल की उत्पत्ति पर प्रभाव डालते है, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण है। जहा यातायात की लागत का विशेष ध्यान रखना होता है, उद्योग एक बड़े बाजार के समीप पाया जाता है। यह कच्चे माल के साधनो के समीप होगा जहा कि उत्पादन के दौरान में कच्चे माल का वजन घट जाता है, जैसे गन्ना शक्कर बनाने मे, बांस कागज बनाने मे इत्यादि। कोयले का वजन जब कि वह ईधन की भाति प्रयोग मे लाया जाता है पूर्णतः लुप्त हो जाता है। बेन्हम के शब्दो मे "भिन्न-भिन्न जिलों के भिन्न-भिन्न उत्पत्ति मे विशेषोपयुक्त होने का मुख्य कारण उत्पत्ति के साधनो का संसार के विभिन्न भागों में असमान अनुपात मे वितरण होना है।"

११. अधिक केन्द्रीकरण के कारण (Causes of Further Concentration)—जब उद्योग एक किसी स्थान मे स्थापित हो जाता है तो उसमे और उस स्थान की ओर आकर्षित होने की प्रवृत्ति होती है। जब कोई नया साहसी उस उद्योग को चलाना चाहता है तो वह किसी अन्य स्थान के बजाय उसी स्थान पर जायगा। इस प्रवृत्ति के बहुत से कारण है :—

(१) शिक्षित श्रम वहा तुरन्त मिल सकता है।

(२) यन्त्र और उसके सहायक तथा कच्चा माल वहां आसानी से मिल सकता है।

(३) उस स्थान पर वित्तीय संस्थाएँ भी विकसित अवस्था में होती है।

(४) कुछ समय में वहा पर पूरक तथा सहायक उद्योग स्थापित हो जाते ह और वे मुख्य उद्योग को विभिन्न प्रकार से लाभ पहुंचाते हैं।

(५) क्रियाकल्प पत्रिकाये प्रकाशित होती है जो कि उद्योग के लिय लाभदायक होती है।

(६) सामूहिक हितो की उन्नति तथा रक्षा के लिये साहसी-संघ स्थापित होते है।

(७) यातायात तथा सन्देश के साधन, उद्योग की आवश्यकतानुसार विशिष्ट तथा अनुकूल कर लिये जाते है। ये सभी साधन साहसी व्यवसायी को अधिक सहायता देते है। किसी नये स्थान पर साधारण तथा आसान समस्याओ का हल भी उनके लिये अधिक कठिन मालूम होगा।

(८) सब से बढकर वहा पर औद्योगिक निश्चलता होती है। एक बार एक स्थान पर स्थापित होने के पश्चात् वे कही और जाना नही चाहते। यह मानव प्रवृत्ति है कि एक व्यक्ति जानी हुई कठिनाइयो मे रहना तथा अनजानी कठिनाइयो के बीच में नही रहना चाहता।

ये कुछ ऐसे कारण है जो यह बतलाते है कि विशेष स्थानों पर उद्योगों की दृढ़ता क्यो होती है।

स्थानीकरण के कारणों को चार भागों मे विभक्त किया जा सकता ह।

(१) प्राकृतिक लाभ जिसका सम्बन्ध शक्ति, कच्चा माल तथा बाजार से है।

(२) प्राप्त किय हुए लाभ जिनका सम्बन्ध व्यापार, यातायात, बीमा तथा बैंकिंग की उन्नति से है।

(३) सचीय लाभ जो कि एक स्थान की ओर श्रम तथा पूजी के चलाने से होता है।

(४) संबद्ध लाभ—वह लाभ जो कि श्रम और पूजी के दृष्टिकोण से एक विशेष स्थान पर पाये जाते है, जहां से कि किन्ही और औद्योगिक केन्द्रों की ओर खिचाव नही जाता।

१२. लाभ (Advantages)—ऊपर दिए हुए एक उद्योग के जमकर चलने की प्रवृत्ति के कारण स्थानीकरण के विभिन्न लाभ है अर्थात् श्रम, पूजी, पदार्थों इत्यादि का उपलब्ध होना और विशेषोपयुक्त यातायात, सहायक उद्योग, औद्योगिक पत्रिकायें, संघ इत्यादि के लाभ है। इसके अतिरिक्त विचारो के विनिमय के लिये पर्याप्त सुविधायें है, गुण में सुधार हो सकता है, लागत कम की जा सकती है तथा साधारण समस्याये सफलतापूर्वक सुलझाई जा सकती हैं। उस स्थान पर उस श्रेणी के श्रम को कार्य अवश्य मिलेगा।

स्थानीकरण की हानियां (Disadvantages of Localisation)—कुछ भी हो स्थानीकरण एक अमिश्रित गुण नही है। (१) एक स्थान का एक उद्योग पर निर्भर रहना हानिकरक है। यदि उद्योग गिरी हुई दशा में है तो समस्त श्रमिक जो कि उस पर तथा उसके सहायक उद्योगों पर निर्भर है, हानि उठायेगे। यह सब अंडों को एक टोकरी में रखने के समान है।

(२) इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के श्रम को काम मिलने की कम सम्भावना होती है।

(३) विशेषोपयुक्त श्रम गतिशील नही रहता तथा अन्य उद्योगो में नौकरी पाने का अवसर कम रह जाता है।

इसका स्पष्ट **उपाय** (Remedy) एक ही है जो कि साधारणतः काम मे लाया जाता है अर्थात् पूरक तथा सहायक उद्योगो का चलाना।

१३. विकेन्द्रीकरण के कारण (Causes of Decentralisation)—आधुनिक काल में अनेकों विकास हुए है जिन्होने पुराने उद्योगों को उनके स्थानों से हटा कर दूसरे स्थानो पर स्थापित कर दिया है।

(१) **यातायात के साधनों का विकास** एक ऐसा कारण है। यह विकास वास्तव में एक दुधारा शस्त्र है। एक ओर यह केन्द्रित उद्योगो को अपने स्थान पर रखने के लिए सहायक हुआ है। यदि कच्चे माल की पूर्ति जिसके आधार पर उनका विकास हुआ है, क्षीण हो गई है, तो वह वहा लाया जा सकता है। यदि बाजार जो कि पहले विस्तृत था, अब पर्याप्त मात्रा मे नही रह गया तो यातायात की उन्नति से दूर स्थानों तक फैलाया जा सकता है। परन्तु दूसरी ओर यह भारी यन्त्रो को उन दूर देशो को भेजने मे सहायक हुआ है जिनमें बाजार अच्छा है; उदाहरणार्थ स्वीडन की दियासलाई के कारखाने भारतवर्ष मे खोले गये है। श्रम तथा शिल्पकला मे निपुण मनुष्य भी गतिशील हो सकते है।

(२) इसके अतिरिक्त औद्योगिक केन्द्रो मे **किराया तथा भीड़भाड़ की वृद्धि, जमीन के अधिक मूल्य** तथा **म्यूनिसिपल करों के अधिक बोझ से**, उद्योग हटा लिये गये है, उदाहरणार्थ, सूती मिले बम्बई से अहमदाबाद, शोलापुर तथा अन्य स्थानों को हटाई जा रही है।

(३) अन्त मे **बिजली के आने से** जो कि दूर तक ले जाई जा सकती है, उद्योगो को अधिक सुविधा वाले स्थानो पर स्थापित होने के योग्य बना दिया है। उनको कोयले की खानों जैसी शक्ति के साधनों के समीप रहने तथा दूसरी कठिनाइयों का सामना करने की आवश्यकता नहीं रही।

उपर्युक्त कारणो से स्थानीकरण की बहुत-सी बातें प्रभावहीन हो गई है और उद्योगों का विकेन्द्रीकरण हो रहा है।

१४. साहसी के कार्यों को दूसरों पर सौपना (Delegation of the Entrepreneurial Functions)—हम व्यवस्था की भिन्न-भिन्न समस्यायें जिनको कि साहसी व्यवसायी को सुलझाना होता है, विवेचन कर चुके ह। अब हम उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करना चाहते हैं जिसमें साहसी अपने कुछ कार्य दूसरों को सौंपना चाहता है।

एक समय था जब कि साहसी व्यवसाय को आरम्भ करता था, उसकी व्य-

वस्था करता था, उसको चलाता था तथा उसको आर्थिक सहायता देता था। यदि वह सफल हो जाता तो वह धनी हो जाता था। यदि वह असफल हो जाता था तो केवल वही बरबाद होता था, क्योकि सारी पूजी की पूर्ति वह स्वयं ही करता था। सगठन करने तथा जोखिम उठान के दोनो कार्य एक दूसरे से मिश्रित तथा बंधे हुए थे।

परन्तु सयुक्तीकरण सिद्धान्त (Joint-stock Principle) के आ जाने से परिवर्तन हो गया है, यद्यपि पुराने ढग के साहसी अब भी अधिक मात्रा मे पाये जाते है। कार्य अलग होते हुए दिखलाई देते है। "नियत्रण जोखिम के साथ-साथ रहता है"—यह सुनहला सिद्धान्त तोड़ दिया गया है।[1] एक जाची हुई योग्यता तथा चतुराई रखने वाले साहसी को दूसरों की सारी पूजी एकत्रित करने मे कोई कठिनाई न होगी। इसके अतिरिक्त वह योजनाओं को आरम्भ कर सकता है। इस प्रकार जोखिम हिस्सेदार उठाते है परन्तु व्यवस्था साहसी करते है और प्रबन्ध वेतन पानेवाले मैनेजर करते है।

अतएव हम देखते है कि साहसी केवल कार्य आरम्भ करता है तथा व्यवस्था करता है जब कि संचालन तथा जोखिम उठाने के अन्य कार्य दूसरों के कन्धो पर डाल दिये गये है।

बीमा व्यवसाय (Insurance Business) की उन्नति से भी साहसी की बहुत-सी चिन्ताये तथा जोखिम हट गये है। यदि कोषाध्यक्ष रुपया लेकर भाग जाता है, यदि कारखाने मे आग लग जाती है, और यदि बाहर से मगाया हुआ माल बीच समुद्र में डूब जाता है तो बीमा कम्पनियां हानि को पूरा करने के लिये है।

फिर भावी विनिमय और सट्टेबाजी की क्रियाओ से एक साहसी "द्वैधरक्षण" (Hedging) के द्वारा कच्चे माल के मूल्य में अचानक उतार-चढाव को हटा कर अपनी हानियों को पूरा कर सकता है।

इसके अतिरिक्त हानि उठाने वाला केवल वही नही है; एक बड़ी व्यवसाय-संस्था में लगी हुई विशाल श्रम-शक्ति व्यवसाय के भाग्य में भाग लेती तथा जोखिम उठाती है।

इस प्रकार यह कहा जाता है कि साहसी ने आर्थिक जोखिम को हिस्सेदारों पर तथा अनेक दूसरे जोखिमो को बीमा कम्पनियो तथा सट्टेबाजों पर टाल दिया है। व्यवस्था का कार्य वेतन पाने वाले नौकर करते है। फिर साहसी के लिये क्या रह जाता है ?

निःसन्देह साहसी बहुत से कार्यो तथा चिन्ताओं से छुटकारा पा गया है, परन्तु कार्यो का सौपना इतना पूर्ण नही है जितना कि दिखाई देता है। उसको कुछ पूजी की पूर्ति करनी पड़ती है। एक मिश्रित-पूजी कम्पनी (Joint-stock Com-

1. For further discussion, See Robertson—Control of Industry.

pany) के संचालक जो साहसी का कार्य करते है सब से बड़े हिस्सेदार होते हैं और इस भांति सब से अधिक जोखिम उठाते है। अतएव, हमारे माननीय सिद्धान्त अर्थात्, 'नियन्त्रण के साथ जोखिम है', में कोई उल्लंघन नहीं होता।

फिर जोखिम जोकि बीमा कम्पनियां उठाती है, व्यवसाय के जोखिम नही है, तथा साहसी पर बाहरी जोखिमो का भार रखना अनुचित था। व्यवसाय के वास्तविक जोखिम अब भी उस पर रहते है। इसी भांति सट्टा उसको तमाम जोखिमों से मुक्त नहीं करता।

श्रमिकों को जब व्यवसाय असफल हो जाता है, निस्सन्देह हानि उठानी पडती है। परन्तु उनकी दशा की तुलना एक जहाज के यात्रियों से की गई है जो कि जहाज के डूबने के समय अपने को वहां से हटा सकते है। परन्तु साहसी एक नायक के समान है जो कि सब से अन्त मे यदि छोडने का अवसर मिला तो छोड़ेगा।

तो निष्कर्ष यह निकलता है कि कुछ सीमा तक काम दूसरो पर सौपा जा सकता है परन्तु पूर्णतः नही। **व्यवसाय के स्वामित्व तथा नियन्त्रण एक-दूसरे से अलग हो गये हैं** क्योंकि हिस्सेदार स्वामी होते है और नियंत्रण अध्यक्ष पर निर्भर होता है। पुराने समय वाले पूजीपति-संचालक उस व्यवस्था से हट गये हैं जोकि आजकल प्रगतिशील है। भूतकाल मे उद्योगपति पूजी की पूर्ति करता था, वह श्रम की भरती करता था। परन्तु आजकल श्रम की वास्तविक नियुक्ति तथा नियत्रण वेतन पाने वाले मैनेजर करते है। पूजीपति जो वास्तविक सचालक है, अब हिस्सेदार-सा रहता है। फिर भी भारतवर्ष में स्वामित्व तथा नियंत्रण का अलग होना किसी बड़ी सीमा तक नही ले जाया गया है। यहां हमारे पास मिश्रित पूजी व्यवस्था की एक असाधारण शाखा है, अर्थात् प्रबन्ध-सम्बन्धी साधन-पद्धति। प्रबन्धक प्रतिनिधि उद्योगपति ही है। वे कार्य प्रारम्भ करते है, योजना बनाते है, रचना तथा संचालन करते है। वे अधिकतर पूजी की पूर्ति भी करते है। यदि वे पूजी की पूर्ति करते है तो वे अपने हाथों में नियंत्रण भी रखते है। अध्यक्ष या डाइरेक्टर केवल मूढ़मति होते है। टैरिफ बोर्ड के सामने श्री जे ए. वाडिया न १९२७ में अपने प्रमाण मे कहा था कि यदि अध्यक्ष गण काम में सक्रिय भाग ले, तो वे हटा दिये जायें। श्री वाडिया १३ सूती मिलों के स्वय संचालक थे। इस प्रकार भारतीय कम्पनियों का स्वामित्व तथा नियंत्रण साथ-साथ चलते है।

निर्देश पुस्तके

Robinson, E. A. G.—The Structure of Competitive Industry, p. 120.

Robertson—Control of Industry.

Taussig—Principles of Economics, Vol. I. p. 102.

Thomas, S. E.—Elements of Economics, pp. 108-123.

Benham—Economics.

Indian Journal of Economics, Conference Number 1946 (for location of Industry).

Cairncross—Introduction to Economics, Chapters 6 and 7.

Clark, J. M.—The Economics of Over-head Costs chap. 4, 6.

Cassel, J. M.—On the Law of Variable Proportions, Explorations in Economics 1936, pp. 223-236.

Fraser, L.M.—Economic Thought and Language (1947)chap. 15.

Knight—Concept of Entrepreneur.

Schumpeter, J.—Theory of Economic Development N. D. H. Robertson. P. Sraffa E. A. G. Robinson and G. F. Shove.

Symposium on Increasing Returns and the Representative firm in Economic Journal 1932. chapters 13, 14, 15, Pages 161 to 196.

अध्याय १३

विभिन्न साधनों का परस्पर सहयोग

(FACTORS IN CO-OPERATION)

१. भूमिका (Introduction)—इस अध्याय में हम यह अध्ययन करेंगे कि उत्पादन के विभिन्न साधनों का संगठन किस प्रकार होता है और उनके संगठन से कौन-कौन-सी समस्यायें पैदा होती है। हम यह भी देखेंगे कि उन साधनों का वितरण विभिन्न उद्योगों में किस प्रकार हुआ है और किन-किन परिस्थितियों में उत्पत्ति ह्रास नियम, उत्पत्ति वृद्धि नियम व स्थिर उत्पत्ति नियम लागू होता है।

२. साधनों का संयोग (Combination of Factors)—उत्पादन क्षेत्र में प्रतिस्थापन के सिद्धान्त के प्रयोग से साधनों का सही सयोग या मिश्रण प्राप्त होता है।

उत्पत्ति के सब साधनों का उपयोग उद्योगपति के द्वारा होता है। वह सर्वाधिक मितव्ययता से सब साधनों का संयोग करने का प्रयत्न करता है। उसका एकमात्र ध्येय लाभ होता है। जिस प्रकार उपभोक्ता अधिकाधिक संतुष्टि चाहता है, उसी प्रकार उपक्रमी अपने लाभ को अधिकाधिक बढ़ाना चाहता है और जिस प्रकार उपभोक्ता अपने खरीदे हुए माल से अधिकाधिक उपयोगिता प्राप्त करने के लिये उसे इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि सब वस्तुओं की सीमांत उपयोगिता समान हो जाय, उसी प्रकार उपक्रमी भी अपने उत्पादन में अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिये विभिन्न उत्पादक साधनों की सीमांत उत्पादन शक्ति को समान करता है। उदाहरणार्थ, यदि एक साधन मशीन की सीमांत उत्पादन शक्ति दूसरे साधन श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति से अधिक है, तो वह दूसरे साधन के बजाय पहले साधन की प्रतिस्थापना करेगा। परिणाम यह होगा कि ह्रासी उत्पत्ति नियम के लागू होने के कारण मशीन की सीमांत उत्पादक शक्ति क्षीण होने लगेगी और श्रम की शक्ति मे वृद्धि प्रारम्भ हो जायेगी। यह उस समय तक होगा जब तक कि दोनों की शक्ति समान न हो जाय। इस प्रकार का संयोग उत्पत्ति के साधनों का सर्वाधिक मितव्ययी संयोग प्रगट करता है।

सबसे अधिक सस्ता व अच्छा संयोग प्राप्त करने के लिय उत्पादक भाति-भांति के संयोगों की परीक्षा करता है। ऐसा करने में एकमात्र विचारणीय बात विभिन्न साधनों की पारस्परिक कीमतें व कार्यक्षमता होगी।

इस के लिये बेन्हम (Benham)[१] ने निम्नलिखित प्रणाली बतलाई है

यदि $\frac{\text{अ साधन का सीमांत उत्पादन}}{\text{अ का मूल्य}}$

[१] Benham : Economics, 1940. p. 193.

$\frac{\text{ब साधन का सीमांत उत्पादन}}{\text{ब का मूल्य}}$ से अधिक है। तो उपक्रमी को उत्पादन की इस प्रकार की प्रणाली का प्रयोग करने में अधिक लाभ होगा जिसमे अ का अधिक और ब का कम प्रयोग हो।

इस विषय में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि अधिकतर साधन एक दूसरे से इतने भिन्न होते है कि किसी एक साधन को दूसरे से पूर्णतया प्रतिस्थापित करना एकदम संभव नही होता। साधारणतया होता यह है कि किसी साधन का उपयोग अधिक किया जाता है, किसी का कम। दूसरे शब्दों में, प्रतिस्थापन नियम केवल अंशों में ही लागू होता है।

पर प्रतिस्थापन नियम से हम इस निर्णय पर नही पहुंचते कि उपक्रमी केवल उसी माल का उत्पादन करेगा जिसकी कुल लागत न्यूनतम हो। यदि किसी जूते के कारखाने में १० जोड़े जूते प्रतिवर्ष तैयार होते है तो बहुत सम्भव है कि उनकी कुल लागत न्यूनतम हो पर केवल १० जोड़े जूते बनाने से उत्पादक को लाभ नही होगा। उपक्रमी को अधिक चिन्ता इस बात की नही होती कि लागत कितनी हुई, उसे तो एकमात्र चिन्ता अपने लाभ को अधिकतम कर लेने की होती है। यदि उसके लाभ में वृद्धि होती रहे तो उसे अधिक से अधिक व्यय करने मे कोई संकोच न होगा। इसी प्रकार हम इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि उसकी उत्पादन मात्रा इतनी होगी कि जिससे प्रति इकाई औसत लागत न्यूनतम हो। उपक्रमी को औसत व्यय की अधिक चिन्ता नही होती। वह इसमें किसी प्रकार की वृद्धि से नही घबराता यदि उसका सीमांत आगम (Marginal Revenue) सीमांत व्यय (Marginal Cost) से अधिक रहे। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि उपक्रमी उस समय तक अपने उत्पादन मे वृद्धि करता रहेगा जब तक कि सीमांत आगम व सीमांत व्यय समान न हो जायें। प्रतिस्थापन नियम से तो केवल हमें इस बात का पता चलता है कि उत्पादक जिस वस्तु की उत्पत्ति करना चाहता है, वह उसे अधिक से अधिक मितव्ययता से उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा।

३. साधनों की व्यवस्थापना—(Allocation of the Factors)– उत्पत्ति के साधनो की पूर्ति बहुत सीमित होने के कारण यह आवश्यक है कि उनकी व्यवस्थापना विभिन्न उद्योगों में इस प्रकार की जाय कि सम्प्रदाय को उनसे अधिकाधिक लाभ हो। इसका निर्णय उपभोक्ता अपनी पसन्द व उपयोग से करते हैं। वही इस बात का निर्णय करते हैं कि वे अपनी दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किस प्रकार की वस्तुओं के उपयोग से वंचित रहने को प्रस्तुत है।

यदि साधन प्रकृति के उपहार के रूप में है तो व्यवस्थापना का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी दशा में यह दूसरे साधनों के साथ मिला लिया जायगा अथवा विभिन्न

उद्योगो मे इस प्रकार बट जायेगा कि इसकी सीमात उत्पादकता शून्य हो जाये। क्योकि इस पर व्यय कुछ नही होना इसलिये इसका उपयोग तब तक होगा जब तक कि इससे थोड़ी सी भी सहायता मिलती रहेगी।

पर वास्तविकता यह है कि बहुत कम साधन उपहार-स्वरूप होते हैं। चूकि प्रत्येक साधन का कुछ न कुछ मूल्य देना ही पडता है, इसलिए किसी का भी उपयोग उस सीमा तक नही होगा जहां पर उसकी सीमात उत्पादकता शून्य के बराबर हो जाय। प्रत्येक दुर्लभ साधन की विभिन्न उद्योगो मे इस प्रकार व्यवस्थापना होती है कि हर उद्योग में जिसमे कि उसका प्रयोग हुआ हो उसकी सीमान्त उत्पादकता बराबर रहे। यदि इस्पात उद्योग मे श्रम की सीमांत उत्पादन शक्ति शक्कर के उद्योग की अपेक्षा अधिक है, तो शक्कर के उद्योग से हट कर श्रम इस्पात के उद्योग मे चला जायेगा। परिणाम यह होगा कि दोनो उद्योगो मे श्रम का सीमांत उत्पादन समान हो जायेगा। इसी प्रकार यदि कपास की अपेक्षा गन्ने की खेती से अधिक लाभ होता है तो कपास की कुछ भूमि गन्ने की खेती के उपयोग मे आने लगेगी। और यह उस समय तक चलेगा जब तक कि दोनो में भूमि की सीमांत उत्पादकता समान न हो जायेगी। यह बात उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के साथ लागू होती है। जब एक प्रकार के उद्योग से हटा कर दूसरे उद्योग मे किसी साधन के उपयोग से कोई विशेष लाभ नही रहेगा तभी साधनो की व्यवस्थापना आदर्श होगी। ऐसा तभी होगा जब कि प्रत्येक दशा में सीमात उत्पत्ति समान हो। जब किसी साधन के सीमात उत्पादन का मूल्य हर उद्योग में समान होता है तभी उसकी व्यवस्थापना पूर्णतया ठीक होती है। दूसरे शब्दों में किसी साधन की समता की स्थिति तब आती है जब सम्प्रदाय के लिये प्रत्येक उद्योग में उसके सीमात उत्पादन का मूल्य समान होता है।[1]

४. उत्पत्ति नियम (Laws of Returns)– अर्थशास्त्र मे तीन उत्पत्ति नियम होते है। ह्रासी उत्पत्ति नियम, वर्धी उत्पत्ति नियम व स्थिर उत्पत्ति नियम। सीमात उत्पत्ति मे किसी उत्पत्ति साधन की मात्रा वृद्धि के साथ जो वृद्धि, ह्रास अथवा स्थिरता होती है, उस दृष्टिकोण से वृद्धि, ह्रास व स्थिर उत्पत्ति नियम शब्द का प्रयोग होता है। व्यय की दृष्टि से उद्योग मे ह्रास, वृद्धि अथवा स्थिरता का नियम लागू होता रहता है। इसका सम्बन्ध उत्पादन के सीमात व्यय के उस ह्रास, वृद्धि अथवा स्थिरता से होता है जो उद्योग के विस्तार के फलस्वरूप हुआ करता है।

५. ह्रासी उत्पत्ति नियम (Law of Diminishing Returns)–हम ह्रासी उत्पत्ति नियम का अध्ययन पिछले पृष्ठो में कर चुके है। पर एक बात स्मरणीय है कि ह्रासी उत्पत्ति नियम उत्पत्ति के साधनो का सबसे अधिक सुन्दर संयोग प्रकट करता है। इस संयोग से सर्वाधिक आगम होता है (पृष्ठ ८२ की सूची व अगले दो

[1] See Benham Economics.

पृ ठो का वर्णन देखिये)। उस सूची से यह प्रकट है कि हमे प्रति मनुष्य अधिक उत्पत्ति प्राप्त हो सकती है पर उससे भूमि का काफी व्यर्थ उपयोग होगा । यह ठीक है कि किसी एक मनुष्य को अधिकाधिक भूमि दे देने से प्रति मनुष्य उत्पादन बढ़ जायेगा। ऐसा तब तक किया जा सकता है जब तक कि अन्तिम एकड की सीमात उत्पादन शक्ति जो प्रति मनुष्य दी जाती है, शून्य रह जाय। पर इससे बहुत-सी भूमि निरर्थक उपयोग मे आती रहेगी और इसलिये कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इसे पसन्द नही करेगा क्योकि भूमि का मूल्य देना पडता है। इस प्रकार अधिकाधिक श्रम व पूजी लगा कर भी प्रति एकड उपज बढाई जा सकती है। पर इससे पूजी व मानव-शक्ति व्यर्थ जायगी और इसलिये इस प्रकार का मिलान सफल नही रहेगा।

अस्तु, प्रति मनुष्य या प्रति एकड वर्धित उत्पत्ति प्राप्त करने के किसी भी प्रयत्न से अतिव्यय होगा। और जब किसी एक साधन की वृद्धि से उत्पत्ति मे ह्रास प्रारम्भ हो जायेगा तब यह सब समान हो जायेगा। होना यह चाहिये कि प्रत्येक साधन का दूसरे साधनों के साथ संयोग इस प्रकार हो कि यदि केवल उसमे किसी प्रकार की वृद्धि हो तो उससे औसत उत्पादन मे कमी हो जाये। इस प्रकार का संयोग सर्वोत्तम व उचित होगा। और दूसरे अनुपात के सयोगो से उत्पत्ति सर्वाधिक से कम ही होगी।

६. वर्धी उत्पत्ति नियम (Law of Increasing Returns)—यदि उद्योग में किसी प्रकार के अतिरेक विनियोग (Investment) के फलस्वरूप अनुपात से अधिक उत्पत्ति होने लगे, तो उस उद्योग मे उत्पत्ति वर्धी उत्पत्ति नियम के अन्तर्गत होती है। व्यय की दृष्टि से वर्धी उत्पत्ति नियम के लागू होने पर उद्योग के विस्तार से सीमात उत्पादन व्यय मे कमी हो जाती है, और क्योकि सीमान लागत किसी वस्तु का मूल्य प्रगट करती है, अतएव जिस उद्योग मे वर्धी उत्पत्ति नियम लागू होना है उसमें उद्योग के विस्तार के साथ-साथ वस्तु का मूल्य गिरता जाता है।

हम देख चुके है कि यदि उत्पादन का रूप बढा दिया जाय तो बडे लाभ उठाये जा सकते हैं। श्रम व मशीन के विशिष्टीकरण व दूसरी व्यावसायिक सुविधाओ के कारण उत्पादन की लागत मे कमी हो जाती है और ऐसी दशा मे वर्धी उत्पत्ति नियम लागू होता है।

जब किसी आवश्यक साधन की कमी हो जाती है तो उद्योग ह्रासी उत्पत्ति नियम के प्रभाव में आ जाता है। पर यदि उद्योग के विस्तार के समय उत्पादन सम्बन्धी सब साधन आवश्यक मात्रा मे प्राप्त हो तो वर्धी उत्पत्ति नियम अवश्य लागू होगा। "यदि उत्पादन सम्बन्धी साधनों की कमी न हो तो, सब बाते समान रहने पर, किसी उद्योग के विकास के साथ-साथ वर्धी उत्पत्ति नियम प्रारम्भ हो जाता है।"[१]

वर्धी उत्पत्ति नियम का प्रारम्भ दूसरे प्रकार से भी होता है। जब कुछ स्थिर

[१] Chapman, op. Cit. p, 102.

साधनों के साथ किसी परिवर्तनशील साधन का प्रयोग किया जाता है अर्थात् जब केवल एक साधन अथवा साधनों के किसी एक समूह में वृद्धि की जाती है तो सब साधनों के योग का अनुपात बिगड़ जाता है। इस तुल्यता को जब व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया जाता है तब वर्धी उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। इस बढ़ती हुई उत्पत्ति से अन्त में तुल्यता पूर्णतया सुव्यवस्थित हो जाती है।

अविभाज्यता के सिद्धान्त का भी वर्धी उत्पत्ति नियम से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। मान लीजिये किसी विद्यालय में २०० छात्रों के लिये एक छात्रावास का निर्माण हुआ और इसमें आवश्यकता के समय २५० छात्र भी निवास कर सकते है। यदि वास्तव में रहने वाले छात्रों की संख्या २०० से कम हो तो २५० तक होने वाली प्रत्येक वृद्धि से वर्धी उत्पत्ति होगी। क्योकि ऐसी दशा में छात्रावास जो अविभाज्य है, अधिक पूर्णता से उपयोग में आ सकेगा।

इसी प्रकार मान लीजिये एक साहसी व्यवसायी ने अधिकाधिक मांग की उत्पत्ति की दृष्टि से एक मशीन लगाई। परन्तु वास्तव मे वह मशीन अपनी शक्ति से कम मात्रा में उत्पादन करती है। ऐसी दशा मे यदि किसी दूसरे साधन मे अथवा साधनों मे वृद्धि कर दी जाये, तो इस अविभाज्य मशीन का अधिक समुचित उपयोग होगा और फलस्वरूप वर्धी उत्पत्ति नियम लागू हो जायेगा। मान लीजिये किसी कारखाने में क्लर्को व चपरासियो की संख्या न्यूनतम है। अब यदि उत्पादन मे पांचगुनी वृद्धि हो जाय तो केवल दुगने क्लर्को व चपरासियों से भी काम चल जायेगा। दूसरे शब्दों में कर्मचारियो की संख्या केवल दुगनी कर देने से पाचगुना उत्पादन होने लगेगा। इसके अर्थ यह है कि उत्पत्ति अनुपात से अधिक है, ऐसी दशा मे किसी एक साधन की वृद्धि से उसकी सीमांत उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है।

यह देखा जा चुका है कि यह विचार कि कुछ उद्योगो में तो वर्धी उत्पत्ति नियम लागू होता है और कुछ मे ह्रासी उत्पत्ति नियम, अनुचित है। उदाहरणार्थ, यह कहना ठीक न होगा कि उद्योग धधे तो वर्धी उत्पत्ति नियम से प्रभावित होते है और कृषि ह्रास उत्पत्ति नियम से। वास्तव मे कृषि व उद्योग दोनों मे दोनों ही नियम लागू होते है। हाँ, यह अवश्य है कि ह्रासी उत्पत्ति नियम कृषि मे अधिक प्रमुख होता है व शीघ्र प्रारम्भ होता है।

सबसे अधिक अनुकूल व्यापारिक इकाई की दृष्टि से भी इन दोनो नियमो की व्याख्या हो सकती है। जब हम सबसे अधिक अनुकूल उत्पादन की ओर बढते है, तो वर्धी उत्पत्ति नियम होता है और जब उससे दूर जाते है तो ह्रासी उत्पत्ति नियम का प्रभाव होता है।

७. "उत्पत्ति-सम्भावना" अथवा "परिवर्तन" वक्र ("Production-Possibility" or "Transformation" Curve)–थोडे से विचार से यह स्पष्ट

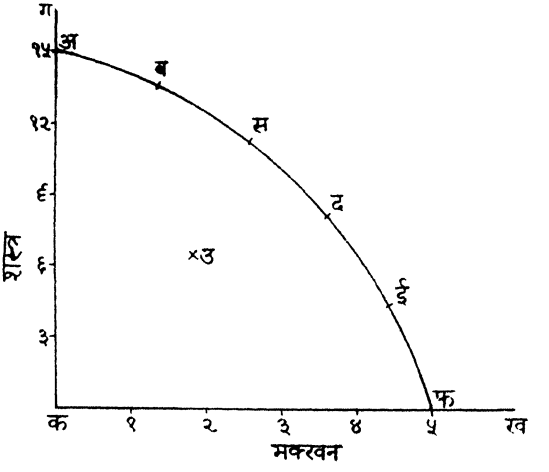
हो जायेगा कि ह्रासी उत्पत्ति नियम इसलिये लागू होने लगता है क्योंकि सम्प्रदाय के साधन सीमित है। समुदाय को यह निर्णय करना होता है कि उसको तमाम वस्तुओं की कितनी मात्रा उत्पन्न करनी है। किसी वस्तु की उत्पत्ति केवल दूसरे उत्पादक व्यवसाय में लगे हुए साधनों को बदल कर लगाने से बढ़ाई जा सकती है। "जितनी ही हम किसी वस्तु की अधिक मात्रा चाहते हैं हमको साधारणतया उतना ही अधिक उसकी लागत चुकानी पड़ती है; और यह लागत बढ़ती ही जाती है।" इसका अर्थ वर्धी लागत है।

इसको सरलतापूर्वक समझने के लिये मान लीजिये कि समुदाय को केवल दो वस्तु शस्त्र अथवा मक्खन के उत्पादन की सम्भावना है। हम या तो केवल शस्त्र ही उत्पन्न कर सकते हैं और मक्खन नहीं (दशा अ नीचे), अथवा केवल मक्खन और शस्त्र नही (दशा फ नीचे)। इन दो सीमाओं के बीच कई दशाएं सम्भव हो सकती है जैसा कि नीचे सारिणी द्वारा बताया जा सकता है :–

वस्तु	अ	ब	स	द	इ	फ
मक्खन (लाख पौंड)	०	१०	२०	३०	४०	५०
शस्त्र (हजार)	१५	१४	१२	९	५	०

इस सारिणी को वक्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है :–

यह स्पष्ट है कि समुदाय साधनों को एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग मे लगाकर, यदि पूर्ण व्यवसाय की स्थिति है, मक्खन को शस्त्र से स्थानापन्न तथा प्रतिक्रम कर सकते हैं। तो भी यदि कुछ साधन बेकार है तो बिना दूसरी वस्तु की उत्पत्ति पर प्रभाव डाले किसी वस्तु की उत्पत्ति बढ़ाई जा सकती है। वक्र के अन्दर कोई भी बिन्दु यह प्रस्तुत करता है कि



चित्र नं० १७

कुछ साधन बेकार है। ३ एक ऐसा बिन्दु है। इस पर २० लाख पौंड मक्खन तथा ४ हजार शस्त्र का उत्पादन होता है। चूंकि यह अपूर्ण व्यवसाय की स्थिति है, अतः यह हो सकता है कि उत्पत्ति बिन्दु, द तथा ई तक बेकार साधनों के प्रयोग से पहुंच जाये।

८. स्थिर उत्पत्ति नियम (Law of Constant Returns)—जब किसी उद्योग में चाहे कैसा भी उत्पादन किसी भी माप में हो पर प्रति इकाई लागत में कोई परिवर्तन नही होता, तब उस समय स्थिर उत्पत्ति नियम लागू होता है। श्रम व पूजी के विनियोग में वृद्धि के बाद भी यदि उत्पादन की वृद्धि समानुपात के अनुसार हो तब उस उद्योग मे स्थिर उत्पत्ति नियम लागू होता है।

मार्शल का विश्वास है कि उद्योग को प्रकृति सदैव ह्रासी उत्पत्ति की ओर ले जाती है व मनुष्य वर्धी उत्पत्ति की ओर। यही कारण है कि कृषि में जहा प्रकृति का भाग प्रमुख होता है घटती उत्पत्ति होती है पर उद्योग-धन्धो में जहा बाह्य शक्तियों से विचलित हुए बिना मनुष्य अपनी बुद्धि को शक्ति द्वारा कार्य करता है, वर्धी उत्पति नियम लागू होता है। यह भी सभव है कि कोई उद्योग ऐसा हो जहां न तो वर्धी नियम और न उत्पत्ति का ह्रास नियम ही लागू हो बल्कि स्थिर उत्पत्ति नियम हो।

किसी ऐसे उद्योग का उदाहरण लीजिये जिसमे कच्चे मालो की (जो प्रकृति के भाग को प्रगट करते है) लागत का अनुपात उतना ही है जितना कि माल तैयार करने की लागत का अनुपात है। प्रत्येक उद्योग में दो विभिन्न प्रवृत्तियाँ काम करती है। जब उद्योग का विस्तार होता है तो कुछ व्यय बढ जाते है, कुछ कम हो जाते है। यह हो सकता है कि कोई ऐसा उद्योग हो जिसमे यह दोनों प्रवृत्तिया समान हो जायें व स्थिर उत्पत्ति हो। इस सम्बन्ध मे कभी-कभी प्राकृतिक शुद्ध ऊन से कम्बल बनाने के उद्योग का उदाहरण दिया जाता है। यह कहा जाता है कि इस उद्योग में कच्चा माल (ऊन) ह्रासी उत्पत्ति नियम से प्रभावित होता है। पर इसकी कमी माल तैयार करने की सुविधाओ से पूरी हो जाती है, और परिणामस्वरूप स्थिर उत्पत्ति नियम लागू होता है।

अनुकूलता का सिद्धान्त स्थिर उत्पत्ति नियम की कार्यप्रणाली को समझाने में हमारी सहायता कर सकता है। हम देख चुके है कि अनुकूलतम उत्पादन की प्रवृत्ति में वर्धी उत्पत्ति नियम होता है व उससे विपरीत प्रवृति मे ह्रासी उत्पत्ति नियम, पर यदि हम अनुकूलतम उत्पादन को पा ले तो चाहे कितना ही लघुकाल क्यों न हो, स्थिर उत्पत्ति नियम लागू होगा।

इस नियम को समझने का एक दूसरा और ढंग भी है। जब किसी आवश्यक साधन की कमी होती है तो ह्रासी उत्पत्ति नियम का प्रभाव होता है। इसके विपरीत जब सब साधनों की पूर्ति लोचपूर्ण होती है और मांग बढ़ने से दूसरी सुविधाएं मिल सकती हैं तो वर्धी उत्पत्ति नियम लागू होता है। पर यदि आवश्यक वस्तुएँ उचित मात्रा में प्राप्त हों और अनकूलतम अर्थ-व्यवस्था हो तो साधनों के प्रयोग में किसी प्रकार की वृद्धि से

समानुपातिक उत्पति होगी। यदि दुर्लभ साधनो के कारण बढ़ती हुई लागत महानुमाप उत्पादन की बचतो के बराबर हों तो भी स्थिर उत्पत्ति नियम लागू होगा।

अभिनवीकरण (Rationalisation)—अभी तक हमने व्यक्तिगत कारखानों की दृष्टि से साधनों के संगठन का अध्ययन किया, अब हम उद्योग को सम्पूर्ण मानकर उसका अध्ययन करेंगे। अभिनवीकरण उद्योग के सर्वोत्तम सगठन को कहते है। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद बहुत-सी भूमि छिन जाने व विस्तार (हानिपूर्ति) की कठिन माग से आहत होने के कारण जर्मनी के सम्मुख अपने उद्योग में पुनः निर्माण की समस्या थी। उसकी पुनः निर्माण की प्रणाली को अभिनवीकरण कहते है। जर्मनी के बाद अभिनवीकरण की लहर दूसरे देशो मे भी पहुची, पर जर्मनी के लिये तो इस प्रणाली का अपनाना अत्यन्त आवश्यक था। अस्तु, वहां अभिनवीकरण एक सिद्धान्त बन गया।

अभिनवीकरण का मुख्य ध्येय प्रत्येक प्रकार के क्षय तथा अकुशलता को दूर करके उद्योग का संगठन इस प्रकार करना होता है कि उसकी निपुणता सर्वोच्च हो जाये। ऐसी प्रणाली मे उद्योग के उत्पादन की मांग व पूर्ति को जानबूझ कर सुव्यवस्थित किया जाता है।

प्रतियोगी पूजीवाद में स्वाभाविक, आर्थिक शक्तियो के स्वतंत्र प्रभाव से समता की स्थापना होती है। परन्तु इस प्रकार सामंजस्य स्थापित करने में त्याग की मात्रा अधिक होती है। उदाहरणार्थ, यदि उत्पादन अत्यधिक है तो मूल्य गिर जायेगा। फलस्वरूप कुछ कारखानों को हानि होने लगेगी और अन्त में वह समाप्त हो जायेगे। इस प्रकार उत्पत्ति मांग के अनुकूल व्यवस्थित हो जायेगी। अभिनवीकरण के समर्थको का कहना है कि यदि हम बजाय इसके कि अपकर्ष उत्पत्ति की प्रतीक्षा करें, उसका पूर्ण ज्ञान रक्खे तो इस प्रकार के कष्ट को दूर कर सकते है। वे कहते है कि उद्योग का सगठन और प्रबन्ध ऐसे वैज्ञानिक ढंगो पर किया जा सकता है जिससे इस प्रकार के सकटो का कोई असर न रहे या यदि वह आयें भी तो उनका प्रभाव इतना खराब न हो। इन सब संकटों का निवारण अभिनवीकरण है।

बालफर (Balfour) के शब्दो मे अभिनवीकरण वास्तव मे वस्तुओ के क्षय को रोकने के प्रबंध के लिये किया जाता है। इससे श्रम का वैज्ञानिक संगठन, पदार्थो का प्रमाणीकरण (Standardisation) प्रणालियों की सरलता व यातायात के साधनों मे सुधार सम्भव हो जाता है।

अभिनवीकरण के मुख्य तत्व यह है —आधुनिकीकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध व मिश्रण (Amalgamation)। उद्योग की हर उत्पादक इकाई मे सबसे अधिक आधुनिक कार्यप्रणाली व सर्वोत्तम मशीनें आदि हो। अभिनवीकरण के अन्तर्गत पुरानी व टूटी-फूटी मशीनो का कोई स्थान नही है। इसके लिये बहुत अधिक आर्थिक विनियोग की आवश्यकता है और यह प्रमाणित हो चुका है कि पुरानी कलों की अपेक्षा नई व आधनिक कलों द्वारा उत्पादन दीर्वकाल में अधिक लाभप्रद होता है।

पर केवल आधुनिकता ही पर्याप्त नहीं होती। आधुनिकता के साथ प्रबन्ध भी वैज्ञानिक होना आवश्यक है। अमेरिका में टेलर (Taylor) द्वारा वैज्ञानिक कलों के विचार का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें समय का अध्ययन, गति (Motion) का अध्ययन व थकावट (Fatigue) का अध्ययन सम्मिलित है। यह आवश्यक होता है कि कारखानों के कर्मचारियों को न्यूनतम समय में काम करने की सर्वोत्तम ढंग की शिक्षा दी जाये। इन तरीकों का ज्ञान काम के समय व गति के तीक्ष्ण अध्ययन से ही प्राप्त होता है। इन सब के पीछे भाव यह है कि मानवीय शक्ति के क्षय को रोका जाये और श्रमिक काम इस प्रकार करे कि कम से कम समय लगे और उसकी शक्ति का न्यूनतम ह्रास हो।

किसी उत्पादन इकाई की उत्तम निपुणता सम्पूर्ण उद्योग की समस्याओं का निवारण नही कर देती। यही नही, इससे हर इकाई के सर्वाधिक उत्पादन के द्वारा अत्यधिक उत्पादन की समस्या भी पैदा हो सकती है। अस्तु, अभिनवीकरण का मूल सिद्धान्त केवल इकाइयों की ही प्रवीणता बढ़ाना नही है, बल्कि सम्पूर्ण उद्योग को स्वस्थ व प्रवीण बनाना होता है। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि उद्योग मे व्यस्त सबकी कार्यप्रणाली सामूहिक हो। उद्योगो की बहुत सी त्रुटियां केवल इसलिये पैदा होती है कि उनकी भिन्न-भिन्न इकाइयों में एकीकरण का अभाव होता है। यह इकाइया एक दूसरे से अलग व स्वतंत्र होती है। जिस प्रकार जमा करने वाले अपने कुछ कार्यो से अपने आप को व अपनी बैंक को बरबाद कर देते है, इसी प्रकार उद्योग की इकाइयां भी अपने निजी लाभ में रत रहती है, और फलस्वरूप उद्योग को भीषण हानि होती है। इसलिये उत्पादन इकाइयों का घनिष्ट एकीकरण अति आवश्यक है। यातायात के उद्योग की कठिन समस्याओं का निराकरण बिना केन्द्रीय नियन्त्रण के सफलता से नही हो सकता। अस्तु, इकाइयो के परस्पर मिश्रण का सहारा लिया जाता है। उद्योग को सम्पूर्ण रूप देने के लिये अप्रवीण इकाइयों को समाप्त कर, नवीन इकाइयों का संगठन कर लिया जाता है। अभिनवीकरण के अन्तर्गत उत्पादन केवल उन इकाइयों तक ही सीमित रहता है जिनमे उत्पादन व्यय निम्नतम होता है। बाड़भर में उत्पत्ति के समय प्रदाय का अंश स्थिर करते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये कि समीपस्थ इकाइयों द्वारा ही बाजारों की पूर्ति हो।

अभिनवीकरण से कई लाभ है: (१) **माप की व्यवस्था** (सुविधा)—अभिनवीकरण से उद्योग में उत्पादन बडे पैमाने में होता है। इसलिये बडी मात्रा की उत्पत्ति की सभी सुविधायें प्राप्त होती है। हर प्रकार की सुविधा होती है। क्रय विक्रय की सुविधा, स्थान व औजारों की सुविधा, विशिष्ट श्रम व विशिष्ट कल की सुविधा, खोज व प्रयोग आदि पर अधिक रुपया व्यय किया जा सकता है।

(२) **जीवन निर्वाह स्तर में उन्नति**—प्रभावीकृत व महानुमापित उत्पादन से

मूल्य गिर जाता है व वस्तुएँ निर्धनों तक पहुंचने लगती हैं। फलस्वरूप जीवन स्तर ऊपर उठ जाता है।

(३) **प्रतियोगी शक्ति में वृद्धि**—इस प्रकार के उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का भय नही रहता। यह मूल्य गिराकर विश्व-व्यापार में प्रतियोगिता कर सकते हैं।

(४) **स्थिरता**—अधिक आर्थिक साधन व घने व्यापार के कारण वह उद्योग जिसमें अभिनवीकरण हुआ है, बुरे समय का सामना अधिक तत्परता से कर सकते हैं। **अपकर्ष** (Depression) का पूर्व ज्ञान हो जाता है और उससे बचने के उपाय करके बहुत से कष्टो को रोका जा सकता है।

अभिनवीकरण से बहुत सी कठिनाइया व समस्याये भी पैदा होती हैं। वे यह हैं:—(१) आर्थिक कठिनाइयां—अभिनवीकरण के लिये अत्यधिक व्यय की आवश्यकता है। उद्योग का ढाचा बहुत खर्चीला हो जाता है। फलस्वरूप वह कभी-कभी विदेशी कम्पनियो की प्रतियोगिता मे नही ठहर सकता। फिर अधिक पूजीवाद के हो जाने का भी भय रहता है। यह भी हो सकता है कि आवश्यकता के समय अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त न हो सके। (२) श्रम की प्रतिस्थापना—अभिनवीकरण में मशीनों का प्रयोग अत्यधिक बढ़ जाता है। इससे श्रम बेकार सा हो जाता है। इसलिये यदि इसके कारण मनुष्यों को कष्ट हो तो अभिनवीकरण का समर्थन नहीं किया जा सकता। पर दीर्घ काल में श्रम के लिए कार्यक्षत्र बढ़ जाता है। (३) एकाधिकार की बुराइया—शक्तिशाली एकाधिकार संघ उपभोक्ताओं का शोषण करते है। यद्यपि वह मूल्य कम कर सकते है फिर भी वे अत्यधिक मूल्य लेते है। (४) बड़े-बड़े व्यवसायी व उपक्रमी नये उपक्रमियों को उठने का अवसर नही देते। नये प्रतियोगियों का दमन कर दिया जाता है। इससे राष्ट्र का अहित होता है। अभिनवीकरण पर इन बुराइयों के होते हुए भी पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। प्रतियोगी पजीवाद प्रायः समाप्त सा है। बड़े शोक की बात है कि हमारे उद्योगपति अब भी उन्नीसवी शताब्दी में रह रहे है। हमारे पटसन के उद्योग, शक्कर के उद्योग व सूती कपड़े के उद्योग सहयोगिता की कमी के कारण बड़ी हानि उठा रहे है। वे साथ तैरने से अकेले डूबना अधिक पसन्द करते है। भारत में केवल सीमेंट उद्योग ही एक ऐसा उद्योग है जिसने मूल्य संघ बनाकर बुद्धिमानी का प्रदर्शन किया है। युद्धोत्तर संघर्ष का सामना करने के लिये यह आवश्यक है कि हमारे उद्योग भी अभिनवीकरण को अपनावें।

निर्देश पुस्तकें

Benham—Economics.
Meakin—New Industrial Revolution.
Urwick—The Meaning of Rationalisation.
Brady—Rationalisation Movement in Germany.

अध्याय १४

उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता

(MOBILITY OF THE FACTORS OF PRODUCTION)

१. भूमिका (In'roduction)—उत्पादक उन वस्तुओ तथा सेवाओं को उत्पादित करने का प्रयत्न करते है जिन्हे उपभोक्ता सबसे अधिक चाहते है। उपभोक्ताओं के अधिमान माप (Scale of Preferences) मे किसी भी परिवर्त्तन से उत्पादन क्रिया के प्रवाह मे अनुरूप परिवर्तन अवश्य होगा। इस सम्बन्ध मे उत्पत्ति के साधनो की गतिशीलता अत्यन्त सहायक होती है।

२. गतिशीलता क्या है ?—गतिशीलता से हमारा अभिप्राय केवल भौतिक अथवा भौगोलिक गतिशीलता अर्थात् उत्पत्ति के साधन का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना ही नही होता है। परन्तु गतिशीलता का अभिप्राय एक ही स्थान पर अथवा अन्य स्थान पर एक साधन का वैकल्पिक प्रयोग से भी होता है। इस अर्थ मे गतिशीलता के अर्थ **कार्यगत गतिशीलता, स्थानीय गतिशीलता, तथा औद्योगिक गतिशीलता है।**

एक खेत पर गन्ने के स्थान पर कपास की खेती की जा सकती है; यह उद्योग का परिवर्त्तन है परन्तु स्थान का कोई परिवर्त्तन नही है। अहमदाबाद की एक कपडे की मिल का प्रबन्धक बम्बई की एक मिल का प्रबन्धक हो जाता है। यह स्थान का परिवर्तन है, व्यवसाय का नही। बम्बई के अर्थशास्त्र के एक प्राध्यापक दिल्ली के एक बैंक के आर्थिक सलाहकार (Economic Adviser) हो जाते है, इसमें स्थान तथा व्यवसाय का भी परिवर्तन हो जाता है। एक क्लर्क एक शक्कर के कारखाने से नौकरी छोड़ कर एक कपड़े की मिल मे क्लर्क हो जाता है तो वह उद्योग का परिवर्तन होता है। इस कारण एक प्रकार की गतिशीलता मे अवश्य ही दूसरे प्रकार की गतिशीलता नही होती।

हम उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के सम्बन्ध में गतिशीलता की सीमा का अध्ययन करेगे।

३. भूमि की गतिशीलता (Mobility of Land)—अर्थशास्त्र मे भूमि का अभिप्राय पर्वतों, समुद्रो, नदियो, जलवायु, मिट्टी, वायु, धूप इत्यादि प्राकृतिक साधनो से है। बध बाध कर नदियो के प्रवाह को बदलना तथा पानी को नहरो की ओर ले जाना सम्भव है। परन्तु हमें पर्वतों को उनके स्थान से हटाने में, अयनवृत्त सबंधी (Tropical Zone) जलवायु को समशीतोष्ण (Temperate) जलवायु मे परिवर्तित करने मे अपनी भूमि को ऐसे भाग में ले जाने में जहा वर्षा अधिक हो अथवा अपने विद्यालय तथा

विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये बेन्हम कोहलम अर्थशास्त्र।

छात्रावास की इमारत को अच्छे स्थान पर हटाने में अपनी असामर्थ्य अवश्य स्वीकार करनी होगी। गतिशीलता के संबध मे 'भूमि' हमारे प्रयत्नों को रोकती है क्योकि भूमि की भौगोलिक गतिशीलता असंभव है।

परन्तु गतिशीलता का केवल यही वर्ग नही है जिसको हम जानते है। जिस भाव में हमने गतिशीलता की परिभाषा की है उसमें उसका अभिप्राय एक साधन का वैकल्पिक प्रयोगों में लाये जा सकने की सभावना से है। क्या भूमि पूर्णतया विशिष्ट है? यद्यपि कुछ भूमि व्यर्थ प्रतीत हो सकती है और उस पर बकरियो तथा भेड़ों के लिये थोड़ी सी घास के सिवाय कुछ और न उत्पन्न हो सकता हो, तो भी बहुत सी भूमि ऐसी नही होती और उस भूमि पर भी मानवीय प्रयत्नो से अनेको अन्य वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती है। बाह्य रूप से किसी मनुष्य को हिमालय पर्वत की शाखाएं केवल वनों के लिये उपयुक्त प्रतीत हो सकती है, तो भी ऐसा नही है। कही-कही भूमि के छोटे समतल तथा क्रमहीन टुकड़े यह स्पष्ट करते है कि मनुष्य एक घने जंगल तथा पहाड़ी भूमि को भी एक कृषियोग्य भूमि में परिणत कर सकता है। इसी प्रकार पानी तथा मैले के निकास से दलदली भूमि पर भी अच्छी फसलें उत्पन्न की जा सकती है।

४. भूमि को कैसे गतिशील बनाया जा सकता है? (How land may be made mobile?)—यद्यपि भूमि कुछ मात्रा में विशिष्टता रखती है, तो भी किसी सीमा तक इस पर अनेक प्रकार की फसले उत्पन्न की जा सकती है। एक मनुष्य अपनी भूमि को एक नगर से हटा कर दूसरे मे नही पहुचा सकता, तो भी एक स्थान पर उसे बेचकर तथा दूसरे स्थान पर उसे खरीद कर वह उसे गतिशीलता प्रदान करता है। एक अन्य विधि भी है। एक मनुष्य जिसके पास भिन्न-भिन्न स्थानो पर भूमि है, वह श्रम तथा पूजी को एक स्थान पर हटा सकता है और वहा की भूमि को अच्छा कर सकता है तथा दूसरे स्थान की भूमि की उपेक्षा कर सकता है। इस प्रकार, एक भूमि अधिक उत्पादक हो जाती है तथा दूसरी उत्पादकता से वचित रहती है। उत्पादकता ही वास्तव में हम चाहते है। इस प्रकार भूमि गतिशील हो जाती है।

परन्तु भूमि उस समय अधिक गतिशील हो जाती है, जब कि उसकी उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है। व्यावहारिक रूप से यह भूमि की सेवा का एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिवर्तन करती है। हम एक साधन का मूल्य निरूपण स्वय उसके कारण नही परन्तु उस सेवा के कारण जो वह करता है, करते है। इस प्रकार भूमि इतनी अगतिशील नही है जितनी समझी जाती है। इसके अनेको वैकल्पिक प्रयोग हो सकते है। गेहू उत्पन्न करने वाली भूमि को चरागाह मे परिवर्तित किया जा सकता है और इसका उल्टा भी सत्य है। यदि कुछ और नही किया जा सके तो इसकी उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है। गतिशीलता की यह मात्रा सम्प्रदाय के लिए उन वस्तुओ के क्रम को **जिन्हें वह सब से अधिक पसन्द करता है उत्पन्न करने के लिये यथेष्ट है।**

भूमि की गतिशीलता को सीमित करने वाले कारण केवल जलवायु तथा मिट्टी का स्वरूप हैं। भूमि को वैकल्पिक प्रयोजनों के उपयुक्त बनाने के लिये अधिक पूजी विनियोग की भी आवश्यकता हो सकती है। परन्तु यह बाधाएँ ऐसी नही है कि भूमि को पूर्णतया अगतिशील बना दें।

यदि सरकार स्थान बदलने पर अत्यधिक लेख-पत्र-शुल्क (RegistrationFee) के द्वारा विक्रय के हस्तांतरकरण पर निरोध लगाये तो इसकी गतिशीलता कम होगी। १९०१ के पजाब के भूमि अधिकार अलग करने के कानून (Punjab Land Alteration Act) का कुछ रोकने वाला प्रभाव है क्योकि जो कृषि का कार्य नही करते और भूमि में पूंजी लगाना चाहते है, वे कृषकों से भूमि नही खरीद सकते। कृषि के कार्य में लाई जाने वाली भूमि को कृषि के अलावा अन्य प्रयोगों में नही लगाया जा सकता। पंजाब मे कृषि का कार्य न करने वाले लोग आमतौर से धनी है। उनके भूमि खरीदने पर निरोध लगाने का अभिप्राय भूमि तथा पूजी को अलग करना है। इस प्रकार उत्पत्ति के साधनो के सबसे अधिक प्रभावयुक्त मिश्रण में बाधा पड सकती है। लेकिन इस कानून को दूसरे कारणों से उचित ठहराया जा सकता है।

५. श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour)—मनुष्य सबसे कम गतिशील कहा जाता है। हम विचार करेगे कि श्रमिकों मे हर प्रकार की गतिशीलता किस सीमा तक पाई जाती है। यहां पर यह दोहराया जा सकता है कि गतिशीलता तीन प्रकार की होती है, अर्थात् औद्योगिक, स्थानीय तथा कार्यगत गतिशीलता।

औद्योगिक गतिशीलता–विभिन्न उद्योगो के बीच गतिशीलता मे कोई कठिनाई नही होती। एक उद्योग में लगा हुआ मुनीम, टाइप बाबू अथवा एक चौकीदार सरलता से ऐसा ही कार्य किसी अन्य उद्योग में प्राप्त कर सकता है। एक मशीन पर काम करने वाले का अथवा कल सम्बन्धी यन्त्रकार या एक विक्रेता का कार्य व्यावहारिक रूप से प्रत्येक उद्योग में एक समान होता है। सब उद्योगों में अनेकों कार्य एक समान होते है। अतएव औद्योगिक गतिशीलता बहुत आसान है यदि व्यवसाय में कोई परिवर्तन तो हो। इसलिये जब भी कोई उद्योग घटता-बढता है तो ऐसे मनुष्य आसानी से उद्योग बदल सकते है।

स्थानीय गतिशीलता—जहां तक श्रम की एक स्थान से दूसरे स्थान पर गतिशीलता का सम्बन्ध है, जिसे **भौगोलिक गतिशीलता** कहते है, उसमें अत्यन्त बाधायें पाई जाती हैं। परिवर्तन का बहुत भय होता है। कोई मनुष्य परिचित वातावरण से निकलकर दूसरे स्थान पर बसना नही पसन्द करता। कुछ ही लोग एक नये स्थान पर नवीन रूप से जीवन प्रारम्भ करने का साहस रखते हैं। विशेषत: यह उनके सम्बन्ध मे सत्य है जो वृद्ध है। युवावस्था के श्रमिक साहसी तथा निर्भीक होते है और वे आसानी मे बाहर जाने के लिये प्रोत्साहित किये जा सकते हैं।

भाषा, स्वभाव, रीतियों तथा जीवन-क्रम की भिन्नतायें श्रम के लिये देश के एक भाग से दूसरे भाग तथा एक देश से दूसरे देश में जाने में अन्य बाधा डालने वाले कारण है।

देशों के अन्तर्गत गतिशीलता में देशान्तरता के कानूनों (Immigration laws) से और भी बाधा पड़ती है। भारत में अत्यधिक जन-संख्या है जब कि आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, अफ्रीका, कैनेडा तथा अमेरिका में कार्य के लिये पर्याप्त स्थान है। परन्तु देशान्तर-वास के कानून भारतीयों को ऐसे स्थानों पर जाने से रोकते हैं क्योंकि वहां के रहने वालों के जीवन-स्तर के गिरने का भय है। निर्धनों की सहायता की प्रथा, निर्व्यवसाय सुविधायें तथा अन्य राज्य के द्वारा विपत्ति में पडे हुए श्रमिकों को दी हुई सहायताएं गति-शीलता की इच्छा को कम करती है तथा श्रम को और भी अगतिशील बनाती हैं।

भारत में अत्यधिक जनसंख्या वाले नगर, घने औद्योगिक स्थान, रहने की सुविधाओ का अभाव, गन्दा वातावरण, अधिक जीवन-निर्वाह-व्यय, सदा रहने वाला व्यापक रोगों का चक्र श्रमिकों को भयभीत करने के लिये यथेष्ट है। इसी कारण भारतीय श्रम पर रायल कमीशन (Royal Commission) ने लिखा था कि औद्योगिक व्यवसाय में श्रम आकर्षित नहीं होता वरन् ढकेला जाता है। सन्देश तथा आने जाने के साधनों की उन्नति ने भौगोलिक गतिशीलता को बहुत सुविधाजनक बना दिया है।

कार्यगत गतिशीलता— कार्यगत गतिशीलता सबसे अधिक कठिन है। यह दो प्रकार की होती है। (अ) समतल गतिशीलता (Horizontal Mobility) अर्थात् एक ही प्रकार के दो व्यवसायों में गतिशीलता है। उदाहरणार्थ, इतिहास का प्रोफेसर अर्थशास्त्र का प्रोफेसर हो जाता है या एक लोहार एक बढ़ई हो जाता है। इस प्रकार की गतिशीलता इतनी कठिन नही होती। एक मनुष्य जिसमें साधारण ज्ञान है तथा उचित परिश्रमी स्वभाव है, वह थोड़े समय पश्चात् नई अवस्था में स्वयं को ठीक कर सकता है। (ब) लम्बरूप या खड़ी गतिशीलता (Vertical Mobility) से अभिप्राय ऊंचे प्रकार के व्यवसाय में गतिशीलता से है। उदाहरणार्थ, एक क्लर्क एक अध्यापक हो जाता है अथवा एक मिस्त्री एक यन्त्रकार हो जाता है। यह गतिशीलता अत्यन्त कठिन है। स्वाभाविक योग्यता के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न व्यवसायों में भिन्न-भिन्न निपुणता तथा ज्ञान की आ-वश्यकता होती है तथा एक मनुष्य के लिये **स्वयं को दूसरे व्यवसाय के उपयुक्त बनाना विशेषतः जब वह एक व्यवसाय में कुछ वर्षों तक रह चुका हो इतना सरल नहीं है।** जब कोई मनुष्य एक व्यवसाय में नया होता है, तो व्यवसाय छोड़ने की सम्भावना अधिक होती है परन्तु जैसे-जैसे वर्ष व्यतीत होते जाते है सम्भावना दूर होती जाती है।

६. श्रम कहां तक वास्तव में गतिशील है ? (How far is labour actually mobile ?)—कहा जाता है कि वर्त्तमान आर्थिक प्रणाली में साहस अथवा व्यवसाय की स्वतन्त्रता है। परन्तु यह सब केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही है। एक डाक्टर (Surgeon) का कार्य बहुत आय प्रदान करने वाला है और बहुत से लोग अपने

लड़को को इस व्यवसाय मे भेजना पसन्द करेंगे । परन्तु कितने माता पिता उनकी शिक्षा पर २५-४० हजार रुपये व्यय करने की सामर्थ्य रखते है तथा कितने युवकों में एफ० आर० सी० एस० (लन्दन) की सनद प्राप्त करने का धैर्य, कौशल तथा योग्यता है ?

किसी निर्धन मनुष्य को बताना कि उसके लिये सब व्यवसाय खुले हुए है, उसका निष्ठुरतापूर्वक उपहास करना है। उद्योगों द्वारा लगाई हुई बाधाओं के अतिरिक्त परीक्षायें, अधिकार देने की प्रथा तथा सेवा-काल के लिये अधिक पारितोषिक लेना (उदाहरणार्थ अधिकृत तथा सयुक्त हिसाब लेखक के सम्बन्ध मे) प्रभावशाली बाधायें है जिन्हे थोड़े मनुष्य दूर कर सकते है । कुछ कार्यो जैसे उच्च दीवानी के अफसर की पदवी में अथवा राजनीति की सेवाओं की पदवियो के लिये उच्च सामाजिक स्थिति तथा माता-पिता के प्रभाव की आवश्यकता होती है। यह आखिरी कारण निर्धन कुटुब के युवक को अलग रखने में सबसे महत्वपूर्ण है ।

इसी प्रकार एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी मे गतिशीलता बहुत कम है । यह आश्चर्य की बात नही है कि सबसे अधिक माननीय कार्यो में सबसे अधिक पारितोषिक मिलता है, जब कि वे कार्य जो निम्न सामाजिक श्रेणी मे है, आर्थिक दृष्टि से भी निम्न श्रेणी मे होते हैं।

परन्तु एक समूह के अन्तर्गत तथा अनिपुण श्रमिको में गतिशीलता आर्थिक सुधार करने के लिये बहुत काफी है । ऐसे अनेकों कार्य है जिन्हे उचित शारीरिक शक्ति वाला तथा अच्छी बुद्धि से सम्पन्न मनुष्य सफलतापूर्वक कर सकता है और फिर एक नई अवस्था का सामना करने के लिये सब श्रम के गतिशील होने की आवश्यकता नही है । चाहे श्रम आलसी हो तो भी वह धीरे-धीरे अवश्य ही यद्यपि अगोचर रूप से उन व्यवसायों से जहां उसकी माग कम है उन व्यवसायो मे जहा वह अधिक है गतिशील रहता है ।

फिर प्रत्यक्ष प्रतिस्थापना की नही किन्तु केवल अप्रत्यक्ष अदल-बदल की ही आवश्यकता होती है। यदि सूती कपड़े का उद्योग घट रहा है तथा शक्कर का उद्योग बढ़ रहा है, तो यह आवश्यक नही है कि श्रमिक पहले उद्योग से दूसरे मे सीधे चले जाएं। वास्तव में मिले हुए व्यवसायो में अदल-बदल होगी। सूती कपड़े के उद्योग से कुछ श्रमिक जूट उद्योग मे जा सकते है तथा इन उद्योगों के कुछ श्रमिक कागज के कारखाने में जा सकते है । अन्य अनेक परिवर्त्तन भी इस सम्बन्ध मे होगे । परन्तु अन्त मे बिना कठिनाई के घटने वाले से बढने वाले उद्योग में गतिशीलता हो जाएगी ।

एक स्थाई अथवा घटती हुई जनसंख्या गतिशीलता में बाधक होती है जबकि भारत जैसी बढ़ती हुई जनसख्या अत्यन्त सहायक होती है क्योंकि नई जनसख्या नए व्यवसायों में लग सकती है तथा उनका त्याग कर सकती है जिनमें पारितोषिक कम हो रहा है ।

हमारा निर्णय यह है कि यद्यपि श्रम की गतिशीलता में अनेकों महत्त्वपूर्ण बाधायें है, तो भी उद्योग की नई आवश्यकताओं के अनुरूप आर्थिक साधनों के व्यवस्थित करने के

लिए यह यथेष्ट है, जब तक कि परिवर्त्तन बहुत शीघ्र तथा मौलिक न हो जो बहुधा नहीं होता है ।

७. पूंजी की गतिशीलता (Mobility of Capital)—पूंजी के अनेकों रूप होते हैं । बैंक की जमा (Bank Balances) कच्चे सामान तथा अर्ध उत्पादित वस्तुओं का संचय तथा उपभोक्ताओं की वस्तुओं को शामिल करने वाली काम चलाऊ पूजी (Working Capital) होती है । पूजी के इस भाग की गतिशीलता में कोई सन्देह नही है । द्रव्य पूर्णतया चलायमान दशा मे है और किसी भी प्रयोग में लाया जा सकता है । उत्पादको के हाथ में उपभोक्ताओ की वस्तुओं के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही होता है । कच्चे सामान तथा अर्ध उत्पादित (Semi Finished) वस्तुएं भी बहुत परिवर्तनशील है ।

पूजी के दूसरे भाग में औजार तथा यन्त्र और साधारण मशीनें शामिल है जो प्रत्येक उद्योग द्वारा प्रयोग मे लाई जा सकती है और जो आसानी से तथा बिना अधिक व्यय के किसी स्थान पर हटाई जा सकती है । राष्ट्र की पूजी का यह भाग भी गतिशील है ।

परन्तु सम्प्रदाय की पूजी के सबसे अधिक मूल्य वाले भाग में स्थिर पूजीकृत वस्तुएं शामिल है अर्थात् कारखानों की इमारतें, मशीनें, रेलों के स्थाई सामान जैसे रेल की पटरियां, स्टेशन की इमारतें, नहरे, ट्यूब वैल्स इत्यादि । इनमें गतिशीलता नही होती । ऐसी सब पूजी स्थाई रूप से स्थिर होती है और आसानी से अन्य स्थानों पर नही ले जाई जा सकती । मान लीजिये कि एक किसान अपने खेत, तथा कुएं को गलत स्थान पर बनवा देता है और वह दोनों के स्थानों को परस्पर बदलना चाहता है । उसे खेत उखाडने से तथा कुएं के बाहरी सामान हटाने से कोई नही रोक सकता । निस्संदेह पदार्थ फिर से प्रयोग में नही लाये जा सकते । परन्तु कितने व्यय पर वह यह कर सकता है । वह अपने पहले वाले व्यय का बहुत छोटा अंश नष्ट होने से बचा सकेगा । हानि इतनी अधिक होगी कि कोई भी बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार फिर से बनाने का कार्य नही करेगा । केवल मुहम्मद तुगलक ही अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरि बदल सकते थे तथा मनुष्यों को देवगिरि के लिये और वहां से वापस होने की आज्ञा दे सकते थे । मशीन के उखाड़ने तथा उसके ले जाने का बहुत हाल का ही एक उदाहरण है । जब नाजी (Nazi) जत्थे मास्को (Moscow) से मुश्किल से बारह मील रह गये थे, रूसियों को अपने यंत्र तथा कलें उखाड़ना तथा उन्हें यूरल पर्वत (Ural Mountains) के पीछे ले जाना पड़ा था । किन्तु यहां व्यय का कोई महत्त्व नही था । सामान्य दशाओं में ऐसा कभी नही किया जायेगा ।

और फिर काफी पूजी आमतौर से निमग्न (Sunk) अथवा विशिष्ट भी होती है । आप एक सूती कपड़े के कारखाने को एक शक्कर के कारखाने में नही बदल सकते । जब एक उद्योगपति एक कार्य प्रारम्भ करता है, उसका धन उसमे लग जाता है । उसका पूजी-विनियोग हो चुकता है और वह उसे वापस नहीं ले सकता । इसलिये न केवल स्थायी पूजी

को अवश्य ही वहीं रहना चाहिये जहां वह है, वरन् उसका प्रयोग भी वहीं कायम रहना चाहिये, जिस अभिप्राय से वह लगाई गई थी। जब हम ऐसी पूजी पर विचार करते है तो उसकी अगतिशीलता हमें पूर्ण रूप से प्रतीत होती है।

परन्तु गतिशीलता से हमारा अभिप्राय केवल भौगोलिक गतिशीलता नही है। इसका अर्थ वैकल्पिक प्रयोगों में आने की सम्भावना भी है। इस विचार से पूजी भी काफी मात्रा में गतिशील होती है। यातायात के साधनों से कुछ भी ले जाया जा सकता है। यन्त्र में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके पूर्णतया भिन्न प्रकार की वस्तुएँ उत्पादित की जा सकती है। यह कहा जाता है कि घड़ियों के बनाने की मशीनो से सिलाई की मशीनें बनाई जा सकती है। मोटर कार के उत्पादन यंत्र को हवाई जहाज तथा दूसरी युद्ध की सामग्री उत्पन्न करने मे प्रयोग किया जा सकता है।

एक ही कारखाने में एक ही यन्त्र से उसी उत्पादन कार्य में भी अनेक प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती है। एक सूती कपड़े का कारखाना कमीज का कपड़ा, धोतियां, सूट का कपड़ा, तौलिये, चादरे तथा ऐसी अनेक वस्तुएँ उत्पन्न कर सकता है। एक शक्कर का कारखाना साधारण शक्कर अथवा बताशे बना सकता है। एक जूट का कारखाना रस्सी अथवा बोरे बना सकता है। एक कागज का कारखाना वास्तव में अनेक प्रकार के कागज बना सकता है। एक साधारण मनुष्य के लिये पूजी निमग्न प्रतीत होती है परन्तु उद्योगपति यह जानता है, उसे भली भाति समझता है। वह अपनी पूजी को अनेक प्रयोगों में ला सकता है तथा उसके सामने अनेक योजनायें रहती है। इसलिये यद्यपि पूंजी वहीं रहेगी जहां वह है तो भी वैकल्पिक प्रयोगों की सम्भावनायें इतनी सीमित नही होतीं।

इसके अतिरिक्त पूंजी के आकार में लचीलापन एक दूसरी रीति से प्रदान किया जा सकता है। श्रम की नई जनसंख्या जैसी नई बचतें भी होती है। इन बचतों को उन प्रयोगों में लगाया जा सकता है जो अधिक महत्त्वपूर्ण तथा अधिक लाभप्रद हो गये है। प्रत्येक शिल्पकार अपने वार्षिक लाभ से कुछ भाग ह्रास कोष (Depreciation) में डालता है। यह कोष यन्त्रों की मरम्मत तथा परिवर्त्तनों के लिये उस समय प्रयोग में आता है जब वे नष्ट तथा पुराने हो जाते है। परन्तु ऐसा बहुत कम होगा कि एक यन्त्र दूसरे ऐसे यन्त्र से बदल दिया जाये जो पुराने के पूर्णतया समान हो। उसके स्थान पर आधुनिक ढंग की मशीनें लगाई जायेगी। यदि स्वयं उद्योग का पतन हो रहा है, उद्योगपति पूर्णतया नया यंत्र खरीद सकता है तथा अन्य उद्योग प्रारम्भ कर सकता है। इस प्रकार पूजी का उपभोग हो रहा है तथा जैसी कि नई आर्थिक अवस्था से आवश्यकता होती है, बदली अथवा नही बदली जाती है। इसका अर्थ केवल यह है कि पूजी गतिशील है। यह पूर्णतया गतिशील नहीं है किन्तु गतिशीलता की मात्रा हमारे प्रयोजन अर्थात् पूजी के पुनः वितरण के लिये यथेष्ट है जिससे उपभोक्ताओं की इच्छाओं के अनुसार वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रम में आवश्यक परिवर्त्तन किये जा सकते है।

८. आधुनिक आर्थिक प्रणाली कहाँ तक परिवर्तनशील है ? (How far is modern economic system adaptable ?)—यह विवेचन करके कि उत्पत्ति के अनेक साधन कहा तक गतिशील है, अब हम यह देख सकते है कि आधुनिक आर्थिक प्रणाली सपूर्ण रूप से स्थाई है अथवा गतिशील। क्या उसमें परिवर्त्तन हो सकते हैं अथवा क्या हमें सदा एक विशिष्ट आर्थिक अवस्था के अनुसार ही कार्य करना पड़ेगा ?

हम देख चुके है कि व्यवहार में उत्पत्ति के साधनो की गतिशीलता में बाधा होती है। भूमि की भौतिक गतिशीलता असंभव है। भूमि की सफाई, सुखाई तथा कृषियोग्य बनाने में कभी-कभी बहुत अधिक पूजी-विनियोग की आवश्यकता होती है। हमें ऋतु, जलवायु तथा वर्षा पर निर्भर रहना पडता है। यह भूमि की गतिशीलता में कुछ बाधायें हैं।

श्रम भी स्वतन्त्रतापूर्वक गतिशील नही है। कुछ ही मनुष्य अपने थोड़े से लाभ के लिये अपने घर तथा देश छोड़ना पसन्द करते है। मनुष्य भाषा की कठिनाइयों तथा रीति-रिवाजों की भिन्नताओं के कारण अपने देश के वातावरण में रहना पसन्द करते है। भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लिये आवश्यक निपुणता में भिन्नता, कुछ व्यवसायों के लिये आवश्यक शिक्षा पर अत्यधिक व्यय, दूसरे में सेवा काल का अधिक समय, सामाजिक असमार्थ्य तथा राज्य के नियमों के कारण किसी व्यवसाय में स्वतन्त्र प्रवेश सम्भव नहीं होता।

पूंजी भी स्थाई होती है। उसको उखाड़ने तथा हटाने में अधिक व्यय तथा समय नष्ट होता है। यह इतनी विशिष्ट हो जाती है कि किसी अन्य प्रयोग में लाये जाने योग्य नहीं रहती।

ये वास्तविक कठिनाइयां हैं। परन्तु इन सबके होते हुए भी उत्पादन अर्थ-व्यवस्था का आकार काफी लचीला है। भूमि पर अनेक प्रकार की फसले उत्पन्न की जा सकती हैं और इसके अनेक वैकल्पिक प्रयोग हो सकते है। श्रम की औद्योगिक गतिशीलता (Mobility between Industries) आसान है और स्थानीय गतिशीलता (Mobility between places) की सुविधा सन्देश व यातायात के सस्ते व कुशल साधनों के द्वारा हो रही है। कार्यगत गतिशीलता मे शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं के विस्तृत रूप से बढ़ने तथा यंत्र-सम्बन्धी शिक्षा से सहायता मिल रही है। नई जनसंख्या का आगमन पुरानी जनसंख्या की अगतिशीलता को पूरा करता है। पूजी की भौतिक गतिशीलता संभव नही हो सकती है, तो भी एक निश्चित यंत्र से अनेक प्रकार की वैकल्पिक वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती है जिससे अन्तिम वस्तुओं अथवा उपभोक्ताओं की वस्तुओं की बनावट में परिवर्त्तन बिना कठिनाई से किया जा सकता है। अतएव जब एक उद्योगपति उत्पत्ति में परिवर्त्तन करने का निश्चय कर लेता है तो उत्पत्ति के साधन कोई विशेष कठिनाई प्रस्तुत नहीं करते।

व्यक्तित्व तथा प्रतियोगिता की प्रवृत्ति सब जगह है। आर्थिक संसार को तीन स्वतन्त्रतायें दी गई है अर्थात् उद्योग की स्वतन्त्रता, नियमपत्र (Contract) की स्व-

तन्त्रता तथा सम्पत्ति का स्वतन्त्र प्रयोग। सन्देश तथा यातायात के साधनों की दृष्टि-विषयक उन्नति ने स्थान तथा समय का लोप कर दिया है। उत्पादन प्रणाली में ऐसे परिवर्त्तन हुए हैं जो कि युग के मनुष्य को विचलित कर देंगे। वैज्ञानिक उन्नति तथा यन्त्र-सम्बन्धी ज्ञान में वृद्धि ने उद्योगपति को अज्ञात सम्भावनायें उपलब्ध करा दी है। अनेक नये उद्योगों की उन्नति हो गई है तथा अनेक पुराने उद्योग नष्ट हो गये है। परिवर्त्तन शांतिपूर्वक तथा अगोचर रूप से और आर्थिक प्रणाली को बिना कोई धक्का पहुंचाये हुए है। अतएव सत्यता-पूर्वक हम यह निर्णय दे सकते है कि आधुनिक आर्थिक प्रणाली पूर्णतया व्यवस्था योग्य है। द्वितीय महायुद्ध ने यह दिखा दिया है कि किस सीमा तक तथा कितनी शीघ्रता से राष्ट्रीय साधन परिवर्तित हो सकते है तथा उन प्रयोगों में लाये जा सकते हैं जिनको सम्प्रदाय सब से अधिक आवश्यक समझता है।

निर्देश पुस्तक

(1) Benham—Economics—Chapter XIV.

अध्याय १५

व्यवसाय संगठन के रूप

(FORMS OF BUSINESS ORGANISATION)

१. व्यक्तिगत उद्योगपति (The Individual Entrepreneur)—उद्योगपति के कार्य की अनेकों प्रकार से व्यवस्था की जा सकती है। सबसे प्राचीन तथा सबसे अधिक संख्या में एक मनुष्य का व्यक्तिगत व्यवसाय है। कोई भी जिस के पास पूजी है, व्यवसाय कर सकता है।

'एक मनुष्य' वाले व्यापार का संचालक अपनी पूजी स्वय लगाता है तथा कुछ उधार भी ले सकता है। वह एक किराये की दूकान लेगा और यदि आवश्यकता हुई तो एक सहायक की सेवा प्राप्त करेगा। वह स्वयं क्रय तथा विक्रय करता है। वह अपना स्वयं प्रबन्धक है। वह कार्य प्रारम्भ करता है, उसकी व्यवस्था करता है, काम के लिय आज्ञा देता तथा पूरा जोखिम उठाता है। इस प्रकार स्वत्वाधिकारी स्वयं ही पूजी, उद्योग तथा बहुत सी दशाओं में श्रम के भी कार्य संयोग करता है।

इस प्रकार का व्यवसाय साधारणतः छोटे पैमान पर किया जाता है। खेती तथा सभी प्रकार के फुटकर व्यापार में व्यक्तिगत उद्योग व्यवस्था (Sole Proprietorship) अधिकतर देशों में पाई जाती है।

२. व्यक्तिगत उद्योग व्यवस्था के लाभ (The Advantages of the Individual Entrepreneur)—इस प्रकार के व्यवसाय संगठन के कई लाभ हैं।

(१) आर्थिक हितों का संयोग तथा व्यवसाय के संचालन का पूर्ण उत्तरदायित्व कुशलता के लिये सहायक होता है। अकेला उद्योगपति बहुत परिश्रम से अधिक समय तक कार्य करता है। उसके मस्तिष्क में अपने व्यवसाय का हित सबसे ऊंचा होता है तथा उसको निरन्तर परिश्रम के लिये प्रोत्साहित करता है।

(२) सारे व्यवहार तथा कार्य ठीक व्यवस्था द्वारा मितव्ययता से किये जाते हैं और हर प्रकार का क्षय दूर हो जाता है। किसी तरह का विस्तारपूर्वक हिसाब रखने की कोई आवश्यकता नही रहती।

(३) सभी ग्राहकों को व्यक्तिगत ध्यान देना तथा कम से कम लागत पर पूर्ण संतुष्टि देना सम्भव हो जाता है। रुचि तथा फैशन में प्रत्येक परिवर्त्तन का ध्यान रखा जाता है और यथायोग्य पूर्ति करने के लिये प्रयत्न किया जाता है।

(४) व्यक्तिगत उद्योगपति उस माँग की संतुष्टि के लिये जो कि सीमित अथवा

परिवर्त्तनशील है, सर्वोत्तम परिस्थिति में होता है। व्यवसाय की स्थितियों में तीव्र परिवर्त्तनों के लिये शीघ्र निर्णय सम्भव हो जाता है। शायद ही किसी व्यवसाय में इतना लचीलापन पाया जाता है।

(५) इस प्रकार का व्यवसाय सरलता से प्रारम्भ किया जा सकता है और उतनी ही सरलता से बन्द भी किया जा सकता है। अकेला स्वामी ही केवल एकमात्र उससे सम्बद्ध है।

अपने सीमित क्षेत्र में व्यवसाय संगठन का यह रूप बहुत उच्च कोटि की कार्यकुशलता तथा मितव्ययता प्रस्तुत करता है।

३. व्यक्तिगत उद्योगव्यवस्था की सीमायें (Limitations of the Individual Entrepreneur)—परन्तु कुछ सीमायें भी है जिनका ऐसे उद्योगपति को सामना करना पड़ता है :—

(१) एक व्यक्ति के पास पूंजी साधारणतः बहुत कम होती है जिससे कि व्यवसाय का विस्तार, चाहे वह कितना ही लाभदायक क्यो न हो, नही हो पाता।

(२) एक मनुष्य अपने व्यवसाय के विभिन्न अगो की अच्छी तरह देख भाल नहीं कर सकता। मानवीय शक्ति की भी एक सीमा होती है। यह उसको बहुत सी मितव्ययताओ से तथा लाभदायक विनियोग (Investment) की सुविधाओं से वंचित कर देती है। ये अड़चने अधिक तीव्र हो जाती है, यदि उद्योगपति की अवस्था अधिक होती जाय और उसकी युवा अवस्था की शक्ति, तेज तथा मानसिक चौकसी लुप्त होती जाय।

(३) व्यवसाय के ऐसे प्राचीन ढंग से संगठित होने पर न तो पहले नम्बर का व्यवसाय स्थापित किया जा सकता है और न कोई देश व्यवसाय का नायकत्व प्राप्त कर सकता है।

४. साझेदारी (Partnership)—'एक मनुष्य' व्यवसाय की सीमाओं से दूसरे प्रकार का व्यवसाय संगठन अर्थात् साझेदारी उत्पन्न होती है। दो, तीन या अधिक मनुष्य संगटन करते है, पूजी एकत्रित करते है और निश्चित अनुपात में लाभ-हानि में भाग लेने के लिये राजी होते है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक मनुष्य उस व्यवसाय में बराबर पूंजी लगाये। एक साझेदार केवल अपनी योग्यता का ही प्रयोग कर सकता है। इसी प्रकार यह आवश्यक नही है कि लाभ और हानि एक ही अनुपात में बांटे जावें। साझेदारी की शर्तें अधिक लोचदार होती है। साझेदारों का उत्तरदायित्व तथा अधिकार साझेदारी की लेख प्रणाली में स्पष्ट होते है, जिनको आपसी सम्मति से बदला जा सकता है। जब तक कि व्यवसाय संस्था के कार्य कानूनी ढंग पर है, तब तक राज्य का कोई नियंत्रण नहीं होता।

साझेदारी समस्त औसत दर्जे वाले व्यवसायों के लिये एक बहुत उचित व्यवसाय-व्यवस्था है जहां कि स्वामी के व्यक्तिगत प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ,

आटे की मिल, होजरी की फैक्टरी, इमारती सामान के कारखाने, बरफ के कारखाने, खेल-कूद का सामान बनाने वाले कारखाने, बैंकिंग संस्थायें इत्यादि। यद्यपि साझेदारी व्यवसाय इतने अधिक नही है जितने कि एक मनष्य वाले व्यवसाय हैं, तो भी ये बहुत ही प्रचलित तथा महत्त्वपूर्ण है।

५. साझेदारी के लाभ (Advantages of Partnership)—संगठन के इस रूप के बहुत से लाभ है :—

(१) अकेले उद्योगपति की अपेक्षा उनके पास अधिक साधन होते है। वे अधिक पूजी, अधिक व्यवसाय, योग्यता तथा अधिक मानवीय शक्ति प्रयोग करते है।

(२) सब के परस्पर लाभ के लिए व्यक्तिगत संयोग स्थापित करना सम्भव हो जाता है। प्रत्येक साझेदार व्यवसाय के मिलाप के जंजीर की एक कडी है।

(३) व्यवसाय अधिक बड़े पैमाने पर चलाया जा सकता है जिससे अनेक प्रकार की बचत प्राप्त हो सकती है। उदाहरणार्थ स्थान की, औजारों की, विशेषोपयुक्त श्रम तथा यन्त्र की, क्रय विक्रय मे लाभ की, खोज, अनुभव तथा विज्ञापन पर अधिक व्यय की मितव्ययता।

(४) स्वामित्व तथा प्रबन्ध का मिलान कुशलता तथा मितव्ययी कार्यों को प्रोत्साहित करता है। साझेदारों को हानि उठानी पड़ती है और यदि लाभ हो तो मुनाफे में रहते है। अतएव उनसे सर्वश्रेष्ठ कार्य की आशा की जाती है।

(५) साझेदारी व्यवसाय-व्यवस्था में आसानी से परिवर्त्तन लाये जा सकते हैं और बहुत ही उचित और शीघ्र निर्णय किये जा सकते हैं। उनके कार्य मे देरी नही होती। सारी कार्य-प्रणाली साधारण तथा शीघ्र गति वाली होती है।

(६) असीमित उत्तरदायित्व का होना साझेदारों के सट्टे की प्रवृत्तियों तथा जोखिम और अदूरदर्शी उद्योग करने को रोकता है। अ.र वे दूसरी ओर समय के साथ चलने की योग्यता तथा साधन रखते है।

साझेदारी पौरुषेय, गतिशील, लोचदार तथा कुशल मानी जाती है यदि वे एक होकर कार्य करें।

६. साझेदारी से हानियाँ (Disadvantages of Partnership)—यदि साझेदार पूर्णतया हार्दिक सहयोग से कार्य करते है तो व्यवसाय अवश्य ही ऊँचा उठेगा। परन्तु इसमें 'यदि' बहुत महत्त्वपूर्ण है।

(१) वास्तविक व्यवहार में साझेदार बहुत ही स्वार्थी होते है और सबसे कम कार्य करके अधिकतम फल पाने का प्रयत्न करते हैं। कोई आपत्ति पड़ने पर वे एक दूसरे को दोष देते है। अनुकूलता के बजाय प्रतिकूलता होती है; सहानुभूति रखने वाली मैत्री के स्वप्न ही रह जाते ह। निरन्तर कलह के कारण कुछ नही हो पाता। यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि साझेदारी अल्पजीवी होती है।

(२) कानून के अनुसार साझेदारी किसी साझेदार की मृत्यु, दिवालियापन अथवा पागलपन पर साझेदारी का अन्त हो जाता है। अतएव वह निरन्तर नही रह सकती।

(३) परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई असीमित उत्तरदायित्व की है। हरएक साझेदार को दूसरे को बांधने का अधिकार प्राप्त है। असफल होने पर साझेदारी-ऋण किसी भी साझेदार से वसूल किया जा सकता है और उसकी व्यक्तिगत संपत्ति ऋणदाताओं की संतुष्टि के लिये कुर्क की जा सकती है। कोई साझेदार यह नही कह सकता कि वह केवल अपने हिस्से का उत्तरदायी है। असीमित उत्तरदायित्व व्यवसाय-संस्था की रीति को क्षीण तथा असाहसी बना देता है।

(४) इसके अतिरिक्त साझेदारी के साधन इतने सीमित होते है कि साझेदार कोई बड़ा व्यापार नही कर सकते। स्पष्टतः रेलवे अथवा जहाज, यातायात, बीमा का व्यवसाय अथवा लोहे का कार्य साझेदारी से नही किया जा सकता।

संगठन के इस रूप से आधुनिक व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती।

७. सीमित साझेदारी (Limited Partnership)—साधारणतः साझेदारों का उत्तरदायित्व असीमित होता है परन्तु कानून एक साझेदार को अपना उत्तरदायित्व स्वीकृत से कुछ मात्रा तक सीमित रखने के लिये स्वीकृति दे सकता है। लेकिन ऐसा साझेदार प्रबन्ध मे कोई भाग नही ले सकता। एक सीमित साझेदारी में भी कुछ ऐसे साझेदार होने पड़ते है जिनका उत्तरदायित्व असीमित हो। व्यवसाय-संस्था के सारे साझेदार अपने उत्तरदायित्व को सीमित नही कर सकते। इस प्रकार की साझेदारी अधिक प्रचलित नही है।

८. संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी (Joint-Stock Company)–निःसन्देह संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी व्यवसाय संगठन का अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रचलित रूप है और यह साझेदारी की कठिनाइयों तथा अयोग्यताओं को दूर करने का प्रयत्न करती है।

संयुक्त पूजी वाली कम्पनी दो प्रकार की होती है :—

(१) निजी सीमित कम्पनियां। (२) लोक सीमित कम्पनियाँ।

(१) **निजी सीमित कम्पनियाँ**—एक निजी सीमित कम्पनी में सेवकों को निकाल कर कम से कम दो तथा अधिक से अधिक ५० व्यक्ति होते है। जब एक साझेदारी व्यवसाय के साझेदारों की हानि उठाने की शक्ति अधिक बढ़ जाती है तो वे अपने उत्तरदायित्व को एक निजी सीमित कम्पनी की रजिस्ट्री करा कर परिमित कर सकते हैं। इस ढंग से वे व्यवसाय का नियन्त्रण अपने हाथों में रख सकते है। वे अपने तथा अपने परिवार और मित्रों के लिये अच्छे वेतन वाली नौकरियां निकाल सकते है और इसके अतिरिक्त लाभ भी ले सकते हैं। इसके साथ-साथ व्यवसाय संस्था के ऋण को भुगतान करने का उनका उत्तरदायित्व उनके हिस्से की पूंजी तक सीमित होता है।

संगठन के इस रूप में साझेदारी के प्रत्येक लाभ जैसे गुप्तता, शीघ्रता, निजस्वार्थ जिससे मितव्ययता तथा कार्यकुशलता बढ़ती है, अपरिमित उत्तरदायित्व से पैदा होने वाली हानियों से मुक्त पाये जाते है। एक निजी सीमित कम्पनी को व्यवसाय आरम्भ करने से पहले कम से कम पूजी का इकट्ठा करना आवश्यक नही होता और न उसको इस बात की आवश्यकता होती है कि वह संयुक्त पूजी वाली कम्पनियों के रजिस्ट्रार के यहां वार्षिक आय-व्यय का विवरण अथवा स्थिति विवरण जमा करें। तो भी इसको कुछ और सीमाओं के अन्दर कार्य करना पड़ता है। यह जनता से अपने हिस्से की पूजी के लिये सर्व सामान्य रीति से अथवा विज्ञापन द्वारा प्रार्थी नही हो सकती। हिस्से हस्तांतरणीय भी नही होते।

यह काल्पनिक उद्योगों के स्थापित करने के लिये जिनमें बड़े लाभ की आशा होती है परन्तु जिनमें अधिक पूजी की आवश्यकता नही होती, अत्यन्त अनुकूल है। अधिकतर माध्यमिक श्रेणी के उद्योग इस भांति चलाये जाते है। यदि व्यवसाय अच्छा चलता है तो वे अन्त में लोक सीमित कम्पनियों में निश्चित ही परिवर्तित हो जाती है।

(२) **लोक सीमित कम्पनी**—कम से कम ७ सदस्य एक लोक सीमित कम्पनी बना सकते है। इसके लिये कोई अधिकतम सीमा नही है। उपकारियों (प्रवर्धकों) को संयुक्त पूजी वाली कम्पनियों के रजिस्ट्रार के पास उसके दो प्रतिलेख करने पड़ते है। (१) परिषद् स्मारक पत्र (Memorandum of Association) जिसमें कम्पनी का नाम, हैड आफिस, उसके उद्देश्य, हिस्से का वर्णन तथा हिस्से की पूजी की मात्रा तथा यह प्रकाशन कि हिस्सेदारों का उत्तरदायित्व परिमित है। (२) परिषद् अन्तर नियम (Articles of Association) जिसमे कम्पनी के उपनियम होत है।

यदि रजिस्ट्रार सन्तुष्ट है कि समस्त कानूनी आवश्यकतायें पूरी कर दी गई है तो वह सभामेलन प्रमाण पत्र दे देगा। यद्यपि कम्पनी की रजिस्ट्री हो जाती है, तो भी वह व्यवसाय आरम्भ नही कर सकती जब तक कि निर्गमित पूजी की कम से कम प्रतिशत प्रार्थित न हो चुकी हो। यह पूजी लगाने वालों के हितों को सुरक्षित रखने के लिये होती है ताकि पूजी लगाने वालों को फांस कर उनके धन को झूठी कम्पनियों के प्रवर्त्तकों द्वारा ठग न लिया जाये।

रजिस्ट्री कराने के पश्चात् कम्पनी के उपकारी विवरण पत्रिका निकालते हैं, अधिक प्रचार करते हैं तथा अभिगोपन की सेवाओं को हिस्सों के बेचने में लगाते है।

हिस्सों का मूल्य एक साथ इकट्ठा नहीं किया जाता। प्रार्थना-पत्र के साथ थोड़ा-सा भुगतान किया जाता है, फिर थोड़ा हिस्सों के आवटन के समय पर देना पड़ता है और फिर शेष उस समय मांगा जाता है जब कि कम्पनी को पूंजी की आवश्यकता होती है।

हिस्सों के आवटन के ६ महीने में प्रबन्धकों को सब हिस्सेदारों की एक साधारण मीटिंग बुलानी पड़ती है जिसको कानूनी मीटिंग कहते हैं और जो संचालकों का चुनाव

करती है। परन्तु चुनाव पहले से ही निर्णीत होता है। वे प्रबन्धक जिन्होंने कम्पनी को चलाया है और जो यह जानते है कि क्या करना है और कैसे करना है, वही संचालक साधारणतः चुन लिये जाते है। एक बार चुन लिये जाने पर वे कभी छोड़ने की इच्छा प्रकट नही करते। प्रतिनिधि के स्थान पर होने के कारण वोटों को अपने हाथों में रख कर, वे प्रत्येक वर्ष स्वयं चुन लिये जाने का प्रबन्ध कर लेते है। इसी तरह कम्पनी चलती रहती है।

कम्पनी ऋण-पत्र तथा हिस्सों को बेच कर कोष को बढाती है। विद्यार्थी को पूंजी और तमाम प्रकार के हिस्सों के सम्बन्ध में प्रयोग किये जाने वाले शब्दों से भली प्रकार परिचित हो जाना चाहिये।

९. हिस्से तथा अंश पूंजी (Shares and Share Capital)—अधिकृत (Authorised) पूंजी रजिस्टर्ड (Registered) अथवा अभिहित (Nominal) पूंजी। यह पूंजी की वह मात्रा है जिससे कार्य की रजिस्ट्री होती है। यह अधिकतम मात्रा है जिसको कम्पनी को हिस्से बेच कर एकत्रित करने का अधिकार होता है। वास्तव में एकत्रित क हुई पूंजी कम हो सकती है। अतएव वह केवल अभिहित पूंजी ही है।

निर्गमित पूंजी (Issued Capital) :—यह अंश पूंजी की वह मात्रा है जिसको जनता को प्रार्थित्व (Subscribe) करने के लिये कहा जाता है तो भी यह सब की सब बेची नही जाती।

प्रार्थित्व पूंजी (Subscribed Capital)—यह हिस्से की पूंजी की वह मात्रा है जो लोगों को बेची जाती है। परन्तु कुछ खरीदने वाले अपने हिस्सों के लिये जिनको उन्होंने खरीदना स्वीकार किया है, पूरा भुगतान करने के योग्य नही होते।

परिदत्त पूंजी (Paid up Capital)—यह वह मात्रा है जिसका कि हिस्सेदार वास्तव में भुगतान करते है।

एक संयुक्त पूंजी कम्पनी निम्नलिखित प्रकार के अंश या हिस्से बेचती है —

अधिमान्य हिस्से (Preference Shares)—साधारण हिस्सेदारों को कुछ देने से पहले ऐसे अंशधारियों को उनकी पूंजी पर कुछ प्रतिशत भुगतान करने का जिम्मा लिया जाता है। अधिमान्य हिस्से संचयी हो सकते है जब कि उन पर लाभाश संचित होता जाता है। यह उनको तभी दिया जाता है जब लाभ होता है। परन्तु उनके लाभ संचित होते जाएंगे। अधिमान्य हिस्से असंचयी भी हो सकते है। इस अवस्था में हिस्सेदार तभी लाभाश पाते है जब कि पर्याप्त मात्रा में लाभ होता है। फिर भागी अधिमान्य हिस्से होते है। यदि लाभ एक निश्चित सीमा से बढ़ जाता है तो एक निश्चित प्रतिशत के अतिरिक्त वे लाभ में और हिस्सा लेते है।

साधारण हिस्से—साधारण हिस्सेदार की गणना लाभांश के लिये अधिमान्य हिस्सेदारों के पश्चात् होती है। अधिमान्य हिस्सेदारों को पहले भुगतान किया जाता है और तब शेष लाभ साधारण हिस्सेदारों में बांटा जाता है।

विलम्बित हिस्से—(Deferred Shares)—ये प्रवर्त्तकों के हिस्से भी कहे जाते हैं। ये हिस्सेदार दूसरे प्रकार के हिस्सेदारों की सन्तुष्टि के बाद ही लाभ पाते हैं। साधारणतः यह हिस्सा प्रवर्त्तक अपने लिये रख लेते है और यह लाभ का सबसे बड़ा हिस्सा पाने की विधि है।

संयुक्त–पूजी कम्पनियां ऋण-पत्र बेच कर भी कोष बढ़ाती हैं। ऋण-पत्र धारी, कम्पनी के ऋणदाता होते हैं और हिस्सेदार नही। उनको ब्याज देना पढ़ता है चाहे लाभ हो या न हो। संक्षेप में, यह लोक संयुक्त-पूजी कम्पनी का संगठन है।

१०. संयुक्त-पूंजी कम्पनी के लाभ (Advantages of Joint-Stock Company)—व्यवसाय-व्यवस्था के इस रूप में बहुत से लाभ होते हैं :—

(१) कम्पनी का व्यवसाय साधारणतः एक बड़े पैमाने का व्यवसाय होता है। अतएव उसमें बड़े पैमाने की उत्पत्ति के सभी बाह्य तथा आंतरिक आर्थिक लाभ होते हैं, अर्थात् श्रम तथा यन्त्र का विशेषो.योजन, क्रय-विक्रय में लाभ, लागत मे बचत, प्रकाशन की लागत में बचत, खोज और अनुभव के लाभ इत्यादि।

(२) इसके अतिरिक्त बहुत से लाभ ऐसे है जो इस संगठन से विशेषतः सम्बद्ध हैं। वास्तव मे ऐसे संगठन के बिना इतनी पूजी इकटठी नहीं की जा सकती। हिस्से छोटे होते हैं और वे सबकी शक्ति के अनुकूल होते है। छोटी पूजी वाले मनुष्य भी व्यवसाय में भाग लेने के योग्य हो जाते है वरना उनकी छोटी पूजी किसी उत्पादक कार्य मे नहीं लगाई जा सकती है। इस तरह अधिक पूजी एकत्रित की जा सकती है।

(३) उत्तरदायित्व के परिमित तथा हिस्सो के अंतरण योग्य होने के कारण बहुत से मनुष्य हिस्सा पूजी को प्रार्थित्व करने के लिये प्रोत्साहित हो जाते है। इस प्रकार पूंजी की छोटी तथा बिखरी हुई मात्रा गतिशील हो जाती है और उत्पादक काय. में लगा दी जाती है। पूजी की पूर्ति की बड़ी समस्या इस भाति सन्तोषपूर्वक हल कर ली गई है। अच्छे गुणों वाले किसी भी उद्योगपति को पूजी की कमी से कठिनाई नहं. उठानी पड़ती। वह व्यवसाय जिसमें आरम्भ में अधिक पूजी की आवश्यकता होती है, सफलतापूर्वक चलाया जा सकता है।

(४) उत्तरदायित्व के परिमित होने से जोखिम उठाना आसान हो जाता है और व्यवसाय के बहुत से नये क्षेत्र खुल जाते है। असफलता के जोखिम का बीमा हो जाता है। यदि वास्तव में कोई हानि होती है तो वह तमाम हिस्सेदारो में वितरण कर दी जाती है।

(५) रुपया लगाने वाले के दृष्टिकोण से भी इसके अधिक लाभ हैं। उसका उत्तरदायित्व केवल परिमित ही नही होता वरन् वह अपने रुपये को अधिक व्यवसायों में विस्तृत कर सकता है। उसको सारे अंडे एक ही टोकरी में नहीं रखने पड़ते है।

इसके अतिरिक्त वह कम्पनी से सदैव के लिये बंधा नहीं है। जब कभी भी वह उसे या तो इस कारण छोड़ना चाहता है कि वह घोखे की रही है या इस कारण कि उसे रुपये

की आवश्यकता है, तो वह अपने हिस्से को बेच सकता है।

(६) साझेदारी के विपरीत, कम्पनी एक कानूनी संस्था है। यह हिस्सेदारों अथवा संचालकों से पृथक् एक कानूनी वस्तु है। यह मुकदमा चला सकती है और इस पर मुकदमा चलाया जा सकता है। इस प्रकार यह सदैव जीवित रहती है। इससे बड़ा लाभ होता है। जब प्रारम्भिक उद्योगपति चला जाता है तो व्यवसाय के खतम हो जाने की कोई सम्भावना नही रहती। इसके अतिरिक्त सदैव जीवित रहने के कारण ही से पूंजी लगाने वाले इसमें पूजी लगाने को प्रेरित किये जा सकते है यद्यपि कई सालो तक उसमें किसी भी प्रकार की लाभ की आशा नही की जा सकती।

(७) पूजोपति तथा साहसो पृथक्-पृथक् हो जाते है। इस विशेषोपयोजन से उत्पत्ति की कार्यकुशलता बढ गई है क्योकि पहले पूजीपतियों के पास बहुधा व्यवसाय चलाने की योग्यता न थी और साहसी के पास बहुधा पूजी न थी।

(८) इसकी व्यवस्था सार्वलौकिक, कुशल तथा लाभदायक होती है। संचालक जो व्यवसाय को चलाते है हिस्सेदारो से चुने जाते है और यदि संतोषजनक नही पाये जाते तो फिर नही चुने जाते। वे विस्तृत दृष्टि के शासन-सम्बन्धी योग्यता वाने तथा व्यवसाय तीक्ष्णता वाले मनुष्य होते है। उनकी दक्ष बुद्धि की सलाह तथा पथप्रदर्शन कम्पनी को साधारण कीमत पर मिल जाता है। वे कोई भी वेतन नही लेते परन्तु संचालकों की संस्था की मीटिग में भाग लेने के लिए केवल फीस लेते है।

११. संयुक्त-पूजी कम्पनी की हानियां (Disadvantages of a Joint-Stock Company)—इसका दूसरा पक्ष भी है। (१) व्यवसाय केवल सिद्धान्त मे सार्वलौकिक है, वास्तव में यह अल्पजन वाला है। संचालक वास्तव में अपने आप निश्चित होते है और जब तक चाहते है रहते हैं।

(२) कुछ संचालक निडर होते है और सीधे-सादे रुपया लगाने वालों को ठगते हैं। वे आन्तरिक जानकारी को अपनी भलाई के लिए प्रयोग करते है। वे इस भांति चालाकी से काम करते है कि जब कंपनी की उन्नति होती है तो उसके हिस्से खरीदते ह और जब अवनति होती है तो बेचते है।

(३) झूठा प्रचार जनता को धोखा देता है। विवरण पत्रिका में जो अच्छी दशा बताई जाती है वह कभी-कभी बिल्कुल असत्य होती है।

(४) संचालक बहुधा वकील तथा डाक्टर होते है और व्यवसाय के कार्य में न तो कोई अनुभव और न कोई ज्ञान रखते है। उनकी योग्यता केवल हिस्सों की योग्यता होती है। १९२५ में बम्बई में सूती मिलों के १७५ संचालकों में केवल ११ ऐसे थे जिन्होंने यन्त्रकलासम्बन्धी शिक्षा पाई थी। "योग्य संचालकों का प्रवरण एक टेढ़ी खीर है।"

(५) व्यवसाय व्यक्तिगत भाव उत्पन्न करता है। व्यवसाय के मालिक अर्थात् हिस्सेदार केवल लाभ ही से सम्बन्ध रखते हैं। नौकरों के क्षेत्र का ध्यान वेतन पाने वाले

मैनेजर नहीं करते। वे इस बहाने से अपनी असमर्थता दिखाते हैं कि हिस्सेदार लाभांश के लिए चिल्लाते हैं। यह मानवीय भाव की हानि एक बड़ी हानि है। व्यवसाय पूर्णतः स्वार्थी हो जाता है।

(६) देनदारी परिमित होने और हिस्से हस्तांतरित होने के कारण हिस्सेदार कम्पनी में रुचि नहीं रखते। उनमें से बहुत कम हिस्सेदार मीटिंग में जाते हैं। उनकी उदासीनता से सारी शक्ति कुछ संचालकों के हाथ में आ जाती है जो अनियंत्रित शासक हो जाते हैं। कम्पनी में पक्षपात होता है।

(७) कभी-कभी संचालक अदूरदर्शी उद्योगों को चालू कर देते हैं क्योंकि दूसरों के रुपयों से खेलना आसान है।

(८) व्यवस्था बहुत ही कष्टकारक और भारी हो जाती है। यह जल्दी निर्णय नहीं कर सकती। नीति बहुधा परिवर्तनशील और समझौतों से भरी होती है। यह उन व्यवसायों के लिए ठीक है जो कि उन बने हुए नियमों पर चल सकते हैं। इस प्रकार व्यवसाय संस्था ऐसे कामों के लिए उचित नहीं है जो कि नये हों अथवा जिनमें स्थिति के बदलने से पद्धति तथा उत्पत्ति में निरन्तर परिवर्तन की आवश्यकता होती है या जहां ग्राहक कठिनाई से पाये जाते हैं और या किसी मामूली बहाने से ओझल हो जाते हैं।

इन सब लाभों और हानियों का विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इतनी कमी होते हुए भी यह संगठन बहुत लाभप्रद है। आर्थिक क्षेत्र में इसकी सेवायें अनेक हैं। संयुक्त पूंजी वाले सिद्धान्त की अनुपस्थिति में देश का औद्योगिक विकास तथा प्राकृतिक साधनों का कुशल शोषण सम्भव नहीं हो सकता। यह उत्पत्ति का एक कुशल तथा शक्तिशाली साधन है।

१२. सूत्रधारी कम्पनी (Holding Company)—सूत्रधारी कम्पनी एक विधि है जिसके द्वारा एक कम्पनी दूसरी कम्पनी पर नियंत्रण पाती है। ग्रहण की हुई विधि यह है कि कम्पनी दूसरी कम्पनी के अधिकतम अंशों को खरीद लेती है। जो कम्पनी अंशों को खरीदती है और दूसरी पर नियंत्रण रखती है, उसको सूत्रधारी कंपनी कहते हैं। और वह कंपनी जिसके अंश इस प्रकार खरीदे जाते हैं उसको **सहायक कम्पनी** कहते हैं।

कभी-कभी एक कम्पनी दो या तीन जाने वाली कम्पनियों के अधिकतम अंश को क्रय करने के लिए स्थापित की जाती है। सूत्रधारी कम्पनी अंशों को खरीदती है और उन कम्पनियों पर नियंत्रण रखती है; परन्तु स्वयं कोई व्यापार नहीं करती है। कुछ दशाओं में सूत्रधारी एक स्वयं जाने वाली कम्पनी है जो कि अपना कार्य अपने आप करती है। वह उन एक दो कम्पनियों को खरीद लेना चाहती है जो उससे प्रतियोगिता रखती हैं अथवा उनको रखने से कुछ अन्य लाभों की आशा की जाती है।

सूत्रधारी कम्पनी के लाभ—सूत्रधारी कम्पनी की विधि **संयुक्तीकरण के लाभ** उठाने में बहुत ही लाभदायक पाई गई है। दूसरी कम्पनी के औद्योगिक तथा योग्य मनुष्यों

का लाभ उठाया जाता है, सामग्री तथा पदार्थों के एक साथ क्रय करने के विभिन्न लाभ उठाये जा सकते है। सामूहिक व्यवस्था के कारण प्रबन्ध सम्बन्धी लाभ होते है; एकस्व व पेटन्ट एकत्रित किये जा सकते है। संयुक्त साधनों का प्रयोग दोनों के भले के लिए किया जाता है। जब कुछ कम्पनिय. की अपने को मिटाने की अनिच्छा के कारण प्रन्यास (Trust) बनाना असम्भव प्रतीत होता है, तो सूत्रधारी कम्पनी की विधि बहुत ही सुविधाजनक मालूम पडती है। यह एक प्रन्यास की भांति लाभदायक है। यह मूल्य संघ (Cartel) से भी बढ कर है। मूल्य संघ बनाने वाली भिन्न इकाइयों की ईमानदारी को सुरक्षित रखना एक साधारण कार्य नही है। उनमें सदैव अपवाद पाये जाते है।

सूत्रधारी कम्पनी की हानियां--सूत्रधारी कम्पनी के कुछ दोष भी हैं। नियंत्रण करने वाला समूह अंशों की अधिक संख्या ही रखता है और हिस्सेदारों के अल्प पक्ष का ध्यान रखे बिना मनमानी कर सकता है। १ लाख रुपये की हिस्सा पूंजी में से वे ५०,१०० रुपये की लागत के हिस्से खरीद सकते है और जो चाहें कर सकते है; ४९९०० रुपये के हिस्सेदारों का बलिदान कर दिया जाता है। यह विधि फैलने वाली है; इसके अंग दूर दूर फैल जाते है। और यह अपने अनुयायियों तथा सहायकों की तीखी जंजीर बना लेते है। हिस्सेदारो का रुपया प्रयोग में लाया जाता है। परन्तु वे कम्पनी के कार्यों में कोई जोर नहीं रखते। यह उचित तथा सार्वलौकिक नही है।

जनता के दृष्टिकोण से सूत्रधारी कम्पनी की एक और हानि पाई जाती है। यदि सहायक व्यक्तिगत कंपनी है तो वह संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों के रजिस्ट्रार को स्थिति विवरण देने को बाध्य नही है। वास्तव में उसकी स्थिति का ब्यौरा तैयार किया जायेगा। परन्तु सूत्रधारी कम्पनी उनको गुप्त मान सकती है। वह यह न बता सकेंगे कि सहायक कम्पनी व्यवसाय में कैसी चल रही है। सूत्रधारी कंपनी की दशा सहायक कंपनी की दशा पर निर्भर है। परन्तु सूत्रधारी कम्पनी इसको गुप्त रख सकती है। और इस प्रकार जनता को अपना बही-खाता दिखा कर धोखे मे रख सकती है।

जर्मनी में सूत्रधारी कम्पनियां अधिक है। बैंक कई औद्योगिक कंपनियों में रुपया लगाते है और संचालकों के कार्यालय आपस में बिंध जाते हैं। भारतवर्ष में इसकी न्यूनता है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति इसके बिल्कुल निकट होती है, जिसमें प्रबन्धक अभिकर्ताओं की एक व्यक्तिगत व्यवसाय संस्था, साधारणतः एक कुटुम्बी; अपने निजी बैंक, बीमा कम्पनियाँ, सीमेन्ट, शक्कर तथा कागज के कारखाने वायुमार्ग इत्यादि में चला सकती है। इस पद्धति से विवरण तथा उत्पत्ति में संयुक्तीकरण के लाभ होंगे।

१३. एकाधिकारी संगठन (Monopolistic Organisation)--व्यवसाय संगठन का एक महत्वपूर्ण रूप एकाधिकारी संगठन है। आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र में प्रन्यास (Trusts) मूल्यसंघ (Cartels) गुट (Rings) संघ (Combines) जैसे एकाधिकारी संगठन का बड़ा प्रभाव पड़ता है। एकाधिकार पर हम

एक अलग अध्याय लिखेंगे; यहां हम इसके विषय में केवल संक्षेप में प्रकाश डाल रहे हैं। ये भिन्न भिन्न रूप के होते हैं; कभी-कभी क्षणिक और कभी-कभी अस्थायी होते है। उनके कार्यक्षेत्र एक जिला, देश या समस्त संसार हो सकता है। इनमें कुछ बहुत बड़ी कम्पनियां होती है। एकाधिकार का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि वह प्रतियोगिता को पूर्ण या अपूर्ण रूप से हटाने का प्रयत्न करते है। उनका पूर्ति पर नियंत्रण या तो इस कारण होता है कि उनके पास महत्वपूर्ण पदार्थ है और या इस कारण होता है, क्योंकि बड़े पैमाने की नई कम्पनी स्थापित करना सरल नहीं है। अतएव वे बाजार पर अपनी शर्तें लगाने का और इस प्रकार लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न करते है।

१९१४–१९१८ की लड़ाई के पश्चात् संयबन्दी वैज्ञानिक कहे जाने वाली बड़ी गति का अंश बन कर फैली। जर्मनी तथा जापान जैसे अनेक देशों की सरकारों ने ऐसे संगठन के विकास को प्रोत्साहित किया। स्टैलवरीन (S'ahlverein) जर्मनी की एक विशाल व्यवसाय संस्था छः लोहे की कम्पनियों के संयोग से बनी थी। इसकी ५२ भट्टियां थीं जिनकी कुल शक्ति ९२.५ लाख टन प्रति वर्ष थी। जापान काटन स्पिनर्स में ७४ में से ६० सूत कातने वाली कम्पनियां थीं जो कि व्यवसाय में ९७ प्रतिशत घरों पर नियंत्रण रखती थी जापान की ओजी (Oje) कागज बनाने वाली कम्पनी व्यवसाय पर ९५ प्रतिशत नियंत्रण रखती थी।

संसार-व्यापी मंदी के समय में अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने भी जो कि यथेच्छकार्यता नीति के मानने वाले थे, उद्योगपतियों को मंदी का सामना करने के लिये सहकारी तथा संयुक्त कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। लंकाशायर सूती मंडल ने १९३१ तक १०७ कम्पनियों पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया था।

यह आधुनिक विश्वास है कि यह कोई आवश्यक नही कि ऐसे संघ लोकहित के प्रतिकूल हों। दूसरी ओर वे समुदाय के लिये भलाई उत्पन्न करते है। यदि वे लोकहित से परिपूर्ण हों और अपूर्ण सरकारी संस्थाओं में परिवर्तित किये जायं तो राष्ट्रीय हित के बढ़ने में प्रयोग किये जा सकते है। भारतवर्ष के बड़े उद्योगों के लिए मूल्य संघ या कारटेल स्थापित करने के लिए अनुग्रह किया गया है। यही उद्योग के फिर से संगठन करने का एकमात्र साधन है जिससे कि विदेशी प्रतियोगिता का भली भांति मुकाबिला किया जा सकता है। हमारी सीमेन्ट के उद्योग ने इसी विधि से अपने आप को मिटने से बचाया है।

संयुक्त पूंजी वाले संगठन तथा बड़े पैमाने के उत्पत्ति के लाभों के अतिरिक्त एकाधिकारी संगठन के कुछ अपने स्वयं लाभ हैं जोकि इसलिए होते है कि हानिकारक प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। संयोग तथा समन्वय के बहुत से लाभ होते हैं। बहुत सी प्रतिलिपि समाप्त हो जाती है तथा सारे साधन भली प्रकार से प्रयोग मे लाये जाते है। इनमें से कुछ लाभ जनसमुदाय को जरूर ही मिलते है। एकाधिकारी संगठन साधारण संयुक्त पूंजी वाले संगठन से अवश्य ही अच्छा समझा जाता है। यह दुःख की बात है कि इसने भारतवर्ष

में सफलता नहीं प्राप्त की है।

१४. सहकारी संगठन, उत्पादक–सहकारिता (Co-operative Organisation, Producers' Co-operation)–पूंजीपति-व्यवस्था से पृथक् सहकारी व्यवस्था भी है। श्रमी यह जानते है कि उद्योगपति लाभ का अधिकतम भाग ले जाते है। वे यह जान कर कि बिना उद्योगपति के उद्योग चला सकते है, श्रमिक व्यवसाय का कार्य स्वयं करना निश्चित करते हैं। वे कुछ पूंजी आपस में इकट्ठी करते है तथा शेष उधार लेते है; वे अपना अध्यक्ष तथा व्यवस्थापक स्वयं चुन लेते है तथा कुछ कर्मचारियों की नियुक्ति करते है। सारे व्यय, पूजी पर ब्याज, वेतन तथा मजदूरी का भुगतान करने के पश्चात् वे लाभ का आपस मे वितरण कर लेते है। इस प्रकार वे मजदूरी तथा साथ ही साथ लाभ भी कमाते हैं। वास्तव में यह एक अच्छा विचार है। इस प्रकार का संगठन **उत्पादी सहकारिता** अथवा **उत्पादक सहकारिता** कहा जाता है।

उत्पादक सहकारिता की सीमाये–इस प्रकार के प्रयोग स्थायी रूप से असफल रहे हैं। इसका कारण ढूढना कठिन नहीं है। उद्योगपति के ओझल हो जाने से लाभ भी लुप्त हो जाते है। उद्योगपति व्यर्थ मानवता का प्रतिरूप नही है जैसा कि श्रमिक सोचते है। यह उनके संचालन की शक्ति तथा संगठन की योग्यता है जिससे लाभ होता है। यही एक हानि होने वाले व्यवसाय को लाभदायक बना सकता है। यह उसका फल है जो कि उसको मिलता है। परन्तु श्रमिक उसकी मेहनत का फल देने को तैयार नही होते। अतएव उसको लाभ नही मिलता। उनके प्रबन्धक साधारणत: कम वेतन पाते है। वे इतने कम वेतन पर सर्वश्रेष्ठ मनुष्यो की सेवाओं को नही पा सकते।

चुने हुए अध्यक्ष अपने आधीन व्यक्तियों पर उचित रूप से शासन नही कर पाते। श्रमिक उनको अपने समान मनुष्य समझते है तथा उनके उपदेश को सुनने अथवा उनकी आज्ञा का पालन करने की प्रवृत्ति नही रखते।

हर एक का व्यवसाय किसी का व्यवसाय नही होता, इसलिये इसमें कोई आश्चर्य नही कि उसमें लाभ होते ही नही। अतएव श्रमिक उद्योगपति की यह चुनौती पूरी नहीं कर सके ह कि अकेले वही उद्योगों को सुचारु रूप से सफल बना सकते ह।

१५. उपभोक्ता-सहकारिता (Consumers' Co-operation)—एक दूसरे प्रकार की सहकारिता है जो अधिक सफल हुई है। यह **उपभोक्ता सहकारिता** कहलाती है। इस व्यवस्था में एक स्थान के उपभोक्ता छोटे अंशो में पूंजी एकत्रित करके एक निजी भण्डार खोल लेते है। दूसरे व्यापारी की भांति वे थोक विक्रेताओं से वस्तुएं खरीदते है तथा इन वस्तुओं को साधारण प्रचलित दर पर अपने सदस्यों को बेचते है। लाभ सदस्यों में उनकी क्रय के अनुपात में अथवा हिस्से के अनुपात में जो कि अधिक प्रचलित है, बांटा जाता है। साधारणत: हिस्से बराबर बराबर दिये जाते हैं, अतएव लाभ भी सब में बराबर-बराबर बांटा जाता है।

निर्वाचन की हुई प्रबन्ध समिति बिना वेतन लिये कार्य करती है। अतएव व्यवस्था सार्वलौकिक तथा निःशुल्क होती है। व्यवसाय अत्यन्त साधारण होता है तथा उसके संचालन के लिए अधिक व्यापार-निरीक्षण तथा योग्यता की आवश्यकता नहीं होती। भण्डार में कुछ प्रामाणिक वस्तुएं होती हैं और वह विस्तृत चुनाव करने का अवसर नहीं प्रदान करता। यह उपभोक्ताओं की निजी दूकान होती है। अतएव वे अनुचित माँग नहीं रखते और सहज ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। प्रचार के लिए कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता। बाजार निश्चित होता है।

यह सहकारी भण्डार बहुत सफल हुए हैं और इनमें से कुछ के हजारों सदस्य हैं। अनेक दशाओं में वे केवल उपभोग की वस्तुएं बेचने ही में सन्तुष्टि नहीं पाते, वरन् उन्होंने अपने उत्पादन करने वाले संगठनों में भी वृद्धि की है। परन्तु यह याद रखने योग्य है कि वे ऊपर बताई हुई उत्पादक-सहकारिता की भांति नहीं चलाये जाते जहां कि श्रमिक व्यवस्था तथा लाभ दोनों में भाग लेते हैं। इसकी अपेक्षा वह साधारण पूंजीपतियों की भांति चलाये जाते हैं। और योग्य समितियों के नियंत्रण में कार्य करने वाले सर्वश्रेष्ठ व्यवस्थापक नियुक्त करते हैं।

सहकारी आन्दोलन कृषि तथा उससे सम्बद्ध व्यवसायों के लिए अत्यन्त हितकारक सिद्ध हुआ है। यह सफलतापूर्वक सर्वप्रथम जर्मनी और डेनमार्क में लागू हुआ और अब यह हर देश में फैल गया है। भारतवर्ष में सहकारी विभाग प्रत्येक राज्य (State) में काम कर रहे हैं। अधिकतर यह कृषि साख समितियां हैं परन्तु गैर साख तथा गैर कृषि सम्बन्धी समितियां भी स्थापित हो रही हैं। १९३४ में जब से भारतवर्ष की सरकार ने कुटीर उद्योगों के विकास के लिए ५ लाख रुपये प्रति वर्ष सहायता दी, जुलाहों की समितियां प्रत्येक राज्य में स्थापित हो गई हैं।

१६. सरकारी व्यवसाय (State Enterprise)—हर देश में कुछ सार्वजनिक व्यवसाय केन्द्रीय, प्रान्तीय अथवा नगरपालिका जैसी स्थानीय समितियों द्वारा चलाये जाते हैं। डाक तथा तार की व्यवस्था साधारणतः केन्द्रीय सरकार करती है और जल, गैस, बिजली ट्राम अथवा बस जैसी लोकप्रयोगी सेवाएं नगरपालिकाओं द्वारा व्यवस्थापित होती हैं।

सरकारी व्यवसाय का संगठन उसी भांति होता है जैसा कि निजी व्यवसाय में जिसमें साधारणतया मुख्य व्यवस्थापक अध्यक्ष, कार्य व्यवस्थापक, लेखापाल, कोषाध्यक्ष हर विभाग के अध्यक्ष इत्यादि होते हैं। कार्य साधारणतः उसी भांति होता है जैसा कि संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी में होता है।

परन्तु इसमें एक मुख्य अन्तर है। सारे श्रमिक सरकारी नौकर हैं जिनकी नौकरी स्थायी होती है और जिनको नौकरी से हटाने पर पेन्शन मिलती है। पूंजी राज्य के खजाने से दी जाती है जो कि अंत में करदाता द्वारा आती है। यदि कोई लाभ होता है, तो वह भी

राज्य को जाता है जोकि फिर करदाता को सहायता देता है।

सरकारी व्यवसाय के लाभ तथा हानियां—सरकारी व्यवसाय के कुछ लाभ होते हैं जो व्यवसाय संगठन के अन्य रूपों में नही पाये जाते। सरकार की साख किसी निजी व्यक्ति अथवा कम्पनी से कही ऊंची होती है। अतएव राज्य को पूंजी एकत्रित करने में विशेष सहूलियत होती है। रुपया लगाने वाले सरकारी राज्य सिक्यूरिटियों में रुपया लगाने के लिये सदैव तैयार रहते हैं। इस प्रकार सरकार को जो ब्याज की दर अपने ऋण पर देनी पड़ती है वह निजी कम्पनियों की दर से अधिक अनुकूल होती है।

इसके अतिरिक्त सरकार समस्त प्रकार के बुद्धिमान् पुरुषों को पाने में अच्छी स्थिति में होती है। सरकारी नौकरी सर्वश्रेष्ठ बुद्धि वाले मनुष्यों को आकर्षित करती है। सरकारी नौकरी के लिये कुछ आकर्षण होता है। भारतवर्ष में ऐसा विशेषकर है। इस प्रकार मानवीय दृष्टिकोण से, राज्य उपक्रम अधिक अनुकूल होता है।

सरकारी व्यवसाय साधारणतः एकाधिकार होता है। इसमें एकाधिकार के सभी लाभ होते हैं। बिक्री निश्चित होती है। विज्ञापन पर व्यय अनावश्यक होता है। भारतवर्ष जैसे देश में लोगों को सरकारी उत्पत्ति की हुई वस्तुके गुणों मे अथवा सरकार द्वारा दी हुई सेवाओं में अधिक विश्वास है। सरकारी व्यवसाय कम दाम पर उत्तम सेवा प्रदान करते हैं।

संक्षेप में, राज्य साधन विस्तृत होने के कारण सरकारी व्यवसाय कहीं अच्छे आधार पर होते हैं।

हानियां—परन्तु अर्थशास्त्री साधारणतया इस विचार के है कि सरकारी यन्त्र व्यवसाय चलाने मे निजी व्यवस्था से इतने अच्छे नही है।

इसको सरकारी नौकर की कुलहाड़ी मे सरकारी झूला (Government Swing) कहते हैं। सरकारी प्रबन्धक अपने अफसर की दया पर नही रहता। उसको वेतन में निश्चित वृद्धि प्रति वर्ष मिलती है तथा उसको उसकी ज्येष्ठता के अनुसार पद-वृद्धि मिलेगी। अतएव निजी कम्पनी के व्यवस्थापक की भाति संचालन-शक्ति अथवा अधिक परिश्रम नहीं कर सकता। निजी कम्पनी का प्रबंधक किसी दिन भी निकाला जा सकता है, यदि संचालक यह विश्वास कर लें कि वह अच्छा काम नही कर रहा है।

एक सरकारी नौकर लागत कम करने में अथवा रीतियों में उन्नति करने में कम प्रयत्नशील होता है, क्योंकि उसको इससे स्वयं कुछ लाभ नही होता।

सरकारी नौकर ऊंचे अफसरों का अपमान कर सकता है, यदि उसको ऊपर पहुंचने की कोई अभिलाषा नही है। यदि वह निकृष्टता करने पर तुलता है तो अधिक से अधिक उसका तबादला कर दिया जायेगा या उसकी उन्नति रोक दी जायेगी। परन्तु उसको हटाना इतना सरल नहीं है। वह अपने आप को किसी एक मनुष्य का नौकर नहीं समझता वरन् अवैयक्तिक राज्य का नौकर समझता है, और यही सारा अन्तर है।

एक सरकार द्वारा व्यवस्थापित व्यवसाय में प्रति दिन का कार्य उत्तरदायित्व का

स्थान लेता है। वहां अफसर का डर रहता है। वहां पर उत्तेजित करने वाली देरी होती है। एक कागज बहुत मनुष्यों के पास से गुजरता है और उसमें कोई भी विशेष परिवर्त्तन नहीं करता।

सरकारी उपक्रम में कुछ अन्य दोष भी हैं जैसे जल्दी-जल्दी बदली, पक्षपात, सिफारिश से नौकरी पाना, तथा उन्नति की योग्यता पर निर्भर नही होना।

यदि उसमें हानि होती है तो कोई भी फिक्र नहीं करता। उसमें हिस्सेदारों का कोई सहायक अंग नहीं होता जिसका संचालक सामना करें। कर देने वाला गूगा होता है। वह किसी विशिष्ट काम के लिये कर नही देता। यदि उसमें हानि होती है तो कोई यह नहीं सोचता कि वह उसकी हानि है। उसके प्रतिनिधि व्यवस्थापक सभा में निस्संदेह अधिक शोर मचायेंगे परन्तु सरकार साधारणतः अधिक संख्या रखती है तथा कार्य चलता रहता है।

अतएव यह सुझाया गया है कि केवल स्वरक्षित व्यवसाय जो कि नित्य-कर्म की भांति है, जहां बाजार को प्राप्त करने वाले तथा उनको संभालने का प्रश्न नहीं है, और जो वास्तव में एकाधिकार रखता है, राज्य को दिये जा सकते है। विचार लाभ उठाने का नहीं है परन्तु स्वच्छता तथा सेवा की नियम व्यवस्था प्राप्त करने का है। सरकार उपभोक्ताओं की प्रतिनिधि है और इस प्रकार उनकी सेवा संयुक्त रूप से करती है बजाय इस के कि इन सेवाओं को लाभ झपटने वाले उपक्रमियों के हवाले कर दिया जाय।

तो भी, हमारा अनुमान है कि सरकारी त्रुटियां बढ़ा कर कही गयी है। बड़े व्यवसाय में चाहे वे सरकारी हों, चाहे व्यक्तिगत हों, आचार पर अधिक ध्यान दिया जाता है। उसमें भी वही संचालन-शक्ति की कमी पाई जाती है।

रूस के अनुभव की सफलता ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सरकारी कुशलता केवल कल्पना है। रूस की पंचवर्षीय योजना की सफलता आश्चर्यजनक कही जा सकती है। रूस के हथियारों द्वारा जो विजय प्राप्त हुई है उससे दुनिया डरी हुई है। रूस के रीतों जिसका अर्थ सरकारी उपक्रम है, की समालोचना लोग सोच विचार कर करेंगे।

अब पुरानी कल्पनाओं पर तर्क करना असंभव नही है। सरकारी उपक्रम का क्षेत्र अवश्य ही विस्तृत हो जायगा।

इंग्लैंड में भी, जिसको यथेच्छपूरिता (Laissezfaire) का घर कहा जाता है, लेबर सरकार के बनने से परिवर्त्तन शीघ्रता से हो रहा है। उन्होंने बैंक आफ इंग्लैंड तथा लोहे के उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। परन्तु यह केवल आरम्भ ही था। कनजर्वेटिव सरकार द्वारा लोहे के उद्योग का फिर अराष्ट्रीयकरण किया जा रहा है।

अध्याय १६

एकाधिकार

१. परिचय (Introduction)—हमने विभिन्न प्रकार के व्यवसाय-व्यवस्था के रूपो का अध्ययन किया है, परन्तु व्यवस्था के एक रूप का महत्व वर्तमानकाल में बहुत बढ़ गया है। वह है 'एकाधिकारी संगठन' या केवल 'एकाधिकार'।

२. एकाधिकार क्या है ? (What is a Monopoly ?)—कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी वस्तु की पूर्ति (Supply) की शक्ति, कम या अधिक मात्रा में, किसी एक उत्पादक या उत्पादको के एक समूह के पास आ जाती है। इस प्रकार वे उत्पादक उस वस्तु की कीमत पर प्रत्यक्ष प्रभाव रखने लगते हैं। तब यह कहा जायगा कि उन उत्पादको ने उस वस्तु पर एकाधिकार कर लिया है या उनका एकाधिकार हो गया है। **कीमत पर प्रभाव डालने की योग्यता ही एकाधिकार का सार है।** इसका अर्थ है कि प्रतियोगिता थोड़े अथवा पूर्ण रूप से हट जाती है। इसलिए एकाधिकार प्रतियोगिता का प्रतिरूप माना जाता है। जब कभी प्रतियोगिता थोड़े अथवा पूर्ण रूप में नहीं होती, उस समय हम कहते हैं कि वहां एकाधिकार की स्थिति है।

किन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है कि प्रतियोगिता बिल्कुल ही हटा दी गई हो। जिस प्रकार सम्पूर्ण प्रतियोगिता बहुत कम देखने में आती है, उसी प्रकार पूर्ण एकाधिकार भी बहुत ही कम होता है। देहली में डी० टी० एस० का बस सर्विस (Bus Service) पर एकाधिकार है। पर यह एकाधिकार पूर्ण एकाधिकार नही कहा जा सकता। वहां उसमें तथा सवारी के अन्य साधनो में प्रतियोगिता है। इसलिए व्यावहारिक जीवन में कुछ प्रतियोगिता तो सदैव रहती ही है, चाहे वह अपूर्ण ही हो। इसलिए एकाधिकार को कभी-कभी अपूर्ण प्रतियोगिता भी कहते है।

एकाधिकार अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता उन ट्रेडमार्को द्वारा उत्पन्न होती है, जिनके द्वारा व्यवसायी अपने निजी उत्पादनों को दूसरों के उत्पादनों से भिन्न करने योग्य हो जाते हैं। इस प्रकार वे अपनी वस्तुओं को बाज़ार की दूसरी वस्तुओं की प्रतियोगिता से बचाते हैं। यह यातायात की लागत के फलस्वरूप भी होता है, या यह इस कारण से कि कुछ उपभोक्ता जाने या अनजाने में किसी वस्तु की अधिक कीमत दे देते हैं।

अर्थशास्त्र की भाषा में "एकाधिकार" शब्द से व्यवसाय के विभिन्न प्रकार के संगठन या संघबंदी से तात्पर्य होता है, उदाहरणार्थ ट्रस्ट और कार्टेल (Trust and Cartels)

३. एकाधिकार के रूप (Kinds of Monopolies)—एकाधिकार कभी-कभी प्राकृतिक, कानूनी, सामाजिक और स्वैच्छिक एकाधिकारों में विभाजित किये

जाते हैं। प्राकृतिक एकाधिकार प्राकृतिक न्यूनता के कारण होते है। कानूनी एकाधिकार लिप्यधिकार के कारण होते हैं। सामाजिक एकाधिकार से अभिप्राय गैस, बिजली, पानी के वितरण जैसे जनउपयोगी सेवा कार्यों (Public Utility Service) से है। ये स्वैच्छिक एकाधिकार उत्पादकों में स्वयं किये गये समझौतों के कारण होते हैं और वे संगठन के भिन्न-भिन्न तरीकों का संकेत करते है।

एकाधिकारी समझौते कई प्रकार के होते हैं। उनमें से कुछ ये हैं :—

(अ) **उत्पत्ति की कमी या नियंत्रण**—जब कोई व्यापार संकट में से निकल रहा हो तो व्यवसायी सामूहिक क्रिया से उस संकट का सामना करते है। इस उद्देश्य के लिए वे उत्पत्ति को घटाने का प्रयत्न करते है अथवा उत्पादन को बाज़ार की स्थिति के अनुकूल बनाने की व्यवस्था करते है। "महान मंदी" के काल में भारत की जूट की मिलों में इसी प्रकार के समझौते हुए थे।

(ब) **मूल्य-निर्धारण और विक्रय के दूसरे नियम**—विकट प्रतिस्पर्धा से बचने के लिए प्रतिद्वद्वी उत्पादको द्वारा ली जाने वाली वस्तुओं की कम कीमतें नियत कर दी जाती है, ताकि वे किराये, साख तथा बट्टा जैसी अन्य रियायतें देकर इन समझौतों का उल्लंघन न कर सकें। ऐसे समझौते इन बातों में समानता भी लाते हैं।

(स) **प्रदेशों का विभाजन**—प्रतियोगिता को हटाने की यह एक और रीति है। प्रतिद्वन्द्वी व्यवसायी मंडियो को बांट लेते है। इम्पीरियल तम्बाकू कम्पनी (Imperial Tobacco Company) और अमेरिकन तम्बाकू ट्रस्ट (American Tobacco Trust) में एक ऐसा ही समझौता था।

४. एकाधिकार शक्ति के आधार (Foundations of Monopoly Power)—बेनहम[1] का कथन है कि "उत्पत्ति को सीमित करना ही एकाधिकार की सफलता की कुंजी है।" उत्पत्ति को सीमाबद्ध करने से एकाधिकारी अपनी वस्तु की कीमत के स्तर को ऊंचा रख सकता है। पूर्ण प्रतियोगिता में उत्पत्ति इतनी होती है कि कीमत सीमान्त लागत (Marginal Cost) के बराबर हो जाय। परन्तु एकाधिकार मे उत्पत्ति इतनी सीमित हो जाती है कि वस्तु की कीमत सीमान्त लागत (Marginal Cost) से अधिक हो जाती है। इसलिए यदि एकाधिकारी पूर्त्ति पर नियंत्रण नही कर सकेगा तो उसकी एकाधिकारी शक्ति नष्ट हो जाएगी।

चूंकि किसी एकाधिकृत उद्योग में लगे हुए साधन (Factors) अधिक लाभ देते हैं, फलस्वरूप उन साधनों की प्रवृत्ति अन्य उद्योगों से हटकर एकाधिकृत उद्योग में आ जाने की होगी। ऐसा होने पर पूर्त्ति बढ़ जायगी और वस्तु की कीमत घट जायगी। तो इस दशा में उसकी एकाधिकारी शक्ति का अन्त हो जायगा। इसलिए उसे अवश्य ही ऐसे साधनों के प्रवाह को रोकना होगा। संक्षेप में, उसे प्रत्येक दशा में व्यापार में नव-आगन्तुकों के

[1] Benham—Economics 1940. P. 218

प्रवेश को सीमित करना होगा । ऐसा कर सकने की योग्यता में ही उसकी एकाधिकार शक्ति का भेद अन्तर्हित है। "वे अवस्थाएं, जो नव-आगन्तुकों को आ जाने से रोकती हैं, या उन्हें निरुत्साह करती हैं, और इस प्रकार उत्पत्ति को सीमित करती हैं, वह नींव है कि जिस पर एकाधिकार शक्ति स्थिर होती है ?"[१]

अब वे कौन-सी अवस्थाएं है जिनमें एकाधिकारी नव-आगन्तुकों को रोकने में सफल होता है और अपने एकाधिकार को स्थिर बनाये रहता है। वे तीन मुख्य अवस्थाएं है :—

(१) **उत्पादन के लिए किसी आवश्यक वस्तु को अपने अधिकार में रखना**—यदि एकाधिकारी के पूर्ण अधिकार में कोई वस्तु है जो किसी जिन्स के उत्पादन के लिए अनिवार्य है, तो उस दिशा मे कोई भी नया व्यवसायी उस क्षेत्र में प्रवेश नही कर सकता । संभवतः यह "कोई वस्तु", "कोई रीति" हो, जो केवल एकाधिकारी को ही मालूम हो।

(२) **मंहगी अथवा विशेष प्रकार की मशीन**—एकाधिकार शक्ति का आधार इस तथ्य में भी अन्तर्हित है कि उद्योग में प्रवेश करने के लिए अधिक महगी अथवा विशेष प्रकार की मशीन या साधनों की आवश्यकता होती है । उन लोगों की संख्या बहुत कम है जो लोहे या इस्पात के कारखाने खोलने में बहुत बड़ी पूजी लगा सकते है। इसके लिए कोई कानूनी प्रतिबन्ध तो है नही, किन्तु आर्थिक कठिनाई ही एक प्रभावशाली प्रतिबन्ध है। इस प्रकार के उद्योगो के व्यवसायियों की संख्या कम है, और इसलिए उनका पारस्परिक समझौता करना तथा अपने एकाधिकार को स्थिर रखना आसान है।

(३) **प्रतिलिप्यधिकार** (Patent Rights)—किसी वस्तु के उत्पादन के लिए कानूनी अधिकार का होना या प्रतिलिप्यधिकार होना, जैसा कि प्रायः इसे कहा जाता एकाधिकार शक्ति का एक अन्य साधन है। इन दिनो समस्त आधुनिक राज्य अपने नागरिकों की अन्वेषण-शक्ति को उत्साहित करने का प्रयत्न करते है। यदि कोई मनुष्य किसी यन्त्र का आविष्कार करता है, या वह किसी वस्तु के उत्पादन की कोई नई रीति निकालता है, तो वह उसका कानूनी प्रतिलिप्यधिकार प्राप्त कर सकता है। तब उसे उस वस्तु के उत्पादन करने का संपूर्ण अधिकार हो जाता है। चाहे भले ही वह वस्तु नई न हो तो भी व्यवसायी उसी प्रकार की अन्य वस्तुओ से अन्तर करने के लिए उसपर ट्रेडमार्क लगा सकता है। कानून दूसरों को वह ट्रेडमार्क इस्तेमाल करने की आज्ञा नही देगा। इस प्रकार एकाधिकार शक्ति को सुरक्षित रखा जाता है ।

किंतु केवल उसी देश के नागरिको को प्रतिलिपि-अधिकारो का उल्लंघन करने की मनाही होती है । विदेशों के लोग चाहे तो उनका उत्पादन कर सकते है। जो भी हो, वह देश अपने नागरिकों को ऐसी लूट से बचाने के लिये, या तो ऐसी संपूर्ण वस्तुओं के प्रवेश पर रोक लगा सकता है या उनपर अत्यधिक आयात कर (Import Duty) लगा कर उनकी रक्षा कर सकता है। ये सुरक्षा-साधन एकाधिकार को दृढ बनाते हैं।

---

[१] Ibid P. 218

तटकर (Tarift) को ट्रस्ट (Trusts) का जन्मदाता कहते है । संरक्षण-कर (Protective Duties) एकाधिकार को बनाने और उन्हे स्थिर रखने में सुविधा प्रदान करते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि किसी वस्तु के उत्पादन अथवा किसी नीति या नियम का एकाकी कानूनी अधिकार होना एकाधिकार शक्ति का आधार है।

५. गुटबन्दी के भेद (Types of Combinations):—व्यापार संगठन के अनेक प्रकार के प्रख्यात भेद है। समतल संगठन (Horizontal Combination) उस समय होता है जब कि मिलने वाले कारोबार एक ही तरह के उत्पादन कार्य में लगे हुए है। खडा सगठन (Vertical Combination) उस दशा में होता है जब कि उत्पादन की भिन्न अवस्थाओं को मिश्रित किया जाय जैसे कि कताई और बुनाई। ट्रस्ट (Trust) और कारटेल (Cartels) संगठन के दो प्रख्यात भेद हैं।

ट्रस्ट (Trust)— जब कई कंपनियां आपस में मिलकर पूर्णतया एक नई कम्पनी की रचना करती हैं, तो इसको ट्रस्ट कहते है। उन मिलने वाली कंपनियों का कोई अलग अस्तित्व नही रहता, बल्कि पूर्णतया एक नई कंपनी बन जाती है। इसे एक मिश्रण भी कहा जा सकता है। सन् १९३६ मे भारत की तात्कालिक सब सीमेंट कम्पनियों ने मिल कर एक नई कम्पनी बनाई जिसका नाम ए. सी. सी. (एसोशिएटेड सीमेंट कम्पनीज़ आफ इंडिया) (Associated Cement Companies of India) रक्खा गया।

मूल्य-संघ या कारटेल (Cartels)—परन्तु मिलने वाले कारोबार अपना पृथक् अस्तित्व नही छोडना चाहते, तब वे एक मूल्य-संघ (Cartel) बनाते हैं। ये कारोबार अलग-अलग चलते है और उनका प्रबंध भी अलग-अलग ही होता है। परन्तु वे सब अपनी उत्पादित वस्तुओं को एक साझी विक्रय-संस्था को दे देते है। सन् १९३६ में भारतवर्ष में चीनी के कारखानों ने मिलकर एक अखिल भारतीय खांड सिंडीकेट (All-India Sugar Syndicate) स्थापित किया और सबने अपनी उत्पादित की हुई चीनी के बेचने का कार्य उसको सौंप दिया। 'मूल्यसंघ' शब्द का अभिप्राय ऐसे ही प्रबंधों से है।

ट्रस्ट और कारटेल में अन्तर जानना आवश्यक है। एक ट्रस्ट की अवस्था में जहां विभिन्न कारोबारों की जगह एक नया कारोबार ले लेता है, वहां कारटेल में सब कारोबार अपना अलग-अलग अस्तित्व स्थापित रखते है। ट्रस्ट में उत्पादन और वितरण दोनों एक ही केन्द्रित अधिकार में रहते है, जब कि मूल्य-संघ में केवल वितरण ही एक केन्द्रित अधिकार में रहता है; और उत्पादन कार्य भिन्न-भिन्न फर्मों द्वारा होता है। ट्रस्ट एक स्थायी संस्था है, जिसमें सम्मिलित कारोबार अपने

अस्तित्व को पूर्णतया मिटा देते हैं; परन्तु दूसरी ओर कारटेल या मूल्यसंघ प्रायः अल्प-जीवी होता है। मूल्य-संघ में सम्मिलित कारोबार अपने-अपने हित की ओर निरंतर ध्यान देते रहते हैं और जब कभी उन्हें जंचता है तो सम्मिलित समूह से अलग हो जाते हैं।

कुछ बातों में मूल्यसंघ कारटेल से अच्छा समझा जाता है। मूल्यसंघ अधिक लोचदार (Flexible) है। वह उत्पादकों को अपने-अपने कारबारों को कुशलता-पूर्वक चलाने की स्वतन्त्रता देता है। मूल्यसंघ में अत्यधिक पूजी लगाने का कम भय रहता है, जब कि कारटेल में इस बात का डर सदैव बना रहता है।

६. ट्रस्ट और कारटेल के गुण और अवगुण--ट्रस्ट तथा मूल्यसंघ बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की समस्त मितव्ययताओं को प्राप्त कर सकते हैं, अर्थात् विशिष्ट तथा योग्य प्रबंध, श्रम तथा मशीनों की विशिष्टता, क्रय तथा विक्रय, लगान तथा प्रचार आदि द्वारा वे आधुनिक तथा मूल्यवान् मशीनो का प्रयोग कर सकते हैं तथा अनुसंधान और प्रयोगों पर बड़ी रकमें व्यय कर सकते हैं।

वे वस्तु की नियमित पूर्ति निश्चित कर सकते हैं और बुरे समय का दृढ विश्वास से सामना कर सकते हैं।

वे सब सदस्यों के अनुसंधानों का प्रयोग कर सकते हैं।

वे सब सदस्यो के अविष्कारों और ट्रेडमार्कों का उपयोग कर सकते हैं। वे संयुक्त पूजी कारोबार होते हैं। इसलिये संयुक्त-पूजी उपक्रम के सब लाभ उन्हे प्राप्त होते हैं, जैसे कि जनतन्त्री प्रबंध बृहत् पूजी, सीमित उतरदायित्व और हिस्सों को हस्तांतरित करने की सुविधा आदि।

परन्तु इन दो लाभों के अतिरिक्त, कुछ और भी लाभ हैं, जो उनको एकाधिकार होने के कारण मिलते हैं। इस प्रकार वे क्रय और विक्रय मे विशेष मितव्ययता कर सकते हैं। एकाधिकार की स्थिति होने के कारण वे सामान्यतः ऊंची कीमतें ले पाते हैं, और अधिक तटकर (Customs) देने से वे अपने क्रय में विशेष सुविधाएं प्राप्त कर लेते हैं।

उत्पादक इकाइयो के रूप में वे उच्च-स्तर को भी प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि सामान्यतः उनके अधिकार में बढ़िया कारीगर होते हैं और अनुसंधान पर भी वे अधिक-से अधिक मात्रा में धन लगा सकते हैं।

वितरण में वे बहुत ही बचत के ढंग से सब प्रबंध कर सकते हैं। उन्हें अपनी वस्तुओं के प्रचार पर अधिक धन व्यय करने की आवश्यकता नही पड़ती।

बुराइयां—इन्ही लाभों की प्राप्ति के लिये संघ बनाये जाते हैं। परन्तु ट्रस्ट और मूल्यसंघ के कार्यों से हानियां भी होती हैं। एकाधिकार शक्ति के दुरुपयोग से ही उसकी अनेक बुराइया पैदा होती हैं। एकाधिकारी अपने प्रतिद्वन्द्वियों को निर्दयतापूर्वक

दबा देते है और समाज को उन सब लाभों से वंचित रखते है जो वे (प्रतिद्वंद्वी) उसके हित के लिये करते ।

वे अपने ग्राहकों पर अनुचित शर्तें लगा देते है और उपभोक्ताओं से अनुचित लाभ उठाते हैं ।

प्रायः वे अपने विभिन्न क्षेत्रों के ग्राहकों से विभिन्न प्रकार का व्यवहार करते है; किसी को अधिक सुविधा देते हैं, और किसी को कम ।

वे विधान सभा के सदस्यों को घूस देते हैं, जिससे व्यापारिक नैतिकता का पतन होता है ।

नये प्रतिद्वंद्वियों को क्षेत्र में आने से रोक कर, वे अधिक उन्नति की राह में बाधा बन जाते हैं; साथ ही अधिक पूंजी लगाने का भी भय रहता है ।

७. संगठन के कुछ अन्य रूप (Some other forms of Combinations)—ट्रस्ट और मूल्यसंघ के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के संगठन या संघ भी होते है ।

(अ) **प्रबंधक कम्पनी** (Holding Company)–हम यह पहले बतला चुके है कि एक कम्पनी किस प्रकार दूसरी कम्पनी पर नियन्त्रण कर सकती है (अध्याय १५, धारा १२)। कहा जाता है कि सन् १९११ में न्यू जर्सी की स्टैण्डर्ड आयल कम्पनी लगभग ४० दूसरी कम्पनियो पर नियन्त्रण करती थी । पंजाब नेशनल बैंक लाहौर की नेशनल बैंक पर नियंत्रण रखती है । डालमिया कम्पनी ने भारत बीमा कम्पनी पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है ।

(ब) **समूहीकरण** (Pool)—इस शब्द का अभिप्राय उन समझौतो से है जो मंडियों को बांटने, लाभों में भागीदार होने और उत्पत्ति को नियत करने के लिये किए जाते है। बर्फ के कारखाने में ये अधिक प्रचलित है। इनकी लोकप्रियता इस लिए है कि इनके नियम बहुत लोचदार होते है और वे सरलता से बनाये जा सकते हैं। वे कीमत और उत्पत्ति पर बहुत अच्छा प्रभाव डालते है । परन्तु उनकी सबसे बड़ी हानि यह है कि वे अस्थायी होते हैं और प्रबंधों में स्थिरता नही होती । उनमें प्रायः झगड़े होते रहते है। उनका अन्त उतनी ही शीघ्र हो जाता है जितनी शीघ्र वे बनते है ।

(स) **गुट्ट** (Ring) :— जहाजी कम्पनियों के सम्मिलन को गुट्ट (Ring) या काफ्रेंस (Conference) कहते है । जहाजी कम्पनियां अपनी प्रतिद्वंद्वी कम्पनियों से अवध्यात्मक छूट प्रणाली (Deferred Rebate System) जैसी रीतियों के द्वारा अच्छी दिशा प्राप्त कर लेती हैं ।

(द) **बाजार को मुट्ठी में करना** (Corner):—किसी वस्तु की पूर्ति को प्रभावित करने के प्रयत्न को "मुट्ठी में करना" कहते हैं । यदि एक मारवाड़ी सेठ

या उनका एक समूह भारतीय कपास की एक वर्ष की संपूर्ण पैदावार को खरीदने का प्रयत्न करता है ताकि बाद के काल में वह उसे ऊंचे दामों पर बेच सके, तो उसके इस प्रयत्न को "मुट्ठी में करना" कहेंगे। आजकल आदान-प्रदान और आने-जाने के उत्तम साधनों के कारण इस प्रकार के प्रयत्न प्रायः असफल ही रहते हैं।

८. अन्तर-युक्त या भेदपूर्ण एकाधिकार (Discriminating Monopoly)—कोई भी एकाधिकारी समान कीमत नहीं लेता। दो स्थानों के बीच यात्रा करने वालों से रेलें एक ही किराया नहीं लेती और न वे हर प्रकार के माल का एक ही किराया प्रति मन के हिसाब से लेती हैं। एक समान तोल होने पर भी एक रेशम के व्यापारी को एक कोयले के व्यापारी से अधिक किराया देना पड़ता है। एक बिजली की कम्पनी भिन्न-भिन्न श्रेणी के उपभोक्ताओं से भिन्न-भिन्न दर से वसूल करती है। यह सब अन्तर-युक्त एकाधिकार (Discriminating Monopoly) के उदाहरण हैं। कुछ विशेष प्रकार के अन्तर नीचे दिए जाते हैं।

(अ) **व्यक्तियों में अन्तर**:—साधारणत. दूकानदार एक अच्छे कपड़े पहने हुए ग्राहक से अधिक कीमत लेते हैं।

(ब) **श्रेणियों में अन्तर** (Discrimination between Classes):—एक चिकित्सक धनवान् रोगियो से अधिक फीस ले सकता है। साधारणतः चिकित्सक विद्यार्थियों से कम फीस लेते हैं। रेलवे कम्पनियां भी अपने यात्रियों को कई श्रेणियों में विभाजित कर देती है और उनसे भिन्न-भिन्न किराया लेती हैं।

(स) **उद्देश्यों में अन्तर** (Discrimination between Purposes):—एक बिजली कम्पनी भिन्न कार्यों के लिये बिजली की कीमत भिन्न-भिन्न दर से वसूल करती है। वह औद्योगिक उपभोक्ताओ की अपेक्षा घरेलू उपभोक्ताओं से अधिक वसूल करती है।

(द) **स्थानों में अन्तर** (Discrimination between Places):—एकाधिकारी कभी-कभी भिन्न-भिन्न स्थानों मे भिन्न-भिन्न कीमत लेता है। कभी-कभी विदेश के बाजार में अपने देश के बाजार से कम कीमत ली जाती है। इसको राशिपातन (Dumping) कहते है। किंतु यदि इस अन्तर को प्रभावशाली बनाना हो, तो यह सभव न होना चाहिये कि सस्ते बाजार की वस्तुएं मंहगे बाजार मे भेजी जा सकें। उदाहरणार्थ—जिन वस्तुओं की विदेश में कीमत गिराई गई हो, उन्हे अपने देश के बाजार में फिर नही बेचना चाहिये।

इस प्रकार कीमतों मे भेद-भाव करने से एकाधिकारी अपने लाभ की अधिकतम वृद्धि करने योग्य हो जाता है। उसका प्रत्येक उद्देश्य और प्रत्येक श्रेणी उसके लिये एक मंडी होती है, और वह सबसे अधिक-से-अधिक कीमत प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यदि एक निश्चित कीमत सबसे ली जाए तो लाभ सब मिलाकर कम होगा,

क्योंकि कुछ लोग जितनी कीमत वे दे सकते हैं या जितना देना चाहते हैं, उससे कम कीमत ही देंगे ।

विभेद दो अवस्थाओं में अत्यन्त सफल एवं लाभप्रद सिद्ध होता है ।

(अ) एक वस्तु की इकाई जो एक बाजार में बेची जाती है, दूसरे में न भेजी जा सके । यह दशा तभी लागू होती है जब कि ग्राहक से सीधा विनिमय संबंध स्थापित किया जाय—जिस प्रकार कि डाक्टर, वकील तथा अध्यापकों का सीधा संबंध रहता है । वे किसी भी वर्ग से अपनी सेवाओं का इच्छानुसार मूल्य प्राप्त कर सकते है और कोई भी वर्ग मध्यस्थ बन कर उनके कार्य में विघ्न नही उपस्थित कर सकता । यही दशा तब लागू होती है जब कि वस्तुएं एकाधिकारी को सौप दी जाती है, जैसा कि रेलों के द्वारा यातायात होता है । इस प्रकार के हस्तांतरण को यातायात कर तथा तटकरों अथवा ठेको से अत्यन्त ठेस लगती है जिसके कारण एक वस्तु का पुनः विक्रय असंभव हो जाता है ।

(ब) मांग की एक इकाई एक बाजार से दूसरे बाजार मे परिवर्तित नही होनी चाहिये । ऐसी परिस्थिति धन के आधार पर बाजार से विभाजित हो जाने के कारण उपस्थित होती है । एक धनवान् चिकित्सक की सुविधाए प्राप्त करने के लोभ मे निर्धन नही बन जाता । इसी प्रकार एक रेशम का व्यापारी कोयले पर यातायात दर की कमी के कारण कोयले का व्यापारी नही बन जाता, यद्यपि अपवादरूपेण बाजार में धोखे और चोरी से भी काम लिया जाता है । किंतु उसका वास्तविक रूप मे कोई महत्व नही । उन दशाओं जहां कि बाजार का अन्तर एक ही वर्ग का होने के नाते स्पष्ट होता है और जिसके परिवर्तन में कोई धन की विशेष हानि नही होती, तभी एक बाजार की मांग दूसरे बाजार मे आसानी से पहुंच जाती है ।

उपर्युक्त दोनो दशाओ के होने पर अर्थात् जब कि न तो वस्तु की इकाई और न मांग की इकाई ही एक बाजार से दूसरे में पहुंच सकती है, तब ग्राहक तथा व्यक्तिगत क्रय-कर्त्ता तथा एकाधिकारी व्यापारी के बीच मे दोतरफा एकाधिकार का संबध स्थापित हो जाता है । उनकी शर्तें मोल तोल पर आधारित होंगी और अनिश्चित रहेगी । एकाधिकारी को साधारणतः क्रय मूल्य प्राप्त हो जाता है बशर्ते कि वह ग्राहक को अथवा उपभोक्ता को कुछ छूट देता रहे ।

प्रो० पीगू के अनुसार विभेद-शक्ति की तीन अवस्थाएं होती है :—

विभेद की प्रथम दशा में मांग की इकाई के अनुसार ही प्रत्येक इकाई का मूल्य हो जिसे ग्राहक दे सके, जिससे उपभोक्ता को छूट देने का अवसर ही न आए ।

दूसरी श्रेणी के विभेद वह हैं जब कि एकाधिकारी (न) विभिन्न मूल्य लेता है, इकाई का मूल्य (स) लेता है जब कि मांग की कीमत स से अधिक है और इकाई का मूल्य (य) लेता है जब कि मांग का मूल्य स से कम तथा य से अधिक रहता है । फलतः कुछ

छूट उपभोक्ता के लिये रह जाती है।

तीसरी श्रेणी के विभेद में ग्राहक विभिन्न रहेंगे। उनके वर्ग भिन्न-भिन्न हो जायेंगे और प्रत्येक से भिन्न-भिन्न एकाधिकरण मूल्य लिया जायगा। साधारणतः हम अपने सामान्य जीवन में तीसरी श्रेणी का विभेद ही पाते हैं।

९. राशिपतन या कीमत गिराना (Dumping)—एकाधिकारी कभी-कभी वस्तुओं की कीमतें गिराते हैं। कीमत गिराने से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु को विदेश के बाजार में अपने देश के बाजार की कीमत से कम में बेचने से है। यह बात आसानी से समझी जा सकती है। इस दशा में उन दो कीमतों का अन्तर उस वस्तु के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के किराये से अधिक न होना चाहिये। वरना वह वस्तु अपने देश के बाजार में फिर आ आकर बिकेगी। ऐसी दशा में उत्पादक अपनी विदेश की हानि को कुछ सीमा तक अपने देश के बाजार में अधिक कीमत लेकर पूरा करते हैं।

"यदि सीमान्त मूल्य बढ रहे हों, तो विदेशी बाजार में कीमतें गिराने की संभावना अपने देश की कीमतो में वृद्धि करेगी; यदि वे गिर रहे हैं तो उन्हें गिराएगी, और यदि वे स्थिर हो, तो उन्हें ज्यों का त्यों रहने देगी।" —बेनहम

वस्तुओं की कीमतो को विदेशी बाजार में गिराते समय उत्पादकों के सामने चार मुख्य उद्देश्य होते हैं:— (अ) विदेशों में नव-उदित उद्योगो की हत्या करके विदेशी बाजार को अपने हाथ मे कर लेना, या उसको बनाये रखना। (ब) किसी जिन्स से अस्थायी आधिक्य (Surplus) का निबटारा करना। (स) अपने देश के उद्योग को फैलाना और परिवर्द्धित लाभों के नियम द्वारा हित-साधन करना और (द) नए व्यापारिक संबंध स्थापित करना।

कीमतें गिराना आमतौर पर अस्थायी होता है। वह किसी भी विदेशी बाजार को कोई स्थायी लाभ नहीं पहुंचा सकता। इसके विपरीत इसका परिणाम एक निश्चित तथा स्थायी हानि होती है। अतएव, सब देश कीमतें गिराने को रोकने के नियम लागू करते हैं।

१०. संघ के लिए अनुकूल बातें (Factors Favourable to Combination)—अनेक बातें ऐसी है, जो बड़े-बड़े व्यावसायिक संघ स्थापित करने में सचेष्ट होती हैं। कोई भी वस्तु, जो सहकारिता की उन्नति करती है, या अपने हित के लिये किसी कार्य को करने पर मजबूर करती है, वह संघ स्थापना की ओर ले जाएगी। ऐसे कुछ कारण नीचे दिये जाते हैं।

(अ) किन्हीं आवश्यक कच्च मालों की न्यूनता अथवा नियन्त्रण संघ की स्थापना का कारण बनता है।

(ब) तटकर लगाने से विदेशी प्रतियोगिता या तो दूर हो जाती है या शिथिल

हो जाती है। इसलिये तटकर को ट्रस्ट का जन्मदाता कहा जाता है। विदेशी प्रतियोगिता से मुक्त होकर व्यवसायी देश में से प्रतियोगिता को दूर करने के लिये संगठित होते हैं, ताकि उन्हें अधिक-से-अधिक लाभ मिल सके।

(स) जब उत्पादकों की संख्या बहुत कम होती है और उद्योग किसी विशेष स्थान में सीमित होता है, तो उस समय संघ बनना सरल होता है। यदि राज्य नव-आगन्तुकों पर प्रतिबंध लगा देता है, या उस व्यवसाय को आरम्भ करने के लिये अत्यधिक पूंजी की आवश्यकता होती है तो उत्पादकों की संख्या कम हो जायगी।

(द) प्रामाणिक वस्तुएँ (Standardised Products)—यदि उत्पन्न की हुई वस्तुएं एक ही प्रकार की है तो उसके एक उत्पादक और दूसरे उत्पादकों में अन्तर नही होगा। इसमें संघ सरलता से स्थापित हो जाता है।

(इ) किसी देश की परम्परा भी संयुक्त कार्य के लिये अनुकूल होने पर संघ निर्माण में सहायक बनती है।

११. संघ के लिए प्रतिकूल अवस्थाएं—कुछ ऐसी भी अवस्थाएं हैं, जो संघ के निर्माण में रुकावट पैदा करती है। यदि नव-आगन्तुकों के लिये विशेष कठिनाइयां न हों, तो उस दशा में संघ अथवा एकाधिकार की संभावना बहुत कम रह जाती है। यदि उत्पादक इधर-उधर फैले हुए है और प्रत्येक उत्पादक थोड़ा-थोड़ा माल बाज़ार में भेजता है, तो उस दशा में भी संघ का बनना कठिन होगा। यदि किसी वस्तु के उत्पादन में उसके गुण का विशेष ध्यान रखना होता है और उसमें व्यक्तिगत ध्यान देना आवश्यक होता है, तो उस समय भी किसी बड़े संघ के बनने की संभावना कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त जिस समय कुछ उत्पादक पहले से ही किसी एकाधिकार की अवस्था में होते हैं, तब भी उनके लिये संघ स्थापित करने का आकर्षण कम होता है।

१२. संघ को आतंकित करने वाली शक्तियां—एक बार के बने संघ को हमेशा ही बनाये रहना आसान नही होता। दो प्रकार की ऐसी शक्तियां हैं जो उसको निरन्तर नष्ट करने का प्रयत्न करती रहती है। ये शक्तियां भीतर और बाहर से अपना कार्य करती रहती हैं।

संघ में भाग लेने वाली कुछ ऐसी फर्में होती हैं जो यह अनुभव करती हैं कि समझौता उनकी शक्ति पर अधिक दबाव डाल रहा है। उन्हें पता चलता है कि संघ उनके हित में कार्य नही कर रहा है। हो सकता है कि संघ में सम्मिलित होने वाली फर्मों में से कुछ ने टैकनीकल, शिल्प या यन्त्र संबंधी उन्नति कर ली है, और वे यह समझते हों कि वे अपना व्यवसाय स्वयं देखने में समर्थ हैं। यदि समझौते की रुकावट न होती तो वह बाजार को अधीन कर लेने की आशा करते। संभवतः उन्हें अपनी सामर्थ्य से कम काम करना होता है और उन्हें पता होता है कि जिस शक्ति का

उपयोग नहीं हो पा रहा है, वह अत्यधिक हानि है। संभवतः अंश (Quota) नियत करना अन्यायपूर्ण समझा जाता है। कभी-कभी बुरे समय का सामना करने के लिये भी संघ प्रयोग में लाया जाता है और जब समय में परिवर्तन हो जाता है तो संघ की भी आवश्यकता नही रहती। योग्य फर्में अनुभव करने लगती हैं कि वह अयोग्य फर्मों को जीवित रखने के लिये स्वार्थ त्याग कर रही हैं। इस प्रकार व्यापार और उद्योग में परिवर्तन होते रहने से संघ में सम्मिलित सब फर्मों में भक्ति (Loyalty) स्थापित रखना अति कठिन है और कभी-कभी असंभव भी हो जाता है। इन्ही कारणों से निरंतर परित्याग हो रहा है।

किंतु संघ को छिन्न-भिन्न करने वाली केवल यही शक्तियां नही हैं। कुछ ऐसी शक्तियां भी हैं जो बाहर से आक्रमण करती हैं। कभी-कभी नई फर्मों का दबाव इतना बढ़ जाता है कि उनके बोझे से संघ नष्ट हो जाता है। नई फर्मों के लिये यह आवश्यक नही होता कि वे कम समय काम करें, जैसा कि पुरानी फर्मों की कीमतें ऊंची करने के लिये करना पड़ता है। संघ द्वारा रक्षित ऊंची कीमतों से तो वे लाभ उठाती हैं, किन्तु स्वतः पूर्ण सामर्थ्य से काम करती है। इस प्रकार बढ़े हुए उत्पादन से बाजार सस्ता होने लगता है। इससे बचने के लिये संघ को उत्पादन कम करना पड़ता है। इस प्रकार बाहर वाले अथवा नई फर्में लाभ उठाती हैं और संघ हानि सहता है। जब यह बाहरी दबाव अत्यधिक हो जाता है तो संघ को समाप्त करना पड़ता है, और संघ के सब सदस्यों को काम करने की स्वतन्त्रता दे दी जाती है। सन् १९३० के लगभग भारतीय जूट मिल एसोसिएशन (Indian Jute Mills Association) के सदस्यों को ऐसी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, जब कि उनमें अस्थायी समझौता हुआ था। उन्हें अपनी करघा-शक्ति के कुछ प्रतिशत अंश को बन्द करना पड़ा था। बहुत-सी नई फर्में शुरू हो गई थीं और समझौता अधिकार से बाहर हो गया था। जूट मिल्स एसोसिएशन (Jute Mills Association) को अपने सदस्यों को कार्य-स्वतन्त्रता के लिये मुक्त करना पड़ा और समझौता समाप्त हो गया।

इस प्रकार भीतर और बाहर की शक्तियों से आतंकित संघ अधिक समय तक जीवित नही रह सकता।

१३. एकाधिकार की बुराइयां —एकाधिकार उपभोक्ताओं पर और वस्तुओं के गुण तथा परिमाण पर प्रभाव डालता है, और उसके साथ ही उत्पत्ति के साधनों के उपयोग और पारिश्रमिक को भी प्रभावित करता है।

(१) उत्पत्ति के साधनों का पारिश्रमिक कम हो जाता है क्योंकि एकाधिकार की अवस्था में उन साधनों की मांग प्रतिद्वंद्वी फर्मों के मुकाबले में कम हो जाती है।

(२) संघ में हर फर्म के लिये साधनों का अंश (Quota) नियत कर

दिया जाता है, ताकि वह अपने सामर्थ्य से कम काम करे। इस प्रकार उत्पादन की कुछ शक्ति बेकार रह जाती है।

(३) चूकि अंशों में समयांतर संशोधन होता रहता है, इसलिये हर फर्म यह प्रयत्न करती है कि उसे आगामी संशोधन के अवसर पर अधिक भाग मिले। इस उद्देश्य के लिये समझौता चालू रहने के काल में वह चुपचाप अतिरिक्त साधनों को जुटा लेते हैं। इन सबका फल यह होता है कि उद्योग की उत्पादन शक्ति फालतू बढ़ जाती है।

(४) इस अंश रीति (Quota System) का एक फल यह भी होता है कि उत्पादन कार्य कम कार्य-कुशल फर्मों में भी होने लगता है। कमजोर फर्मों को जीवित रखने के लिये योग्य फर्मों को अपनी सामर्थ्य से कम उत्पादन करना पड़ता है। ये बातें स्पष्टतः उपभोक्ताओं के हितों के लिये हानिकारक हैं।

(५) एकाधिकार अवस्था में उत्पत्ति के साधन उपभोक्ताओं की इच्छानुसार वितरित नही किये जाते, बल्कि एकाधिकारी के निजी निर्णय के आधार पर होते हैं। इसलिये एकाधिकारी उपभोक्ता की संपूर्ण सत्ता को सीमित करता है और उत्पत्ति के साधनों को भी अधिक से अधिक पारिश्रमिक या लाभ लेने से रोकता है।

(६) एकाधिकारी नयी पूजी और नये साहस के मार्ग में बाधक होता है और उद्योग में उनके प्रवेश को रोकता है। नये रक्त का समावेश संभवतः समाज के लिये बहुत लाभदायक होता, किन्तु एकाधिकारी समाज को इस लाभ से वंचित कर देता है।

(७) एकाधिकारी टैकनीकल उन्नति को भी समय के पीछे डाल देता है। वह अपने ही अधिक-से-अधिक लाभ की चिन्ता करता है। कभी-कभी उसको यह उचित नही मालूम होता है कि वह पुरानी मशीने बदल कर नई मशीनें लगाये। जब तक कि वह काम देंगी, वह पुरानी ही मशीनों से काम लेगा। उसे प्रतिद्वंद्विता का डर नहीं रहता, जिसके फलस्वरूप वह नवीन आविष्कारों और रीतियों की सहायता लेकर उत्पादन के खर्चों में भी कमी नही करता। किंतु जब बहुत से प्रतिद्वंद्वी होते हैं, तब जो फर्म नवीनतम साधनों का प्रयोग करती है, वही बाज़ी मार ले जाती है। इससे उद्योग में आविष्कार को प्रोत्साहन मिलता है।

एक फर्म, जिसके पास एकाधिकार है, पुरानी मशीनें हटाकर नई उसी समय लगाएगी जब कि नई मशीनों के चलाने का खर्च, ब्याज और उसकी खरीद की कीमत पुरानी मशीनों की अधभरी कीमत (Amortisation) और मौजूदा साधन से काम करने की लागत की अपेक्षा कम होगी। वह फर्म नई मशीनें पुरानी मशीनों के साथ ही लगा लेगी, बशर्ते कि नई मशीन से होने वाले लाभ, पुरानी मशीन से होने वाले लाभ में कमी से, जोकि अधिक उत्पादन और उसके फलस्वरूप वस्तु के दाम

में कमी के कारण हो गई है, अधिक है।[1] यदि यह नहीं होता तो वह फर्म उस नए आविष्कार या नई मशीन को उपयोग में नहीं लायेगी। इस प्रकार वह उपभोक्ताओं को योग्य उत्पादन रीतियों के लाभ से वंचित रक्खेगी। यदि एकाधिकार न हो तो नये उत्पादक नवीनतम आविष्कारों का उपयोग करेंगे।

(८) एकाधिकारी दशा में उत्पादन प्रतिद्वंद्वी दशाओं के उत्पादन से कम होता है। बाजार की हालत खराब न हो, इसलिये उत्पादन कम कर दिया जाता है, या नष्ट कर दिया जाता है। ब्राज़ील की काफी इंस्टीट्यूट (Coffee Institute of Brazil) ने सन् १९३१ और १९३४ के बीच में २० लाख टन से अधिक काफी नष्ट कर दी थी। उत्पादन के कुछ अंग जान बूझकर बेकार रखे जाते हैं या मशीनों से कम काम लिया जाता है, बशर्तेकि उनसें पूरी तौर से काम लेने पर एकाधिकार लाभ में कमी होने की संभावना मालूम होती हो। नये आविष्कारों और नई मशीनों को उपयोग में न लाने से, और नये व्यापारियों और पूंजी को एकाधिकार उद्योग में न आने देने से उत्पत्ति में कमी होने लगती है। उत्पत्ति की कमी से उत्पादन के साधनों की मांग में कमी हो जाती है और समाज उन लाभों से वंचित रह जाता है, जो उसको मिल सकते थे।

(९) एकाधिकार की कीमतें सामान्यतः ऊंची होती हैं। हालांकि ऐसे कारण बहुत से हैं जिनसे कि एकाधिकार की दशा में भी वस्तु का दाम कम होना चाहिये। एकाधिकारी को भीतरी और बाहरी बचत की भी भारी गुंजायश होती है।

वह 'अविभाज्य' साधनों का पूर्ण उपयोग कर सकता है। उसे प्रचार के लिये भी अधिक धन व्यय करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्रय-विक्रय में भी उसे सदैव सुविधा रहती है। उसके कारखाने का आकार समुचित निर्माण और उत्पादन के निकटतर हो सकता है। इसलिये एकाधिकारी को वे सब सुविधाएं हैं जिनसे वह उत्पादन के खर्च को कम कर सकते हैं। इस पर भी हम देखते हैं कि एकाधिकारी जो कीमतें लेता है, वे प्रतिद्वंद्वी दशा की कीमतों से आम तौर पर अधिक होती हैं। मनुष्य स्वभाव ही ऐसा है जिसके कारण कि एकाधिकारी अपनी स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाता है। वह ऐसी कीमत नियत करता है, जिससे उसे अधिक से अधिक लाभ हो। उस दशा में उत्पादन के खर्च और वस्तु के दाम में कोई निकटता नही रहती जैसा कि प्रतिद्वन्द्वी दशा में होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकाधिकार से उपभोक्ताओं को हानि होती है, जबकि वास्तव में उन्हें होनी नहीं चाहिये।

अन्त में हम यह भी देखते हैं कि एकाधिकार से सम्पत्ति वितरण पर भी बुरा प्रभाव होता है। एकाधिकारी धनवान् होते हैं और वे अधिक-से-अधिक धनवान होते जाते हैं। इस प्रकार एकाधिकार के अस्तित्व से संपत्ति-वितरण में असमानता बढ़ती जाती है।

---

१. Benham—Economics, P. 224

१४. एकाधिकारी पर रोक—ऊपर दिये हुए विवरण से शायद ऐसा लगेगा कि एकाधिकारी अपने लाभ का ही ध्यान रखकर मनमाना दाम ले लेता है, परन्तु ऐसा होता नही। एकाधिकारी स्वेच्छाचारी के रूप में व्यवहार नही कर सकता। एकाधिकारी शक्ति के दुरुपयोग पर अनेक प्रतिबंध है :—

पहली बात तो यह है कि एक एकाधिकारी सम्भावित प्रतिद्वंद्वियों से सदैव डरता रहता है। यदि वह अत्यधिक कीमतें कर देता है, तो कुछ अन्य उद्योग-परिचालक अवश्य ही उस क्षेत्र में आ जायेंगे और ऊंचे दामों से लाभ उठायेंगे।

दूसरे, यह भी हो सकता है कि उपभोक्ता भी चुपचाप उसे सहन न करें। उनके शोषण की भी आखिर एक सीमा है। दामों में एक पैसे की वृद्धि भी उनके विनाश का कारण हो सकती है। उपभोक्ता विद्रोह कर सकते है और सक्रिय रूप में बहिष्कार कर सकते हैं। इसलिये कोई भी एकाधिकारी उपभोक्ताओं की सहानुभूति को ठुकराने का साहस नही कर सकता।

तीसरे, शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो जिसका प्रतिस्थापन कम या पूर्ण रूप से न हो सके। इस प्रकार प्रतिस्थापित वस्तुओं से एकाधिकारी की शोषण प्रवृत्ति को बहुत कुछ सीमित किया जा सकता है। उपभोक्ता एकाधिकारी वस्तु और प्रतिस्थापित वस्तु के दामों में केवल एक विशेष सीमा तक ही अन्तर को सहन करते है। जैसे ही वह अन्तर उस सीमा को पार कर जाता है, वैसे ही प्रतिस्थापित वस्तु अपनी जगह बना लेती है।

चौथे, एकाधिकारी मांग की स्थितियों पर लापरवाही करके स्वतन्त्र रूप से कार्य नही कर सकता। उसको कदम-कदम पर मांग की स्थिति पर विचार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। यदि मांग लोचदार है तो एकाधिकारी की दशा भी उसी के अनुसार कमजोर होती है।

पांचवें, हम यह देख चुके है कि संघ के भीतर की शक्तियां उसे निरन्तर आतंकित रखती है। इस कारण संघ के अस्तित्व को बनाये रखना सरल नहीं है। संघ एक प्रकार का ऐसा मकान है, जो भीतर से अपने ही विरुद्ध विभाजित है और इसीलिये एकाधिकारी मनमानी नहीं कर पाते।

अन्त में, हम यह देखते है कि राज्य द्वारा हस्तक्षेप का भय तो रहता ही है। कोई भी राज्य जनता के हितों का रक्षक होते हुए किसी एकाधिकारी को समाज का शोषण करते नहीं देख सकता। आवश्यकता पड़ने पर राज्य हस्तक्षेप करन के लिये सदा तैयार रहता है। इससे एकाधिकारी की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति पर यह कार्यवाही हितकर नियन्त्रण के रूप में है।

१५. एकाधिकारी के प्रति आधुनिक प्रवृत्तियां—एक समय था जब कि व्यापारिक और औद्योगिक संघों को कटाक्षपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था। ये संघ समाज

के हित में बाधक समझे जाते थे। अमेरिका में ट्रस्ट के खिलाफ कानून पास किये गए, और राज्य सर्वत्र संघ-चलन के ऊपर कड़ी दृष्टि रखने लगे। संघों को खतरनाक समझा जाता था।

परन्तु अब यह दृष्टिकोण बदल गया है। एकाधिकारी व्यवस्था अब समाज के लिये सदा हानिकर नही समझी जाती। बल्कि किसी उद्योग को वैज्ञानिक रूप देने के लिये अब यह ढंग आवश्यक समझा जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जब जर्मनी हरजाने की अदायगी के बोझे से दब गया था, तब वहां के उद्योग को स्वतः उसके अस्तित्व के लिये वैज्ञानिक करना पड़ा था। भीतरी प्रतिद्वंद्विता को दूर कर दिया गया और प्रतिद्वंद्वी अंशों को एक संगठन के अधीन कर दिया गया था, जो उत्पादन और वितरण का नियन्त्रण करता था। इसी प्रकार यह सभव हो सका था कि पुरानी मशीनें नष्ट की जा सकी, अकुशल कारखाने व यन्त्र बन्द किए जा सके और उत्पादन कार्य आधुनिक, नवीनतम और अति कार्यकुशल कारखानों की सहायता से किया जाने लगा। वस्तुओ के बेचने के काम को भी केन्द्रित करना आवश्यक हो गया, जिससे कि प्रतिद्वंद्वियों में प्रतियोगिता करने में नष्ट होने वाला व्यय बच जाय। यह भी आवश्यक हो गया कि उत्पादित वस्तुओ का प्रमाणीकरण (Standardisation) किया जाय। यदि उद्योग अनेक लोगों मे बंटे रहते और स्वतन्त्र अन्शों में इधर-उधर फैले रहते तो यह सब नही हो सकता था। उस समय जर्मनी में संघ संबंधी चलन का अति आश्चर्यजनक फल हुआ। यह आंदोलन वहां से अमेरिका, जापान और अन्य देशों में फैल गया।

हरजगह पर राज्यों ने संघ स्थापित करने के प्रयत्न किए है। उन्होने इसके लिये आवश्यक शक्ति का उपयोग किया है और आवश्यक धन से सहायता भी की है। इंग्लैंड में भी लंकाशायर काटन मिल उद्योग को वैज्ञानिक करने की कोशिश की गई थी। महान मन्दी (Great Depression) ने संघ-व्यवस्था को विशेष योग प्रदान किया था क्योंकि उद्योगों को फिर से संगठित करने के लिये उनको वैज्ञानिक रूप देना और उन्हे स्थिर बनाये रखना आवश्यक समझा गया था।

अपने देश में हम देखते हैं कि जूट, कोयला, रूई इत्यादि के उद्योगों को काफी हानि हुई क्योंकि उनके प्रबंधकों ने सामूहिक रूप से कोई काम नही होने दिया, जब कि सीमेंट व्यवसाय ने अपने उद्योगों को वैज्ञानिक करके अपने को सुरक्षित रक्खा। इस व्यवसाय ने अपन को आपसी संघर्ष से भी बचाया और देश को लाभ पहुंचाया। यदि हमें अपने उद्यागों को दृढ़ बनाना है और उनकी नीव मजबूत करनी है तो विरोधी व्यवसायियों में समझौते की नीति को उन्नति करना आवश्यक प्रतीत होता है।

इसलिये एकाधिकार और औद्योगिक कार्यकुशलता के बीच बहुत गहरा संबंध है।

१६. एकाधिकार पर सार्वजनिक नियंत्रण और स्वभाव—एकाधिकारी

आम तौर पर उत्पादन कम कर देता है जिससे कि वह ऊंचा दाम लेकर अपना लाभ बढ़ा सके। यह रीति वास्तव में समाज-विरोधी है। राज्य को एकाधिकारी के लाभ के लिये जनता के शोषण करने की कुप्रवृत्ति का नाश और उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिये अवश्य ही जनता के रक्षक की हैसियत से हस्तक्षेप करना चाहिये।

एकाधिकारों को नियंत्रित करने के लिए संभावित उपाय :—

१. **संघ-विरोधी कानून बनाना**—अमेरिका में शरमन एन्टी ट्रस्ट ला सन् १८९० और सन १९१४ में क्लेटन एन्टी ट्रस्ट ला स्वीकार किए गए। जर्मनी और आस्ट्रिया में भी व्यवसायी-समझौतों के विरुद्ध कानून बने। परन्तु इस प्रकार के कानून सदैव कारगर न हुए। जब एक प्रकार का संघ कानून-विरुद्ध घोषित किया गया तो वकीलों के चातुर्य ने एक दूसरी ही तजवीज़ निकाल दी। कभी-कभी अनियमित समझौते नियमित समझौतों की जगह ले लेते। सन् १९२७ में व्यापारिक बोर्ड ने व्यापार और उद्योग की कमेटी को जो सूचना दी थी उससे मालूम हुआ कि राजकीय नियंत्रण को केवल आंशिक सफलता ही मिली थी।

२. **अनुचित रीतियों की रोक**—प्रोफेसर पीगू ने कहा है कि राज्य को प्रतिद्वन्द्व की रक्षा करनी चाहिये और कुरीतियों को, जिनसे प्रतिद्वन्द्वी डर कर भागते है, नियन्त्रण करना चाहिये। इस प्रकार की कुरीतियां यह है— जैसे विनाशकारी कीमतें घटाना, विकट प्रतिद्वन्द्विता, और बहिष्कार। परन्तु वे भी इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि यदि इन कुरीतियों के नियन्त्रण करने में और संभावित प्रतिद्वन्द्व को बनाए रखने में सफलता मिली भी तो वह अपूर्ण ही होगी।

३. **लाभ और कीमतों पर नियंत्रण**—लाभ और कीमतों पर नियन्त्रण रखने मे राज्य एकाधिकार को नियमित कर सकता है। परन्तु इसके मार्ग में व्यावहारिक बाधाएं है। कोई ऐसी कीमत नियत करना जो कि उपभोक्ता के लिये उचित है और उत्पादक के लिये भी ठीक है, इतना सरल नही है। एकाधिकारी जनता और राज्य दोनों की आंखों में धूल झोंकने का प्रयत्न करेगा और दूसरों को यह दिखलाएगा कि वह स्वयं निर्दोष है और उसको बुरी तरहसे कुचला गया है। पर फिर भी एकाधिकार को नियन्त्रित करन का प्रयत्न लाभदायक होगा। उपभोक्ताओं की भी संस्थाएं बनाई जा सकती है।

४. **प्रचार**—सन् १९१८ में ट्रस्ट की कमेटी ने एकाधिकारी शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिये उसके प्रचार और सार्वजनिक देखरेख (Supervision) की तजवीज की थी। इस बात की भी तजवीज़ की थी कि एकाधिकारियों का समय-समय पर निरीक्षण किया जाय और उनके कारनामे जनता के सम्मुख लाए जायं। आशा की जाती है कि इन उपायों से एकाधिकारी वर्ग को उचित अवस्था में रक्खा जा सकेगा।

५. **राष्ट्रीयकरण**—अन्त मे, एकाधिकृत व्यापार का राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है। यदि व्यापार बे-रोकटोक एक स्तर पर चल रहा है और उसका बाजार निश्चित है तो राज्य बेखटके उस व्यापार को अपने हाथ में ले सकता है। ऐसे उद्योगों में व्यक्तिगत साहस और दिलचस्पी के लिये कोई विशेष गुजायश नही रह जाती। और व्यापार का प्रशासन जनता के हित के व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है और किया जाना चाहिये। इंग्लैंड की वर्त्तमान मजदूर सरकार से ऐसी आशा की जा रही है कि वह इस तरह के उद्योगो का राष्ट्रीयकरण करने लगेगी।

१७. क्रयाधिकार (Monopsony)—एक ऐसा शब्द है जो कि खरीदारों के एकाधिकार के लिये प्रयोग में लाया जाता है। यदि बेचने वाला कहता है, "हमसे खरीदो या तुम न खरीदो" तो खरीदने वाला भी उसको मुंह तोड़ जबाब दे सकता है कि "या तो हमको बेचो या न बेचो।" संसार के पहले महायुद्ध में दक्षिणी अफ्रीका के मांस के व्यापारियों ने इस बात का अनुभव किया था। इंग्लैंड की सरकार खरीदार थी जो कि सामुद्रिक जहाजो में माल रखने की जगह पर नियन्त्रण रखती थी। इसी प्रकार एक और घटना हुई थी जब कि अमेरिका के मोटर बनाने वाले एक साथ हो कर रबड़ के दाम को घटाने में सफल हुए थे। उस समय रबड़ का एकाधिकार हालैंड के हाथ में था।

परन्तु खरीदारों की एकाधिकारिता बहुत ही कम होती है और उसको बनाए रखना भी विक्रेताओं के एकाधिकार की अपेक्षा बहुत कठिन है। आवश्यक वस्तुओं की खरीद को रोके रहने से ही खरीदने वाला अपनी एकाधिकार शक्ति को सुरक्षित रख सकता है। परन्तु उस दशा में वे अपने आपको उतना ही दंड देंगे जितना कि विक्रेताओं को (जैसे कि यदि किसी नगर में दूध खरीदने वाले मिल कर काम करें और दूध न खरीदें)।

खरीदार देश में चारों तरफ फैले रहते हैं और कभी-कभी तो वे संसार भर में फैले रहते है। ऐसी दशा में उनके लिये यह अति कठिन है कि वे आपस में संगठन करें और यह बहुत कम देखने में आता है कि उपभोक्ता संगठन करने में समर्थ हुए हों। उपभोक्ता यदि एक दूकानदार से संतुष्ट नही है तो दूसरी दूकान से खरीद सकता है। परन्तु यदि किसी वस्तु पर एकाधिकार है तो यह समझ में नही आता कि उपभोक्ता क्या कर सकते हैं। इस पर भी यदि सब उपभोक्ता संगठित हो जाते हैं और सामूहिक रूप में कार्य करते हैं तो भी उनकी विजय थोड़े समय के लिये ही रहेगी। हो सकता है कि इस दशा में वस्तु का दाम लाभकारी न हो जिसके कारण पूंजी उस उद्योग में से निकाल ली जाय। फलस्वरूप उस वस्तु की पूर्त्ति हो जायेगी और उसका दाम फिर बढ़ जायगा।

खरीदारों के एकाधिकार खास तौर पर उस समय प्रभावशाली नहीं होते

जब कि वस्तु की मांग लोच-रहित होती है। उनका इसके बगैर काम चल ही नही सकता। ऐसी वस्तुओं में कुछ तो जीवन के लिये बहुत आवश्यक हो सकती हैं या कुछ कच्चा माल, जो कि निर्माणकर्ता के लिये बहुत आवश्यक हो। ऐसी स्थितियों में विक्रेता की हालत अधिक दृढ़ होती है और वह क्रेताओं के संघ को आसानी से नष्ट कर सकता है। इसके अतिरिक्त और दूसरे बाजार तो रहते ही है, जहां वह अपनी वस्तुएं बेच सकता है।

क्रेताओं के लिये केवल एक प्रभावशाली साधन है, वह यह कि वह संगठित होकर अपना सहकारी स्टोर खोलें। पर इसका मतलब है कि उन्होने यह मान लिया कि वह उत्पादकों को अपनी उंगली के इशारे पर चलाने में असमर्थ रहे। मालिक-संघ विक्रेताओं के एकाधिकार का एक अन्य उदाहरण है। कभी कभी मालिक मजदूर को अपनी शर्तें मनाने योग्य हो जाते हैं किंतु एक शक्तिशाली श्रमिक-संघ मालिकों को झुका सकता है। उस समय उनका सघ उनको नही बचा सकता।

अन्त में हम यह निष्कर्ष निकालते है कि क्रेताओं के एकाधिकार बहुत ही कम होते हैं और जहां भी हैं वे बहुत क्षीण और प्रभावरहित हैं।

निर्देश पुस्तकें

Pigu—Economics of Welfare Part—II Chap. XXI.
Robinson—E. A. G.—Monopoly.
Thomas—Elements of Economics.
Benham—Economics.
Yulema, T—Dumping

अध्याय १७

विनिमय---बाज़ार

(EXCHANGE—MARKETS)

१. बाज़ार (Markets)---सामान्य भाषा में "बाज़ार" शब्द का व्यवहार उस स्थान के लिये किया जाता है जहां ग्राहक और विक्रेता चीज़ों के क्रय-विक्रय के लिये जमा होते हैं। पर अर्थशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग अधिक विस्तृत रूप में होता है। बाजार शब्द का आशय उसी स्थान से नही, जहां चीजों का क्रय-विक्रय होता है, बल्कि उन ग्राहक और विक्रेताओं से भी होता है, जिनमे सदैव प्रतियोगिता रहती है। फ्रांसीसी अर्थशास्त्री कोरनॉट (Cournot) के शब्दों में "बाज़ार शब्द से अर्थशास्त्र के विद्वानों का आशय किसी विशेष हाट से, जहा वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता हो, नही होता, बल्कि उस सम्पूर्ण प्रदेश से होता है, जिसमें ग्राहक और विक्रेताओ के बीच इस प्रकार का स्वतन्त्र आदान-प्रदान हो कि वस्तुओं के मूल्य अधिक शीघ्रता और सरलता से समता की ओर जाय।" जेवन्स (Jevons) का कहना है, "मूलतः, बाजार नगर मे एक ऐसा सार्वजनिक स्थान होता था, जहा आवश्यक व दूसरे प्रकार की वस्तुएं विक्रय के लिये रखी जाती थी। पर अब इस शब्द के अर्थ का विस्तार करके इसको यह अर्थ दे दिये गयें है कि ऐसे व्यक्तियों का समुदाय, जिनमें आपस मे व्यापारिक सम्बन्ध हों और जो किसी वस्तु के बड़े-बडे सौदे करते हों, वह बाजार कहलाता है।" किसी बडे शहर मे उतने ही बाजार हो सकते है, जितनी कि वहां व्यापारिक महत्त्वपूर्ण शाखाएं होती है तथा इस प्रकार के बाज़ार स्थानीय भी हो सकते है और नही भी हो सकते। किन्तु स्थान-विशेष का भाव आवश्यक नही है। यदि व्यापारी आपस में मेले, सभाओ, विज्ञापनों, डाकखानो और दूसरे उपायों से आवागमन रखते हों और भले ही वह किसी नगर में, अथवा प्रदेश में या देश में, फैल गए हो, किन्तु तब भी वे बाजार का निर्माण कर सकते है।"

इस प्रकार बाज़ार के लिए निम्न बातें आवश्यक है:---

(१) वह वस्तु जिसका व्यवहार होना है, (२) ग्राहकों व विक्रेताओं का अस्तित्व, (३) एक स्थान, चाहे वह एक प्रदेश विशेष मे हो, एक देश अथवा पूर्ण संसार में हो, (४) विक्रेता व ग्राहकों में इस प्रकार का आदान-प्रदान हो कि एक वस्तु का मूल्य एक समय में एक ही रहे।

बाज़ार की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के भिन्न प्रकार अलग-अलग वस्तु है, क्योंकि उनमें से प्रत्येक का मूल्य भिन्न होगा। वही वस्तु यदि दूसरे व्यापार-चिह्न से बिके तो वह दूसरी व्यापारिक वस्तु समझी जायगी। "लिपटन की जाय" और "दार्जिलिंग चाय"

में वैसे चाहे कोई अन्तर न हो, परन्तु चूंकि वे दो विभिन्न व्यापारिक चिन्हों से बिकती है, इसलिये दोनों के अपने अलग-अलग बाज़ार व मूल्य होंगे । दोनों दो विभिन्न वस्तुएं समझी जायेंगी ।

२. बाज़ारों का वर्गीकरण (Markets Classified)---क्षत्रफल के आधार पर बाज़ार को स्थानीय, राष्ट्रीय और विश्व-व्यापी बाज़ार में विभक्त किया जा सकता है । यह विभाजन व्यापारियों पर निर्भर है । यदि व्यापारी किसी स्थान-विशेष, देश अथवा सम्पूर्ण जगत् से सम्बद्ध होंगे तो उसी के अनुसार बाज़ार स्थानीय, राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी होगा ।

समय के आधार पर बाज़ार का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है---किसी दिन विशेष का बाज़ारू मूल्य, अल्पकालीन मूल्य, दीर्घकालीन मूल्य अथवा बहुदीर्घ-कालीन अथवा लौकिक बाज़ार, जिसका विस्तार एक पीड़ी तक हो । इस विभाजन का आधार वह समय है जिसमें मांग और पूर्ति की शक्तियां अपना पारस्परिक संतुलन कर लेती है ।

३. बाज़ारों का विकास (Evolution of Markets)---बाज़ारों के विकास का अध्ययन दो दृष्टिकोणों से किया जा सकता है---भौगोलिक व कृत्यक । भौगोलिक दृष्टि से बाजार के विकास की चार अवस्थाएं है :---(१) प्रारंभ में घरेलू बाज़ार हुआ करता था, जिसमें एक कुटुम्ब के बीच विनिमय होता था, (२) उसके बाद स्थानीय बाज़ारों का विकास हुआ, जिसमें क्रय-विक्रय एक नगर अथवा गांव तक ही सीमित था । (३) तदुपरान्त राष्ट्रीय बाज़ारो का जन्म हुआ । जब एक वस्तु के लिये संपूर्ण राष्ट्र को एक बाज़ार माना जा सकता था । (४) अंत में आज का अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार है, जिसमें कुछ चीज़ों का व्यापार विश्व-व्यापी होता है ।

इसका अर्थ यह नही है कि बाज़ार के विकास के एक काल ने दूसरे को सर्वथा समाप्त कर दिया है । स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार साथ-साथ ही है । कुछ चीज़ों का बाजार सर्वथा स्थानीय होता है, जैसे ताजा दूध; कुछ वस्तुओं का बाज़ार राष्ट्रीय होता है, जैसे कुछ प्रकार के फल और बहुत-सी वस्तुओं का बाज़ार विश्वव्यापी होता है जैसे जूट, कपास, चाय, मूल्यवान् धातुएं आदि ।

भौगोलिक विकास सदैव यातायात साधनों की प्रगति और ठंडा करने जैसी वैज्ञानिक रीतियों के विकास पर निर्भर करता है । इन तरीकों से चीज़ों को अधिक दूर तक भेजने में आसानी हो गई है । वस्तु को आसानी से ले जान और उसका मान नियत करने की संभावना का भी बाज़ार के क्षेत्र पर बड़ा प्रभाव होता है ।

जहां तक कृत्यक विकास का प्रश्न है, बाज़ार का विकास निम्न अवस्थाओं में हुआ:---

(१) साधारण अथवा मिश्रित बाजार :---बाज़ार के विकास के प्रारम्भ काल

में मिश्रित बाज़ार होते थे। इस प्रकार के बाज़ार में एक ही स्थान पर नाना प्रकार की चीज़ों का क्रय-विक्रय होता था।

(२) **विशिष्ट बाज़ार** :—जैसे-जैसे व्यापार और उद्योग-धंधों में उन्नति हुई, बाज़ार विशिष्ट रूप धारण करता गया। उदाहरणार्थ, आजकल कपास, सूत, कपड़ा आदि के अलग-अलग बाज़ार हैं। श्रम-बाज़ार, विदेशी विनिमय बाज़ार, शेयर-बाज़ार, उत्पादन विनिमय बाज़ार आदि विशिष्ट बाज़ार हैं।

(३) **नमूनों द्वारा विक्रय** :—(Marketing by Sample)—वस्तुओं की मात्रा तथा किस्मों की वृद्धि व मांग के क्षेत्र के प्रसार के कारण यह संभव नही रहा कि सारा माल बाजार में दिखाया जा सके। वस्तुओं का मान-नयन कर लिया जाता है और क्रय-विक्रय नमूनों के आधार पर होता है। इस विधि से कच्चे माल के व्यवसाय में बड़ी सुविधा होती है क्योंकि कच्चा माल भारी होता है, किन्तु मान-नयन हो जाने पर समानता का रूप हो जाता है।

(४) **वर्गीकरण द्वारा विक्रय** :—(Marketing by Grades)—इस प्रकार का विक्रय नमूना-रीति के बाद शुरू हुआ। इसका प्रयोग उस कच्चे माल में होता है, जिनका गुण के अनुसार सरलता से वर्गीकरण किया जा सकता है।

इस रीति मे वस्तुओं के गुणों का विवरण सही-सही दे दिया जाता है, जिससे नमूना देखने की आवश्यकता नही रहती। ग्राहक केवल किस्म के संकेत मात्र से वस्तु को खरीद सकते है। उन्हें यह विश्वास रहता है कि जिस किस्म की वस्तु उन्होंने मांगी, वैसा ही माल मिलेगा। इससे माल का क्रय-विक्रय दूर-दूर के स्थानों में केवल तार द्वारा संभव हो गया है। वर्गीकरण द्वारा विक्रय से बाज़ार का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। गेहूं की ५९१ सी तथा ८ नंबर की किस्में बड़ी प्रसिद्ध है। और ४ एफ, तथा एम. जी. एफ. जी. भारत में कपास की प्रसिद्ध किस्में हैं।

४. बाज़ार का विस्तार (The Extent of the Market):—बाज़ार का आकार बहुत-सी बातों पर निर्भर करता है :—

(अ) **वस्तु के लक्षण** :—स्थायी वस्तु का बाज़ार जिसका नमूना या वर्गीकरण करना आसान है, अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होता है। जिन वस्तुओं का मूल्य उनके भार की अपेक्षा कम होता है, उनको दूर के स्थानों में ले जाने से कोई लाभ नहीं होता। परन्तु ऐसी वस्तुओं का बाज़ार स्थानीय होता है। इसी प्रकार जल्दी खराब होने वाली वस्तुओं, जैसे सब्ज़ी अथवा फल का बाज़ार स्थानीय होता है। जायदाद आदि का बाज़ार भी स्थानीय ही होता है। इसलिये केवल उन्हीं वस्तुओं का बाज़ार विस्तृत हो सकता है जिनमें निम्न गुण हों : (i) ले जाई जाने योग्य (ii) स्थिरता योग्य, (iii) नमूना बनाने, वर्गीकरण करने और सही विवरण देने योग्य, (iv) और ऐसी कि जिनकी पूर्ति में वृद्धि की जा सकती हो।

(ब) **वस्तुओं की मांग का रूप**:—जिस वस्तु की मांग विश्वव्यापी होगी उसका व्यापार ऐसी वस्तुओं की अपेक्षा, जिनकी मांग सीमित है, अधिक विस्तृत होगा, जैसे सोना, चांदी ।

(स) **यातायात और आवागमन के साधन** :—केवल सौ साल पहले भारत के एक क्षेत्र में अकाल पड़ जाता था, यद्यपि उससे कुछ ही मील की दूरी पर खाद्य-अन्नों की प्रचुरता होती थी । अनाज एक प्रचुरता के स्थान से कमी की जगहों तक नहीं ले जाया जा सकता था, क्योंकि यातायात के साधनों का अभाव था । पर अब अनाज दूर-दूर के देशों से आ जा सकता है । यही कारण है कि बाज़ारों का क्षेत्र विस्तृत हो गया है ।

(द) **शान्ति और सुरक्षा** :—यदि शान्ति और सुरक्षा न हो तो माल एक स्थान से दूर के स्थान तक नहीं भेजा जा सकता । लड़ाई के समय में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था नहीं होती, इसलिये बाज़ारों का क्षेत्र सीमित हो जाता है ।

(य) **मुद्रा-चलन और साख की रीति** :—इस सिलसिले में वित्त-व्यवस्था का भी बहुत महत्त्व है । यदि मुद्रा-चलन और साख की रीति अधिक विकसित है, तो क्रय-विक्रय दूर-दूर के स्थानों में बड़ी सरलता और लाभ के साथ हो सकता है । इस प्रकार की सुविधाएं न होन पर बाज़ार सीमित हो जाता है ।

(फ) **राज्य की नीति** :—राज्य की नीति से बाज़ार सीमित हो सकते है । आयात और निर्यात पर निषेधात्मक कर लगाये जा सकते है ।

(ज) **श्रम-विभाजन की मात्रा** :—पिछले अध्याय मे हम देख चुके है कि किस प्रकार बाज़ार का क्षेत्र श्रम-विभाजन को सीमित करता है । इसका उल्टा नियम भी उतना ही सत्य है, क्योकि बाज़ार का क्षेत्रफल भी उत्पादन-कार्य में प्रयुक्त श्रम-विभाजन पर निर्भर करता है । जितना ही अधिक श्रम-विभाजन होगा, उतना ही अधिक सहयोग लोगों में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होगा । फल-स्वरूप बाज़ार का क्षेत्र बहुत बढ़ जायगा ।

५. बाज़ार में प्रतियोगिता का स्थान (The Role of Competition in a Market) :—अब हमें प्रतियोगिता व एकाधिकार की स्थिति में मूल्यांकन का अध्ययन करना है । सच तो यह है कि वास्तविक जगत में न तो पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है, न ही पूर्ण एकाधिकार । पर ऐसे बाजार में, जिसमें प्रतियोगिता हो, कौन-कौन-सी शक्तियां काम करती है, यह समझाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रतियोगिता को पूर्ण मान लिया जाय ।

पूर्ण प्रतियोगिता के लिए निम्नलिखित दो बातो का होना आवश्यक है ।

(अ) अधिकाधिक धन कमाने के लिए उत्पत्ति के साधन एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में आसानी से आ-जा सकें ।

(ब) कोई अकेला खरीदार या विक्रेता अपने व्यक्तिगत क्रय-विक्रय से चीज की

कीमत पर प्रभाव न डाल सके ।

(स) जब तक कि बाजार में एक ही कीमत रहती है, खरीदार को इसकी परवाह नही होती कि वे किससे खरीदते है और विक्रेताओं को इसकी कि वे किसको बेचते है । कीमत ही एक ऐसा विचार है जो क्रेताओं तथा विक्रेताओ को प्रवृत्त करती है ।

पहली बात तभी हो सकती है, जब कि कोई ऐसे प्रतिबन्ध न हों, जिनसे श्रमिक अधिक मजदूरी के लिये, पूजी अधिक ब्याज के लिए और कच्चे माल के उत्पादक अधिक मूल्य के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को न जा सकें । उदाहरण के लिए, यदि कोई श्रमिक-संघ किसी विशेष पेशे में नये आदमियों के आगमन पर प्रतिबंध लगा देता है (अधिक प्रवेश फीस लेकर) और इस प्रकार से मजदूरी को बनावटी तौर पर बढाये रहता है तो ऐसी दशा मे प्रतियोगिता पूर्ण नही कही जायेगी ।

दूसरे में यह बातें शामिल है : (१) ग्राहकों की बड़ी संख्या, (२) विक्रेताओं की बड़ी संख्या, (३) एक ही प्रकार की वस्तु अथवा कृत्यक का क्रय-विक्रय, (४) हर व्यक्ति को इस बात का ज्ञान होना कि दूसरे लोग किस दर पर क्रय-विक्रय कर रहे है । इन बातों का फल यह होगा कि बाजार मे उस चीज का मूल्य एक ही रहेगा । पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण फल यह होगा कि कोई खरीदार या विक्रेता (उपभोक्ता अथवा उत्पादक) **अपने व्यक्तिगत कार्य या नीति से मूल्य पर प्रभाव नही डाल सकेगा । इसका कारण स्पष्ट है । चूंकि विक्रेताओं की संख्या महान् होती है, इसलिए यदि एक क्रेता कम या अधिक क्रय करता है अथवा बिल्कुल नहीं करता, तो इसका कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा ।** इसी प्रकार विक्रेता भी बहुत है, और इसलिए यदि एक व्यक्ति कम या अधिक बेचता है अथवा बिल्कुल विक्रय नही करता तो मूल्य पर इसका कोई प्रभाव नही पड़ेगा ।

थोक बाज़ार में फुटकर बाज़ार की अपेक्षा प्रतियोगिता अधिक पूर्ण होती है । थोक बाज़ार मे खरीदार व विक्रेता माग व पूर्ति की स्थिति से अधिक परिचित होते है । फुटकर बाज़ार में जहां उपभोक्ता अपने निजी उपभोग के लिए वस्तुएं खरीदते है, प्रतियोगिता अपूर्ण होती है । एक मनुष्य नई दिल्ली के कनाट प्लेस में अधिक दामों पर चीज खरीद लेता है बजाय इसके कि वह कुछ आने बचाने के लिए चादनी चौक या सदर बाजार जाय । लोग अपनी प्रिय दुकान से वस्तु खरीदना अधिक पसन्द करते है, चाहे वहा उन्हें कुछ महंगा ही माल क्यों न मिले ।

६. प्रतियोगी तथा एकाधिकारी स्थितियाँ (Competitive and Monopolistic Situations)[१] यह हम ऊपर बतला चुके हैं कि वास्तविक बाजारों में न तो पूर्ण प्रतियोगिता ही होती है और न पूर्ण एकाधिकार ही । इन दोनों सीमाओं के बीच बहुत-सी स्थितियां पैदा हो सकती है । एक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि उन दशाओं में मूल्य निर्धारण समझने के लिये उनसे

[१] Sel Meyers A. L. Elements of Modern Economics 1951—P. 44—116.

परिचित हो जाएं। वे स्थितियां जो सम्भव हो सकती है यह हैं। स्वच्छ प्रतियोगिता, पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकारी प्रतियोगिता, एकाधिकार, डुवापली (Duopoly), तथा ओलीगोपली (Oligopoly)।

स्वच्छ प्रतियोगिता तथा पूर्ण प्रतियोगिता के भेद को ठीक से समझना आवश्यक है। जैसा कि बतलाया जा चुका है पूर्ण प्रतियोगिता से अभिप्राय व्यापारियों के पूर्ण ज्ञान तथा उत्पत्ति के साधनो की गतिशीलता से है। प्रामाणिक उत्पादित वस्तुओं से प्रतियोगिता स्वच्छ प्रतियोगिता कहलाती है और अलगाए (लेबुल द्वारा) वस्तुओं से प्रतियोगिता अपूर्ण प्रतियोगिता कहलाती है।

ऐसी प्रतियोगिता के ४ भिन्न संयोग सम्भव है :—

(१) **स्वच्छ तथा पूर्ण :** प्रामाणिक वस्तुओ मे पूर्ण बाजार।

(२) **स्वच्छ परन्तु अपूर्ण :** अपूर्ण बाज़ार परन्तु प्रामाणिक वस्तुओं की बिक्री।

(३) **पूर्ण परन्तु एकाधिकारी :** पूर्ण बाजार में अलगाए वस्तुओं की बिक्री।

(४) **अपूर्ण तथा एकाधिकारी :** अपूर्ण बाजार में अलगाए वस्तुओं की बिक्री।

एकाधिकार अथवा साधारण एकाधिकार :—इसका आशय स्थानापन्न वस्तुओं अथवा प्रतियोगी वस्तुओ के अभाव से है ताकि एकाधिकार रखने वाला दूसरी वस्तुओं पर बिना प्रभाव के कीमत निर्धारित कर सके। एक अकेला विक्रेता एकाधिकार शक्ति के प्रयोग करने की परिस्थिति में होता है।

डुवापली : यह उस परिस्थिति को सूचित करता है जब कि बाजार में केवल दो व्यवसायी संस्थाएं होती है और वे आपस में प्रामाणिक वस्तुओं के विक्रय के लिए प्रतियोगिता करता है।

ओलीगोपली : इसका आशय उन थोड़े विक्रेताओ से है जो एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते है। इसमें हर विक्रेता यह जानता है कि उसकी वस्तुये बाज़ारू मूल्य पर प्रभाव डालेंगी। ओलीगोपली प्रमाणिक वस्तुओं की ही हो सकती है जिसको स्वच्छ ओलीगोपली कह सकते है। अथवा अलगाए वस्तुओं मे भी ओलीगोपली हो सकती है जो कि एकाधिकारी प्रतियोगिता की एक विशेष स्थिति हो सकती है।

७. पूर्ण तथा अपूर्ण बाज़ार (Perfect and Imperfect Markets)

जब विक्रेता और ग्राहकों को इस बात का ज्ञान होता है कि किन-किन मूल्यों पर सौदे हो रहे है, दूसरे ग्राहक व विक्रेता किस मूल्य पर सौदा करने को तैयार हैं, और जब कोई भी ग्राहक किसी भी विक्रेता से वस्तु खरीद सकता है तो बाज़ार पूर्ण कहलाता है। इसके विपरीत परिस्थितियों में बाजार अपूर्ण होता है। ऐसी परिस्थितियों में किसी वस्तु का मूल्य सारे बाज़ार में एक ही रहेगा। (यातायात व आयात कर आदि के व्यय निकाल कर)[१]। प्रत्येक दशा में हर वस्तु की भिन्न किस्म, अथवा एक ही वस्तु, जो दूसरे

[१] —Benham—Economics 1940—P. 24

व्यापार चिन्ह से बिकती हो, अलग-अलग वस्तुएं मानी जायेंगी। मार्शल के शब्दों में, "बाज़ार जितना ही अधिक पूर्ण होगा, उतनी ही किसी वस्तु के मूल्य की एक समय में, बाजारों के सब भागों में, एक-सा होने की अधिक संभावना रहेगी।"

"जिस बाजार में विक्रेताओ और ग्राहकों को इस बात का ज्ञान नही होता कि दूसरे लोग किस दर पर सौदा करने को तैयार है, वह बाजार अपूर्ण होता है।"[१] अथवा उनमें इस ज्ञान को अपने हित के लिए प्रयोग करने की शक्ति नही होती। अतः निम्नलिखित किसी एक कारण के होने पर बाजार अपूर्ण हो जाएगा :—

(१) क्रेताओ तथा विक्रेताओं के माग मूल्य (Demand Price) तथा उस मूल्य पर वस्तु के बेचे जाने की मात्रा का एक दूसरे पर प्रभाव का ज्ञान नही होता।

(२) क्रेताओ तथा विक्रेताओ में एक-दूसरे के मूल्य नीति के ज्ञान का अभाव नही होता परन्तु उनमें उस ज्ञान के प्रयोग की शक्ति नही होती। स्वभाव परिवर्तन, विरोध विचार, पक्षपात अथवा सरकारी निग्रह उन्हे सस्ते-से-सस्ते विक्रेता से क्रय करने अथवा महंगे से महंगे खरीदार को बेचने से रोक सकता है।

(३) किसी वस्तु की सभी इकाइयां एक वास्तविक श्रेणी की नही हो सकती। वे एक-दूसरे से या तो स्थान द्वारा अलग की जा सकती है अथवा भिन्न तथा अपूर्ण प्रतियोगी मात्राओं में मिल सकती है।

यह एक बाजार में एक ही मूल्य होने से रोकेंगी।

दूसरे शब्दों में यदि बाजार में एक वस्तु का एक समय मे एक ही मूल्य है, तो बाज़ार परिपूर्ण समझा जाता है। पर यदि एक ही समय में एक वस्तु के कई मूल्य प्रचलित है, तो बाज़ार अपूर्ण समझा जाता है।

बाज़ारों का एक नियम होता है, जिसे जेवन्स (Jevons) तटस्थता नियम (Law of Indifference) कहते है। इस नियम के अनुसार बाजार में एक समय में एक वस्तु का एक ही मूल्य होना चाहिये। यदि ऐसा हो जाय तो विक्रेताओं अथवा ग्राहकों के लिए यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होती कि वह वस्तु किसे बेचते है, अथवा किस से खरीदते है क्योंकि सब जगह मूल्य एक ही होता है।

यदि बाज़ार का यह नियम अपनी पूर्ण शक्ति से काम करे,और मूल्य अधिक सरलता व शीघ्रता से समता की ओर झुके, तो बाज़ार परिपूर्ण होता है। पर यदि नियम कुछ रीतियों अथवा आर्थिक संघर्षो के कारण काम नही कर सकता तो मूल्य एक-सा नही रहता। और एसी परिस्थितियों मे बाज़ार अपूर्ण होता है।

८. पूर्ण बाज़ार की शर्तें (Conditions of a Perfect Market) बाज़ार का वह नियम जो एक वस्तु की कीमत को एक बाज़ार में और एक समय में एक ही रखता है, तभी लागू हो सकता है, जबकि कुछ शर्तें पूरी की जायं। पूर्ण बाज़ार की शर्तें

१—Ibid——Page 26

निम्नलिखित हैः—

(१) **स्वतंत्र और पूर्ण प्रतियोगिताः**—जब तक मांग और पूर्त्ति, दोनों ही दिशाओं में पूर्ण प्रतियोगिता नही होगी, तब तक दिये हुए समय में एक वस्तु का मूल्य एक नहीं होगा। किसी विक्रेता अथवा विक्रेताओं के किसी समुदाय में यह शक्ति नही होनी चाहिए कि वस्तु की पूर्ति को नियंत्रित करके उसके मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव डाल सके। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि ग्राहकों और विक्रेताओ, दोनों को, इस बात का ज्ञान हो कि बाज़ार की क्या-कैसी स्थिति है और दूसरे लोग किस मूल्य पर सौदा कर रहे है।

(२) **यातायात के सस्ते साधनः**—बाज़ार में एक वस्तु का मूल्य तभी समान रह सकता है जबकि मूल्य में परिवर्तन की सूचना आसानी से और जल्दी से बाज़ार के विभिन्न क्षेत्रो में भेजी जा सके। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वस्तु उस जगह पर, जहां वह अधिक मूल्य पर बिकती है,जल्दी,आसानी से और सस्ते दामों में भेजी जा सके। ऐसी दशा में बाजार के किसी भाग में भी होने वाले मूल्य में परिवर्तन को सुगमता से रोका जा सकता है। वस्तुओं को भी, उस जगह से, जहां उनका मूल्य कम है, उस स्थान को, जहां मूल्य अधिक है, भेजा जा सकेगा। वस्तुओं का यह आवागमन तब तक चलेगा, जब तक कि मूल्य समान नहीं हो जायगा।

(३) किसी व्यवसाय तथा उद्योग में प्रवेश करन तथा उससे निकलने की पूरी स्वतन्त्रता होना चाहिए।

(४) **विस्तृत क्षेत्रः**—पूर्ण बाज़ार और विस्तृत बाज़ार के अर्थ कभी-कभी एक ही समझे जाते है। बाजार का क्षेत्र इन बातों पर निभर करता है : (अ) मांग और पूर्ति की प्रचुरता ,(ब) वस्तु का स्थायित्व, (स) उसे ले जाने की सुगमता, (द) नमूना बनाने और वर्गीकरण की सुगमता।

नियोजित पूंजी (Invested Capital) का बाज़ार पूर्ण बाज़ार के बहुत निकट होता है। नियोजित पूजी स्टाक और शेयर्स का रूप धारण कर लेती है। स्कंध (Stock) विनिमय अधिक विस्तृत बाज़ार होता है। एक वर्ग के हिस्सों का आदान-प्रदान एक दूसरे के बदले में बिना किसी हानि के हो सकता है। इन्हें सुगमता से ले जाया जा सकता है। "हिस्सों (शेयरों) का भाव बताने, सौदे तय करने और उन्हें पूरा करने की रीतियां बिल्कुल निश्चित व सर्वविदित होती है। मूल्यों का परिचलन शीघ्र व सुगम होता है। और सब से बड़ी बात तो यह है कि कठोर-से-कठोर कानूनी नियन्त्रण भी इतनी कुशलता से धोखा व जोखिम नही बचा सकते, जितनी सफलता से इस प्रकार के बाज़ारों में नैतिक स्तर को ऊंचा रख कर किया जा सकता है।" (टामस)

मूल्यवान् धातुओं, प्रथम श्रेणी की हुंडियों, विदेशी मुद्राओं व महत्त्वपूर्ण कच्चे मालों के बाज़ार भी बहुत संगठित होते है। इसलिए इन चीज़ों के व्यापार को भी पूर्ण बाज़ार कहा जा सकता है।

९. बाज़ार के सौदे (Market Transactions)—बाज़ार में कई प्रकार के सौदे होते है। इनका सम्बन्ध उपभोक्ता व उत्पादकों की वस्तुओं से, श्रम की सेवाओं, अचल संपत्ति, द्रव्य संबंधी ऋणों, अन्य करेंसियों व अधिकार-पत्र, सब से हो सकता है। अब देखना यह है कि इन सब के बाज़ार पूर्ण होते है अथवा अपूर्ण।

उपभोक्ताओं की वस्तुएं—उपभोग-वस्तुओ की माँग मनुष्य की आवश्यकताओ की संतुष्टि के लिए होती है। फुटकर दुकानों में यह वस्तुएं अधिक बिकती है। वस्तुओ के फुटकर मूल्यों में भिन्न-भिन्न स्थानो में अतर हो जाता है। इसलिए फुटकर बाजार थोक बाज़ार की अपेक्षा कम पूर्ण होता है।

उत्पादकों की वस्तुएं—इन वस्तुओ की आवश्यकता आवश्यकताओं की सीधी संतुष्टि के लिए नही होती। इनकी माग उन भोक्ता-वस्तुओ की मांग में से "निकाली" जाती है, जिनमें उनका उपयोग होता है। नियमतः, उत्पादकों की वस्तुएं थोक में क्रय होती है, इसलिए इनके बाजार अधिक पूर्ण होते है।

श्रम कृत्यक—घरेलू नौकरों के अतिरिक्त, भोक्ताओ की वस्तुओं की माग मे से अधिकतर श्रम की मांग "निकलती" है। कुछ देशो मे अधिकारियों की ओर से न्यूनतम मजदूरी नियत रहती है, पर बहुत-से-देशो में यह मजदूरी श्रमिक सघ व मालिकों के संघ के बीच बातचीत द्वारा तय की जाती है। चूंकि श्रम अपेक्षाकृत कम गतिशील होता है, उसमें सौदा करने की शक्ति क्षीण होती है और श्रमिक अधिकतर अज्ञानी होते है, इसलिये श्रम का बाजार सामान्यतः अपूर्ण होता है।

वास्तविक अचल सम्पत्ति—अपनी स्थिति के कारण भूमि और घरों मे अन्तर होता है। इसलिए इनका विक्रय नमूने द्वारा नहीं हो सकता। इस प्रकार का व्यवसाय दलालों के हाथ मे होता है, जो कमीशन के बदले ग्राहक और विक्रेता को परस्पर मिलाते है। इनके क्रय-विक्रय में विज्ञापन का भी प्रयोग होता है। अस्तु, अचल संपत्ति का बाजार सामान्यतः पूर्ण होता है, क्योकि ग्राहक खरीदने के पहले अत्यधिक कष्ट उठा लेते है।

द्रव्य सम्बन्धी ऋण—बाजार मे द्रव्य उधार लिया दिया जाता है। ऋण का जो मूल्य दिया जाता है, वह "ब्याज" कहलाता है। ऋण की अप्राप्ति के खतरे और ऋण काल के अनुसार सूद की दरों में अन्तर होता है। भारत में द्रव्य बाज़ार अपूर्ण समझना चाहिए।

कवाला (Paper Titles)—कवाला दो प्रकार के होते है। एक वह, जिन से नियमित आय हो और दूसरे वह, जिनकी आय अस्थिर हो। पहले प्रकार के उदाहरण है, विनिमय के बिल, सरकारी कोष के बिल, सरकार द्वारा प्रचारित ऋण और ऋण-पत्र। दूसरी प्रकार के उदाहरण कंपनियों के सामान्य स्टाक और शेयर हैं। उनसे लाभांश मिलता है और यह कंपनी की आय के अनुसार कम या अधिक होते रहते है। कुछ कवाला मध्यम श्रेणी के होते हैं, उदाहरणार्थ (Participating Preference Shares)

इस प्रकार के हिस्सों के स्वामी को एक निश्चित रकम के अतिरिक्त लाभ अधिक होने पर कुछ अतिरिक्त मिलता है। कवाला से संबन्धित सौदे स्टाक विनिमय के बाज़ारों में होते है। चूकि यह सौदे इन कामों में योग्य व्यक्तियों द्वारा किये जाते है, इसलिए इनका बाज़ार पूर्ण होता है।

अधिकार-पत्र (Rights)—अधिकार-पत्रो का क्रय-विक्रय हो सकता है अर्थात् किसी व्यापार की "सदिच्छा" अथवा अन्य फर्म का "स्वाधिकार" पत्र खरीदा जा सकता है। "वैकल्पिक" (Options) वह अधिकार है, जिनके द्वारा निश्चित तिथि के पूर्व दिये हुए मूल्य पर कोई वस्तु खरीदी जा सकती है। "भविष्य" या मुद्दती सौदा (Future) का आशय उन अधिकारों से होता है, जिनके द्वारा कोई वस्तु भविष्य की किसी तिथि में खरीदी या बेची जा सकती है। चूकि इन बाज़ारों के लोग अपने कार्य में निपुण होते है, इसलिए ये बाज़ार पूर्ण होते है।

विदेशी मुद्रायें—अन्य देशों की प्रचलित मुद्राओं को विदेशों के सौदो का भुगतान करने के लिए खरीदा जाता है और विदेशों से रुपया पाने के लिये बेचा जाता है। इनका बाज़ार विदेशी-विनिमय (Foreign Exchange) का बाज़ार कहलाता है। यह बाज़ार पूर्ण बाजार होता है।

१०. स्टॉक विनिमय संगठन (Stock Exchange Organisation)– हमारे यहां के स्टॉक विनिमय अधिकतर लंडन के स्टॉक विनिमय बाज़ार के आधार पर बनाये गये है। इनके सदस्यों के दो वर्ग होते है :—(१) आढ़ती, (२) दलाल। आढ़ती स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय करते है, किन्तु वह जनता से सीधा सपर्क नही रख सकते। उन्हे दलालों के द्वारा काम करना होता है। इसके विपरीत दलालों को केवल दलाल ही रहना होता है। वह स्वतंत्र रूप से कोई क्रय नही कर सकते। इस विशिष्टता का प्रयोजन धोखे को कम करने और पूजीपति के लिए एक सच्चा एवं कार्यकुशल संगठन प्रदान करना है।

शेयरों के क्रय-विक्रय की प्रणाली कुछ इस प्रकार है। संभावित ग्राहक अथवा विक्रेता को दलालों की एक फर्म में आर्डर देना पड़ता है, जो एक दलाल के साथ ठेका करते है। मान लीजिये 'अ' कुछ हिस्से क्रय करना चाहता है। वह स्टॉक के एक दलाल को उन्हें खरीदने का आदेश देता है। तब दलाल स्टॉक-विनिमय में जाता है, और आढ़ती से मिल कर उन हिस्सों के भाव मांगेगा।

स्टॉक-विनिमय के नियमों के अनुसार आढ़ती को सदैव क्रय-विक्रय के लिये तैयार रहना चाहिये। उसे उन हिस्सों को ,जिनकी उसे आवश्यकता नही है, क्रय के लिये और उन हिस्सों को भी, जो उसके पास नहीं है, बेचने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये। दलाल आढ़ती को यह कभी नही बतलाता कि वह खरीदना चाहता है अथवा बेचना। अतएव आढ़ती को हमेशा दो मूल्य देने पडते है। एक तो वह मूल्य, जिस पर वह खरीदेगा और

दूसरे वह मूल्य, जिस पर वह बेचेगा। मान लीजिये, एक सिक्यूरिटी जिसका अंकित मूल्य १००) है, उसका भाव आढ़ती ने १२०)-१२५) रुपये दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि वह उस सिक्यूरिटी (Security) को १२०) में क्रय करेगा और १२५) में बेचेगा। क्रय मूल्य और विक्रय मूल्य में जो अन्तर होता है, वही आढ़ती का लाभ होता है। उसे आढ़ती की बदली कहते है।

यदि दूसरा पक्ष भाव को स्वीकार कर लेता है तो सौदा तै हो जाता है। सरकारी सिक्यूरिटी या ऋण पत्र (Security) को छोड़कर अन्य सब स्टाक और शेयरों के सौदों का भुगतान इस उद्देश्य के लिये निश्चित दिनों में होता है। यह दिन चार होते है और भुगतान के दिन कहलाते है। इनमे पहले दिन तो यह निश्चित किया जाता है कि दोनों पक्ष अपने सौदे को पूरा करने में समर्थ है अथवा नही। मान लीजिये कि ग्राहक अपने खरीदे हुए शेयरों का रुपया चुकाने में असमर्थ है, तो ऐसी दशा में उसका दलाल आढ़ती को अगली भुगतान के दिन तक जो साधारणतया १५ दिन बाद पड़ता है, स्थगित करने को कहेगा। आढ़ती इस सुझाव को मान लेता है, पर खरीदार को उस रकम पर, जो उसे देनी थी, और अब जिसे वह अगले भुगतान के दिन देने की प्रतीक्षा करता है, ब्याज देना पड़ेगा। इस प्रकार का भुगतान अग्रेनवन-प्रमार (Contango) कहलाता है।

किन्तु यदि खरीदार के पास क्रय करने को रुपया है, पर आढ़ती बेचे हुए शेयरों का प्रबन्ध नही कर सकता, तो आढती भुगतान की टाल के लिये कहेगा। इसके लिये उसे रुपया देना पड़ेगा, क्योंकि शेयरों के मिलने में देर होने के कारण खरीदार को लाभांश की हानि होगी। आढ़ती समय पर शेयर न देने का जुर्माना खरीदार को देता है, वह (Backwardation) कहलाता है।

पर यदि दोनों वर्ग सौदे को पूर्ण करने के लिये तैयार व समर्थ है, तो अगले दो दिन जिन्हें "अन्तः दिन या टिकिट दिन" (Intermediate Days) कहते है, सारी कार्यवाही कर ली जाती है। खरीदार का विवरण विक्रेता के पास भेज दिया जाता है, जिससे कि शेयर नियमानुसार, खरीदार के नाम किये जा सकें। चौथे तथा अन्तिम दिन रुपए का भुगतान व शेयरों का प्रदान होता है।

११. स्टाक विनिमय के लाभ (Advantages of Stock Exchange) स्टाक-विनिमय के संगठन से अनेक लाभ होते है :—

(१) यह नियोजित पूजी के लिये बाज़ार प्रदान करता है। स्टाक और शेयरों का सन्तोषजनक वर्गीकरण हो सकता है और उनके बेचने व प्राप्त करने में सुगमता होती है। आवश्यकता पड़ने पर शेयरो का मालिक अपने शेयरों पर स्टाक-विनिमय द्वारा नकदी प्राप्त कर सकता है।

(२) इस संगठन की व्यापारिक नैतिकता नियोजकों (Investors) में विश्वास पैदा करती है तथा फलस्वरूप स्टाक-विनिमय व्यापार और उद्योग में नवीन

पूजी आकर्षित करने मे बडी मदद करता है। यदि नियोजित पूजी आसानी से प्राप्त न की जा सके तो नवीन पूजी को व्यापारिक और औद्योगिक व्यवसायो मे आने का प्रोत्साहन नही मिलेगा।

(३) स्टाक-विनिमय स्टाक और शेयरो के सौदे को सुगम व सस्ता बना देता है और इससे पूजी की गतिशीलता और परिवर्द्धन में सुगमता होती है।

(४) सिक्यूरिटियों का सही मूल्य स्टाक-विनिमयो मे निश्चित होता है। इसमे काम करने वाले अपने काम मे निपुण होते है और वह स्टाक का सही मूल्य, जो उसकी प्राप्ति पर निर्भर करता है, अनुमान कर सकते है। निस्सदेह कभी-कभी स्टाक विनिमय मे सट्टा करने वाले सिक्यूरिटियो का मूल्य ऊपरी तौर से बढा देते है और कभी अनुचित रूप से गिरा भी देते है। परन्तु इस प्रकार के परिवर्तन अस्थायी होते है। कभी-न-कभी मूल्य अवश्य अपने सही स्थान पर आ जाता है।

१२. उत्पादन-विनिमय (Produce Exchange)—जिस प्रकार स्टाक तथा शेयरो के क्रय-विक्रय के लिये विनिमय होते है, उसी प्रकार उत्पादन-विनिमय भी होते है, जिनमे गेहू, चना, कपास व सन आदि मे सटटा (परिकल्प) होता है। इन उत्पादन विनिमय बाजारो के विभिन्न नाम होते है। जैसे "गल्ला व्यापारी सघ" "कम्पनी" या "चेवर" आदि। केवल सदस्य ही सौदे कर सकते है, जो सघ की ओर से मान्य होगे। सघ के पास विभिन्न फर्मो की, जिनके साथ सदस्य सौदे कर सकते है, एक सूची होती है। केवल सपत्ति-शाली व्यक्ति ही इन समितियो के सदस्य हो सकते है।

एक कोटा (५०० मन) से कम परिमाण की वस्तु मे सौदा नही हो सकता। हर व्यक्ति को सौ रुपये प्रति कोटे की गुजाइश रखनी पडती है। यह गुजाइश कभी १०० से कम नही होनी चाहिये। यदि ऐसा होता है तो या तो समिति सौदे को रद्द कर देती है अथवा इसके पहले की गुजाइश हानि को पूरा करने मे असमर्थ हो, सौदा तय कर देती है।

सौदे दो प्रकार के होते है :(१) हाजिर माल (Spot) इसका आशय यह है कि सौदा तुरन्त पूर्ण हो जाना चाहिये। (२) Forward Transactions अर्थात् जब सौदा वर्तमान मूल्य के अनुसार हो तो वस्तु का प्रदान एक निश्चित तिथि पर भविष्य मे होता है।

इस प्रकार के सब सौदे हिन्दुस्तानी महीनो के अनुसार होते है। जैसे,वैसाख,ज्येष्ठ, हाड, भादो, असूज, मगहर, माव, आदि। पहले १५ दिनो मे विक्रेता को यह अधिकार होता है कि वह ग्राहक को वस्तु लेने के लिए कहे और बाद के १५ दिनो मे मागने का अधिकार खरीदार को होता है। महीने के अतिम दिन पर खरीदार व विक्रेता,दोनों मे से कोई भी माल लेने या देने की सूचना दे सकता है। उदाहरण के लिये यदि कोई जेठ, हाड का सौदा है, तो १६ जेठ से जेठ के महीने के अन्त तक किसी भी दिन विक्रेता माल ले लेने की सूचना

दे सकता है। खरीदार १ हाड़ से १४ हाड़ तक कभी भी माल मांग सकता है। हाड़ की १५ तारीख को, जो उस मास का आखिरी दिन है, और जिस दिन के लिए सौदा किया गया था, खरीदार या विक्रेता दोनों मे से कोई भी माल उठाने अथवा देने की सूचना दे सकता है।

यदि खरीदार माल उठाने में, उस समय जब उससे कहा जाय, असमर्थ होता है, या विक्रेता समय पर माल नही दे सकता, तो कंपनी सौदे को पूर्ण कर देती है। यदि इससे कोई हानि होती है तो वह उसको पूरी करनी पड़ती है जिसके कारण कि वह हानि हुई। जब खरीदार माल मांगता है, तो उसे कुल माल का २५ प्रतिशत मूल्य कंपनी के पास जमा कर देना पड़ता है, और विक्रेता माल सौंप देने के बाद कंपनी से मूल्य ले सकता है।

पर यदि दोनो में से कोई भी पक्ष सौदा पूर्ण करने मे असमर्थ होता है, तो उसे नये मूल्य पर, जो दूसरे पक्ष के लिये सुविधाजनक हो, सौदा रखने की आज्ञा मिल जाती है। किंतु इसके पूर्व पुरानी रकम का भुगतान हो जाना चाहिये और उस भुगतान का अंतर उस पक्ष को मिलना चाहिये, जिसे मूल्य के परिवर्तन से लाभ हुआ हो, अर्थात् यदि मूल्य गिर गया हो तो खरीदार को अंतर का भुगतान करना ही होगा।

१३. सट्टा (Speculation) :—विभिन्न बाज़ारों में सौदे केवल क्रय-विक्रय के लिये ही नही होते, बल्कि सट्टे के लिये भी होते है। सट्टे मे व्यापारी वस्तुओं को किसी विशेष समय मे होने वाले मूल्य के परिवर्तन के लाभ की आशा से खरीदते अथवा बेचते है। जब मूल्यो के हेर-फेर से लाभ उठाने के लिये सौदा वर्तमान मूल्य पर करने के पश्चात् उसकी व्यवस्था किसी भविष्य की निश्चित तिथि के लिये कर दी जाती है तो उस सोदा करने को सट्टा कहते है।

यदि कोई व्यक्ति आज गेहू क्रय करके उसकी व्यवस्था मूल्य देकर आज ही कर दे, तो उसे सट्टा नही कहेंगे। इस प्रकार के सौदे को नकद सौदा कहते है। परंतु यदि वह व्यक्ति रुपये का भुगतान किसी आने वाली तिथि पर देने का वचन करे अर्थात् यदि वह उधार खरीदे, तब यह भी सट्टा नही कहलायेगा। यह सौदा उधार सौदा कहलायेगा। यह दोनों, नकद व उधार सौदे हाज़िर सौदे है।

यदि कोई व्यक्ति ऐसा सौदा करे, जिसके अनुसार वह दो मास बाद उस समय के किसी भी मूल्य पर गेहूं खरीदने का वचन दे, तब भी वह सट्टा नही कहलायेगा, क्योंकि सट्टे के लिये यह आवश्यक है कि वस्तु का सौदा वर्तमान मूल्य पर हो, किसी भविष्य के मूल्य पर नही।

यहां तक कि एक मनुष्य चालू मूल्य पर क्रय करे और माल उठाना भविष्य में तय हो, किंतु खरीदता वह अपनी घरेलू खपत के लिए है, तो उसका यह सौदा भी सट्टा नहीं कहलायेगा, क्योंकि सट्टा लाभ के लिए किया जाता है, घरेलू आवश्यकता की पूर्ति के लिए नही।

इसलिए सट्टे की अनिवार्यताएं निम्नलिखित हुई :—

(अ) सौदा चालू मूल्य पर किया जाता है।

(ब) इसका भुगतान किसी भावी तिथि में होता है।

(स) यह सौदा केवल लाभ के लिए किया जाता है। इसलिए इसमें माल लेना या देना नहीं होता, केवल अंतर की रकम ही दी जाती है।

सट्टे को भविष्य का व्यवसाय (Dealings in Future) भी कहते हैं। सट्टे के योग्य होने के लिए किसी वस्तु में निम्नलिखित गुण होने चाहिएं :—

(१) इन चीज़ों की मांग अस्थिर होनी चाहिए पर पूर्ति की व्यवस्था जल्दी सम्भव न हो अन्यथा लाभ की सम्भावना कम हो जायगी।

(२) वस्तु का सही वर्गीकरण हो सके जिससे कि उसका स्वभाव जानने में किसी प्रकार की दुविधा की संभावना न हो। वर्गीकरण ऐसा हो, कि सौदा करते समय उसे अथवा उसके नमूने को देखने की आवश्यकता न रहे।

(३) इसकी मांग का क्षेत्र विस्तृत हो।

(४) इसको आसानी से सही-सही मापा जा सके।

सट्टे के भेद :—सट्टे का सार यह है कि इसमें मनुष्य भविष्य की ओर देखता है। भविष्य के मूल्यों मे होने वाले परिवर्तनों का सही अनुमान लगाकर सटोरिया लाभ उठाने की आशा करता है। इस प्रकार हर व्यापारिक धंधे में कुछ-न-कुछ सट्टे का अंश होता है। हर व्यापारी अनुमानित माग के आधार पर व्यापार करता है। हर व्यावसायिक धंधे में जोखिम भी होता है। पर सटोरिया अपने चतुर अनुमान के आधार पर इस जोखिम को कम कर सकता है।

सटटे के अंश के अतिरिक्त हर व्यापार में दो प्रकार के सट्टे होते है :—

(१) **उचित सट्टा** (Legitimate Speculation) **अथवा वास्तविक सट्टा**—इस प्रकार के सट्टे में उन लोगों के कार्य आते है, जो अपने कार्य में प्रवीण होते है। यह हर काम वैज्ञानिक और सही रीति से करते है। उनका काम मांग की भविष्यवाणी करना व भविष्य की पूर्ति का अनुमान लगाना होता है। इस काम के लिए वह सभी प्रकार के आंकड़ों की सूचनाओं का प्रयोग करते है। सब देशों में फसलों सम्बन्धी भविष्यवाणिया छपती हैं। इस सूचना के आधार पर सटोरिया पूर्ति का अनुमान लगाता है। राजनैतिक परिस्थितियों व लड़ाई आदि की संभावना को ध्यान में रखकर वह किसी वस्तु की मांग की भविष्यवाणी कर सकता है। वह काम में आने वाली हर प्रकार की सूचना को इकट्ठा करके भविष्य के उतार-चढ़ाव का अनुमान लगाता है। इन्ही वैज्ञानिक तथा सचेत गणनाओं के आधार पर वह सौदे करता है और यही वास्तविक सट्टा होता है।

(२) **अनुचित तथा गैर-कानूनी सट्टा**—यह सर्वथा जुआ होता है। बहुत से लोग ऐसे होते है जिनको मांग और पूर्तियों की शक्तियों का ज्ञान नही होता। वे बिना सोचे-

समझे अंधे होकर सौदा कर लेते है। इस प्रकार के सटोरिये बाज़ार भाव को अपने अनुसार बनाने का प्रयत्न करते है। प्राय इनका अनुमान सही की अपेक्षा गलत होता है। अक्सर इस प्रकार के नासमझ सटोरिये अपने को बरबाद कर लेते है। बहुत से तो असली व्यापारी भी उनके चक्कर मे आकर अपनी हानि कर लेते है।

उचित व अनुचित सट्टे मे अन्तर केवल इतना है कि पहले मे निपुण सटोरिये काम करते है और दूसरे प्रकार के सट्टे का सम्बन्ध नासमझ सटोरियो से है जो निपुण सटोरियों के अधे शिष्य होते है, पर सौदा एक ही प्रकार का करते है। यदि इसी सौदे को निपुण सटोरिये करते है, तो वह उचित होता है अन्यथा अनुचित।

१४. सट्टे के बाजार मे प्रयोग मे आने वाले कुछ शब्द*—**मूल्यारोपी** (Bulls) वे लोग होते है जो इस आशा से स्टाक और शेयर खरीदते है कि मूल्य मे वृद्धि होगी।

मूल्यापाती (Bears)—वर्तमान मे मूल्यापाती विक्रय इसलिए करते है कि उन्हे यह भय होता है कि भविष्य मे मूल्य गिरेगा। जब मूल्य बढ रहे होते है तो बाजार "तेजी" का मूल्यारोपण कहलाता है। एक-से मूल्यो के बाजार को 'मूल्यापात' अथवा 'मदी' का बाजार कहते है।

द्वंध रक्षण (Hedging)—जब व्यवसायी या उत्पादक मूल्यो के उतार-चढाव के जोखिम से बचने के लिए कोई तरकीब करता है, तो उसे द्वैध-रक्षण अथवा अग्रेजी में हैजिग कहते है। उसे कई महीनो के लिए कच्चा माल खरीद कर रखना पडता है। यदि मूल्य गिर जाय तो उसे हानि होगी। ऐसी परिस्थितियो मे वह यह सोचेगा कि उसे अपनी खरीदारी को टाल देना चाहिए था। यदि मूल्य बढ जाते है तो उसे लाभ होता है। पर इससे वह सन्तुष्ट नही होता, क्योकि वह उसके व्यवसाय के घेरे में नही आता। चूकि उसका काम उत्पादन है, कच्चे माल का व्यापार नही, इसीलिए उसे कोई उत्साह नही होता। वह अपने उत्पादन कार्य मे जोखिम लेने के लिए तैयार होता है, पर कच्चे माल के मूल्यो के उतार-चढाव मे नही। वह उससे बचना चाहता है। इसे वह कैसे कर सकता है? उदाहरण के लिए एक आटा पीसने वाले को ले लीजिए। उसने १०) प्रति मन के हिसाब से २०,००० मन गेहूँ लिया। पर बाद मे मूल्य गिर कर ८) प्रति मन हो गया। इससे उसे २) प्रति मन अर्थात् ४०,०००) रुपए की हानि हुई। पर यदि मूल्य बढ़कर १२) रुपये प्रति मन हो जाय तो उसे ४०,०००) रुपये का लाभ होगा। वह यह प्रयत्न करेगा कि इस हानि की सभावना न रहे, चाहे लाभ हो अथवा न हो। ऐसी परिस्थिति मे वह द्वैध-रक्षण का सहारा लेगा। जब वह १०) प्रति मन के भाव से २०,००० मन गेहूं स्थायी बाजार मे खरीदता है तो उसीको इसी मूल्य पर भविष्य बाज़ार में बेच देता है। अब मान

*इन शब्दों का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ, साँड अपने शत्रु को ऊपर और रीछ नीचे फेंक देता है।

लीजिए, मूल्य गिर कर ८) प्रति मन हो गया और उसे स्थायी बाज़ार मे ४०,०००) का घाटा हुआ। पर भविष्य के बाज़ार मे उसे ४०,०००) का लाभ होगा, क्योकि तब उसे, ८)रुपये प्रतिमन के हिसाब से गेहूं मिलेगा और वह उसे १०) प्रतिमन के भाव से बेचेगा। इस प्रकार एक सौदे की हानि दूसरे सौदे के लाभ से पूरी हो जाती है। और इस प्रकार न उसकी हानि होती है और न लाभ, और वह यही चाहता था। वह अपने आटा पीसने के व्यवसाय के लाभ के अतिरिक्त किसी प्रकार की हानि अथवा लाभ का भार उठाना नही चाहता।

इस प्रकार के सौदे द्वैध-रक्षण के सौदे कहलाते है। इनसे व्यापारी ऐसे घाटों को पूरा करके जिनका सम्बन्ध उसके व्यापार से नही होता, जोखिम को कम कर लेते है।

विकल्प (Options)—सटोरिया विकल्प खरीद लेता है, जिसके द्वारा वह हानि वाले सौदे मे से निकल सकता है। विकल्प तीन प्रकार के होते है :—

(१) **याचना विकल्प** (Call Option)—मान लीजिए, मैंने १०) मन के हिसाब से गेहूं लिया किन्तु भुगतान के समय उसका मूल्य गिरकर ८) प्रति मन रह गया। इस प्रकार मुझे २) प्रति मन की हानि हुई। यदि मैंने ५००० मन गेहू खरीदने का ठेका लिया था, तो कुल ठेके में मुझे १००००) का घाटा हुआ। पर यदि मैंने याचना-विकल्प अर्थात् एक आना मन देकर, खरीदने या न खरीदने का अधिकार खरीद लिया है, तो मै १ आना फी मन देकर गेहू न खरीदने के विकल्प का प्रयोग करूगा। इस प्रकार २) मन के स्थान पर मुझे केवल एक आना फी मन का घाटा होगा।

(२) Put Option—अर्थात् बेचने अथवा न बेचने का विकल्प—मैंने ५००० मन गेहू १०) फी मन के हिसाब से बेचने का सौदा किया, किन्तु नियत तिथि पर बाज़ार भाव १२)हो गया। इससे मुझे २)प्रति मन का घाटा होगा अर्थात् कुल १०,००० रुपये का। पर यदि मैंने (Put Option) खरीद ली है, तो मुझे बेचने से इन्कार कर देने का भी अधिकार होगा। अन्यथा मुझे १२ रुपये के भाव से खरीद कर १०) रुपये के भाव बेचना पडेगा। किन्तु विकल्प ले लेने से मेरी हानि कुल सौदे की हानि की तुलना में नाम-मात्र की होगी।

(३) **दोहरा विकल्प** (Double Option)—इस प्रकार के विकल्प से मुझे इस बात का अधिकार हो जायगा कि मै अपना हानि-लाभ ध्यान मे रखकर वस्तु खरीदूं अथवा बेच दू। पर इस दोहरी विकल्प को खरीद कर मै यह नही कह सकता कि मुझे लाभ ही होगा। क्योकि लाभ या हानि इस बात पर निर्भर करता है कि मैंने विकल्प का क्या मूल्य दिया है तथा मूल्य मे परिवर्तन की क्या सीमा है। यदि मैंने दोहरे विकल्प के लिए ४ आने प्रति मन दिया है और मूल्य में परिवर्तन भी ४ आने के बराबर ही हुआ है, तो न हानि होगी, न लाभ। पर यदि उतार-चढ़ाव इससे अधिक होगा तो मै खरीदने अथवा बेचने के अपने अधिकार को प्रयोग में लाकर लाभ उठा लूगा। पर यदि मूल्य-

परिवर्तन दोहरे विकल्प से कम हुआ, तो मुझे अवश्य ही हानि होगी।

(४) **हस्तेकरण** (Corner)—यदि कोई व्यापारी या व्यापारियों का कोई मंडल बाज़ार की संपूर्ण पूर्ति अथवा एक बड़े भाग को मुट्ठी में करने का प्रयत्न करे, तो अर्थशास्त्र में उसके इस कार्य को हम "हस्तेकरण" कहेंगे। इसका ध्येय पूर्ति को नियमित करके एकाधिकार का मूल्य प्राप्त करना होता है। जब आवागमन के साधन इतने विकसित नही थे और धनी-पुरुषों की संख्या कम थी, तब हस्तेकरण अधिक सरल था। पर वर्तमान युग में वह इतना सरल नही रह गया है। गेहूं, कपास अथवा पटसन की सारी पूर्ति खरीदने के लिये करोड़ों रुपये की आवश्यकता होगी। यदि इसका प्रयत्न भी किया जाय तो यह असफल रहेगा, क्योकि वह वस्तु संसार के दूसरे मार्गो से लाई जा सकती है, और इस प्रकार हस्तेकरण भंग हो जायगा।

१५. सट्टे के लाभ और भय (Benefits and Dangers of Speculation) :—आधुनिक व्यापार व्यवसाय में सट्टे का एक महत्वपूर्ण और लाभप्रद स्थान है। इसके अपने अनेक निजी लाभ है। समय के नियत भाग मे मांग व पूर्ति की शक्तियों को समान करके यह मूल्य को स्थिर रखता है। मान लीजिये, कपास का वर्तमान मूल्य १०) प्रति मन है और एक प्रभावशाली सटोरिया इस निर्णय पर पहुंचता है कि मूल्य १८) तक बढ़ेगा। इस निर्णय के आधार पर वह अधिक-से-अधिक कपास खरीदने का प्रयत्न करेगा। दूसरे सटोरिये भी यही करेगे। इससे कपास की मांग अनायास ही बढ़ जायेगी, और फलस्वरूप उसके भाव मे वृद्धि हो जायगी। थोड़े ही समय मे मूल्य बढ़कर १०) से १३) हो सकता है। यदि सट्टा न होता तो मूल्य बढ़कर १८) प्रति मन हो गया होता, पर सटोरियो ने भविष्य में बेचने के लिये कपास बडी मात्रा में खरीद ली। इससे पूर्ति बढ़ जायगी और फलस्वरूप मूल्य उतना नही बढ़ेगा, जितना कि बढ़ने की आशा थी। बहुत संभव है कि १८) प्रतिमन के बजाय यह मूल्य १५) पर ही रुक जाय। इसके अर्थ यह हुए कि सट्टे के कारण मूल्य का अन्तर घट कर (१८–१० रु०) आठ रुपये से २ रुपये (१५–१३ रु०) रह गया।

अस्तु, यदि निपुण सटोरिये भविष्य मे मूल्य बढने की आशा समझते है, तो वे बाद में लाभ उठाने के लिये अधिकाधिक क्रय शुरू कर देते हैं। वर्तमान खरीदारी एकदम मूल्य को बढ़ा देती है और उसके बाद का होने वाला विक्रय भविष्य में कीमतों को और अधिक बढ़ने से रोकता है। इसका फल यह होगा कि वर्तमान मूल्यस्तर और भविष्य के मूल्यस्तर के अन्तर में कमी हो जायगी।

इसी प्रकार यदि निपुण सटोरिये भविष्य में मूल्य के गिरने की आशा करते हैं तो वह वर्तमान में खरीदारी कम कर देंगे। यही नहीं, वह भविष्य में प्रदान की शर्त पर बेचना प्रारम्भ कर देंगे। मांग में कमी, अधिकाधिक वर्तमान विक्रय मूल्य को तत्क्षण गिरा देगी। और जब प्रदान के लिये वह बाद में वस्तु खरीदेंगे तो भविष्य में मूल्य में होने वाली संभावित

कमी का डर अधिक नही रह जायगा। इस भांति यहां भी सट्टे ने मूल्यों के स्तर को कम कर दिया। इस प्रकार मूल्यों की गिरावट या घटी भी कम हो जाती है।

संक्षेप में कुशल सटोरियों के कार्य कीमतो के भीषण उतार-चढाव के भय को समाप्त कर देते है। यदि सट्टा न होने पर मूल्य बढ़ते तो सट्टे के रहते हुए वे कम बढ़ते है। और यदि मूल्य गिरने की आशा होती है, तो सट्टे से वे कम गिरते है। इस प्रकार सट्टा मूल्य को स्थिर रखता है। सटोरिये मांग व पूर्ति के बीच सन्तुलन लाने में बहुत सहायक होते है।

मूल्यों में भीषण परिवर्तन समाज के लिये हानिकारक होता है। आर्थिक जीवन में इससे उथल-पुथल हो जाती है। मूल्य के सदा घटते-बढ़ते रहने से एक प्रकार की अनिश्चितता का वातावरण पैदा हो जाता है, जो उद्योग व व्यवसाय के लिये बहुत बुरा होता है। सटोरिये मूल्यों में भीषण परिवर्तन को रोक कर समाज की बडी सेवा करते है।

स्थिर मूल्य (१) उपभोक्ता (२) उत्पादक (३) समस्त समाज के लिये बहुत लाभदायक होते है।

(१) जब मूल्य स्थिर होते है, तो उपभोक्ता अपने व्यय का अधिक सही अनुमान लगा सकता है। मूल्यो के भीषण परिवर्तन से उसके पारिवारिक बजट में बडी गड़बड़ी मच जाती है जिससे पारिवारिक आर्थिक जीवन में अनिश्चितता आ जाती है। इसके फलस्वरूप अपनी आय से अधिकाधिक संतुष्टि प्राप्त करने का उसका प्रयत्न असफल हो जाता है। पर यदि मूल्य स्थिर हों तो उसके अनुमान सही व सरल हो जाते है। अतएव सटोरिया मूल्यों मे स्थिरता लाकर उपभोक्ता का बड़ा उपकार करता है।

(२) उत्पादक को भी सटोरियों के कार्यो से लाभ होता है। वर्तमान औद्योगिक प्रणाली में मांग के बहुत पूर्व ही उत्पादन-कार्य प्रारम्भ हो जाता है। यदि कच्चे माल के मूल्यों में भीषण उतार-चढाव होंगे, तो उत्पादक के सारे हिसाब उलट-पलट जायेंगे। सटोरिया इस भय को कम कर देता है। वह मूल्य को अधिक स्थिर बना कर मूल्य परिवर्तन की सारी चिन्ता को उत्पादक के हृदय से निकाल देता है। मूल्यों में होने वाले भावी परिवर्तनो की भविष्यवाणी करके उनसे लाभ उठाना सटोरिये का ही कार्य है। वह अपने कुशल अनुमान के आधार पर भविष्य के मूल्यो के उतार-चढ़ाव को देख सकता है। इस प्रकार परिस्थिति से लाभ उठाने के प्रयत्न में वह अनजाने ही मूल्य के उतार-चढ़ाव को कम कर देता है जिससे उत्पादकों को बड़ा लाभ होता है। द्वैध-रक्षण में हम देख चुके है कि किस प्रकार उत्पादक बाहरी जोखिम को कम करने का प्रयत्न करता है।

(३) यही नहीं, सट्टे से सारे समाज को लाभ होता है। कारण अपने कार्यों से सटोरिये समाज का ध्यान भविष्य में संभावित वस्तु की कमी अथवा अधिकता की

ओर आकर्षित करते है। यदि वस्तु कम होनेवाली है तो हमें नियन्त्रण से काम लेना चाहिये। और यदि उसकी पूर्त्ति बढ़ने वाली है तो उसको अधिक परिमाण मे रखना अनावश्यक व जोखिम से भरा होगा। सटोरियो की समाज की यह सेवा बडे महत्त्व की है।

(४) सटोरियो से वस्तु के आर्थिक वितरण में भी काफी सहायता मिलती है। वे अपने कार्य मे कुशल होते है। केवल यही नही जानते कि मूल्य कब घटेंगे अथवा बढेंगे बल्कि यह भी जानते है कि मूल्य कहाँ अधिक है और कहाँ कम। वस्तु की गति उस ओर होती है जहाँ मूल्य अधिक होते है। इसका फल यह होगा कि ऊचे मूल्यों वाले स्थानो मे मूल्य का बढना रुक जायगा, और जहा मूल्य कम होगे वहा उनमें कुछ वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार सट्टे से वस्तु का वितरण ठीक हो जाता है। **सटोरिया वर्तमान पूर्ति में कोई वृद्धि नहीं कर देता, यह उनको घटाता भी नहीं है, पर उसके कार्य वर्तमान व भविष्य की माँग व पूर्ति को समता की ओर लाते है।**[1] और हम एक स्थान को दूसरे से जोड सकते है।

(५) स्टाक विनिमय में सट्टा स्टाक विनिमय के सौदे सुगम करके पूजी बढाता है, तथा पूजी लगाने वाले का मार्गदर्शक का काम करता है। यह नई पूजी को बढाने में सहायक होता है तो भी कीन्स का कथन है कि स्टाक विनिमय सटोरिया हमारी आर्थिक व्यवस्था में अधिकतर अस्थिरता लाता है। यह धनी सजीव सटोरियो की क्रियाओं के कारण होता है।

सट्टे को आर्थिक स्थिरता के बनाने मे बहुत कुछ करना पड़ता है। यह स्थिरता, मूल्य स्थिरता तथा आय स्थिरता का रूप ले सकती है।

पर यदि अज्ञानी लोग सट्टा करते है तो यह जुआ-मात्र होता है। उनके अनुमान कभी-कभी ठीक नही उतरते। ऐसा भी होता है कि जब बेचना चाहिये, वे खरीदना प्रारम्भ कर देते है और इस प्रकार मूल्य के उतार-चढाव को कम करने की अपेक्षा बढा देते है। इस प्रकार का सट्टा समाज के लिये अहितकर होता है।

यह सर्वविदित है कि किस प्रकार सन् १९२९ में न्यूयार्क मे सटोरियों की कार्य-वाहियो के कारण वाल स्ट्रीट (न्यूयार्क स्टाक एक्सचेज) मे भीषण हानि हुई थी। सट्टे के कारण स्टाक के मूल्यों को उनके वास्तविक और भावी मूल्यो से कही अधिक बढ़ा दिया गया था। न्यूयार्क के स्टाक विनिमय में मासिक विनिमय की मात्रा १८० लाख हिस्सो से बढकर दस करोड़ के हिस्सों तक पहुच गई। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही विस्फोट हुआ जिससे हजारो अमरीकी सटोरिये तबाह हो गये। इसका प्रभाव सारे संसार पर पड़ा तथा जगत को भीषण संकट ने जकड़ लिया। इसी सकट ने "मंदी" को जन्म दिया। आर्थर साल्टर (Arthur Salter) के शब्दों में **"आर्थिक तत्वों पर आधारित सट्टा लाभदायक हो सकता है पर अनुमान का सट्टा सदैव हानिकर होता है"।**[1]

1. Brij Narain—Principles of Economics 1945, p. 83.

सट्टे को सारे औद्योगिक व व्यावसायिक कामों का 'नमक' कहा गया है। एक भारतीय लेखक ने इस उपमा को ठीक मान कर कहा है, "अक्सर ऐसा होता है कि खाने वाला, बिना नमक का खाना खाने से इन्कार अवश्य कर देता है। पर इसी प्रकार वह अधिक नमक पडे हुए खाने को भी वापस कर सकता है।"

सट्टा अच्छा अवश्य है, पर अधिक सट्टा बुरा होता है। यदि सट्टा एक-मात्र ध्येय बन जाय तो यह भयानक हो जाता है। जब ऐसा हो जाता है और उत्पादन कार्यों से लाभ की आशा न रखकर केवल इन अनुमानों पर अवलंबित रहती है कि शायद मूल्य घटे या बढे अथवा इस बात पर आधारित होती है कि खरीद के मूल्य व विक्रय के मूल्य से लाभ होगा, तब सट्टे का कार्य वास्तविक क्षेत्र से हटकर खेल में, कारखाने से हटकर स्टाक विनिमय में, उत्पत्ति के क्षेत्र से हटकर वितरण अथवा पुनर्वितरण मे परिवर्त्तित हो जाता है। और इस प्रकार दूसरे की शक्ति पर किसी एक के अमीर होने से धन बिना किसी विशेष वृद्धि के व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को चला जाता है।"[1]

निर्देश पुस्तके

Marshal—Principles of Economics, 1936, pp. 112,323-332.

Benham—Economics, 1940 pp. 20-42.

Brij Narain—Principles of Economics, 1945 Ch. VI pp. 75-84.

Robinson, Joan—The Economics of Imperfect Competition.

Chamberlain, E. H.—The Theory of Monopolistic Competition, Ch. I.

Pigou, A. C.—Economics of Welfare.

Meyers, A. L.—Elements of Modern Economics, 1952 Ch. VIII.

Kaldon on "Speculation and Economic Stability in review of Economic Studies, 1941.

Harrod, R. F.—"Doctrine of Imperfect Competition" in Quarterly Journal of Economics, 1932.

1. Brij Narain—Principles of Economics, 1945 p. 83,

अध्याय १८

पूर्त्ति तथा पूर्त्ति का नियम
(SUPPLY AND THE LAW OF SUPPLY)

१. भूमिका—पूर्ति व मांग की शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष से मूल्य का निर्धारण होता है। मांग का अध्ययन हम लोग कर चुके है। पूर्ति व मांग की समानता कैसे स्थापित होती है, इसे समझने के पहले यह आवश्यक है कि हमको पूर्ति व पूर्ति नियम का भी कुछ ज्ञान हो।

२. पूर्त्ति व स्कंध (Supply and Stock):—जिस प्रकार मांग उस मात्रा को कहते है, जो एक विशेष मूल्य पर मांगी जाती है, उसी प्रकार पूर्ति विशेष मूल्य पर विक्रय के लिये रक्खे गये परिमाण को कहते है। हम पूर्ति की परिभाषा इस प्रकार कर सकते है कि "पूर्ति किसी वस्तु की मात्राओं की वह अनुसूची है जो विक्रय के लिये विभिन्न कीमतों पर किसी समय में, उदाहरणार्थ एक दिन, एक सप्ताह इत्यादि जिसमें पूर्ति की सभी दशाएं स्थिर हो, प्रस्तावित की जाय।" (मीअरस) पर पूर्ति और स्कंध में अतर होता है। स्कंध तो वस्तु के उस संपूर्ण परिमाण को कहते है जो थोड़े समय के भीतर बाज़ार में बिकने के लिये रक्खा जा सकता है। यह आवश्यक है कि कुछ वस्तुओं के स्कंध व पूर्ति एक ही होते है। यह वस्तुएं वे होती है जिनका थोड़े समय के अन्दर ही बिकना आवश्यक होता है चाहे मूल्य कम हो या अधिक। इस वर्ग में शीघ्र नष्ट होने वाली मछली व फल जैसी वस्तुओं की गणना होती है। पर जो वस्तुएं शीघ्र नष्ट नही होती उनको मूल्य ठीक न होने पर विक्रय से रोका भी जा सकता है। ऐसी दशा में अकसर पूर्ति पूर्ण स्कध का छोटा-सा भाग मात्र होती है। यदि मूल्य अधिक है तो विक्रेता कुल मात्रा का अधिक भाग बेचने को तैयार होते है, पर यदि वस्तु का प्रचलित मूल्य कम होता है तो स्कध राशि का बहुत थोडा-सा भाग विक्रय के लिये निकाला जाता है। अर्थशास्त्र में 'वस्तु' शब्द का प्रयोग एक निश्चित तात्पर्य में किया जाता है। साधारण बोलचाल में साबुन वस्तु है पर अर्थशास्त्र में साबुन के सभी प्रकार हमाम, लक्स, रेक्सोना इत्यादि वस्तु है। 'उत्पादित' वस्तु के अलगाव में हर स्थूल वस्तु अपनी सेवाओं के साथ वस्तु कहलायेगी। "स्थूल वस्तु का रूप वस्तु कहलाने के लिये उस प्रकार होगा जिस रूप में उसका बण्डल बनता है, उसका विज्ञापन होता है, उससे सेवा ली जाती है तथा व्यक्तिगत विक्रेता द्वारा बेची जाती है।" (मीअरस) इस परिभाषा से अभिप्राय वस्तु की सभी इकाइयों की समानता से है। जब हम अपूर्ण प्रतियोगिता में किसी विक्रेता की वस्तुओं की व्यक्तिगत मांग के विषय में सोचते है तो हम वस्तु शब्द का प्रयोग इसी तात्पर्य से करते हैं। परन्तु जब हम किसी वस्तु की साधारण बाज़ार मांग का विचार करते हैं

तो वस्तु शब्द के उचित प्रयोग के लिये साधारण तात्पर्य में वस्तु शब्द का प्रयोग करना चाहिये ।

३. पूर्त्ति-नियम (The Law of Supply)—अब हम पूर्ति-नियम का अध्ययन करेगे । जिस प्रकार मांग का एक नियम है उसी प्रकार पूर्ति के लिये भी एक नियम है । इस नियम को इस प्रकार बताया जा सकता है—यदि और परिस्थितियां पूर्ववत् हों, तो वस्तु का मूल्य बढने से पूर्ति में वृद्धि होती है व मूल्य घटने से पूर्ति कम हो जाती है । यहां पर यह बात विचारणीय है कि पूर्ति में माग के नियम से बिल्कुल विपरीत होता है । जब मूल्य बढ़ता है तो पूर्ति बढ़ती है लेकिन माग में घटी होती है । ऐसा इसलिये होता है क्योंकि अधिक मूल्य से विक्रेताओं को व कम मूल्य से ग्राहकों को लाभ होता है ।

४. पूर्त्ति अनुसूची (Supply Schedule)—माग अनुसूची की तरह जो कि समझाई जा चुकी है (अध्याय १६ भाग २) हम किसी व्यक्ति की पूर्ति अनुसूची बना सकते हैं । बाज़ार में विभिन्न मूल्यों पर विक्रेता वस्तुओं को जिस परिमाण में पूर्ति करते है उनको जोड़ कर हम किसी वस्तु की पूर्ति अनुसूची बना सकते है ।

मान लीजिये सेवों की पूर्ति अनुसूची इस प्रकार है :—

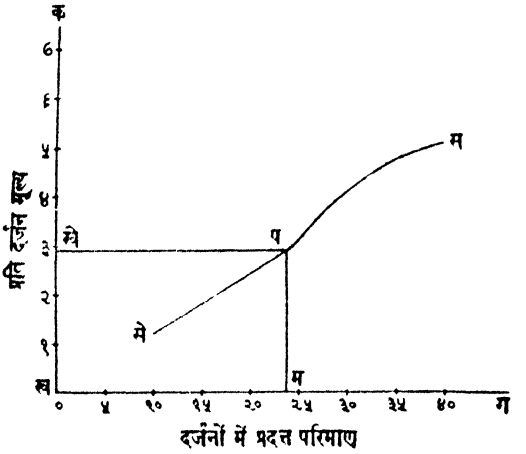
मूल्य प्रति दर्जन (रुपये मे)	पूर्ति की मात्रा (दर्जनों में)
७	४०
६	३०
५	२९
४	२६
३	२३
२	१६
१	१०

इससे हमें यह ज्ञात होता है कि जब मूल्य ७ रुपये प्रति दर्जन तक बढ़ जाता है तो ४० दर्जन सेवो को बिक्री के लिये बाज़ार में रक्खा जाता है । पर ज्यों-ज्यों मूल्य गिरता जाता है पूर्ति की मात्रा भी कम होती जाती है; यहां तक कि जब मूल्य गिर कर १ रुपया प्रति दर्जन हो जाता है तो केवल १० दर्जन सेव बिकने के लिये आते हैं । इसके अर्थ यह हुए कि ज्यों-ज्यों मूल्य गिरता जाता है, पूर्त्ति कम होती जाती है और ज्यों-ज्यों मूल्य बढ़ता जाता है, पूर्त्ति में भी वृद्धि हो जाती है । इसी को पूर्ति का नियम कहते हैं ।

५. पूर्त्ति रेखा (Supply Curve)—उपर्युक्त पूर्ति अनुसूची को एक वक्र या रेखा में प्रस्तुत किया जा सकता है । इस प्रकार के वक्र को पूर्त्ति रेखा

कहते है जो माग वक्र से मिलता-जुलता है ।

ख, ग रेखा पर वस्तु का परिमाण अकित है और ख, क रेखा पर मूल्य । स स' पूर्ति वक्र है । पर पूर्ति वक्र के किसी बिन्दु प से ख ग रेखा पर एक लम्ब प म खीचा व प म', ख क पर खीचा जाय तो पत्र के मूल्य पर (=ख ख') प ख' (=ख क) परिमाण पूर्ति किया जा सकता है ।

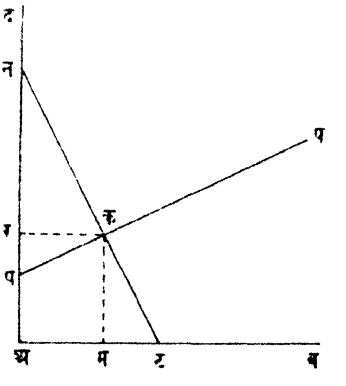


चित्र नं १८

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पूर्ति वक्र दाहिनी ओर से बाई ओर को झुकता है, जब कि माग वक्र बाई ओर से दाहिनी ओर को झुकता है। इसका कारण यह है कि जब मूल्य गिरता है तो माग बढ जाती है पर पूर्ति कम होती है और जब मूल्य बढता है तो माग कम हो जाती है व पूर्ति मे वृद्धि होती है ।

लोच की माप—नीचे दिये हुए रेखा चित्र द्वारा पूर्ति की लोच को मापा जा सकता है ।

प प' पूर्ति की रेखा है । इस पर कोई बिन्दु क ले लो । इस बिन्दु से एक सीधी लाइन खीचो जो, अ द को न स्थान पर मिले, अ व को ट स्थान पर । इसके बाद क बिन्दु से फिर एक लाइन खीचो जो अ ब को म पर और अ द को र पर मिले ।



चित्र नं. १९

ऐसी दशा मे पूर्ति की लोच इस प्रकार मालूम की जा सकती है —

$$\text{पूर्ति की लोच} = \frac{\text{म र}}{\text{अ म}}$$

$$\text{,, ,,} = \frac{\text{र न}}{\text{अ र}}$$

६. संरक्षित कीमत (Reserve Price)—हम यह देख चुके हैं

कि पूर्ति की मात्रा कीमत पर निर्भर रहती है। पूर्ति कीमत के साथ-साथ बदलती है। यदि कीमत घटती है तो पूर्ति भी घट जायेगी। परन्तु यदि कीमत अधिक घटती है तो हो सकता है कि पूर्ति का पूर्णतया अन्त हो जाये। वह कीमत जिससे कम विक्रेता बेचना अस्वीकार कर देगा "सरक्षित कीमत" अथवा "प्रकरण कीमत" कहलाती है। इस कीमत पर विक्रेता स्वय अपनी राशि क्रय करता है। विक्रेता इस कीमत पर बेचने की अपेक्षा अच्छी कीमत पाने के लिये प्रतीक्षा करेगा।

वे कारण जिन पर सरक्षित कीमत निर्भर रहती है, बहुत से है —

(१) सरक्षित कीमत वस्तु की इच्छा अथवा उसकी क्षयशीलता पर निर्भर होगी। जितनी ही अधिक क्षयशीलता होगी उतनी ही कम सरक्षित कीमत होगी।

(२) उस वस्तु की सरक्षित कीमत जो शीघ्र नाशवान नही है विक्रेता के भविष्य के मूल्य निरूपण पर निर्भर होगी।

(३) यह भविष्य की लागत पर भी निर्भर होगी। यदि लागत के गिरने की सभावना है तो सरक्षित कीमत कम होगी तथा प्रतिक्रम भी।

(४) सरक्षित कीमत उस व्यय पर भी निर्भर होगी जो राशि के रखने म होगा। अतएव समय जिसम राशि को रखना होता है महत्त्वपूर्ण होता है। जितना ही समय अधिक होगा कीमत उतनी ही कम होगी।

(५) विक्रेता की नकद धन की चाह भी एक निर्णय करने वाला कारण है। जितनी ही अधिक तीव्र नकद धन की चाह होगी उतनी ही कम कीमत होगी। कुछ दृढ़मन व्यापारी भतकाल मे किए गए व्यय को बहुत महत्व देते है तथा अधिक सरक्षित कीमत निश्चित करते है चाहे उन्हे बाद म हानि ही क्यो न हो।

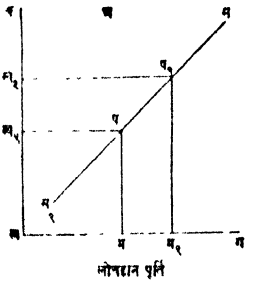
७ पूर्त्ति की लोच (Elasticity of Supply)—माग की लोच की भाति पूर्ति की भी लोच होती है। जब मूल्य मे थोड़ी-सी कमी स भी पूर्ति बहुत गिर जाती है तो पूर्ति अपेक्षाकृत लोचदार होती है। पर जब मूल्य म बहुत बड़ी कमी हो जाने पर भी पूर्ति मे बहुत कम कमी होती है, तो पूर्ति अपेक्षाकृत लोचहीन कहलाती है। इसी प्रकार मूल्य-वृद्धि मे इसका उल्टा होता है। यदि तनिक मूल्य बढ़ने मे पूर्त्ति म अतीव वृद्धि हो जाय तो पूर्ति लोचदार होती है। पर यदि मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाने पर पूर्त्ति में अपेक्षाकृत कम वृद्धि हो तो पूर्ति लोचहीन होती है।

वास्तव मे पूर्ति की लोच उस सरलता की माप है जिससे एक व्यवसाय बढ़ाया जा सकता है तथा उसका सीमान्त लागत पर प्रभाव जाना जा सकता है। यदि कीमत मे थोड़ी वृद्धि मे उद्योग मे ऐसी बहुत-सी व्यवसायी सस्था (Firms) आ जाए, जिनके अल्पतम औसत लागत कीमत के बराबर रहती है तथा सीमान्त लागत नही बढ़ती, तो पूर्ति पूर्णतया लोचदार कही जाती है; तो भी यदि बढ़ी हुई उत्पत्ति केवल कीमत में

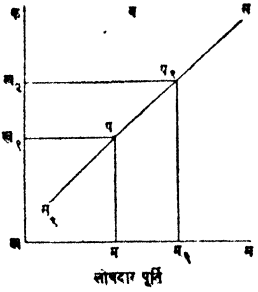
अपरिमित वृद्धि से पाई जा सकती है तथा कोई नई संस्था (Firm) उद्योग की ओर आकर्षित नहीं होती तो पूर्ति लोचदार नहीं होगी। इन दो सीमाओं के बीच लोच की कई श्रेणी होगी। लोच की श्रेणी एक विशिष्ट स्थिति में संस्थाओं की सीमान्त लागत वक्रों के बहाव (Slope) तथा औसत लागत वक्रों के आकार पर निर्भर होगी।

"पूर्ति की मात्रा व मूल्य में कुछ ऐसा ही सबंध है जैसे कुत्ते व सीटी में होता है। सीटी जितनी ही अधिक तीव्रता से बजेगी, उतनी ही अधिक तेजी से कुत्ता दौड़ेगा। इसी प्रकार मूल्य बढ़ते ही मात्रा अनायास ही बढ़ जाती है। यदि कुत्ता सचेत होगा—अर्थ शास्त्र की भाषा में लोचदार होगा—तो सीटी की क्षीण-सी ध्वनि से वह दौड़ पड़ेगा, पर यदि कुत्ता चेष्टाहीन अथवा लोचहीन होगा, तो जब तक सीटी बहुत जोर से नहीं बजेगी वह नहीं दौड़ेगा।"[1]

निम्नलिखित वक्रों में पूर्ति के लोच की मात्रा स्पष्ट हो जायगी —



चित्र नं० २०



चित्र नं० २१

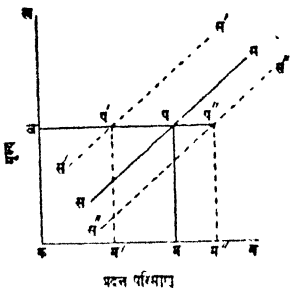
अ में पूर्ति लोचहीन है। मूल्य ख ख$_1$ से ख ख$_2$ तक बढ़ता है। पूर्ति ख क से ख क$_1$ तक बढ़ती है। इस प्रकार (ख$_1$ ख$_2$) बहुत बढ़ जाने पर पूर्ति (म क$_1$) में वृद्धि बहुत कम हुई।

ब में पूर्ति लोचपूर्ण है। मूल्य (ख$_1$ ख$_2$) की तनिकसी वृद्धि से पूर्ति में अतीव वृद्धि (क क$_1$) हो जाती है।

८. पूर्ति में वृद्धि व कमी (Increase and Decrease in Supply)——मांग में वृद्धि व कमी की भांति ही पूर्ति में भी वृद्धि व कमी हो सकती है।

यदि उसी मूल्य पर अधिक मात्रा विक्रय के लिये रक्खी जाती है तो उसका अर्थ यह होता है कि पूर्ति बढ़ गई है और जब उसी मूल्य पर कम मात्रा विक्रय के लिये रक्खी जाती है पूर्ति घटने का आशय होता है। साथ दिये चित्र से यह

१. Boulding—Economic Analysis—1949—P. 128.



चित्र नं० २२

स्पष्ट हो जायगा ।

यदि परिवर्तन के पूर्व पूर्ति वक्र स स है तो स^1 स^1 पूर्ति में कमी दिखाता है क्योंकि उसी मूल्य क ज (=प' म') पर पूर्ति की मात्रा कम हो जाती है (क म के बजाय क म^1) । स'' स'' पूर्ति मे वृद्धि दिखलाता है क्योंकि उसी मूल्य क ज पर (=प'' म'') पर अधिक मात्रा विक्रय के लिये रक्खी जाती है, बजाय क म के क म'' ।

विद्यार्थियों को सावधानी के साथ 'पूर्ति की मात्रा मे वृद्धि' तथा 'पूर्ति में वृद्धि' का अतर जान लेना चाहिये। 'पूर्ति मे वृद्धि' का अर्थ यह है कि पूरा पूर्ति वक्र दाहिनी ओर एक नए स्थान को ग्रहण कर लेता है। यह पूर्णतया एक नया वक्र है। परन्तु 'पूर्ति की मात्रा मे वृद्धि' का अर्थ केवल यह है कि ऊंची कीमत पर अधिक विक्री के लिये प्रस्तावित किया जा रहा है । पूर्ति वक्र वही रहता है। उसी वक्र के साथ-साथ चलना केवल कीमत के परिवर्तन के साथ पूर्त्ति की मात्रा में परिवर्त्तन बतलाता है। यह पूर्ति की अनुसूची मे कोई परिवर्तन नही प्रस्तुत करती।

९. पूर्त्ति मे परिवर्तन के कारण (Causes of Changes in Supply)—माग के अध्याय मे हम माग मे परिवर्तन के कारणो का अध्ययन कर चुके है। अब हम पूर्ति मे परिवर्त्तनो के कारणो का अध्ययन करेगे। पूर्ति मे वृद्धि अथवा कमी कई कारणो से होती है।

सर्वप्रथम तो उत्पादन के विभिन्न साधन जैसे कच्चा माल आदि की कीमतो मे वृद्धि से किसी वस्तु की उत्पादन लागत बढ जाती है। उसमे पूर्ति की मात्रा कम हो जायगी। इसके विरुद्ध उन साधनो के मूल्य मे कमी होने पर उत्पादन बढ जायगा और फलस्वरूप पूर्ति भी बढ जायगी। दूसरे महायुद्ध के बाद मे आवश्यक वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य बढ जाने मे पूर्ति की परिस्थितिया बदल गई है। अब पुराने भावो पर वस्तुओ की पूर्ति सभव नही है ।

दूसरे, जहां तक कृषि का संबध है, अच्छी वर्षा, सिंचाई में उन्नति, खाद की अधिक पूर्ति और उत्पादन की उन्नतिशील रीतियों के प्रयोग मे स्वभावत: पूर्ति में वृद्धि होगी । दूसरी ओर यदि वर्षा नही होगी, अथवा बाढ़, आग, तूफान या भूचालो का प्रकोप होगा तो पूर्ति कम हो जायगी । भारत में अनाज की पूर्ति बहुत कुछ मौसमी वर्षा पर निर्भर करती है । कृषि के काम में आने वाली भूमि की वृद्धि से भी पूर्ति बढ़ जायगी । लड़ाइयों के समय में रूस, आस्ट्रेलिया, कैनेडा व अमरीका में ऐसा हुआ था ।

तीसरी बात यह है कि औद्योगिक उन्नति द्वारा तथा बाज़ार व उत्पादन के अधिक सुव्यवस्थित सगठन से भी उत्पादन लागत प्रभावित होती है। इससे पूर्ति बढ़ जाती है। दूसरी ओर वस्तु के उत्पादन पर अथवा उत्पत्ति के साधनो पर अधिक कर लगने से पूर्ति मे कमी हो जाती है।

चौथी बात यह है कि यदि विदेशो से आयात को प्रोत्साहन दिया जाय तो यातायात के साधनो मे उन्नति से किसी वस्तु की पूर्ति मे वृद्धि हो जाती है। पर यदि यातायात की सुविधाओ के कारण निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है, तो पूर्ति मे कमी हो जाती है।

पाचवी यह कि राजनैतिक उथल-पुथल अथवा युद्ध से व्यापार की दशा बदल जाती है और इससे बहुत-सी वस्तुओ की कमी हो जाती है। आजकल भारत मे वस्तुओं की कमी का कारण आयात की कठिनाइयो तथा नियन्त्रणो, हड़तालो व आवागमन की कठिनाइयो से सामान्य व्यापारिक साधनो की अव्यवस्था है।

छठी यह कि उत्पादको के किसी आपसी समझौते से जान-बूझ कर भी वस्तु की पूर्ति कम की जा सकती है। पूर्ति का कुछ भाग मूल्य बढ़ाने के अभिप्राय से नष्ट कर दिया जा सकता है। महान मदी के दिनो मे उत्पादको के अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो के द्वारा, रबर, चाय और दूसरी वस्तुओ का उत्पादन नियन्त्रित कर दिया गया था। ब्राज़ील मे तो इसलिये बडी मात्रा मे कहवा समुद्र मे फेंक दिया गया था।

और अन्त मे, उत्पादन, विक्रय व आयात पर लगने वाले करो का भी पूर्ति पर बडा प्रभाव पडता है। अपने देश मे किसी वस्तु के उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिये किसी देश की सरकार उस वस्तु के विदेशो से आयात पर भारी आयात कर लगा कर उसकी पूर्ति को कम कर देती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से कभी-कभी सरकार कुछ वस्तुओ के उत्पादन पर नियन्त्रण लगा देती है, जैसे भारत मे अफीम पर।

१०. पूर्ति-काल (Period of Supply)––पूर्ति को कीमत के परिवर्तन से व्यवस्थित होने के लिये समय लगने के दृष्टिकोण से हम ३ प्रकार की पूर्ति मे भेद कर सकते हैं।

(१) **बाजार पूर्ति**––यह क्षणिक पूर्ति होती है और इसमे पूर्ति को माग मे परिवर्तन से व्यवस्थित होने का समय नही मिलता। वस्तुओ की उत्पत्ति हो चुकती है तथा लागत लग जाती है। ऐसी कोई अत्यल्प कीमत नही है जिससे कम पर विक्रेता विक्रय नही करेगे। माग को स्थिर मान कर कीमत विक्रेताओ की अपनी पूरी राशि अथवा उसके कुछ भाग को बेचने की लालसा पर पूर्णतया निर्भर होगी।

(२) **अल्पकालीन पूर्ति**––यह उस पूर्ति को सूचित करता है जो वर्तमान उत्पत्ति के साधनों के द्वारा ही की जा सकती है। इसमे आवश्यकता के अनुसार उद्योग को

बढाने अथवा घटाने का समय नही होता ।

(३) **दीर्घकालीन पूर्ति**—इसमें उद्योग के बढाने अथवा घटाने का काफी समय होता है । इसमें पुरानी कलों की जगह नई कलें बनाने तथा उनके प्रयोग का समय होता है अथवा यदि आवश्यकता हो तो वर्तमान कलो की शक्ति बढ़ाई जा सकने का समय होता है ।

११. मांग व पूर्ति पर प्रभाव डालने वाली बातें (Factors affecting both Demand and Supply):—अभी तक हमने उन बातो का अध्ययन किया है जिनका प्रभाव केवल माग पर पडता है । पर कुछ बाते ऐसी भी है, जिनका प्रभाव एक ही समय मे माग व पूर्ति दोनों पर पडता है ।

(१) **द्रव्य-आय में परिवर्तन** (Changes in Money Incomes)—मुद्रा-विस्तार के दिनों में लोगो की द्रव्य-आय बढ जाती है । ऐसी परिस्थितियो में वस्तुओं की माग बढ जाती है । पर इसका प्रभाव पूर्ति पर भी पड़ता है । मूल्य मे वृद्धि से लाभ उठाने के अभिप्राय से उत्पादन भी बढता है । जब आय मे वृद्धि होती है तो उत्पादन लागत भी बढ जाती है क्योकि उपक्रमी को उत्पादन के विभिन्न साधनो पर भी बढे हुए भावो मे व्यय करना पडता है । एक श्रमिक को जो कुछ मिलता है, वह उसकी दृष्टि से आय अवश्य है, पर उपक्रमी के लिये तो उसकी आय लागत ही है । मुद्रा-सकुचन के दिनो मे जब द्रव्य की मात्रा कम हो जाती है, तो मूल्य गिर जाते है । इससे माग तो बढती है पर पूर्ति कम होने लगती है ।

(२) **कार्यपद्धति में गति** (Improvement in Technique)—जहा कार्य-कुशलता और पद्धति मे उन्नति हो जाती है, वहा उत्पादन का परिमाण और पूर्ति बढ जाती है । फलस्वरूप वस्तुए सस्ती हो जाती है और लोगो की वास्तविक आय बढ जाती है । पर हम यह देख चुके है कि वास्तविक आय में किसी प्रकार के परिवर्तन से माग में भी परिवर्तन हो जाता है ।

(३) **मजदूरी में वृद्धि या कमी**—यदि मजदूरी बढ़ती है तो श्रमिक की क्रय-शक्ति में वृद्धि होती है । इससे माग बढ जाती है । पर मजदूरी की वृद्धि का प्रभाव उत्पादन लागत के बढ जाने के कारण वस्तु की पूर्ति पर भी पड़ता है ।

(४) क्रेताओं की रुचि और प्रतिष्ठा तथा क्रेताओ और विक्रेताओ की आय में परिवर्तन से मांग व पूर्ति प्रभावित होंगे ।

(५) **धन वितरण में परिवर्तन**—यदि धन का वितरण समान होता है तो कुछ मनुष्य कम धनी तथा कुछ कम निधन हो जाते है । इस प्रकार लोगों की क्रय-शक्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है जिससे मांग भी प्रभावित होती है । और मांग में इन परिवर्तनों के फलस्वरूप वस्तु की पूर्ति में भी परिवर्तन हो जाता है ।

१२. माग और पूर्ति के नियम (Laws of Demand and Supply):—अब हम इस स्थिति मे है कि पूर्ति और मांग के कुछ महत्वपूर्ण नियमों की परिभाषा कर सके। बेनहम ने अपनी पुस्तक मे चार नियमों का वर्णन किया है।[१]

(१) मूल्य वस्तु की उस मात्रा को, जो विक्रेता क्रय के लिये देने को तैयार है, व उस मात्रा को, जो ग्राहक क्रय करना चाहते है, समता की ओर ले जाता है।

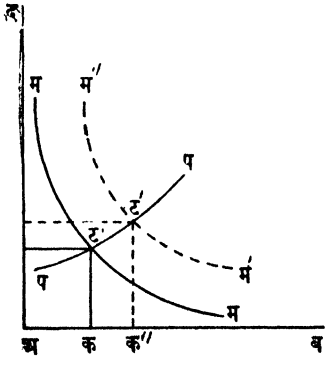
(२) साधारणत. अधिक मूल्य की अपेक्षा कम मूल्य पर वस्तु की अधिक मात्रा की मांग होगी। इसके विपरीत ऊँचे मूल्य पर वस्तु की अधिक मात्रा विक्रय के लिये निकाली जायगी।

(३) माग मे वृद्धि से मूल्य बढ जाता है और फलस्वरूप पूर्ति की वृद्धि होती है। पर मांग गिरने से मूल्य मे कमी हो जाती है। इससे पूर्ति भी घट जाती है।

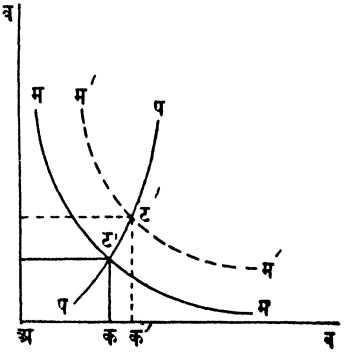
(४) पूर्ति की वृद्धि मूल्य गिरा देती है—जिससे माग बढ जाती है। पूर्ति कम हो जाने से मूल्य मे वृद्धि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप माग गिर जाती है।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि माग मे परिवर्तन दिये होने पर, पूर्ति-रेखा की प्रकृति का कीमत पर बडा प्रभाव पड़ता है। प्रो. मेयर्स इस संबंध मे इस प्रकार लिखते हैं:

"अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, माग की वृद्धि कीमत और विनिमय-मात्रा को बढ़ा देती है, और माग की घटी से कीमत और विनिमय-मात्रा घट जाती है। माग में दिये हुए परिवर्तन पर, पूर्ति मे जितनी अधिक लोच-शक्ति होगी, उतनी ही कम कीमत बदलेगी और विनिमय मात्रा में उतनी ही अधिक तबदीली होगी।" यदि पूर्ति पूर्णतः लोचदार है, तो कीमत में कोई परिवर्तन नही होगा। मांग में वृद्धि होने से केवल विनिमय-मात्रा में ही



चित्र नं० २३



चित्र नं० २४

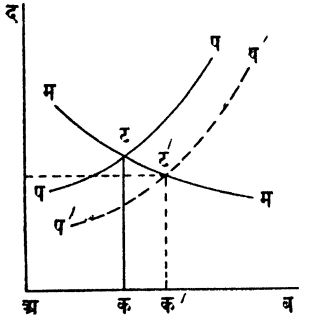
परिवर्तन होगा। दूसरी ओर यदि पूर्ति पूर्णतः बेलोचदार है, तो मांग के बढ़ने से कीमत बढ़ेगी लेकिन विनिमय-मात्रा मे कोई वृद्धि नही होगी। इसका रेखा-चित्र ऊपर दिया गया है:—

१. Benham—Economics, 1900. p. 88.

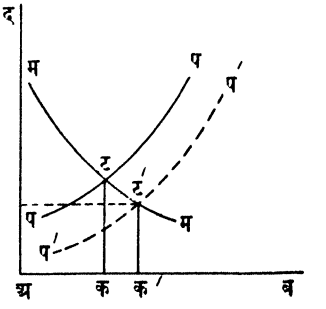
प प' पूर्ति की रेखा है और म म मांग की पुरानी रेखा है और म' म' मांग की नई रेखा है जो मांग में वृद्धि दिखलाती है। मांग में परिवर्तन उतना ही है लेकिन पूर्ति की लोच में विभिन्नता है। कीमत ट क से बढ़ कर ट' क' हो जाती है और विनिमय मात्रा अ क से अ क'।

अब हम यह अध्ययन करेंगे कि मांग की भिन्न-भिन्न लोच पर, पूर्ति में परिवर्तन होने से कीमत और विनिमय-मात्रा किस तरह प्रभावित होती है। प्रो. मेयर्स ने इस सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष को इस प्रकार लिखा है :—

"अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, पूर्ति में वृद्धि होने से कीमत घटती है और विनिमय मात्रा में वृद्धि होती है। पूर्ति में घटी होने से, कीमत बढती है और विनिमय मात्रा में कमी आती है। पूर्ति में दिए हुए परिवर्तन पर माग मे जितनी अधिक लोच होगी, कीमत में उतना ही कम और विनिमय मात्रा में उतना ही अधिक परिवर्तन होगा। इसके विपरीत, माग जितनी कम लोचदार होगी, कीमत मे उतना ही अधिक और विनिमय-मात्रा में उतना ही कम परिवर्तन होगा। यदि मांग पूर्णतः लोचदार है और पूर्ति में वृद्धि होती है तो इससे कीमत में घटी नही होगी। केवल विनिमय-मात्रा में ही वृद्धि होगी। दूसरी ओर, यदि मांग पूर्णतः बेलोचदार है तो पूर्ति में वृद्धि होने से कीमत गिरेगी लेकिन विनिमय-मात्रा में कोई परिवर्तन नही होगा। इसके रेखा-चित्र इस प्रकार खीचे जायंगे।



चित्र नं० २५



चित्र नं० २६

दोनों ही चित्रों में म म मांग की रेखा है, प प पूर्ति की पुरानी रेखा और प' प' पूर्ति की नई रेखा है। चित्र २५ में मांग की रेखा लोचदार है और चित्र २६ में बेलोचदार। कीमत और विनिमय-मात्रा में जो अन्तर पड़ता है वह ट क से ट' क' और अ क से अ' क' द्वारा दिखाया गया है।

जब मांग और पूर्ति दोनों में परिवर्तन होता है :—उपर्युक्त सिद्धांतों को उस समय लागू करते हुए जब कि मांग और पूर्ति दोनों में परिवर्तन होता है, प्रो० मेयर्स ने निम्न-लिखित सिद्धान्त स्थापित किये हैं :—

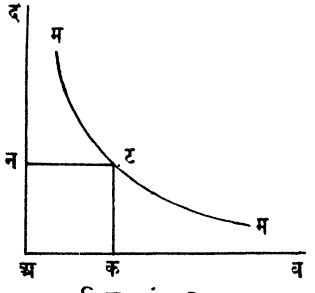
१. जब माग और पूर्ति दोनो ही एक दिशा की ओर चलती है तो कीमत पर एक दूसरे का प्रभाव कट जाता है, और विनिमय-मात्रा पर पडने वालाप्रभाव और तेज हो जाता है।

२. जब माग और पूर्ति का झुकाव एक ही ओर होता है लेकिन एक मे दूसरी की अपेक्षा अधिक परिवर्तन होता है, तो जिसमे अधिक परिवर्तन होता है उसका अधिक प्रभाव पडता है। लेकिन यदि दूसरी रेखा अपरिवर्तित रहे, तो उसका प्रभाव कीमत पर कम और विनिमय मात्रा पर अपेक्षाकृत अधिक पडेगा।

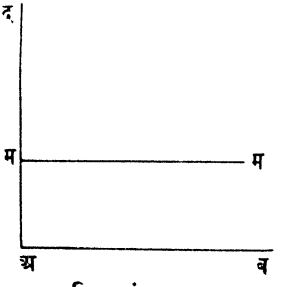
३. जब माग और पूर्ति विपरीत दिशा मे बदलते है, तो वे कीमत पर एक दूसरे के प्रभाव को प्रबल कर देते है और विनिमय मात्रा पर पडने वाले प्रभाव को काट देते है।

४. जब माग और पूर्ति विपरीत दिशा मे बदलते है लेकिन एक मे दूसरे मे अधिक परिवर्तन होता है तो जिस रेखा मे अधिक परिवर्तन होता है उसका प्रभाव अधिक होगा। हा, यह बात अवश्य है कि दूसरी रेखा के न बदलने पर, उसका प्रभाव कीमत पर अपेक्षाकृत अधिक और विनिमय-मात्रा पर कम पडेगा।

१३. **एक व्यक्तिगत विक्रेता मांग को किस प्रकार देखता है**.—अभी तक हम मडी मे लाई गई कुल पूर्ति पर विचार कर रहे थे। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्तिगत विक्रेता की तरफ से माग पर विचार करना कही अधिक महत्वपूर्ण है। यह सभव है कि किसी वस्तु की कुल माग बेलोचदार हो लेकिन एक विक्रेता की वस्तु की माग बहुत लोचदार हो। अस्तु, यदि वह थोडी भी भी कीमत ऊपर कर देगा, तो उसका सब बाजार छिन जायगा और कीमत कम करने की उसको कोई जरूरत नही होगी क्योंकि प्रचलित कीमत पर वह अपनी कुल पूर्ति बेच सकता है। एक व्यक्तिगत विक्रेता के लिये बाजार-कीमत दी हुई होती है। उसकी पूर्ति कुल पूर्ति का इतना सूक्ष्म भाग होता है कि उसमे परिवर्तन लाकर वह कीमत पर कोई प्रभाव नही डाल सकता। वह कीमत पर बिना प्रभाव डाले अपनी पूर्ति मे इच्छानुसार परिवर्तन ला सकता है। चित्र २७ मे बाजार माग



चित्र नं० २७



चित्र नं० २८

दिखाई गई है, और चित्र २८ में किसी एक व्यक्तिगत विक्रेता की वस्तु की माग को दिखाया गया है :—

चित्र २७ मे ट क बाजार-मूल्य है। यह वह कीमत है जो एक विक्रेता को अपन किसी भी भाग के बेचने पर मिल सकती है। ट क चित्र २८ के अ म के बराबर है। यदि ट बिन्दु को हम व्यक्तिगत विक्रेता की दृष्टि से देखे तो यह एक सीधी रेखा म म मे परिवर्तित हो जायगा। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मे ऐसा ही होगा।

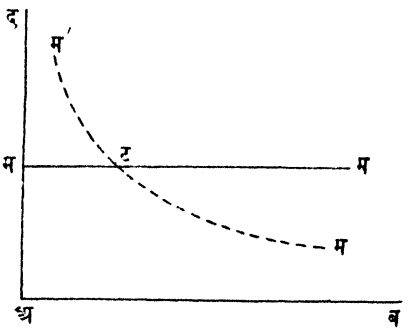
लेकिन यदि एकाधिकार और प्रतियोगिता की मिली हुई स्थिति हो तो क्या होगा?

एकाधिकारी-प्रतियोगिता की स्थिति उस समय होती है जब कोई खरीदार वस्तु की किसी एक ब्रान्ड अथवा छाप को या एक दूकान को दूसरे से अधिक महत्व देता है। इसके अनेक कारण हो सकते है जैसे कि वह दूकान अपेक्षाकृत साफ या शानदार हो, दूकानदार बडा प्रभाव डालने वाला हो आदि। इसका परिणाम यह होता है कि खरीदार उस छाप या दूकानदार को अधिक कीमत देने के लिये तैयार रहता है या कीमत एक रहने पर एक को दूसरे से अधिक पसन्द करता है।

जब ऐसी स्थिति होती है, तो विक्रेता अपने को एकाधिकार की स्थिति मे पाता है क्योकि उसकी वस्तु की माग उतनी लोचदार न होगी जितनी कि प्रतियोगिता पूर्ण स्थिति मे होती। यदि वह कीमत को थोडा सा बढा देगा तो उसके सब ग्राहक उससे छिन नही जायंगे, और न कीमत कम कर के वह सब ग्राहको को अपनी ओर खीच सकेगा। प्रतियोगिता की स्थिति मे एक विक्रेता की दृष्टि से माग पूर्णत लोचदार होती है और इसे चित्र २८ में दी गई माग की रेखा द्वारा दिखाया जा सकता है। एकाधिकार युक्त प्रतियोगिता की स्थिति मे माग की लोचशक्ति कुछ कम हो जाती है और इसलिये नीचे दी झुकती हुई रेखा द्वारा इसे दिखाया जायगा।

रेखा के रूप मे उपर्युक्त बात को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—

इस चित्र मे अ म कीमत है। म म प्रतियोगिता की स्थिति मे एक विक्रेता की वस्तु की माग है, और म' म' एकाधिकार युक्त प्रतियोगिता मे व्यक्ति विशेष की माग है। म ट के लिये खरीदार बाजार मूल्य से अधिक कीमत देने को तैयार है क्योकि वे उस विक्रेता अथवा उसकी वस्तु को अधिक पसन्द करते है। अ म मे परिवर्तन होने से म' म' की लोच मे अन्तर आ जायगा।

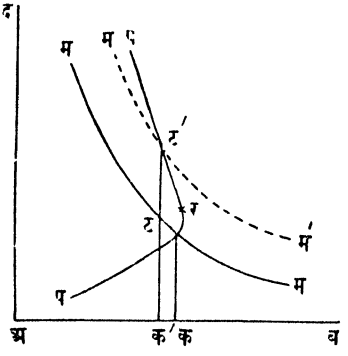


चित्र नं० २९

उपर्युक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि कोई एक विक्रेता प्रतियोगिता की स्थिति में अपनी पूर्ति की मात्रा में अन्तर ला कर कीमत पर कोई प्रभाव नही डाल सकता। एकाधिकार और प्रतियोगिता की मिली-जुली स्थिति में एक विक्रेता कीमत पर

प्रभाव डाल सकता है। एकाधिकार की तरह वह पूर्ति को निर्धारित कर सकता है जो वह बेचना चाहता है या अपनी वस्तु की कीमत निश्चित कर सकता है।

१४. एक विचित्र पूर्ति रेखा:–पूर्ति का साधारण नियम यह बताता है कि ऊंची कीमत पर पूर्ति की मात्रा अधिक होगी। पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक सीमा तक तो यह सम्बन्ध देखने में आता है लेकिन उसके बाद सम्बन्ध उलट जाता है अर्थात् ऊंची कीमत पर पूर्ति कम होगी। श्रम के सम्बन्ध में ऐसा देखने मे आ सकता है। मजदूरी बढने पर लोग अधिक काम करने को प्रोत्साहित होते है। लेकिन एक सीमा के बाद लोग काम की अपेक्षा आराम को ज्यादा पसन्द करते है। ऊची मजदूरी मजदूरो को छुट्टी लेने को योग्य बना देती है और काम के घन्टो को कम कर देती है। ब्याज की दर का भी ऐसा प्रभाव हो सकता है। साधारणत: ब्याज की ऊंची दर से बचत में वृद्धि होनी है। लेकिन कुछ लोग ऐसे है जो एक बंधी रकम बचाना चाहते है। इसलिये ब्याज की दर जब ऊची होगी तो वे कम बचत करेगे। इसे चित्र द्वारा इस तरह दिखाया जा सकता है :—



चित्र नं० ३०

म म मांग की पुरानी रेखा है और म म' मांग की नई रेखा है जो मांग की वृद्धि प्रकट करती है। प प पूर्ति-रेखा है। र बिन्दु तक ऊंची कीमत से पूर्ति बढती है लेकिन इसके बाद इसका उल्टा होता है। जब कीमत ट क से बढ कर ट' क' हो जाती है तो पूर्ति अ क से घट कर अ क' हो जाती है।

निर्देश पुस्तकें

Marshall—Principles of Economics.

Benham—Economics.

Wicksteed, P.H.—The Commonsense of Political Economy, 1946 Vol. II Ch. IV.

Henderson, H. D.—Supply and Demand.

Meyers, A. L.—Elements of Modern Economics, 1951, Ch. 9

Samuelson, P. A.—Economics, 1948, pp. 469—476.

अध्याय १९

मांग और पूर्त्ति का बाजार साम्य

(MARKET EQUILIBRIUM OF SUPPLY AND DEMAND)

१. साम्य (Equilibrium)—संतुलन की स्थिति को साम्य कहते है। जब परस्पर-विरोधी दिशाओं में कार्य करने वाली शक्तिया परस्पर समान हो जाती है, वह वस्तु, जिसे वे प्रभावित करती है, साम्य की स्थिति मे कही जाती है। एक पत्थर के टुकड़े को रस्सी मे बाधकर हवा मे हिला दीजिये, तो वह इधर-उधर झूलने के उपरान्त एक जगह स्थिर हो जायगा, बशर्तेकि उसे फिर से न हिलाया जाय। अब पत्थर साम्य की स्थिति में है। इस विशेष प्रकार के साम्य को स्थायी साम्य कहते है, क्योकि पदार्थ हिलाये जाने के उपरात अपनी पूर्व-स्थिति मे आने का प्रयत्न करता है।

एक मोटी लकडी को चौरस सिरे की ओर से पृथ्वी पर सीधी खड़ी कर दीजिये। इस सतुलन को नष्ट कर देने पर लकडी सपाट गिर पडेगी। वह स्वयं अपनी पूर्ववत् दशा में आने का प्रयत्न नही करेगी। वह लकड़ी एक अस्थिर साम्य-स्थिति मे थी।

स्थायी साम्य के लिये यह आवश्यक नही है कि पदार्थ सन्तुलन प्राप्त करे। निरन्तर हिलाते रहने से यह घड़ी के लटकन के समान कभी भी स्थिरता की दशा में नही आ सकती लेकिन यह बात आवश्यक है कि वह सदैव अपनी पूर्ववत् दशा की ओर जाने का प्रयत्न करती है। यदि उससे छेड़-छाड न की जाय, तो वह ऐसा करने में सफल होगी। इसलिये वह साम्य की दशा में है।

२. मांग और पूर्त्ति का साम्य (Equilibrium of Demand and Supply)—साम्य का विचार मांग और पूर्ति पर लागू किया गया है। ये दो शक्तिया विरोधी दिशाओ में कार्य करने वाली है। अधिक पूर्ति मूल्य में कमी लाती है और मांग की अधिकता मूल्य में वृद्धि करती है। जब विरोधी दिशाओं में इन दोनों शक्तियों का संतुलन स्थापित हो जाता है तो वे किसी उस एक मूल्य को ही बनाये रखने का प्रयत्न करती है, जिसे साम्य-मूल्य कहते हैं।

अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका सेवों की मांग और पूर्ति को मिलाती है और यह दिखलाती है कि किस प्रकार इन दो विरोधी शक्तियों के बीच साम्य होता है।

मूल्य प्रति दर्जन	मांग की मात्रा (दर्जनो मे)	पूर्ति की मात्रा (दर्जनो में)
७	४	४०
६	७	३३
५	१२	२९
४	१५	२६
३	२३	२३
—	—	—
२	२९	१६
१	३८	१०

इस सूची से यह पता चलता है कि जब कीमत ३ रुपया प्रति दर्जन है, तब पूर्ति की मात्रा २३ दर्जन है, और २३ दर्जन ही मागी जाती है। पूर्ति माग के बराबर है। अतः ३ रुपये साम्य-मूल्य है। किसी प्रकार भी इस कीमत मे कोई बाधा उन शक्तियो को क्रियाशील बना देगी और वे उसी कीमत को फिर से स्थिर करने का प्रयत्न करेंगी। उदाहरणार्थ यदि कीमत बढकर ४ रुपया हो जाती है तो पूर्ति (१५ दर्जन) माग से बढकर २६ दर्जन हो जायगी। सीमित माग को अपने हाथ मे करने के लिये बेचने वालों मे होने वाली प्रतियोगिता कीमत को साम्य से गिरा देगी। यदि कीमत मे २ रुपये की गिरावट हो जाती है तो माग (२९ दर्जन) पूर्ति (१६ दर्जन) से अधिक होगी। ऐसा होने से खरीदारो में सीमित पूर्ति के लिये चलने वाली प्रतियोगिता कीमत को साम्य से ऊपर उठा देगी। अत· ३ रुपये साम्य-कीमत है। २३ दर्जन साम्य की मात्रा कहलाती है जिसे साम्य-कीमत पर खरीदा और बेचा जाता है।

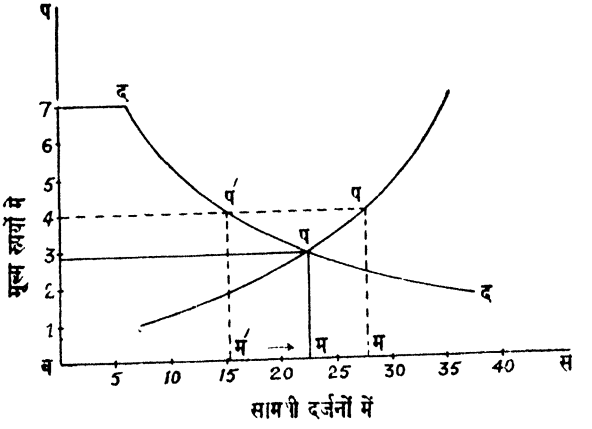
अगले पृष्ठ का चित्र इसी बात पर प्रकाश डालता है। मांग और पूर्ति की वक्र रेखाये, जो उपर्युक्त उदाहरण द्वारा प्रस्तुत की गयी है, एक साथ दिखाई गई है।

दोनो वक्र रेखाये एक-दूसरे को प स्थान पर काटती है जो कि दोनो वक्र रेखाओ पर पडता है। प म ब स पर एक लम्ब खीचा गया है। प म (=ब ब′=३ रुपये) साम्य-मूल्य है।

यदि कीमत प′ म′ (४ रुपये) प्रति दर्जन तक बढ जाता है तो माग ब म′ (=१५) पूर्ति ब म (=२६) से नयी कीमत मे कम हो जायेगी। कीमत का साम्य प म (=३ रुपये) से नीचे गिर जायेगा। यदि कीमत मे २ रुपये की कमी होती है तो जब कि इस कीमत पर माग पूर्ति से अधिक होगी तो इसके विपरीत होगा। क्रेताओ मे होने वाली प्रतियोगिता इसे साम्य-कीमत से ३ रुपये ऊचा उठा देगी।

प्रो. मार्शल स्थायी साम्य की व्याख्या इन शब्दों में करते है—"जब मांग और पूर्ति स्थायी साम्य मे है, तो यदि कोई दुर्घटना उत्पत्ति के परिमाण को साम्य की

स्थिति से विचलित कर दे, तो वे शक्तिया उसे फिर से उसी स्थिति मे लाने का प्रयत्न करेगी। यह उसी तरह है जिस प्रकार कि रस्सी से लटका हुआ एक पत्थर अपनी साम्य-स्थिति नष्ट किये जाने पर अपनी आकर्षक शक्ति द्वारा तुरन्त साम्य की स्थिति मे आने का प्रयत्न करता है। परन्तु वास्तविक जीवन मे इस प्रकार के उतार-चढाव उसी प्रकार कभी-कभी आते ह जिस प्रकार रस्सी के सहारे लटके हुए पत्थर के जीवन में। यह तुलना और भी अधिक ठीक रहेगी यदि रस्सी के अशात पानी मे लटकते रहने की कल्पना कर ली जाय जिसका बहाव एक समय स्वतन्त्रतापूर्वक जारी था तथा दूसरे समय कुछ रुक कर था। यदि रस्सी को पकड़े हुए मनुष्य अपने हाथ को कुछ झटके के साथ हिलाता है तो इस उदाहरण से मूल्य की वास्तविक तथा व्यावहारिक समस्याओ की कुछ कठिनाइया दूर न होगी।"[1]



चित्र नं० ३१

३. प्रचलित कीमत (Market Price)—एक निश्चित समय पर माग तथा पूर्ति की प्रतियोगी शक्तियो मे साम्य के परिणामस्वरूप अल्पकालीन कीमत निर्धारित होती है। **अल्पकालीन कीमत वह कीमत होती है जो एक बाजार में किसी विशिष्ट दिन में प्रचलित होने का प्रयत्न करती है।** यह उस समय की मांग तथा पूर्ति मे होने वाले परिवर्त्तनो के द्वारा प्रभावित होती है। यह प्रभाव अस्थायी तथा क्षणिक होता है। दूसरे दिन अथवा दूसरे घटे में ही माग और पूर्ति अथवा मांग या पूर्ति भिन्न हो सकती है। इस प्रकार अल्पकालीन कीमत अस्थिर घटनाओं तथा थोडे काल की शक्तियो का परिणाम है। ऐसी शक्तिया अथवा प्रभाव प्रतिदिन तथा प्रति घटे बदलते रहते है। अतएव अल्पकालीन मूल्य प्रति दिन तथा प्रति घंटे बदलता रहता है। यह उस समय की माग तथा पूर्ति का अल्पकालिक साम्य प्रकट करता है। मान लीजिये कि पशुओं का एक मेला है। उन दिनो में दूध की प्रदाय अत्यन्त बढ जाती है। इस अधिक प्रदाय के कारण दूध का भाव गिर जायेगा। एक नीची दर पर एक नया साम्य

[1]. Marshall—Principles of Economics. 1936, P. 346.

स्थापित हो जायगा। दूध की सम्पूर्ण पूर्ति की मांग करने के लिये कीमत को बहुत कम होना पड़ेगा। परन्तु यह साम्य अल्पकालिक होगा। जब पशुओं का मेला समाप्त हो लेगा तब पुराना साम्य फिर से स्थापित हो जायेगा। श्राद्धों के महीनों में दूध की माग बहुत बढ़ जाती है और दूध की कीमत बढ़ जाती है। साम्य एक ऊंची दर पर स्थापित होता है। कीमत कम आवश्यक माग को रोकने के लिये काफी अधिक होती है जिससे प्राप्त होने वाली पूर्ति मांग के बराबर हो जाय। किन्तु जब श्राद्ध समाप्त हो जाते है तो पुरानी कीमत फिर से स्थापित हो जाती है। अल्पकालीन कीमत इस प्रकार एक परिवर्तनशील साम्य प्रकट करती है।

समय इतना कम होता है कि वस्तु का प्रदाय केवल उस कुल मात्रा से हो सकेगा जो बाजार मे प्राप्त है अथवा थोड़े समय में लायी जा सकती हे अथवा "दृष्टि" में है। जब समय बहुत कम होता है (उदाहरणार्थ एक दिन) तो वस्तु की कुल मात्रा लगभग निश्चित होती है। इसलिए और उत्पादन से उसकी वृद्धि का प्रश्न उठता ही नही। अतएव उत्पादन लागत का कीमत पर केवल अप्रत्यक्ष प्रभाव होता है। यदि वस्तु अस्थायी (Perishable) हे और एक दिन से अधिक नही रह सकती (उदाहरणार्थ, मछली) तो कीमत पर उत्पादन व्यय का लगभग कोई प्रभाव नही पडता। वस्तु की कुल मात्रा को उसी दिन बेचना पड़ता है। वह वस्तु उस कीमत पर बेची जायगी जो उसकी मात्रा के लिये उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता (सामूहिक रूप से) के बराबर है।

अब हम यह देखेंगे कि विशिष्ट प्रकार की वस्तुओ की कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती है।

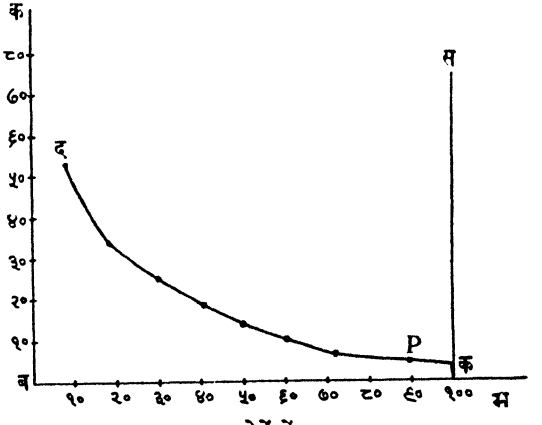
४. जब वस्तु अस्थायी होती है (When the Commodity is Perishable)—एक उदाहरण यह स्पष्ट कर देगा। मान लीजिये कि मछली जैसी एक अस्थायी वस्तु की १०० मात्रा बाजार में लाई जाती है। यह मात्रा किस कीमत पर बेची जायगी ? चूँकि वस्तु अस्थायी है, इसलिये सब मात्रा उसी दिन बेच देना होगा। हम कल्पना कर लेते है कि मछली के बेचने वालों मे निजी माग उसके लिये कुछ नही है। कुछ मछली के उपभोक्ता ऐसे होंगे जो शायद ५ रुपये प्रति सेर का मूल्य देने को तत्पर हो जायेंगे, बजाय इसके कि मछली का उपभोग न करें, क्योंकि मछली की सीमांत उपयोगिता उनके लिए बहुत अधिक है। परन्तु इस कीमत पर शायद केवल पांच सेर मछली बेची जा सकेगी। इसी प्रकार ऐसे उपभोक्ता होगे जो अपनी सीमान्त उपयोगिता के अनुसार कम कीमत देने को तत्पर होंगे। हम इस बाज़ार की मांग की तालिका बनाते हैं। यह कुछ-कुछ इस प्रकार होगी :—

मूल्य प्रति सेर रुपयों में	मांग की मात्रा सेरों में।
५–०–०	५
४–०–०	७
३–०–०	१२
२–०–०	२०
१–०–०	४०
०–८–०	६०
०–४–०	८०
०–३–०	१००
०–१–०	१५०

अंत में कीमत ३ आने प्रति सेर पर निश्चित हो जायेगी। ये उपभोक्ता जिनकी मछली की सीमान्त उपयोगिता ३ आने के बराबर है, सीमान्त उपभोक्ता होंगे और उन्हे आकर्षित करना आवश्यक है यदि सब मछली को बेचना है। परन्तु क्योंकि पूर्ण बाजार (Perfect Market) में एक वस्तु की एक ही कीमत हो सकती है, इसलिए मछली की कीमत ३ आने प्रति सेर होगी। धनी मनुष्य भी जो ५ रुपये सेर देने को तत्पर थे, उसी दर पर खरीदेंगे। उन्हें ४–१३–० उपभोक्ता की बचत प्राप्त होगी।

साथ में दिया हुआ यह चित्र स्पष्ट करता है कि मछली की अल्पकालीन कीमत कैसे निर्धारित होती है।

मात्रा को ब म पर तथा कीमत को ब क पर दिखाया गया है। क्योंकि पूर्ति स्थायी है। इसलिए स म क ब के समानान्तर होगी।



चित्र नं० ३२

पूर्ति तथा माग वक्रों के मिलने के बिन्दु को क कहा गया है। इसलिए क म अल्पकालीन कीमत होगी जिस पर १०० सेर मछली बेची जायगी। क म = ३आने।

५. जब वस्तु स्थायी होती है (When the Commodity is non-

Perishable)—जब वस्तु अस्थायी नहीं होती तो यह सचय की जा सकती है, यदि विक्रेताओ को भविष्य मे अच्छी कीमत की आशा है। उस दशा में विक्रय के लिये मात्रा निश्चित नहीं होगी। यह कीमत के साथ बदलेगी। खिलौनो का उदाहरण लीजिये। मांग के वे ही अक लेकर हम खिलौनो के लिए एक पूर्ति-तालिका भी तैयार कर सकते है। यदि कीमत बहुत अधिक है (माना ५ रुपये) तो सम्पूर्ण मात्रा बाजार मे विक्रय की जायगी। परन्तु यदि कीमत गिरती है तो कुछ विक्रेता दूसरे दिन की प्रतीक्षा करेगे अथवा खिलौनो को अपने बच्चो के लिये रख देगे। उस दशा मे खिलौनो के लिये विक्रेताओ की सीमान्त उपयोगिता न्यूनतम होगी जिसके नीचे वे कोई कीमत स्वीकार नहीं करेगे। इस प्रकार—

प्रति खिलौना मूल्य (आनो मे)	खिलौनो की माग की मात्रा	खिलौनो की पूर्ति की मात्रा
८०	५	१००
६४	७	९०
४८	१२	८०
३२	२०	७०
१६	४०	६५
८	६०	६०
—	—	—
४	८०	४०
३	१००	२०
१	१५०	१०

मोल-भाव के बाद मूल्य की प्रवृत्ति ८ आना प्रति खिलौना निर्धारित होने की होगी। यह कीमत उस कीमत से अधिक है जिस पर मछली बेची गयी थी क्योकि खिलौने के विक्रेता प्रतीक्षा कर सकते थे। ४० खिलौनों के रखने वालो ने इस कीमत पर बेचना अस्वीकार कर दिया है। वे अच्छे समय की प्रतीक्षा करेगे अथवा उनमे से कुछ खिलौने अपने बच्चो को देना पसन्द करेगे, बजाय इसके कि कम कीमत स्वीकार करे।

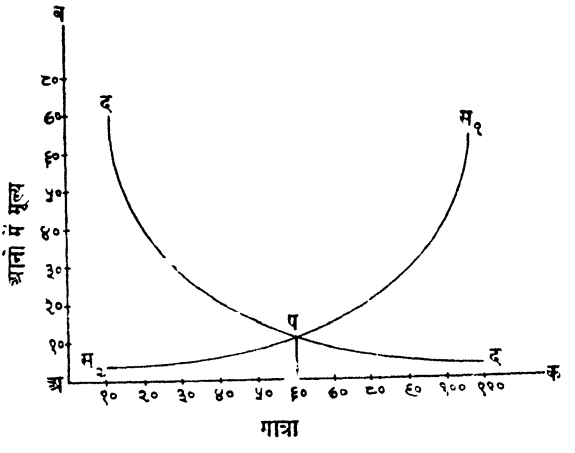
८ आने ऐसी कीमत है जो खिलौनो के उस विशिष्ट बाजार मे उस विशिष्ट दिन मे पूर्त्ति तथा माग मे साम्य का परिणाम है। साथ के पृष्ठ पर दिया हुआ वक्र यह दिखाता है कि खिलौनो के सम्बन्ध में साम्य कीमत कैसे स्थापित होती है।

पहले की तरह अ ब पर कीमत तथा अ क पर मात्रा (इकाइयो मे) दिखाई गयी है। $स_१$ $स_२$ पूर्ति वक्र तथा द द माग वक्र है। प परस्पर मिलने का बिन्दु है। म प इस प्रकार साम्य कीमत है। म प=८ आने।

यदि यह मान लिया जाय कि मांग और पूर्ति की मात्रा मे वृद्धि की कोई सीमा नहीं

है, तो रेखाएं ऊपर की तरह टूटी-टूटी नही होंगी।

अभी तक हम यह समझने का प्रयत्न कर रहे थे कि कीमत किस प्रकार मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। पर वास्तविकता यह है कि मांग और पूर्ति स्वय अनेक बातो से निर्धारित होती है। मांग और पूर्ति एक प्रकार का क्रमिक सूत्र है। मांग और पूर्ति कीमत का अन्तिम हल नहीं है। वे तो सामान्य रूप से अन्य उपकरणो का विश्लेषण करने मे सहायक सिद्ध होते है जिनका मूल्य से सम्बन्ध रहता है।



चित्र नं० ३३

६ पुन उत्पन्न न हो सकने वाली वस्तुओं का मूल्य (Price of Irreproducable Commodities)—अभी तक हमने यह कल्पना की थी कि सम्बन्धित वस्तु का, चाहे वह अस्थायी हो अथवा स्थायी, पुन उत्पादन हो सकता है। अब यह देखना है कि उन वस्तुओ की अल्पकालीन कीमत, जिनका पुन उत्पादन नही हो सकता, कैसे निर्धारित होती है। ऐसी वस्तुए पुरानी हस्तलिपिया, पुराने कलाकारो के चित्र, अद्वितीय हीरे इत्यादि हो सकते है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसी स्थितियों मे तथा उन दशाओ में जिन का ऊपर विवेचन हो चुका है, बहुत कम अन्तर है। ऐसी वस्तुओ की कुल मात्रा निश्चित होती है। विक्रेता प्रतीक्षा कर सकता है। अन्त मे मूल्य उपभोक्ताओं की सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित किया जायगा। कीमत की न्यूनतम सीमा स्वय विक्रेता की सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होगी। यदि ऐसी वस्तु की केवल एक इकाई बेची जाती है तो क्रेता द्वारा लगाया गया अधिकतम मूल्य उसकी अधिकतम सीमा को निर्धारित करेगा। यदि एक ही वस्तु की अनेक इकाइया है तथा उन सब का विक्रय एक ही समय होता है, तो उपभोक्ताओ की सामूहिक रूप से सीमान्त उपयोगिता कीमत को निश्चित करेगी। ऐसी कीमत का वस्तु के उत्पादन-व्यय से कोई सम्बन्ध नही होगा। पुन. उत्पादन के व्यय का प्रश्न ही नही उठता क्योकि वस्तु का पुन. उत्पादन नही हो सकता। इस अवस्था मे सीमान्त उपयोगिता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, चाहे समय अल्प हो अथवा दीर्घ।

ऐसी स्थितियाँ पुन उत्पादन योग्य वस्तुओ की स्थिति से इस बात मे भिन्न होती

है कि बाद वाली स्थिति मे सीमान्त उत्पादन-व्यय अन्त में पूर्ति की वृद्धि को सीमित करता है। जब तक यह व्यय मूल्य मे से नही निकलेगा, पुनः उत्पादन योग्य वस्तुओं का उत्पादन रुक जायगा। प्रचलित कीमत (Market Price) के विपरीत सामान्य कीमत (Normal Price) की यह एक समस्या है। हम इस पर आगे के एक अध्याय में विचार करेगे।

७. उत्पादक कार्यों का मूल्यांकनः—अब तक हमारा संबंध उपभोग वस्तुओं के मूल्याकन तक ही सीमित रहा। अब यह देखना है कि उत्पत्ति के साधनो का मूल्य निर्धारण कैसे होता है? उपभोग-वस्तुओं तथा उत्पत्ति के साधनों की मंडियो के बीच एक गोलाकार सम्बन्ध होता है। उपभोक्ता उपभोग की वस्तुओं को खरीदते है और उत्पत्ति के साधनों को बेचते है। दूसरी ओर व्यवसायीगण उत्पत्ति के साधनों को खरीदते है और उपभोगवस्तुओं को बेचते है। अस्तु, माग और पूर्ति के मौलिक सिद्धान्त यहां भी लागू होते हैं।

माग का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि एक प्रतियोगी फर्म की माग का वक्र उसी की सीमान्त उत्पादन के मूल्य के वक्र के बराबर रहता है। सीमान्त उत्पादन में क्रमशः ह्रास होने के कारण मांग वक्र भी गिरता है। यदि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर मिलता है, तो अवश्य समस्त उत्पादन साधनों के लगाने में खप जायगा।

उत्पादन कार्य से संलग्न माग के सम्बन्ध में निम्नांकित चार बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) जितनी अधिक सहयोगी साधनों की मात्रा होगी, उतनी ही अधिक किसी साधन की दी हुई मात्रा की मांग-कीमत अधिक होगी।

(२) जितना ही अधिक कोई साधन लगाया जायगा, उसकी मांग–कीमत घटती जायगी।

(३) यदि कोई साधन किसी बहुमूल्य पदार्थ के बनाने में लगाया जाता है तो उस की मांग–कीमत अधिक होगी।

(४) जितना अधिक उत्पादक कोई साधन होगा, उसकी मांग कीमत उतनी ही अधिक होगी।

एक उद्योग का मांग वक्र (Demand Curve), विभिन्न फर्मो की मांग रेखाओं का योग होता है। इसी प्रकार जोड़कर हम किसी साधन की सभी उद्योगों की तरफ से एक माग रेखा तैयार कर सकते है।

किसी साधन की पूर्ति रेखा या इसकी पूर्ति विभिन्न बातों पर आधारित रहती है। उदाहरणार्थ, यदि हम श्रम को लें—जो एक महत्त्वपूर्ण सेवा है—यह कुल आबादी पर, उसका पेशा तथा भौगोलिक वितरण, परिश्रम की उत्तमता, पढ़ाई का खर्च तथा

Training, घूमने फिरने का खर्च, आशा की हुई आमदनी, काम तथा आराम का पारस्परिक महत्त्व इत्यादि पर निर्भर है। इस तरह प्रामाणिक बातें देखकर किसी उत्पादन सेवा की पूर्ति रेखा बनाना सम्भव हो सकता है।

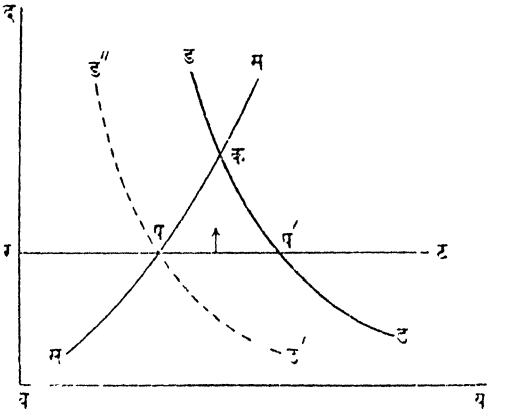
मांग वक्र तथा पूर्ति वक्र बना लेने पर मूल्याकन सदैव की रीति से हो जाता है। इन दोनों शक्तियो के सन्तुलन द्वारा किसी उत्पादन-कार्य की कीमत निर्धारित होती है।

कीमत का नियन्त्रण तथा राशनिंग (Price Control and Rationing)—हम कीमत के नियंत्रण तथा राशनिग को पूर्णतया जानते है। लड़ाई के समय मुद्रा-स्फीति तथा दूसरे कारणो से मूल्य बहुत बढ जाते है। साधारण आवश्यक पदार्थों की कीमत अत्यन्त अधिक हो जाती है जो जनसमूह के खरीदने की शक्ति के बाहर हो जाते है। यदि सरकार दामो पर रोक न लगाए तो भय रहता है कि कही असन्तोष क्रान्ति का रूप धारण न कर ले। राज्य की स्थिरता भग होने के डर के कारण कंट्रोल आवश्यक प्रतीत होने लगता है। दामों का नियन्त्रण अधिकतर उस सीमा से बहुत कम होता है जो यदि माग और पूर्ति के नियम को स्वतन्त्रता से काम करने देने मे हो जाने की आशका रहती है। इस निम्न मूल्य पर अप्राप्य वस्तुओ पर बहुत झपट रहती है। असुविधा तथा गड़बड को रोकने के हेतु दाम का नियन्त्रण राशनिग का रूप धारण कर लेता है। चोर-बाज़ारी शुरू हो जायगी। इसकी सीमा लोगो की कर्तव्यपरायणता, देश-भक्ति तथा ईमानदारी पर अवलम्बित है। साधारण समय मे यह समतुल्यता (Equilibrium) कीमत प्रणाली के द्वारा बनी रहती है। यानी कीमत माग घटाने के हेतु बढती है। लेकिन लड़ाई के समय कीमत प्रणाली भंग हो जाती है। या यो कहिए कि लोकहित को आगे रखते हुए इसे काम नही करने दिया जाता। लड़ाई के समय मे कीमत प्रणाली का काम मूल्य नियंत्रण तथा राशनिग के द्वारा किया जाता है।

यह स्थिति अगले पृष्ठ के चित्र के द्वारा स्पष्ट हो जाती है। ड ड मांग वक्र है और स स पूर्ति वक्र है। उन्हें स्वतंत्र कर देने से वे क पर समतुल्य हो जायेंगे। यह बहुत ही ऊंची कीमत है। सरकार र ट रोक लगाती है (Ceiling)। लेकिन इस पर मांग पूर्ति से बहुत ज्यादा बढ़ जाती है। यह प प (gap) बीच से दिखाया गया है। कीमत बढ़ना चाहती है जो कि प प' पर तीर के द्वारा संकेत किया गया है। राशनिग कर देने से मांग कम कर दी जाती है। घटी हुई माग ड' ड' से अंकित की गई है। जो पहले वक्र के बायें तरफ है। अब यह घटी हुई नई मांग रेख तथा पूर्ति रेखा स स एक दूसरे को प पर काटती है। यहां दाम पर नियन्त्रण तथा राशनिंग के द्वारा समतुल्यता स्थापित की गई है।

९. नवीन उत्पादन का मूल्यांकन (Pricing of new Products)—नवीन उत्पादन का मूल्यांकन एक प्रकार से अन्धेरे में कूदना है। अनुभवी कारीगर अन्धों की तरह नही भागते बल्कि वैज्ञानिक तरीकों पर प्रयोग करते है। नई

वस्तु को बाजार मे कई श्रेणिया (stages) पार करनी पड़ती है। प्रारम्भिक नवीनता घटती जाती है तथा वस्तु अपनी विशेषता खो देती है।



चित्र नं० ३४

उद्योगपति के सन्मुख निम्नाकित विशेष कार्य रहते है --

(१) **मांग का अनुमान लगाना** (to estimate demand)-- उपभोक्ता की पसन्द, वर्तमान तथा भावी, जानना होता है। कुछ प्रश्न का हल आवश्यक होता है जैसे आया वस्तु की माग होगी अथवा नही। किस कीमत पर यह अधिक आकर्षित होगी ? किन कीमतो पर क्या बिक्री होगी और इन कीमतो का दूसरी वस्तुओ के बनाने वालों पर क्या असर पडेगा ?

(२) **बाजार लक्ष्य निर्धारित करना** (To decide Market Targets)--यह लक्ष्य बाजार के हिस्से पर जो यह अपनाना चाहता है निर्धारित है, पैदा करने का ढग तथा वितरित करने के जरिये पर निर्धारित है। उत्पादन तथा वितरण की लागत द्वारा इस बात का निर्धारण होगा।

(३) To design Promotional Strategy--इसके पहले कि बनाने वाले की कीमत लगाने की इच्छा खतम हो, वह खर्चे जो बाजार बनाने मे तथा अधिकार देने इत्यादि मे खर्च हुए है वसूल कर लेने चाहिएँ।

(४) **वितरण के रास्ते निकालना** (To choose distribution channels)--नई वस्तुओं की कीमत लगाने मे विक्रय मूल्य का भी ध्यान रखना चाहिए।

अब हमको कीमत लगाने के ढग को, जो दो विशेष श्रेणियों में होती है, जिससे वस्तु को गुजरना पडता है, देखना है। (अ) रास्ता बताने वाला दर्जा (Pioneering stage) तथा (ब) प्रौढ़ता का दर्जा (stage of maturity.)

(अ) Pioneering Pricing—इस हालत में दो रास्ते कारीगर (manufacturer) के लिये खुले है —

(क) ऊंची कीमत जिसको Skimming Price कहते है और

(ख) नीची कीमत जिसको Penetration Price कहते है ।

Skimming Price बाज़ार मे किसी प्रतिवादी के आने के पहले बाज़ार को चूसने के लिए होता है । यह उन वस्तुओ के लिए उचित है जो मौजूदा वस्तुओ से अत्यधिक भेद बतलाती है और जिन पर प्रारम्भ में ही अधिक खर्च होता है । ऊची कीमत के पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि पहले पहल माग अपेक्षाकृत बेलोचदार होती है ; यह बाज़ार के तत्त्व को चूस लेता है जिससे कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता । यह महफूज है, और साथ ही ऊचे दाम द्वारा पैदावार, वितरण तथा तरक्की के लिए अधिक रुपया लगाने की व्यवस्था होती है ।

Penetration Price वह कीमत है जो नीची कीमत है और पूरे बाजार पर सीधे आक्रमण करती है और अधिक मुनाफे की आशा भी रखती है । जहा पर ऊंची कीमत मे माग की लोच बढ़ती है वहा के लिए थोड़ी कीमत उपयोगी सिद्ध होगी । यह वहा के लिए भी उपयोगी होगी जहा प्रतिस्पर्धा का भारी डर है तथा जहा पैदावार उपभोक्ता के खर्च के लिए आसानी से उपयोगी हो । अधिक उत्पत्ति जो कम दामो पर अधिक माग की पूर्ति के लिए की गई हो उत्पत्ति की लागत मे बचत करेगी ।

(ब) Pricing in Maturity—Brand preference मे कमज़ोरी लाना, वस्तुओ के बीच भौतिक विभिन्नता को कम करना जबकि उत्पत्ति माननीय (standardized) हो, व्यक्तिगत होड करने वाले चिन्ह की अधिकता का होना, बाज़ार का शिखर पर होना, और उत्पत्ति के साधन का स्थिर हो जाना इत्यादि नई वस्तुओ में प्रतिस्पर्धा (competitive status) को नीचा करने के कुछ लक्षण है । जब कि ऐसे चिन्ह प्रतीत होते है और व्यवसायी को यह मालूम होता है कि बाजार उसके हाथ से निकलता जा रहा है तो उसे कीमत कम कर देना चाहिए और इस तरह एक मजबूत दीवार उसके और उसके विरोधी के रास्ते में खड़ी हो जाती है । उसको अपनी वस्तु को उन्नतिशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

निर्देश पुस्तकें

Marshall—Principles of Economics.
Benham—Economics
Meyers—Elements of Moderan Economics, Ch. 9
Stigler—Theory of Price, p. 147—155
Samuelson—Economics
Hess & Others—Outside Reading in Economics
Wicksteed—Common Sense of Pol. Economy, Vol. 1. Ch 6

अध्याय २०

लागत और उत्पत्ति

१. भूमिका—पिछले अध्याय में हम यह देख चुके है कि किस प्रकार बाज़ार मूल्य मांग और पूर्त्ति द्वारा निर्धारित होता है। मांग पर उपभोक्ताओं व खरीदारों की सीमान्त उपयोगिता का प्रभाव पडता ह और पूर्ति पर उत्पादन व्यय व लागत का। इस अध्याय मे हम यह अध्ययन करेंगे कि उत्पादन व्यय का क्या अर्थ है, और दीर्घकालीन मूल्य किस के उत्पादन-व्यय से प्रभावित होता है—सीमान्त फर्म की लागत से या प्रतिनिधि फर्म अथवा आदर्श फर्म के उत्पादन-व्यय से ।

२. उत्पादन-व्यय क्या है ?—इस विषय पर काफी भ्राति है। उत्पादन व्यय नाम-मात्र (nominal) भी हो सकता है और वास्तविक (real) भी। उत्पादन का **नाममात्र व्यय** द्राव्यिक लागत खर्च (money cost of production) कहलाता है। उत्पादन की वास्तविक लागत के विभिन्न प्रकार के अर्थ लगाये जाते है। एडम स्मिथ ने श्रमिक के कष्टों और त्यागो को वास्तविक लागत माना है। मार्शल ने इसके अन्तर्गत "विभिन्न योग्यताओं के प्रयत्नों की वास्तविक लागत" और "प्रतीक्षा की वास्तविक लागत" शामिल किया है।[1] मार्शल ने इसे सामाजिक लागत कहा है।

आस्ट्रेलिया के अर्थशास्त्रियों और उनके अनुयायियों ने वास्तविक लागत को एक नया रूप दिया है। उनके अनुसार एक विशेष जिंस की वास्तविक लागत "उस जिन्स की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला आगामी सर्वश्रेष्ठ त्याग है।" इसे 'अवसर प्राप्त' या 'कालिक लागत' (Opportunity Cost) भी कहते है।

यहाँ हम उत्पादन की लागत का प्रयोग द्राव्यिक उत्पादन के व्यय के रूप में करेंगे। लागत का यह दृष्टिकोण उद्योगपति का है। वास्तविक लागत किसी भी प्रकार की हो, किन्तु उद्योगपति उसे द्रव्य व्यय के रूप में ही देखता है। वह उसी समय तक उत्पादन-क्रिया सम्पन्न करता है, जब तक कि उसे वह लागत मिलती है। इसमें वह लाभ भी सम्मिलित रहता है, जो उसे उद्योगपति के नाते व्यापार को चालू रखने के लिए आवश्यक होता है। अतएव हमें उद्योगपति की उत्पादन लागत की विवेचना करना है और देखना है कि ऐसा व्यय मूल्य को किस भांति प्रभावित करता है। बाद में इन द्राव्यिक व्ययों के आधार पर हम उन आधारभूत तत्वो का निष्कर्ष निकालेंगे जो कीमत निर्धारित करते हैं।

उत्पादन लागत मे निम्न तत्व सम्मिलित रहते है[2] :—(१) श्रमिक की मजदूरी

---

१. मार्शल—अर्थशास्त्र के सिद्धांत (आठवां संस्करण) पृष्ठ ३५०.

२. अधिक जानने के लिये—
Meade : Economic Analysis and Policy. pp. 2-5.

(२) पूंजी पर ब्याज, (३) भूमि अथवा दूसरी सम्पत्ति का किराया (लगान) अथवा 'रायल्टी', (४) कच्चे माल पर व्यय, (५) मशीनों को ठीक करवाने अथवा बदलवाने पर व्यय तथा (६) साहसी का लाभ, जिसके आधार पर वह उत्पादन को चालू रख सके।

३. प्रमुख और पूरक लागत (Prime and Supplementary Cost)—उद्योगपति की द्राव्यिक लागत को एक अन्य दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है । कुछ लागतें निकासी के अनुपात से थोड़ी या बहुत भिन्न २ होती है, जबकि अन्य स्थिर रहती है और पहिले की भाति भिन्न नही होतीं । पहली को प्रमुख लागत और दूसरी को पूरक लागत कहते है । उदाहरण के लिये हम एक खांड के कारखाने को लें । उसकी कुछ लागत स्थिर रहती है, चाहे इसकी खाड की निकासी वर्ष में १५००० मन हो और चाहे १५०० मन हो; उनका भुगतान अवश्य होना चाहिए, भले ही खाड का उत्पादन अस्थायी रूप से स्थगित क्यों न हो । यह पूरक लागत हैं और इनमें कारखाने का किराया, मशीनो में लगी पूजी का ब्याज और स्थायी कर्मचारियो का वेतन सम्मिलित रहता है । दूसरी ओर प्रमुख लागत खर्च परिवर्तनशील होते है । इनमे उत्पादन में प्रयोग में आने वाले कच्चे माल की लागत और अनियमित श्रमिक की मजदूरी सम्मिलित होती है । यह व्यय तभी होते है जब फैक्टरी चालू रहती है । .

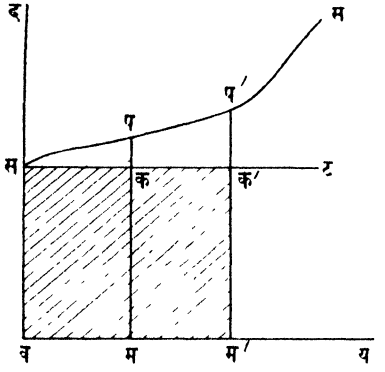
प्रमुख (अस्थिर) और पूरक (स्थिर) लागत खर्च का अन्तर केवल अल्पकालीन समय में लागू होता है । कोई भी वस्तु लम्बे समय तक स्थिर नही रह सकती । कालान्तर कर्मचारियों मे हेरफेर हो सकता है, लगी हुई पूजी की रकम में भिन्नता आ सकती है और फैक्टरी के क्षेत्रफल में भी अन्तर पड़ सकता हैं । अतएव दीर्घकाल में सभी व्यय अस्थिर अथवा प्रमुख होते है ।

अमुक खर्च प्रमुख लागत का अंश है या पूरक लागत का, यह इस बात पर निर्भर होगा कि उत्पादन में कितना परिवर्तन लाया गया है । उत्पादन में थोड़ा-सा परिवर्तन लाने से खर्चे का कोई अंश उतना ही रह सकता है लेकिन यदि उत्पादन की मात्रा को बहुत बढ़ाना है तो वह खर्च भी बढ़ेगा । जैसे विज्ञापन का खर्च क्या है ? प्रमुख लागत का भाग है या पूरक लागत का ? यदि यह बार-बार आने वाले ग्राहकों को आकर्षित करता है तो इसे स्थायी लागत खर्च में शामिल करेगे, और यदि केवल एक बार के ग्राहक आते है तो इसे अस्थायी खर्चे में डाला जायगा ।

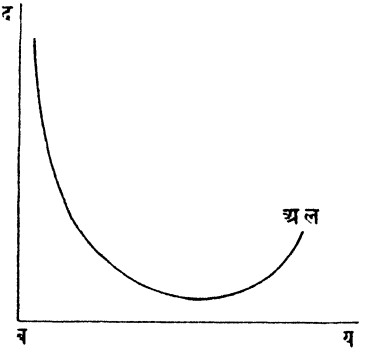
पूरी लागत तथा औसत लागत को आगे दी हुई लागत रेखाओं द्वारा बताया जा सकता है :—

चित्र १ में स स पूरी लागत की रेखा है जिसमें स्थिर लागत भी है (shaded area) और बदलती हुई लागत भी जो स्थिर लागत के चारों ओर तथा पूरी लागत रेखा के नीचे है । स्थिर लागत स ट से दिखाई गई है । यह एक आकाशवृत्त के समानान्तर रेखा (horizontal line) है जो बताती है कि यह लागत

हमेशा एक ही रहती है उत्पत्ति चाहे जो हो (यानी व म या व म')। लेकिन व म उत्पत्ति के लिए बदलती हुई लागत प क है और व म' के लिए प' क' है। बदलती हुई लागत शून्य है जबकि उत्पत्ति कुछ भी नहीं है। यह बिन्दु स के द्वारा बताया गया है, लेकिन स्थिर लागत (=व स) मौजूद है। पहले पहल उत्पत्ति के साथ बहुत शीघ्रता से बदलती हुई लागत बढ़ती है और फिर उत्पत्ति माप की मितव्ययताओ के कारण उससे कम बढ़ती है। लेकिन एक समय बाद यह घटती उत्पत्ति के कारण एक दम से बढ़ जाती है।

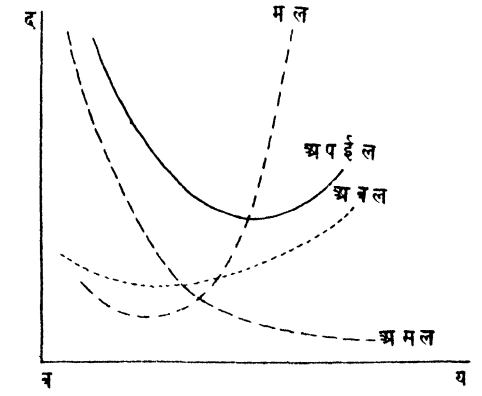


चित्र नं० ३५
पूरी लागत



चित्र नं० ३६
औसत लागत

चित्र ३६ औसत लागत बताती है। पहले पहल औसत लागत बडी स्थिर लागत तथा थोड़ी उत्पत्ति के कारण बहुत ऊंची है। जैसे उत्पत्ति बढती है, स्थिर लागत इकाई उत्पत्ति की बड़ी संख्या के ऊपर फैली हुई है और औसत लागत गिरती है। लेकिन जब उत्पत्ति ह्रास प्रबन्ध की असुविधा के कारण शुरू होता है, बदलती हुई लागत और इसलिए औसत लागत बढना शुरू हो जाती है। रेखा के नीचे का भाग मुड़ कर U की शकल का हो जाता है। इसी कारण से औसत लागत का वक्र U की शकल की तरह होता है।



चित्र नं० ३७

ऊपर लागत के चार चित्र दिये गये है :—औसत स्थिर लागत जो चित्र में टूटी रेखा से बनाई गई है (अ स ल), औसत बदलती लागत जो चित्र म बिन्दीदार रेखा से बनाई

गई है (अ, व, ल), और औसत पूरी इकाई लागत जो चित्र में पूरी रेखा से बनाई गई है (अ, प, ई, ल) और सीमान्त लागत जो चित्र में बिन्दु और रेखा के द्वारा बनाई गई है (म, ल) ।

यह देखा जा सकता है कि औसत बदलती लागत गिरती जाती है जब तक कि सीमान्त लागत इसके नीचे है, लेकिन यह जहा पर म, ल, अ, ब, ल को काटती है बढ़ना शुरू हो जाती है। सीमान्त लागत सदा औसत बदलती लागत से जल्दी बढ़ेगी। ऐसा ही सम्बन्ध सीमान्त लागत तथा औसत पूरी इकाई लागत मे है ।

ऐसी चीजे जो लागत को प्रभावित करती है वे ये है :—

(क) उत्पत्ति की मात्रा; (ख) उत्पत्ति के साधनो के लिये दिये गये मूल्यों मे परिवर्तन; (ग) उत्पत्ति के तरीकों मे उन्नति और (घ) कल और कारखानों की शक्ति में परिवर्तन। आखिरी दशा में नई औसत पूरी लागत रेखा पहले पहल जबकि उत्पत्ति कम है पुरानी औसत पूरी लागत रेखा के ऊपर होगी, लेकिन जब उत्पत्ति काफी बढ़ गई हो तो नई रेखा पुरानी रेखा के नीचे होगी ।

यह याद रखना चाहिए कि परिवर्तनीय लागत के बदलने से सीमान्त लागत तथा औसत कुल लागत बढ जायगी। फिर भी स्थिर लागत के बढने से औसत पूरी लागत बढ़ सकती है परन्तु सीमान्त लागत नही बढ़ेगी, क्योंकि सीमान्त लागत के माने होते है एक बढती इकाई का उत्पत्ति के द्वारा पूरी लागत में वृद्धि करना। अब यह उचित नही होगा कि इस इकाई पर वेतन, ब्याज एवं किराये मे वृद्धि के बोझ को लादा जाय । इनमे जो वृद्धि होती है, वह बढती इकाई के उत्पादन के द्वारा नही होती।

४. विक्रय मूल्य या लागत (Selling Costs):—विज्ञापन, प्रचार कार्य तथा बेचने मे जो खर्च होता है उसे विक्रय लागत कहते है। विक्रय लागत की परिभाषा इस प्रकार है : "यह वह लागत खर्च है जो खरीदार को एक वस्तु के बदले दूसरी खरीदने के लिए बाध्य करता है या जो खरीदार को एक दूकान से दूसरी दूकान से खरीदने के लिए विवश करता है ।"

यदि बाजार पूर्ण हो यानी अगर खरीदारो को मालूम हो कि दूसरे दूकानदार क्या दाम लेंगे या चीजो के गुण (quality) से पूर्णरूपेण जानकारी रखते हों ताकि विज्ञापन उनपर कुछ प्रभाव न डाल सके, तो विज्ञापन बेकार होगा। विज्ञापन प्रतियोगितापूर्ण बाजार में भी अनावश्यक होगा जहा कि प्रामाणिक वस्तुएं बिकती है। असलियत में पूर्ण बाजार तो होता ही नही। बहुत थोडे खरीदार ऐसे होगे जो गुण के पहचानने वाले होंगे अथवा, बाजार की हालतों से पूरे परिचित होंगे। बहुत से ब्रैड (Brand) है जो खरीदार से चुने जाने के लिये प्रतियोगिता करते हैं और उसके निर्णय कार्य में गडबडी डालते हैं। यह विज्ञापन के लिये बहुत बड़ा क्षेत्र है जो या तो नई वस्तुओं का ज्ञान दिलाता है या खरीदारों को आगाह करता है कि पुरानी वस्तु अब

भी ठीक से चल रही है। विक्रय लागत इस तरह अपूर्ण बाजार से सबधित है। उत्पत्ति की भिन्नता से विज्ञापन और विक्रय कार्य आवश्यक हो जाते है।

आजकल का व्यापारी जानता है कि विज्ञापन से लाभ होता है लेकिन ठीक से यह नही बता सकता कि कितना। विद्यार्थियों के लिये आवश्यक है कि वे विक्रय लागत की कुछ कठिनाइयों को जान ले।

सर्वप्रथम, किसी बात को सामान्य रूप से कहना कठिन है। वही विज्ञापन पर खर्च बहुत लाभप्रद हो सकता है जबकि वह एक किसी खास तरीके से या ऐसी किसी परिस्थिति में खर्च किया जाय और वही खर्च किसी दूसरे ढंग से खर्च करने पर बिल्कुल बेकार सिद्ध हो सकता है। कारण यह है कि इसकी सफलता इसकी न्यूनता तथा अद्वितीयता पर निर्भर है। जब यह चीज नही रह जाती, विज्ञापन निर्मूल हो जाता है। उदाहरणार्थ जब एक मुफ्त काम साधारण हो जाता है तो इसमें कोई फायदा नही रह जाता हालांकि उसकी अनुपस्थिति हानिकारक होगी। लेकिन उस हालत में जब यह सेवा करने वाली फर्में खर्चा निकालने के लिये दाम बढा लेती हैं तो अन्य फर्में, जो यह सेवा नही करती और कम दाम लेती है, अपने प्रतिद्वद्वियों को हटा देने मे समर्थ होगी।

द्वितीय, विक्रय लागत तथा किसी फर्म के व्यापार की मात्रा में कोई संबध नही है। यह भी कहना असभव है कि व्यापार की बढ़ती का कौन-सा भाग विज्ञापन खर्च के कारण है।

तृतीय, चूकि विज्ञापन, विरुद्ध विज्ञापन उत्तेजित करता है, अतः विक्रय लागत प्रतिद्वंद्वी के कार्य से बहुत अधिक प्रभावित होता है। प्रतियोगिक विज्ञापन कुल लाभ हड़प सकता है, और हो सकता है कि सिवाय विज्ञापनकर्त्ता तथा विक्रयकर्त्ता के किसी को भी लाभ न हो। लेकिन विरुद्ध विज्ञापन में देरी हो सकती है जिससे उस फर्म को जिसने पहले विज्ञापन किया है, अधिक लाभ हो सकता है और यह भी संभव है कि प्रतियोगिता प्रत्यक्ष न हो।

चौथे, विक्रय-लागत खर्च से जो इसे करता है उसको तथा उसके प्रतिद्वंद्वी दोनों को लाभ हो सकता है। जैसे मान लो न्यू इंडिया इन्श्योरेंस कम्पनी (New India Insurance Company) के विज्ञापन द्वारा कोई व्यक्ति बीमा के लिये तैयार हुआ लेकिन वह बीमा कराने के लिये इसके बदले ओरियन्टल लाइफ इंश्योरेंस कम्पनी (Oriental Life Insurance Company) के पास जा सकता है।

पांचवें, विज्ञापन इस बात पर आधारित है कि बहुत से खरीदार अपनी रुचि बदलने को तैयार है। ऐसा नही भी हो सकता। जैसे हमको नवीनता तथा उन्नति की इच्छा के विरुद्ध, मानसिक झुकाव, यानी आदत को भी ध्यान में रखना चाहिये। हम नही कह सकते कि एक विशेष दशा म कौन-सी इच्छा प्रबल होगी।

विक्रय लागत का बंटवारा करना कठिन काम है। इसका साधारण कारण यह है

कि व्यापारी को अपने विज्ञापन का परिणाम मालूम करना कठिन होता है। यह पता लगाना कठिन है कि उसका कितना व्यापार पुराने खरीदारों के कारण है और कितना व्यापार नए खरीदारों के कारण है जो विज्ञापन द्वारा बनाए गए हैं। पहली हालत में विक्रय लागत स्थिर लागत माना जाना चाहिए और दूसरी दशा में परिवर्त्तनीय लागत विज्ञापन की पूरी लागत नये व्यापार पर लगाना चाहिए।

विक्रय लागत तथा मांग वक्र (Selling Costs and Demand Curve):- विक्रय लागत खर्च पुराने ग्राहकों को ज्यादा चीजें खरीदने के लिये लालायित कर सकता है और नए ग्राहक भी बना सकता है। इसका अर्थ है मांग में बढ़ोतरी। नई मांग की रेखा, जो माग की बढती बताती है, पुरानी रेखा के ऊपर या उसके दाहिने तरफ होगी लेकिन यह जरूरी नही है कि नई रेखा की लोच पुरानी की ही तरह हो। यह नए ग्राहकों की खरीद की आदत पर निर्भर है। अगर वे कीमत से ज्यादा प्रभावित होते है तो वह अधिक लोचदार होगी, नही तो पुरानी रेखा से कम लोचदार होगी। अगर नए ग्राहक वस्तुओं की अच्छाई से प्रेरित है तो नई रेखा ऊपरी भाग मे कम लोचदार होगी क्योंकि कीमत आसानी से बढाई जा सकती है। यदि ग्राहक यह सोचते हैं कि वे वस्तुओं को केवल कम दाम पर ही खरीद सकते है तो नई रेखा नीचे के भाग में पुरानी से अधिक लोचदार होगी।

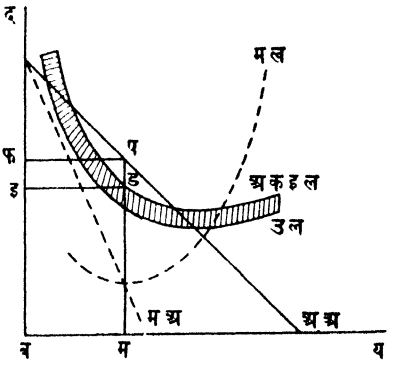
विक्रय लागत आदर्श उत्पत्ति के निर्धारण में कैसे प्रभाव डालती है (How do the Selling Costs affect the determination of the Optimum Output?) अधिक उत्पादन की खपत के लिए तीन ढंग है, जिनमें पहला प्रबल विक्रय प्रयास है। दूसरे दो तरीके कीमत कम करना तथा गुण का बढ़ाना है। विक्रय मूल्य का बीच में आ जाना अधिक फायदेमन्द उत्पत्ति की जानकारी मे बाधक है। यह साफ है कि अधिक पूरी विक्रय लागत, अधिक उत्पत्ति को उसी मूल्य पर बेचने मे या उसी उत्पत्ति को ऊंचे दाम पर बेचने मे आवश्यक है। निम्नाकित सूत्र आदर्श उत्पत्ति को निश्चय करने में उपयोगी होगा :—

कुल आय=कीमत × उत्पत्ति — (उत्पत्ति लागत + विक्रय लागत)

अब समस्या यह है कि वह कौन-सी उत्पत्ति है जिस पर शुद्ध आय ज्यादा-से-ज्यादा होगी। हम देख चुके है कि विक्रय लागत एक नई मांग रेखा बनाती है। अधिक-से-अधिक फायदा निकालने का एक तरीका यह है कि विक्रय लागत को उस खास माग के सिलसिले मे स्थिर लागत माना जाय। एक चित्र इस विक्रय मूल्य के लिये और माग रेखा जो यह उत्पन्न करता है बनाया जा सकता है।

अ, अ औसत आय माग रेखा है; म अ सीमान्त आय है; उ ल औसत उत्पादन लागत है; र ण क्षेत्रफल इसके ऊपर का विक्रय लागत बताता है। इसको उ ल में जोडने से औसत

कुल इकाई लागत यानी अ क इ ल हमको मिलता है। प फ इ ड इस दशा में अधिक-से-अधिक आय बनाता है।



चित्र नं० ३८

ऊपर की दशा मे विक्रय लागत को स्थिर लागत माना गया है। दूसरा तरीका यह है कि विक्रय लागत को बदलती लागत समझा जाय, जोकि बढी हुई उत्पत्ति को उसी दाम पर बेचने मे सहायक है। अधिक-से-अधिक कुल लाभ का बिन्दु विभिन्न उत्पत्ति लेने से तथा ऊपर का सूत्र लगाने से ज्ञात किया जा सकता है। हर एक उत्पत्ति के लिये हम कुल लाभ कुल आय से कुल लागत जिसमें विक्रय लागत भी सम्मिलित है घटाने से मालूम कर सकते है। इस तरह हम ज्ञात कर सकते है कि कौन-सी उत्पत्ति अधिक-से-अधिक लाभदायक सिद्ध होगी।

बढ़ी हुई विक्रय-लागत बनाम दाम का घटाना (Increased Selling Cost Vs. Price Cutting):—हमने पहले बतला दिया है कि गुण के सुधारने के अलावा दो और ढग है जिससे बिक्री बढ सकती है। यानी कीमत का घटाना या विक्रय लागत का बढ़ाना (यानी, विज्ञापन तथा विक्रयकरण पर अधिक रुपया खर्च करना)। इन दोनों में कौन अच्छा है?

यह बात दो विभिन्न दृष्टिकोण से देखी जा सकती है।

(अ) समाज के दृष्टिकोण से, (आ) एक व्यापारी के दृष्टिकोण से।

सर्वप्रथम हम समाज के दृष्टिकोण पर ध्यान देंगे। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि खरीदारों के दृष्टिकोण मे कीमत में कमी अच्छी होती है। और विज्ञापन, खास तौर से कुछ विज्ञापन, अनार्थिक होता है लेकिन विज्ञापन के बहुत से लाभ भी बताये गए है।

(क) यह खरीदारों को यह समझा कर कि जो सामान वे खरीद रहे है वह सर्व-श्रेष्ठ है उनके आर्थिक कल्याण को बढाता है। यदि हम मेपोल सिगरेट इस्तेमाल कर रहे है तो हर एक तारीफ जो इसकी की जायगी वह हमारे संतोष को बढायगी। लेकिन दूसरी

बात की भी सभावना है। हर रोज जब हम कैवेन्डरस सिगरेट का विज्ञापन सुनते है तो यह हमारे उस संतोष को जो हम मेपोल से प्राप्त करते है कम कर देता है। इस तरह विज्ञापन दोनों रास्ते बताता है,—इनमें से कौन-सा अच्छा है, कहा नही जा सकता।

(ख) बहुत-सी ख्याली बीमारिया विज्ञापित पेटेंट (Patent) दवाइयो से अच्छी हो जाती है। लेकिन बहुत से सच्चे रोग पेटेंट दवाइयो पर ही निर्भर रहने से खराब हो जाते है, यदि साथ ही डाक्टर से सलाह न ली जाय।

(ग) विज्ञापन उपभोक्ता को वस्तुओं को ठीक से चुनने मे सहायक होता है क्योकि वह तरह-तरह के नमूने और सामान को देखता है। पर कभी-कभी वह भ्रम में भी पड जाता है।

विज्ञापन बाजार को बढाकर तथा उत्पादन व्यय को लागत ह्रास उद्योग मे कम कर के सामान को सस्ता कर देता है। लेकिन यह भी सभव है कि बढती हुई विक्रय लागत इस प्रवृत्ति को बराबर कर दे। इस प्रकार विज्ञापन कुछ लागत को तो घटा देता है और कुछ को बढ़ा देता है। विज्ञापन कारीगरों को विक्रय लागत के आधार पर प्रतियोगिता करने को प्रेरित करता है न कि कीमत की घटी के आधार पर और गुण को कीमत की तरह बढा कर। यह साधारण ज्ञान की बात है कि पेटेंट दवाइयो की कीमत विज्ञापन लागत की वजह से बहुत बढ जाती है।

अब एक व्यापारी के दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है।

(क) विज्ञापन कीमत घटाने से अच्छा है क्योंकि विज्ञापन जब अच्छा परिणाम न दे तो रोका जा सकता है। लेकिन कीमत को एक बार घटा कर फिर बढाना बुद्धिमानी न होगी।

(ख) कीमत को घटाना अनैतिक समझा जाता है परन्तु विज्ञापन का विरोध कोई नही करेगा। इसका कारण यह है कि विज्ञापन एक व्यापार को किसी दूसरे उद्योग को क्षति पहुंचा कर बढा सकता है। लेकिन कीमत घटाना उन पर विरोधियो द्वारा सीधा आक्रमण है। अत· बदला शीघ्र और तेज होता है। जो व्यापार कीमत घटा करके बढाया जाता है वह अन्य प्रतियोगियों द्वारा और अधिक कीमत घटा कर छीन लिया जा सकता है। लेकिन विज्ञापन द्वारा खरीदारो के मन में विज्ञापित वस्तु जम जाती है। जिस हद तक विज्ञापन कार्य सफल होता है लाभ स्थायी होता है।

४. **कब कीमत उत्पादन लागत से कम हो सकती है?**—दीर्घ काल मे दोनों ही प्रमख और पूरक लागतो को उत्पादित जिस के क्रय से उपार्जित धन के द्वारा ही भुगतान होना चाहिये। किंतु कुछ परिस्थितियों मे कीमत कम रह सकती है और उससे केवल प्रमुख लागत और पूरक लागत का एक अंश ही निकल पाता है। ऐसी दशाओं में कीमत कुल उत्पादन लागत से कम होती है। ये दशाएं निम्नलिखित है:—

(१) व्यापारिक मंदी के समय कीमत इतनी गिर सकती है कि उद्योगपति

अपनी कुल उत्पादन लागत को भी न निकाल सके। इस डर से कि कही उसका बाजार पर से अधिकार उठ जाय, वह उस समय तक उत्पादन क्रिया सम्पन्न किये जाता है, जब तक कि उसकी प्रमुख लागत और पूरक लागत का एक अंश निकलता रहता है, भले ही उसकी मात्रा कितनी ही कम क्यो न हो और वह सुनहरे भविष्य की प्रतीक्षा करता है।

(२) **उस परिस्थिति में जब किसी व्यवसाय में स्थिर और विशेष पूंजी लगी हो** उत्पादक को अपना व्यवसाय जारी रखना पड़ेगा, चाहे वह उससे अपना कुल उत्पादन लागत भी न निकाल सके। पूंजी के एक विशेष काम में लगे होने के कारण उसके पास और कोई दूसरा रास्ता नही रहता।

(३) **निम्न भाव पर आवश्यकता से अधिक उत्पादन का विदेशों के लिये नियत होना**—उस परिस्थिति में उद्योगपति काफी अधिक परिमाण मे उत्पादन करता है, जिससे उसकी उत्पादन लागत कम हो जाय। वह उत्पादन का एक अंश देश में बाजार भाव पर बेच देता है और जो अधिक माल बच रहता है उसे वह उत्पादन लागत से कम दर पर विदेशी बाजारों के लिये नियत कर देता है। इसे हम कीमत गिराना (Dumping) कहेगे। विदेशों मे उत्पादक को जितनी हानि होती है, वह उतना ही देश मे लाभ उठा लेता है। परन्तु चूकि जो आवश्यकता से अधिक उत्पादन है, उसकी उत्पादन लागत बहुत कम होती है इससे वह देश मे बहुत ही साधारण कीमत पर विक्रय करके भी लाभ उठा सकता है।

(४) **विदेशी प्रतिद्वंद्विता**:—अपने किसी विदेशी प्रतिद्वंद्वी के व्यवसाय को बाधा पहुचाने की दृष्टि से उत्पादक उत्पादन लागत से भी निम्न भाव पर विक्रय कर सकता है। जब उसकी यह प्रतिद्वद्विता सफल हो जाती है तो वह पुनः भाव बढ़ा देता है और विगत हानि को पूरा कर लेता है।

यह सारी परिस्थितिया अस्थायी होती है, अन्तत. कीमत इतनी होनी चाहिये जिससे कुल लागत खर्च निकल सके।

एक बाजार मे कई उत्पादक या फर्में माल भेजती है। उनकी उत्पादन लागत उन्हे अवश्य ही मिलनी चाहिये। साधारणतया उनका उत्पादन समान उत्पादन-व्यय पर नही होता। इतना ही नही, कोई उत्पादन इकाई अथवा व्यावसायिक संस्था लागत की समान दर पर ही उत्पादन की कुल इकाइया उत्पादित नही करेगी। अब प्रश्न यह है कि **कीमत किसकी उत्पादन लागत को पूरा करे**? दीर्घ-काल मे कीमत को सामान्य व्यावसायिक सस्था की सीमान्त-उत्पादन लागत को अवश्य पूरा करना होगा और उसे सीमान्त व्यावसायिक संस्था की सामान्य लागत को भी पूरा करना होगा।

५. सीमान्त उत्पादन व्यय—सीमान्त व्यय प्रायः अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के मस्तिष्क में एक प्रकार की भ्रांति पैदा कर देता है और उसके निराकरण की

आवश्यकता पड़ती है। सीमान्त उत्पादन लागत के दो अर्थ हो सकते है :—

(अ) सीमान्त व्यावसायिक संस्था की प्रति इकाई पर उत्पादन लागत अथवा

(ब) एक सामान्य व्यावसायिक संस्था की सीमान्त निकासी पर प्रति इकाई उत्पादन लागत। हम इन दोनों अर्थों की विवेचना करते है —

(अ) सीमान्त व्यावसायिक संस्था उन सभी व्यावसायिक सस्थाओं में सर्वाधिक न्यून कार्यकुशल होती है, जिनकी प्रति इकाई पर सर्वाधिक उत्पादन-लागत होती है और जो केवल अपने को जीवित भर रखने योग्य होती है। यदि बाजार मे भाव धीरे-धीरे गिर जाय तो इसका अस्तित्व खतरे में पड जाता है, क्योकि तत्कालीन भाव पर यह मुश्किल से अपनी उत्पादन लागत निकाल पाती है। यह असाधारण लाभ नहीं उठा पाती, केवल उसे सामान्य लाभ ही मिल पाता है। हम उदाहरण के लिये तीन साइकिल बनाने वाले अ, ब और स को ले जो बाजार मे माल देते है। हम मान लें कि उनका प्रति साइकिल उत्पादन व्यय क्रमशः १२५), १४०) और १५०) है। इनमे स अपने १५० के सर्वाधिक लागत के कारण सीमान्त व्यावसायिक सस्था है। उसकी उत्पादन लागत सीमान्त लागत होगी।

इस प्रकार, एक अर्थ मे, सीमान्त उत्पादन लागत का अर्थ है सीमान्त व्यावसायिक संस्था की प्रति इकाई उत्पादन लागत।

परन्तु यह आवश्यक नही है कि सीमान्त व्यावसायिक सस्था सब से कम कार्य-कुशल हो। सीमान्त के संबंध मे आवश्यक बात कीमत और निकासी के पारस्परिक संबंध है। जब कीमत गिरती हैं तो निकासी अवश्य कम होगी। हो सकता है कि कोई फर्म अपना श्रम और पूजी किसी दूसरे धंधे में लगा दे। यह सीमान्त फर्म होगी, किंतु क्या यह निश्चित है कि वह सबसे कम कार्य-कुशल है? यह भी हो सकता है कि वह उत्पादक अन्य की अपेक्षा अधिक चतुर हो और समय की गति देखते हुए वह व्यवसाय स्थगित करने अथवा छोड़ देने का निश्चय कर ले। जो फर्म इस सदेह में झूलती रहती है कि व्यवसाय चालू रक्खा जाय अथवा बन्द कर दिया जाय, उसे सीमान्त फर्म कहते है।

सीमान्त फर्म के संबंध मे यह परम्परागत धारणा है कि फर्मो की कार्यकुशलता में भिन्नता होती है। परन्तु यदि सभी सस्थाओं की कार्यक्षमता समान हो तो फिर भी वहां समानता पाई जायगी। रसद मे कमी आने पर निकासी की जो हानि होगी वह सीमान्त निकासी होगी। यह किसी सस्था विशेष की न होकर सभी संस्थाओं मे पारस्परिक वितरण से भी हो सकती है।

(ब) **सीमान्त निकासी**:—जब एक व्यवसाय का क्षेत्र बढ़ना है, और निकासी या उत्पत्ति में वृद्धि होती है, तो उस समय क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम अपना कार्य प्रारम्भ कर सकता है और फलस्वरूप लागत में वृद्धि हो सकती है। उद्योगपति उस सीमा तक उत्पादन कार्य जारी रखेगा जब तक कि उसे उतना मिलता रहे जितना कि उसका और

खर्च हो रहा है । निकासी में अन्तिम योग को सीमान्त निकासी कहते हैं। सीमान्त निकासी की प्रति इकाई की उत्पादन लागत उत्पादन की सीमान्त लागत होती है। यदि एक किसान अपनी भूमि पर गहरी खेती करता है तो वह पहले १०० मन गेहूँ ३)मन पर, दूसरे १०० मन ५) मन पर, तीसरे १०० मन ७) मन पर बढा सकता है जो कि सीमान्त निकासी की प्रति इकाई लागत है अर्थात् (अन्तिम १०० मन गेहूँ की वृद्धि)। यह उत्पादन की सीमान्त लागत होती है।

यह स्पष्ट है कि स्थायी या पूरक लागत अल्प-काल में सीमान्त लागत का अग नही बनती। उत्पत्ति या निकासी चाहे जितनी हो उनका भुगतान होना आवश्यक है। वह निकासी के साथ-साथ नही बदलती। उत्पादक उस समय तक उत्पादन क्रिया सम्पन्न करता रहेगा जब तक कि उत्पादन की दूसरी इकाई के अतिरिक्त (अर्थात् सीमान्त) लागत से कीमत अधिक है। किन्तु ज्यो-ज्यो दीर्घकाल होता जायेगा पूरक सूची के विषयो पर कीमत बढ़ती जायगी और यह सीमान्त लागत का ही एक अंग होगी।

६. सीमान्त का महत्त्व—आर्थिक सिद्धान्तो मे सीमान्त सबन्धी विचार का बड़ा महत्त्व है। इसका महत्त्व इसमे होता है कि "सीमान्त पर ही मांग और पूर्ति के परिवर्तित सम्बन्ध परस्पर स्पष्ट होकर बदलाव सम्भव करते है, अर्थात् यह ज्ञात होता है कि अब व्यवस्था मे परिवर्तन होना चाहिये। सीमान्त पर ही व्यवसाय की असफलता अथवा दिवालियेपन का ज्ञान होता है। सीमान्त पर ही नई फर्म अथवा उद्योगपति उन्नति की ओर बढ़ते है। सीमान्त पर ही एक वस्तु अथवा काम की जगह दूसरी वस्तु अथवा काम को लगाया जाता है। सीमान्त पर ही नये सामान की मागो की पूर्ति को प्राप्त साधनों के अन्तर्गत विभाजित किया जाता है और द्रव्य के वर्तमान और भविष्य के उपयोग के लिये किस भाति वितरण हो, इस नतीजे पर पहुचा जाता है। विकस्टीड के शब्दो मे "जहां कही भी वह (सीमान्त) अपना प्रभाव जमा चुकी है वही वह अपनी प्रभुता स्थापित करती है। यही पर मनुष्यों के प्रयत्नो की दिशा की आर्थिक परीक्षा होती है और उसे वही से निर्देश मिलते है। विभाजन के प्रत्येक बिन्दु पर वह साधनों के विवरण की जांच करती है।"

उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी सीमान्त का अपना एक विशेष महत्त्व है। यह उत्पत्ति का रूप स्थिर करने का माप-दंड होता है। यह निश्चय करने के लिये कि उत्पादन कितनी मात्रा में होना चाहिए, उत्पादक सामान्य उत्पादन लागत को दृष्टि मे नही रखता वरन् वह सीमान्त उत्पादन व्यय पर ध्यान देता है। उसके लिये यह जानना अधिक आवश्यक होगा कि निकासी में वृद्धि करने के लिये उसे कितना अधिक और व्यय करना होगा। इस अतिरिक्त निकासी पर होने वाले अतिरिक्त व्यय की वह अनुमानित आय से तुलना करेगा। जो नियम उसे अपनाना होगा वह सीमान्त लागत की सीमान्त कीमत से समानता होती है।

प्रतियोगितापूर्ण स्थिति में प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत एक-सी होगी क्योंकि सब के लिये कीमतें बराबर हैं। जो संस्थायें कार्यकुशल न होंगी, वे उत्पादन शीघ्र ही बन्द कर देंगी क्योंकि उनकी सीमान्त लागत कीमत से शीघ्र ही अधिक होने और उनके विपरीत कुशल संस्थाओ की निकासी अधिक होने से उनकी सीमान्त लागत कीमत के समान आ जायगी। अस्थायी तौर पर उपर्युक्त परिस्थितियो में एक संस्था सीमान्त लागत के कीमत से अधिक होने पर भी उत्पादन जारी रख सकती हे। उद्योगपति इस आशा से कि कीमत में वृद्धि होगी और वह अपना नुकसान पूरा कर लेगा, प्रारम्भ में नुकसान उठाने को भी तैयार होगा।

यह सकेत कर देना उचित होगा कि सीमान्त विक्रेता अथवा खरीदार का कोई विशेष महत्त्व नही होता। वह बहुतो मे से एक होता हे। प्रत्येक विक्रेता अथवा खरीदार का महत्त्व होता है। कीमत का निर्धारण कुल मांग और पूर्ति से होता है। सीमान्त केवल मूल्य की ओर इंगित करता है—वह उसे प्रभावित नही करता।

७. आदर्श या वांछनीय फ़र्म—इससे पूर्व के अध्याय में हमने पढा है कि सीमान्त फ़र्म क्या होती है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने एक नयी प्रकार की फर्म की कल्पना की है, जिसे वाछनीय फर्म कहते हैं। यह ऐसी सस्था है जिसमे उत्पादन के विभिन्न साधनो का सर्वश्रेष्ठ समन्वय होता है। उद्योगपतियो के दृष्टिकोण से यह एक इकाई पर न्यूनतम औसत व्यय से उत्पादन क्रिया सम्पन्न करती है। इसका आकार इस प्रकार का होता है कि थोड़े से ही विस्तार से अथवा साधनो में कमी कर देने से इसकी उत्पादन क्षमता मे कमी आ जाती है और प्रति इकाई व्यय बढ जाता है। पूर्ण स्पर्द्धा मे प्रत्येक सस्था वाछनीय आकार ग्रहण करना चाहती है, क्योंकि इस आकार से उद्योगपति को अधिकतम लाभ होता है।

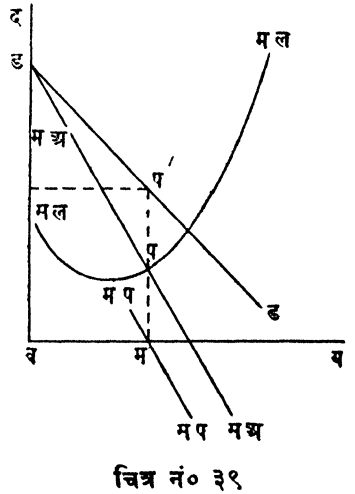
यह ध्यान मे रखना चाहिये कि वाछनीयता कोई निश्चित बिन्दु नहीं है। जन-सख्या के वाछनीय आकार की भाति यह भी एक सापेक्षिक शब्द है। विभिन्न साधनो के विभिन्न मिलाव से इसमें भिन्नता हो सकती है। उनमें थोड़े से हेर-फेर से इसमे भी अन्तर आ जाता है। वाछनीय इकाई में उन परिस्थितियों मे वृद्धि हो सकती है जब पूंजी को प्राप्त करने में सरलता हो, क्रय और विक्रय की कला का समुचित ज्ञान हो। यदि इसके विपरीत एक या दूसरे प्रकार के साधनों की प्राप्ति मे कोई बाधा आ पड़े तो वाछनीयता पर उसका उल्टा प्रभाव होगा।

हमने यह देखा है कि पूर्ण स्पर्धा में प्रत्येक उत्पादक की प्रवृत्ति यह होती है कि उस की उत्पत्ति का विस्तार इतना हो जाय कि उसकी सीमान्त लागत तथा कीमत समान स्तर पर पहुंच जांय। इस प्रकार जितनी निकासी होती है उसे वाछनीय निकासी कहते हैं क्योंकि इससे उत्पादक को अधिकतम लाभ होता है। पूर्ण स्पर्धा की परिस्थितियों मे प्रत्येक संस्था की यह प्रवृत्ति होती है कि वह वांछनीय मात्रा उत्पादित करके वांछनीय

आकार ग्रहण कर सके। परन्तु इसके अर्थ यह नहीं होते कि वह इस आकार तक पहुंच चुकी है। वांछनीय आकार तक पहुंचने के लिये उसका प्रतिक्रम व्यवसाय की किस्म पर निर्भर होता है।

यह आवश्यक नहीं कि एक साधन की वाछनीयता दूसरी की वाछनीयता के समान है। उदाहरणार्थ—निर्देशन के दृष्टिकोण से एक बड़ा आकार अधिक क्षमतापूर्ण हो सकता है। परन्तु उत्पादन की विधि की दृष्टि से छोटे आकार से अधिक अच्छा काम लिया जा सकता है। इस बाधा को सरल करने के लिये कभी-कभी उत्पादन की कई पूर्ण इकाइयों को एक ही निर्देशन के अन्तर्गत रख दिया जाता है। इसके विपरीत कई स्वयं निर्देशन संस्थाये सभव है कि एक ही जिन्स के उत्पादन मे योग देती हों। उदाहरण के लिये इन्जीनियरिग उद्योग मे अन्वेषण की दृष्टि से वाछनीयता निर्देशन की अपेक्षा बडी होती है। ऐसे मामलों में कुछ बीच की विधिया छोटे आकार की स्वतत्र संस्थाओं को सौप दी जाती हैं। परन्तु वही व्यवसाय कच्चे माल और यातायात की सुविधा को दृष्टि में रखकर बंट सकता है और भिन्न-भिन्न स्थानो पर चलाया जा सकता है। उदाहरण के लिये हम मारिस मोटर्स को ले सकते है—जिनका सग्रह संस्था के विभिन्न स्थानो पर बनी शाखाओं में तैयार होने वाली पुर्जो से होता है।

नीचे आदर्श उत्पत्ति मालूम करने का एक चित्र दिया गया है। हम देख चुके हैं कि लाभ उस समय अधिक होता है जबकि सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती



चित्र नं० ३९

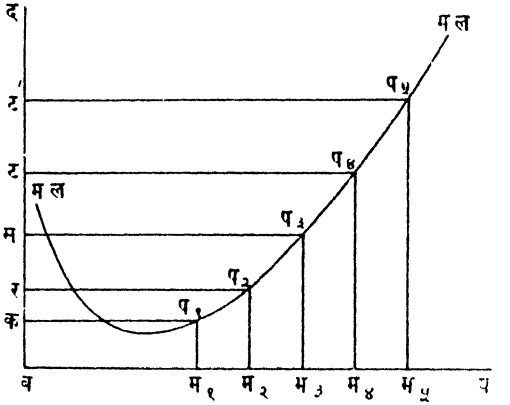
है। म ल सीमान्त लागत वक्र है और म अ सीमान्त आय वक्र है। यह दोनो रेखायें एक दूसरे को प पर काटती है। यह बिन्दु आदर्श उत्पत्ति (Optimum Output) व म बताती हैं। इस उत्पत्ति पर सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है क्योंकि प बिन्दु दोनों रेखाओं, म ल तथा म अ पर है। म प रेखा जब ऊपर बढ़ाई जाती है तो माग रेखा, ड ड को प' पर मिलती है। अतः प' म आदर्श कीमत है और व म आदर्श उत्पत्ति है। इस म बिन्दु पर सीमान्त लाभ वक्र म प धन से ऋण की ओर जाती है और व य (axis) को काटती है।

हम फिर वह नियम दुहराते हैं जिस पर अधिक-से-अधिक उत्पत्ति वह होगी जिस पर—

सीमान्त लागत=सीमान्त आय

सीमान्त लागत=कीमत

उत्पादन को बदली हुई कीमतों से ठीक करना--एक फर्म के लिये जो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत है, हम कहते है कि यह वह है जिस पर सीमान्त लागत कीमत के बराबर होती है। अतः उत्पत्ति को कीमत की घटती-बढ़ती के अनुसार ठीक करना है। यह इस चित्र मे दिखाया गया है :—



चित्र नं० ४०

म ल सीमान्त लागत वक्र है और क र स ट तथा ट' समानान्तर रेखायें है जो विभिन्न कीमतों को बताती है। हर एक कीमत के अनुरूप आदर्श उत्पत्ति होगी जहां सीमान्त लागत कीमत के बराबर है। यानी यह वहां है जहां म ल वक्र कीमत रेखा को काटता है। इस तरह उत्पत्ति व क (=प$_1$ म$_1$) व म$_1$ होगा। वर (=प$_2$ म$_2$) पर आदर्श उत्पत्ति व म$_2$ होगा और इसी तरह और भी।

ध्यान रहे कि कीमत रेखा म ल को दूसरे सिरे पर भी काटती है लेकिन वहां पर उत्पादन बहुत कम होगा। जब कीमत रेखा म ल के उठते हुए भाग को काटती है तो लाभ सब से ज्यादा होगा।

जब लाभ ऋण भी है तो भी सीमान्त लागत और सीमान्त आय वाला नियम लागू होता है। यह हानि ज्यादा होने से बचायेगा। जब कीमतें गिर रही हों तो व्यापारी को स्थिर लागत को छोड़ना पड़ सकता है। लेकिन उसको सीमान्त लागत तो पैदा कर लेना ही होगा। जब तक उसकी पूरी आय अस्थिर लागत से अधिक हो, उसे उत्पादन जारी रखना चाहिए। लेकिन जब पूरी आय अस्थिर लागत से भी गिर गई हो, तो उसे काम बन्द कर देना चाहिये। "किसी भी कीमत पर जो कम-से-कम औसत अस्थिर लागत से अधिक हो, उत्पत्ति जिस पर सीमान्त आय के बराबर है, यह बिन्दु कम से कम पूरी हानि का होगा।"

यह कायदा हानि को कम करने का है। लाभ को अधिक करने का नियम केवल अस्थिर लागत को ही नही बल्कि स्थिर लागत यानी पूरी लागत को भी ध्यान में रखना होता है। यह नियम इस प्रकार है: "औसत पूरी इकाई लागत से अधिक जो भी

लागत हो उससे अधिक उत्पत्ति जिस पर सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर हो, अधिक लाभ का बिन्दु होगा।"

८. वाछनीय फर्म बनाम मार्शल फर्म—यह दावा किया गया है कि कीमत की व्याख्या की दृष्टि से वांछनीय सस्था मार्शल की प्रतिनिधि सस्था से श्रेष्ठ है। मार्शल के अनुसार प्रतिनिधि फर्म वह संस्था है, जिसकी जड़ें काफी मजबूत हों और जिसे यथेष्ट सफलता प्राप्त हो चुकी हो, और जिसका प्रबन्ध सामान्य योग्यता वाले व्यक्ति द्वारा किया जाता हो तथा जिसे वह बाह्य तथा आन्तरिक मितव्ययतायें सामान्य रूप से प्राप्त हों जो उत्पत्ति की कुल मात्रा के फलस्वरूप होती है, जिनमे उत्पादित वस्तुओं का वर्ग, उनको बेचने की स्थितिया तथा आर्थिक वातावरण का विचार रक्खा जाता है।[१]

इस प्रकार यह फर्म न तो बहुत अच्छी व्यवस्था वाली होती है और न बहुत खराब व्यवस्था वाली ही, न तो यह बहुत नयी होती है और न बहुत पुरानी और यह बड़े पैमाने पर होने वाले उत्पादन का साधारण लाभ उठाती है। एक शब्द मे यह अपने ढग की एक विशेष फर्म होती है। मार्शल के अनुसार इस सस्था की सीमान्त उत्पादन लागत दीर्घ-काल मे मूल्य के लगभग हो जाती है। जो फर्म इस कीमत पर क्रय नही करती वह आज या कल अवश्य समाप्त हो जाती है। इस तरह के उद्योग मे, जो किसी भाति क्रय करने मे समर्थ हो जाती है, वे सीमान्त फर्म होती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार साधारण अथवा प्रतिनिधि फर्म अपनी कीमत सीमान्त उत्पादन लागत के अनुरूप करने का सतत प्रयत्न करती है।

आधुनिक अर्थशास्त्र मार्शल के इस सिद्धान्त को उचित नही ठहराता। यह युक्ति दी जाती है कि प्रतिनिधि फर्म का सिद्धान्त रिकार्डो के "आर्थिक व्यक्ति" की भाति किसी व्यावहारिक उपयोगिता के योग्य नही है। औद्योगिक परिस्थितिया अधिक प्रभावशाली होने के कारण यह निश्चित है कि व्यावहारिक रूप मे प्रतिनिधि फर्म को स्थान देना असभव है। लिओनल राबिस (Lionel Robbins) के विचार से प्रतिनिधि फर्म का सिद्धान्त व्यर्थ है; उसका कहना है कि प्रतिनिधि फर्म या प्रतिनिधि उत्पादक की बात सोचने की कोई आवश्यकता नही, हमारे लिये वहा सोचने की वस्तुए है, प्रतिनिधि रूप मे एक धरती का टुकड़ा, प्रतिनिधि रूप मे एक मशीन, अथवा प्रतिनिधि रूप मे एक मजदूर।[२]

दूसरी ओर वाछनीय फर्म एक ठोस सम्भावना है। यह आकार की वह इकाई है जो निर्देशन की भावना जाग्रत करती है और स्पर्धा वाले तत्वो को विवश करती है कि वाछनीयता के बिन्दु तक पहुचे और जीवन-संघर्ष मे सफल हों।

९. वांछनीय फर्म में औसत लागत सीमांत लागत के समान होती

---

१. Marshall: Principles of Economics. P. 367.

२. L. Robbins—The Representative firm, Economic Journal, Sept. 1928, P. 393.

है—जब एक फर्म वांछनीय आकार पर पहुंच जाती है तो उसकी सीमान्त लागत औसत लागत के बराबर हो जाती है। यह एक गणित का तथ्य है, जिसे एक साधारण उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिये, एक डाकिया प्रतिदिन औसतन १५ मील चलता है। यदि वह एक अतिरिक्त दिन अपनी ड्यूटी पर जाय और उसका औसत कम हो जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि वह पन्द्रह मील से कम चला। यदि यह बढ़ जाता है तो वह १५ मील से अधिक चला और यदि वह वही औसत कायम रखता है, तो उस अतिरिक्त दिवस पर भी १५ मील ही चलेगा; इस भाति हम मान लें कि एक उत्पादक का प्रति इकाई लागत औसतन पन्द्रह है। यदि अगली इकाई उत्पादन करने से इसकी औसत लागत कम हो जाती है, तो अतिरिक्त इकाई अवश्य ही पन्द्रह से कम होगी। यदि अतिरिक्त इकाई की औसत लागत बढ जाती है, तो सीमान्त इकाई में उसकी पन्द्रह से अधिक लागत होगी और अन्त में यदि उसकी औसत लागत अपरिवर्त्तित रहती है, तो सीमान्त इकाई में उसकी पन्द्रह ही लागत होगी। दूसरे शब्दों में, तीसरे उदाहरण में उसकी सीमान्त लागत और औसत लागत बराबर है। जबकि औसत लागत का गिरना बन्द हो गया है और लागत ने बढना आरम्भ नही किया है, तब फर्म का आकार वाछनीय है। दूसरे शब्दो में जब सीमान्त लागत न तो औसत लागत को बढाती है और न घटाती है (औसत लागत के समान है) तो फर्म वाछनीय आकार की होती है। इसे हम यों भी कह सकते है कि वांछनीय फर्म के लिये सीमान्त लागत और औसत लागत समान होती है।

१०. क्रमागत उत्पत्ति नियमों से वांछनीय फर्म का सम्बन्ध—ऊपर हमने यह सत्यता देखी है कि जब एक वांछनीय आकार पर फर्म पहुंच जाती है, तो उसकी सीमान्त लागत और औसत लागत बराबर हो जाती है। अतएव एक वांछनीय फर्म में क्रमागत उत्पत्ति समता नियम लागू होता है। यह अतिरिक्त इकाई का उत्पादन समान लागत पर करती है।

यदि फर्म का आकार वाछनीयता से छोटा है या दूसरे शब्दो में उसके विस्तार से वांछनीयता के बिन्दु तक पहुचा जा सकता है तो प्रत्येक अगली इकाई का उत्पादन कम लागत पर होगा; चूकि सीमान्त लागत गिराव पर होगा, इसलिये उसकी औसत लागत भी अवश्य गिरनी चाहिये। दूसरे शब्दो में इस तरह की संस्थायें क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम का पालन करेंगी।

यदि फर्म का आकार वाछनीयता के बिन्दु से अधिक विस्तृत हो गया है, दूसरे शब्दों मे यदि उसका विस्तार वांछनीयता के बिन्दु से दूर ले जाता है, तो प्रत्येक अगली इकाई के उत्पादन पर अधिक लागत होगी। चूकि सीमान्त लागत बढ़ाव पर होगा, उसकी औसत लागत अवश्य बढ़नी चाहिये। दूसरे शब्दों में इस प्रकार की संस्थायें क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का पालन करेंगी।

हमने देखा है कि क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम उत्पादन के साधनों में दोषपूर्ण अनुपात का विषय है। यदि साधनों को समुचित अनुपात से मिलाया जाय अथवा काम में लाया जाय तो क्रमागत ह्रास की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। पूर्ण स्पर्धा में साधन पूर्णतया गतिशील होते हैं। नतीजा यह होता है कि इस तरह का मिलान स्थापित हो जाता है जिससे प्रति इकाई लागत कम-से-कम होती है। दूसरे शब्दों में उत्पादन की इकाई की प्रवृत्ति वाछनीय आकार को पाने की होती है। वास्तविक जीवन में स्पर्धा पूर्ण नही होती। अतएव सम्पूर्ण चेष्टाओं के करने पर भी साधनों का श्रेष्ठ योग सम्भव है प्राप्त न हो। हो सकता है कि इसका कारण साधनों को एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग मे लाने की कठिनाई हो या एक विशेष साधन की बड़ी कमी हो, जैसे भूमि जिसका विस्तार नही किया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम कार्य करता है।

क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि और ह्रास नियम दो परिस्थितियों के कारण प्रभाव डालते है : (क) समुचित अनुपात का विषय, (ख) आकार का विषय। बहुत से मामलों में ये दोनों परिस्थितियां एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। हम एक उदाहरण लें :—

मान लीजिये कि शक्कर उत्पादक कारखाने की स्थापना बहुत अधिक कार्यकुशल किन्तु मूल्यवान मशीनरी से की जाती है। मान लिया कि एक वर्ष में १५,००० मन शक्कर उत्पादित करके मशीन ने अपनी सम्पूर्ण उपयोगिता व्यय की। मान लिया कि शक्कर वास्तव में १०,००० मन तैयार हो सकती है, अतएव यदि निकासी में वृद्धि कर दी जाती है तो प्रति इकाई पर औसत लागत और सीमान्त लागत कम हो जायेगी, क्योकि मशीन का खर्च इकाइयों की काफी बड़ी सख्या पर वितरित किया जायगा। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक उत्पादित निकासी वाछनीयता के बिन्दु पर अर्थात् १५,००० मन पर पहुंच जाती है। इस बिन्दु तक क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम अपना प्रभाव डालेगा। प्रति इकाई की लागत अंशतः कम हो जायेगी, क्योकि अविभाज्य साधन प्रयोग में आयेंगे।

जब फर्म अपने वांछनीय आकार पर पहुंच जाती है, तो सीमान्त लागत और औसत लागत का गिरना बन्द हो जाता है। तब वे समानता पर आ जाते है। एक समय तक सम्भव है क्रमागत समता उत्पत्ति प्राप्त हो। इस परिस्थिति में क्रमागत समता उत्पत्ति नियम अपना काम करता रहेगा।

अब मान लो कि फर्म का विस्तार और अधिक बढ़ जाता है। साधनों के समुचित अनुपात में अन्तर पड़ जायगा। उदाहरण के लिये, हो सकता है कि व्यवस्था में कठिनाई आ जाय, अथवा कच्चे माल की कमी पड़ जाय आदि। जब एक बार अनुपातों में अन्तर पड़ जाता है तो कुछ साधनों में दूसरों की अपेक्षा कमी आ जायगी। सभी साधन उस अनुपात तक नहीं बढ़ेंगे जिससे वांछित योग प्राप्त हो सके और फलतः क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जायगा। हम कह सकते है कि या तो फर्म ने वांछनीय बिन्दु को पार कर लिया है या कतिपय साधनों की वृद्धि नही हो पाई, जिसके कारण दोषपूर्ण अनुपात उत्पन्न ही गया।

या तो आकार में कमी करके पुराने वांछनीय बिन्दु पर पुनः लाया जाय या उन साधनों को जिनकी कमी है, बढ़ाया जाय, जिससे एक बड़े आकार पर वांछनीय बिन्दु तक पहुंचा जा सके। यदि ऐसा करना सम्भव नही है तो क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होगा। वास्तविक जीवन में कभी-कभी ऐसा होता है कि कमी वाले साधनो में वृद्धि नहीं हो सकती और न फर्म या उद्योग से सम्बद्ध कमी वाले साधन को हटाया ही जा सकता है। हो सकता है कि यह पूर्ण स्पर्धा की कमी के कारण हो या साधन जैसे कि भूमि की पूर्ण अप्राप्यता के कारण हो। अतएव कभी-कभी क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता दिखाई पड़ता है।

निर्देश पुस्तकें

Marshall—Principles of Economics.
Benham —Economics.
Meade—Economic Analysis and Policy.
Henderson—Supply and Demand.
Robinson—Structure of Competitive Industry.
Meyers—Elements of Modern Economics.
Stigler—Theory of Price.
Tarshis—Elements of Economics.

अध्याय २१

सामान्य मूल्य का सिद्धान्त

(THEORY OF NORMAL PRICE)

१. सामान्य मूल्य तथा बाजार-मूल्य (Normal Price and Market Price):—पिछले अध्याय में हमने उत्पादन व्यय के बारे में विचार किया था जिससे सामान्य या स्वाभाविक मूल्य प्रभावित होता है। अब हम सामान्य मूल्य का अध्ययन करेंगे। लेकिन इसके पहले हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सामान्य मूल्य क्या है, और किस तरह बाज़ार-मूल्य से यह भिन्न है।

बाजार-मूल्य मांग और पूर्त्ति किसी भी पक्ष में परिवर्तन होने से बदल सकता है। एक विशेष बाजार मे अत्यधिक मछलियो के आ जाने से कीमत गिर जायगी। इसी तरह अचानक गर्मी बढ़ जाने से बर्फ की कीमत बढ़ सकती है। ये अस्थायी प्रभाव है और बाजार मूल्य में क्षणिक बाधायें डालते है। इन बाधक कारणो के न होने पर कीमत एक निश्चित सतह पर वापस जाने के लिये प्रयत्नशील होगी। यह सम्भव है कि यह सतह सदा के लिये निश्चित न हो। परन्तु यदि उत्पादन का परिमाण और विधि स्थिर रहते हैं तो यह एक निश्चित कीमत मानी जा सकती है जिसके चारों ओर बाजार मूल्य चक्कर काटता है। एडम स्मिथ ने इस सतह को "प्राकृतिक" कीमत और मार्शल ने इसे "सामान्य" कीमत का नाम दिया है। मार्शल के शब्दों में "सामान्य या स्वाभाविक मूल्य वह होता है जिसे आर्थिक शक्तियाँ दीर्घकाल मे लाने का प्रयत्न करती हे। यह एक औसत कीमत है जिसे आर्थिक शक्तियां स्थापित करेगी, बशर्तेकि जीवन की सामान्य स्थितियां काफी समय तक अचल रहें जिससे वे अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित कर सकें।"

अब हम सामान्य और बाजार मूल्य के बीच जो अन्तर है उसे संक्षेप में बतायेंगे।

(१) बाजार मूल्य वह मूल्य है जो किसी एक समय मे उस समय की मांग तथा पूर्त्ति के अस्थायी साम्य के फलस्वरूप होता है। दूसरी ओर, सामान्य मूल्य वास्तविक मूल्य नहीं होता। यह वह मूल्य है जिसके होने की दीर्घकाल मे सम्भावना है। जब वह समय आ जायगा तब उस समय की वास्तविक कीमत को बाजार मूल्य कहेंगे, और जिसकी आगे चलकर सम्भावना होगी, उसे सामान्य मूल्य कहेंगे।

(२) बाजार मूल्य अस्थायी कारणों तथा चलायमान घटनाओं का परिणाम है जबकि सामान्य मूल्य स्थायी कारणों से निर्धारित होता है। दीर्घकाल में अस्थायी कारण दूर हो जाते हैं और एक दूसरे को तटस्थ कर देते हैं।

(३) बाजार मूल्य हर रोज या हर घन्टे बदलता रहता है, लेकिन दी हुई

परिस्थितियों में, सामान्य मूल्य स्थिर रहता है। यह वह केन्द्र है जिसके चारों ओर बाजार मूल्य घूमता है।

(४) सब वस्तुओं का बाजार मूल्य होता है लेकिन सामान्य मूल्य उन्हीं वस्तुओं का हो सकता है जो पुनः उत्पादन योग्य हो। यदि वस्तुएं फिर से उत्पन्न नही की जा सकतीं तो उनके सामान्य मूल्य का विचार करना व्यर्थ है क्योंकि उनकी उत्पादन लागत कुछ नही होगी।

२. कीमत का सीमान्त लागत से सम्बन्ध (Price in relation to Marginal Cost) —यह हम देख चुके हैं कि जहां तक किसी व्यक्तिगत व्यावसायिक संस्था का संबंध है, उसकी उत्पत्ति कुल उत्पत्ति का बहुत सूक्ष्म भाग होती है तथा उसकी उत्पत्ति कीमत पर बिना किसी प्रभाव के बढायी जा सकती है। कीमत पर तभी प्रभाव पड़ता है जब कि एक साथ बहुत-सी व्यवसायी संस्थायें अपनी उत्पत्ति बढ़ा या घटा दें, या नई व्यवसायी संस्थायें उस उद्योग क्षेत्र में आ जाय अथवा पुरानी बाहर चली जायं। किसी व्यक्तिगत फर्म के लिये जो पूर्ण रूप से प्रतियोगिता की हालत में होती है बाजार मूल्य दिया रहता है। उसे अपनी उत्पत्ति अल्पकालीन कीमत के हिसाब से ठीक करनी पड़ती है। वह उतना ही उत्पादन करती है जिसकी सीमान्त लागत अल्पकालीन कीमत के बराबर होती है। बेनहम (Benham) के शब्दों में "इस नियम का कि एक व्यवसायी सीमान्त लागत और सीमान्त आय को बराबर रक्खेगा यह अर्थ है कि वह सीमान्त लागत और कीमत को बराबर करेगा (सीमान्त आय=अतिरिक्त अथवा सीमान्त इकाई की विक्रय कीमत) प्रत्येक व्यवसायी संस्था का यही प्रयत्न होगा कि वह उतना ही उत्पादन करे, जिससे कि सीमान्त लागत कीमत के बराबर हो जाय। व्यावसायिक संस्थाओं की निपुणता उनकी सीमान्त लागत से प्रकट नही होती परन्तु उनकी उत्पत्ति की मात्राओं के अन्तर से होती है।

जब प्रतियोगिता पूर्ण होती है, तब प्रत्येक फर्म का झुकाव सर्वोत्तम बनने की ओर होता है। इसलिये दीर्घकाल में कीमत को इतना ऊंचा होना चाहिए जिससे कि आदर्श फर्म की औसत उत्पादन लागत निकल सके। हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि ऐसी फर्म की औसत लागत सीमान्त लागत के बराबर होती है।

इस प्रकार प्रतियोगिता की शक्तियां उस सर्वोत्तम फर्म को स्थापित करती हैं, जो उत्पादन लागत (सीमान्त-औसत) को पूरा करती हैं। यदि बाजार में सर्वोत्तम व्यवसायी फर्म की औसत लागत से अधिक कीमत बढ़ जाती है और वह अल्पकालीन कीमत बहुत दिनों तक ठहर जाती है, तो उद्योग क्षेत्र में व्यवसायी संस्थाएं अपना उत्पादन सर्वोत्तम उत्पत्ति के निकट रखकर तथा ऊंची कीमत में बेचकर बहुत अधिक लाभ उठा लेती हैं। फल यह होता है कि नई व्यावसायिक संस्थाएं इस उद्योग क्षेत्र की ओर आकर्षित होती हैं, जिससे कुल उत्पत्ति बढ़ जाती है और कीमत गिर जाती है और गिरकर सर्वोत्तम

व्यवसायी संस्था की लागत की सतह तक आ जाती है। इसके विरुद्ध यदि अल्पकालीन कीमत सर्वोत्तम व्यवसायी संस्था की लागत से नीचे गिर जाती है तो कोई व्यवसायी संस्था अपनी लागत को पूरा नही कर पाती। कुछ व्यवसायी संस्थाएं उद्योग क्षेत्र छोड़ देती है। उत्पत्ति योग तब तक गिरता जाता है जब तक कि कीमत उस सतह तक नही बढ़ जाती जो सर्वोत्तम फर्म की उत्पादन लागत को पूरा करने में समर्थ हो। इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता मे किसी वस्तु की लागत सर्वोत्तम व्यवसायी संस्था के उत्पादन के औसत और सीमान्त लागत के बराबर होती है।

दीर्घ-काल मे दोनो प्रकार की लागतें, प्रमुख तथा पूरक, शामिल रहनी चाहियें लेकिन अल्पकाल मे प्रमुख लागत बहुत आवश्यक होती है और पूरक लागत सीमान्त लागत का भाग नही होती। जितना ही समय दीर्घ होगा उतनी ही अधिक वस्तुएं सीमान्त लागत के अन्दर आ जाती हैं।

अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार होने पर कीमत सीमान्त लागत से अधिक हो जाती है। एक एकाधिकारी तब तक अपनी उत्पत्ति को नही बढाता जब तक कि सीमान्त लागत कीमत से कम नही होती।

३. क्या सीमान्त लागत कीमत को निर्धारित करती है? (Does Marginal Cost determine Price?)—लेकिन यह कहना कि कीमत सर्वोत्तम व्यवसायी सस्था के सीमान्त अथवा औसत उत्पादन लागत के बराबर होती है, इसका यह अर्थ नही कि उसी से कीमत निर्धारित होती है।

कीमत में स्वाभाविक लाभ भी सम्मिलित होता है, लेकिन लाभ कीमत की विभिन्नता से बदलता है। इसलिये कीमत परिवर्तन, जो लागत के एक अंग 'लाभ' पर प्रभाव डालता है, लागत को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार लागत के ऊपर कीमत का प्रभाव पड़ता है बजाय इसके कि कीमत पर लागत का प्रभाव पडे।

और फिर लागत पुनः उत्पादित न होने वाली वस्तुओं की कीमत को निर्धारित नही करती क्योंकि ऐसी वस्तुओं की कोई लागत ही नही होती।

लागत का दूसरा तत्व लो, जिसे मजदूरी कहते है। यदि मजदूरी बढ़ जाती है तो लागत बढ़ जाती है तथा कीमत भी बढ जाती है। लेकिन यदि कीमत बढ़ जाती है, क्योंकि उस वस्तु की माग बढ़ गई है तो मजदूरी भी बढ़ जायगी। इस प्रकार यह कारण और कार्य का सम्बन्ध नही; बल्कि पारस्परिक कारणत्व है। वे एक दूसरे को निश्चित नहीं करतीं। वस्तुतः लागत निर्मित वस्तुओ की कीमतों को निर्धारित नही करती बल्कि कीमत निर्मित वस्तुओं की लागत को निर्धारित करती है। सभी कीमतें परस्पर एक दूसरे पर आश्रित रहती है। लागत और कुछ नही है, केवल उस वस्तु के उत्पादन में

1. Benham—Economics (1940) P. 194

जितने विभिन्न साधनों का उपयोग हुआ है, उन सब का योग कीमत है। इस प्रकार कीमतें लागत में शामिल हो जाती हैं।

हम इसे इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि लागतें और कीमतें परस्पर एक दूसरे पर शासन करती हैं, एक दूसरे को निर्धारित नहीं करती। यह कहना बहुत उचित होगा कि वे दोनों मिली हुई हैं, एक दूसरे को प्रगट करती हैं।

४. क्या कीमत पूर्ण रूप से सीमान्त लागत के अनुरूप है? (Does the Price actually coincide with the Marginal Cost?)—कभी-कभी ऐसा ही होना है कि वे दीर्घ काल में एक दूसरे से सहमत हो जाती हैं, लेकिन पूर्ण रूप से नहीं। जो दीर्घ-काल में होना होता है, वह होना नहीं। जैसा कि प्रो. बृजनारायण कहते हैं, "मैं जितना प्रयत्न होशियार होने का करता हूं, अन्त में उतना ही मूर्ख होता जाता हूं," इसका कारण यह है कि सीमान्त लागतों को उत्पत्ति की कीमत, जो अति सूक्ष्म वृद्धि के कार्य रूप में परिणत होती है, बराबरी करना सम्भव नहीं। वास्तव में उत्पत्ति की वृद्धि बहुत बड़ी इकाइयों में होती है और बहुत कम कारीगर आर्थिक सिद्धान्त के बताये हुए नियमानुसार उसकी सन्तुष्टि के लिए सीमान्त लागत और कीमत में बराबरी करने की गणना करते हैं। "कीमत साधारणतया वही होती है जो उत्पत्ति के १० प्रतिशत से १५ प्रतिशत तक ऊंची लागत में बाकी नीची लागत में होती है।[1]

संसार अचल नहीं बल्कि गतियुक्त है; कला-कौशल में लगातार परिवर्तन हो रहे हैं और मांग व पूर्ति की हालत लगातार बदलती रहती है। ऐसे वातावरण में यह आशा करना निरर्थक है कि कीमत और सीमान्त लागत कभी बराबर हो सकेंगी।

यह भी है कि कीमत स्वतः लागत के भीतर प्रवेश करती है। फिर दोनों क्योंकर बराबर की जा सकती हैं? कीमत की गणना करने के लिए स्थापित यंत्र के कृत्यक की कीमत का निश्चय करना ही होगा। किन्तु यह यंत्र द्वारा उत्पादित वस्तु की संभावित कीमत पर निर्भर करता है। "जैसा कि अधिकतर कहा जाता है कि उत्पादन लागत वास्तव में तत्त्व लागत नहीं होती जो स्वतंत्रतापूर्वक वस्तु की कीमत कही जाती है, लेकिन वह (Quasi-rent) किराया-मात्र या घिसाई कीमत का अंश (Depreciation Quota) जिसे संभावित पूंजीयुक्त मूल्य के लिये स्वीकार करना होता है और इसलिये वह उन कीमतों पर, जिनके होने की संभावना होती है, आश्रित रहता है।[2]

५. क्या सीमान्त उपयोगिता कीमत निर्धारित करती है? (Does marginal utility govern price?):—हमने देखा कि सीमान्त लागत कीमत

---

1. The Trend of Economics : Edited by Tugwell. P. 77
2. Hayek—Collectivist Economic Planning, pp. 226-27, quoted by Brij Narain in his Principles, p. 147.

शासन नही करती, लेकिन क्या कीमत सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती है ? वैज्ञानिको की विचारधारा के अनुसार यह कहना सत्य नही कि सीमान्त इकाई की उपयोगिता मूल्य (Value) को निर्धारित करती है। सीमान्त मूल्य के कारण नही बल्कि यह मूल्य से मिलकर माग और पूर्त्ति के साधनो से संबधित होकर निर्धारित की जाती है। मार्शल के शब्दों में "सीमान्त उपयोग और लागत मूल्य पर शासन नही करते परन्तु वे मूल्य के साथ मिल कर माग और पूर्त्ति के सबधो से निर्धारित होते है। सीमान्त उपयोग संकेत करता है, लेकिन यह मूल्य पर शासन नही करता।[१] यदि किसी वस्तु की माग बढ जाती है तो सीमा की स्थिति अपने आप बदल जाती है। इसी प्रकार पूर्त्ति का परिवर्तन भी सीमा को बदल देगा और सीमान्त लागतों में अंतर ला देगा। कीमत न तो उपयोगिता की सीमान्त इकाई और न उत्पादन व्यय की सीमान्त इकाई से निर्धारित होती है; प्रत्युत कुल माग और कुल पूर्त्ति के साम्य से निर्धारित की जाती है।

तो भी, जिस प्रकार सीमान्त इकाई योग पूर्त्ति का भाग होती है वह अपना पूरा नही आशिक प्रभाव मूल्य पर डालती है। अगर यह नही होती तो मूल्य भी भिन्न होता।

६. औसत लागत और कीमत (Average Cost and Price):— दीर्घकाल मे कीमत सीमान्त लागत के निकट होती है, औसत लागत के नही। दोनों लागतें आपस में मिल नही जाती मगर दोनों औसत और सीमान्त लागत मे मिलने की एक प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ, यदि सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक होगी तो उद्योगपति का लाभ भी औसत से अधिक होगा, क्योंकि कीमत, सीमान्त लागत से मिली हुई होने के कारण, औसत लागत से ऊची होगी। तब उद्योग-पति और अधिक उत्पादन के लिये प्रोत्साहित होगा। अधिक उत्पत्ति का औसत व्यय ऊचा होगा। उत्पादन तब तक बढ़ता रहेगा जब तक कि औसत लागत सीमान्त लागत के बराबर नही आ जाती। यदि औसत लागत सीमान्त लागत से अधिक हुई तो उद्योगपति को घाटा होगा। वह उत्पादन कम कर देगा। फलस्वरूप औसत लागत में कमी आ जायेगी। अन्त में दोनों एक बराबर हो जायंगी।

७. मार्शल का मूल्य सिद्धान्त (Marshall's Theory of Value) :—हम लोग मांग (सीमान्त उपयोगिता) और पूर्ति (सीमान्त लागत) को निर्धारित करने वाली विभिन्न शक्तियों को अच्छी तरह जान चुके है। अब हम इस दशा में है कि मूल्य का सिद्धान्त भली प्रकार समझ सकें। हम मार्शल से प्रारम्भ करते हैं। मार्शल मूल्य को निर्धारित करने में उत्पादन लागत और सीमान्त उपयोगिता को समान महत्व देते है। उनका प्रसिद्ध सादृश्य कैची की दो फलों से दिया जाता है जो कि निम्नांकित है :—

"जिस प्रकार हम इस बात पर झगड़ सकते है कि कैची के दो फलों में ऊपर का फल

१. Principles. P. 410.

कागज को काटता है अथवा नीचे का, उसी पर प्रकार इस बात पर वादविवाद हो सकता है कि मूल्य को उपयोगिता निर्धारित करती है अथवा उत्पादन व्यय। यह सच है कि जब एक फल शान्त रहता है और काटने का कार्य दूसरे को चलाने से हो जाता है, तब हम कह सकते हैं कि काटने का काम दूसरे के द्वारा होता है। लेकिन यह विवरण पूर्णतः ठीक नही है। यह तभी तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक यह इस बात का वैज्ञानिक रूप से स्पष्टीकरण करने का दावा नही करता।

मार्शल इस बात को मान लेते है कि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति है। इसका अर्थ यह है कि क्रय-विक्रय पर तथा सामान व साधनों के आने-जाने पर कोई रोक-टोक नही है। साथ ही कोई क्रेता या विक्रेता व्यक्तिगत रूप से मांग या पूर्त्ति में परिवर्तन लाकर मूल्य पर प्रभाव नही डाल सकता।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे मांग व पूर्त्ति की शक्तियो का इस ओर झुकाव रहता है कि वह अपना साम्य स्थापित करने का प्रयत्न करती है। कीमत एक महराव के बीच के पत्थर की तरह होती है जोकि दोनों ओर के दबाव से (अर्थात् एक ओर मांग और दूसरी ओर पूर्त्ति) साम्य बनाये रहता है।

हर एक व्यक्ति के लिए बाजार भाव दिया रहता है और वह अपने व्यक्तिगत कार्य या नीति से उसे सुधार नही सकता। उसके लिये बाजार भाव एक संकेत होता है जिसके द्वारा वह अपना क्रय अथवा विक्रय करता है। ये व्यक्तिगत क्रय-विक्रय कीमत द्वारा निर्धारित होते है, लेकिन ये मिलकर कुल मांग और कुल पूर्त्ति का रूप ग्रहण कर लेते है। उस दशा मे यह कीमत को निर्धारित करते है। अस्तु, माग, पूर्त्ति और कीमत एक दूसरे से सम्बन्धित है। ये एक प्याले मे तीन गेदों के समान है जिसके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि कौन किसके सहारे है।

अब हम मूल्य सिद्धान्त को इन शब्दों में कह सकते है :—"मांग की ओर से कीमत सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है और पूर्त्ति की ओर से यह सीमान्त उत्पादन-लागत अथवा सीमान्त फर्म की लागत के बराबर होती है। जिस स्थान पर सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत का साम्य होता है, यदि उसे मुद्रा में अंकित किया जाये तो वह कीमत कहलाती है।" दूसरे शब्दों मे बाजार मूल्य मांग और पूर्त्ति के साम्य द्वारा निर्धारित होता है। और दीर्घकाल में कीमत सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होती है।

८. समय का महत्व (Importance of Time Element)—हमने देखा कि मूल्य, मांग व पूर्त्ति के साम्य द्वारा निर्धारित होता है, लेकिन यह साम्य शीघ्र ही प्राप्त नही हो जाता। मांग व पूर्त्ति की शक्तियों को आपस में कार्य करने में कुछ समय की आवश्यकता होती है। जैसे समय बीतता जाता है, अस्थायी साम्य स्थायी साम्य में बदल जाता है और आंशिक साम्य पूर्ण साम्य हो जाता है। मार्शल ने इस प्रकार से समय के तत्त्व का महत्व अपने मल्य सिद्धान्त में दिया है।

मांग व पूर्त्ति के प्रभाव का महत्व समय के साथ बदल जाता है। मार्शल का कहना है "साधारणतः जितना ही अल्पकाल होगा उतना ही हमें मूल्य के ऊपर माग के प्रभाव पर अधिक ध्यान देना होगा और जितना ही दीर्घकाल होगा उतना ही अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव उत्पादन लागत का मूल्य के ऊपर पड़ता है। वास्तविक कीमत जिसे साधारणतः बाजार मूल्य कहा जाता है अस्थायी बातों या क्षणिक कारणों और घटनाओं से अधिक प्रभावित होता है।"

परन्तु दीर्घकाल में क्षणिक और अनियमित कारण एक दूसरे के प्रभाव को समाप्त कर देते है। और इस प्रकार दीर्घकाल मे आग्रहयुक्त कारण ही मूल्य को निर्धारित करने मे समर्थ होते है। फिर भी अधिक आग्रहयुक्त कारण भी बदल सकते है। उत्पादन के सम्पूर्ण ढाचे में सुधार हो सकता है,और एक पीढी से दूसरी पीढी मे उत्पादन व्यय में स्थायी परिवर्तन हो सकते है। समय की अवधि में मांग और पूर्त्ति दोनो की अवस्थाओ मे परिवर्तन होते है।

इस प्रकार मार्शल ने समय के तत्त्व को मूल्य निर्धारित करने मे विशेष महत्व दिया है। समय के आधार पर, जो माग व पूर्त्ति की शक्तियो के पारस्परिक सुधार करने के लिए दिया जाता है, उन्होने बाजार को चार श्रेणियो में विभक्त किया है :

(१) बाजार मूल्य (२) अल्पकालीन मूल्य (३) दीर्घकालीन मूल्य (४) सासारिक व्यापार मूल्य।

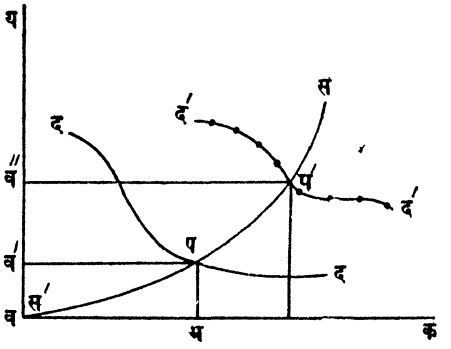
मूल्य निर्धारण में समय तत्त्व एक दूसरे प्रकार से भी प्रभाव डालता है। अल्पकाल में यह सम्भव है कि किसी व्यवसायी को पूरक और प्रमुख लागत पूरे तौर से न मिल सके। किन्तु दीर्घकाल मे इन दोनो प्रकार की लागतो का मिलना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जो लागत अल्पकाल की दृष्टि से पूरक लागत है, वही दीर्घकालीन दृष्टि से प्रमुख लागत है।

९. सामान्य मूल्य (Normal Price)—सामान्य मूल्य वह मूल्य है, जो दीर्घकाल में प्रचलित होता है अथवा जब कि मांग और पूर्त्ति को बदलने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है जिससे वे अपना-अपना कार्य कर सके। दीर्घकाल में माग व पूर्त्ति के साम्य का यह परिणाम होता है। दीर्घकाल में मूल्य अर्थात् सामान्य मूल्य सीमान्त उत्पादन लागत के निकट होता है। सीमान्त लागत का अर्थ सीमान्त व्यवसायी संस्था की प्रति इकाई की औसत लागत अथवा औसत व्यवसायी संस्था की सीमान्त उत्पत्ति की प्रति इकाई की लागत से है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में औसत व्यवसायी संस्था की सीमान्त लागत और सीमान्त व्यवसायी संस्था की औसत लागत मे समानता होने की प्रवृत्ति होती है।

अब हम मार्शल के सामान्य मूल्य संबंधी सिद्धान्त को एक उदाहरण द्वारा समझायेंगे। एक वस्तु जैसे रेडियो सेट ले लो। मान लो कि पूर्त्ति और मांग के बीच अस्थायी साम्य के कारण एक निश्चित समय पर रेडियो सेट का मूल्य रेखाचित्र की प म लाइन के बराबर है। रेखा चित्र आगे दिया गया है।

स स′ एक पूर्त्तिवक्र है और द द मांग वक्र। प म =व′ व=किसी

समय का साम्य मूल्य है। अब मान लो मांग बढ़ती है, जो कि बिंदीदार वक्र द′ द′ द्वारा दिखाई गई है। इससे नया साम्य मूल्य प′ म′ हो जाता है जो (व′ व″) के बराबर है और जो (व व′) से ऊंचा है। यदि माग की बढ़ोतरी के कारण अस्थायी है तो कुछ समय के पश्चात् यह गायब हो जायेगा और पुनः वही प म मूल्य स्थापित हो जायगा।



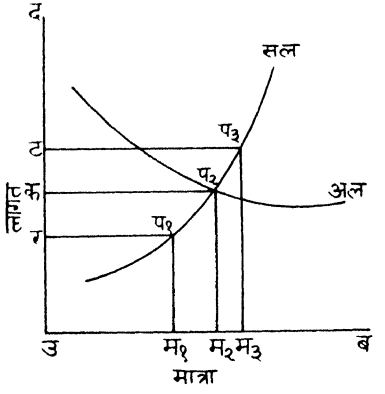
चित्र नं० ४१

क्षणिक साम्य (Temporary Equilibrium)—समतुल्यता को दो दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है—एक तो फर्म के दृष्टिकोण से और दूसरे उद्योग के दृष्टिकोण से। फर्म अधिकतम लाभ की दृष्टि से कार्य करती है। इसलिए उत्पादन की वह मात्रा इसको तैयार करनी होगी जिस पर कुल बिक्री और कुल लागत के बीच का अन्तर अधिकतम हो। इस बिंदु पर उत्पादन की दृष्टि से फर्म का सामजस्य होगा। एक समस्त उद्योग की दृष्टि से हम यह कहेंगे कि इसमें लाभ की वह दर होनी आवश्यक है जो उसी प्रकार के जोखिम उद्योगो मे होती है अन्यथा उसमे साम्य न होगा। यदि लाभ की दर अधिक है तो नई फर्म उस ओर आकर्षित होगी और पुरानी फर्म अपना उत्पादन बढायेगी। दूसरी ओर, जब लाभ की दर कम है तो कुछ फर्म जो सीमा पर है, वे उस उद्योग को छोड़ देंगी। अस्तु, बाधाओं के न होने पर एक उद्योग में उस समय साम्य होगा जब फर्मों की संख्या में कोई घट-बढ नही होती और जब उस उद्योग की फर्मों के लिये उत्पादन बढ़ाने व घटाने के लिये कोई प्रोत्साहन नही रहता। लागत की दृष्टि से, यह मानते हुए कि सब फर्मों की लागत एक समान है और कोई भी साधन सीमित नही है तो उद्योग का साम्य उस समय होगा जब कि कीमत प्रत्येक फर्म की निम्नतम औसत लागत के बराबर है। यदि कीमत इससे अधिक है तो नई फर्म इस ओर खिच आयेगी और यदि कम है तो कुछ बाहर निकल जायेगी।

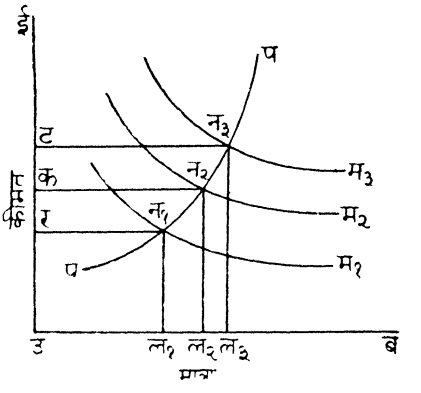
अब मान लो माग में स्थायी रूप से वृद्धि होती है। तो ऐसी दशा में दीर्घकाल में बाजार-मूल्य क्या होगा? दूसरे शब्दो में, सामान्य मूल्य क्या होगा? सामान्य-मूल्य उस बढ़ी हुई पूर्त्ति की सीमान्त लागत पर निर्भर होगा जो बढ़ी हुई मांग तथा ऊचे लाभ के कारण लाई गई है। अल्पकाल में सीमान्त लागत का अर्थ उस लागत से है जो विद्यमान यत्रों की सहायता से अतिरिक्त उत्पादन करने में लगती है। कुछ समय तक उत्पत्ति के जो साधन रेडियो व्यवसाय में है उन्ही से अधिक काम लिया

जायगा। यदि वे साधन कार्य-कुशल नही है तो सीमान्त लागत कुछ समय तक बढ़ सकती है। उस समय तक जो मूल्य होगा उसे अर्ध-सामान्य मूल्य कहेंगे। यह अल्पकालीन सामान्य मूल्य है जो बाजार मूल्य और वास्तविक सामान्य मूल्य के बीच में होता है।

अल्प-कालीन सामान्य मूल्य के निर्धारण का नियम इस प्रकार है। प्रत्येक फर्म की दृष्टि से यह मूल्य पूर्ति की सीमान्त लागत के बराबर होगा और उद्योग की दृष्टि से पूर्ति और मांग की मात्राओं में साम्य होना चाहिए। यह बात रेखा द्वारा इस प्रकार दिखाई जा सकती है :—



चित्र नं० ४२ (फ़र्म)



चित्र नं० ४३ (उद्योग)

चित्र ४२ उद्योग के किसी एक फर्म के लिये है और चित्र ४३ समस्त उद्योग के लिये है जिसका वह फर्म एक सदस्य या अंग है।

हमें यह देखना है कि जो कीमत उद्योग के लिये निर्धारित होगी वह फर्म के लिये ठीक होगी या नही। चित्र ४२ मे स ल सीमान्त लागत रेखा है और अ ल औसत लागत रेखा है। चित्र ४३ में प प पूर्ति-रेखा है और $म_१$ $म_२$ $म_३$ मांग रेखाएं है।

जब मांग रेखा $म_१$ है तो कीमत $न_१$ $ल_१$ के बराबर होगी क्योंकि इस कीमत पर मांग और पूर्ति दोनों बराबर है (अ $ल_१$)। और जहां तक फर्म का सम्बन्ध है यह कीमत ($प_१$ $म_१$) सीमान्त लागत के बराबर है क्योंकि चित्र ४२ मे प बिन्दु सीमान्त लागत रेखा पर है। ठीक यही उस समय भी होगा जब मांग $न_२$ और $न_३$ होगी।

यदि मांग बराबर अधिक बनी रहती है, तो उत्पत्ति के नये साधन रेडियो व्यवसाय की ओर खिंच जायेंगे। किन शर्तों पर ये साधन आयेंगे ? दीर्घकाल में साधनों की लागत तो निकलनी ही होगी। पूर्ति का आशय अब उस मात्रा से होगा जो नये साधनों की सहायता से लाई जा सकती है। पूर्ति की नई कीमत इस बात पर निर्भर करेगी कि सीमान्त लागत किस तरह बदलती है। सीमान्त लागत का अर्थ होगा नये साधनों द्वारा

अतिरिक्त उत्पादन की लागत ।

रेडियो व्यवसाय में यह बहुत संभव है कि प्रति इकाई सीमान्त लागत रेडियो सेट के अधिक उत्पादन से कम हो जाय; इसलिये कि यह एक ऐसा व्यवसाय है कि जो उत्पत्ति वृद्धि के नियम के अनुसार चलता है। उस व्यवसाय की, जो क्रमिक ह्रास नियम को मानता है, सीमान्त लागत और इसलिये दीर्घकालीन पूर्त्ति कीमत अवश्य बढ़ेगी ।

यदि उस व्यवसाय की प्रकृति क्रमिक ह्रास के नियम की ओर है तथा अन्य साधन उत्तरोत्तर वृद्धि के द्वारा उसे संतुलित किए हुए है, तो वह व्यवसाय स्थिर उत्पत्ति के नियम को मानने वाला कहा जायगा। दूसरे शब्दों में सीमान्त लागत या दीर्घकालीन पूर्त्ति कीमत और इसलिये सामान्य कीमत फिर उसी सतह पर आ जायगी। वह सतह, जहां पर से पहले मांग की वृद्धि हुई थी, यहीं आ जायगी। इसलिए मांग की स्थायी वृद्धि से सामान्य कीमत कम होगी या ऊंची अथवा वही की वही रहेगी, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि वह व्यवसाय वृद्धि, ह्रास अथवा स्थिर किस नियम को मानता है।

यही बात उस समय भी लागू होगी जबकि हम यह मान लें कि माग दीर्घकाल की दृष्टि से गिर गई है और पूर्ति की शक्तियों को बदलने के लिये पर्याप्त समय मिल चुका है। सामान्य कीमत बढ़ेगी, गिरेगी या उतना ही रहेगी, यह इस बात पर निर्भर है कि उस उद्योग में उत्पत्ति वृद्धि, ह्रास या स्थिर नियम लागू है।

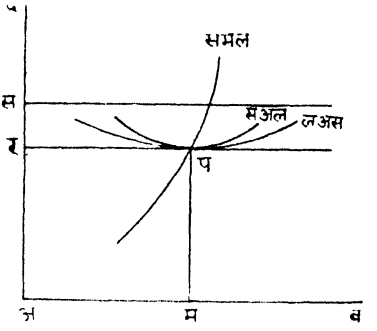
दीर्घकालीन सामान्य कीमत का नियम यह है कि दीर्घकाल में कीमत फर्म की निम्नतम औसत लागत के बराबर होगी और उद्योग के सभी फर्मों की दीर्घकालीन औसत लागत के एक समान होगी। हम उपर देख चुके है कि हर फर्म के लिये अल्पकालीन सामान्य कीमत उस फर्म की सीमान्त लागत के बराबर होनी चाहिये। लेकिन यदि दीर्घकाल में औसत लागत गिर रही है तो उस फर्म का विस्तार होगा। औसत लागत हमेशा ही गिरती नही रहेगी और यदि ऐसा होता रहा तो प्रतियोगिता समाप्त हो जायगी और एकाधिकार की स्थिति आ जायगी। अस्तु, घटती हुई औसत लागत और प्रतियोगिता एक दूसरे के विरोधी हैं। कुछ समय के बाद बड़े पैमाने की उत्पति की सीमा आ पहुंचेगी और एक फर्म का और अधिक बढ़ना बन्द हो जायगा। फलस्वरूप और फर्मों के लिये रास्ता खुल जायगा और प्रतियोगिता की स्थिति सम्भव हो जायगी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दीर्घकालीन कीमत का निर्धारण उत्पत्ति के नियम से प्रभावित होता है। आगे दिये हुए चित्रों में यह दिखाया गया है कि उत्पति वृद्धि, ह्रास तथा स्थिर नियम के लागू होने पर कीमत किस प्रकार निर्धारित होती है।

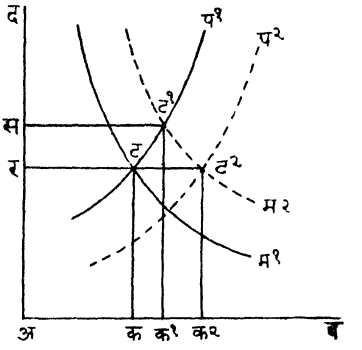
स्थिर लागत––चित्र ४४ में एक फर्म की स्थिति दिखाई गई है और चित्र ४५ में एक समस्त उद्योग की। चित्र ४४ में समल रेखा अल्पकालीन सीमान्त लागत दिखाती है, सअल अल्पकालीन औसत लागत और ल अ स दीर्घकालीन, औसत लागत की रेखायें है। चित्र ४५ में $म^1$ और $म^2$ मांग की रेखायें है और $प^1$ और $प^2$ पूर्ति की रेखाएं हैं। यह

स्पष्ट है कि फर्म की लागत रेखाएं उद्योग की पूर्ति-रेखा होती है।

प^{१} और म^{१} रेखाओं का अल्पकालीन साम्य ट बिन्दु पर है। कीमत ट क है और उत्पत्ति की मात्रा अ क। अब मान लो मांग बढ़ कर म^{२} हो जाती है। शीघ्र ही कीमत ट^{१} क^{२} तक बढ़ जायगी। ट^{१} नई मांग की रेखा और पुरानी पूर्ति की रेखा पर है। अर्थात् ट^{१} बिन्दु पर अल्पकालीन पूर्ति बढ़ी हुई मांग के समतुल्य है। लेकिन ऊंची कीमत से लाभ उठाने के



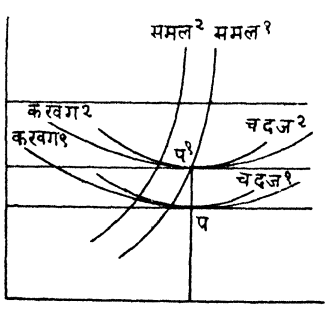
चित्र नं० ४४ (फ़र्म)



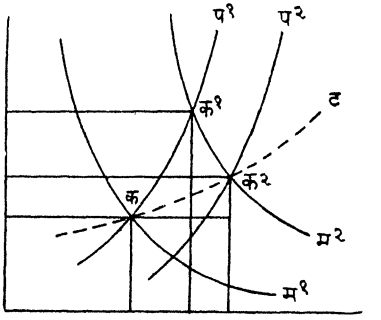
चित्र नं० ४५ (उद्योग)

लिये पूर्ति बढेगी। नई फर्म खुल जायगी। फलस्वरूप पूर्ति की रेखा दाहिने ओर खसक कर प^{२} पर हो जायगी। कीमत फिर ट क (=ट^{२}क^{२}) के बराबर हो जायगी। इसका अर्थ यह है कि दीर्घकालीन सामान्य कीमत दीर्घकालीन औसत लागत के बराबर होती है। चूंकि फर्म स्थिर लागत पर उत्पादन कर रही है, इसलिये प बिन्दु पर अल्पकालीन औसत और सीमान्त लागत बराबर होगी। चित्र ४४ मे सब रेखाएं इसी बिन्दु पर मिलती है।

(२) **बढ़ती लागत या घटती उत्पत्ति**—नीचे दिये हुए दोनों चित्र उपर के



चित्र नं ४६ (फर्म)

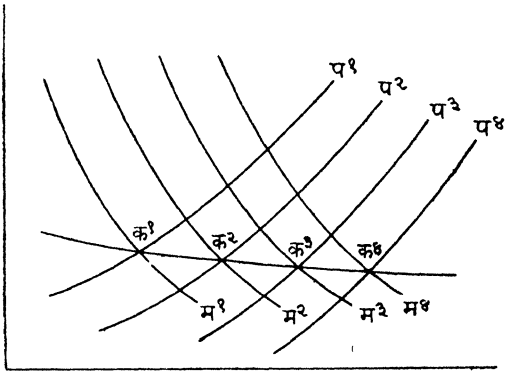


चित्र नं ४७ (उद्योग)

चित्रों के समान है। लेकिन अन्तर यह है कि जब मांग म^{२} तक और पूर्ति प^{२} तक बढ़ जाती है तो साम्य का नया बिन्दु (क^{१}) ऊंचे स्थान पर है। फर्म के चित्र को देखने से हमें

ज्ञात होगा कि दीर्घकालीन औसत लागत (क ख ग^{२}) दूसरी दशा में पहले से अधिक है। इसका कारण यह है कि उद्योग में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू है और पूर्त्ति ऊंची लागत पर मिल रही है। दीर्घकालीन पूर्त्ति रेखा (ट) क, क^{२} आदि बिन्दुओं को मिलाने से बनी है और यह ऊपर चढ़ती हुई रेखा प्रकट करती है।

घटती लागत या बढ़ती उत्पत्ति—हम पहले ही कह चुके है कि लगातार घटती हुई दीर्घकालीन औसत लागत का मेल प्रतियोगिता के साथ नही हो सकता क्योकि ऐसी दशा मे एकाधिकार की स्थिति पैदा हो जायगी। कारखानों मे कुछ समय तक औसत लागत गिरती चली जाती है लेकिन हमेशा के लिये नही। घटती उत्पत्ति उत्पादन का मूल नियम है। फिर भी इसे इस प्रकार चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है।



चित्र नं० ४८

म^{१}, म^{२} म^{३}, और म^{४} की रेखाए बढती हुई माग दिखाती है, और (प^{१} प^{२} प^{३}, और प^{४} बढती हुई पूर्त्ति की रेखाएं है। समतुल्यता के बिन्दु क^{१}, क^{२}, क^{३}, और क^{४} गिरती हुई रेखा पर है जो घटती हुई लागत का सकेत करते है।

दीर्घकालीन साम्य— अब हम सक्षेप में कुछ शब्द दीर्घकालीन साम्य के विषय में कहेंगे। इस दशा में उद्योग को फैलने अथवा घटने के लिये काफी समय मिल जाता है। मांग के अनुसार नई मशीनें लगाई जा सकती है या वर्तमान मशीनों और औजारों को पुराने होने पर बदला न जाय। उद्योग उस समय तक बढ़ता-घटता रहेगा जब तक कि उत्पादन या लागत की दृष्टि से वह सबसे अधिक लाभप्रद स्थान पर नही पहुंच जाता।

प्रो. मेयर्स ने उद्योग के दीर्घकालीन साम्य के लिये निम्नलिखित बातें कही है। प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकाल मे—

(१) किसी फर्म के लिये जिसको उद्योग मे रहना है आदर्श उत्पत्ति पर कीमत को निम्नतम औसत पूरी इकाई लागत के बराबर रहना पड़ेगा।

(२) यदि कोई फर्म घटती लागत पर उत्पत्ति कर रही है तो उद्योग के लिये कोई प्रतियोगिक साम्य न होगा।

(३) यदि फर्म आदर्श रूप से बड़ी है और यदि समान लागत दशाओं में बाहर

से फर्म आ सकती हैं तो प्रतियोगिक साम्य संभव न होगा।

(४) यदि कोई साधन सीमित नहीं है तो कीमत उद्योग के सभी फर्मों की निम्नतम औसत लागत के बराबर होगी। उत्पत्ति उस समय स्थिर लागत पर होगी।

(५) यदि साधन सीमित है और उद्योग के विस्तार के साथ उनकी कीमतें बढ़ जाती है, तो कीमत नीची लागत वाली फर्म की सीमान्त लागत के बराबर होगी।

(६) यदि लगान को लागत में शामिल कर लिया जाय तो कीमत सभी फर्मों की निम्नतम औसत लागत के बराबर होगी।

१०. मूल्य निर्धारित करने वाली सीमान्त लागत पर मार्शल के विचार (Marshall's view on Marginal Cost Determining Price) मार्शल के अनुसार किसी वस्तु की सामान्य कीमत उसकी सीमान्त लागत द्वारा निर्धारित होती है। सीमान्त लागत के यहां दो अर्थ लिये गये है: (१) एक तो यह सीमान्त फर्म की औसत लागत है, और (२) दूसरे प्रतिनिधि फर्म की सीमान्त लागत है। "सीमान्त लागत" शब्द का प्रयोग उन उद्योगों के संबंध में किया जाता है जहां उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है। यह वह फर्म है जिसकी उत्पत्ति मंडी की मांग की पूर्ति के लिये आवश्यक है। इसकी लागत खर्च अवश्य निकलनी चाहिए। इसका उत्पादन व्यय सबसे ऊचा होता है। यदि कीमत थोड़ी गिर जाती है अथवा लागत बढ़ जाती है, तो यह फर्म उत्पादन-कार्य न कर सकेगी। यदि इसकी उत्पत्ति मांग की पूर्ति के लिये आवश्यक है तो कीमत को इतना होना होगा जिससे कि सामान्य लाभ को शामिल करते हुए उसकी लागत पूरी हो सके।

उन व्यावसायिक संस्थाओं के वर्णन मे, जो उत्पत्ति वृद्धि नियम को मानती है, मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म का प्रयोग किया है। ऐसी व्यावसायिक संस्था के उत्पादन की सीमान्त लागत अवश्य ही निकलनी चाहिये। एक बार जब इस सीमान्त लागत के अनुसार कीमत निर्धारित कर दी जाती है तो अन्य व्यावसायिक संस्थाएं अपनी सीमान्त लागत को इस कीमत तक लाने के लिये अपनी उत्पत्ति को बढ़ा देती है। इस प्रकार मार्शल के अनुसार यह सीमान्त व्यावसायिक संस्था की औसत लागत (घटती की दशा मे) तथा प्रतिनिधि या औसत व्यावसायिक सस्था की सीमान्त लागत (वृद्धि की दशा में) है जो सामान्य कीमत को निर्धारित करती है।

११. आधुनिक दृष्टिकोण (Modern View)—नया आर्थिक विश्लेषण सीमान्त लागत और सामान्य कीमत के संबंध में मार्शल से भिन्न है।

मार्शल उत्पादन की सीमान्त लागत के दो विचार देते हैं, अर्थात् सीमान्त व्यावसायिक संस्था की औसत लागत तथा औसत व्यावसायिक संस्था की सीमान्त लागत। पहिला उन व्यवसायों पर जो घटती नियम को मानते हैं, तथा दूसरा जो वृद्धि के नियम

को मानते है, लागू किया जाता है। मार्शल उसी व्यावसायिक संस्था को सीमान्त व्यावसायिक संस्था कहते है, जो अधिकतम औसत लागत पर उत्पादन करती है।

मार्शल की प्रतिनिधि व्यावसायिक सस्था के उत्पादन की सीमान्त लागत उसकी इकाइयो के उत्पादन के बराबर हो जो बहुत कम फायदे मे उत्पन्न हुई है, जिसकी तुलना सीमा पहुचने के पहले उत्पादित इकाइयो के साथ हो सके। आधुनिक विश्लेषण के अनुसार सीमान्त लागत सर्वोत्तम व्यवसायी सस्था के प्रति इकाई लागत के बराबर होती है। हम यह देख चुके है कि सर्वोत्तम या आदर्श व्यवसायी सस्था का विचार मार्शल की प्रतिनिधि व्यवसायी सस्था की अपेक्षा क्यो श्रेष्ठ है।

मार्शल का सामान्य मूल्य सबधी सिद्धात व्यवसायो को कई श्रेणियो मे, उत्पादन के नियमो के अनुसार, बाट देता है। उदाहरण के लिये, कुछ व्यवसाय ऐसे है जो उत्पत्ति ह्रास नियम को मानते है, और कुछ ऐसे भी है जो उत्पत्ति वृद्धि नियम को मानते है। पहिले मे सामान्य मूल्य सीमान्त व्यवसायी सस्था की उत्पादन लागत के बराबर होगा, तथा दूसरे मे प्रतिनिधि व्यवसायी सस्था की। लेकिन आधुनिक विश्लेषण व्यवसायो को उत्पादन नियमो के अनुसार विभिन्न श्रेणियो मे नही बाटता। उत्पादन के नियम उत्पादन के सीमान्त लागत के बराबर साधनो के सगठन मे आनुपातिक रूप में मान्य होते है। सभवत: उसी फर्म के विकास मे वे विभिन्न अवस्थाओ को बनाये। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे सभी व्यवसायी सस्थाए समान सीमान्त और औसत लागत पर वस्तुओ का उत्पादन करके सर्वोत्तम बनने का प्रयत्न करती है। इसलिये माना जाता है कि 'सर्वोत्तम' कोई निश्चित बिन्दु नही है, यह तो उत्पादन की कला ओर प्रबंध के साथ-साथ बदलता रहता है।

मार्शल के सिद्धात के साथ असहमति केवल यही पर समाप्त नही हो जाती। जब हम उन शक्तियो की जो लागत के पीछे काम करती है, जाच करते है, तो नया विश्लेषण या दृष्टिकोण मूलत: मार्शल तथा अन्य प्राचीन अग्रेज विद्वानो के सिद्धात से भिन्न पाते है। मार्शल तथा उनके पूर्वाधिकारी, जो कि उत्पादन लागत के सिद्धात को मानते है, इस बात से सहमत है कि मुद्रा के रूप मे उत्पादन लागत को ठीक प्रकार से स्पष्ट नही करती। मुद्रा की पृष्ठ मे जो लागत है, वही असली लागत है। इस वास्तविक लागत को भिन्न-भिन्न ढगो से लोग समझते है जैसे (१) मजदूरो की दर्दभरी मेहनत तथा त्याग अर्थात् मूल्य का श्रम-सिद्धात; (२) दर्दभरी कोशिशे और मजदूरो के त्याग तथा प्रतीक्षा का कष्ट अर्थात् मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धांत। लेकिन आजकल असली उत्पादन लागत का अर्थ दूसरे सर्वोत्तम विकल्प का त्याग माना जाता है अर्थात् अवसर लागत। यह उत्पादन व्यय को उपयोगिता के रूप मे समझाता है और यह मूल्य का सीमान्त उपयोगिता सिद्धान है। अर्थशास्त्रियो में नवीनतम प्रवृत्ति इसी अन्तिम सिद्धांत को

स्वीकार करने की है। अगले अध्याय में इन सब सिद्धांतों पर ऐतिहासिक क्रमानुसार विचार किया जायगा।

१२. साधारण साम्य का सिद्धान्त :—सामान्य कीमत के सम्बन्ध मे विचार करते समय हमने यह देखा कि किस तरह अल्प और दीर्घकाल में कोई फर्म या उद्योग साम्य की स्थिति पर पहुचता है। लेकिन साम्य का सिद्धान्त केवल कीमत पर ही नही बल्कि सारी आर्थिक व्यवस्था या पद्धति पर लागू होता है। जब कुल आर्थिक व्यवस्था साम्य की स्थिति मे होती है तो उसे साधारण साम्य कहते है। इसका अर्थ यह है कि हर फर्म आदर्श उत्पत्ति की मात्रा का उत्पादन कर रही है, हर उद्योग अधिकतम लाभ की स्थिति को पा चुका है, तथा उत्पत्ति और कीमत के बीच दीर्घकालीन साम्य स्थापित हो चुका है। सक्षेप मे, अर्थ-व्यवस्था का हर अग अधिकतम लाभ की स्थिति तक पहुंच चुका है और परिवर्तन के लिये कोई प्रोत्साहन नही रह गया है।

साम्य की दशाएं.—चूकि साम्य की स्थिति साधनो के एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे आने-जाने से आती है, इसलिये हम यहा यह विचार करेगे कि वे कौन सी शर्तें है जिनकी पूर्ति साधनो की कीमतों मे साम्य लाने के लिये आवश्यक है। वे शर्तें इस प्रकार है :—

(१) एक साधन की सब इकाइयों की कीमत एक सी होनी चाहिए। कीमतों में अन्तर होने से कम कीमत वाली इकाइया उन जगहों पर जाने लगेंगी जहा कीमते ऊची है। यह तब तक चलता रहेगा जब तक कि कीमत एक समान न हो जायगी। यह प्रतियोगिता के आधार पर होगा।

(२) सब साधनो की कीमते उनकी सीमान्त उत्पादन के अनुपात मे होनी चाहिएं। यदि ऐसा नही है तो एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन को उपयोग मे लाना लाभप्रद होगा। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि साम्य स्थापित न हो जायगा।

(३) यही नही कि साधनो की कीमते उनके सीमान्त उत्पादन के अनुपात मे हो, यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक साधन की कीमत उसके सीमान्त उत्पादन के बराबर हो। यदि सीमान्त उत्पादन ऊचा है, तो उत्पत्ति बढाने मे लाभ होगा और यदि नीचा है तो उत्पत्ति कम करने में लाभ होगा।

(४) यदि किसी साधन का पूर्ति-मूल्य बाजार-मूल्य से कम या बराबर है तो उसकी सब इकाइयों को काम में लगा लेना चाहिए। यदि कुछ इकाइया बेकार है तो साम्य टूट जायगा।

साधारण साम्य सिद्धांत की आलोचना :—इस सिद्धान्त से यह पता चल जाता है कि अर्थ-व्यवस्था में कोई गड़बड़ी है या वह अपनी ठीक दशा मे है। इससे यह भी विदित होता है कि साम्य के टूटने पर वह फिर कैसे स्थापित हो सकता है। हमें यह भी मालूम हो जाता है कि अर्थ-व्यवस्था के भिन्न-भिन्न अंग ठीक प्रकार से काम कर रहे है या नही।

लेकिन यह सिद्धांत वास्तविकता से कही परे है। वास्तविक जगत् में सदा

परिवर्तन होते रहते है। इस कारण साम्य की स्थिति को पाना असम्भव सा हो जाता है। इस सिद्धान्त में बहुत-सी बाते जो मान ली जाती है, वे वास्तविक जीवन में दिखाई नही पडती, जैसे पूर्ण प्रतियोगिता, उत्पत्ति के साधनों का इच्छानुसार विभाजन, तथा उनका पूर्ण स्थानांतरण आदि। अस्तु, साधारण साम्य का सिद्धान्त व्यावहारिक नही है।

निर्देश पुस्तके

Marshall—Principles of Economics.
Thomas—Elements of Modern Economics p. 172.
Benham—Economics.
Stigler—Theory of prices.
Meyers—Elements of Economics.
Tarshis—Elements of Economics.
Wicksteed—Common Sense of Pol. Economy.

अध्याय २२

मूल्य से सम्बन्धित वास्तविक लागत
(REAL COST IN RELATION TO VALUE)

१. भूमिका—पिछले दो अध्यायों में उत्पादन व्यय का अर्थ उन खर्चों से लिया गया था जो मुद्रा या द्रव्य के रूप मे होते है। दूसरे शब्दो मे उत्पादन के खर्चो को उत्पादन व्यय या लागत मान लिया गया था। उत्पादक की दृष्टि से यह व्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। यह खर्चे दीर्घ-काल मे सामान्य लाभ के साथ मूल्य द्वारा पूरे हो जाने चाहिए, अन्यथा पूजीवादी प्रणाली मे उत्पादन कार्य जारी नही रह सकता।

पर सपूर्ण समुदाय की दृष्टि से केवल मुद्रा सबधी व्यय ही सब कुछ नही होता। समाज की दृष्टि से वास्तविक लागत अधिक महत्वपूर्ण होती है। वास्तविक लागत का आशय उन प्रयत्नो व त्यागो से है, जो किसी वस्तु के उत्पादन के लिये समाज के विभिन्न सदस्य करते है। श्रमिक परिश्रम करते है, पूजीपतियो को बचत करके फल की प्रतीक्षा करनी पडती है व भूमिपतियो को अपने को अपनी सम्पत्ति के प्रयोग से वचित रखना पडता है। ऐसा होने पर ही उत्पादन सभव होता है। अस्तु, किसी वस्तु के उत्पादन में विभिन्न प्रकार के प्रयत्न सम्मिलित होते है। और यही विभिन्न प्रयत्न उत्पादन की वास्तविक लागत कहलाते है।

द्रव्य-लागत व वास्तविक लागत समान नहीं होतीं। ऐसा बहुत कम होता है कि वस्तु की वास्तविक लागत द्रव्य-लागत के बराबर हो। मार्शल के शब्दो मे, "यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति प्रयत्नों के सबध मे स्थिर रहती है, और यदि प्रतीक्षा के लिये पारिश्रमिक की दर भी स्थिर रहती है, तो वस्तु की मुद्रा लागत वास्तविक लागत के समान होती है। पर इस प्रकार की समानता को महत्वहीन नही समझ लेना चाहिये।"[१] इस प्रकार द्रव्य-लागत व वास्तविक लागत मे, बहुत कुछ सबध है। परिवर्तनशील ससार में दीर्घ-काल अथवा मध्यकाल किसी भी समय मे दोनो लागत कभी समान नही हो सकती। भूमि का मूल्य उसकी दुर्लभता पर निर्भर है। उसमे त्याग अथवा प्रयत्न से सबंधित लागत का कोई प्रश्न ही नही उठता। अभिनेताओ, अध्यापकों, कुलियों, झाड़ू लगाने वाले, किसानो या व्यापारियो आदि के उपार्जनो का सबध प्रत्येक के प्रयत्न व त्याग से बहुत कम होता है।

साधारणतया लागत का अर्थ द्रव्य-लागत होता है। पर वास्तव में द्रव्य-लागत वह मूल्य होता है जो उत्पादक उत्पादन के विभिन्न साधनों को एकत्रित कर उत्पादन

---

१ Marshall—Principles of Economics — Page 350.

कार्य करने के लिये देता है। इसलिये हम एक वर्ग की कीमतों की दूसरे वर्ग की कीमतों से तुलनात्मक व्याख्या नही कर सकते। इस कठिनाई से निकलने के बहुत से प्रयत्न किये गये है। कुछ लोगो ने श्रम को ही मूल्य का अन्तिम माप व निर्णायक माना है। पर कुछ लोग इसके साथ प्रतीक्षा (पूजी) को भी जोड देते है। अभी हाल में कुछ अर्थ-शास्त्रियों ने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि उपयोगिता से दीर्घकालिक व अल्प-कालिक कीमतो का निर्धारण होता है। अस्तु, इन तीनो विचारो के आधार पर मूल्य के तीन सिद्धात मान लिये गये है —(१) मूल्य का श्रम सिद्धात, (२) मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धात और (३) कीमत का सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त। मार्शल जिस सिद्धात को मानते है वह उत्पादन लागत के सिद्धात व सीमान्त उपयोगिता सिद्धात का मध्य है। उत्पादन लागत के सबध मे मार्शल के विचार मिल आदि के विचारो के विस्तृत रूप मात्र है। मिल आदि अन्य अर्थशास्त्री कीमत की व्याख्या प्रयत्न व त्याग के रूप मे करते थे।

२. वैकल्पिक अवसर अथवा हस्तातरण लागत (Alternative Opportunity or Transfer Cost)—आजकल के कुछ अर्थशास्त्री "वास्तविक लागत" शब्द का प्रयोग अवसर लागत अथवा हस्तान्तरण लागत के अर्थ में करते है। अमरीकी अर्थशास्त्री डेवेनपोर्ट (Davenport) ने इस सिद्धात की व्याख्या इस प्रकार की है "मान लीजिये एक बच्चे को एक नाशपाती और एक आड़ू दोनों दिये गये, पर कोई एक लुटेरा लड़का उन्हे छीनने का प्रयत्न करता है। ऐसे समय मे उस बच्चे के लिये सिवाय इसके और कोई रास्ता नही होगा कि वह नाशपाती को रास्ते की झाडियो मे गिरा कर आड़ू लेकर भाग निकले। और जब तक आततायी नाशपाती उठाये तो कही जाकर छिप जाये। ऐसी दशा मे आड की लागत क्या हुई ? यह अवश्य है कि आड़ू बच्चे को उपहार के रूप में दिया गया था। इस दृष्टि से उसकी लागत कुछ भी नही है। पर तब भी इसको अपने पास रखने के लिये बच्चे को नाशपाती छोड़नी पडी। इस उदाहरण मे "लागत" शब्द का प्रयोग ठीक नही जान पड़ता; शायद "बदलना" अथवा "त्यागना" शब्द ठीक होगे। या मान लीजिये कोई आपसे कहे कि घुडसवारी कर लीजिये या शाम को नाटक देख लीजिये। तो यह कहना अजीब-सा लगेगा कि दोनो मे से किसी एक की स्वीकृति दूसरे की लागत है। फिर भी यह अवश्य है कि एक काम करने के लिये दूसरे से वंचित रहना होता है। या इसी को इस प्रकार समझ लीजिये कि आप के पास एक डालर है। उससे आप चाहे तो एक पुस्तक खरीद लें या एक चाकू। और अन्त में आप एक पुस्तक खरीद लेते है तो पुस्तक खरीदने की तीव्रतर इच्छा का प्रदर्शन इस बात से इतना नही होता कि डालर कमाने में कितना परिश्रम करना पड़ा था, या डालर स्वयं कितना मूल्यवान है जितना कि उसके वैकल्पिक प्रयोग से। ..... आपके लिए पुस्तक की अधिक से अधिक

क्या लागत है, इसकी सबसे अच्छी परीक्षा इसमें है कि पुस्तक खरीदने की इच्छा ने चाकू खरीदने की इच्छा पर कितनी विजय पाई।"[१] चूकि उत्पत्ति के साधन सीमित हैं इसलिये किसी एक वस्तु की उत्पत्ति दूसरी वस्तु की उत्पत्ति के बदले ही में हो सकती है। जिस वस्तु का इस प्रकार बलिदान होता है वह उत्पादित वस्तु की वास्तविक लागत होती है। हेन्डर्सन (Henderson) के शब्दों में "किसी वस्तु की वास्तविक लागत दूसरी उपयोगी वस्तुओं की पूर्ति में कमी है जो कि उस विशिष्ट वस्तु के उत्पादन से होती है।"[२]

इस उदाहरण के आधार पर यदि हम निष्कर्ष निकालें, तो हमें ज्ञात होगा कि उत्पादन लागत इस बात पर निर्भर नही करती कि वस्तु के उत्पादन में कितना त्याग अथवा प्रयत्न किया गया, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि उस वस्तु-विशेष के कारण हमें दूसरे कौन से महत्वपूर्ण व अति आकर्षक प्रतियोगी से वंचित रहना पड़ा। अस्तु, वास्तविक लागत का उपयोगिता से स्वतन्त्र व अंतिम अस्तित्व नही होता। पर वास्तव में परस्पर प्रतियोगी मागो के त्याग को ही वास्तविक लागत कहते है। प्रोफेसर मेयर्स (Meyers) अवसर लागत की परिभाषा इस प्रकार देते है: "एक वस्तु की किसी इकाई के उत्पत्ति की लागत उस इकाई में प्रयोग में लाये गये उत्पत्ति के साधन मूल्य के बराबर होती है। इन उत्पत्ति के साधनों का मूल्य उस इकाई की उत्पत्ति न होने पर लगे हुए साधनों के अच्छे से अच्छे लिये गए वैकल्पिक उपयोग से मापा जाता है।"[३] द्रव्य व्यवस्था में यह "द्रव्य की वह मात्रा है जिससे कि उत्पत्ति के साधन बजाय इसके कि वे कही और प्रयोग में लाए जायें, इस विशिष्ट कार्य की ओर प्रोत्साहित होते है।"

इस दृष्टि से लागत का महत्व—अब प्रश्न यह है कि लागत के इस विचार का लागत मे क्या महत्व है। व्यवसायी के लिये लागत का अर्थ उन खर्चो से होता है, जो उसे वैकल्पिक प्रयोगों वाली सीमित साधनों की प्राप्ति के लिये करने पड़ते है। सामाजिक दृष्टि से किसी साधन को किसी विशिष्ट काम में प्रयोग करने के लिये यह आवश्यक होता है कि किसी दूसरे काम का, जिसमें कि वह साधन प्रयोग हो सकता था, बलिदान दिया जाये, और बलिदान की यह मात्रा ही उस साधन की लागत होती है। इसका कारण यह है कि साधन कम व दुर्लभ हैं और उनके बहुत से विकल्प होते है। इसलिये एक साधन के लिये बहुत-सी प्रतियोगी मांगें होती है, जो उपभोक्ताओं की सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर करती है। क्योकि साधन न्यून होते है, इसलिये एक समय में एक ही मांग की पूर्ति हो सकती है, और वह भी दूसरी मांगों के त्याग करने

१ Davenport—The Economics of Enterprise—Page 61.

२ Henderson, H. D.—Supply and Demand, 1932, p. 166.

३ Meyers, A. L.— Elements of Modern Economics 1951, p. 149.

पर। फलस्वरूप साधनों की प्रवृत्ति उन प्रयोगों से, जिनमे उनकी माग की कीमत उपभोक्ताओं की सीमान्त उपयोगिता के योग से कम होती है, उन प्रयोगों की ओर, जिनमे वह अधिक होती है, जाने की होती है। और ऐसा तब तक होता है, जब तक कि वह विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन से सबंधित तमाम प्रयोगो मे इस प्रकार बट जाते है कि विभिन्न प्रयोगो मे उनकी सीमान्त उपयोगिता समान हो जाती है।

इस प्रकार माग-कीमत अथवा सीमान्त उपयोगिता ही इस बात का निर्णय करती है कि उत्पत्ति के किसी साधन का कितना भाग किसी वस्तु के उत्पादन में प्रयोग मे लाया जायगा। इसलिये किसी वस्तु की पूर्ति उस आकर्षण पर निर्भर करती है, जो उस वस्तु की माग कीमत (या सीमान्त उपयोगिता) उत्पत्ति के विभिन्न साधनो के प्रति करती है। यदि माग कीमत अधिक नही है तो साधनो का प्रयोग उस वस्तु की उत्पत्ति में किया जाता है, जिसकी माग कीमत अपेक्षाकृत अधिक है। मूल रूप मे एक वस्तु की उत्पादन लागत एक व्यवसाय में उत्पादक सेवाओ के बनाये रखने के लिये दिये गये रक्षण कीमत का जोड़ है तथा यह उतना होता है जितना कि वे दूसरी जगह पा सकते है।

आर्थिक सिद्धांत के क्षेत्र में अवसर लागत के मत का बडा महत्व है। यह आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनो तरह के मूल्य निर्धारणो में लागू होता है। यह आय के वितरण मे भी लागू होता है। फिर भी इसके लागू होने की कुछ सीमाए है। यह उन उत्पादन सेवाओ पर जो असाधारण अथवा विशेष प्रकार की है, लागू नही होता। एक विशेष साधन के वैकल्पिक उपयोग नही होते। अतः इसकी अवसर लागत अथवा हस्तातरित लागत शून्य होती है। इसलिये ऐसे साधन के भुगतान का स्वभाव लगान की तरह होता है। इसके अतिरिक्त अवसर लागत का सिद्धांत अप्रवृत्ति के तत्व को विचार में नही रखता। साधन किसी व्यवसाय में रहने से अनिच्छुक हो सकते है। ऐसी दशा मे जहां पर कि एक साधन की चाह को बदलना होता है तो वैकल्पिक व्यवसाय मे प्रयोग मे लाने के लिये उस साधान को हस्तांतरित लागत से अधिक भुगतान देना पडेगा। इन बिना अर्थ-सबधी विचारो के दृष्टिकोण से द्रव्य लागत के मत का बहिष्कार कर देना चाहिये। अवसर लागत के सिद्धात की फिर से व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : "अ के बनाने मे उत्पादक सेवा ट की लागत मात्रा ब, जो ट उत्पत्ति कर सकता है तथा बिना अर्थ सबधी उत्पत्ति (अथवा लागत) जो ब के उत्पत्ति करने मे होता है (अथवा इतना कम) के बराबर होता है।"[१] यह परामर्श किया जा चुका है कि सिद्धात में द्रव्य का अभिप्राय फिर से डालने के लिये बिना अर्थ-संबंधी उत्पत्ति अर्थ-संबंधी उत्पत्ति में बदली जाए। परन्तु इस काम के लिये सदैव मुद्रा मापदण्ड का पाना संभव नही है।

इसके अतिरिक्त यह ध्यान रखना चाहिये कि उत्पादक सेवाओ की इकाइया

१ Stigler, G. J.—Theory of Price, 1947, No. 101.

बहुत कम एक सी होती है।

इसमे अधिक यह सिद्धात पूर्ण प्रतियोगिता पर निर्भर है जो बहुत कम होता है।

व्यक्तिगत लागत तथा सामाजिक लागत मे भिन्नता के कारण भी इस सिद्धात का विरोध किया जा सकता है। एक वस्तु की लागत मिल मालिक को १०) हो सकती है परन्तु समाज को उसकी लागत उसके कारखाने से निकले हुए धुवे के कारण खराब स्वास्थ्य के रूप मे होगी।

इन सब सीमाओ तथा विषमताओ के होते हुए भी लागत का यह सिद्धात अर्थात् अवसर लागत व वैकल्पिक लागत का सिद्धात सबसे अधिक मान्य सिद्धात है। इस सिद्धात की कुछ विशेषताए ध्यान देने योग्य है :—

(१) एक वस्तु की उत्पादन लागत दूसरी वस्तुओ की, जिनके उत्पत्ति मे वही उत्पादक सेवाए सहायता दे सकती है, माग-कीमतो पर निर्भर है।

(२) लागत का यह विश्लेषण इस बात मे स्पष्ट नही हो जाता कि वस्तु की उत्पत्ति कई साधनो के सयोग मे होती है क्योकि हर साधन की सीमान्त उत्पत्ति जानी जा सकती है।

अब हम मूल्य के अनेक सिद्धातो का अध्ययन करेगे। सर्वप्रथम श्रम-सिद्धात को ही ले लिया जाय।

३. श्रम सिद्धांत[१] (Labour Theory)—श्रम सिद्धांत के अनुसार किसी वस्तु के मूल्य का निर्णय उस परिश्रम से होता है जो उसे बनाने मे व्यय किया जाता है। इस सिद्धात का सम्बन्ध एडम स्मिथ (Adam Smith), रिकार्डो (Ricardo) व कार्ल मार्क्स (Karl Marx) आदि के नामो से है। एडम स्मिथ के पूर्व पेटी (Petty) व लाक (Locke) भी श्रम को मूल्य का स्रोत मानते थे।

एडम स्मिथ का विश्वास था कि मूल्य का अन्तिम मान श्रम ही होता है। किसी वस्तु की वास्तविक कीमत उसके आकाक्षी मनुष्य के लिये वह परिश्रम व मेहनत होती है, जो उस मनुष्य को उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये करना पडता है। जो वस्तु द्रव्य द्वारा खरीदी जाती है, उसका "क्रय" वास्तव मे श्रम ही करता है।"[२]

पर एडम स्मिथ का विचार था कि केवल समाज की प्रारम्भिक स्थितियो मे ही श्रम विनिमय-मूल्य का आधार था। बाद मे क्योकि भूमि दुर्लभ हो गई व पूजी का संचय शुरू हुआ, इसलिये इनके स्वामियों को भी कीमतें देनी पडी, और इस प्रकार श्रम अब उत्पादन की एकमात्र लागत नही रह गया। फलस्वरूप स्मिथ उत्पादन लागत के सिद्धात की ओर बढे। इसके विपरीत रिकार्डो का यह विश्वास था कि तत्कालीन जगत् मे भी किसी वस्तु का मूल्य अथवा दूसरी वस्तुओ के प्रति उसकी विनिमय शक्ति

१. See Fraser, L. M.—Economic Thought & Language, 1947, pp. 117—123.
२. Adam Smith—Wealth of Nations, Book I. Ch. V.

श्रम की उस मात्रा पर निर्भर करती है, जो उसके उत्पादन के लिये आवश्यक होती है।[१]

पर इसका यह अर्थ नही कि रिकार्डो ने भूमि और पूजी को उत्पत्ति का साधन नही माना। उसका विचार था कि भूमि की लागत का कोई महत्व नही होता, क्योकि अनाज का मूल्य खेती मे प्रयुक्त ऐसी अनुपजाऊ भूमि की उत्पादन लागत पर निर्भर करता है, जिस पर कोई लगान नही देना पडता। और जहा तक पूजी का सम्बन्ध है यह तो अतीत मे किये गये श्रम का फलस्वरूप है।

एडम स्मिथ यह मानते थे कि श्रम मे गुणो के अनुसार भिन्नता होती है, इसलिये उनका यह विचार था कि सिवाय बहुत ही पिछडे समाजो के और कही श्रम की तुलना नही हो सकती, और श्रम के सिद्धात का सम्बन्ध ऐसे ही समाजो से है। पर चूकि रिकार्डो उन्नत जातियों मे भी श्रम को ही मूल्य का मूल मानते थे, इसलिये उन्हे विभिन्न गुणो वाले श्रमो की तुलना करने मे पैदा होने वाली कठिनाइयो को भी समझना पडा। इन कठिनाइयो को रिकार्डो ने इस प्रकार समझाया था कि यह भेद बाजार मे इस प्रकार स्थिर हो जाते है कि हर प्रकार का श्रम मूल्य के क्रमिक प्रबन्ध मे अपनी उचित जगह पर पहुच जाता है। रिकार्डो के अनुसार इस क्रमिक प्रबन्ध मे बहुत कम परिवर्तन होते है। उनका कहना है कि यदि "एक सुनार का एक दिन का श्रम एक साधारण श्रमिक के एक दिन के श्रम से अधिक मूल्यवान है, तो यह श्रम बहुत पहले व्यवस्थित होकर मूल्य के क्रमिक प्रबन्ध में अपने उचित स्थान पर पहुच चुका होगा"। पर यह व्याख्या कोई विशेष सतोषजनक नही है।

श्रम सिद्धात के विरुद्ध एक बहुत बडा आक्षेप यह है कि यह ऐसी वस्तुओ के मूल्य की, जिनका उत्पादन नही हो सकता, कोई व्याख्या नही करता। पर इसका उत्तर रिकार्डो ने इस प्रकार दिया है "कुछ वस्तुए ऐसी होती है जिनका मूल्य उनकी न्यूनता से निश्चित होता है। · · उनके मूल्य से उस आवश्यक श्रम के परिमाण से कोई सम्बन्ध नही होता, जो उत्पादन मे लगाया जाता है और इसलिये धन व उन वस्तुओ के उपभोक्ताओ की प्रवृत्तियो के अनुसार उसमे परिवर्तन हुआ करते है।" आजकल की भाषा मे इसमे रिकार्डो का तात्पर्य यह था कि उपभोक्ताओ की सीमात उपयोगिता इस प्रकार की वस्तुओं का मूल्य निश्चित करती है। यहा तक तो उनके विचार वर्तमान अर्थशास्त्रियो के विचारो के अनुकूल ही है पर उनकी यह व्याख्या श्रम सिद्धान के आलोचको को सतुष्ट नही कर सकती क्योकि इसमे सिद्धांत की अपूर्णता ही अधिक प्रकट होती है।

४. समाजवादी व श्रम सिद्धात (The Socialists and the Labour Theory)—रिकार्डो के श्रम सिद्धांत ने समाजवादियों को विशेष रूप से आकर्षित किया। चूकि मूल्य का मूल उद्गम श्रम ही है, पर कुल मूल्य का बहुत कम

१. Principles of Political Economy and Taxation in works of David Ricardo by McCulloch. P. 9.

भाग मजदूरी के रूप में मिलता है, इसलिये यह प्रमाणित करना सरल था कि पूजीपति उत्पत्ति का बड़ा भाग हडप कर श्रमिकों का शोषण करते है। रूसो (Rousseau) के आदर्श पर, टामसन ग्रे (Thomson Gray) व ब्रे (Bray) जैसे समाजवादियों ने पूजीवादी शोषण का एक अपना निजी सिद्धात बना लिया और राडबर्टस (Rodbertus) व कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने तो इस सिद्धात को अपनी पुस्तक का प्रमुख आधार बना डाला।

वैज्ञानिक समाजवाद के मूल प्रवर्त्तक कार्ल मार्क्स ने अपने विचार अपनी पुस्तक 'डास कैपिटल' मे प्रकट किये है। इस पुस्तक मे उन्होने पूजीवाद पर अकाट्य आक्षेप किये है। मार्क्स का विश्वास था कि मूल्य प्रयोग मे लाये गये मानवीय श्रम को कहते हैं। उनकी दृष्टि में किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम पर ही निर्भर होता है। अपने इस विचार की व्याख्या उन्होने इस प्रकार की है:- "मूल्य श्रम के उस समय पर अवलम्बित है जो किसी वस्तु को साधारण परिस्थितियो में योग्यता की औसत मात्रा से बनाने मे लगता है, जो उत्पादन काल मे प्रचलित हो।"[१]

मार्क्स ने भी पूजी की वही व्याख्या की जो कि रिकार्डो ने पूर्व श्रम के आधार पर की थी। जहां तक श्रम में गुणो के अन्तर का प्रश्न है, उनका विचार था कि "कुशल श्रम का महत्त्व केवल यह है कि वह साधारण श्रम का तीव्र रूप है। उनके विचार में कुशल श्रम की कोई निश्चित मात्रा साधारण श्रम की बडी मात्रा के बराबर ही होती है। उनका कहना था कि अनुभव यह बतलाता है कि यह कमी निरन्तर पूरी हो रही है।" एक वस्तु के बनाने मे चाहे जितना भी कुशल श्रम लगा हो, पर यदि उसको साधारण श्रम द्वारा निर्मित किसी वस्तु के समान कर दिया जाय तो उसका मूल्य साधारण श्रम की ही एक निश्चित मात्रा का प्रदर्शन करेगा।" मार्क्स के अनुसार कुशल व अकुशल श्रम का यह अनुपात रीतियों की शक्ति द्वारा निश्चित होता है। उनका कहना था कि कुशल श्रम का मूल्य इसलिये अधिक होता है कि इस प्रकार के श्रम को पैदा करने मे कुशल श्रम की अपेक्षा अधिक समय व श्रम की आवश्यकता होती है।

५. मार्क्स का शोषण व अतिरेक मूल्य का सिद्धान्त (Marx's Theory of Surplus Value and Exploitation)—अपने श्रम सिद्धात के आधार पर मार्क्स ने अपने अतिरेक मूल्य के सिद्धांत का विकास किया। उन्होंने बताया कि श्रमिक को उत्पादन जारी रखने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके पास औजार व दूसरी सुविधायें हों किन्तु यह सुविधायें उसके पास नही होती। इसलिये वह अपने श्रम को पूजीपति के हाथों बेच देता है। पूजीपति के लिये यह आवश्यक नही होता कि वह श्रमिक को उसके द्वारा निर्मित वस्तु का पूरा मूल्य दे दे। यहां पर मार्क्स

१. 'Capital' Vol. 1. Part. 1. Chap. 1. Sec. 1.

ने एक दूसरे सिद्धांत, मजदूरी जीवन निर्वाह सिद्धांत का आधार लिया है, जिसके अनुसार मजदूरी का स्तर ऐसा होता है कि श्रमिक जीवन-निर्वाह कर सके। पर होता यह है कि अपने जीवन-निर्वाह के लिये पर्याप्त धन प्राप्त करने लायक काम कर लेने के बाद भी श्रमिक काम करता ही रहता है। मार्क्स के शब्दों मे "इतने समय तक जितने में कि श्रम अपने मूल्य के बराबर कीमत का काम कर लेता है, कार्य कर चुकने के बाद भी श्रम का कार्य जारी ही रहता है। कभी-कभी श्रम का कार्य छः घटे की अपेक्षा बारह घंटे तक चल सकता है, इसलिये श्रम शक्ति का कार्य केवल अपने मूल्य का ही उत्पादन करना नही बल्कि इससे भी अधिक उत्पति करना होता है। यह अतिरेक मूल्य उत्पादित वस्तु के मूल्य का, उन साधनो के मूल्य का, जिनका प्रयोग उसके उत्पादन मे हुआ, अन्तर होता है। दूसरे शब्दों में उत्पत्ति के साधनो के व श्रम शक्ति के मूल्य का अन्तर यह अतिरेक मूल्य होता है।" इस अतिरेक मूल्य के द्वारा पूजीपति अधिक श्रम खरीद कर और अधिक अतिरेक मूल्य प्राप्त करने के योग्य हो जाता है। अस्तु, पूजीपति वर्ग श्रम वर्ग का शोषण कर अधिक अमीर हो जाता है। इस प्रकार मूल्य के सिद्धात के आधार पर मार्क्स ने अपना शोषण का सिद्धात प्रतिपादित किया।

६. मूल्य के श्रम सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Labour Theory of Value)— श्रम सिद्धात की कई प्रकार से आलोचना की गई है। कुछ आलोचनाओ का सम्बन्ध तो रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित साधारण सिद्धात से है, पर दूसरी आलोचनाओ का मुख्य विषय इस सिद्धात का समाजवादियों और विशेषकर कार्ल मार्क्स द्वारा स्पष्टीकरण है। आलोचना के विभिन्न दृष्टिकोण यह है —

१. श्रम कई प्रकार तथा कई श्रेणी का होता है। इसलिये उसका कोई समान माप नही हो सकता। उदाहरण के लिये, हम सडक पर पत्थर तोड़ने वाले एक मजदूर की तुलना लडाई के मैदान में शत्रु के आक्रमण को तोडने वाले सेनापति के श्रम से नही कर सकते। इसी प्रकार अपने नाटको के लिखने के लिये बोलने वाले बर्नार्ड शॉ के श्रम की तुलना उसके उस टाइपिस्ट के श्रम से नही कर सकते, जो उन्हें टाइप करता है। सब प्रकार के श्रम को रीति की शक्ति से गिराकर अकुशल श्रम के स्तर पर ला देना कोई सन्तोषजनक हल नही है। आजकल के परिवर्तनशील ससार में साधारणतया आवश्यक श्रम के समय का विचार भी कोई विशेष महत्व नही रखता।

२. वस्तु का मूल्य उत्पादन में श्रम के सम्मिलित हो जाने के उपरान्त भी अक्सर घटा-बढा करता है। मार्क्स ने इस विशेषता को इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया है कि यदि उस समय में, जो किसी वस्तु के उत्पादन के लिये आवश्यक होता है, कोई परिवर्तन होता है, तो उस वर्ग की सब वस्तुओं पर उसका प्रभाव पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि मार्क्स ने सदैव पुनरुत्पादन की लागत पर ही अधिक ध्यान दिया; उत्पादन पर नहीं। इसलिये श्रम को मूल्य का मूल कारण नही कहा जा सकता। हां, इतना अवश्य है

कि श्रम मूल्य का माप हो सकता है। पर यह दोनो विचार एक से नही है।

३. इसके अतिरिक्त इस सिद्धात मे उन वस्तुओ का कोई वर्णन नही है, जिनका मूल्य तो होता है, पर जिनके उत्पादन में किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नही होती। इसमे उन वस्तुओ का भी कोई वर्णन नही है जिनके श्रम से सम्बन्धित मूल्य का कोई ठीक अनुपात नही होता। पहली वाली वस्तु का उदाहरण एक वह सोना है, जिसमे औषधि का मिश्रण है, अथवा मृत व्यक्ति के हस्ताक्षर, प्राचीन कलाकारो के चित्र व मूर्तियो आदि से दिया जा सकता है। फिर अनुचित प्रयोग भी श्रम का हो सकता है ओर ऐसी दशा मे यह श्रम किसी प्रकार के मूल्य की उत्पत्ति नही होगा।

४. फिर आधुनिक काल के प्रतियोगी, साम्य के दृष्टिकोण से भी मार्क्स के 'अतिरेक मूल्य' के सिद्धात की जो कि श्रम-सिद्धात पर आधारित है, आलोचना की गई है। प्रतियोगितापूर्ण स्थिति मे अतिरेक मूल्य समाप्त हो जाना चाहिये। विट्टाकर के शब्दो मे "यदि एक फर्म का उत्पादन उस उद्योग के कुल उत्पादन के अनुपात मे बहुत कम है (जैसा कि अग्रेजी सूत के उद्योग मे उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक था जिसमे मार्क्स ने बहुत से उदाहरण लिये है) तो एक फर्म के उत्पादन मे किसी प्रकार की वृद्धि से वस्तु के बाजार भाव पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा, और इसलिये उत्पादित वस्तु की प्रति इकाई के अतिरेक मूल्य मे कोई वास्तविक परिवर्तन नही होगा। यदि अधिक इकाइयो का उत्पादन होगा तो फर्म की कुल अतिरेक मूल्य मे वृद्धि होगी। फलस्वरूप फर्म अपने उत्पादन की मात्रा बढाने का प्रयत्न करेगी। यही नही, उस उद्योग के सभी कारखाने इस बात का प्रयत्न करेगे, और यदि उत्पादन बढ जायेगा तो वस्तु का बाजार भाव गिरने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि अतिरेक मूल्य कम होते-होते समाप्त हो जायगा।"[१]

इस प्रकार ऊपरी तौर से मूल्य का श्रम सिद्धात न्याय व साम्य पर आधारित अवश्य प्रकट होता है पर इससे मूल्य की कोई सन्तोषजनक व्याख्या नही होती।

७. मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धांत (The Cost of Production Theory of Value)—कैन्टिलन (Cantillon) ने किसी वस्तु के मूल्य की, जिसे वह वास्तविक मूल्य कहते थे, परिभाषा इस प्रकार की है: "किसी वस्तु का मूल्य उत्पादन मे प्रयोग होने वाले श्रम व भूमि की मात्रा के माप को कहते है। पर ऐसे माप मे भूमि की उर्वरता व श्रम के गुण का ध्यान रखा चाहिये।" पर इस मूल्य का वस्तु के बाजार भाव से कोई सामंजस्य नही होता, क्योकि उसका बाजार मूल्य तो उपभोक्ताओ की माग पर निर्भर होता है। उसका यह विश्वास था कि यदि समय पर्याप्त हो, तो वस्तु की पूर्ति उसकी माग के अनुसार व्यवस्थित हो जाती है। यदि वस्तु

१. Whittaker: A History of Economic Ideas, Pp. 429-30

न्यून होती है, तो मूल्य बढ़ जाता है, जिससे उसके उत्पादन मे वृद्धि होती है। यदि वस्तु अधिक होती है तो उसके विपरीत होता है। इस प्रकार उन्होने मूल्य के पुरातन सिद्धात की नीव डाली, जिसको बाद मे एडम स्मिथ (Adam Smith), सीनियर (Senior) व जान स्टुअर्ट मिल (J. S. Mill) ने और भी विस्तृत किया।

जिस मूल्य को कैन्टिलन वास्तविक मूल्य कहते थे, उसे आगे चल कर एडम स्मिथ "स्वाभाविक मूल्य" व मार्शल "सामान्य मूल्य" कहने लगे। इस सिद्धात के अनुसार किसी वस्तु का स्वाभाविक तथा सामान्य मूल्य उसके उत्पादन की लागत पर निर्भर करता है।

रिकार्डो पूजी को बीता-हुआ-श्रम कहते है पर सीनियर का कहना है कि ब्याज प्रतीक्षा अथवा धन से वचित रहने का भुगतान है। उनका विश्वास था कि सयम से रहना भी उत्पादन के लिये उतना ही आवश्यक है जितना कि श्रम। सयम एक प्रकार का त्याग है और इसलिये उत्पादन की वास्तविक लागत, जिससे मूल्य निश्चित होता है, केवल श्रम मे ही नही बल्कि श्रम व संयम दोनो मे होता है। यही नही, उसने लागत मे से भूमि के लगान को भी निकाल दिया। सीनियर का सिद्धात बहुत कुछ एडम स्मिथ के सिद्धात पर आधारित था। उसे इस बात का ज्ञान था कि चूकि प्रतियोगिता कभी पूर्ण नही होती, इसलिये मूल्य केवल दीर्घकाल मे ही उत्पादन लागत के बराबर होता है।

मिल यह मानते थे कि सयम (Abstinence) का लागत पर प्रभाव पडता है पर उन्होने "उत्पत्ति के नियमो" के प्रभाव का विश्लेषण करके इस सिद्धात को और भी विस्तृत कर दिया है। सीनियर की भाति वह भी मूल्य व लागत के सामजस्य को दीर्घकालिक विशेषता समझते थे। पर मिल ने श्रम व सयम के वास्तविक लागत की अपेक्षा मुद्रा व्यय ही पर अधिक जोर दिया, और यही पर मार्शल ने मिल के मूल्य के लागत सिद्धात को आगे बढाया।

मार्शल के लिये उत्पादन लागत कैची का केवल एक फाल है। उसका कहना था कि मूल्य रूपी कैची का एक फाल तो उत्पादन लागत है, और दूसरा सीमान्त उपयोगिता। मार्शल ने वास्तविक लागत तथा मुद्रा-लागत को यह कहकर समान करने का प्रयत्न किया कि यद्यपि मुद्रा-व्यय उपक्रमी की दृष्टि से बडा महत्वपूर्ण है, पर समुदाय के लिये सबसे अधिक महत्व वास्तविक लागत (कठिन प्रयत्न व प्रतीक्षा) का ही है। इसके अतिरिक्त उसका विश्वास था कि यदि प्रयत्नों के रूप मे मुद्रा की क्रय-शक्ति स्थिर रहे, और प्रतीक्षा के भुगतान की दर भी स्थिर रहे तो लागत का मुद्रा में माप वास्तविक लागत के समान ही होगा। पर साथ ही साथ मार्शल का यह भी कहना है कि "इस प्रकार का सामंजस्य सदैव नही मान लेना चाहिये।"

हम देख चुके है कि उपक्रमी के व्यय के रूप में उत्पादन लागत का विचार, वैसे चाहे कितना ही लाभदायक क्यो न हो, पर मूल्य की समस्या की कोई व्याख्या नही करता क्योकि यह वस्तु का मूल्य केवल उत्पादन के विभिन्न साधनों के मूल्य पर आधारित कर

देता है। जब तक प्रयत्नों के रूप में किये गये उत्पादन के वास्तविक लागत को मुद्रा-लागत में परिवर्तित न कर दिया जाये, तब तक इस प्रकार की लागत को हम उत्पादन लागत मे शामिल कर ही नही सकते। इसके अतिरिक्त उत्पादन लागत सिद्धान्त मे और भी बहुत सी त्रुटिया है।

८. उत्पादन लागत के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Cost of Production Theory)—निम्नाकित कारणो से यह सिद्धात मूल्य विषय की उचित रूप की व्याख्या नही कर पाता :—

(१) इस सिद्धात मे ऐसे श्रम व पूजी का, जिसका अनुचित उपयोग हुआ हो, कोई वर्णन नही है। रेगिस्तान मे अधिक लागत से बने हुए महल का कोई मूल्य तभी हो सकता है जब उसकी माग हो। ऐसा भी होता है कि किसी पेटेन्ट वस्तु की कोई अधिक अच्छी स्थानापन्न वस्तु निकल आये और उसकी माग समाप्त हो जाये।[1]

(२) उत्पादन के पश्चात् बहुत सम्भव है कि वस्तु का मूल्य बढ़ जाय। थोड़ी वर्षा बर्फ का मूल्य गिरा देती है और गर्मी उसका मूल्य बढ़ा देती है। इस प्रकार के परिवर्तन का उत्पादन लागत से कोई सम्बन्ध नही होता। अस्तु, यह सिद्धात लागत से सम्बन्धित दीर्घकालिक मूल्य की व्याख्या तो अवश्य करता है, पर जहा तक बाजार मूल्य का सम्बन्ध है, उसमे माग के परिवर्तन के अनुसार सदा परिवर्तन हुआ करता है।

(३) सिद्धात न्यून वस्तुओं और विशेषकर ऐसी वस्तुओं जैसे पुराने कलाकारों द्वारा निर्मित चित्र व मूर्तियो आदि के मूल्य की कोई व्याख्या नही करता। ऐसी वस्तुओं के मूल्य का उनकी उत्पादन लागत से कोई सम्बन्ध नही होता।

(४) कुछ वस्तुएँ ऐसी है जिनकी उत्पादन लागत का अनुमान लगाना असम्भव होता है। गेहूं व भूसा, ऊन व मांस जैसी साथ साथ पैदा होने वाली वस्तुएँ अथवा भ्रमण करने वाली गाड़ी चलाने मे उत्पादन लागत का पता नही लगाया जा सकता।

(५) इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न फर्म व हर फर्म की विभिन्न इकाइयों के अनुसार उत्पादन लागत मे भिन्नता आ जाती है, और ऐसी परिस्थिति में यह निश्चित करना कठिन होता है कि इनमे से किस फर्म की लागत मूल्य निर्धारित करती है।

सच तो यह है कि न्यूनता व मांग के पारस्परिक सम्बन्ध से ही मूल्य निर्धारित होता है। वस्तु की यह न्यूनता उत्पादन की अधिक लागत के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी हो सकती है। यदि यह न्यूनता अधिक उत्पादन लागत के कारण होती है, तो इसके अर्थ केवल यह होते है कि विभिन्न प्रयोगों में मांग होने के कारण उत्पादन के साधन दुर्लभ हो गये हैं। इसलिये उपयोगिता अथवा उत्पादन के न्यून साधनों की प्रतियोगी मांगों के आधार पर उत्पादन लागत की व्याख्या की जा सकती है। लागत का यह नवीन विचार मूल्य की सीमान्त उपयोगिता सिद्धांत से सम्बन्धित है।

[1] Marshall—Principles of Economics, p. 350.

९. पुनरुत्पादन लागत का सिद्धान्त (Cost of Reproduction Theory)–ऐसा बहुत कम होता है कि किसी वस्तु का सामान्य मूल्य उत्पादन लागत के बराबर ही हो। परिवर्त्तनशील संसार मे यह आवश्यक नही है कि दीर्घकाल मे उत्पादन लागत किसी एक दिन की उस लागत के बराबर ही हो। अधिकतर ऐसा है कि दीर्घकाल में उत्पादन लागत उस लागत के बराबर होती है, जो वस्तु के पुनरुत्पादन मे लगती है। इसलिये केरी (Carey) का कहना है कि सामान्य मूल्य को समझने के लिये उत्पादन लागत की अपेक्षा पुनरुत्पादन लागत का सिद्धात अधिक उपयोगी होगा।

पर इससे कोई विशेष लाभ नही होता। मार्शल के अनुसार उत्पादन की सामान्य लागत व पुनरुत्पादन की सामान्य लागत ऐसे शब्द है, जिनको एक दूसरे के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है। वास्तव मे किसी वस्तु की दीर्घकाल मे उत्पादन लागत क्या होगी, इसके अर्थ ही यह है कि उसके पुनरुत्पादन की लागत क्या होगी।

यद्यपि यह अवश्य है कि पुनरुत्पादन के मूल्य व लागत मे उत्पादन के मूल्य व लागत की अपेक्षा अधिक समानता है। पर इसका अर्थ यह नही है कि पुनरुत्पादन की लागत ही मूल्य निर्धारित करती है। इस सम्बन्ध मे उन सब आरोपो का जो उत्पादन लागत सिद्धांत के विषय मे बताये गये है, यहा उल्लेख किया जा सकता है।

यदि कोई सुगमता से उस समय तक प्रतीक्षा कर सके, जब वस्तु का पुनरुत्पादन सम्भव होगा तो पुनरुत्पादन के व्यय का कुछ प्रभाव वस्तु के मूल्य पर हो सकता है। जब तक नई पूर्ति नही आती, उस समय तक तो माग की तीव्रता पर ही मूल्य निर्भर होगा।

कुछ उदाहरण ऐसे भी है जबकि पुनरुत्पादन की लागत का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मार्शल के शब्दो मे "किसी घिरे हुए शहर में अनाज, किसी रोगग्रस्त द्वीप में कुनैन जिसकी पूर्ति कम हो गई है, राफेल की किसी तस्वीर, ऐसी पुस्तक, जिसे पढ़ना कोई पसन्द नही करता, पुराने ढंग का जंगी जहाज, आधिक्य या कमी के बाजार में मछली, फूटी हुई घंटी, पुराने रिवाज की पोशाक अथवा नष्ट गांव मे किसी मकान इत्यादि का मूल्य तथा पुनरुत्पादन की लागत में कोई सम्बन्ध नही होता।"[१]

१०. मूल्य के सीमांत उपयोगिता सिद्धान्त का विकास (Development of Marginal Utility Theory of Value)—यह देखा जा चुका है कि श्रम सिद्धांत अथवा उत्पादन लागत सिद्धांत या पुनरुत्पादन लागत सिद्धांत ने मूल्य की कोई संतोषजनक व्याख्या नही की है। अब हम तीसरे सिद्धांत अर्थात् सीमान्त उपयोगिता के सिद्धांत का अध्ययन करेंगे। बारबौन (Barbon) (१६४०-१६९८) व टरगोट (Turgot) (१७२७-१७८१) आदि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने मूल्य का आधार उपयोगिता को माना है। पर लाडर डेल (Lauderdale) (१७५९-१८३०) ने यह बताया कि मूल्य के लिये उपयोगिता व न्यूनता दोनों का होना

[१] Marshall—Principles of Economics, 1936 P. 402.

आवश्यक है। उनका विश्वास था कि मनुष्य की किसी वस्तु को पाने की इच्छा तथा मूल्य में घनिष्ट सम्बन्ध है। वह माग की लोच से भी परिचित थे। जहा तक कि उत्पादन या पूर्ति का प्रश्न है, उन्होने लाक (Locke), कैन्टिलन (Cantillon) व एडम स्मिथ (Adam Smith) के विचारो का आश्रय लिया। पर माग के सम्बन्ध मे वह सीमान्त उपयोगिता को मानने वाले लोगो मे से सर्वप्रथम थे।

पिछली शताब्दी के १८२१ से १८३० वर्षो मे एफ डब्लू लायड (F. W. Lloyd) ने उपयोगिता व मूल्य के सम्बन्ध की विस्तृत व्याख्या की। उसने लोगो का ध्यान इस तत्व की ओर आकर्षित किया कि वस्तु की पूर्ति बढ जाने से मनुष्य के लिये उसका मूल्य कम हो जाता है। यही सिद्धात बाद मे उपयोगिता ह्रास नियम से विख्यात हुआ। यही नही, उसे सीमान्त उपयोगिता का भी ज्ञान था। उसका विश्वास था कि सीमान्त उपयोगिता व उत्पादन लागत मे से जो भी कम होता है मूल्य उसी के बराबर होता है।

सीनियर (१७९०-१८६४) उपयोगिता के ह्रास के सिद्धात को तो मानता था पर उसका कहना था कि क्योकि मानवीय आवश्यकताये अतृप्य होती है, इसलिये व्यक्ति सदा विभिन्न प्रकार की व विलासिता की वस्तुओ की माग करता है। सीनियर यद्यपि उपयोगिता के महत्व को मानते थे पर वह अनुमोदन सदैव उत्पादन लागत के सिद्धात का ही करते थे। वह माग व पूर्ति की शक्तियो के सकलन की व्याख्या न कर सके, जिसको कि बाद मे मार्शल को करना पड़ा।

आयरलैण्ड के लाग फील्ड (Long Field), जरमनी के वान थुनेन (Von Thunen) व फ्रास के डूपी (Dupeit) सीनियर के समकालीन थे। पहले दोनों अर्थशास्त्रियो ने मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धात की व्याख्या बडे अनोखे ढग से की और वे वितरण की समस्या से अधिक सम्बन्धित थे। डूपी (Dupeit) ने उपयोगिता ह्रास के सिद्धात को चित्र द्वारा बडे अच्छे ढग से समझाया। बाद मे मार्शल ने इस विचार का नाम उपभोक्ता की बचत रक्खा, उसका भी प्रतिपादन सर्वप्रथम डूपी ने ही किया था। डूपी इस सिद्धात को "सापेक्ष उपयोगिता" (Relative Utility) कहते थे।

सीमान्त उपयोगिता के विचारको मे सर्वप्रथम जर्मन अर्थशास्त्री एच. एच. गौसेन (H. H. Gossen) थे (१८१०-१८५६)। इनके सिद्धात बहुत कुछ डब्लू. एस. जीवन्स (W. S. Jevons) के सिद्धातो के अनुकूल थे। यद्यपि जीवन्स को इस बात का ज्ञान नही था, पर यह सच है कि उनकी व गौसेन की पुस्तकें साथ ही साथ प्रकाशित हुई थी।

योरुप के तीन देशों में १८७० के लगभग अर्थशास्त्रियों का एक नवीन विचारधारा का समूह प्रकट हुआ। इस समूह के विशिष्ट लोग यह थे--आस्ट्रिया मे कार्ल मेजर

(Carl Menger) (१८४०-१८८१), वालरस (Walras) (१८३४-१९१०), स्विटजरलैण्ड व इगलैण्ड मे जीवन्स (Jevons) । यह लोग एक ही समय के थे । फलस्वरूप उपयोगिता के सिद्धात पर अर्थशास्त्र मे एक नई विचारधारा की स्थापना हुई । उनके विचार बिल्कुल नवीन तो नही थे, पर उन्होने अपने विचारो को अधिक विस्तारपूर्वक लोगो के सामने रक्खा, और परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी योरुप मे उनका अपना विशिष्ट व महत्वपूर्ण स्थान बन गया ।

"अन्तिम उपयोगिता" (जो बाद मे सीमान्त उपयोगिता के नाम से विख्यात हुई) के आधार पर जीवन्स ने अपने विनिमय के सिद्धात का प्रतिपादन किया । उनका निष्कर्ष यह था : "किन्ही दो वस्तुओ की विनिमय दर उन वस्तुओ की उन मात्राओं की उपयोगिता के अनुपात मे होगी, जो विनिमय के उपरात उपभोग के लिये प्राप्त हो सकती है ।" इससे उसका आशय था कि मूल्य सीमान्त उपयोगिता के अनुकूल होता है ।

१८९० के बाद एक पीढी तक इगलैन्ड के आर्थिक विचारो पर मार्शल का प्रभाव रहा और फलस्वरूप उस देश मे जीवन्स का सीमान्त उपयोगिता सिद्धात अधिक महत्व न पा सका । मार्शल ने अपने सिद्धात मे माग के सम्बन्ध मे जीवन्स के विचार का तथा उत्पत्ति अथवा पूर्ति के सम्बन्ध मे मिल के सिद्धान्त का अनुकरण किया । इस प्रकार उन्होने मूल्य के एक नवीन सिद्धात को जन्म दिया, जिसमे उन्होने एक कैची के दो फालो का उदाहरण दिया ।

योरुप मे जीवन्स के समकालीन मेंजर व वालरस का बडा प्रभाव था । इनके बाद बाम बावर्क (Bohm Bawerk) व वीजर (Weiser) हुए । अर्थशास्त्रियो का यह समूह "आस्ट्रियन स्कूल" के नाम से विख्यात है ।

वीज़र ने वैकल्पिक अवसर अथवा हस्तातरण-लागत के एक नवीन सिद्धात का प्रतिपादन किया । उनका विश्वास था कि केवल श्रम व सयम के कारण उठाये गये कष्ट ही से लागत का अनुमान नही होता, बल्कि उपयोगिताओं व सुखो का त्याग भी लागत में सम्मिलित है । इस प्रकार उन्होने उपयोगिता के रूप मे लागत का विचार किया और हमारे सन्मुख मूल्य का एकात्मक रूप रक्खा, जो मार्शल के दोहरे विचार से भिन्न था । इस सिद्धात के महत्व का अध्ययन मूल्य के सिद्धात मे किया जा चुका है । (भाग २)

११. मूल्य का सीमान्त-उपयोगिता सिद्धात (Marginal Utility Theory of Value)—मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धांत के अनुसार सीमान्त उपयोगिता द्वारा वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है । दूसरे शब्दों मे वस्तु की न्यूनता से सम्बन्धित माग ही मूल्य निर्धारित करती है । उत्पादन लागत का एकमात्र कार्य वस्तु की न्यूनता निर्धारित करना है । महत्वपूर्ण बात तो वस्तु की न्यूनता ही है, चाहे उसके कारण कुछ भी हों । अस्तु, चाहे वस्तु पुनरुत्पादन के योग्य हो अथवा नही, चाहे उसकी न्यूनता का कोई भी कारण क्यों न हो (वस्तु की स्थिर मात्रा अथवा उत्पादन के साधनों की

न्यूनता के कारण उसके उत्पादन मे कठिनाइया) मूल्य का निर्धारण वही सिद्धात करेगा। पर चूकि बढे हुए भाव, बढी हुई माग कीमत का ही दूसरा रूप है, इसलिये माग कीमत या उपभोक्ताओ की सीमात उपयोगिता (जिस पर कि यह मूल्य निर्भर है) ही मूल्य निर्धारित करती है। यह मूल्य की एकात्मक व्याख्या है।

उपर्युक्त बातो से ऐसा प्रतीत होता है कि मूल्य के इस सिद्धांत मे व उत्पादन लागत के सिद्धान मे बहुत थोडा अन्तर है, क्योकि उत्पादन लागत सिद्धात को मानने वाले भी यह कहते है कि उत्पादन-लागत पूर्ति निर्धारित करती है, जिससे कीमत निश्चित होती है। पर वास्तव मे दोनो सिद्धात एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान के अनुसार उत्पादन-लागत पर मूल्य निर्भर नही होता। यह अवश्य है कि उत्पादन-लागत न्यूनता पर प्रभाव डालती है, किन्तु वह भी प्रमुख रूप से नही। न्यूनता तो एक सापेक्ष शब्द है। कोई वस्तु अपनी माग के अनुसार न्यून होती है। उदाहरण के लिये न्यून वस्तुओ की कमी का कारण उनकी उत्पादन-लागत नही होती। इसलिये उत्पादन-लागत नही बल्कि परस्पर प्रतियोगी मागे, मूल्य निश्चित करती है। इन मागो के अनुसार वस्तुओ की पूर्ति व लागत अपने आप को व्यवस्थित कर लेती है। वैकल्पिको के त्याग के रूप मे ही लागत, जिन्हे अवसर, वैकल्पिक तथा हस्तातरण लागत भी कहते है, कीमत व मूल्य पर कुछ प्रभाव डालती है। दीर्घ-काल मे माग मे उपक्रमी के वह सब व्यय सम्मिलित हो जाते है, जो उत्पादन के विभिन्न साधनो को इकट्ठा करने मे उसे करने पडते है। इसलिये लागत का यह सिद्धात उपयोगिता पर आश्रित है।

यही कारण है कि वर्तमान रूप मे सीमान्त उपयोगिता सिद्धात 'एकात्मक' कहलाता है और यह मार्शल की मूल्य की दुहरी व्याख्या से भिन्न है। मार्शल का विश्वास था कि उपयोगिता व लागत दो स्वतत्र वर्ग होते है जो मूल्य के निर्धारण मे समान रूप मे सहयोग देते है। उनके महत्व की मात्रा समय के अनुसार घटती-बढती रहती है। पर एकात्मक व्याख्या की उत्पादन-लागत भी उपयोगिता का ही एक अग है, इसलिये वह स्वतत्र वर्ग नही मानी जा सकती। और चूकि लागत वैकल्पिक उपयोगिता प्रकट करती है, इसलिये पूर्ति व माग दोनों ही उपयोगिता पर निर्भर होती है।[1]

पर आस्ट्रियन स्कूल व उसके समर्थको ने जिनमे मुख्य अर्थशास्त्री विकस्टीड (Wicksteed) है पूर्ति व माग की शक्तियो के समीकरण को और भी बढा दिया है। विकस्टीड[2] ने यह प्रमाणित किया है कि बाजार मे ग्राहक व विक्रेताओ के मस्तिष्क मे काम करने वाली शक्तियों मे कोई विशेष अन्तर नही होता। जब निश्चित कीमत, जिसे क्रेता की सुरक्षित कीमत (Seller's Reserve Price) कहा जाता है, गिर जाती है तो विक्रेता वस्तु को बाजार से हटा लेता है। ऐसी परिस्थिति में वह

१. Whittaker—A History of Economic Ideas, p. 468.

२. Wicksteed—Commonsense of Political Economy, Vol. II Ch. 4.

ग्राहक की हैसियत मे दिखाई देता है। दूसरे शब्दो में कीमत के एक विशेष स्तर पर पहुंच जाने पर वह स्वयं एक तरह से अपनी वस्तु को क्रय करना प्रारम्भ कर देता है। ब्रिग्ज (Briggs) व जारडन (Jordan) के शब्दो में "नीलाम के समय इस प्रकार के सब विक्रेता, जिन्हे लोग नही पहचानते थे, कीमते बढाने के निमित्त प्रतियोगिता में सम्मिलित हो जाते थे।" [१]

आजकल सीमान्त उपयोगिता सिद्धात मूल्य का सर्वमान्य सिद्धात है। यद्यपि इसको सर्वप्रथम जीवन्स व योरुप के कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो—आस्ट्रियन मत के विजर, बामबावर्क तथा मेजर सरीखे अर्थशास्त्रियो, ने १९वी शताब्दी के अन्त मे प्रतिपादित किया था, पर वास्तव मे विक्स्टीड,[२] विक्सेल[३] (Wicksell) डेवनपोर्ट[४] (Davenport), कैसेल[५] (Cassel) आदि ने ही इसको वर्त्तमान रूप दिया है।

निम्नलिखित शब्दो मे इस सिद्धात का सार दिया जा सकता है :—

"पूर्ति से सबधित माग ही किसी वस्तु की एक समय मे कीमत निर्धारित करती है। दूसरे शब्दो मे, किसी वस्तु की कीमत उस वस्तु की प्राप्त मात्रा की उपभोक्ताओ के लिए सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होती है। यह सीमान्त उपयोगिता वह कीमत प्रकट करती है जिस पर उस वस्तु की पूर्ति का विक्रय हो सकता है। पूर्ण व स्वतन्त्र प्रतियोगिता मे पुनरुत्पादन के योग्य वस्तुओ का सामान्य अथवा दीर्घकालिक मूल्य सीमान्त उत्पादन-लागत के बराबर हो जाता है, और कीमत सदैव उस स्थान पर साम्य की ओर झुकती है, जहा मुद्रा के रूप मे सीमान्त उपयोगिता उत्पादन के सीमान्त व्यय के बराबर होती है।" [६]

सीमान्त उपयोगिता का सिद्धात मूल्य का सर्वमान्य सिद्धात इसलिये है कि :—

(अ) यह हर समय के मूल्य की व्याख्या करता है, चाहे वह समय थोडा हो या अधिक।

(ब) माग अथवा पूर्ति या दोनो मे होने वाले परिवर्तनो के कारण मूल्य मे जो परिवर्तन होते रहते है, उनका स्पष्टीकरण यह सिद्धात करता है।

(स) "न्यून, खराब, अपूर्ण अथवा नष्ट वस्तुओ के मूल्य की एकमात्र सतोषजनक व्याख्या इसी सिद्धात मे मिलती है। ऐसी वस्तुओ के मूल्य का कोई सबध उत्पादन-लागत से नही होता। यह सिद्धात पानी, धूप आदि ऐसी वस्तुओ के मूल्य का भी स्पष्टीकरण करता है, जो अत्यधिक उपयोगी होते हुए भी विशेष मूल्यवान नही होती।"

---

१. Briggs & Jordan—Text Book of Economics.
२. Commonsense of Political Economy.
३. Lectures on Political Economy.
४. Economics of Enterprize
५. Theory of Social Economy.
६. Thomas—Elements of Economics, 1939, p. 178.

फ्रेज़र (Fraser) ने मूल्य के सिद्धांत की आधुनिक व्याख्या उपेक्षा-अनुपात तथा विनिमय अनुपात के व्यवहार मे इस प्रकार की है :

"अनेक वस्तुओं में एक व्यक्तिगत चयन दो अनुपातो : उपेक्षा-अनुपात, जो उसके लिये वस्तु का सबधी चाह-मूल्य बताती है, तथा विनिमय अथवा लागत-अनुपात जो उनके विनिमय मूल्य अथवा स्थानान्तरित लागत बताती है, पर निर्भर है । घटती उपयोगिता सिद्धात के अनुसार जितनी ही अधिक किसी वस्तु की मात्रा उसके पास बढती जायगी, उस वस्तु की चाह-मूल्य गिरती जायेगी, और कम रहने पर बढती जायेगी । परन्तु जब तक उपेक्षा-अनुपात विनिमय-अनुपात से भिन्न है उसके लिये यह अच्छा होगा कि विनिमय-अनुपात के व्यवहार मे अपने चाह-मूल्य मे सस्ते वस्तु का विनिमय अपनी चाह-मूल्य से महगे वस्तु से कर ले । इस प्रकार वह पहली वस्तु का चाह-मूल्य घटायेगा तथा दूसरी का बढ़ायेगा, जब तक कि उपेक्षा-अनुपात और विनिमय-अनुपात बराबर न हो जायेगे ।"[१]

१२. उत्पत्ति के नियमों का मूल्य पर प्रभाव (The Influence of the Laws of Returns on Value)--यह देखा जा चुका है कि किसी निश्चित समय मे मूल्य माग व पूर्ति के सबध मे निर्धारित होता है, पर दीर्घकाल मे इसकी प्रवृत्ति, उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होने की होती है । उत्पत्ति के नियम उत्पादन-लागत पर और फलस्वरूप दीर्घकाल मे मूल्य पर प्रभाव डालते है । अब देखना यह है कि उत्पत्ति के इन तीनो नियमो का मूल्य पर क्या प्रभाव पडता है ।

(१) **क्रमागत ह्रास नियम** (Law of Diminishing Returns)--यदि किसी उद्योग मे इस नियम का प्रभाव हो तो जितना भी अधिक उत्पादन होगा, प्रति इकाई व्यय उतना ही अधिक होगा । इसके प्रतिकूल उत्पादन जितना ही कम होगा, व्यय भी उतना ही कम हो जायगा । यदि वस्तु की माग बढ जाती है, तो मूल्य भी बढेगा और इससे पूर्ति मे वृद्धि होगी । पर अतिरेक पूर्ति प्राप्त करने में औसत लागत बढ जायगी और इसलिये मूल्य बढे ही रहेगे । यदि माग गिर जायगी तो उत्पादन में भी कमी हो जायगी । पर, क्योकि घटती उत्पत्ति नियम के अनुसार कम उत्पादन से व्यय मे भी कमी हो जाती है, इसलिये मूल्य गिरने लगेंगे । अतएव ऐसी परिस्थिति मे पूर्ति के अनुसार मूल्य मे परिवर्त्तन होते रहते है । जितनी ही अधिक पूर्ति होगी उतना ही अधिक मूल्य भी होगा । प्रतिकूल दशा मे मूल्य गिर जायेगे ।

(२) **क्रमागत वृद्धि नियम** (Law of Increasing Returns)--पर यदि उद्योग वृद्धि उत्पत्ति नियम के प्रभाव में है, तो अतिरेक उत्पादन अनुपात से कम लागत पर प्राप्त होगा । ऐसी दशा मे माग बढ़ जायगी तो पूर्ति कम लागत पर प्राप्त

१ Fraser, L. M —Economic Thought and Language, 1947—pp. 108-109.

हो सकेगी। फलस्वरूप मूल्य गिर जायेंगे। माग के बढने से मूल्य में वृद्धि अवश्य होगी पर दीर्घ-काल में जब पूर्ति भी बढ जायगी तब अन्त में मूल्य में कमी हो जायगी। पर यदि माग कम हो जाती है, तो उत्पादन में भी कमी होगी, और वर्धी-प्रत्याय नियम में इसका परिणाम यह होगा कि औसत लागत बढ जायगी। अस्तु, इस दशा में मूल्य में पूर्ति के विपरीत परिवर्तन होता रहता है, अर्थात् अधिक पूर्ति पर कम मूल्य और कम पूर्ति पर अधिक मूल्य होगा।

३. **स्थिर उत्पत्ति नियम** (Law of Constant Returns)—स्थिर उत्पत्ति नियम की दशा मे उत्पादन के हर परिमाण मे लागत स्थिर रहती है। इसलिये यदि माग मे घटने-बढ़ने के कारण पूर्ति मे वृद्धि अथवा कमी करनी पड़ती है, तो उसका कोई प्रभाव कीमत पर नही पड़ता।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि उत्पत्ति के इन नियमों का प्रभाव केवल दीर्घ-काल मे ही होता है। या इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि उत्पत्ति के नियम सामान्य मूल्य को प्रभावित करते है, प्रचलित मूल्य को नही।

निर्देश पुस्तकें

Adam Smith—Wealth of Nations.

Ricardo—Principles of Political Economy and Taxation.

Jevons—The Theory of Political Economy. P. 95 onwards.

Davenport— The Economics af Enterprize, P. 61 onwards. / Theory of Enterprize.

Wicksteed—Commonsense of Political Economy.

Cassell—Theory of Social Economy.

Henderson, H. D.—Supply and Demand 1932—P. 166.

Meyers, A. L.—Elements of Modern Economics 1951, P. 149.—152 (for opportunity cost)

Fraser, L.M.—Economic Thought and Language. 1947-Ch.VII.

अध्याय २३

परस्पर निर्भर मूल्य

(INTER RELATED VALUES)

१. भूमिका—सुविधा के विचार से अभी तक हमने केवल वस्तु-विशेष के मूल्य का ही अध्ययन किया है। पर वास्तविक जगत् में बहुत कम वस्तुएं ऐसी होती है, जिनका सबंध किसी दूसरी वस्तु से नही होता, चाहे हम उत्पादक के दृष्टिकोण अथवा उपभोक्ता के दृष्टिकोण से देखे। साधारणतया, किसी विशेष वस्तु के लिये हमारी मांग का संबध प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उन वस्तुओ की मागों से होता है, जिनका हम उपभोग करते है। इसका कारण केवल यही नही है कि दूध, चाय व शक्कर की भाति कुछ वस्तुओ की माँग सयुक्त होती है या चाय अथवा कहवे की भाति कुछ वस्तुएं एक दूसरे की स्थानापन्न बन सकती है, परन्तु इसलिये कि हमारी आय सीमित होती है। यदि किसी एक वस्तु पर हम अधिक व्यय कर देते है, तो दूसरी वस्तुओ पर हम कम व्यय कर सकेगे। अस्तु, यदि गेहू का भाव गिर जाय, तो हम दूध पर अधिक व्यय कर सकेगे, तथा प्रतिक्रम भी। इस प्रकार विभिन्न मागें परस्पर सबधित हो जाती है। इसलिये किसी एकाकी वस्तु की माग के बजाय मागो की एक प्रणाली का वर्णन अधिक ठीक होगा। हमारी एक वस्तु की माग की अनुसूची विभिन्न वस्तुओ के लिये हमारी मागो की अनुसूचियो पर निर्भर होती है।

इसी प्रकार पूर्ति भी परस्पर संबधित होती है। कुछ वस्तुओ का उत्पादन सदैव संयुक्त होता है, और कुछ वस्तुओ की पूर्ति के साधन वैकल्पिक होते है। परन्तु साधारणतया विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन के साधन माग के अनुसार कम होते है और इसलिये उन वस्तुओ की पूर्ति भी परस्पर सबधित होती है। उदाहरण के लिये, यदि गेहूं की पैदावार करने के लिये अधिक भूमि प्रयोग की जाने लगे, तो दूसरी वस्तुओ की पैदावार के लिये भूमि कम रह जायगी। ठीक यही बात कुछ हेर-फेर के साथ श्रम शक्ति व पूजी के साधनो के साथ भी लागू होती है।

जहां तक पूर्ति का प्रश्न है, पूर्ति या तो सयुक्त होती है अथवा संग्रथित। इसी प्रकार मांग भी संयुक्त या संग्रथित होती है। इन पदों का अध्ययन पिछले अध्याय मे कर चुके है। अब हम यह देखेगे कि इस प्रकार की वस्तुओ की कीमत किस प्रकार निर्धारित होती है।

२. संयुक्त पूर्ति में मूल्य (Value in Joint Supply)—यदि दो या दो से अधिक वस्तुओं का उत्पादन साथ-साथ होता है, तो उनकी पूर्ति संयुक्त मानी जाती है अथवा उसे संयुक्त उत्पादन कहते है। उदाहरण के लिये, गोश्त के साथ-साथ

ऊन का भी उत्पादन होता है। यही बात गेहू व भूसा; कपास व बिनौला; कोयला व गैस के साथ भी है। अब प्रश्न यह है कि इन मे से हर वस्तु की कीमत का निर्धारण किस भाति होता है।

सयुक्त उत्पादन की वस्तुओ की व्याख्या के लिये मूल्य के सिद्धात मे किसी प्रकार के रूपान्तर की आवश्यकता नही है। हर वस्तु की पूर्ति व माग का साम्य उसका बाजार भाव निर्धारित करता है। जहा तक सामान्य मूल्य का सबध है, वहा सयुक्त उत्पादन की वस्तुओ की कीमतो के योग मे उन सब के उत्पादन की सीमान्त लागत पूरी हो जानी चाहिए।

पर इस प्रकार की वस्तुओ के उत्पादन की अलग-अलग सीमान्त लागत मालूम करना बहुत कठिन है। ऐसी स्थिति मे दो बाते होती है—(१) वे दोनो वस्तुए (यदि वे दो हो तो) एक ही अनुपात मे भी बनती है, और (२) उनके अनुपात मे भिन्नता भी हो सकती है। पहली परिस्थिति मे तो एक वस्तु के मूल्य के तनिक भी बढने से दूसरे की कीमत तुरन्त गिरने लगेगी। पर शर्त यह है कि दूसरी वस्तु की माग मे कोई परिवर्तन न हुआ हो। दूसरी परिस्थिति मे, क्योकि अनुपात मे भिन्नता होती है, इसलिये एक वस्तु की कीमत मे किसी प्रकार की वृद्धि से दूसरी वस्तु की कीमत मे उसी मात्रा मे कमी नही होगी, जिस मात्रा मे कि प्रथम उदाहरण मे हुई थी।

उदाहरण के लिये, मास व ऊन को ले लीजिये, जो भेड के सयुक्त उत्पादन है। यदि ऊन की माग बढ जाय, तो उसकी कीमत मे वृद्धि हो जायगी और ऊन का उत्पादन अधिक लाभदायक बन जायगा। फलस्वरूप ऊन के लिये अधिक भेडे पाली जायेगी जिससे भेड के मास की पूर्ति बढ जायगी। यदि मास की माग मे कोई वृद्धि नही हुई है तो स्वभावतया उसका मूल्य गिर जायगा। पर यदि किसी प्रकार ऐसी भेडे प्राप्त हो जाती है, जिनसे मास की अपेक्षा ऊन का उत्पादन अधिक हो सकता है तो ऊन की पूर्ति मास की पूर्ति से अधिक मात्रा मे बढाना अधिक सरल हो जायगा। ऐसी दशा मे मास के दाम उतने नही गिरेगे, जितने कि पहले उदाहरण मे गिर गये थे।

आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैंड मे भेडो की उत्पत्ति मे इस प्रकार के परिवर्त्तन सचमुच किये गये थे। कोल्ड स्टोरेज के चलन के पूर्व निर्यात के लिये ऊन की माग अधिक थी और मास को देश मे ही बेचना पडता था। इसलिये आस्ट्रेलियन किसान "मैरिनो" जाति की भेडो का जिनमे मास की अपेक्षा ऊन अधिक पैदा होती थी, उत्पन्न करने पर अधिक ध्यान देने लगे। बाद मे कोल्ड स्टोरेज के कारण जब मास का विदेशो मे निर्यात सुगम हो गया, तब वहा के किसान इसके विपरीत नीति बरतने लगे। मैरिनो भेडो के बजाय ऐसी भेडो का पालन बढ गया जिनमे अधिक मास तथा कम ऊन होती थी।

कुछ परिस्थितियों मे किसी सयुक्त उत्पादन की वस्तु के विभिन्न समूहो की तुलना कर के वस्तु की सीमान्त उत्पादन-लागत का अनुमान लगाया जा सकता है।

मान लीजिये कि एक विशेष प्रकार की जाति की भेड के किसी समूह से एक निश्चित परिमाण में मास प्राप्त होता है और एक दूसरी जाति के अधिक बडे समूह से, जिससे मास की अपेक्षा ऊन अधिक निकलती है, अधिक मांस प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। अब इस अतिरेक व्यय से, जो अधिक भेडे पालन में किया जाता है, उससे अधिक ऊन प्राप्त की जा सकेगी। यही ऊन की सीमान्त लागत होगी। इस प्रकार मास की भी सीमान्त लागत का हिसाब लगाया जा सकता है।[1] जब वस्तुओं सीमान्त लागत का अनुमान पृथक् रूप से लगाया जा सकता है, तो उनकी कीमत का निर्धारण भी पृथक् रूप से होगा क्योकि ऐसी दशा मे इन वस्तुओ को पृथक् मान लिया जाता है।

साराश यह है कि वस्तुओ के मूल्य हर परिस्थिति में ऐसे होते है कि उनका उपभोग उसी अनुपात में होना है जिसमे उनका उत्पादन हुआ था। वास्तव मे आवश्यक व्यवस्था होने के लिये पर्याप्त समय मिलने के बाद वस्तुओ की कीमत ऐसी होनी चाहिये कि उनके उत्पादन की सीमान्त लागत पूरी हो जाय।[2]

सयुक्त उत्पादन वर्तमान काल का क्रिया विधान है। आजकल औद्योगिक विधि इतनी विकसित है कि बहुत कम वस्तुए ऐसी है, जिनका उत्पादन पृथक् रूप से होता है। इसलिये अर्थशास्त्र के अध्ययन मे सयुक्त उत्पादन का बडा महत्व है। वह उपोत्पाद (By-Products) जो पूर्वकाल मे फेक दिये जाते थे, अब व्यापारिक कार्यो मे प्रयुक्त हो रहे है। वर्तमान कारखाने विभिन्न प्रकार की वस्तुए तैयार करते है। सूती कपडे की मिल मे शर्टिग, सूटिग, नेटिग, तौलिया, साडी आदि बनती है। लोहे और इस्पात के कारखाने कृषि-सबधी औजार, यन्त्र-शास्त्र के औजार व निर्माण-सबधी दूसरे पदार्थो, ढिबरियो का उत्पादन करते है। शक्कर की मिल शक्कर के अतिरिक्त शक्कर क्यूब, शीरा, मद्य व मिठाइया भी बनाती है। कागज के मिल मे हर प्रकार का कागज उत्पादन होता है। पेकिग का कागज, ड्राइग कागज, सोखता, अखबार का कागज व लेख-पत्र आदि बनते है। यह सब सयुक्त उत्पादन के उदाहरण है। यद्यपि उत्पादन लागत सयुक्त है पर उत्पादित वस्तुए अनेक होती है, और हर प्रकार की वस्तु की पृथक् उत्पादन लागत का अनुमान लगाना सभव नही है। इसलिये इन वस्तुओ की कीमत सयुक्त पूर्ति के आधार पर निश्चित होती है।

सयुक्त उत्पादित वस्तुओ मे लागत के बंटवारे की तीन रीतिया है :—

(१) गणना रीति (The Accounting Method)

(२) सांख्यिकीय रीति (The Statistical Method)—दिन प्रति दिन तथा माह प्रति माह कि अस्थिरता का विश्लेषण; तथा

१—Henderson : Supply and Demand, Pp. 68-69.

२. सयुक्त पूर्ति व सयुक्त माग के चित्रो के लिये देखिय
Chapman . Outlines of Political Economy, p 174.

(३) प्रवर्तक की रीति (The Operator's Method) —निग्रहित अथवा कल्पित प्रयोग की रीति।

३. सयुक्त मांग मे मूल्य (Value in Joint Demand)—परस्पर सबधित माग दो प्रकार के संबध प्रस्तुत करती है : (१) पूरक (Complimentary) तथा (२) स्थानापन्न (Substitute) । इनमें भी भेद की कई श्रेणिया है। कुछ वस्तुए पूर्णतया पूरक तथा स्थानापन्न होती है, जब कि दूसरी बहुत कम पूरक तथा स्थानापन्न होती है। अब हम पहले पूरक सबध का अध्ययन करेंगे। जिन वस्तुओ की माँग साथ-साथ होती है, उनको माँग को सयुक्त माँग कहते है । मोटरकार व पैट्रोल, कलम व स्याही, टैनिस बाल व रैकट आदि सयुक्त मागें है। इस सबध मे व्युत्पन्न माग (Derived Demand) के उदाहरण बहुत महत्वपूर्ण है। व्युत्पन्न माग उन पदार्थो व सेवाओं की होती है जिनके द्वारा वस्तु का उत्पादन होता है। ऐसे पदार्थो की माग उत्पादित वस्तु के कारण होती है। उदाहरणार्थ, मकान बनाने के लिये आवश्यक विभिन्न पदार्थ तथा साधन, जैसे ईट, सीमेट, लोहा, लकडी आदि की माग "संयुक्त माग" है। उनकी माग व्युत्पन्न भी है क्योकि इस माग का कारण मकान है, जिसका निर्माण हो रहा है।

कठिनाई यह है कि इस प्रकार की वस्तुए माग की ओर से परस्पर सबधित अवश्य है, पर जहा तक पूर्ति का सबध है उनमे से प्रत्येक की परिस्थितिया भिन्न हो सकती है। इसलिये चाहे उनकी सीमान्त उत्पादन लागत का पता लगाना आसान भले ही हो, पर उनकी सीमान्त उपयोगिता को पृथक करना बडा कठिन है। अब प्रश्न यह है कि ऐसी वस्तुओ का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ।

जब दो वस्तुएं पूरक होती है, जैसे फाउन्टेनपेन तथा स्याही, तो एक वस्तु (फाउन्टेनपेन) की मांग मे वृद्धि दूसरी (स्याही) की माग भी बढा देगी। यदि एक की भी कीमत घट जाएगी तो दोनो की माग मे वृद्धि हो जायेगी । इसके अर्थ यह है कि यदि फाउन्टेनपेन की कीमत घट जाती है तो स्याही की कीमत बढ जायेगी क्योकि उसकी माग भी बढ जायेगी । इन कीमतो के बदलने की सीमा फाउन्टेनपेन की मांग तथा स्याही की पूर्ति की लोच पर निर्भर होगी। यह दोनो वस्तुओ के क्रय के अनुपात की अस्थिरता पर भी निर्भर होगी।

यह बात इस उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिये कि मकानो की मांग अचानक बढ जाने से उनके मूल्य बढ जाते है। मकानों की कीमतों मे यह वृद्धि उनमे प्रयोग होने वाले पदार्थो की कीमत पर क्या प्रभाव डालेगी ? इसका तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि मकान बनाने मे प्रयोग होने वाले विभिन्न पदार्थो की माग बढ जायगी इससे उनकी कीमत मे वृद्धि होगी । पर उनमे से प्रत्येक की कीमत की वृद्धि की मात्रा समान नही होगी क्योंकि प्रत्येक की पूर्ति की परिस्थितिया विभिन्न है। और यह भी

संभव है कि उनके प्रयोग के अनुपात में परिवर्त्तन करके उनकी मांग को घटाया या बढ़ाया जा सकता है। इसलिये प्रत्येक की कीमत में वृद्धि को निर्धारित करने में बहुत सी परिस्थितियां काम करेंगी। इनमें से मुख्य माग की लोच व न्यूनता की मात्रा है। अस्तु —

(अ) यदि अन्य बातें समान हों तो जो वस्तु अधिक न्यून होगी, उसकी कीमत में वृद्धि होगी।

(ब) यदि कुछ वस्तुओ की कीमत बहुत अधिक बढ जाये तो उनके प्रयोग के अनुपात को कम किया जा सकता है। ऐसी दशा में कीमत की यह वृद्धि कुछ हद तक रोकी जा सकती है। कुछ वस्तुओं के सस्ते स्थानापन्न मिल जाते है, जिनसे उनकी कीमत अधिक नही बढ़ पाती।

(स) यह भी हो सकता है कि मकान के कुछ पदार्थ वैकल्पिक प्रयोगो में अधिक लाभदायक हों, और इसलिये यदि मकान मालिक उनकी अत्यधिक कीमत न दें तो ऐसी दशा में उनको दूसरे प्रयोगों में लाया जायगा और कीमतें अप्रत्याशित रूप से बढ़ जायेगी।

(द) यदि किसी पदार्थ की लागत उत्पादित वस्तु की लागत से बहुत कम अनुपात मे हो, तो उसकी कीमत अधिक बढ सकती है, क्योंकि इससे वस्तु की कीमत व फलस्वरूप उसकी माग पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ेगा। यदि किसी अश की कीमत (जैसे श्रम) मकान की लागत के अत्यधिक भाग के बराबर होगी, तो उसकी कीमत अधिक नही बढ़ सकती, क्योंकि इससे मकान की कीमत बढ जायगी व फलस्वरूप उनकी माग कम हो जायगी। माग की कमी कीमत को फिर गिरा देगी और इसका प्रभाव उस पदार्थ पर, जिसकी कीमत अचानक बढ़ गयी थी, उल्टा पडेगा।

इसलिए, इस प्रकार की सभी वस्तुओं की कीमत उस वस्तु की, जिसके उत्पादन में इनका प्रयोग होता है, सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होती है। दीर्घकाल में हर वस्तु का उपयोग इतनी मात्रा में होना चाहिये कि उसकी कीमत और उसकी सीमान्त उत्पादन-लागत समान हो जाय। अधिकतर उनमें से प्रत्येक की व्यक्तिगत रूप से सीमान्त उपयोगिता पृथक् करना सम्भव नहीं होता।

कुछ परिस्थितियों में संयुक्त माग वाली किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता का अनुमान इस प्रकार लगाया जा सकता है कि उसके ऐसे प्रयोग वाले दो उपयोग लिये जायें, जिनमें उसके परिमाण का प्रयोग भिन्न अनुपातों में होता हो और दूसरी वस्तुओं का अनुपात स्थिर हो। हेन्डरसन (Henderson) के शब्दो मे "हम उत्पत्ति के विभिन्न अशो के अनेक समूह ले सकते है और उनमें से ऐसे दो समूहों की तुलना कर सकते हैं जिनमें एक अंश की विभिन्न मात्रायें दूसरे अशो की समान मात्राओं के साथ प्रयोग की जा रही हों। ऐसी दशा मे वह अतिरेक उत्पादन, जो भिन्न अनुपात

वाले अंश के उस प्रयोग से हुआ, जिसमें उसकी अधिक मात्रा लगी थी, उस अंश की अतिरेक मात्रा का सीमान्त उत्पादन (सीमान्त उपयोगिता) समझा जायगा। हम कह सकते है कि इस अंश का प्रयोग उस बिन्दु तक बढता जायगा जहां पर कि यह सीमान्त उत्पादन उसकी कीमत के लगभग बराबर होगा।"[१]

इससे यह स्पष्ट है कि सीमान्त उपयोगिता व कीमत का साधारणतया उत्पत्ति के साधनों तथा उन वस्तुओ में जिनकी मांग उपभोक्ता प्रत्यक्ष रूप से करते है, यह संबंध सदैव एकसा रहता है। भूमि के लगान, श्रम की मजदूरी व पूजी के लाभ की प्रवृत्ति अपनी (व्युत्पन्न) सीमान्त उपयोगिताओं के समान होने की होती है। इसका विस्तृत वर्णन वितरण के अध्याय मे, जो मूल्य के सिद्धांत का विस्तार-मात्र है, होगा।

सारांश यह है कि उत्पादित वस्तु की कीमत किसी निश्चित समय में उसकी पूर्ति से सम्बन्धित माँग पर निर्भर करती है, पर दीर्घकाल में इसका मूल्य इस प्रकार व्यवस्थित हो जाना चाहिये कि जिससे इसके उत्पादन में प्रयुक्त विभिन्न अंशों की कीमतें पूरी हो जायें।

स्थानापन्न वस्तुए जैसे चाय तथा काफी मे एक की कीमत मे वृद्धि से दूसरे की माग बढ जायगी। फलस्वरूप दूसरे की कीमत भी बढ़ जायगी। कीमत के गिरने से उल्टा प्रभाव पडेगा। मिश्रित लोच का सामान्य विचार इस संबध को बताने का मार्ग-दर्शक है। स्थानापन्न वस्तुओं के संबध में मिश्रित लोच निम्नलिखित नियम से जानी जा सकती है :—

$$\text{मि. लो} = \frac{\text{च की मात्रा मे सम्बन्धित परिवर्त्तन}}{\text{क की कीमत मे सम्बन्धित परिवर्त्तन}}$$

यहां मि. लो. = मिश्रित लोच, च = चाय तथा क = काफी

क्या कोई अग सयुक्त माँग में अपनी पूर्ति रोक कर पारिश्रमिक बढा सकता है ?

यदि उत्पादन का यह अश अत्यन्त आवश्यक हो तो इसका पारिश्रमिक अवश्य बढ़ जायगा क्योकि इसके बिना उत्पादन कार्य ही बन्द हो जायगा। उसकी पूर्ति का विरोध उत्पादन बन्द कर देगा। फलस्वरूप उत्पादित वस्तु जैसे (मकान) की कीमत में वृद्धि होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशा में यह कीमत दूसरे साधनों की लागत से अधिक हो जायगी। और इस अतिरेक लाभ में से ही निरोधित साधन (श्रमिकों का एक विशिष्ट समुदाय) को चुकाया जायगा। "मार्शल" ने इस व्युत्पन्न माग के नियम की व्याख्या इस प्रकार की है :—

" वह कीमत जो उत्पादित वस्तु के किसी साधन को दी जायगी, सदैव उस अन्तर तक सीमित रहेगी, जो कि उस कीमत में , जिस पर कि वस्तु का विक्रय हो सकता है

१. Supply and Demand op. cit. p. 70.

व उन कीमतों का योग, जिन पर दूसरे साधनों की पूर्ति होती है"[1] प्रयोग के लिये मिल सकती है।

कुछ परिस्थितियां ऐसी होती है, जिनमें श्रमिको का एक समूह अपनी पूर्ति रोक कर अपनी मजदूरी बढाने में सदैव सफल रहता है। वह परिस्थितिया यह है :—

(१) उत्पादित वस्तु (मकान) की मांग, जिसमे ऐसे मनुष्यों की सेवाएं प्रयोग मे लाई जाती है, लोचहीन होनी चाहियें। यदि ऐसा है तो उत्पादन कार्य रुकने के कारण वस्तु की कीमत बढ जायगी। परिणामस्वरूप उपक्रमी असंतुष्ट समूह को अधिक मजदूरी देने योग्य हो जायगा।

(२) ऐसे समूह की सेवाये अति आवश्यक हो तथा उनका स्थानापन्न न हो सके। यदि उनका काम अति आवश्यक न हुआ तो वह असहयोग की धमकी देकर मजदूरी नही बढ़वा सकेगे।

(३) यह भी आवश्यक है कि उनकी मजदूरी कुल मजदूरी का थोड़ा भाग हो। ऐसी दशा मे उपक्रमी उनकी माग को स्वीकार कर सकेगा क्योकि इससे उसकी लागत मे बहुत थोडा अन्तर पडेगा।

(४) साथ ही साथ दूसरे साधनों की माग लोचपूर्ण व पूर्ति लोचहीन हो, जिससे कि माग में तनिक रुकावट भी उसकी पूर्ति की कीमत को गिरा दे। इससे असहयोगी अंश अपना पारिश्रमिक बढा सकेगा।

४. संग्रथित पूर्त्ति में मूल्य (Value in Composite Supply)—जिन वस्तुओ की पूर्ति कई वैकल्पिक साधनों द्वारा हो सकती है, उनकी पूर्ति को 'संग्रथित पूर्ति' कहते है, क्योकि उनकी पूर्ति का निर्माण विभिन्न साधनों से प्राप्त पूर्ति द्वारा होता है। उदाहरण के लिये नमक खानों से भी प्राप्त हो सकता है और समुद्र के पानी से भी सुखाकर बनाया जा सकता है। पर इसके सबसे अच्छे उदाहरण स्थानापन्न वस्तुएं है। स्थानापन्न वस्तुओं को एक ही प्रकार की वस्तु माना जा सकता है क्योकि उनसे उसी आवश्यकता की सतुष्टि होती है। पर उनके इस कार्य मे सहयोग नही बल्कि प्रतिद्वन्द्विता होती है। अधिक विस्तृत रूप से देखा जाय तो हमें ज्ञात होगा कि उपभोक्ता की माग के अन्तर्गत सब वस्तुएं परस्पर प्रतियोगी होती है क्योकि वह एक वस्तु के बजाय किसी समय भी किसी दूसरी वस्तु का उपयोग कर सकता है। यहा हम पेय पदार्थो में केवल चाय, कहवा व दूध, खाद्य पदार्थो मे मास व मछली व अनाजो मे गेहूं व चावल जैसी स्थानापन्न वस्तुओ का ही अध्ययन अधिक ध्यान से करेगे।

कुछ सीमा तक यह वस्तुएं एक दूसरे की वास्तविक स्थानापन्न नही है और ऐसी दशा में हमारा सिद्धांत उन पर लागू नही होता। परन्तु उनमें से प्रत्येक की कीमत दूसरे की कीमत पर संबंधित है; वह साथ ही साथ घटती-बढती है। अस्तु, यदि गेहूं के दाम बढ

1. Marshall : Principles af Economics, 1936 op. 383.

जायेंगे तो लोग चावल या अन्य निम्न कोटि के अनाजों का उपभोग करने लगेंगे। फल-स्वरूप इन स्थानापन्न वस्तुओं की माग बढ़ जाने के कारण उनकी कीमत भी बढ जायेगी। इसके विपरीत गेहूं की कीमत मे कमी होने से स्थानापन्न वस्तुओ की माग गिर जायगी और परिणाम यह होगा कि उनकी कीमतो मे भी कमी हो जायगी। सब स्थानापन्न वस्तुओ की सम्मिलित पूर्ति उनकी सम्मिलित मांग के अनुसार प्रत्येक की कीमत निश्चित करेगी। पर जब तक वस्तुए पूर्णतया स्थानापन्न एक दूसरे की नही होगी, जिसका अर्थ एक ही वस्तु होना है तब तक उनकी कीमतो का समान होना आवश्यक नही है।

प्राय. वस्तुए पूर्णतया एक दूसरे की स्थानापन्न नही होती। उनकी कीमत एक दूसरे से लगभग एक स्थिर दूरी पर घटा या बढा करती है। इस प्रकार यद्यपि उन सबकी सीमान्त उपयोगिताएं समान नही होती, फिर भी उनमे साथ-साथ परिवर्तन होते रहते है। ऐसी वस्तुओं में से प्रत्येक की कीमत दीर्घकाल मे उस बिन्दु पर व्यवस्थित हो जाती है, जहा उसकी उत्पत्ति की सीमान्त लागत उपभोक्ताओ के लिये सीमान्त उपयोगिता के समान होती है।

५. संग्रथित माँग में मूल्य (Value in Composite Demand)—जिस वस्तु के एक से अधिक उपयोग होते है उसकी माग सग्रथित होती है। उसकी सम्मिलित माग का निर्माण उसके विभिन्न उपयोगो की माग से होना है। उदाहरण के लिए कोयले का प्रयोग रेलवे इजिन मे, कारखानो मे, कमरो को गरम करने मे तथा खाना पकाने मे भी होता है। गेहूं से चपातिया, डबल रोटी व मिठाइया भी बन सकती है। इन विभिन्न उपयोगो मे कोयले और गेहूं के मूल्य लगभग समान रहते है। उदाहरण के लिए, यदि रेलवे मे कोयले की माग बढ जाती है, तो तमाम कोयला रेलवे मे जाने लगेगा। परिणामस्वरूप दूसरे उपयोगो में उसकी पूर्ति कम हो जायगी जिससे उन प्रयोगो में भी उसकी कीमत बढ जायगी। इसलिये सग्रथित माग वाली वस्तुओ की कीमत विभिन्न प्रयोगो मे, उनकी सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती है। ऐसी वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता समान होती है क्योकि वस्तु एक प्रयोग से हटाकर दूसरे प्रयोग मे लाई जा सकती है। दीर्घकाल मे इनकी कीमत इतनी होनी चाहिये जिससे कि उनकी सीमान्त उत्पादन की लागत पूरी हो सके।

६. परस्पर सम्बन्धित मूल्य के अन्य उदाहरण (Other Cases of Inter-related Values)—परस्पर निर्भर मूल्य के अन्य उदाहरण उपर्युक्त उदाहरणो का विस्तार मात्र है। उदाहरण के लिये बहु उत्पादन की वस्तुओ का विचार सयुक्त उत्पादन के सिद्धात का विस्तृत रूप है। बहुत से उत्पादक नाना प्रकार की वस्तुएं बनाते है। यह भी संभव है कि किसी कारखाने में कई प्रकार की कले भी बनती हो और मरम्मत का भी काम होता हो। एक ही दूकान मे विभिन्न

प्रकार की वस्तुओं का तैयार होना वास्तव में सैद्धांतिक है। रेले जैसे यात्रियों व वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुचाने का काम करती है। ऐसी दशा मे विभिन्न कार्यो की सीमान्त लागत को पृथक् रूप से निश्चित करना असभव-सा है। इन सेवाओ या वस्तुओ की कीमत एक सिद्धात से निश्चित की जाती है; इसे सेवा की कीमत सिद्धांत कहते है (Value of Services Principle). दूसरा सिद्धात जिसे सेवा की लागत का सिद्धात कहते है, लागू नही होता, क्योकि सेवाओ की सही लागत का अनुमान लगाना कठिन होता है। इसी सिद्धात पर रेलो मे अधिक वेग के लिये, वस्तुओ के उठाने आदि मे असुविधा अथवा टूट-फूट के जोखिम के कारण किराये अधिक लिये जाते है। किराया यदि अप्रत्याशित रूप से अधिक होता है तो कोयले का ढोना लाभप्रद नही होता और यदि किराया बहुत कम है तो रेलो को इन सेवाओ के करने मे लाभ नही होगा। लोहे की अपेक्षा सोना किराये की अधिक ऊची दर का भार सह सकता है। इसलिये उसके आवागमन से प्राप्त लाभ कोयले के आवागमन से हुई क्षति को बडी सीमा तक पूरी कर देता है।

इसी प्रकार जिन प्रामाणिक वस्तुओ की कीमते समान होती है, तथा सरलता से जानी जा सकती है, उन पर फुटकर बिक्री की दुकाने अधिक लाभ नही लेती। पर इसकी कमी उन लाभो से पूरी हो जाती है जो विशेष प्रकार की व्यक्तिगत पसन्द की वस्तुओ के विक्रय से होते है।

निर्देश पुस्तके

Henderson—Supply & Demand
Stigler—Theory of Prices
Clark—Economics of Overhead costs.

अध्याय २४

एकाधिकार में मूल्य

(VALUE UNDER MONOPOLY)

१. भूमिका---पिछले तीन अध्यायो मे मूल्य अथवा कीमत का अध्ययन करते समय हमने यह मान लिया था कि ग्राहको व विक्रेताओ, दोनो के बीच पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है। पर इस अध्याय मे हम एकाधिकार की परिस्थितियो मे मूल्य का अध्ययन करेगे। विस्तृत अर्थ मे एकाधिकार शब्द का प्रयोग "पूर्ति अथवा माग किसी भी दृष्टि-कोण से किये गये वस्तु तथा सेवा की कीमत के नियन्त्रण" के लिये होता है। पर सकुचित रूप मे इसका आशय "व्यापारियो अथवा उत्पादको के उस सघ से होता है, जो वस्तुओं या सेवाओ की पूर्ति की कीमत को नियन्त्रण करता है।"[1] दूसरे प्रकार से हम कह सकते है कि एक फर्म एकाधिकार रखती हुई कही जा सकती है यदि उसकी उत्पत्ति की हुई वस्तुओ के लिये कोई प्रतियोगिता नही पाई जाती। पिछले एक अध्याय मे हम ऐसे सघ के तमाम रूपो का अध्ययन कर चुके है।

चूकि खरीदने वालो का एकाधिकार बहुत कम होता है, इसलिये हम विक्रेता के एकाधिकार का ही अध्ययन करेगे। प्रारम्भ मे समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम यह मान ले कि विक्रेता को पूर्ति पर पूर्ण एकाधिकार है। वास्तव मे तो पूर्ण एका-धिकार पूर्ण प्रतियोगिता की भाति दुर्लभ है। वास्तविक जीवन मे प्रतियोगिता की प्रत्येक मात्रा पाई जाती है। यह मात्रा पूर्ण एकाधिकार से पूर्ण प्रतियोगिता तक होती है। पर एकाधिकार के मूल्य सिद्धात को समझने के लिये आवश्यक है कि पूर्ण एकाधिकार को मान लिया जाय, जैसा कि हमने मूल्य सिद्धात को समझने के लिये पूर्ण प्रतियो-गिता मान ली थी। अगले अध्याय मे हम मध्यमवर्गीय प्रश्नो का अध्ययन करेगे, जो वास्तविक जीवन के अधिक निकट है। अध्ययन का मुख्य विषय "अपूर्ण प्रतियोगिता" अथवा "एकाधिकार पूर्ण प्रतियोगिता" होगा।

एकाधिकार का जन्म इन बातो से होता है--(अ) कानूनी अधिकार (जैसे पेटेन्ट), (ब) न्यूनता, (स) उत्पादको की एकाधिकार से लाभ उठाने की इच्छा। इन सब बातो का अध्ययन हम एक पिछले अध्याय में कर चुके है। यदि किसी वस्तु की माग सीमित है और कुछ थोडी फर्मे पूर्ति कर सकती है, तो नये उत्पादक लाभ न होने के डर से उस वस्तु का उत्पादन करना पसन्द नही करेगे। ऐसी दशा मे वर्तमान फर्म को उस वस्तु का एकाधिकार प्राप्त हो जायेगा।

---

[1] Thomas Opp. Cit. p. 215.

अब हम उन बातो का अध्ययन करेगे, जो एकाधिकारी को कीमत निर्धारित करते समय प्रभावित करती है।

२. एकाधिकारी का ध्येय (Aim of the Monopolist)—उन तमाम कारणो मे से जो व्यापारियो को एकाधिकार उत्पन्न करने के लिये प्रेरणा देते है निम्नलिखित उल्लेखनीय है : (१) एकाधिकार लाभ की इच्छा। (२) बडे-बडे व्यापारो पर नियन्त्रण रखने की इच्छा। परन्तु लाभ की प्रेरणा सबसे प्रबल होती है। प्रत्येक विक्रेता व उत्पादक अधिक से अधिक लाभ कमाने की चेष्टा करता है। चूकि पूर्ण प्रतियोगिता मे, कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है, इसलिये उत्पादको को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होता है, जो लागत का एक अग होता है। पर एकाधिकार की परिस्थिति मे एकाधिकारी मे सामान्य से अधिक लाभ कमाने की शक्ति होती है। अपनी वस्तु को सीमान्त उत्पादन व्यय से अधिक दामो पर बेच कर वह यह लाभ प्राप्त करता है।

यह तो स्पष्ट है कि कोई भी एकाधिकारी उत्पादन की मात्रा व कीमत दोनो ही निश्चित नही कर सकता। वह या तो एक निश्चित मात्रा मे उत्पादन करके यह प्रतीक्षा करता है कि माग की शक्ति उसकी वस्तु की कीमत निर्धारित करे, अथवा कीमत निश्चित कर वह माग के लोच पर छोड देता है कि उत्पादन किस परिमाण मे हो। अधिकतर एकाधिकारी दूसरे प्रकार का रास्ता अपनाता है।

अब प्रश्न यह है कि एकाधिकारी के लिये कौन-सी कीमत सबसे अधिक लाभप्रद होगी। सैद्धातिक दृष्टि से तो वह ऐसी ही कीमत निश्चित करेगा जिससे लाभ सर्वाधिक हो। यह आवश्यक नही है कि कीमत अत्यधिक ऊची या नीची हो। यदि एकाधिकारी कीमत को बहुत अधिक बढा देगा तो वस्तु की बहुत थोडी इकाइया बिकेगी। साथ ही यदि कीमत बहुत कम होगी तो उसे प्रति इकाई बहुत कम लाभ होगा। इसलिये उसे कीमत इस प्रकार निश्चित करना चाहिये, जिससे कि प्रति इकाई पर एकाधिकारी का लाभ बेची हुई इकाइयो से गुणा करके योग अधिकतम हो। इसी बात को दूसरे शब्दो मे हम इस प्रकार कह सकते है कि एकाधिकारी को अधिकाधिक लाभोपार्जन के निमित्त वस्तु के उत्पादन व विक्रय को तब तक शून्य इकाइयो से परे बढ़ाते रहना चाहिये जब तक कि एक इकाई की वृद्धि से आय का योग इस एक इकाई के बढ जाने से कुल लागत के बराबर न हो जाय।"[१] दूसरे शब्दो मे, एकाधिकारी को उस बिन्दु तक अपने उत्पादन को बढाना चाहिये, जहा कि सीमान्त-आगम सीमान्त लागत के समान हो जाय।

३. सीमान्त आगम व सीमान्त लागत की साम्यता (Equalisation of Marginal Revenue & Marginal Costs)—सीमान्त-लागत

१. Knight B. W.—Economic Principles in Practice, p. 173.

क्या होता है, इसकी व्याख्या की जा चुकी है। सीमान्त लागत वह लागत है जो अतिरेक इकाई के उत्पादन मे उत्पादन की कुल लागत मे जोडने मे प्राप्त होती है। इसी प्रकार सीमान्त आगम वह आगम है, जो अतिरेक इकाई के विक्रय से प्राप्त आय को एकाधिकार के कुल आगम मे जोड देने से प्राप्त होती है। इससे यह स्पष्ट है कि जब तक उत्पादित व विक्रय की गई अतिरेक इकाई से लागत की अपेक्षा आय अधिक बढती है, तब तक एकाधिकारी को अपना उत्पादन व विक्रय बढाने मे लाभ होगा। इसके विपरीत होने पर उत्पादन कम करना ही लाभप्रद होगा। जिस बिन्दु पर सीमान्त लागत व सीमान्त आगम समान होते है, वह अनुकूलतम उत्पादन है, अर्थात् वह उत्पादन है, जो सर्वाधिक एकाधिकारी लाभ प्रकट करता है। यह बिन्दु कहा होगा, यह माग व व्यय की सूची पर निर्भर होगा।

नीचे इसी का सुगम अंकित उदाहरण दिया जा रहा है —

औसत लागत (रु०)	सीमान्त लागत (रु०)	कीमत (रु०)	मागी गई इकाइया (दर्जन)	कुल आगम (रु०)	सीमान्त आगम (रु०)	पूर्ति की इकाइयाँ (दर्जन)	कुल लागत (रु०)
९	१७	९	१	९	९	१	८१
८	१५	८	२	१६	७	८	६४
७	१३	७	३	२१	५	७	४९
			—		—		
६	११	६	४	२४	३	६	२६
५	९	५	५	२५	१	५	१५
४	७	४	६	२४	−१	४	१६
३	५	३	७	२१	−३	३	९
	—					—	
२	३	२	८	१६	−५	२	४
१	१	१	९	९	−७	१	१

ऊपर दी हुई तालिका मे कीमते, मागी गई इकाइया, पूर्ति की हुई इकाइया तथा कुल लागत का अनुमान दिया गया है। अन्य अंक इस प्रकार प्राप्त हुए है :—

(अ) कुल आगम = कीमत × मागी गई इकाइया

(ब) सीमान्त आगम : १ इकाई का कुल आगम ९ है, २ इकाइयों का १६ है, २ इकाइयों का सीमान्त आगम १६ — ९ = ७ है।

(स) औसत लागत : कुल लागत ÷ पूर्ति की इकाइया

(द) सीमान्त लागत : ८ इकाइयों की लागत ६४ है।

९ „ „ ८१ है।

∴ सीमान्त लागत ८१ — ६४ = १७ होगी।

यदि हम यह मान ले कि एक दर्जन की इकाई को भग नहीं किया जा सकता, तो यदि तीन इकाइया उत्पादित करके बेची जाये तो एकाधिकारी का लाभ अधिकतम होगा, क्योंकि यही वह बिन्दु है जहां सीमान्त लागत व सीमान्त आगम समान होता है। अस्तु —

इकाइया	कुल आगम (रु०)	कुल लागत (रु०)	वास्तविक एकाधिकारी आगम (कुल आगम—कुल व्यय)
१	९	१	८
२	१६	४	१२
३	२१	९	१२
४	२४	१६	८
५	२५	२५	०
६	२४	३६	—१२
७	२१	४९	—२८
८	१६	६४	—४८
९	९	८१	—७२

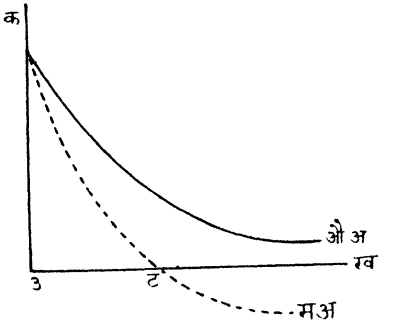
उपर्युक्त दृष्टात मे तीन इकाइयो का एकाधिकारी आगम सर्वाधिक है। दो इकाइयो का भी सर्वाधिक है। यदि इकाई भग की जा सकती तो यह गणित की अशुद्धि न होती। वास्तव मे ऊपर की परिस्थितियो मे सर्वाधिक लाभप्रद उत्पादन २½ इकाइया अर्थात २ व ३ इकाइयो के मध्य मे होना चाहिये।

जब एकाधिकारी एक दफा अधिकतम लाभ का बिन्दु मालूम कर लेता है, तो वह अपनी एकाधिकार की स्थिति बनाये रखने का भरसक प्रयत्न करेगा। इसके लिये वह जो जो तरकीबे करेगा, वे उल्लेखनीय है .(१)किसी जरूरी साधन अथवा रीति पर अधिकार पा लेना। (२) अनुचित तरकीबे करना जैसे घूसखोरी, जबरदस्ती, स्थानीय कीमते घटाना, गलत अफवाह फैलाना इत्यादि (३) मध्यस्थो को मिटाने के लिये उदग्र सयोग (Vertical Combination) स्थापित करना। (४) नये प्रतिस्पर्धी को हटाने के लिये कीमते घटाना।(५) सरकारी मदद लेना जिसका प्रयोग निम्नलिखत बातो के लिये किया जा सकता है (अ) नई फर्मो को रक्षक कर लगाकर या लाइसेस द्वारा घुसने से रोकना; (ब) स्थानापन्न वस्तुओं पर रोक लगाना; (स) कीमतो मे प्रतियोगिता को रोकना; (द) उत्पत्ति की मात्रा को सीमित करना; (इ) अन्य ऐसे कार्य जो सरकार उनकी मदद के लिये करे। स्टिगलर के शब्दों मे "एकाधिकार का मुख्य स्रोत राज्यशक्ति है। एकाधिकार स्थापित करने मे राज्य का महत्व इस बात से स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते है कि राज्य ट्रस्ट के विरुद्ध नियम लागू करने, पेटेन्ट

(Patent) के दुर्व्यवहार रोकने तथा उपभोक्ता और श्रम बाजार की सूचना देने में कितना समर्थ रहता है।"

४. सीमान्त आगम तथा औसत आगम (Marginal Revenue and Average Revenue)—सीमान्त आगम को औसत आगम से भिन्न किया जा सकता है। यह ध्यान मे रखना चाहिये कि म म (माग) वक्र को औ आ (औसत आगम) वक्र भी कहा जा सकता है क्योंकि यह एक इकाई की औसत कीमत जिस पर कि वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राये बेची जा सकती है, प्रस्तुत करती है, तथा ग्राहक की दी हुई कीमत विक्रेता के दृष्टिकोण से आगम है। अतएव औसत आगम सामान्य बाजार मूल्य के अनुरूप होता है। दूसरी ओर सीमान्त आगम, कुल आगम का वह शुद्ध जोड है जो हर क्रमिक इकाई की बिक्री से होता है। शुद्ध (Net) शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। जब बिक्री के लिये अधिक लाया जाता है तो कीमत गिरती है जिससे पहिले वाली अधिक कीमत पर बेची जाने वाली इकाइयों पर हानि होती है। इस हानि को बिक्री के लिये अधिक लाई जाने वाली मात्रा के बिके दामो मे से घटा देना चाहिये। तब हम आगम के शुद्ध जोड को पा सकेंगे और यही सीमान्त आगम है।

औसत आगम तथा सीमान्त आगम का सबध निम्न चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है —



चित्र नं० ४९

औ अ सीमान्त आगम अथवा माग वक्र है और स अ बिन्दुओ से चिन्हित वक्र सीमान्त आगम वक्र है। यदि माग वक्र एक क्षैतिज (horizontal) रेखा मे प्रस्तुत होता है (देखो औ अ अध्याय १८ खन्ड ११) अर्थात् उत्पत्ति के बढ जाने पर भी कीमत वही रहे तो दोनो वक्र औ अ तथा म अ समान हो जावेंगे। दूसरे शब्दो मे सीमान्त आगम औसत आगम के बराबर है। इसका कारण यह है कि बढी हुई पूर्ति पहली कीमत पर ही बिकती है और वह हानि होने से बच जाती है जो कि बढी हुई पूर्ति के कारण कीमत के गिर जाने से होती।

यदि औ अ नीचे गिरता है (अथवा माग वक्र नीचे को झुकता है) तो औसत आगम तथा सीमान्त आगम में भिन्नता होगी जैसा कि ऊपर के चित्र मे दिखाया गया है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जब कीमत गिरती है जैसा कि गिरते हुए औ अ वक्र मे

मालूम होता है तो सीमान्त आगम सदैव औसत आगम से कम होगा क्योंकि गिरती हुई कीमत से बढ़ी हुई पूर्ति की बिक्री पर कुछ हानि अवश्य होगी। यही कारण है कि म आ वक्र आ वक्र के नीचे है। बिन्दु ट पर सीमान्त आगम शून्य होगा और तब ऋणात्मक हो जाता है क्योंकि बड़ी इकाइयों से प्राप्त किया हुआ अधिक आगम समस्त पिछली इकाइयों पर औसत आगम में हानि होने से उलट जायगा।

५ एकाधिकार में अनुकूलतम उत्पादन (Optimum Output under Monopoly)—यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनुकूलतम उत्पादन प्रतियोगिता की अपेक्षा एकाधिकार में कम होता है। पिछले एक अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में उत्पादक अपने उत्पादन में परिवर्त्तन करके कीमत पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकता। इसका कारण यह है कि उसका उत्पादन कुल पूर्ति का बहुत छोटा भाग होता है। वर्तमान कीमत पर वह जितना चाहे बेच सकता है। यदि वह कीमत थोड़ी कम कर देता है तो सब लोग उसी से खरीदेंगे और वह यदि कीमत थोड़ी बढ़ा देता है तो वह कुछ भी न बेच सकेगा। उस फर्म के लिए माग की लोच अमीम है। चूंकि उसकी उत्पत्ति की मात्रा का प्रभाव बाजार की कीमत पर कोई नहीं पड़ता, इसलिये अपने शुद्ध लाभ को अधिकतम करने के लिये वह उसकी व्यवस्था करने के लिये स्वतंत्र है। वह केवल उतना ही उत्पादन करता है, जिसकी सीमात-लागत बाजार-भाव के बराबर होती है। यदि उसका परिमाण कम है तो अधिक उत्पादन से उसे लाभ होगा, यदि अधिक है तो उत्पादन में कमी करने से उसे लाभ होगा।

पर एकाधिकारी जब उत्पादन बढ़ाता है, तो अतिरेक उत्पादन के विक्रय के हेतु उसे कीमत में कमी करनी पड़ती है। इस प्रकार केवल उसकी अधिकृत उत्पत्ति की ही कीमत नहीं गिरती, बल्कि कुल उत्पादन का भी मूल्य कम हो जाता है। और चूंकि उत्पादन उसकी वस्तु के विक्रय की कीमत को प्रभावित करता है, इसलिये यह प्रतियोगिता की दशा में उत्पादन करने वाले की भांति महत्वपूर्ण नहीं होगा। वह अपने उत्पादन को उस सीमा तक बढ़ा नहीं सकता, जितना कि प्रतियोगिता की दशा में उत्पादक कर सकता है। वह इसे केवल उसी बिन्दु तक विस्तृत कर सकता है, जहां उसकी सीमात लागत सीमित आगम के बराबर होती है, और प्रतियोगिता की स्थिति की अपेक्षा एकाधिकारी की दशा में यह बिन्दु जल्दी आ जाता है। ऐसा इसलिये होता है कि उसका अधिकृत उत्पादन उसके कुल उत्पादन की कीमत को भी कम कर देता है, पर प्रतियोगिता की दशा में उत्पादक के उत्पादन का मूल्य अप्रभावित रहता है। अस्तु, एकाधिकारी को प्रतियोगिता के उत्पादक की अपेक्षा अधिक शीघ्र अपने उत्पादन का विस्तार बन्द कर देना पड़ता है। यही बात उस समय भी लागू होती है जब उत्पादक अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में उत्पादन कर रहा होता है।

अगले पृष्ठ की तालिका इस बात को अधिक स्पष्ट करती है। इसमे पूर्ण व अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ की तुलना की गई है। वही बात एकाधिकार मे और भी अधिक लागू होती है।

तालिका से यह प्रकट होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे माग की कीमत (कालम ई) स्थिर रहती है, क्योंकि किसी फर्म मे उत्पादन बढ जाने से कीमत पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता। प्रतियोगिता मे उत्पादक के लिये माग कीमत स्थिर रहने के कारण सीमात आगम भी स्थिर रहता है। अस्तु, उत्पादन का विस्तार उस बिन्दु (११ इकाइयो) तक होगा, जहा सीमात लागत माग कीमत के बराबर होगी।

अपूर्ण प्रतियोगिता मे जैसे-जैसे उत्पादन बढता जाता है (कालम ह) माग की कीमत गिरती जाती है। ऐसी दशा मे सीमात आगम भी कम होने लगता है, यहा तक कि वह ऋणात्मक हो जाता है। इस परिस्थिति मे ७ इकाइयो पर उत्पादक को उत्पादन का विस्तार बन्द कर देना होगा। यदि वह अधिक उत्पादन करेगा तो उसकी सीमात लागत सीमान्त आगम से अधिक हो जायेगी। ७ इकाइयो पर यह दोनो लगभग बराबर है।

यह बात विचारणीय है कि प्रतियोगिता मे उत्पादक के लिये सीमात-प्राप्ति व सीमात आगम एक ही बात है। पर अपूर्ण प्रतियोगिता वाले उत्पादक-एकाधिकारी के लिये यह दोनो एक अर्थ नही रखते। ७ इकाइयो तक माग कीमत सीमात लागत से अधिक है।

६ उत्पत्ति नियम, माग की लोच तथा एकाधिकार कीमत (Laws of Returns, Elasticity of Demand and Monopoly Price)—हम पहले के एक अध्याय मे देख चुके है कि किसी वस्तु की इकाइया अधिकृत प्रति इकाई स्थिर लागत, वृद्धि लागत अथवा ह्रास लागत पर उत्पादित की जा सकती है। अब प्रश्न यह है कि एकाधिकार मूल्य के सिद्धात मे यह बात क्या परिवर्त्तन कर देती है। एकाधिकार के मूल्य निश्चित करने के सिद्धात मे कोई परिवर्त्तन नही होता। एकाधिकारी हर दशा मे यही प्रयत्न करेगा कि ऐसा मूल्य निश्चित हो या, इतना उत्पादन किया जाय कि एकाधिकार आगम सर्वाधिक हो। और ऐसा करने के लिये वह उत्पादन का विस्तार तब तक करता रहेगा जब तक कि उसकी सीमात लागत, सीमात आगम के बराबर न हो जायगी। इसमे वह सफल भी होगा। यह स्थिति कम उत्पादन पर पैदा होगी, अथवा अधिक उत्पादन पर इसका निर्णय उत्पत्ति नियम व माग की लोच मिल कर करेंगे।

हर दशा मे एकाधिकारी को दो बातो का ध्यान रखना पडेगा :—

(अ) एकाधिकारी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सीमात लागत का बढते हुए उत्पादन से क्या सम्बन्ध है, अर्थात् उत्पादन उत्पत्ति के किस नियम के अन्तर्गत हो रहा है।

लागत अवस्थाएं

मांग की अवस्थाएं

पूर्ण व अपूर्ण प्रतियोगिता में समरूप मान ली गई				पूर्ण प्रतियोगिता			अपूर्ण प्रतियोगिता		
(अ) उत्पादन की इकाइयां	(ब) औसत व्यय	(स) कुल व्यय	(द) सीमान्त व्यय	(इ) मांग की कीमत	(फ) कुल प्राप्ति	(ज) सीमान्त आगम	(ह) मांग की कीमत	कुल प्राप्ति	सीमान्त आगम
१	१५ १० ०	१५ १० ०	१५ १० ०	१० ० ०	१० ० ०	१० ० ०	१४ ८ ०	१४ ८ ०	१४ ८ ०
२	१४ ८ ०	२९ ० ०	१३ ६ ०	१० ० ०	२० ० ०	१० ० ०	१४ ० ०	२८ ० ०	१३ ८ ०
३	१३ ८ ०	४० ८ ०	११ ८ ०	१० ० ०	३० ० ०	१० ० ०	१३ ८ ०	४० ८ ०	१२ ८ ०
४	१२ १० ०	५० ८ ०	१० ० ०	१० ० ०	४० ० ०	१० ० ०	१३ ० ०	५२ ० ०	११ ८ ०
५	११ १४ ०	५९ ६ ०	८ १४ ०	१० ० ०	५० ० ०	१० ० ०	१२ ८ ०	६२ ८ ०	१० ८ ०
६	११ ४ ०	६७ ८ ०	८ २ ०	१० ० ०	६० ० ०	१० ० ०	१२ ० ०	७२ ० ०	९ ८ ०
७	१० १२ ०	७५ ४ ०	७ १२ ०	१० ० ०	७० ० ०	१० ० ०	११ ८ ०	८० ८ ०	८ ८ ०
८	१० ६ ०	८३ ० ०	७ १२ ०	१० ० ०	८० ० ०	१० ० ०	११ ० ०	८८ ० ०	७ ८ ०
९	१० २ ०	९१ २ ०	८ २ ०	१० ० ०	९० ० ०	१० ० ०	१० ८ ०	९४ ८ ०	६ ८ ०
१०	१० ० ०	१०० ० ०	८ १४ ०	१० ० ०	१०० ० ०	१० ० ०	१० ० ०	१०० ० ०	५ ८ ०
११	१० ० ०	११० ० ०	१० ० ०	१० ० ०	११० ० ०	१० ० ०	९ ८ ०	१०४ ८ ०	४ ८ ०
१२	१० २ ०	१२१ ८ ०	११ ८ ०	१० ० ०	१२० ० ०	१० ० ०	९ ० ०	१०८ ० ०	३ ८ ०
१३	१० ६ ०	१३४ १४ ०	१३ ६ ०	१० ० ०	१३० ० ०	१० ० ०	८ ८ ०	११० ८ ०	२ ८ ०
१४	१० १२ ०	१५० ८ ०	१५ १० ०	१० ० ०	१४० ० ०	१० ० ०	८ ० ०	११२ ० ०	१ ८ ०
१५	११ ४ ०	१६८ १२ ०	१८ ४ ०	१० ० ०	१५० ० ०	१० ० ०	७ ८ ०	११२ ० ०	० ८ ०
१६	११ १४ ०	१९० ० ०	२१ ४ ०	१० ० ०	१६० ० ०	१० ० ०	७ ० ०	११२ ० ०	० ० ०

(ब) उपभोक्ताओं की माग की लोच की क्या दशा है। अस्तु, ...

(१) यदि पदार्थ का उत्पादन स्थिर उत्पत्ति नियम के अनुसार हो रहा है, तो इस बात का निर्णय कि उत्पादन बढ़ाया जाय अथवा कम किया जाय, माग की लोच करेगी, क्योंकि ऐसी दशा में प्रति इकाई लागत स्थिर होती है। यदि माग अत्यधिक लोचदार होगी तो एकाधिकारी को अपना उत्पादन बढ़ाकर कीमत कम कर देने से अत्यधिक लाभ होगा। पर यदि माग लोचहीन होगी तो उसे पूर्ति कम करके कीमत में वृद्धि लाने से लाभ होगा।

(२) यदि उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत हो रही हो, तो एकाधिकारी को उत्पादन में वृद्धि करके कम कीमत पर विक्रय करने से लाभ होगा। उसका उत्पादन घटती लागत की दशा में तभी अधिक होगा जब माग लोचदार होगी।

७ एकाधिकार मूल्य के सिद्धान्त का माराश (Theory of Monopoly Value summed up)—इस प्रकार एकाधिकारी की परिस्थिति में मूल्य के निर्णय के सम्बन्ध में हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते है। चूंकि अपूर्ण प्रतियोगिता में भी एकाधिकार की कुछ मात्रा होती है, इसलिये अपूर्ण प्रतियोगिता में भी यह निष्कर्ष लागू होते है —

(अ)—पूर्ण प्रतियोगिता की भांति एकाधिकार में भी कीमत का निर्धारण माग व पूर्ति की शक्तियां ही करती है। पर अन्तर केवल इतना है कि एकाधिकारी पूर्ति में इच्छानुसार वृद्धि अथवा कमी ला सकता है। ऐसा करने के लिये उसके पास दो उपाय है : (१) कीमत को निश्चित करके वस्तु को उपभोक्ताओं की माग के अनुसार विक्रय के लिए छोड़ देना। (२) वस्तु के उत्पादन तथा विक्रय का परिमाण निश्चित कर के कीमत का निर्धारण पूर्ति से सम्बन्धित माग पर छोड़ देना। पर कोई भी एकाधिकारी दोनों बाते एक साथ नही कर सकता।

(ब)—यदि एकाधिकारी कम कीमत रक्खे तो वह अधिक इकाइयों का विक्रय कर सकता है। यदि वह वस्तु की कीमत अधिक रखता है तो उसे प्रति इकाई आय तो अवश्य अधिक होगी, पर विक्रय कम इकाइयों का होगा। इसका माग पर क्या प्रभाव होगा, यह वस्तु की माग की लोच पर निर्भर करता है। यदि माग लोचहीन होगी तो वह कीमत अधिक रखेगा, पर यदि माग लोचपूर्ण होगी तो कम कीमत ही उसके लिये सर्वाधिक आगम प्राप्त करेगी।

(स)—एकाधिकारी सदैव अपने आगम को अधिक से अधिक करना चाहता है। इसलिए वह कीमत इस प्रकार निश्चित करेगा कि उसके लिए प्रति इकाई आगम व विक्रय की गई इकाइयों का गुणनफल सर्वाधिक हो।

(द)—यदि एकाधिकारी को वस्तु की प्राप्ति में कुछ भी व्यय न करना पड़ा हो तो वह विक्रय को इतना बढ़ायेगा कि उसकी सीमान्त आय शून्य हो जाय। ऐसा इसलिए

होगा कि वस्तु पर कुछ व्यय न होने के कारण हर सीमान्त आय की मात्रा उसके आगम को बढा देगी।

(ई)—यदि वस्तु के उत्पादन मे उत्पत्ति की लागत सम्मिलित हो, तो एकाधिकारी केवल वस्तु की उस मात्रा की उत्पत्ति करेगा, जिससे प्राप्त सीमान्त आय सीमान्त उत्पादन लागत के बराबर हो। यदि वह पहले रुक जाता है तो उत्पादन मे थोडी वृद्धि से कुल लागत की अपेक्षा कुल आगम अधिक बढ जायगा। अतएव उत्पादन के बढने से कुल शुद्ध लाभ भी बढ जायगा। यदि वह सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत के साम्य के बिन्दु के आगे उत्पत्ति करता है, तो उत्पादन मे कमी होने से कुल आगम की अपेक्षा कुल लागत मे अधिक कमी हो जायगी। इस प्रकार जब सीमान्त आगम सीमान्त लागत के बराबर हो जायगा, तो एकाधिकार लाभ अधिकतम होगा। यह बात हर समय लागू होगी चाहे उत्पादन उत्पत्ति के किसी भी नियम के अनुसार हो। लोचहीन माग की दशा मे यदि उत्पादन ह्रास नियम के अन्तर्गत हो रहा हो तो उत्पत्ति की मात्रा सबसे कम होगी। पर यदि उत्पादन मे वृद्धि नियम लागू हो और माग लोचपूर्ण हो तो उत्पत्ति की यह मात्रा सर्वाधिक होगी। पहले उदाहरण मे कम उत्पादन व अधिक कीमत से लाभ अधिक होगा, पर दूसरे उदाहरण मे अधिक उत्पादन और कम कीमत से एकाधिकारी को अधिकाधिक लाभ होगा।

(फ)—पूर्ण प्रतियोगिता मे "सीमान्त प्राप्ति" व विक्रय मूल्य समान होता है। इसका कारण यह है कि ऐसी दशा मे विक्रेता की कम या अधिक बिक्री का कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता। पर एकाधिकार (व अपूर्ण प्रतियोगिता) मे अनुकूलतम उत्पादन के समय सीमान्त प्राप्ति विक्रय कीमत से कम होती है क्योकि इन परिस्थितियो मे विक्रय मे वृद्धि से विक्रय कीमत गिर जाती है।

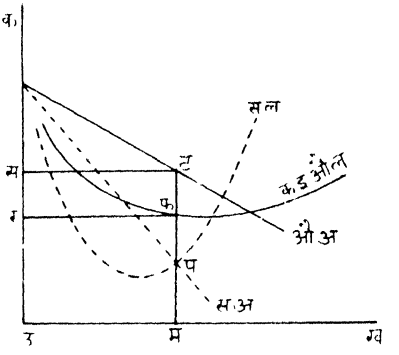
(ज)—पर यदि सब बाते समान रहे तो एकाधिकारी व अपूर्ण प्रतियोगिता के उत्पादक का अनुकूलतम उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मे उत्पत्ति करने वालो की अपेक्षा कम मात्रा मे होगा। इसका कारण यह है कि इससे पहले कि सीमान्त लागत विक्रय कीमत के बराबर हो जाय, अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे उत्पादन बन्द हो जाता है। पर प्रतियोगिता मे उत्पादक उस समय तक विक्रय मे विस्तार कर सकता है, जब तक उसकी सीमान्त-लागत तत्कालीन बाजार भाव के बराबर न हो जाय।

(ह)—यह याद रखना आवश्यक है कि जिस परिवर्तनशील ससार मे हम रहते है उसमे माग तथा लागत की दशाओ मे परिवर्तन का ठीक अनुमान लगाना असम्भव है। एक एकाधिकारी अधिकतम उत्पत्ति के बिन्दु का ठीक पता नही लगा सकता। मूल्य निर्धारण मे महत्वपूर्ण साधन सही माग नही वरन एकाधिकारी का सही माग का अनुमान है। उत्पादन तथा कीमत मे छोटे-छोटे एकीकरण से तथा परीक्षा और गलती करके वह अनुकूलतम उत्पत्ति प्राप्त कर सकता है। पर अवस्थाओ मे परिवर्तन होता रहता है और आज

का अनुकूलतम भविष्य के लिये केवल मार्गदर्शक ही सिद्ध होता है।

८. एकाधिकार कीमत निर्धारण का चित्रमय वर्णन (Diagrammatic Representation of the Determination of Monopoly Price)—चित्र ५० एकाधिकार उत्पादन तथा कीमत का एकीकरण उत्पत्ति वर्धी नियम अथवा घटती लागत नियम के अन्तर्गत प्रस्तुत करता है।

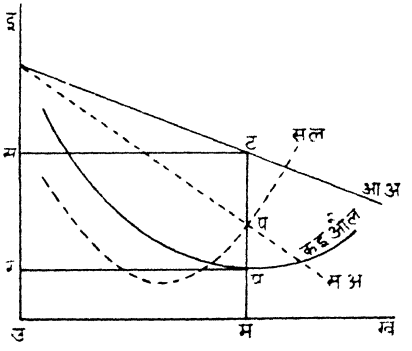
औ अ माग वक्र या औसत आगम वक्र है, स अ सीमान्त आगम वक्र है, क ड औ कुल इकाइयो का औसत लागत वक्र है, तथा स ल सीमान्त लागत वक्र है। प वह बिन्दु है जहा पर सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत वक्र एक दूसरे को काटते है। उ म उत्पादन पर सीमान्त लागत सीमान्त आगम के बराबर है। यह अनुकूलतम उत्पादन है। अर्थात् इस पर एकाधिकार लाभ अधिकतम है। इस उत्पादन पर औसत आगम (अथवा लागत) ट म है तथा औसत (कुल इकाइयो की) लागत फ म है अर्थात् कीमत लागत से ट फ से अधिक है।



चित्र नं० ५०

एकाधिकार लाभ = कुल आगम अर्थात् क्षेत्रफल उ म ट स — कुल लागत अर्थात् उ म फ र = र फ ट स

यह आयताकार क्षेत्रफल र फ ट स जो एकाधिकार लाभ बताता है सब से अधिक है जो इन लागत की अवस्थाओ मे पाया जा सकता है।



चित्र नं० ५१ बढ़ती हुई लागत

चित्र ५१ यह बताता है कि जब उत्पत्ति ह्रास नियम अथवा लागत वर्धी नियम लागू होता है तो एकाधिकारी कैसे उत्पत्ति तथा कीमत में एकीकरण स्थापित करता है।

चित्र ५१ मे लागत वक्र वही है जो कि चित्र ५० मे है। परन्तु औअ (सीमान्त आगम) अथवा बढती हुई लागत माग

धीरे-धीरे झुकती है और इसलिये अधिक लोचदार है। माग एकाधिकारी को कम से कम औसत लागत के बिन्दु के आगे उत्पत्ति करने को प्रोत्साहन देने के लिये काफी है। अनुकूलतम उत्पादन उ म है जहा सीमान्त लागत और सीमान्त आगम बराबर है। ये दोनो वक्र बिन्दु प पर काटते है। औसत कीमत अथवा कीमत ट म है और औसत लागत फ म, ट फ औसत कीमत तथा औसत लागत का अन्तर है।

*. एकाधिकार लाभ—कुल आगम अर्थात् क्षेत्रफल उ म ट स—कुल लागत अर्थात् क्षेत्रफल उ म फ र - र फ ट स। यह सब से बडा क्षेत्रफल है जो इन वक्रो के अन्तर्गत खीचा जा सकता है।

९. कीमत विवेचन या भेद भाव (Price Discrimination)—अभी तक हमने यह मान लिया था कि एकाधिकारी अपनी वस्तु को सब ग्राहको से एक ही कीमत लेता है, पर बहुधा ऐसा नही होता। एकाधिकारी कभी-कभी विभिन्न मनुष्यो से विभिन्न कीमते लेते है। पर ऐसा तभी हो सकता है, जब कि उन व्यक्तियो का सम्बन्ध विभिन्न बाजारो अथवा अप्रतियोगी समूहो से हो। इसे कीमत विवेचन अथवा भेद-भाव कहते है।

कीमत विवेचन कई प्रकार का हो सकता है —

(१) व्यक्तिगत (२) स्थानीय अथवा (३) व्यवसाय या प्रयोग के अनुसार। जब विभिन्न व्यक्तियो से विभिन्न कीमते ली जाती है, तब विवेचन व्यक्तिगत होता है। पर जब स्थान के अनुसार कीमत मे अतर आ जाता है, तो विवेचन स्थानीय अर्थात् राशि-पातन (Dumping) कहलाता है, और यदि वस्तु के प्रयोग के आधार पर कीमत घटती बढती रहती है तो इसका यह परिवर्तन व्यवसाय के अनुसार होता है। जैसे बिजली घरेलू जीवन की अपेक्षा औद्योगिक प्रयोग के लिए अधिक सस्ती मिलती है।

वस्तु की माग की तीव्रता मे अतर होने के कारण ही भेद-भाव सम्भव होता है। यदि एकाधिकारी का पूर्ति पर पूर्ण रूप से नियत्रण होता है, तो वह तीव्रता के अनुसार माग को विभाजित कर सकता है। इस प्रकार वह उन लोगो से जो अधिक कीमत दे सकते है अधिक कीमत लेता है और जो कम कीमत दे सकते है उनसे कम कीमत लेता है। पर यह तभी हो सकता है जब वस्तु सस्ते बाजार से महगे बाजार मे न ले जाई जा सके।

साथ ही विवेचन तब भी हो सकता है जब कि बाजार की अपूर्णता के कारण ग्राहक एक विक्रेता से दूसरे के पास आसानी से नही जा सकता।

कीमत विवेचन को सम्भव तथा लाभदायक बनाने के लिये निम्नलिखित मुख्य शर्ते आवश्यक है —

(१) माग की लोच भिन्न-भिन्न बाजारो मे भिन्न होनी चाहिये।

(२) बाजारो को छोटे-छोटे हिस्सो मे बाटने तथा उनको अलग रखने की लागत इतनी अधिक न होनी चाहिये कि माग की लोच के अन्तर को बराबर कर दे।

(३) विक्रेताओ मे आपस मे समानता हो, नही तो स्वतन्त्र स्पर्धको को तेज बाजार मे बेचने से लाभ होगा ।

(४) जब वस्तु खास आर्डर पर बेची जाती है तो विवेचन सम्भव होता है क्योकि तब खरीदने वाले यह नही जान सकते कि दूसरो से क्या लिया जा रहा है ।

माग की लोच का एकाधिकारी के कीमत विवेचन पर बडा असर पडता है । यदि भिन्न-भिन्न बाजारो मे माग की लोच भिन्न-भिन्न न हो तो कीमत विवेचन से कोई लाभ न होगा । श्रीमती रोबिन्सन का कथन है कि "एक गाव के नाई के लिये यह सम्भव हो सकता है कि वह लाल बाल रखने वालो की हजामत बनाने के लिये भिन्न कीमत ले, पर यदि लाल बाल रखने वालो के पास उतना ही धन है और वे उतनी ही हजामत बनवाने की इच्छा रखते है जितनी कि दूसरे गाव वाले, तो नाई को उनसे उतनी ही कीमत लेने में लाभ होगा जितनी कि दूसरो से" । ऐसी दशा मे कीमत विवेचन से कोई लाभ न होगा और बाजार बाटा न जा सकेगा । यदि माग की लोच भिन्न है तो एकाधिकारी बाजार को बाटना जायगा, यहा तक कि कोई भी दो खरीदार जिनकी माग की लोच भिन्न हो एक ही वर्ग मे रहे अथवा हर एक बाजार मे माग की लोच एक हो जाय। एकाधिकारी को इस मे लाभ होगा कि वह उस बाजार मे कीमत अधिक ले जहा लोच कम है और उसमे कम जहा लोच अधिक है । श्रीमती रोबिन्सन के शब्दो मे "सहायक बाजार अपनी लोच के अनुसार क्रम मे रक्खी जावेगी । सब से अधिक कीमत सब से कम लोच वाली बाजार मे और सब से कम कीमत सब से अधिक लोच वाली बाजार में ली जावेगी ।"

कीमत विवेचन का उत्पत्ति पर क्या असर पड़ता है ? जब दो बाजारो मे माग की लोच भिन्न होती है तो यह पाया जायगा कि उत्पत्ति की एक इकाई की बिक्री से सीमान्त आगम वहा अधिक होगा जहा लोच अधिक है, न कि जहा लोच कम है । अतएव जहा लोच कम है वहा उत्पादन घटाना और कीमत बढाना तथा जहा लोच अधिक है वहा उत्पादन बढाना और कीमत घटाना लाभदायक होगा । इस प्रकार दोनो बाजारो मे सीमान्त आगम बराबर हो जायगा । पर क्या उत्पादन की मात्रा बढेगी या घट जायगी अथवा वही रहेगी ? श्रीमती रोबिन्सन ने इसका इस प्रकार उत्तर दिया है :

"यह बात स्थापित करना सम्भव है कि विवेचन के अन्तर्गत कुल उत्पादन साधारण एकाधिकार की अपेक्षा अधिक या कम होगा । जैसे-जैसे अलग बाजारो मे माग वक्रो मे से अधिक लोचदार वक्र कम लोचदार माग वक्र की अपेक्षा अधिक या कम टेढा होगा; और यह कि कुल उत्पादन वही होगा यदि माग वक्र सीधी रेखाए है या अन्य दूसरी दशा में जब कि टेढापन बराबर है ।" यह तभी लागू होता है जब कि सीमान्त लागत साधारण एकाधिकार तथा विवेचन एकाधिकार मे एक ही है । परन्तु यदि सीमान्त लागत गिर रही है तो विवेचन एकाधिकार मे उत्पादन मे अधिक वृद्धि हो जायगी और यदि

सीमान्त लागत बढ़ रही है तो उत्पादन में अधिक कमी हो जायगी। पूर्ण रूप से यह अधिक सम्भव है कि विवेचन से कुल उत्पादन में कमी की अपेक्षा वृद्धि हो।

इस बात को कुछ उदाहरण स्पष्ट कर देंगे। कुछ किताबों के पहले संस्करण की कीमत अधिक होती है। जिन लोगों के लिये किताब की सीमान्त उपयोगिता बहुत अधिक होती है, वे उस कीमत पर उसे खरीद लेते हैं। पहले संस्करण के समाप्त होने पर दूसरे संस्करण की कीमत उससे कम रखी जाती है। इस बार वह लोग किताब खरीदते हैं, जिनके लिये इसकी पहले व्यक्तियों से सीमान्त उपयोगिता कम है। इस प्रकार संस्करण पर संस्करण निकलते रहते हैं और विक्रय बढ़ता रहता है। अधिक तीव्र माँग वाले व्यक्ति सस्ते संस्करणों की प्रतीक्षा नहीं करते। इस प्रकार एकाधिकारी उपभोक्ता की बचत के एक बड़े भाग को हड़प लेता है, और फलस्वरूप उसका आगम बढ़ जाता है।

इसी प्रकार के दूसरे उदाहरण भी हैं। जैसे डाक्टर मनुष्य की आय के अनुसार फीस लेते हैं, रेल के किरायों में भिन्नता होती है, जब कि सुविधाएं उसी अनुपात में नहीं होतीं। "यातायात का क्या सहन करना होगा" इस सिद्धान्त पर पदार्थों में भी विवेचन हो सकता है। उदाहरणार्थ रेलों में भिन्न-भिन्न पुरुष एक ही सेवा भिन्न-भिन्न उत्पादनों के लिये चाहते हैं जैसे कोयला तथा रेशम। रेशम के सौदागर से अधिक भुगतान करने के लिये कहा जा सकता है और वह कम भाड़ा देने के लिये रेशम को कोयले में नहीं बदल सकता। देशी व विदेशी वस्तुओं में भी विवेचन हो सकता है। जैसे कुछ अंगरेजी सिगरेटों की भारत जैसे विदेशी बाजारों के लिये कीमत कम होती है। कुछ पुस्तकों के विदेशों के लिये सस्ते संस्करण निकलते हैं। राशिपातन भी इसी वर्ग में आता है।

कभी-कभी एकाधिकारी भिन्न-भिन्न कीमत लेने के लिये एक ही वस्तु पर भिन्न-भिन्न नामपत्र लगाकर उसे पृथक् कर देता है। इस प्रकार वह धनी ग्राहकों से गरीबों की अपेक्षा अधिक ले सकता है।

क्या कीमत विवेचन समाज के लिये लाभदायक है?—कुछ दशाओं में किसी समाज के लिये कीमत विवेचन लाभप्रद होता है, विशेषकर ऐसी सेवाओं में जो समाज के लिए लाभप्रद हों। यदि गरीबों के लिए कीमतें कम कर दी जायें तो प्रति इकाई सामान्य लाभ न होने के कारण उत्पादन-लागत पूरी नहीं हो सकेगी। यदि कीमत अधिक कर दी जाय तब भी विक्रय कम होने के कारण प्राप्ति कम होगी। फलस्वरूप सम्भव है कि वस्तु का उत्पादन ही बन्द हो जाय। किसी न किसी प्रकार कुछ उत्पादन की मात्रा की उत्पत्ति ही न होगी क्योंकि विवेचन एकाधिकार में औसत आगम साधारण एकाधिकार की अपेक्षा अधिक होता है। "यह हो सकता है कि यदि विवेचन की मनाही हो तो रेल ही न बनाई जाय या डाक्टर अपनी प्रेक्टिस ही न शुरू करे। यह उचित है कि ऐसी दशाओं में विवेचन की अनुमति दी जावे।" ऐसी दशा में यदि विवेचनात्मक कीमतें ली जायें तो प्राप्ति से लाभ के साथ लागत पूरी हो सकेगी, और इस प्रकार हर व्यक्ति को लाभ होगा।

चूकि विवेचन मे कुछ मनुष्यो के लिये कीमत बढा दी जाती है और कुछ के लिये कम कर दी जाती है यह स्पष्ट है कि ीमत विवेचन कुछ के लिये लाभदायक और कुछ के लिये हानिकारक है। परन्तु सामाजिक कल्याण पर शुद्ध प्रभाव इस बात पर निर्भर होगा कि किस वर्ग का समाज पक्षपात करती है। यदि आम जनता के लिये कीमत घटा दी जाती है और "वर्गो" के लिये बढा दी जाती है तो समाज को दुखी होने की कोई बात नही है क्योकि ऐसी व्यवस्था का तात्पर्य आर्थिक कल्याण का बढाना है। परन्तु भौगोलिक विवेचन की दशा मे यह भी सम्भव है कि कम लोचदार बाजार (जिसके लिये कीमत बढाई जाती है) स्वदेशी बाजार हो सकता है, जबकि विदेशी बाजार अधिक लोचदार हो और इस लिये उसमे कीमत घटानी पडे। ऐसी दशा मे अपने देश वालो की अपेक्षा विदेश वालो को अधिक लाभ होगा। ऐसा विवेचन समुदाय के लिये हानिकारक होता है। तो भी इसमे एक शर्त लागू होती है। यदि उद्योग मे उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है तो विवेचन एकाधिकार मे साधारण एकाधिकार की अपेक्षा अधिक उत्पादन से कम लोचदार बाजार को भी लाभ होगा। इस प्रकार विदेशो मे राशिपातन (dumping) मे स्वदेशी बाजार मे भी कीमत गिर जाती है और इस तरह उस देश को भी लाभ होता है।

श्रीमती रोबिन्सन इस प्रकार निष्कर्ष निकालती है "समाज के दृष्टिकोण से यह कहना असम्भव है कि कीमत विवेचन उचित है या नही। एक दृष्टिकोण से कीमत विवेचन साधारण एकाधिकार से उन सब दशाओ मे जिनमे उत्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि होती है बढकर है। और ऐसी दशाए साधारणतया अधिक पाई जाती है। परन्तु इस लाभ के विपरीत कीमत विवेचन भिन्न २ प्रयोगो मे साधनो का गलत वितरण करता है .... अतएव यह कहने के पहिले कि कीमत विवेचन उचित है या नही यह आवश्यक है कि इस हानि के विपरीत उस लाभ की तुलना कर लेनी चाहिये जो उत्पादन की वृद्धि से होता है। उन दशाओ मे जिनमे कि विवेचन उत्पादन को कम करता है, यह हर प्रकार से हानिकारक है।"

जब विवेचन राशिपातन का रूप ले लेता है तो यह घातक हो जाता है।

१०. राशिपातन द्वारा कीमत विवेचन (Price Discrimination by Dumping)—जब उत्पादक दूसरे देशो मे अपने देश मे कम कीमत पर उसी वस्तु को बेचते है, तो उनका यह कार्य "राशिपातन" कहलाता है। कभी-कभी ऐसा करने मे (लागत से भी कम कीमत पर बेचने से) एकाधिकारी को लाभ भी होता है।

राशिपातन मे एकाधिकारी के कई आशय होते है—(अ) या तो वह ऐसी माग का ठीक अनुमान न लगने के कारण अधिक उत्पादित वस्तु के अधि-स्कन्ध (over-stock) के विक्रय के हेतु करता है। (ब) कभी-कभी वह विदेश के बाजार से प्रतियोगियों को भगाने के लिये भी राशिपातन का सहारा लेता है। (स) अथवा नये व्यापारिक सम्बन्ध

करने के लिए करता है। (द) बड़े परिमाण मे उत्पादन के लाभ उठाने के हेतु भी एकाधिकारी ऐसा करता है।

राशिपातन का उदाहरण इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—

घरेलू बाजार

विक्रय कीमत		उत्पादन कीमत		इकाइयो की सख्या	वास्तविक आगमन	
रु०	आ०	रु०	आ०		रु०	आ०
१०	०	५	०	१००	५००	०
९	१२	४	१२	१५०	७५०	०
९	४	४	८	२००	९५०	०
८	८	४	४	२५०	१०६२	८
७	१२	४	०	३००	११२५	०
७	०	३	१२	३५०	११३७	८
५	१२	३	४	४००	१०००	०
४	१२	२	१२	४५०	७८७	८

इस उदाहरण से यह प्रकट है कि यदि एकाधिकारी केवल घरेलू बाजार के लिए ही उत्पादन करता तो ३५० इकाइयो की उत्पत्ति करता, और उसे ७ रु० प्रति इकाई बेच देता। इससे उसे सर्वाधिक वास्तविक प्राप्ति होगी (रु० ११३७—८ आ०)।

अब मान लीजिये कि उसने बजाय ३५० इकाइयो के ४५० इकाइयो का उत्पादन किया। उसकी कुल लागत रु० ४५०×२$\frac{3}{4}$=रु० १२३७–८–० होती। ३५० इकाइयों पर उसकी कुल लागत ३५० रु०×३$\frac{3}{4}$=१३१२ रु० ८ आ० होती।

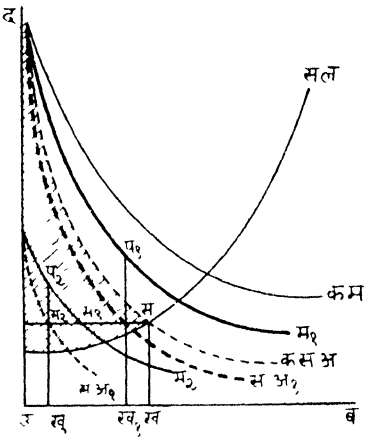
इस प्रकार एकाधिकारी १०० इकाइयो का और उत्पादन करके अपनी कुल लागत मे ७५ रु० (१३१२ रु० ८ आ०—१२३७ रु० ८ आ०) की कमी कर सकता है।

इसलिए यदि उसे अपनी इन १०० इकाइयो को बाद मे नष्ट भी करना पड़े तब भी इन १०० इकाइयो का उत्पादन उसके लिये लाभदायक ही होगा। और यदि वह आवागमन के व्यय से कुछ अधिक कीमत पर उन्हे विदेशो मे बेच सके तो उसे और भी लाभ रहेगा। इस कीमत पर कोई विदेशी उत्पादक उससे प्रतियोगिता नही कर सकेगा।

पर ऐसे लाभ बहुत कम होते हैं। हमने तो सिद्धान्त को समझाने के लिए एक अत्यन्त सीधा उदाहरण ले लिया था। और फिर यदि वस्तु की घरेलू कीमत व विदेशी कीमत में इतना अतर हो कि उस वस्तु के दोबारा उत्पादन के लिए देश मे आने पर यह अपनी लागत को भी पूरा कर ले तो उसका पुनः निर्यात प्रारम्भ हो जायगा, बशर्तेकि बहुत अधिक कर न लगा दिये जाये। विदेश राशिपातन से बचने के लिए बड़े ऊचे आयात कर लगा देते हैं, विशेषकर उस समय जबकि उनके निजी उद्योग प्रभावित होते हों।

निम्न चित्र एकाधिकारी द्वारा कीमत विवेचन की रीति प्रस्तुत करता है :—

एकाधिकारी ने अपने बाजार को दो भागो मे बाट दिया है जिनको $म_१$ और $म_२$ से दिखाया गया है। क म कुल माग प्रस्तुत करता है। और म. $अ_१$ एक बाजार मे सीमान्त आगम है और स $अ_२$ दूसरे मे। क स अ कुल सीमान्त आगम वक्र है। म ल सीमान्त लागत वक्र है। उ $ख_१$ एक बाजार का उत्पादन है और उ $ख_२$ दूसरे का। कुल उत्पादन उ ख है। उ $ख_१$, $प_१$ $ख_१$ पर बेचा जाता है और उ $ख_२$ $प_२$ $ख_२$ पर। एकाधिकार आगम रगे हुए क्षेत्र से दिखाया गया है। यह क स अ कुल सीमान्त आगम वक्र (कुल आगम) तथा म ल सीमान्त लागत वक्र (कुल लागत) के बीच मे है। यह देखा जा सकता है कि अनुकूलतम उत्पादन (उ ख) उस बिन्दु पर है जहा सीमान्त लागत वक्र (म ल) कुल सीमान्त आगम वक्र (क म अ) को काटता है। हर एक बाजार मे बिक्री की मात्रा वह है जिस के लिए सीमान्त आगम (स $अ_१$ या स $अ_२$) सीमान्त लागत (स ख=$स_१$ $ख_१$=$म_२$ $ख_२$) के बराबर है।



चित्र नं० ५२

११. क्या एकाधिकार कीमत सदैव ऊची कीमत होती है? (Is Monopoly Price a High Price?)—हम देख चुके है कि एकाधिकारी अपने उत्पादन को नियत्रित करके सीमान्त उत्पादन लागत से अधिक कीमत पर वस्तु का विक्रय कर सकता है। परस्पर प्रतियोगी कीमत वस्तु के सीमात उत्पादन लागत को समान करने की प्रवृत्ति रखते है। पर इसका यह अर्थ नही है कि एकाधिकारी की कीमते सदैव प्रतियोगी कीमतो से अधिक ही होती है। बहुत सी परिस्थितिया ऐसी हो सकती है कि एकाधिकार की कीमते कम ही रहे और कभी-कभी तो कुछ कारणों से यह कीमते प्रतियोगिता की कीमतो से भी कम हो सकती है।

अपनी विशेष सुविधाओ, उत्पादन का परिमाण, प्रचार तथा बाजार व्यय के कारण, कभी-कभी एकाधिकारी प्रति इकाई कम लागत पर उत्पादन कर लेता है। ऐसी दशा में यदि वह अपनी सीमात लागत से अधिक कीमत भी ले, तो भी वह प्रतियोगिता मे उत्पादित वस्तु की सीमात लागत से कम ही रहेगा। यह विशेषकर उन उद्योगो में होता है, जो महंगी

और बड़ी मशीनों का प्रयोग करते है तथा जिनकी वस्तुओं की माग लोचपूर्ण होती है। ऐसे उद्योग मे उत्पादन की वृद्धि से प्रति इकाई लागत कम हो जाती है और बढा हुआ उत्पादन अधिक लाभ से बेचा जा सकता है, चाहे कीमत कम ही क्यो न हो।

साधारणतया एकाधिकार-कीमत प्रतियोगिता की कीमत से कम नही होती। पर इसका यह अर्थ नही है कि एकाधिकार कीमत अत्यधिक ऊची होती है। एकाधिकारी के अधिकार पर भी अनेक बधन होते है—वह असीम नही होते। वह सदैव अत्यधिक लाभ-प्रद कीमते नही ले सकता। इसके अतिरिक्त एकाधिकारी सर्वाधिक लाभ प्राप्त करने वाली कीमत के स्तर से भी अनभिज्ञ हो सकता है। कुछ और भी विचारणीय बाते है, जिन की बहुत कम एकाधिकारी उपेक्षा कर सकते है। वैसे तो इनका अध्ययन एक दूसरे अध्याय मे किया जा चुका है, पर उनको यहा पर फिर दुहरा देना उचित ही होगा।

(अ) कोई एकाधिकार पूर्ण नही होता। उसी व्यवसाय मे प्रतियोगियो का भय या स्थानापन्न वस्तु के उत्पादन का डर सदैव एकाधिकार की सीमा को कम किये रहता है। यदि कीमत बहुत बढ जाती है तो, या तो स्थानापन्न वस्तुए बिकने लगती है, या लाभ उठाने के लालच से नये प्रतियोगी बाजार मे आ जाते है। अमरीका की खाड शोधक कपनी (Sugar Refining Company) को समय-समय पर अपने प्रतियोगियो को रुपए देकर खरीदना पडता था।

(ब) उपभोक्ताओं की प्रमुखता की उपेक्षा नही की जा सकती। स्थानापन्न वस्तुओं की प्राप्ति के अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि लोग उस वस्तु का उपयोग ही बन्द कर दे। दूसरे शब्दो मे यदि माग बहुत अधिक लोचपूर्ण होगी तो उसके घटने के डर से एकाधिकार कीमत सदा कम ही रहेगी।

(स) राजकीय हस्तक्षेप का डर भी कीमत की वृद्धि को रोकता है। यदि अधिकारियो को यह सशय हो जाता है कि जनता का शोषण हो रहा है, तो वह एकाधिकारी के कार्यों मे हस्तक्षेप करने लगते है। ऐसी परिस्थितियो मे राज्य या तो उस वस्तु की कीमत निश्चित कर देता है या उसकी पूर्त्ति अपने हाथ मे ले लेता है, जैसे गैस, पानी, बिजली आदि की पूर्त्ति।

(द) जहा ग्राहको का एकाधिकार होता है, वहां एकाधिकार की कीमतें अधिक नही बढ सकती।

पर इन तमाम नियंत्रणो के होते हुए भी साधारणतया एकाधिकार की कीमते प्रतियोगी कीमतो से अधिक ही होती है। एकाधिकारी अवसर मिलने पर अधिक कीमत वसूल करने के लालच को नही छोड पाता। उसे विज्ञापन मे अधिक व्यय नही करना पडता, और बडे परिमाण की भी सुविधाए उसे प्राप्त होती है। ऐसी दशा मे यदि वह चाहे तो कीमतों को नीचे स्तर पर रख सकता है, किन्तु ऐसा वह करता नही। इसलिए, यद्यपि यह आवश्यक नही है कि एकाधिकार कीमतें अधिक ही हो, तथापि वास्तव मे वह होती अधिक ही है।

१२. द्यधिकार तथा अल्पाधिकार (Duopoly and Oligopoly)– अभी तक हमने ऐसी स्थिति पर विचार किया है जहां एक अकेला एकाधिकारी (एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियो का एक समूह) सारे बाजार का मालिक होता है। पर दूसरी स्थितिया भी इस ससार मे आ सकती है। एक वह है जब कि एक के बजाय दो एकाधिकारी एकाधिकार की शक्ति रखते हो। इसको द्यधिकार कहते है। दूसरी वह है जब दो से अधिक या कुछ विक्रेता एकाधिकार शक्ति रखते हो। इसको अल्पाधिकार कहते है। इस प्रकार के एकाधिकार कीमत सम्बन्धी अपनी निजी समस्याए प्रस्तुत करते है। सच यह है कि बहुत सी सम्भव स्थितिया है और इस प्रकार कीमत के बहुत से सिद्धान्त हो सकते है। एक बार यदि आप प्रतियोगिता का क्षेत्र छोडते है तो आप निजी सम्बन्धो के क्षेत्र मे घुसते है। अतएव आप इन सिद्धान्तो पर केवल उपकल्पना द्वारा ही विचार कर सकते है।

द्यधिकार मे एकाधिकारी एक समान वस्तु को बेचते मान लिये जाते है। बहुधा दोनो मे दलबन्दी होगी। वे एक कीमत मान ले अथवा भाग स्थिर कर ले, या प्रादेशिक बटवारा कर ले जिसमे वह अपनी वस्तुए बेचे। विशेषकर ऐसा तब होगा जबकि उनकी लागत बराबर या लगभग बराबर है और माग स्थायी तथा लोचदार है। स्पष्ट रूप से यह दलबन्दी ऐसी स्थितिया पैदा कर देती है जो कि एकाधिकार से बिल्कुल मिलती-जुलती है और कीमत निर्धारण एकाधिकार की भाति ही होगा।

यदि दोनो मे कोई समझौता नही होता, तो स्थिति बदल जायगी। कोरनाट (Covernot) ने इसको स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दो मनुष्यो का बताया जिनके धातु के चश्मे एक दूसरे के पास है और जो धातु मिला हुआ जल बेचते है। इनमें से कोई भी दूसरे के सारे ग्राहको को कीमत कम करके खीच सकता है, यदि दूसरा उसका बदला नही लेता। सब से अधिक सम्भावना इस बात की है कि उनमे सदैव कीमत की लडाई होगी। सब से महत्वपूर्ण सोचने की बाते है लागत तथा प्रतिस्पर्धी को निकालने में लाभ, दोनो फर्मो का सापेक्ष आकार माग की लोच तथा ग्राहको की गतिशीलता, जिस फुरती से कि प्रतिस्पर्धी दूसरे की नीति में परिवर्तन होने से प्रत्याघात करता है तथा किस सीमा तक कीमत मे रियायत को गुप्त रक्खा जा सकता है और यथाक्रम भी।

अल्पाधिकार मे कीमत का सिद्धान्त मूल रूप में वही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जितनी अधिक फर्में होगी उतना ही अधिक अन्तर सीमान्त लागत मे होगा और समझौते की सम्भावना भी अधिक दूर होगी। विज्ञापन, अनुसन्धान, विनियोग तथा मुनाफे का अनुमान अनिश्चित होता है। उपक्रमी का स्वभाव चाहे आशावान या निराशावान हो, स्थिति को और जटिल बना देता है। चूकि वे सब प्रामाणिक उत्पादन से सम्बन्ध रखते है और वे हर एक कुल उत्पादन का एक बड़ा भाग उत्पन्न करते हैं, इसलिये हर एक की कीमत व उत्पादन नीति दूसरे पर अधिक प्रभाव डालती है, परन्तु कोई भी नही बता सकता कि कैसे।

अल्पाधिकार में एक फर्म की वस्तु के लिये माग का स्वरूप एक विशेषता रखता है। वर्तमान कीमत से ऊंची कीमत पर यह लोचदार और वर्तमान कीमत से नीची कीमत पर यह कम लोचदार है। यदि वह कीमत बढा देता है तो वह अपने बाजार का बहुत बड़ा भाग (अपने प्रतिस्पर्धी को) खो देता है और यदि कीमत गिरा देता है तो बिक्री की मात्रा बढ जायगी परन्तु अधिक नही क्योकि उसके प्रतिस्पर्धी भी कीमत घटा देगे। अल्पाधिकार उद्योग मे कोई भी फर्म कीमत घटाकर बाजार को छीन नही सकती क्योकि प्रतियोगिता अपूर्ण है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि अल्पाधिकार मे कीमत अधिक स्थिर होती है। यह न तो माग मे परिवर्तन होने मे अधिक घटती बढती है और न पूर्त्ति मे। उदाहरणार्थ यदि माग बढती है तो कोई भी फर्म कीमत बढाने का साहस इस भय से न करेगी कि दूसरी फर्मे कीमत न बढाए और वह बाजार खो बैठे। वह कीमत इस भय से कम न करेगी कि दूसरी फर्मे भी अपनी कीमत घटाकर उसको उसके प्राथमिक लाभ से कही वचित न कर दे। इसी प्रकार अल्पाधिकार मे लागत का भी कीमत तथा उत्पादन पर कोई प्रभाव नही पडता। उदाहरणार्थ यदि मजदूरी गिर जाती है तो हर एक फर्म कीमत को कम करना चाहेगी परतु उसको निश्चय न होगा कि दूसरी भी अपनी कीमते कम कर देगी। प्रतियोगी उद्योग मे किसी एक फर्म के कार्य से उद्योग की स्थिति पर कोई प्रभाव नही पडता क्योकि फर्मे बहुत सी होती है। पर अल्पाधिकार मे फर्मो की सख्या बहुत कम होती है, और इसलिये किसी भी फर्म का कोई भी कार्य हो दूसरो पर प्रभाव डालता है। जैसाकि टारशिस (Tarshis) ने कहा है, "वास्तविक ससार मे अल्पाधिकार विचार न केवल कीमत निर्धारण मे परन्तु बिक्री नीति, मजदूरी नीति तथा अन्य विषयो के निर्णय में महत्वपूर्ण साधन है। इस प्रकार यह सम्भव है कि माग व लागत में बहुधा परिवर्तन होने से कीमत मे कोई परिवर्तन न हो या बहुत कम परिवर्तन हो। इस प्रकार अल्पाधिकार बहुत कुछ कीमत की कठोरता का कारण है जो कि हमारी अर्थव्यवस्था मे पाई जाती है।"

अल्पाधिकार मे अधिकतम लाभ उत्पत्ति की उस मात्रा पर होगा जहा सीमान्त आगम सीमान्त लागत के बराबर है और एक फर्म वह कीमत लेगी जिस पर वह इतनी उत्पत्ति की मात्रा बेच सके। "सीमान्त आगम व सीमान्त लागत का बराबर होना पैसा पैदा करने का एक सूत्र नही है। यह केवल फर्मों के व्यापारिक व्यवहार को तथा उनके उत्पत्ति की मात्रा का माप निर्धारण करने के तरीके को बताता है।"

१३. क्रयाधिकार में कीमत (Price under Monopsony)—स्पर्धी क्रय तथा क्रयाधिकार मे यह अन्तर है कि पहिले में बहुत से खरीदार होते है और उनमें से बहुतों का क्रय बाजार कीमत पर प्रभाव डालता है। हर एक के लिये पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार होती है। यदि उसकी लगाई हुई कीमत में तनिक परिवर्तन हो जाता है तो उसकी

खरीदारी पर बड़ा प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ यदि उसने बाजार मूल्य से कम कीमत लगाई, तो वह कुछ भी न खरीद सकेगा। जहां तक हर एक खरीदारी का सम्बन्ध है, बाजार मूल्य दिया हुआ होता है। वह उतनी मात्रा खरीदेगा जो उसकी सीमान्त उपयोगिता को कीमत के बराबर कर देगा। क्रयाधिकार मे एक ही बेचने वाली एजसी होती है या खरीदार मिल जुल कर कार्य करते हुए मान लिये जाते है।

एक क्रयाधिकारी अपने क्रय की ऐसी व्यवस्था करेगा कि सीमान्त लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाय क्योकि उसको वस्तु की पूर्ति की कीमत का भुगतान करना ही पडेगा। प्रतियोगिता मे कीमत अथवा औसत लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। सीमान्त लागत तथा कीमत में अन्तर तभी होगा जबकि उद्योग मे लागत वृद्धि या लागत घटती नियम लागू होता है। जब स्थिर लागत नियम लागू होता है, तो औसत लागत (अर्थात् कीमत) तथा सीमान्त लागत बराबर होती है। और प्रतियोगिता तथा क्रयाधिकार मे खरीदी हुई मात्रा एक होगी। जब उद्योग मे वृद्धि लागत नियम लागू होता है तो क्रयाधिकारी जितनी अधिक मात्रा खरीदता है, उतनी ही अधिक कीमत उसको देनी पडेगी। वस्तु की पूर्ति-कीमत की अपेक्षा उसकी सीमान्त लागत अधिक होगी। खरीदी जाने वाली मात्रा को सीमान्त लागत निर्धारित करेगी। पूर्ति की गिरती हुई कीमत मे, जितनी अधिक मात्रा खरीदी जायगी, उतनी ही कम पूर्ति की कीमत होगी और सीमान्त लागत पूर्ति की कीमत से कम होगी। इस हालत में वह प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक खरीदेगा।

जिस प्रकार एकाधिकारी का लक्ष्य लाभ को अधिकतम करना है, इसी प्रकार क्रयाधिकारी का लक्ष्य अपनी उपभोक्ता की बचत अधिकतम करना है। और उपभोक्ता की बचत तब अधिकतम होगी जब कि सीमान्त लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो। इसको "अनुकूलतम क्रय" कह सकते है। यदि क्रय की हुई मात्रा इससे अधिक है, तो सीमान्त उपयोगिता सीमान्त लागत से कम होगी और उपभोक्ता की बचत घट जायगी। क्रय की मात्रा कम होने का मतलब यह होगा कि उपयोगिता लागत में बचत से अधिक कम हो जायगी।

एक क्रयाधिकारी भी एकाधिकारी की भांति बेचने वालो से अलग-अलग व्यवहार करके कीमत विवेचन कर सकता है। "क्रयाधिकारी पूर्ति के हर सूत्र से इस प्रकार खरीदेगा कि हर सूत्र से खरीदी हुई मात्रा की सीमान्त लागत उसके लिये आपस मे तथा कुल खरीदी हुई मात्रा की सीमान्त उपयोगिता के बराबर है जैसे कि एक एकाधिकारी हर बाजार में उतनी ही मात्रा बेचेगा कि हर बाजार मे सीमान्त आगम आपस मे बराबर हों तथा कुल मात्रा की सीमान्त लागत के भी बराबर हो। लाभ के साथ विवेचन करने की सम्भावना भिन्न-भिन्न सूत्रो की पूर्ति की लोच मे अन्तर पर अर्थात् हर खरीदारो के समूह के औसत लागत वक्र की लोच पर निर्भर होगी।" किस हद तक क्रयाधिकारी विवेचन कर सकता है,

यह बेचने वालों की संख्या तथा हर एक की पूर्ति की दशाओं पर निर्भर है।

एक प्रकार से एक एकाधिकारी अपने प्रयोग किये हुए साधनो का क्रयाधिकारी है। और यदि साधन एक ही प्रकार के नही है, तो वह उनमे विवेचन कर सकेगा, खासकर एक अपूर्ण लोचदार पूर्ति की दशा मे ।

१४. दोतरफा एकाधिकार (Bilateral Monopoly):—यह शब्द उस स्थिति पर लागू होता है जब कि एक क्रय के एकाधिकार के साथ-साथ बिक्री का एकाधिकार भी होता है, अर्थात् एक एकाधिकारी का एक क्रयाधिकारी सामना करता है। वास्तविक संसार में ऐसी स्थिति का होना सामान्य नही है। एकाधिकारी ऐसे पैमाने पर कार्य करना चाहता है जहा कि सीमान्त लागत सीमान्त आगम के बराबर है क्योकि ऐसा करने से उसका अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। दूसरी ओर एक क्रयाधिकारी वह मात्रा खरीदना चाहता है जिससे कि सीमान्त लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाय। यह बताता है कि खरीदार के लिये अनुकूलतम कीमत एक होती है और बेचने वाले के लिए दूसरी। यह निर्धारित करने के लिये कि इन कीमतो के बीच कौन सी कीमत स्थापित होगी, इसके लिये कोई आर्थिक सिद्धान्त नही है। माग तथा लागत वक्रो का पूरा ज्ञान नही है और यह ठीक-ठीक नही बताया जा सकता कि कितनी मात्रा किस कीमत पर बिकेगी। कीमत परिस्थिति पर निर्भर होगी। बहुत सी स्थितियो मे यह समझौते की कीमत होगी जो दोनो पक्षो की मोल तौल की शक्ति से प्रभावित होती है। आर्थिक प्रेरणा के अतिरिक्त शासन सम्बन्धी कारण भी निर्णय मे हस्तक्षेप कर सकते है ।

निर्देश पुस्तके

Thomas - Elements of Economics
Marshall Principles of Economics
Knight - Economic Principles in Practice
Pigou—Economics of Welfare
Benham—Economics

अध्याय २५

अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य

१. भूमिका—अभी तक हमने मूल्य को पूर्ण प्रतियोगिता और पूर्ण एकाधिकार की स्थिति द्वारा निर्धारित होने पर विचार किया है। यह परिस्थितिया वास्तविक जीवन के लिये साधारण नही है। अधिकतर वास्तविक परिस्थितिया इन दोनो के बीच मे रहती है, जिनको "एकाधिकारी प्रतियोगिता" अथवा "अपूर्ण प्रतियोगिता" का नाम दिया जाता है। इस अध्याय मे हम इस विषय पर विचार करेगे कि ऐसी परिस्थितियो मे मूल्य निर्धारण कैसे होता है।

हमने पिछले अध्याय मे पढा है कि प्रतियोगिता इन तीन शर्तो के होने पर पूर्ण होती है :—

(१) उत्पत्ति के साधनों और मूल्य पर कोई प्रतिबन्ध न हो। (२) कोई भी नियत्रण की इकाई मूल्य पर प्रभाव न डाल सके; प्रत्येक इकाई उद्योग के दृष्टिकोण से बहुत छोटी हो। कोई भी क्रेता और विक्रेता वस्तु के योग का थोडा सा भाग खरीदता और बेचता हो। और (३) खरीदने तथा बेचने वालो को बाजार का पूरा ज्ञान हो। प्रत्येक खरीदार यह जानता हो कि विक्रेता किस कीमत पर बेच रहे है। इसलिये कोई भी विक्रेता अपने प्रतिद्वन्द्वियो से थोडी कीमत कम करके क्रेताओ को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। इसी प्रकार यदि बाजार भाव से थोडा भी अधिक वह विक्रेताओ से लेता है, तो वह अपने क्रेताओ एव ग्राहको को खो देगा। अर्थशास्त्र की परिभाषा मे इसे इस प्रकार कह सकते है : "पूर्ण प्रतियोगिता मे हर एक विक्रेता की उत्पादित वस्तु की माग, बाजार मूल्य के दोनो ओर छोटे से क्षेत्र मे बहुत घटने-बढने वाली होती है।"

२. अपूर्ण प्रतियोगिता—जहा प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, वहां उपर्युक्त शर्तें नही होती। इस प्रकार (१) वहा पर उत्पत्ति के साधनों को एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे आने-जाने पर प्राकृतिक अथवा कृत्रिम बन्धन होते है। यह बन्धन उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति को विभिन्न व्यवसायो मे समान होने से रोकते है। (२) नियंत्रण की इकाई बडी होनी चाहिए, जो वस्तुओ का उत्पादन घटा-बढा कर उसकी कीमत पर प्रभाव डाल सके तथा (३) विज्ञापन द्वारा या किसी दूसरे कारणो की सहायता से व्यापारी धुएँ के परदे के पीछे इस प्रकार कार्य करते है कि कीमत तथा गुण छिपे रहते है। जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है तब प्रतिरोधी उत्पादक कठिनाइयो के कारण अपने मूल्य को कम करके एक दूसरे के ग्राहको को आकर्षित नही कर सकते। इस प्रकार वह अपने ग्राहकों को खोए बिना भी पर्याप्त ऊंची कीमते वसूल कर सकते है।

३. अपूर्ण प्रतियोगिता किस प्रकार प्रकट हो सकती है—एकाधिकार की कुछ स्पष्ट घटनाओं पर पिछले अध्याय मे विचार किया जा चुका है। कुछ ऐसे भी कारण है जो प्रतियोगिता को पूर्ण बना देते है। यहा कुछ अर्ध-एकाधिकार की अवस्थाए उत्पन्न हो सकती है, जो ऊपरी तौर मे प्रतियोगिता करने वाले विक्रेताओ को एकाधिकार के लाभ की प्राप्ति के लिये उकसाती है। ऐसी हालत तब उपस्थित होती है जब किसी वस्तु का बाजार अपूर्ण होता है, चाहे उस वस्तु के उत्पादको की सख्या बहुत बड़ी क्यों न हो। उत्पादक अपनी वस्तुओ के साथ सेवाओ को मिलाकर तथा अन्य तरीको से अपनी-अपनी वस्तुओं को ग्राहको की दृष्टि मे पृथक्-पृथक् कर लेते है। इससे उन्हे सीमित एकाधिकार की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की एकाधिकार प्रतियोगिता की परिस्थितिया निम्नलिखित कारणो से पैदा हो सकती है —

(अ) **यातायात संबंधी लागत खर्च**—यातायात सबधी खर्च बाजार के क्षेत्र को सीमित कर सकते है और इस प्रकार प्रतियोगिक वस्तुओं को क्षेत्र से अलग रख सकते है। यह एक विक्रेता को एकाधिकारपूर्ण कीमते लेने योग्य बना देगी।

(ब) **उपभोक्ताओं में योग्यता, समाचार व सूचना का अभाव**—उपभोक्ता इस बात से अनभिज्ञ रहते है कि वह उसी वस्तु को दूसरे उत्पादक से सस्ती कीमत पर खरीद सकते है और इस प्रकार वह प्रतियोगिता मूल्य से अधिक देने को तैयार हो जाते है।

(स) **गुणों में वास्तविक और अनुमानित अंतर**—यह भी वस्तु का विवेचन कहलाता है। उपभोक्ता विशिष्ट चिन्ह वाली वस्तुओ, जैसे चाय, काफी, साबुन, सिगरेट, कपडे इत्यादि का प्रयोग करने लग जाते है। यह क्रम उन वस्तुओ के उत्पादको को इस योग्य बनाता है कि वे प्रतियोगिता की कीमतो से अधिक ले सके।

(द) कुछ उपभोक्ता वस्तुओ को फैशनेबल (चटक-मटक) वाली दुकानो से खरीदना पसन्द करते है ; जैसे चादनी चौक और सदर बाजार की अपेक्षा कनाट प्लेस व नई दिल्ली से। इसी कारण कनाट प्लेस वाले उन्ही वस्तुओ के लिये अधिक दाम लेते है।

अन्तिम दो हालतो मे अगर कीमत बहुत अधिक होती है तो उपभोक्ता या तो उस चिन्ह वाली वस्तु को अथवा उस खरीदने के स्थान को बदल देता है।

४. अपूर्ण प्रतियोगिता की बातें—अपूर्ण प्रतियोगिता की बाते भी वैसी ही है, जिनका अध्ययन हम एकाधिकार मे कर चुके है। एकाधिकार मे हमने क्रेता व विक्रेता को एक व्यक्ति अथवा एक सगठित सघ के रूप मे मान लिया था। अपूर्ण प्रतियोगिता में एक ही वस्तु के लिये बहुत से क्रेता अथवा विक्रेता हो सकते है। लेकिन कुछ बातों के कारण हर एक के पास स्वतः उस वस्तु के लिये बाजार हो सकता है। वे सब एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते है लेकिन प्रतियोगिता अपूर्ण होती है जिसका फल यह होता है कि एकाधिकार की शर्तें तो रहती है, लेकिन एक बहुत छोटे क्षेत्र में।

५. अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य—अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मे मूल्य-निर्धारण मौलिक रूप से पूर्ण प्रतियोगिता से भिन्न होता है। जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है तो जिस वस्तु का क्रय-विक्रय होता है, वह प्रामाणिक नही होती और इसलिये कीमत के आधार पर प्रतियोगिता सभव नही है। अब खरीदार केवल एक वस्तु ही नही खरीदते बल्कि उन सेवाओ को भी साथ-साथ खरीदते है जो उस वस्तु के साथ जुडी हुई होती है। वे अपनी पसन्द की वस्तु के लिये अपेक्षाकृत अधिक देने को तैयार रहते है। वे कितना अधिक देगे, यह इस बात पर निर्भर नही करता कि उसकी वास्तविक उपयोगिता कितनी है, अथवा बेचने वाला उसके विषय मे क्या कहता है बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि खरीदार की दृष्टि मे वह वस्तु अपेक्षाकृत कितनी अच्छी लगती है।

इसके अलावा पूर्ण प्रतियोगिता मे किसी एक विक्रेता की वस्तु की माग पूर्णतः लोचदार होती है। वह बाजार-मूल्य पर प्रभाव नही डाल सकता लेकिन उस मूल्य पर जितना चाहे बेच सकता है। उसके ऐसा करने से बाजार-भाव के गिरने का कोई डर नही रहता। अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति इससे भिन्न है। विक्रेता जानता है कि खरीदार उसकी चीज बहुत पसन्द करता है। उस वस्तु के स्थान पर किसी दूसरी वस्तु के प्रयोग होने का डर नही रहता। फलस्वरूप उसकी वस्तु की माग इतनी लोचदार नही होती। इसलिये वह कीमत निर्धारित कर सकता है।

वे कौन-सी बाते है जो अपूर्ण प्रतियोगिता मे मूल्य-निर्धारण पर प्रभाव डालती है? अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी विक्रेता अपनी वस्तुओ की मन्डियो को बढाना चाहते है। यह वे दूसरो के छाप या ब्रान्डस् के मत्थे पर कर सकते है। लेकिन इसके लिये उन्हे पूर्ण प्रतियोगिता के अपेक्षाकृत कही अधिक कीमत गिरानी पडेगी। तब कही जाकर दूसरो के ग्राहक तोडे जा सकेगे। लेकिन ऐसा करते समय उसे इस बात का ध्यान रखना पडेगा कि अन्य विक्रेता भी दाम गिरा सकते है और आगे चलकर कीमत को बढाना न तो ठीक होगा और न सभव ही होगा। जो भी मूल्य-नीति वह अपनायेगा, उसे उसके दीर्घकालीन परिणामो को ध्यान मे रखना होगा।

यदि कीमत की गिरावट दूसरो पर अधिक प्रभाव नही डालती या दूसरो के ग्राहकों मे से केवल थोडे से ही लोगो को खीचती है, तो बदले का डर बहुत कम होगा। साधारणत. प्रत्येक विक्रेता को "भूल-सुधार" के सिद्धात पर चलना होगा। प्रतियोगी वस्तुओ की कीमतें बदलती रहती है और यह मालूम करना कि अमुक कीमत का प्रतियोगी विक्रेताओ पर क्या-कैसा प्रभाव पडेगा असभव-सा है। इसलिये यदि कोई कीमत सतोषजनक पाई गई है तो अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मे विक्रेता उसी को स्थिर रखेगा।

वह कौन-सा सिद्धांत है जिसके अनुसार वह अपनी उत्पत्ति की मात्रा और कीमत

निश्चित करेगा। अपूर्ण प्रतियोगिता एकाधिकार से बहुत-कुछ मिलती जुलती है। केवल अन्तर यह है कि एकाधिकार मे एक व्यक्ति या फर्म का सारे बाजार पर अधिकार होता है, जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता मे बाजार कई भागो मे विभाजित हो जाता है और प्रत्येक भाग मे एक छोटा-सा एकाधिकारी होता है। अस्तु, प्रत्येक भाग मे कीमत का निर्धारण एकाधिकार के मूल्य-सिद्धातो के अनुसार होता है। एकाधिकार की तरह, अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी कीमत उस स्थान पर निश्चित होगी जहा पर सीमान्त लागत और सीमान्त आय बराबर होगे। अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये उत्पादक उत्पत्ति को उस समय तक बढाते रहेगे जबतक कि सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर न हो जायगी। दोनो के बराबर होने पर उत्पत्ति आदर्श बिन्दु पर पहुच जायगी।

यहा यह याद रखना होगा कि सीमान्त लागत और सीमान्त आय को समतुल्य करने का सिद्धांत तभी तक लागू होगा जब तक कि एक विक्रेता की वस्तु की माग-रेखा अपरिवर्तित रहती है। नई प्रतियोगी फर्मो के आने से माग और फलस्वरूप लाभ मे परिवर्तन होगा। शुरू मे जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, तो माग कम लोचदार होती है। अब मान लो कुछ नई फर्में खुल जाती है और ग्राहको की आवश्यकताओ की तृप्ति की दृष्टि से उनकी स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है। इसका फल यह होगा कि कुछ ग्राहक उनकी ओर खिच आयेगे और माग-रेखा बाई ओर खिसक जायगी। इसी प्रकार यदि और नई फर्में आती जायेगी, तो माग घटती चली जायगी। यदि नई फर्मों का आना आसान है, और यदि एकाधिकार लाभ प्राप्त हो रहे है, तो जबतक एकाधिकार लाभ समाप्त न हो जायगा, नई फर्में आती रहेगी।

पिछले अध्याय के चौथे भाग मे यह दिखाया गया है कि अपूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत कैसे निश्चित होती है। उसको देखने से पता चलता है कि एकाधिकार की तरह अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी, सीमान्त आय कीमत से कम होती है। पूर्ण प्रतियोगिता मे वह कीमत के बराबर होती है। अपूर्ण प्रतियोगिता मे आदर्श उत्पत्ति की मात्रा पूर्ण प्रतियोगिता के हिसाब से कम होती है।

६. अपूर्ण प्रतियोगिता मे व्यावसायिक संस्थाओं की संख्या तथा आकार—जैसा कि हम पहले देख चुके है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे व्यावसायिक सस्थाओ की सख्या इस प्रकार सगठित की जाती है कि साम्य की स्थिति मे हर एक फर्म आदर्श अथवा सर्वोत्तम आकार वाली होगी। इन हालतो मे आदर्श आकार से नीचे वाली व्यवसायी सस्थाए आगे बढेगी। जैसे वे बढे उनकी लागत गिरेगी लेकिन उनकी उत्पत्ति से प्राप्त मूल्य वही रहेगा। अगर प्रतियोगिता अपूर्ण है तो सभव है वह फर्म न बढे। उसके बढाने मे निःसदेह सीमान्त व्यय कम हो जायेगा, लेकिन साथ-साथ इसकी कीमत भी कम हो जाएगी क्योकि उसकी उत्पादन की मात्रा उसकी कीमत पर प्रभाव डालेगी। यह सभव है कि कीमत कम हो जाने पर विक्रय के लाभ से भी

अधिक हानि हो, इसलिये वह फर्म आगे बढने का प्रयत्न नही करेगी। अस्तु, अयोग्य सस्थाएं, जब तक अपूर्ण प्रतियोगिता है, तबतक रह सकती है। इस तरह सभी फर्म आदर्श आकार की नही होगी। उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि अपूर्ण प्रतियोगिता मे किसी व्यवसाय के अन्दर व्यवसायी सस्थाओ की सख्या पूर्ण प्रतियोगिता मे व्यवसायी संस्थाओ की सख्या से अधिक हो सकती है। यह इसलिये सभव है कि अयोग्य फर्म पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे बाहर निकल जाती है। अपूर्ण प्रतियोगिता मे योग्य व्यवसायी सस्थाए अयोग्य व्यवसायी सस्थाओ को बाजार से बाहर निकालने में असमर्थ रहती है। क्योकि ऐसा करने मे योग्य व्यवसायी सस्थाओ को अयोग्य व्यवसायी सस्थाओ के ग्राहको को अपनी ओर आकर्षित करने मे कुछ सीमा तक वस्तुओ की कीमत मे कमी करनी पडती है। और योग्य फर्मे ऐसा करना उचित नही समझती। पूर्ण प्रतियोगिता मे मूल्य की थोडी कमी ही अयोग्य फर्मो के ग्राहको को अपनी ओर आकर्षित करके अयोग्य फर्मो को बाजार के बाहर निकालने मे समर्थ हो जाती है।

इस प्रकार जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, तब बहुत सी फर्मे उत्पादन क्षेत्र मे होती है और प्रत्येक का उत्पादन आदर्श उत्पत्ति से कम होता है। उनमे से बहुत सी सामान्य लाभ से अधिक लाभ उठा लेती है। इस प्रकार एकाधिकार इस बात मे हो सकता है कि प्रत्येक के पास एक अर्धस्वतन्त्र बाजार हो जिसकी रक्षा, यातायात-व्यय, अनभिज्ञता और क्रेताओ की सरक्षकता द्वारा हो। ऐसी परिस्थितियों में समाज को लाभ अधिक होगा यदि उद्योग मे कुछ कम फर्मे हो। फर्मों की सख्या कम होने से प्रत्येक फर्म आदर्श आकार की हो सकेगी। इससे लागत घट जायेगी और साथ-साथ कीमत भी।

७. अपूर्ण प्रतियोगिता से हानियां—जो हानिया एकाधिकार के सबध में ऊपर कही गई है इनके अतिरिक्त कुछ और भी है, जो अपूर्ण प्रतियोगिता मे सबंधित है। ऊपरी तौर से यह कभी-कभी "प्रतियोगिता की हानियो" के रूप मे ख्याल की जाती है, लेकिन इन्हें "एकाधिकार की हानिया" अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता की हानिया कहना अधिक अच्छा होगा। यह हानिया क्रेताओ की आदतो, नासमझी अथवा अनभिज्ञताओ के कारण होती है।

(अ) प्रतियोगिक विज्ञापन-व्यय साधारणतया प्रतियोगिता की हानियों की सूची मे शामिल किया जाता है। पर वास्तव मे यह पूर्ण प्रतियोगिता के कारण नही, बल्कि अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण होता है। यदि प्रतियोगिता पूर्ण हो तो इतनी लागत की आवश्यकता नही, क्योकि तब तो हरेक फर्म अपने मूल्य को थोडा कम करके अपनी बिक्री बढा लेगी। अपूर्ण प्रतियोगिता मे उपभोक्ताओ की परपरागत पसन्दगी को तोडने के लिये कीमत मे बहुत भारी कमी करने की आवश्यकता होगी। इससे यह बात ज्ञात होती है कि प्रचार पर रुपया व्यय करके उपभोक्ताओं को फुसलाना "कि प्रचारक संस्था की उत्पादित

वस्तु अन्य प्रतिद्वन्द्वियों मे अच्छी है," देश और जाति को आर्थिक हानि पहुंचाना है।

(ब) एक ही वस्तु के दुहरा यातायात का व्यय भी ऐसी ही एक बरबादी है। उत्तरी भारत की एक सस्था दक्षिणी भारत के उपभोक्ताओ को एक वस्तु बेचती है। तथा उसी समय वही वस्तु दक्षिणी भारत की सस्था उत्तरी भारत मे बेचती है। इस प्रकार की दशा भी पूर्ण प्रतियोगिता के न होने के कारण पैदा होती है। यदि प्रतियोगिता पूर्ण होती तो थोडी सी कीमत कम करके उत्तरी भारत की सस्था वहा के क्रेताओ को आकर्षित करती और दक्षिण भारत की सस्था दक्षिण के क्रेताओ को अपनी ओर आकर्षित करती। इससे यातयात व्यय मे काफी बचत हो जाती। प्रायः होता यह है कि व्यावसायिक सस्थाएं अपने प्रचार व यातायात पर अधिक व्यय करती है, इसे वह अधिक ठीक समझती है, लेकिन वस्तुओ की कीमत को थोडा कम करके अपने पडोसी क्रेताओ को उनकी पसन्दगी के अनुसार आकर्षित नही करती।

(स) अपूर्ण प्रतियोगिता की तीसरी बरबादी यह है कि हर एक फर्म जिस के लिये वह अधिक उपयुक्त है, उसमे विशेषता प्राप्त करने के लिये असफल हो जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता मे ऐसी विशेषता तभी प्राप्त होती है, जब कि उसमे कुछ वास्तविक मितव्ययिता हो। क्योकि अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ मे हर एक सस्था को प्रचार पर रुपया व्यय करना पडता है, और अपने प्रतिरोधियो से ग्राहको को आकर्षित करने के लिये भी कीमते कम करनी पडती है इसलिये प्रत्येक फर्म अपने ग्राहको के लिये विभिन्न प्रकार तथा गुण वाली वस्तुओ को उत्पन्न करना अधिक ठीक समझती है।

(द) अपूर्ण प्रतियोगिता की एक और हानि यह है कि ऐसी हालतो मे वह योग्य व्यवसायी सस्थाए, जो कि कम व्यय मे उत्पादन कर सकती है अयोग्य फर्मो को बाजार से हटाने मे असमर्थ होती है, यदि प्रतियोगिता पूर्ण है तो फर्मे अपनी योग-उत्पत्ति इतनी बढायेगी कि मल्य उत्पादन की सीमान्त लागत तक आ जाय जिसके फलस्वरूप अयोग्य व्यावसायिक सस्थाए पूर्ति करने मे असमर्थ होगी। लेकिन यदि प्रतियोगिता पूर्ण है तो योग्य व्यावसायिक सस्था को अपनी प्रतिरोधी अयोग्य व्यावसायिक सस्था के उपभोक्ताओ को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये काफी रुपया व्यय करना पडेगा या इस उद्देश्य-प्राप्ति के लिए अपनी कीमत को घटाना पडेगा। इसलिये यद्यपि अयोग्य फर्मे सीमान्त लागत से अधिक कीमते ले रही हो तो भी योग्य फर्मे उनको बाजार से हटाना पसन्द न करेगी।

(ई) अन्त में, अपूर्ण प्रतियोगिता उन वस्तुओ के मान को स्थापित करने मे बाधा डाल सकती है, जो उत्पादन के सर्वोच्च तरीको को प्रयोग मे लाने के लिये आवश्यक हों। ऊंची उत्पादन लागत पर विभिन्न प्रकार की मोटरे कई फर्मों द्वारा बनाई जाती है। यदि केवल कुछ डिजाइनों की ही मोटरे बनाई जाये तो बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लाभ के कारण प्रति इकाई लागत काफी घटाई जा सकती है। पूर्ण प्रतियोगिता में

इस प्रकार की बृहद् उत्पादन इकाइयाँ निकलेगी। अपूर्ण प्रतियोगिता मे कोई उत्पादक एक विशेष डिजाइन की कारे अधिक सख्या मे उत्पादन करने का खतरा नही उठायेगा, क्योकि अपने प्रतिस्पर्धी उत्पादको के पास से क्रेताओं को आकर्षित करने के लिये जो व्यय होगा, वह अधिक मात्रा मे उत्पादन की मितव्ययिताओं से अधिक होगा।

निर्देश पुस्तकें

Chamberlin—Theory of Monopolistic Competition.
Meade—Economic Analysis and Policy.
Stigler—Theory of Price.
Meyers—Elements of Modern Economics.
Boulding —Economic Analysis.
Tarshis—Elements of Economics.

अध्याय २६

वितरण : सामान्य सिद्धान्त

(DISTRIBUTION : GENERAL PRINCIPLES)

१. भूमिका—वर्तमान प्रसंग मे वितरण का अर्थ व्यापारियो तथा मध्यमवर्ग के लोगों को वितरित करने के उन कार्यों से नही है जिनके द्वारा वस्तुए कारखानो से निकाल कर थोक विक्रेता तथा फुटकर बिक्री की दुकानो मे जाती है और तब उपभोक्ता के पास पहुचती है। यह सब काम उत्पादन मे आ जाते है। जैसा कि हम देख चुके है उत्पादन क्रिया तब तक पूर्ण नही कही जा सकती, जब तक कि कोई वस्तु अन्त मे उपभोक्ता के पास न पहुच जाय। "वितरण का अर्थशास्त्र," चैपमैन (Chapman) के शब्दो मे ,"किसी वर्ग द्वारा उत्पादित किये गये धन को एजेटो अथवा मालिको के एजेटो तथा जो भी उत्पादन मे सक्रिय रहे है, उनके बीच बाटने से सबध रखता है।

प्रारम्भिक समाज मे उत्पादन का ढग इतना साधारण था कि सभी साधनो की पूर्ति एक व्यक्ति स्वय कर लिया करता था। वितरण का प्रश्न इसलिये उठता ही नही था और किसी प्रकार के स्पष्टीकरण की आवश्यकता नही थी। लेकिन जैसे-जैसे उत्पादन जटिल होता जाता है और विभिन्न एजेट विशेषता प्राप्त करते जाते है उन्हे विभिन्न क्षेत्रो से पाने के लिये उचित पारिश्रमिक की आवश्यकता होती है। साथ ही यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि कुल उत्पत्ति की कितनी मात्रा किस साधन के द्वारा हुई है। इस प्रकार समस्या जटिल हो जाती है, और सचेष्ट अध्ययन की आवश्यकता होती है।

२. एक अलग सिद्धांत की आवश्यकता—विनिमय विभाग मे हमने पढा था कि मूल्य का सिद्धात क्या है। यह वह सिद्धात है, जिसके द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित किया जाता है। क्या वही सिद्धात उत्पादन के एजेटो द्वारा, जो सेवा की जाती है, उसका मूल्य निर्धारित नही कर सकता। नही, एक अलग सिद्धात की आवश्यकता है। मार्शल (Marshall) वितरण के अलग सिद्धात की आवश्यकता इसलिये उचित समझते है कि "स्वतन्त्र प्रकृति के मनुष्य अपने काम पर उसी प्रकार उन्ही सिद्धातो पर नही लाये जा सकते, जिस प्रकार कि मशीन, एक घोडा या एक दास लाया जा सकता है।" आगे वे कहते है कि अगर वे ऐसे होते तो मूल्य के वितरण और विनिमय अगो मे बहुत कम अन्तर होता, क्योंकि प्रत्येक उत्पादन का एजेट उतना बदला चाहता है जो कि उत्पादन की लागत को सभी तरह से पूर्ण कर सके। परन्तु समुचित रूप से केवल मनुष्य मे ही नही वरन् और भी उत्पादन के साधनो मे जैसे पृथ्वी आदि मे, प्रधानतया पूर्ति के मामले मे विचित्र विशेषताये होती है। उदाहरण के लिये, उत्पत्ति के साधनो की सीमान्त उत्पादन लागत

उसी अर्थ मे प्रयुक्त नही होती जब कि अन्यत्र उसे हम साधारण वस्तुओ के लिये प्रयोग करते है। उदाहरणार्थ जमीन प्रकृति की उपहार स्वरूप है। इसकी योग-पूर्ति सदा के लिये नियत है। जब एक बार सब जमीन काम मे लाई जा चुकी है तो उसकी पूर्ति किसी भी दशा मे बढाई नही जा सकती, चाहे कितनी अधिक कीमत उसकी सेवाओ के लिये क्यो न दी जाय। इसमे कोई उत्पादन लागत नही होती। वह इस अर्थ मे जैसा कि रेडियो सेट मे होता है पूजी की मात्रा बढाई जा सकती है परन्तु इसका पूर्ति-मूल्य, जैसा कि और वस्तुओ मे होता है, उत्पादन की सीमान्त लागत के आश्रित नही रहता। जहा तक श्रम का सबध है, भला एक मनुष्य के उत्पादन की सीमान्त लागत क्या हो सकती है? मनुष्य व्यापार के विचार मे पैदा नही किये जाते। यही एक उद्योग पर भी लागू होता है।

इस प्रकार मूल्य का सिद्धात, जो कि वस्तुओ के मूल्य निर्धारण म मदद देता है, वह पूर्ण रूप से सेवाओ के मूल्य अथवा विभिन्न उत्पादन के एजेण्टो का राष्ट्रीय बाट के भाग के मूल्य निर्धारित करने मे लागू नही होता।

दो बातो मे दोनो सिद्धान्त—मूल्य का सिद्धान्त और वितरण का सिद्धात—एक दूसरे से मिलते-जुलते है (१) माग के पक्ष मे, दोनो वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य सीमान्त उपयोगिता अथवा सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निर्धारित किये जाते है, और (२) पूर्ति के परिवर्तन से, जो तात्कालिक प्रभाव मूल्य के ऊपर पडता है, वह भी एक समान ही होता है, जैसे पूर्ति मे प्रसार उसके मूल्य को कम कर देगा।

मगर पूर्ति के पक्ष मे कुछ मुख्य अन्तर है, प्रधानतया जो कीमत का प्रभाव पूर्ति पर पडता है। एक वस्तु की जब कीमत बढ जाती है तो पूर्ति महगाई का लाभ उठाने के लिए बढ जाती है। परन्तु उत्पादन के एजेन्टो के मामले मे ऐसा नही होता। उदाहरणार्थ यदि किराया अथवा मजदूरी बढ जाती है, तो भूमि व श्रम की पूर्ति कमशः नही बढेगी। मजदूरी चाहे जितनी बढ जाए परन्तु इसके कारण जनसख्या नही बढेगी। गेहू की कीमत बढ जाने से उसका उत्पादन बढ जाता है, और यदि गेहू की कीमत कम हो जाय तो गेहू का उत्पादन कम होगा। लेकिन अगर मजदूरी कम हो जाती है तो इसका अर्थ यह नही कि कम बच्चे पैदा किये जायेगे। यह सच है कि जनसंख्या के परिवर्तन पर आर्थिक दृष्टिकोण का कोई प्रभाव नही पडता। इस प्रकार उत्पादन के साधनो की पूर्ति उनके पुरस्कार-परिवर्तन के साथ शीघ्रता से नही बदलती। एक एजेन्ट की पूर्ति माग के अनुसार उतनी तेजी से नही बदल सकती जितनी कि एक वस्तु की पूर्ति बदल सकती है। यही नही, एक उत्पादन के एजेन्ट का उत्पादन-व्यय निर्धारित नही किया जा सकता। उत्पादन के एजेन्ट के उत्पादन-व्यय के बारे में कहना, जैसाकि श्रम के बारे में कहना, भद्दा मालूम पड़ता है। क्या आप एक मजदूर का अथवा एक एकड़ भूमि का उत्पादन-व्यय बतला सकते है? इस प्रकार यद्यपि एक वस्तु के विषय में हम कह सकते है कि उसका मूल्य दीर्घ काल में

लगभग उत्पादन लागत के बराबर हो जाता है, परन्तु यह प्रश्न उत्पादन के एजेन्ट के सम्बन्ध में नहीं उठ सकता क्योंकि उसकी लागत निर्धारित नहीं की जा सकती। इस प्रकार जो वस्तुओं की अपेक्षा अपनी सेवाओं की पूर्ति करते है, उनका ठीक रूप से निर्णय नहीं हो पाता कि बाजारू मूल्यों में उन्हें पर्याप्त पुरस्कार मिल सका अथवा नहीं। इस प्रकार उत्पादन के एजेन्टों की सेवाओं की पूर्ति का हिसाब मांग के उतार-चढाव के समय करना, यह बहुत कठिन कार्य है और इसका ठीक-ठीक विश्लेषण करना आसान काम नहीं है।

इन विशेषताओं के होते हुए भी माग और पूर्ति का सामान्य सिद्धान्त उत्पादन के एजेन्टों के लिए भी लागू होता है। परन्तु उसमें कुछ आवश्यक सुधार करने होते है। इसलिये यह आवश्यक है कि मूल्य के सिद्धान्त से वितरण का सिद्धान्त अलग रखा जाय।

जहा तक प्रारम्भिक वाद-विवाद का सम्बन्ध है, हम निम्न रूप में विचार करेगे। प्रथम स्थान में हमें यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि किस चीज का वास्तविक वितरण होता है। अन्य शब्दों में राष्ट्रीय आय व राष्ट्रीय भाग का सही अर्थ क्या है। दूसरे, हमें उन आढतों को समझाना पडेगा, जहा से वितरण होता है। तीसरे, हमें उन साधारण सिद्धान्तों को भी बताना पडेगा जिनसे प्रत्येक साधन का भाग निश्चित किया जा सकता है।

३. राष्ट्रीय लाभाश (National Dividend)—राष्ट्रीय लाभाश की परिभाषा विभिन्न रूपों में की गई है। पीगू (Pigou) के अनुसार "**राष्ट्रीय लाभांश पदार्थ-विषयक आय का वह भाग है, जिसमें विदेश में हुई आय भी शामिल रहती है, जो मुद्रा में मापी जा सकती है।**" इस प्रकार पीगू के अनुसार राष्ट्रीय लाभाश को निश्चित करने में केवल वही वस्तुए व सेवाएं शामिल की जानी चाहिए, जिनका बाजार में विनिमय हुआ हो। यह परिभाषा उन सेवाओं को, जो एक व्यक्ति स्वय अपने कुटुम्ब के व्यक्तियों की अथवा दोस्तों की नि.शुल्क करता है, अलग रखती है। उसी प्रकार सार्वजनिक सम्पत्ति, जैसे बागों अथवा पुलों (टोल-रहित) आदि द्वारा उठाये जाने वाले नि.शुल्क लाभों को भी शामिल नहीं करती। यह परिभाषा बहुत सकीर्ण है और विरोधियों को बढावा देती है। पीगू ने स्वय एक का उल्लेख किया है। यदि एक आदमी घर की नौकरानी से शादी कर लेता है तो राष्ट्रीय आय कम हो जायगी। यह इसलिये कि अब सेवाओं के लिए कुछ चुकाना नहीं पड़ता, हालाकि सेवाए वही हो रही है।

राष्ट्रीय आय की परिभाषा कई तरह से की जाती है जैसेकि उत्पादित की हुई आय, एजेन्टों द्वारा प्राप्त आय, खर्च की हुई आय और मनोरजन में व्यय की हुई आय। अन्तिम बात भावना से सम्बन्धित है, जिसकी माप नहीं हो सकती। मार्शल इसकी उत्पादित की हुई सेवाओं और चीजों के रूप में इस प्रकार परिभाषा करते है: "**देश का श्रम और पूंजी, जो कि उसके प्राकृतिक साधनों पर कार्य कर रहा है, प्रतिवर्ष भौतिक तथा अभौतिक, सब प्रकार की सेवाओं से युक्त वस्तुओं का शुद्ध उत्पादन किया करता है।**" **इसी को**

मार्शल राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय अंश कहते है। "शुद्ध" शब्द का प्रयोग इसलिए या गया है, कि जो भी कुल उत्पादन होता है उसमे से कुछ भाग अवमूल्यन तथा अन्य फुटकर कार्यों मे कम हो जाता है, जब कि विदेशों से शुद्ध आय जुड़ जाती है ।

दूसरी ओर फिशर (Fisher) के विचारानुसार, "**वास्तविक राष्ट्रीय आय, कुल वार्षिक उत्पादन का वह भाग है जो कि वर्ष भर में प्रत्यक्ष रूप से उपभोग किया जाता है।**" फिशर की परिभाषा तर्कयुक्त है, जब कि मार्शल की बहुत आसान है, क्योंकि वस्तुओ व साल भर की उत्पादित सेवाओ को मापा जा सकता है, अपेक्षाकृत इस के कि उनकी एक सूची बनाई जाय, जिनकी वास्तव मे खपत हो चुकी है। जैसा कि मार्शल सकेत करते है कि अवमूल्यन भी उदार दृष्टिकोण से एक प्रकार का उपभोग ही है। इस उदार दृष्टिकोण से यह सच है कि कुछ हालतो को छोड कर सारा उत्पादन उपभोग के लिये ही है। इसलिए राष्ट्रीय अश का अनुमान उत्पादन के आधार पर करना लगभग उपभोग के आधार पर करने के ही समान है ।

इस प्रकार का प्राप्त राष्ट्रीय लाभाश एक ऐसा स्रोत है, जिसके द्वारा उत्पत्ति के साधन अपना पुरस्कार पाते है। मार्शल के शब्दो मे "सभी वस्तुओ का योग, जो उत्पादित की जाती है, एक सच्चा स्रोत होता है, जहा से उन वस्तुओ की माग-कीमते चलती है और इसलिए उन साधनो की भी जो उनके बनाने मे प्रयोग होते है।" दूसरे शब्दो मे, इसी को इस प्रकार रख सकते है—राष्ट्रीय लाभाश वह उत्पादन का योग है जो कि देश के अन्दर उत्पादन के सभी एजेन्टो को भुगतान करने का प्रमुख साधन है। इसको श्रम की मजदूरी, पूजी का व्याज और अन्त मे उत्पादक का आधिक्य अथवा भूमि का लगान एव अधिक उत्पादन के अन्य लाभो के रूप मे बाटा जा सकता है। इसमे उपर्युक्त सभी समा जाते है और यह सभी के बीच वितरण किया जाता है। यह जितना ही अधिक होगा, उन हरेक का भाग भी अधिक होगा, बशर्तेकि अन्य बाते समान रहे।

इसलिए यह बात ध्यान देने योग्य है कि **राष्ट्रीय लाभांश एक कोष नहीं है, यह एक धारा है जैसा कि मार्शल ने कहा है।** यह वह नही है जो पहले उत्पादित करके तथा इकट्ठा करके साल के अन्त मे वितरण किया जाता है । क्रय शक्ति लगान, मजदूरी, व्याज, लाभ आदि के रूप मे वितरित होती है तथा चीजे व सेवाए उत्पादन के ढग मे लगातार बाजार मे क्रय-शक्ति रखने वालो द्वारा खरीदी जाती है। इस प्रकार राष्ट्रीय अश लगातार पैदा किया जाता है और उपभोग किया जाता है और साल के अन्त मे दिखाने के लिए कोई आधिक्य नही रहता।

४. राष्ट्रीय लाभांश की गणना (Calculation of the National Dividend)—राष्ट्रीय आय की गणना करने के मुख्यतः तीन ढंग है :

(अ) प्रथम ढंग उत्पादन की गणना है—सब कृषि व व्यापार सम्बन्धी उत्पादन के मूल्य का अनुमान कर लो तथा अवमूल्यन व किसी चीज को बदलने के लिए कुछ हिस्सा

ले लो। उस वस्तु को किस प्रकार बदलना होगा, इसको इस तरह समझा जा सकता है। मान लो कि माल के प्रारम्भ मे एक मशीन ली गई, जिसकी लागत १०,००० रु० है और यह अनुमान लगाया गया कि यह १० साल चलेगी, तो साल के अन्त मे उसकी कमी या अवमूल्यन १००० रु०होगा। उसे कुल-उत्पादन मे घटाना चाहिए, जिस से असली उत्पादन मालूम किया जा सके। इसी प्रकार कुछ छूट अस्थायी पूजी पर देनी होगी जो विभिन्न प्रकार के कच्चे माल के रूप मे इधर-उधर करने तथा भूमि और खाने खोदने पर लगाई जाती है।

(ब) दूसरा ढग यह है कि सब आदमियो की आमदनी को जोड लिया जाय, चाहे वे आयकर देते हो या नही। यह बात देश के सामान्य विचित्र कुटुम्बो की आय को देख कर जानी जा सकती है।

(स) तीसरा ढग पेशे की गणना करना बतलाया गया है। इसमे सभी आदमियो की, जो विभिन्न उत्पादन के क्षेत्रो मे लगे है, आमदनी शामिल है।

हमे आय का अनुमान करते समय, उपहार की कीमतो को,जिसके लिये कोई सेवाए नही की गई है, निकाल देना चाहिए। इसी प्रकार अनार्थिक आन्तरिक कर्जो का ब्याज, बुढापे की पेशन, मक्कारी से कमाया हुआ धन आदि को निकाल कर आय का अनुमान करना चाहिए। दुहरी गणना अर्थात्––वही आय, जिसकी एक बार गणना कर चुके है, दोबारा न गिनी जाये। इसके लिये विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

५. वितरण का स्वरूप (Nature of Distribution)––राष्ट्रीय आय का वितरण, जो यहा समझाया गया है, वैयक्तिक नही बल्कि कार्य-सम्बन्धी है। वितरण व्यक्तियो के बीच व्यक्तियो के रूप मे नही होता, बल्कि उत्पादन के साधनो के रूप मे होता है। वही व्यक्ति चारो साधनो का प्रतिनिधित्व कर सकता है। जैसे पजाब का किसान जमीन का मालिक बन कर उस पर मालगुजारी, मजदूर बन कर मजदूरी और उद्योगपति बन कर उस पर लाभ ले सकता है। हालाकि सभी साधनो की पूर्ति वह स्वय ही करता है, फिर भी उसका पुरस्कार अलग-अलग निर्धारित करना कोई कठिन काम नही। उसके भागो को हर हालत मे निकालने का सब से आसान ढग यह है कि उस किसान ने यदि अपनी जमीन को किराये पर उठाया होता तो उसकी क्या मालगुजारी होती, तथा यदि उसने मजदूर रखे होते, तो उन्हे कितनी मजदूरी देता।

६. वितरण सस्था (The Agency of Distribution)––यह स्पष्ट है कि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को जो कुछ मिलता है वह एक प्रकार से उसकी सेवा की कीमत होती है। अब प्रश्न यह है कि उसका कौन क्रेता होता है कौन विक्रेता ? विक्रेता उसका स्वत. एजेन्ट होता है अथवा उसका मालिक। जैसाकि हम पिछले अध्याय में देख चुके है, वह साधन जो कि भूमि, श्रम, पूजी आदि को एक जगह इकट्ठा करता है, उसे

साहसी व्यवसायी कहते है, जो कि एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का एक संघ हो सकता है। साहसी व्यवसायी ही उद्योग स्थापित करता है। इसके कारण उत्पादन के विभिन्न साधनों की मांग होती है। उद्योगपति अपने निजी उपयोग के लिए नही, बल्कि समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनकी सेवाओ को खरीदता है। इस प्रकार वे समाज के प्रतिनिधि के रूप में काम करते है। अन्त में, समाज ही उत्पादन के साधनो एव उद्योगपति की सेवाओ को खरीदने वाला होता है। उद्योगपति तो एक एजेन्ट की तरह विभिन्न साधनो को मजदूरी, किराया व ब्याज बाटने वाला होता है।

७. स्थानापन्न अथवा प्रतिस्थापन का सिद्धांत (Principle of Substitution)—उद्योगपति उत्पादन के विभिन्न साधनो को लगाने मे स्थानापन्न सिद्धांत के अनुसार कार्य करता है। इस सिद्धान्त का कार्य हम उपभोग-क्षेत्र में देख चुके हैं। वहां एक उपभोक्ता अपनी आमदनी को विभिन्न मदो में इस प्रकार व्यय करता है, जिससे कि उसे अधिक से अधिक सतोष प्राप्त हो सके। यह हम देख चुके है कि यह तभी प्राप्त हो सकता है, जबकि वह विभिन्न मदो की सीमान्त उपयोगिता को समान रखे।

एक उद्योगपति भी ठीक उसी प्रकार कार्य करता है। वह एक साधन को दूसरे साधन से बदलता रहता है, जब तक कि सब साधनों का सीमान्त उत्पादन समान नही हो जाता। यह सयोग सब से अधिक किफायतशार तथा अधिक से अधिक लाभ देने वाला होता है। पर सीमान्त उत्पादन शक्ति क्या है ?

८. सीमांत उत्पादन शक्ति (Marginal Productivity)—किसी साधन के सीमान्त उत्पादन का अर्थ उस मात्रा से होता है जो उसकी सीमान्त इकाई द्वारा कुल उत्पत्ति मे बढोतरी होती है। इसकी परिभाषा इस प्रकार की जाती है : अन्य साधनो की दी हुई मात्रा के साथ जो उत्पत्ति किसी साधन के बढ़ाने से होती है, उसे सीमान्त उत्पादन कहते है। व्यापार की सीमा पर किसी साधन को जो कुछ भुगतान किया जाता है, वह उस साधन की इकाई द्वारा बढे हुए उत्पादन के मूल्य के बराबर होता है। इस बात को ध्यान में रखो कि बढा हुआ उत्पादन केवल बढी हुई साधन की इकाई द्वारा ही नही होता, अर्थात् इस अर्थ मे कि इस इकाई ने ही अकेले इतना उत्पादन किया है, क्योंकि उत्पादन सगठित रूप से सब साधनों के सहयोग से ही हो सकता है। हम कुल उत्पत्ति के अलग-अलग अनेक भाग नही कर सकते। हम केवल उस अन्तर को माप सकते है जो एक साधन की इकाई बढाने से कुल उत्पत्ति मे होता है। जब इस इकाई को किसी तरह काम में लगाना ठीक समझा जाता है, (जितना इस पर व्यय होता है बस उतनी ही उस से आय होती है) तब यह सीमान्त इकाई कहलाती है और इसकी उत्पादन शक्ति उस उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति कहलाती है।

हम उपभोग विभाग में देख चुके है कि किसी वस्तु की पूर्त्ति की वृद्धि से, मांग वही रहने पर, उसकी सीमान्त उपयोगिता कम हो जाती है। उसी प्रकार उत्पादन की पूर्त्ति की

वृद्धि से उसकी उत्पादन शक्ति कम हो जाती है। सीमान्त उत्पादन शक्ति मे गिरावट का अर्थ यह है कि अधिक सामग्री होने के कारण उत्पादन के साधन उन कार्यों मे लगाये जाय, जहां उत्पादन शक्ति कम है। ठीक उसी प्रकार सीमान्त उत्पादन शक्ति मे वृद्धि का अर्थ है कि जब साधन पहले की अपेक्षा अधिक दुर्लभ हो जाता है तो यह उन कार्यों से हटा लिया जाता है, जहा पर उसकी उत्पादन शक्ति बहुत कम होती है।

९. वितरण का सीमांत उत्पादन शक्ति सिद्धांत (Marginal Productivity Theory of Distribution)—अब हम इस दशा मे है कि सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धान्त को, जो कि मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के बिलकुल अनुरूप है, समझ सके। सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन के प्रत्येक साधन को वही पुरस्कार मिलता है, जो सीमान्त उत्पादन के बराबर होता है। इसलिए उत्पत्ति के साधन उन स्थानो से हट कर जहा पर सीमान्त उत्पादन शक्ति कम होती है, वहा चले जाते है, जहां सीमान्त उत्पादन शक्ति अधिक होती है। इस प्रकार उत्पत्ति के किसी साधन की दी हुई पूर्त्ति ऐसे ढग से बाटी जाती है कि सब प्रयोगो मे उसका सीमात उत्पादन बराबर रहे। किसी प्रकार के श्रम को ले लीजिए। यदि श्रम की सब इकाइया पूर्ण रूप से अदली-बदली जा सके और एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे स्वतन्त्रतापूर्वक जा सके तो श्रम की दी हुई पूर्त्ति इस प्रकार बाटी जायेगी कि उसकी सीमात उत्पादन शक्ति प्रत्येक व्यवसाय मे बराबर हो। यदि श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति एक व्यवसाय मे कम और दूसरे में अधिक है, तो यह कम वाले से अधिक वाले व्यवसाय मे चली जायगी। पहले व्यवसाय की अधिक पूर्त्ति उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति को कम कर देगी तथा कम पूर्त्ति उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति को बढा देगी। यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि दोनों व्यवसायो में श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति बराबर नही हो जायगी।

दूसरी ओर, प्रत्येक व्यवसाय मे उद्योगपति उत्पत्ति के साधनो को एक दूसरे के स्थान पर, स्थानापन्न के सिद्धान्त के अनुसार बदलते रहते है। उद्योगपति इस प्रकार एक खास संयोग पर पहुंच जाते है, जो उन्हें अधिक से अधिक योग-उत्पादन शक्ति देता है। यह तभी होता है, जब कि विभिन्न साधनो की सीमान्त उत्पादन शक्ति बराबर हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि कोई उद्योगपति यह सोचता है कि उसके लिए श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति पूजी की उत्पादन शक्ति से अधिक है, तो वह अधिक श्रम और कम पूंजी व्यवसाय मे लगायेगा। इस प्रकार श्रम की उत्पादन शक्ति गिरेगी और पूजी की उत्पादन शक्ति बढेगी। यह क्रम तब तक चलता जायगा जब तक इन दोनो की सीमान्त उत्पादन शक्ति में समानता न हो जायगी।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रतियोगिता क्षेत्र मे काम करने वाला एक व्यवसायी उत्पत्ति के साधनों के लिये जो कीमत देता है, वह पहले ही से निर्धारित होती है। चूंकि

उसकी उत्पत्ति के साधनों की मांग कुल माग का महत्वहीन भाग होता है, इसलिए उसके कम व अधिक साधन लगाने से उनकी कीमतों पर कोई प्रभाव नही पड़ता। उसका काम साधनो को काम मे लाकर उस बिंदु पर पहुंचाना होता है, जिससे कि उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति उनकी कीमत के बराबर हो जाय, जो कि बाजारू शक्तियों से पहले से ही निर्धारित होनी है। उसकी हालत एक उपभोक्ता जैसी होती है, जो अपने क्रय को उस बिंदु तक ले जाता है, जिससे उसकी सीमान्त उपयोगिता बाजार के मूल्य के बराबर हो जाय। जिस प्रकार बाजार मूल्य एक व्यक्तिगत उपभोक्ता की सीमान्त उपयोगिता से नहीं, बल्कि उपभोक्ताओ की एकत्रित सीमान्त उपयोगिना के द्वारा निर्धारित किया जाता है, उसी प्रकार उत्पत्ति के एक साधन का मूल्य, किसी व्यक्तिगत व्यवसायी की सीमान्त उत्पादन शक्ति से नही, बल्कि व्यवसायों की एकत्रित सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निर्धारित किया जाता है।

इस प्रकार साम्य की दशा मे (१) उत्पादन के किसी साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति सब व्यवसायो मे बराबर रहनी है। (२) प्रत्येक उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति उसी व्यवसाय के अन्य उत्पत्ति साधनों की सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर रहती है। (३) उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति, उस साधन की कीमत द्वारा आकी जाती है।

इसलिए व्यवसाय के पूर्ण क्षेत्र मे प्रत्येक उत्पत्ति के साधन का, उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति के हिसाब से ही, भुगतान किया जाता है। यह निश्चित रूप मे आर्थिक सिद्धान्त पर आधारित है।

१०. सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त की धारणाएं—उपर्युक्त सिद्धान्त कुछ धारणाओ से ठीक है। प्रथम यह मान लिया जाता है कि साधन की सब इकाइयां समान होती है; जिससे कि जैसी एक इकाई अच्छी होती है, उसी प्रकार दूसरी भी। यदि इकाइया समान न हो तो उनको समान पुरस्कार नही मिलेगा। अधिक कुशल इकाई को अधिक पुरस्कार मिलेगा। वास्तव मे असमान इकाइयो को एक साधन नहीं माना जा सकता।

दूसरे, विभिन्न साधनों को एक दूसरे की जगह पर लगाया जा सकता है। इसलिए सीमान्त पर यह सम्भव है कि कुछ अधिक भूमि या श्रम या पूंजी लगाई जा सके। यदि स्थानापन्न सभव नही है तो विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पादन शक्ति असमान रहेगी। उस हालत मे योग-उत्पादन शक्ति अधिकतम से कम होगी। तीसरे, यह भी मान लिया जाता है कि किसी साधन की मात्रा मे इच्छानुसार परिवर्तन लाया जा सकता है। इस प्रकार यह संभव हो जाता है कि उसी साधन का कुछ अधिक या कुछ कम भाग काम में लाया जाय। अगर ऐसा नही हो सकता तो उस साधन का प्रयोग उस बिन्दु तक नहीं ले

जाया जा सकता, जिससे उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति उसके व्यय के बराबर हो सके।

चौथे, यह भी मान लिया जाता है कि विभिन्न कार्यों मे उत्पत्ति के साधन इधर-उधर जा सकते है। अगर एक साधन, एक व्यवसाय अथवा कार्य से दूसरे मे प्रयोग न किया जा सके तो उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति विभिन्न व्यवसायो मे असमान रहेगी।

पाचवे, यह सिद्धान्त क्रमागत-ह्रास नियम पर आधारित है। इसका अर्थ यह है कि अन्य वस्तुएं बराबर रहने पर किसी साधन की पूर्ति की वृद्धि मे योग-उत्पादन ह्रास के अनुपात मे बढता है।

११. सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त की आलोचना—इन स्वयसिद्धियों के होते हुए भी यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र-वेत्ताओ द्वारा सर्वमान्य नही है। इसकी बहुत सी आलोचनाएं की गई है।

(१) पहली साधारण आलोचना यह है कि एक उत्पादित वस्तु उत्पादन के सभी साधनो का सामूहिक प्रयत्न है। उनमे से हर एक का भाग अलग करना असम्भव है। यह आलोचना टाजिग और डेवनपोर्ट द्वारा की गई है, जो कि स्पष्ट रूप से सीमान्त उत्पादन शक्ति का गलत अर्थ लगाने मे हुई है। जैसा कि हम पहले बतला चुके है, सीमान्त उत्पादन सीमान्त साधन का फलस्वरूप नही है, यह तो केवल वह वृद्धि है, जो कुल उत्पत्ति मे इस की एक और इकाई लगाने से होती है, अथवा वह घटी है जो इसकी एक इकाई कम करने से होती है।

(२) दूसरा आक्रमण हाब्सन ने किया है। वे कहते है कि यदि किसी विशेष साधन की इकाई हटा ली जाती है तो सारा व्यवसाय इतना असंगठित हो जाता है कि हटाई हुई इकाई की उत्पादन शक्ति से बहुत अधिक हानि उत्पादन मे होती है। यह आलोचना भी सिद्धान्त के गलत प्रयोग से उत्पन्न होती है। हमारा ध्यान छोटे व्यवसाय के संगठन और साधन की बडी इकाइयो की ओर रहता है। अगर हम बडे व्यवसाय और साधन की छोटी इकाइयो पर ध्यान दे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सीमा पर से साधन की एक इकाई हटा लेने से दूसरे साधनों की उत्पत्ति-शक्ति पर कोई प्रभाव न पडेगा।

(३) इसके अतिरिक्त एक प्रतिकूल विचार है जिसके अनुसार सभी साधनो का सीमान्त उत्पादन का जोड कुल उत्पादन से कम होगा। और इस प्रकार जो अन्तर होगा वह किसी एक साधन द्वारा नही बल्कि सबं के सहयोग द्वारा होगा। विकस्टीड ने इस आलोचना का उत्तर दिया है। वह यह मान लेते है कि सभी साधनो की वृद्धि से उत्पादन का परिमाण भी उसी अनुपात से बढ़ेगा। लेकिन यह स्वयंसिद्धि, जिससे ज्ञात होता है कि व्यवसाय, स्थायी उत्पत्ति नियम को मानता है, सदैव उचित नही होती और इसमे कुछ कठिनाइयां उपस्थित होती है।

(४) एक अन्य आपत्ति, जो शुद्ध सीमान्त उत्पादन को मापने में होती है, जान

राबिन्सन, पीगू और जे० आर० हिक्स द्वारा उल्लिखित की गई है। यह आपत्ति बताई गई है कि बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन में जो मितव्ययिता होती है, वह किसी फर्म के साधन की इकाई की सीमान्त उत्पादन शक्ति सम्पूर्ण व्यवसाय की उत्पादन शक्ति से कम होती है। ऐसा इसलिए है कि जब कोई इकाई किसी व्यवसाय मे अधिक लगाई जाती है, तब उसके कारण एक बहुत बड़ा श्रम-विभाजन हो जाता है। लेकिन यदि कोई व्यवसाय नई पूर्ति के लिए स्वय अपने को ठीक प्रबन्धित कर लेता है तो यह बिलकुल सभव है कि किसी विशेष फर्म के साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति संपूर्ण व्यवसाय से कम हो क्योंकि इसका हटाया जाना व्यवसाय को एक विशेष फर्म से अधिक हानि पहुचा सकता है। इसलिए ऐसे उद्योगो मे एक साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति अनिर्धारित रहती है।

(५) हाब्सन का कहना है कि अधिकाश दशाओ मे साधन के प्रयोगो को अलग-अलग करना सभव नही है। वह अनुपात जिससे साधनो को काम मे लाया जा सकता है, व्यवसाय की विशेष कला की दशाओं, स्थायी पूजी जैसे मशीन आदि के द्वारा निर्धारित किया जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ मशीने ऐसी है जिन के लिये केवल एक मजदूर की आवश्यकता होगी। दो को लगाना अमितव्ययिता होगी। जब हम किसी साधन के प्रयोग को बदल नही सकते, तो उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति कैसे प्राप्त कर सकते है। साधारणतया इसके लिए उत्तर दिया जाता है कि जिस अनुपात मे विभिन्न साधनो को मिलाया जाता है, उनकी विभिन्नता मे बहुत सम्भावनाए रहती है। वास्तव में ये विभिन्नताए व्यवसाय की उन्नति की शर्तें है। एक स्थायी पूजी मे भी यदि दीर्घ-काल मान लिया जाय, तो परिवर्तन लाया जा सकता है।

(६) अन्त मे, इसका भी विरोध किया जाता है कि इस सिद्धान्त मे पूर्ति को स्थायी मान लिया जाता है। कार्य-रूप मे अधिकतर एक साधन का पुरस्कार उसकी पूर्ति पर भी प्रभाव डालता है। यह सिद्धान्त माग की समस्याओ पर ही विचार करता है, पूर्ति की नही। वास्तव मे यह सिद्धान्त पूर्ति को भुला नही देता, पर यह पूर्ति को दिया हुआ मान लेता है, जिससे कि विश्लेषण मे आसानी हो। पूर्ति माग के द्वारा जो सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निर्धारित होती है, ठीक कर ली जाती है। उत्पादन के साधनों की माग उपभोक्ताओ की ओर से साधनो के द्वारा उत्पादित वस्तुओ की माग पर निर्भर रहती है। उपभोक्ताओं की पसन्दगी ही अन्तिम निर्णायक शक्तिया है, जिनके द्वारा साधनों का प्रयोग होता है।

यह याद रखना चाहिए कि यह सिद्धान्त तभी ठीक उतरेगा जबकि यह मान लिया जाय कि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की दशाये है। क्योंकि वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता नही होती, इसलिये साधनो का पारिश्रमिक उनके सीमान्त उत्पादन के बराबर नही होता। साथ ही यह नही समझ लेना चाहिए कि जो पारिश्रमिक सीमान्त उत्पादन के बराबर होता है, वह नैतिक दृष्टि से न्याययुक्त भी है।

जैसा कि सेमुअलसन (Samuelson) कहते हैं "यह सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त वह सिद्धान्त नही है जो मजदूरी, लगान अथवा ब्याज की व्याख्या करता है। इसकी अपेक्षा यह केवल यह बताता है कि किस भांति फर्म उत्पत्ति के साधनों को किराये पर लेती है जब कि एक दफा उनकी कीमत मालूम हो जाती है।" अतएव सही तौर पर सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त फर्म द्वारा उत्पादक सेवाओं की माग के केवल एक रूप का सिद्धात है। अर्थव्यवस्था के लिये साधनों की कीमतों के निर्धारण का एकमात्र संतोषजनक सिद्धात "सामान्य साम्य" का है जिसमें पूर्ति तथा मांग की समकालीन परस्पर क्रिया हर आर्थिक मात्रा के लिये पूर्ण तथा अपूर्ण प्रतियोगिता में होती है।" यह सिद्धान्त वास्तविक है, आदर्श नही। वह यह नही बताता कि सीमान्त उत्पादन के अनुसार एक साधन का पारितोषिक एक उचित पारितोषिक है।

वितरण के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए फ्रेजर (Fraser) कहते हैं : "कोई भी अर्थशास्त्री यह दृढ़तापूर्वक नही कह सकता कि सिद्धान्त अब भी पूरा है। इसमें अपने गुणो की खराबी है। चूकि यह सरल और दृढ है, इसलिये यह अमूर्त तथा अवैयक्तिक है। इसमे कई बातें छोड दी गई है। इसके स्वयंसिद्ध प्रमाण बहुत दृढ तथा संकुचित है।

निर्देश पुस्तकें

Marshall—Principles of Economics.

Thomas, S. E.—Elements of Economics.

Hubert Phillips—Value and Distribution.

Clark—The Distribution of Wealth.

Readings in the Theory of Income, Distribution Chapters 3, 8 and 11, (American Economic Association)

अध्याय २७

लगान (RENT)

१. भूमिका––अब हम उत्पादन के प्रत्येक साधन की समस्याओ का अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन मे हम भूमि के लगान पर विचार करेगे।

लगान क्या होता है ? साधारण भाषा मे लगान का आशय किसी वस्तु के किराये से होता है जैसे मकान, तागे अथवा कल आदि का किराया। पर अर्थशास्त्र मे "आर्थिक लगान" शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ मे किया जाता है। अर्थशास्त्र में इसका अर्थ केवल उस भुगतान से होता है जो किरायेदार भूमि के उपयोग के बदले मे करता है। इसका कारण भूमि के एक टुकडे का सीमान्त भूमि के ऊपर प्राकृतिक भिन्नक लाभ है। पर यह आवश्यक नही है कि साधारणतया कृषक जो किराया जमीदार को देता है, वह किराया "आर्थिक लगान" के बराबर ही हो। बहुत सम्भव है कि इस किराये मे उस पूजी का ब्याज भी सम्मिलित हो जो जमीदार भूमि में इमारत बनवाने अथवा बाडे या नाली का प्रबन्ध करने में लगाता है। कभी-कभी इस लगान मे कृषक की मजदूरी भी जुडी होती है। पंजाब मे बहुधा ऐसा होता है कि वहा पर माग की अपेक्षा पूर्ति बहुत कम है। इसलिए ऐसे मनुष्य, जिनके लिए जीविकोपार्जन का भूमि के सिवाय और कोई दूसरा साधन नही है, भूमि प्राप्त करने के लिये वास्तविक आर्थिक लगान से अधिक भी देने के लिये प्रस्तुत रहते है।

आधुनिक अर्थशास्त्र मे इस शब्द का प्रयोग ऊपर व्याख्या किये हुए अर्थ मे भी नही होता। अर्थशास्त्र मे लगान का प्रयोग अधिकतर बचत या आधिक्य (Surplus) के अर्थ मे होता है अर्थात् उत्पत्ति का एक साधन वर्तमान व्यवसाय मे अपनी पूर्ति बनाये रखने के लिये आवश्यकता से कितना अधिक प्राप्त करता है।

श्रीमती रोबिन्सन के शब्दो मे "लगान की धारणा का सार उस बचत की धारणा से है जो उत्पत्ति के एक साधन के किसी विशेष भाग को उस निम्नतम आय के ऊपर प्राप्त होती है जो उसको कार्य करने के लिये प्रोत्साहन देने में आवश्यक होती है। लगान की यह धारणा शब्दतः तथा ऐतिहासिक रीति से प्राकृतिक प्रसाद की धारणा से घनिष्ट सम्बन्ध रखती है। अतएव लगान शब्द को, जिसका अर्थ साधारण बोलचाल मे भूमि के किराये के लिये दिये गये भुगतान से है, अर्थशास्त्रियो ने प्राकृतिक प्रसाद पर पाई हुई बचत के लिये प्रयोग किया है। भूमि से प्राप्त सारी आय अर्थशास्त्र मे लगान है क्योकि प्राकृतिक प्रसाद की परिभाषा से यह ज्ञात होता है कि वे हर स्थिति में वहाँ होगे और उनके वहां रहने के लिये यह आवश्यक नही है कि उनके लिये कुछ भुगतान किया जाय।"

यह सरलता से समझा जा सकता है कि इस अर्थ में लगान तभी हो सकता है जब कि उत्पत्ति के एक साधन की पूर्ति पूर्ण लोचदार से कम है और अधिकतर साधनों का यही हाल है। यदि किसी साधन की पूर्ति पूर्णतः लोचदार है, तो यह अपनी पूर्ति के ऊपर कोई बचत नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि जब यह साधन अपनी पूर्ति कीमत से अधिक पाता हुआ पाया जाता है, तो इस साधन की अधिक इकाइया लगा दी जावेंगी और बचत समाप्त हो जावेगी। ऐसा इसलिये है कि क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता में एक साधन की बाजार-कीमत उसकी पूर्ति कीमत के बराबर होगी। पर जब पूर्ति एक साधन के पारितोषिक के साथ-साथ घटती बढती नहीं है, तो यह अपनी पूर्ति पर आवश्यकता से अधिक प्राप्त किये जायगी और इसको इस बात का डर न होगा कि साधन की नयी इकाइयां आकर उसको उसके अधिक पारितोषिक से वंचित कर देंगी। सामाजिक दृष्टिकोण से भूमि की पूर्ति पूर्णतः लोचदार है और इस प्रकार इसकी पूर्ति इसके उपार्जित धन से स्वतन्त्र है। ऊचा लगान उसकी अधिक मात्रा को आकर्षित नहीं कर सकता। और न नीचा लगान उसको हटा ही सकता है। इसकी पूर्ति कीमत शून्य है। इसलिये इसकी पूरी आय आर्थिक दृष्टिकोण से लगान कहलाती है। यही कारण है कि "लगान" शब्द का प्रयोग साधारणतया भूमि से जुड़ा हुआ है, हालाकि जैसा कि यहा बताया गया है, लगान की धारणा सब साधनो मे लागू होती है।

हमने ऊपर कहा है कि सामाजिक दृष्टिकोण से भूमि (तथा अन्य प्राकृतिक प्रसाद) से प्राप्त सारा धन लगान कहा जा सकता है क्योंकि उनकी कोई पूर्ति-कीमत नही होती अथवा उनकी उत्पत्ति-लागत शून्य होती है। तो उत्पत्ति के ऐसे साधनो के लिये कोई भुगतान ही क्यों किया जाता है? इसका कारण यह है कि वे अपनी माग के सम्बन्ध मे सीमित है। लगान कैसे उत्पन्न होता है? सौ साल से भी अधिक हुए डेविड रिकार्डो (David Ricardo) ने इसका उत्तर दिया था।

२. रिकार्डो का लगान सिद्धात (Ricardian Theory of Rent)– रिकार्डो ने लगान की परिभाषा इस प्रकार की है :—"लगान जमीन से उत्पादित वस्तु के उस भाग को कहते है, जो जमीदार को भूमि की प्राकृतिक व अक्षय शक्ति के उपयोग के लिये दिया जाता है। इसको बहुत से लोग भूल से पूजी पर व्याज के रूप मे समझते है और साधारण भाषा मे किसी भी प्रकार के उस भुगतान को लगान कहते है जो किसान जमीदार को देता है।"

रिकार्डो के अनुसार आर्थिक लगान उस वास्तविक बचत को कहते है जो कृषि की लागत निकाल लेने के बाद बचता है। कृषि की यह लागत श्रम, पूंजी व साहस की सेवाओं के भुगतान से पूर्ण की गई है।

यह बचत पैदा क्योकर होती है, इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए, किसी देश में अ ब, स, द, चार प्रकार की भूमि है। भूमि के कुछ टुकड़े दूसरे

भागों की अपेक्षा अधिक उपजाऊ है, कुछ टुकड़े जनसंख्या अथवा यातायात के साधनों की दृष्टि से अधिक अच्छी स्थिति में है। इन सब बातो को ध्यान में रख कर हम यह मान लें कि इन चारो प्रकार की भूमि के टुकडो में "अ" सब से श्रेष्ठ है तथा ब, स, और द क्रमशः द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ श्रेणी के टुकड़े है। इन चारो प्रकार की भूमि मे श्रम व पूजी की समान इकाइया लगाने से टुकड़ो मे गेहू की पैदावार इस क्रम से होती है :—

श्रम व पूजी की इकाइयां	गेहू की उत्पत्ति प्रति एकड (मनो में)			
	अ	ब	स	द
१ ली	१५	१४	१३	१२
२ री	१४	१३	१२	११
३ री	१३	१२	११	१०
४ थी	१२	११	१०	९
५ वी	११	१०	९	८
६ वी	१०	९	८	७

यदि अ वर्ग की भूमि पर्याप्त मात्रा मे हो और प्रति एकड़ श्रम व पूजी की एक इकाई लगा देने से गेहू की सम्पूर्ण माग प्रचलित दर पर ही पूरी की जा सके तो इस भूमि का कोई लगान नही होगा। ऐसी दशा मे यह प्रकृति के उपहार स्वरूप ही होगी।

अब मान लीजिए कि जन-संख्या इतनी बढ जाती है कि अ वर्ग की समस्त भूमि जुत जाती है और इसमे प्रति एकड श्रम व पूजी की एक इकाई लगा कर भी गेहू की बढती हुई माग को पूरा नही किया जा सकता। ऐसी दशा मे अ वर्ग की भूमि मे और अधिक श्रम व पूजी लगाई जायगी व ब वर्ग के टुकडो पर भी खेती होने लगेगी। यह तभी हो सकेगा जब कि गेहू के दाम इतने बढ जाये कि अ भूमि मे श्रम व पूंजी की और अधिक इकाइया व ब भूमि में श्रम और पूजी की पहली इकाई लगाने मे लाभ हो। दूसरे शब्दों में हमारी ऊपर की सूची के अनुसार १४ मन गेहू इतने मूल्य मे बिकना चाहिए कि श्रम व पूजी की लगी एक इकाई की लागत निकल आये। अस्तु, अ वर्ग की भूमि में श्रम व पूजी की दो इकाइयों के लगन मे १५+१४=२९ मन गेहू पैदा होगा। पर दोनों इकाइयो के व्यय को पूरा करने के लिये १४×२=२८ मन गेहू पर्याप्त है। अ भूमि में १ मन गेहू की बचत है। इसलिये किसान चाहे तो बिना लगान दिये ब वर्ग की भूमि को जोत सकते है और प्रति एकड़ श्रम व पूजी की एक इकाई लगा कर १४ मन गेहूं पैदा कर सकते है अथवा अ भूमि के मालिको को १ मन गेहू या द्रव्य मे उसके बराबर मूल्य लगान के रूप मे दे कर प्रति एकड़ श्रम व पूजी की एक इकाई लगा कर १४ मन गेहूं प्राप्त कर सकते है। यदि प्रतियोगिता पूर्ण होगी तो अ वर्ग की भूमि का यह लगान अवश्य स्थिर हो जायगा।

अब चूकि गेहूं की मांग बढ़ती ही जाती है और साथ-साथ कीमत भी बढ़ती जाती है, इसलिये यह क्रम चलता रहेगा। एक ओर तो श्रेष्ठ टुकड़ों पर श्रम व पूंजी की अधिकाधिक इकाइयां लगती रहेंगी, दूसरी ओर निम्नतर टुकड़े खेती के लिए जुतने लगेंगे। प्रस्तुत श्रम व पूजी की इकाइयां इस प्रकार लगाई जायेंगी कि खेती की सीमा पर उत्पत्ति बराबर रहे। उदाहरणार्थ, यदि श्रम व पूंजी की १४ इकाइयां प्राप्य है, तो उनमें से ५ तो अ भूमि में लगेंगी, ४ ब में, ३ स में व २ द में। इस प्रकार हर भूमि में लगी अंतिम इकाई से बराबर उत्पत्ति होगी (११ मन)। ऐसी दशा मे गेहू की कुल उत्पत्ति ६५+५०+३६+२३=१७४ मन होगी। इस योग से अधिक उत्पत्ति किसी भी दूसरी प्रणाली द्वारा नहीं हो सकेगी। पर इन इकाइयो का प्रयोग तभी हो सकेगा, जब कि गेहू का मूल्य इतना ही हो कि केवल ११ मन गेहूं से ही श्रम व पूजी की इन इकाइयों की लागत पूरी हो जाय।

ऐसी परिस्थिति मे विभिन्न प्रकार की भूमियो का लगान इस प्रकार होगा :—

अ वर्ग का लगान $=(१५+१४+१३+१२+११)-(११\times५)$

$=$ (कुल उत्पत्ति) $-$ (कुल व्यय)

$=६५-५५=१०$ मन

ब वर्ग का लगान $=५०-४४=६$ मन

स वर्ग का लगान $=३६-३३=३$ मन

द वर्ग का लगान $=२३-२२=१$ मन

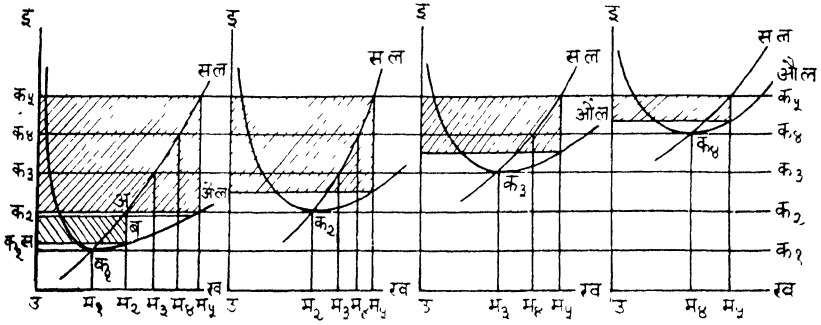
यहां हमने उत्पत्ति के रूप मे लगान का हिसाब लगाया है। उत्पत्ति के प्रचलित माप के अनुसार इसे द्रव्य के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।

सीमान्त अथवा लगान-हीन भूमि (Marginal or no-rent land) :— जब सीमान्त उत्पत्ति ११ मन है तो हमारे उदाहरण मे सभी प्रकार की भूमि के टुकड़े लगान देते है। यदि सीमान्त उत्पत्ति १२ मन हो जाय तो द भूमि का लगान नही रहेगा। ऐसी दशा में यह भूमि सीमान्त अथवा अन्तिम भूमि हो जायगी। एसी भूमि को "लगान-हीन भूमि" कहते है। इस भूमि मे उत्पादन व्यय के ऊपर किसी बचत की उत्पत्ति नही होती। इसकी पैदावार केवल इतनी है कि उत्पादन की लागत पूरी हो सके। अस्तु, बाकी सब श्रेष्ठ टुकड़ों के लगान को इस टुकड़े के बाद से तथा इसके आधार पर नापा जायगा।

एक उद्योग के दृष्टिकोण से सीमान्त भूमि वह भूमि होगी जो कि अपनी उत्पत्ति की बाजार कीमत गिरने पर उद्योग को छोड़ देगी। पर यह भूमि सब से खराब नही भी हो सकती है। हमको भूमि के गुण को नही वरन् उसका श्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग भी देखना है। सीमान्त भूमि अर्थात् वह भूमि जो हस्तांतरण की सीमा पर है, श्रेष्ठ भूमि हो सकती है। वह भूमि जो कपास की जोत के लिये श्रेष्ठ हो सकती है, गेहूं के लिये भी श्रेष्ठ हो

सकती है। यदि कपास की कीमत गिर जाती है तो यह भूमि सब से पहले गेहूं में लगाई जायेगी और इसलिये कपास के दृष्टिकोण से सीमान्त हो जायगी। यह सीमान्त भूमि का वर्तमान वर्णन कहा जा सकता है।

नीचे के चार चित्र यह दिखाते है कि लगान कैसे होता है। चित्र ५३ श्रेष्ठ भूमि अर्थात् अ वर्ग भूमि को प्रस्तुत करता है; चित्र ५४ ब वर्ग भूमि, चित्र ५५ स वर्ग भूमि, भूमि द सब से कम उपजाऊ या सब से खराब भूमि है। हर एक चित्र मे औ ल औसत लागत वक्र है और स ल सीमान्त लागत वक्र। $क_१$, $क_२$, $क_३$, $क_४$ तथा $क_५$ बढती हुई कीमतें प्रस्तुत करते है। जैसा कि खण्ड ५ मे बताया जायगा, हर एक भूमि उस बिन्दु तक जोती जायगी, जहां सीमान्त लागत कीमत के बराबर होती है। मान लिया बाजार कीमत $क_१$ है तो केवल अ वर्ग भूमि की जुताई होगी। $क_१$ पर स ल (सीमान्त लागत वक्र) औ ल (औसत लागत वक्र) को



चित्र नं० ५३ **चित्र नं० ५४** **चित्र नं० ५५** **चित्र नं० ५६**

काटता है, अर्थात् सीमान्त लागत औसत लागत के बराबर है। वह कीमत के भी बराबर है। इसलिये कुल आगम (जो कि कीमत पर आधारित है) कुल लागत के बराबर है और कोई भी बचत अथवा लगान नही है। अब मान लिया जाय कि कीमत $क_२$ तक बढ़ जाती है। अब ब वर्ग भूमि जोती जाने लगेगी पर यह कोई लगान न देगी। अ वर्ग भूमि लगान देना प्रारम्भ कर देगी। इस स्थिति पर चित्र ५४ में स ल और औ ल, $क_२$ पर एक दूसरे को काटते है। जैसा कि पहले बताया गया है यहां कोई बचत नही है। परन्तु चित्र ५३ जो अ वर्ग भूमि को प्रस्तुत करता है देखो। रंगा हुआ क्षेत्र अ ब स $क_२$ लगान प्रस्तुत करता है। यह क्षेत्र अ ब अर्थात् सीमान्त लागत तथा औसत लागत के अन्तर को उ $म_२$ अर्थात् उत्पत्ति से गुणा करने से मिलता है। जब कीमत $क_३$ तक बढ़ जाती है तो स वर्ग भूमि से कोई लगान नही मिलता और ब वर्ग भूमि से लगान मिलने लगेगा। जब कीमत $क_४$ तक बढ जाती है, तो द वर्ग भूमि सीमान्त भूमि या न लगान देने वाली भूमि हो जाती है, स वर्ग भूमि से लगान मिलने लगता है और अ तथा ब वर्ग भूमि से लगान बढ़ जायेगा।

जब कीमत क$_५$ तक बढ़ जाती है तो द वर्ग भूमि से भी न्यूनता के कारण लगान मिलने लगता है। जब यह स्थिति हो जाती है तो हर प्रकार की भूमि का लगान हर चित्र में रंगे हुए क्षेत्र से दिखाया गया है।

क्या सीमान्त अथवा लगानहीन भूमि का वास्तव में कोई अस्तित्व है ? (Does marginal or no-rent land really exist):—बहुत से लोगों का विचार है कि इस प्रकार की भूमि होती ही नही है। ऐसी भूमि को हर व्यक्ति लेना चाहेगा और फलस्वरूप मालिक इस स्थिति में होगा कि लगान मांग सके। पर इस विचार में अधिक सार नही है। लगानहीन भूमि होती है। इसका लगान पूजी के ब्याज के कारण होता है। भूमि स्वयं इस योग्य नही होती कि बचत की उत्पत्ति कर सके। उदाहरणार्थ, किसी ऊसर जमीन को, जो बेकार पड़ी हो, लगान पर लेने के लिये कोई तैयार नही होगा। पर यदि मालिक उसमे कुआं बनवा दे तो बहुत संभव है कि भावी आसामी उसके लिये कुछ देने को तैयार हो जाय। इससे यह प्रकट है कि भुगतान कुआ बनाने मे लगी पूजी के कारण किया जायगा, भूमि के कारण नही। बड़े खेतो मे लगानहीन भूमि का अस्तित्व पता नही चलता क्योंकि इसमें लगान कुछ रुपये प्रति एकड़ के रूप में होता है। पर बडे खेत में अच्छे व बुरे सभी प्रकार के एकड़ होते है। बुरी भूमि यदि अकेली दी जाय तो उसका कुछ भी लगान नही मिलेगा, यदि मिलेगा भी तो वह आर्थिक लगान नही बल्कि न्यूनता का लगान होगा। ऐसा उन पुराने देशों में होता है, जिनकी जनसंख्या बराबर बढ़ती रहती है। इन देशो में सीमान्त भूमि का भी लगान होता है। अधिक अच्छी भूमि मे श्रेष्ठता के कारण आर्थिक लगान भी मिलता है और फिर उसी बाजार को पूर्ति करने वाली सीमांत भूमि आस्ट्रेलिया अथवा कैनेडा आदि देशो मे भी होकर इंगलैड जैसे पुराने देश के लिये सीमात भूमि हो सकती है।

३. न्यूनता का लगान (Scarcity Rent) :—रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार लगानरहित भूमि होती अवश्य है, चाहे वह उसी देश में हो अथवा किसी दूसरे देश में, जिससे उस देश के व्यापारिक सम्बन्ध हों। कुछ लोगो ने रिकार्डो के सिद्धान्त का रूप और भी विस्तृत कर दिया है। उनका कहना है कि जिन देशो में सभी प्रकार की भूमि से लगान प्राप्त होता है, वहां न्यूनता का लगान होता है। यदि हम अपने पहले वाले उदाहरण को लें, तो हम देखेंगे कि जब श्रम व पूजी की सीमांत उत्पादन शक्ति १२ मन से भी नीचे हो जाती है, तो (द) जैसी खराब भूमि का लगान मिलन लगता है। इसका कारण भूमि की न्यूनता है। ऐसी दशा में यदि इससे भी खराब भूमि कोई होती तो वह सीमांत भूमि बन जाती। चूकि मूल्य बढ़ते है इसलिये (द) भूमि में गहन कृषि प्रारम्भ हो जाती है और व्यय पर बचत होने लगती है। पर यह बचत किसी लगान-रहित भूमि के अस्तित्व के कारण नही बल्कि भूमि की न्यनता के कारण होती है। इसलिये इस प्रकार के लगान को न्यूनता का लगान कहते है।

अस्तु, द भूमि से श्रेष्ठ भूमियों के लगान में दो प्रधान लक्षण होते हैं :उनके लगान

में सीमांत भूमि पर अतिरिक्त लाभ और दूसरे न्यूनता का लगान सम्मिलित होता है। उदाहरण के लिये यदि कृषि इतनी गहन हो कि द भूमि लगान के रूप में २ मन गेहूं देने लगे तो श्रेष्ठ भूमि आर्थिक लगान के अतिरिक्त २ मन गेहूं न्यूनता के लगान का भी देगी। श्रेष्ठ भूमि का न्यूनता लगान वही होता है जो खराब भूमि का, परन्तु वह आर्थिक लगान भी प्रदान करती है।

४. रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Ricardian Theory):–रिकार्डो के सिद्धान्त की बड़ी आलोचना हुई है। प्रथम तो "भूमि की मूलतः अविनाशी शक्ति" नाम की कोई वस्तु नही होती। अच्छी भूमि भी लगातार जुतने के उपरान्त अपनी उर्वरता खो देती है। इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि उर्वरता समाप्ति के बाद भी यदि अच्छी भूमि मे बुरी भूमि के साथ-साथ खाद डाला जाय तो अच्छी भूमि बुरी भूमि की अपेक्षा अपनी उत्पादन-शक्ति शीघ्र प्राप्त कर लेगी। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि पुराने देशो में भूमि की ऊपरी पर्त सदैव मनुष्यकृत हुआ करती है। पर यह बात नही है क्योंकि जलवायु, हवा, धूप, और स्थिति प्रकृति की ओर से नियत होते है और इसलिये वे अविनाशी होते है।

दूसरी बात जो इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे कही जाती है, वह यह है कि रिकार्डो ने "उर्वरता" शब्द का प्रयोग अनिश्चित अर्थ मे किया है। स्थिति के अतिरिक्त उर्वरता किसान की योग्यता व उत्पादन के साधनों पर भी निर्भर करती है, और फिर उर्वरता का सम्बन्ध उत्पादित फसलों से है। रिकार्डो के इस सिद्धान्त में मान लिया गया है कि उत्पादन के साधन सदैव स्थिर रहते है। उन्होंने उसे श्रम व पूजी की इकाइयों के प्रमाण में कर दिया है।

तीसरी बात यह है कि रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार लगान-रहित भूमि के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया है। और अधिकतर ऐसा होता भी है––पर इस प्रकार की भूमि से किसी प्रकार का आर्थिक लगान प्राप्त नही होता। यह समस्या लगान की न्यूनता से हल हो जाती है। सिद्धान्त के वास्तविक प्रयोग मे यह आवश्यक नही है कि लगानरहित भूमि ही हो।

इसके अतिरिक्त रिकार्डो के सिद्धांत के अनुसार लगान का जन्म उन प्राकृतिक गुणों के कारण होता है, जो अच्छी भूमि में सीमान्त भूमि की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाये जाते है। पर यदि यह मान भी लिया जाय कि सारी भूमि प्रथम श्रेणी की है; तब भी उत्पत्ति ह्रास नियम के कारण लगान अवश्य होगा। वास्तव में उत्पादित वस्तु श्रम व पूजी की लगी हुई सीमान्त इकाई की पूरक होती है। इसलिये प्रारम्भ में लगी हुई इकाइयों से व्यय के ऊपर बचत की प्राप्ति होगी, जो लगान का रूप ले लेगी।

यही नही, केरी (Carey) व रोशर (Roscher) के मतानुसार ऐतिहासिक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि यह मान लेना कि नये देशों में केवल सर्व-

श्रेष्ठ भूमि की जुताई ही सर्वप्रथम होती है, गलत है। सच तो यह है कि ऐसे देशो में सर्वप्रथम उसी भूमि के टुकडों पर खेती होती है, जो सरलतापूर्वक प्राप्त हो सकें, और यह आवश्यक नही है कि भूमि के ऐसे टुकड़े सर्वश्रेष्ठ ही हों। पर वाकर (Walker) का कहना है कि सर्वश्रेष्ठ भूमि से रिकार्डो का आशय केवल उर्वरा भूमि से ही नही बल्कि ऐसी जमीन से था, जो उर्वरता व स्थिति की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हो।

और फिर रिकार्डो का यह कहना भी गलत बताया जाता है कि सीमान्त भूमि पर कोई लगान नही होता और इसलिये लगान का मूल्य पर कोई प्रभाव नही पड़ता। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि कुछ परिस्थितियों में मूल्य पर लगान का प्रभाव पड़ता है।

अन्त में रिकार्डो के सिद्धांत की सबसे महत्वपूर्ण आलोचना उन लोगों ने की है जो यह मानने को कभी तैयार नही है कि किसी ऐसे सिद्धांत के द्वारा जो उत्पादन के अन्य साधनों पर लागू नही होता, लगान का निर्धारण किया जाय। इस मत के लोग लगान को भी मजदूरी, व्याज और लाभ की भाति ही समझते है। उनका कहना है कि रिकार्डो ने लगान की जो विशेषता बतलाई है, वह वास्तविक नही है। इस सिद्धांत की समीक्षा नीचे की गई है।

५. लगान का वर्तमान सिद्धान्त (Modern Theory of Rent)--रिकार्डो के सिद्धात में दो बातें प्रमुख है।

(१) उनका यह विश्वास था कि लगान केवल इसलिये दिया जाता है कि कुछ भूमि दूसरे प्रकार की भूमि की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है।

(२) उनका यह भी विश्वास था कि लगान-रहित भूमि से लगान का माप होता है।

वर्त्तमान लेखको ने इन दोनो बातो पर अविश्वास प्रगट किया है। उनका यह कहना है कि यह बात कोई विशेष महत्व नही रखती कि कोई भूमि बिल्कुल अच्छी, बिल्कुल बुरी, अथवा वर्गिक है। वास्तव में लगान का सबसे महत्वपूर्ण कारण भूमि से उत्पादित वस्तु की दुर्लभता है। यदि वस्तु दुर्लभ होगी, तो भूमि भी दुर्लभ हो जायगी। यदि हम समस्या का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करे तो भूमि को विभिन्न वर्गो में विभाजित करने की आवश्यकता नेही रहेगी। विवेचक सिद्धात (Differential Principle) से केवल एक बात का पता चलता है और वह यह कि कोई एक भूमि दूसरी कम उर्वरा भूमि की अपेक्षा अधिक लगान क्यो प्राप्त कर लेती है? पर लगान क्योंकर पैदा होता है; इसका कोई समुचित उत्तर नही मिलता। सच तो यह है कि लगान दिया ही इसलिये जाता है कि मांग की अपेक्षा भमि से उत्पत्ति कम होती है। जब तक इस प्रकार की दुर्लभता रहेगी, लगान अवश्य रहेगा, चाहे देश भर के सारे भूमि के टुकड़े समान रूप से उर्वर क्यो न हों। यही बात मजदूरी, व्याज और लाभ के संबंध में भी है। इस प्रकार के भुगतान केवल इसलिये किये जाते है कि

उत्पादित वस्तु अपनी मांग की अपेक्षा न्यून होती है। जिस प्रकार अधिक प्रवीण श्रमिक अधिक मजदूरी पाता है, और श्रेष्ठ उपक्रमी अपने व्यापार में अधिक लाभ प्राप्त करता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ भूमि का लगान भी निम्न कोटि की भूमि के लगान की अपेक्षा अधिक होता है। मूलतः रिकार्डो के सिद्धात के अनुसार यह प्रमाणित होता है कि श्रेष्ठ वस्तु का मूल्य सदैव अधिक होता है, अधिक उपजाऊ भूमि का लगान कम ऊपजाऊ भूमि की अपेक्षा केवल इसीलिये अधिक होता है। यह बात मजदूरी के संबंध मे भी सत्य है। विकसैल (Wicksell) के अनुसार लगान और मजदूरी की समस्या समान है।

अस्तु, लगान को किसी विशेष वर्ग में रखने का कोई उचित कारण नही है, क्योकि श्रम व पूजी की भांति भूमि का भी लगान उसकी सीमान्त उत्पत्ति के अनुसार होता है।

इसके अतिरिक्त लोगो ने लगान-रहित भूमि के विचार की भी आलोचना की है। लगान-रहित भूमि रिकार्डो के सिद्धांत में लगान के माप का आधार है। पर आजकल के लेखकों का कहना है कि कुछ परिस्थितियों में भले ही लगान-रहित भूमि का अस्तित्व हो, पर यह आवश्यक नही है कि लगान-रहित भूमि ही सदा लगान का कारण हो। उदाहरण के लिये, कुछ भूमि के टुकड़े किसी विशेष प्रयोग के ही योग्य होते है; जैसे अनाज पैदा करने के लिये। यदि अनाज के मूल्यो में कमी हो जाने के कारण उस भूमि पर खेती करना लाभप्रद न रहे तो ऐसे टुकडो पर खेती बन्द हो जायगी। अथवा उनसे केवल अनाज के उत्पादन का व्यय भर ही निकल सकेगा। इस प्रकार की भूमि का महत्व उस अर्थ मे नही होता जिसकी कल्पना रिकार्डो ने की थी। यदि ऐसी भूमि पर कृषि जारी रहती है तो उससे अनाज की पूर्ति बढ जाती है, जिससे लगान कम हो जाता है, और यदि उन पर खेती बन्द हो जाती है तो पूर्ति कम हो जाने के कारण लगान बढ जाता है। अस्तु, इस प्रकार की सीमान्त भूमि के अस्तित्व से लगान की समस्या का संतोषप्रद उत्तर नही मिलता।

पर जब हमारा आशय किसी विशेष फसल से नही होता तो उस दशा मे सब प्रकार की भूमि का कोई न कोई प्रयोग हो ही सकता है। ऐसी दशा मे हर भूमि में प्रयोग के अनुसार सीमान्त कृषि विभिन्न होती है।

सारांश यह है कि लगान रहित भूमि का सिद्धांत कुछ परिस्थितियों मे सत्य तो अवश्य है पर इससे लगान की कोई समुचित समीक्षा नही होती। लगान की वास्तविक व्याख्या दुर्लभता के सिद्धांत के आधार पर हो सकती है।

न्यूनता किस प्रकार लगान का कारण हो सकती है, इसका इस तरह वर्णन किया जा सकता है। लगान का कारण उत्पत्ति ह्रास नियम है (जिसको आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पत्ति के अनुपात में न रहनेवाला नियम भी कहते है)। अपने लाभ को अधिकतम करने में उपक्रमी साधनो के सब से कम लागत संयोग को प्राप्त करेगा। यदि अस्थिर साधनों

को बढ़ाकर उत्पत्ति के बढ़ाने की इच्छा है तो नियम के अनुसार सीमान्त तथा औसत लागत बढ़ जायेगे। इसलिये जब सारी भूमि अधिकार में है और उत्पत्ति को कम से कम लागत के संयोग से आगे बढाना हो, तो भूमि के लिये भुगतान की जाने वाली कीमत को सीमान्त लागत के बराबर होना चाहिये। प्रत्येक फर्म उस बिन्दु तक उत्पत्ति को बढ़ायेगी जहां कि सीमान्त लागत कीमत के बराबर है। परन्तु इस बिन्दु पर औसत लागत सीमान्त लागत से कम है। इसलिये कीमत जो कि सीमान्त लागत के बराबर होती है, औसत लागत से अधिक हुई। इस प्रकार कुल आगम जो कि कीमत पर निर्भर है, कुल लागत से अधिक होता है और इस कारण बचत होती है।

६. कीमत और लगान (Rent and Price)--लगान के वर्तमान सिद्धांत और रिकार्डो के सिद्धांत मे एक और भी अन्तर है। रिकार्डो का विश्वास था कि लगान का कोई संबंध उत्पादन व्यय से नही है। इसलिये इसका कोई प्रभाव कीमत पर नही पडता। कीमत मे वृद्धि के कारण लगान का जन्म होता है। हम यह देख चुके है कि रिकार्डो के सिद्धांत के अनुसार लगान, लागत पर प्राप्त होने वाली बचत को कहते है। कीमत सीमान्त भूमि की जिस पर कोई लगान नही होता, उत्पादन लागत द्वारा निश्चित होती है और इसलिये लगान का कीमत पर कोई प्रभाव नही पड़ता। सच तो यह है कि रिकार्डो के सिद्धात के अनुसार कीमत सीमान्त भूमि निश्चित करती है, न कि सीमान्त भूमि कीमत को। अतएव लगान कीमत का कोई भाग नही होता।

यह सच है कि भूमि की विभिन्नता से कीमत नियत नही होती। यदि "अ" भूमि "ब" भूमि की अपेक्षा अधिक लाभप्रद है तो "अ" भूमि को जो अतिरिक्त लाभ होगा, उससे वस्तु के मूल्य पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। वास्तव में यह दो विभिन्न बातें है। क्योकि हर भूमि को उसकी उर्वरता व सीमान्त उत्पादन के आधार पर कीमत मिलेगी। इसलिये दोनों भूमि के टुकड़ों के लगान में अन्तर होगा। इसी प्रकार मजदूरी का भी पृथक्-पृथक् स्वरूप होता है। और यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के पृथक् भुगतानों का श्रम के उत्पादन के मूल्य पर कोई प्रभाव नही पड़ता, पर मजदूरी का कीमत पर प्रभाव पड़ता है।

दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि लगान कीमत का कोई भाग नही होता। भूमि प्रकृति की उपहार-स्वरूप है। मनुष्य अधिक दाम देकर इसकी पूर्ति नही बढ़ा सकता। एक बार यदि भूमि प्रयोग मे आ जाय तो उसकी पूर्ति को प्रभावित नही किया जा सकता, चाहे लगान कम हो या अधिक या बिल्कुल न हो। चूकि भूमि का पुनरुत्पादन नहीं हो सकता, इसलिए इसके दूसरे उत्पादनों की भांति कोई वास्तविक उत्पादन-लागत नही होती। इसलिये इसकी पूर्ति को स्थिर रखने के लिये किसी प्रकार के भुगतान की आवश्यकता नही होती। अस्तु, लगान का भूमि कीमत से कोई संबंध नहीं होता और वह उसकी उत्पादित वस्तुओं की कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता।

पर जब हम सारी भूमि का नही, बल्कि भूमि के केवल उस भाग का, जिसका कोई विशेष प्रयोग हो रहा हो, अध्ययन कर रहे है, तब लगान कीमत को अवश्य प्रभावित करता है। अवसर लागत के सिद्धात से यह बात स्पष्ट है। अधिकतर भूमि के कई प्रयोग हो सकते है। यदि इससे कोई एक काम लिया जाय तो दूसरे प्रकार का काम नही लिया जा सकता। ऐसी दशा मे एक काम मे भूमि को प्रयोग करने की लागत उस हानि से प्रकट होती है जो दूसरे प्रकार के प्रयोग मे न आ सकने के कारण होती है। जब एक उद्योग विस्तृत होता है तो उसको दूसरे प्रयोगो मे से जहा भूमि अधिक लाभदायक है, आकर्षित करना चाहिये। इस प्रकार प्राप्त की हुई भूमि के लिये उद्योग को अधिक कीमत देनी होगी। कम से कम कीमत जो इसको भुगतान करनी होगी, इतनी होगी जो कि यह भूमि अपने सबसे लाभदायक वैकल्पिक प्रयोग मे प्राप्त करती है। यह अवसर लागत अथवा हस्तातरण कीमत कहलाती है। (देखो खन्ड १४)। भूमि के प्रयोग के लिये इस भुगतान का प्रभाव कीमत पर पडता है। हम जानते है कि बाजार कीमत उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहा कीमत अधिकतम मूल्य वाली भूमि (जिसको उद्योग मे रखना पडता है) की सीमान्त लागत के बराबर है और इस सीमान्त लागत मे हस्तातरण कीमत मिली होती है। प्रत्येक फर्म के दृष्टिकोण से सब साधनों का सारा लगान उत्पादन-लागत मे शामिल होना चाहिये और इसलिये कीमत को प्रभावित करना चाहिये। यदि किसान किसी दूसरे की भूमि प्रयोग मे ला रहा है, तो जो लगान वह देता है, वह उसकी लागत है। मालिक किसान की दशा मे भी लगान लागत है परन्तु इसकी उपस्थिति छिपी हुई है। यदि वह इस भूमि को खुद न जोतता तो उसके लिये उसको जो भुगतान मिलता वह इस भूमि की अवसर लागत है।

आर्थिक लगान या बचत एक उद्योग के अन्दर भी हो सकता है। कुछ फर्मो ने भूमि खरीदी होगी या लम्बे पट्टे पर पाई होगी। जब कि अवसर लागत उत्पत्ति के विस्तार के लिये भूमि की बढ़ती हुई माग के कारण बढ रही हो, इन फर्मो के लिये अवसर लागत कम ही रहती है जब कि वे भी उत्पादन को उसी कीमत पर बेचती है। इसलिये सीमान्त के अन्दर कम लागत वाली उत्पत्ति की इकाइयों पर बचत होती है।

इस समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। कीमत वस्तु की माग से सबधित न्यूनता द्वारा भी निश्चित होती है। एक उपक्रमी, जो लगान देता है, वह उसकी लागत का एक अंग होता है। यदि लगान अधिक होगा तो वह कम भूमि से काम चलाने का प्रयत्न करेगा। और यदि लगान कम होगा तो वह अधिक भूमि को काम में लेगा। यदि उपक्रमी अधिक भूमि पर प्रयोग करेगा तो दूसरे प्रयोगों के लिये भूमि की कमी हो जायगी। और यदि वह कम भूमि का प्रयोग करेगा तो दूसरे कामों के लिये भूमि की मात्रा बढ़ जायगी। इस प्रकार विभिन्न प्रयोगों में भूमि की पूर्ति को प्रभावित करके लगान भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्य पर निश्चयात्मक प्रभाव डालता है।

यदि हम इस समस्या पर सूक्ष्म विश्लेषण करे तो "डेवनपोर्ट" के शब्दो मे न तो लगान कीमत निश्चित करता है और न कीमत लगान निश्चित करती है। सच तो यह है कि कीमत और लगान दोनो पर ही भूमि से उत्पादित वस्तुओ की पारस्परिक न्यूनता का प्रभाव पड़ता है। यही सिद्धात मजदूरी, ब्याज और लाभ के साथ भी लागू होता है।

७. शहरी भूमि का लगान (Urban Ground Rent)—अभी तक हमने केवल कृषि की भूमि का ही अध्ययन किया है। पर लगान नगरो की भूमि पर भी होता है। नगरो मे भी न्यूनता के दृष्टिकोण से लगान प्राप्त होता है। शहर मे उर्वरता का कोई विशेष महत्व नही होता। वहा पर भूमि के प्रयोग के अनुसार स्थिति की दृष्टि से कई प्रकार की श्रेष्ठता होती है। उदाहरणार्थ, व्यापार के केन्द्रो के निकट अथवा खास सडकों या रेलवे स्टेशन के समीप होने के कारण भूमि मे श्रेष्ठता आ जाती है। शहरो मे भी भूमि के कुछ टुकडे ऐसे होते है, जिनसे किसी प्रकार की बचत की प्राप्ति नही होती। ऐसी भूमि को हम सीमान्त भूमि कह सकते है।

पर सीमान्त भूमि पर भी न्यूनता के कारण लगान हो सकता है। इस प्रकार की भूमि फल आदि उत्पन्न करने अथवा बाग लगाने के काम आ सकती है। ऐसी दशा मे अच्छी भूमि के टुकड़ो से दो प्रकार का लगान प्राप्त होता है। एक तो भिन्नता के फलस्वरूप, दूसरा न्यूनता का लगान। भिन्नता का लगान सदैव सीमान्त भूमि के लगान के ऊपर नापा जाता है। पर यह याद रखना चाहिये कि भिन्नता का लगान भी समस्या की कोई समुचित व्याख्या नही है। उदाहरण के लिये बडे शहरो मे बडे बाजारो की दुकानो के किराये अधिक होने के दो कारण होते है। पहला तो भूमि की दुर्लभता, दूसरा विभिन्न प्रयोगो के लिये उसी भूमि की माग की प्रतियोगिता के कारण न्यूनता। मान लीजिए किसी शहर के एक बडे बाजार मे एक मकान है। इस मकान की भूमि का लगान केवल न्यूनता का लगान होगा, क्योकि इस प्रकार के मकानो की माग पूर्ति से अधिक होती है, पर इस लगान पर उस मकान के लिये होने वाली प्रतियोगी मागों का भी असर पडेगा। जैसे उसी मकान के लिये दूकान, होटल या कार्यालय के लिये की गई मागे उस मकान को रहने के काम मे लाने के लिये जो किराया देना पडेगा, वह उस भुगतान के बराबर होगा जो उसी भूमि को किसी और लाभप्रद प्रयोग मे लाने से वचित रखने के लिये किया जाय।

खेतिहर भूमि तथा शहरी भूमि के स्थानीय मूल्य मे एक अन्तर है जिस पर ध्यान दिया जा सकता है। पहली दशा मे यह केवल यातायात की लागत का विषय है और दूसरी दशा मे इसमे एकाधिकार का तत्व होता है। एक विशेष स्थान पर स्थित फुटकर दूकान कुछ ग्राहको का एकाधिकार रखती है। यह ग्राहक स्वभाव से या सुविधा के कारण उस दूकान से खरीदते है। यह भली भाति विदित है कि फुटकर विक्रेता भिन्न-भिन्न कीमतें लेते है।

इस भिन्नता का कारण केवल यातायात की लागत नही है। यह एकाधिकार का तत्त्व है जो इस भिन्नता की व्याख्या करता है।

८. खान तथा मछली पकड़ने के स्थानों का लगान (Rent of Mines, Quarries and Fisheries)—लगान का यह सिद्धात खानों व मछली पकडने के स्थानो पर भी लागू होता है। पर इनमे एक अन्तर है। खाने कृषि की भूमि की अपेक्षा कभी न कभी समाप्त हो जाती है। इसलिये खानों को लेने वाले जो लगान देते है, उनमे दो अंग होते है। पहला लगान और दूसरा खान के खत्म हो जाने के कारण शुल्क। खानो मे भी सीमान्त खान का सिद्धात मान कर यह सारांश निकाला जा सकता है कि श्रेष्ठ खानो का लगान सीमान्त खान की लगान पर प्राप्त बचत के रूप मे होता है। सीमान्त खान धातु की खुदाई की लागत पर किसी प्रकार की बचत नही देती। जब कई खाने होती है तो सीमान्त खान का निर्णय विस्तृत रीति द्वारा होता है और जब एक ही खान का अध्ययन होता है तो सीमान्त का पता गहरी रीति द्वारा लगाया जाता है। इस उदाहरण मे भी भिन्नता लगान से कोई समुचित व्याख्या प्राप्त नही होती। लगान की वास्तविक व्याख्या यही है कि खानों की पूर्ति उनकी माग से कम होती है और न्यूनता के सिद्धात के आधार पर लगान का निर्णय होता है।

जहा तक मत्स्य क्षेत्रो (Fisheries) का सबंध है, यदि मछलियो की पूर्ति निरतर हो तो उससे प्राप्त आय से उसके लगान की प्रकृति का निर्णय होगा। यह लगान उन मछलीगाहो के लगान से ऊपर नापा जायगा, जिनमे कम मछलियां प्राप्त होती है। पर यदि मछलियो के समाप्त होने की आशका हो तो इनमे भी खानो वाला सिद्धात लागू होगा। अन्त में यह सत्य है कि सदैव लगान न्यूनता के सिद्धान मे निश्चित होता है।

९. इमारतों का किराया (Rent of Buildings)—जो किराया या लगान इमारतों के लिये दिया जाता है उसमे दो अंग होते है। इसमें एक ओर तो भूमि का किराया होता है तथा दूसरी ओर भूमि पर बनी हुई इमारत के प्रयोग का लगान होता है।

इन दोनों को कभी एक नही समझना चाहिये। इमारत का लगान भी मशीन आदि दूसरी स्थायी वस्तुओं के सिद्धात से निश्चित होता है। अन्त में इस लगान मे वसूल की गई समस्त लागतें, उदाहरणार्थ, विनियोजित पूजी का व्याज, जोखिम का भुगतान, टूट-फूट का हर्जाना, उपक्रमी का लाभ आदि भी सम्मिलित होनी चाहिएँ। यदि इस प्रकार के व्यय लगान से पूरे नही होंगे तो मकानों की पूर्ति कम हो जायगी। यदि इस प्रकार के मकानों के मालिक इन्हें बेच देंगे तो उनका यह यत्न होगा कि मकान का जो मूल्य उन्ह मिले उसमें भूमि का पूजीकृत मूल्य व इमारत का लगान सम्मिलित हो।

अल्प काल मे मकान की लागत लगान पर कोई प्रभाव नही डालती क्योकि ऐसी परिस्थिति मे लगान माग व पूर्ति द्वारा निश्चित होता है। अल्प काल मे पूर्ति लगभग स्थिर होती है। और इसलिये माग या दूसरे शब्दो मे सीमान्त उपयोगिता ही मकान का लगान निश्चित करती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार मकान प्रतियोगिता के बीच भी अपने लगान मे कही अधिक मूल्य पर बिक सकता है।

१०. आभास-लगान (Quasi Rent)—सर्वप्रथम मार्शल ने अर्थशास्त्र मे आभास लगान का प्रयोग किया था। मार्शल के अनुसार आभास लगान उस बचत को कहते है, जो भूमि के अलावा उत्पादन के दूसरे साधनो द्वारा होती है। अर्थशास्त्र मे भूमि से प्राप्त आय को लगान कहते है, और आभास लगान उस आय को कहते है जो मनुष्य के प्रयत्नो से बनी मशीनो और दूसरे यत्रो से होती है। यह कहना कि मशीन से ब्याज मिलता है, गलत है। ब्याज शब्द का प्रयोग मशीन के द्रव्य मूल्य के सबध मे किया जाता है, स्वय मशीन के सबध मे नही। आभास लगान उस लगान को कहते है, जिसका सबध उस तमाम आय से होता है, जो माग बढ जाने के कारण उत्पादन के साधनो से प्राप्त होती है। आभास लगान उस समय मे प्राप्त होता है, जब उत्पादन साधनो की पूर्ति माग के अनुसार बढाई नही जा सकती। यही कारण है कि इस प्रकार के लगान बहुत अधिक होते है। आर्थिक लगान और आभास लगान मे सब से बडा अन्तर यह है कि भूमि की पूर्ति स्थिर होती है पर उत्पादन के दूसरे साधन, जैसे इमारत, कल आदि की पूर्ति मनुष्य द्वारा बढाई जा सकती है।

उदाहरण के लिए, युद्ध-काल मे नगरो की जनसख्या बढ जाने के कारण मकानो की माग अचानक बढ गई थी। पर इमारतो के लिये भूमि न मिल सकने के कारण इनकी पूर्ति अधिक नही बढाई जा सकती थी। कुछ समय के लिये यह पूर्ति भूमि की ही भाति स्थिर हो गई। फलस्वरूप राज्य की ओर से नियत्रण होने पर भी किराये अत्यधिक बढ गये। मकानो के किराये मे इस प्रकार अनुचित वृद्धि को ही आभास-लगान कहते है। इसे आर्थिक लगान इसलिए नही कह सकते कि मकानों की पूर्ति बढाई जा सकती है। जब मकानो के किराये बहुत अधिक बढ जाते है तो पुराने तथा नष्ट मकानो की भी मरम्मत हो जाती है और उनमे लोग बस जाते है। इस प्रकार सीमान्त नीचे की ओर चला जाता है। इस प्रकार का किराया आर्थिक लगान की भाति ही होता है। ऐसी परिस्थितियो मे कीमत सीमान्त निश्चित करती है और यह सीमान्त अच्छे मकानो का किराया निश्चित करता है। इस प्रकार लगान कीमत निश्चित नही करता।

यह बचत स्थायी नही होती और उसी समय तक प्राप्त होती है जब तक नये मकान नही बन जाते। जैसे-जैसे इमारती सामान मिलने लगता है और नये मकान बनने प्रारम्भ हो जाते है, वैसे ही वैसे यह बचत समाप्त होने लगती है। इस प्रकार की

बचत दूसरी टिकाऊ वस्तुओ मे भी हो सकती है। इसी भांति किसी प्रकार की प्रवीणता की स्थायी कमी के कारण आभास लगान पैदा हो जाता है, जो एक समय पश्चात् बढाया जा सकता है। किसी डाक्टर अथवा गायक या अभिनेता की आय मे इस प्रकार की विशेषता होती है।

व्यापारी को कलो और दूसरे साधनो मे विनियोजित पूजी का हरजाना मिलना आवश्यक है। दीर्घ काल मे इस प्रकार की वस्तुओ से प्राप्त आय तत्कालीन व्याज की दर के बराबर होनी चाहिए। यदि वह आय कम होगी तो कल आदि वस्तुओ के विनियोजन मे कमी हो जायगी। ऐसी दशा मे ऐसी वस्तुओ की पूर्ति गिरने लगेगी और फलस्वरूप आय बढ जायगी। पर यदि यह आय व्याज की दर से अधिक होगी तो ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होगी और परिणाम यह होगा कि उनकी आय गिरने लगेगी। यह सब दीर्घकाल मे ही होता है। अस्थायी रूप से ऐसी वस्तुओ से आभास लगान अवश्य प्राप्त होगा।

आभास लगान और व्याज मे अन्तर है। व्याज शब्द का प्रयोग उस आय के लिये किया जाता है जो चल पूजी पर प्राप्त होती है। इसके विपरीत आभास लगान पुरानी पूजी की आय को कहते है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि आर्थिक लगान तथा आभास लगान का अन्तर और वास्तव मे किसी भी उत्पादक साधन की उत्पत्ति मे केवल मात्रा का अन्तर होता है। मार्शल के शब्दो मे "चल पूजी पर प्राप्त होने वाला व्याज वास्तव मे एक प्रकार का लगान ही होता है—एक ऐसा आभास लगान जो पूजी के पुराने विनियोजनो पर प्राप्त होता है, चल पूजी अथवा उत्पादन की किसी विशेष शाखा मे लगी हुई पूजी मे विभाजन की कोई निश्चित रेखा नही खिची होती। यही नही, पुरानी या नई पूजी मे भी कोई अन्तर नही होता।"[1] इन मे से प्रत्येक मे दुर्लभता के कारण बचत होती है। पर चूकि और साधनो की अपेक्षा भूमि की पूर्ति अधिक सीमित है, इसलिये अर्थशास्त्रियो ने भूमि को प्रथम वर्ग मे रक्खा है, किंतु मूलत. इस प्रकार की विभिन्नता का कोई उचित कारण नही है।

यह आवश्यक है कि आभास लगान के विषय मे एक भ्रम निवारण हो जाय। बहुत से लोगों ने आभास लगान को अनावश्यक लाभ कहा है। इस प्रकार के भ्रम का कारण यह है कि दीर्घकालीन और अल्पकालीन परिस्थितियो मे समुचित अन्तर नही किया जाता। अल्प काल मे आभास लगान अनावश्यक लाभ समझा जा सकता है क्योकि यह मूल्य का अंग नही होता और इसको प्राप्त करने के लिये कोई विशेष व्यय नही करना पडता। दीर्घ काल में अनेकों अतिरिक्त व्यय करने पड़ते है और यह आवश्यक है कि व्यापारी को अपने इन खर्चों का पूरा प्रतिफल मिले। ऐसी परि-

[1] Marshall: Principles of Economics—p. 412.

स्थितियो मे आभास लगान व्यय का एक अंग होता है और इसलिए इसे आवश्यक लाभ समझना चाहिए।

११. लगान और आर्थिक उन्नति (Rent and Economic Progress)—आर्थिक उन्नति का लगान पर क्या प्रभाव पडता है, यह प्रश्न बडा महत्वपूर्ण है। आर्थिक उन्नति तीन बातों से प्रकट होती है।

(अ) उत्पादन के साधनों मे औद्योगिक उन्नति (ब) यातायात के साधनो में उन्नति (स) जनसख्या में वृद्धि।

कृषि मे उन्नति से सब प्रकार की भूमि पर बराबर प्रभाव पडता है। यह भी हो सकता है कि केवल श्रेष्ठ भूमि अथवा निम्नतर भूमि पर ही प्रभाव पडे। यदि सब प्रकार की भूमि पर बराबर प्रभाव पडे तो अनाज की पूर्ति बढ जायगी। और चूकि मांग वही रहेगी इसलिये इसका मूल्य गिर जायगा। और रिकार्डो के सिद्धात के अनुसार श्रेष्ठ भूमि के लगान गिरने लगेगे। दूसरे शब्दों मे कृषि मे उन्नति से अनाज की पूर्ति बढने के कारण लगान घट जायगा। अनाज की पूर्ति का बढना लगभग भूमि की पूर्ति के बढने के बराबर ही है।

यदि इस उन्नति का प्रभाव केवल सीमान्त भूमि पर ही पड़े तो रिकार्डो के सिद्धांत के अनुसार लगान फिर गिरने लगेगे क्योकि ऐसी दशा मे श्रेष्ठ भूमि के उत्पादन और सीमान्त के उत्पादन मे बहुत कम अन्तर रह जायगा। इसके विपरीत यदि इस उन्नति का प्रभाव केवल श्रेष्ठ भूमि के टुकडो पर पडेगा, तो लगान श्रेष्ठ भूमि की उत्पादन शक्ति अधिक होने के कारण बढ जायगा। पर यदि इस उत्पादन शक्ति के कारण कीमतो में किसी प्रकार का अवसाद आ जाय तो लगान गिर भी सकता है। अस्तु, लगान सदैव उत्पादित वस्तु की माग व पूर्ति पर निर्भर करता है। कृषि में किसी प्रकार की उन्नति का प्रभाव जो लगान पर पडता है, वह कृषि के सीमान्त के प्रभाव के कारण इतना नही पडता जितना कि भूमि अथवा उसकी उत्पत्ति की न्यूनता को प्रभावित करने से पड़ता है।

जहा तक आवागमन के साधनो मे उन्नति का सबध है, यातायात के साधनों की उन्नति का लगान पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। क्योकि दूर स्थित स्थान भी बाजार के सपर्क मे आ जायेगे, इसलिये उनके लगान बढ जायेगे। किंतु अधिक अच्छी जगह स्थित भूमि के लगान गिर जायेगे। यदि यातायात के साधनो मे उन्नति से न्यूनता में वृद्धि होगी तो लगान बढ जायगा। पर इसके विपरीत परिस्थिति मे लगान गिरने लगेगा।

जनसख्या की वृद्धि सदैव लगान को बढ़ाती है। रिकार्डो के सिद्धात के अनुसार अधिक गहरी खेती व निम्नतर भूमि के प्रयोग के कारण ऐसा होगा। पर इसी बात को अधिक आधुनिक ढग से इस प्रकार कहा जा सकता है कि जनसंख्या की वृद्धि से माग के अनसार भूमि की न्यूनता बढ़ जाती है जिससे लगान में वृद्धि हो जाती है।

१२. क्या लगान का सिद्धांत लाभ, मजदूरी व ब्याज पर भी लागू हो सकता है ? (Can the Theory of Rent be applied to Profit, Wages and Interest ?)—लगान का तत्व केवल भूमि में ही नही वरन् उत्पादन के दूसरे साधनो मे भी पाया जाता है।

(१) **लाभ मे भी लगान होता है** :—सारे उपक्रमी एक-सी योग्यता नही रखते। इस मे ऐसे उपक्रमी भी होते है जो केवल किसी प्रकार अपना काम चलाया करते है। इस प्रकार के उपक्रमियो को लाभ बहुत कम होते है किंतु ऐसे उपक्रमी भी होते है जो अपनी योग्यता के कारण कम व्यय मे उत्पादन कार्य चला लेते है। इनको अधिक लाभ प्राप्त होता है जिसकी तुलना श्रेष्ठ भूमि से प्राप्त बचत से की जा सकती है। इन उपक्रमियो का यह लाभ कुछ-कुछ श्रेष्ठ भूमि की स्थिति से प्राप्त लाभ की भाति होता है। इस प्रकार लाभ मे भी लगान का तत्व पाया जाता है। कुछ अर्थशास्त्री लाभ को योग्यता का लगान कहते है।

(२) **मजदूरी मे लगान का अंश**—जिस प्रकार भूमि के कुछ टुकडे दूसरे टुकडों से श्रेष्ठ होते है, उसी प्रकार कुछ श्रमिक भी दूसरे श्रमिको से श्रेष्ठ होते है। कुछ श्रमिकों का स्वास्थ्य अधिक अच्छा होता है, कुछ श्रमिक अधिक बुद्धिमान होते है, कुछ अधिक उत्तरदायी होते है। इस प्रकार श्रमिको मे विभिन्न प्रकार की कुशलता पाई जाती है। मजदूरी श्रमिक की कुशलता के अनुसार मिलती है। जो मजदूर अधिक कुशल होता है, उसे दूसरे मजदूरो की तुलना मे उसी प्रकार की बचत प्राप्त होती है जैसा कि श्रेष्ठ भूमि को निम्न भूमि पर।

(३) **ब्याज मे लगान का अंश**.—प्रचलित ब्याज सीमान्त विनियोजक का प्रतिफल होता है पर कुछ लोग कम दर पर भी बचत करना चाहते है। इसके दो कारण हो सकते है—या तो ऐसे आदमी बहुत अमीर होते है अथवा उनके खर्च कम होते है। इस प्रकार के विनियोजकों को एक प्रकार की बचत की प्राप्ति होती है। यह बचत विस्तृत रूप मे लगान के समान होती है। पर ब्याज मे गहरे लगान का भी तत्व होता है। बचत की हर इकाई का ब्याज समान होता है। पर अन्तिम इकाई की बचत में त्याग अधिक रहता है। सीमान्त पर इस त्याग का केवल प्रतिफल ही ब्याज के रूप मे मिलता है। इसका अर्थ यह है कि पहली इकाइयों के ब्याज मे त्याग के प्रतिफल से अधिक प्राप्ति होती है। इस प्रकार इन इकाइयो मे बचत करने वाले को एक प्रकार की बचत प्राप्त होती है।

इस विषय पर श्रीमती रोबिन्सन के शब्दों को दुहराना ठीक होगा "परन्तु लगान की धारणा बहुधा भूमि की धारणा से अधिक गुथी रहती है। उत्पत्ति के साधनों की विशेष इकाइयां भी जो दूसरी तीन श्रेणियो अर्थात् श्रम, पूजी तथा उपक्रम की है, लगान प्राप्त कर सकती है। एक मनुष्य जो संसार में पैदा होता है तो जो कुछ वह पा सकता है

पैदा करता है । कम से कम भुगतान जो उसको कार्य करते रहने के लिये प्रोत्साहन देने को आवश्यक है, वह वास्तविक आय है जो कि उसकी शारीरिक दक्षता को एक योग्य स्तर पर रखेगी । एक उपक्रमी का आवश्यक न्यूनतम, कमाई का वह स्तर है जो उसको एक नियुक्त श्रमिक की श्रेणी मे आने से बचाता है । और बहुत से मनुष्यो की वास्तविक आय इस न्यूनतम से कही अधिक होती है । यह भी स्पष्ट है कि पूजी को भी बहुधा इस आवश्यक न्यूनतम के ऊपर कुछ बचत मिलती है । बहुत से लोग यदि वास्तविक भुगतान से भी कम पाते है तो भी बचाने के लिये तैयार हो जायेगे । और कुछ तो बचाने के लिये तथा उधार देने को तैयार होगे, चाहे ब्याज की दर ऋणात्मक ही क्यो न हो । इस प्रकार साधनो की हर श्रेणी मे, साधनो के कुछ विशेष टुकडे होते है जो लगान प्राप्त करते है ।

१३. अनुपार्जित वृद्धि के रूप में लगान (Rent as Unearned Increment)—यद्यपि प्राचीन अर्थशास्त्री अनुपार्जित वृद्धि के विचार से परिचित थे, पर इसका प्रचार १८८० मे हेनरी जार्ज की पुस्तक "Progress and Poverty" के छपने के बाद ही हुआ ।

आय की उस बचत को , जो समाज की उन्नति के कारण प्राप्त होती है, अनुपार्जित बढती कहते है । जिस व्यक्ति को इस प्रकार की बढती प्राप्त होती है, उसे उसके लिये कोई प्रयत्न नही करने पडते । उदाहरण के लिये, किसी नगर के विस्तार होने से आसपास की भूमि के दाम अत्यन्त बढ जाते है । पर इस प्रकार की वृद्धि मे उनके मालिको का कोई प्रयत्न सम्मिलित नही होता । हेनरी जार्ज और जोसफ चेम्बरलेन आदि का कहना है कि इस प्रकार की आय व्यक्ति को नही वरन् समाज को मिलनी चाहिये । इसलिये इन लोगो का विचार था कि इस प्रकार की वृद्धि पर भारी कर लगना चाहिए । हेनरी जार्ज एक-कर प्रणाली (Single Tax System) के पक्ष मे थे, जिसमें केवल इसी प्रकार की अनुपार्जित आय पर कर लगते है ।

यह बात बिल्कुल ठीक है कि ऐसी आय जिसके लिये व्यक्ति को कोई प्रयत्न न करना पडा हो, व्यक्ति को नही वरन् समाज को मिले । पर इस समस्या मे बहुत सी कठिनाइया है । पहली कठिनाई यह है कि अनुपार्जित आय के भाग को उपार्जित आय से अलग करना बहुत कठिन है । यह भी हो सकता है कि भूमि के मालिक ने कुछ सुधार किये हो । ऐसी दशा में यह जानना बडा कठिन है कि आय का कौन सा भाग प्रयत्नो के कारण प्राप्त हुआ है और कौन सा अनुपार्जित है ।

इसके अतिरिक्त जब प्रवास (Migration) आदि के कारण भूमि के मूल्य गिर जाते है तो अनुपार्जित आय में कमी होने लगती है । प्रश्न यह है कि ऐसी दशा में क्या राज्य इस प्रकार की हानि का हर्जाना देगा ?

तीसरी बात यह है कि सामाजिक शक्तियो का प्रभाव केवल भूमि पर ही नही पड़ता । उत्पादन के दूसरे साधनों में भी इस प्रकार की अनुपार्जित बचत मिलती है ।

कुछ परिस्थितियों में मनुष्य को मजदूरी, लाभ व ब्याज असाधारण मात्रा मे मिलने लगता है। क्या राज्य इस प्रकार की अनुपार्जित आय पर भी नियत्रण लगा सकेगा ?

वर्त्तमान अर्थशास्त्रियो ने इस बात की कडी आलोचना की है कि लगान को अनुपार्जित आय समझा जाय। साधारण भाषा मे जिस आय के लिये कोई व्यय न भरना पडे, यह आवश्यक नही है कि वह आय पूर्णत: व्यय-रहित हो। जब कोई जमीदार अपनी भूमि का प्रयोग किसी एक काम के लिए करता है तो वह कुछ समय के लिये उस भूमि पर और कोई दूसरा काम नही कर सकता। साम्य की अवस्था मे अनुपार्जित आय समाप्त हो जाती है। कीमतो की भाति आय भी ऐसी दशा मे पाये हुए लाभ तथा हानि के सतुलन का परिणाम होता है।

१४. हस्तातरण आय (Transfer Earnings)—समाज के पास बहुत कम साधन ऐसे होते है, जिनके कई प्रयोग न हो। यद्यपि उत्पादन के साधन अधिक गतिशील तो नही होने पर बहुधा किसी साधन की इकाइयो का एक उद्योग से दूसरे उद्योग को हस्तातरण हुआ करता है। कुछ उद्योगो मे धीरे-धीरे क्षय होने लगता है जबकि दूसरो का विस्तार हुआ करता है। जब कोई उद्योग कम हो रहा हो तो विभिन्न उत्पादन साधन दूसरे उद्योगो मे जाने का प्रयत्न करते है। इसके विपरीत जब कोई उद्योग बढ रहा हो तो साधन उस उद्योग मे जमा होने का प्रयत्न करते है। वास्तव मे अधिक आय का आकर्षण ही साधनो को सदैव हस्तातरण के लिए प्रेरित करता है। इस हस्तातरण से आय मे जो वृद्धि होती है, वह अर्थशास्त्र मे हस्तातरण आय कहलाती है। बैनहम के शब्दो मे "द्रव्य का वह परिमाण जो कोई इकाई अपने उस प्रयोग मे प्राप्त करती है, जिसकी आय सर्वाधिक हो, कभी-कभी हस्तातरण आय कहलाती है।"

हस्तातरण आय के सिद्धात का सबध आर्थिक लगान के सिद्धात से बहुत घनिष्ट है। मान लीजिए कि भूमि के किसी टुकडे मे गन्ने के बजाय कपास पैदा करने मे अधिक लाभ होता है। पर यदि कपास का लाभ गिर जाय और गन्ने के लाभ में वृद्धि हो जाय तो भूमि मे गन्ने का उत्पादन होने लगेगा। ऐसी दशा मे भूमि अधिक आय की प्राप्ति के लिये एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग मे लाई जायगी। यदि किसी साधन की आय हस्तातरण होने के बाद प्राप्त होने वाली आय से अधिक हो तो वह लगान कहलाती है। बैनहम के अनुसार "साधारणतया उस बचत को जो कोई इकाई अपनी हस्तातरण आय पर प्राप्त करती है, लगान का रूप दे दिया जाता है।" यदि कोई भूमि का टुकडा केवल कपास के उत्पादन मे ही लगा हो अर्थात् वह और कुछ न उत्पत्ति कर सकता हो तब उसकी हस्तातरण आय शून्य होगी, और उस भूमि की कपास की उत्पत्ति लगान समझी जायगी। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते है कि यदि साधन की एक इकाई किसी उद्योग मे अपने को उस उद्योग मे बने रहने की पर्याप्त मात्रा से अधिक पैदा करती है तो वास्तविक आय और हस्तातरण आय का अन्तर उस उद्योग के दृष्टिकोण मे लगान कहा जा सकता है।

जैसा कि श्रीमती रोबिन्सन का कथन है "हर साधन की हर एक इकाई उस स्थान मे ठीक होगी जहा कि उसकी आय सबसे अधिक होगी। जब उस प्रयोग मे उसकी आय कम हो जायेगी तो वह दूसरे लाभदायक प्रयोग का आश्रय लेगी और यदि उसकी वास्तविक आय तथा उसके दूसरे लाभदायक प्रयोग मे चले जाने से आय में अधिक अन्तर है तो उसको लगान मिलेगा। यदि हर उत्पादक इकाई उस उद्योग तथा दूसरे वैकल्पिक प्रयोगो की कार्यकुशलता के दृष्टिकोण से अपनी समीप की इकाई के समान है तो वहा कोई लगान न होगा।

हस्तातरण आय के इस सिद्धात मे यह भी पता चलता है कि उत्पादन की मात्रा मे परिवर्त्तन मे किस प्रकार व्यय मे परिवर्त्तन हो जाता है। जिस उद्योग का विकास हो रहा हो वह दूसरे उद्योगो से अपने उत्पत्ति के साधन प्राप्त करता है। यदि इन साधनो की दूसरे उद्योगो मे अधिक आय हो रही हो तो जब तक इस उद्योग मे उन्हे उस आय से अधिक रुपये न मिले, वह इस उद्योग मे नही आयेगे। ऐसी परिस्थिति मे अतिरिक्त उत्पादन के लिये अल्प काल मे अत्यधिक व्यय करना पडेगा। सीमान्त तथा औसत लागत प्रति इकाई बढ जायगी। इस वृद्धि का कारण केवल यह है कि उत्पादन साधनो की हस्तातरण आय अधिक है।

निर्देश पुस्तकें

Briggs and Jordan—Text Book of Economics.
Marshall - Principles of Economics.
Cannan—Review of Economic Theory.
Ricardo—Principles of Political Economy and Taxation.
Thomas, S. E.—Elements of Economics.
Robinson- Imperfect Competition (Modern Theory of Rent).
Clark—Distribution of Wealth.

अध्याय २८

मजदूरी

(WAGES)

१. भूमिका—श्रम उत्पादन का दूसरा साधन है और जो कुछ उसे मिलता है, उसे "मजदूरी" कहते है । 'मजदूरी' शब्द व्यापक अथवा सीमित अर्थ मे प्रयोग हो सकता है । व्यापक अर्थ मे इसका अर्थ श्रम की सेवाओ का भुगतान है । श्रम का अर्थ विभिन्न प्रकार की व्यक्तिगत सेवाए है । उदाहरण के लिये, एक नियुक्ति करने वाला यदि स्वय अपना प्रबंधक है, तो वह उसकी मजदूरी पा रहा है । एक स्वतन्त्र मजदूर, जो उसी के द्वारा नियुक्त हुआ है, अपने श्रम की मजदूरी पाता है । कुछ लेखक मजदूरी शब्द को सीमित कर देना चाहते है । बैनहम (Benham) कहते है, "मजदूरी की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है कि ठेके द्वारा व्यवसायी, जो रुपया मजदूर की सेवाओं के लिये देता है, वह मजदूरी कहलाती है ।" इस अर्थ मे भारतवर्ष मे बहुत कम अंश मजदूरी पाने वाले मजदूरों का है ।

हम मजदूरी को व्यापक अर्थ मे प्रयोग करते है, तथा उसे राष्ट्रीय अंश का वह भाग मानते है, जो किसी व्यवसायी के लिये अथवा स्वतन्त्र रूप से अपने हाथो अथवा मस्तिष्क द्वारा कार्य करने वालो के लिये होता है । अब हम उन सिद्धातों को समझायेंगे, जिनसे मुख्यत. मजदूरों की मजदूरी निर्धारित होती है । लेकिन दिये हुए व्यवसाय की मजदूरी की व्याख्या उस व्यवसाय के स्वतन्त्र मजदूरो के उपार्जनों की भी व्याख्या कर देगी । यह ध्यान देने योग्य है कि स्वतन्त्र मजदूरो की मजदूरी दूसरो द्वारा नियुक्त किये मजदूरो की मजदूरी से समय के हिसाब से घटती-बढती रहती है । उसका एक मुख्य कारण यह है कि स्वतन्त्र मजदूरों को स्वय व्यवसाय का खतरा सहन करना पड़ता है जब कि नियुक्त किये हुए मजदूरो के व्यवसाय का खतरा स्वय व्यवसाय सहन करता है ।

२. मजदूरी भुगतान के ढंग (Methods of Wage Payment)—मजदूरी काम के हिसाब से अथवा जितने समय तक मजदूर काम पर लगा होता है, उसके हिसाब से दी जाती है । पहली 'खण्ड-मजदूरी' और दूसरी 'समय-मजदूरी' कहलाती है । दोनों प्रकार के भुगतानो में अपने-अपने ढग की अच्छाइयां और बुराइयां है । जब काम का परिमाण व नाप आदि ठीक प्रकार से सभव होता है तब व्यवसायी 'खण्ड' में मजदूरी देना पसन्द करता है । यह दशा तब होती है, जब व्यवसायी बहुत अधिक उत्पत्ति चाहता है । किंतु मजदूर अधिकतर 'समय-मजदूरी' पसन्द करते

है। वह शिकायत करते है कि यदि मजदूर खण्ड-मजदूरी द्वारा ऊंची दरों से अधिक मजदूरी कमा लेते है, तो व्यवसायी अपने भावों को कम कर देता है।

जब काम ऐसा होता है कि वह साधारणतया परिमाण मे नही आ सकता अथवा उसकी जांच नही हो सकती व उसमें परिमाण से अधिक गुण का महत्व होता है, तब प्रबंध-सबंधी सेवाओ के भुगतान के लिये समय-मजदूरी ही पसन्द की जाती है।

कार्य-रूप में यह ढंग निषेधक नही है। समय-मजदूरी के ढंग मे भी एक निश्चित उत्पत्ति की आशा रक्खी जाती है तथा जब खण्ड-मजदूरी दी जाती है तो समय का भी कुछ विचार रक्खा जाता है, और जब एक निश्चित परिमाण का कार्य, एक निश्चित समय में करना पडता है, तो यह ढंग 'धंधा' (Task work) के नाम से प्रसिद्ध होता है।

कभी-कभी 'समय-मजदूरी' निश्चित कर दी जाती है तथा खण्ड-मजदूरी द्वारा वस्तुओं के उत्पादन के हिसाब से पूरक किया जाता है। कभी-कभी मजदूरो के गुट्ट को सामूहिक रूप से अधिक काम करने पर पारितोषक मजदूरी दे दी जाती है। इस रकम को मजदूर आपसी समझौते के अनुसार परस्पर बाट लेते है।

मजदूरी सरकन-तुला (Sliding Scale) सिद्धात पर भी नियत की जाती है। वस्तुओं के मूल्य, रहने के व्यय या फायदे के हिसाब से उसमे अन्तर होता है। कुछ व्यवसायी अपने कार्यकर्त्ताओं का लाभ मे हिस्सा पाने का प्रबध कर लेते है, ताकि उनसे उन्हें पूर्ण सहयोग व सहानुभूति प्राप्त हो सके। कुछ अवस्थाओं मे मजदूरी कानून द्वारा भी नियत कर दी जाती है। कुछ अतिरिक्त श्रमशील व्यापारो में न्यूनतम मजदूरी नियत की जा सकती है। कुछ लोग राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी की राय देते है, जो कि सब उद्योगों पर लागू हो। इन रीतियों पर हम बाद के अध्यायों मे विचार करेगे।

३. नाममात्र तथा वास्तविक मजदूरी की तुलना (Nominal Versus Real Wages)—नाममात्र मजदूरी वह मजदूरी है, जो द्रव्य के रूप में प्राप्त अथवा भुगतान की जाती है। परन्तु केवल द्रव्य-मजदूरी एक मजदूर की आर्थिक स्थिति का सही परिचय नही दे सकती। वास्तविक मजदूरी जानने के लिये, जो एक व्यक्ति के जीवन का मान निश्चित करती है, निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

(अ) **द्रव्य की क्रय-शक्ति**—जब एक जगह की दूसरी जगह के साथ और एक समय की दूसरे समय के साथ मजदूरी की तुलना की जाती है, तो द्रव्य की क्रय-शक्ति पर भी ध्यान रखना होगा। ऊची मजदूरी का एक अंश इंग्लैड और अमरीका में इस लिये संभव है कि वहा के बाजारों में उच्च कीमतों का विस्तार है। शहर की अपेक्षा एक सौ रुपये देहात में कही अधिक सुखकर हो सकते है अथवा उससे विपरीत संबंधित

व्यक्ति की परिस्थितियो और रुचि के अनुसार। सन् १९३९ के सौ रुपयों में सन् १९५१ के सौ रुपयो की अपेक्षा अधिक क्रय-शक्ति थी। मजदूरी के द्रव्य में वृद्धि कर देने पर भी सन् १९५१ मे वास्तविक मजदूरी १९३९ की अपेक्षा कम ही रही।

(ब) **सहायक आमदनी**—नियमित-द्रव्य मजदूरी के अतिरिक्त एक नौकर अपनी अतिरिक्त आय, वस्तु या द्रव्य के रूप मे अधिक कर सकता है। उदाहरण के लिए, घरेलू नौकरों के रहने व खाने के प्रबध, अध्यापको के परीक्षा-शुल्क आदि। सहायक आमदनी वह भी कही जा सकती है, जो मजदूर-परिवार के अन्य व्यक्तियों को नौकरी का अवसर मिल जाने से उपलब्ध हो जाती है।

(स) **अतिरिक्त भुगतान के बिना अतिरिक्त काम**—अगर किसी नौकर को बिना उचित पुरस्कार के अधिक कार्य करना पड़ता है, तो उसकी वास्तविक मजदूरी उतनी ही कम हो जाती है। बैंक के क्लर्कों को नियत घटों के काम का ही वेतन मिलता है। परन्तु वह हिसाब-किताब की गलती ठीक करने के लिये प्रायः अधिक समय के लिये रोक लिये जाते है। ऐसे अधिक काम के लिये उन्हे कुछ नही मिलता।

(द) **नौकरी की नियमितता अथवा अनियमितता**—एक नियमित अथवा अधिक सुरक्षित व्यवसाय अल्प मजदूरी दे सकता है, फिर भी उसमें वास्तविक मजदूरी, उस अनियमित और अरक्षित नौकरी की अपेक्षा जिसमें अधिक द्रव्य मजदूरी मिलती है, अधिक हो सकती है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य जिसे ५ रुपये दैनिक मिलते है, परन्तु काम का मिलना अनिश्चित है, वह उतना सपन्न नही होगा, जितना नियमित रूप से २ रुपये प्रतिदिन कमाने वाला व्यक्ति होगा।

(य) **काम की दशायें**—कुछ व्यवसाय दूसरो की अपेक्षा अच्छे होते है तथा कुछ में दूसरों की अपेक्षा काम के घंटे कम होते है, काम कुछ अधिक अथवा कम आराम-दायक हो सकता है, व्यवसायी अधिक या कम योग्य हो सकता है इत्यादि। यह सब बाते किसी मनुष्य की वास्तविक मजदूरी मालूम करते समय ध्यान में रखनी होंगी।

४. मजदूरी की समस्याएं (The Problems of Wages)—मजदूरी निर्धारित करने के लिये कुछ विशेष समस्याएं जिन पर हमें विचार करना है, ये है :—

(१) वे साधारण सिद्धांत क्या है जिनके अनुसार राष्ट्रीय आय में से श्रमिकों का भाग निर्धारित किया जाता है ? विभिन्न प्रकार के विवरण, जो इस सबंध में दिये गये है, वे मजदूरी के सिद्धांत कहे जाते है। मजदूरी के सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धांत को साधारणतया सभी ने स्वीकार किया है। परन्तु हमें कुछ प्राचीन सिद्धांतों की जांच भी करनी होगी। यद्यपि वह वेतन निर्धारित करने के ठीक सिद्धांत नही समझे जाते है; फिर भी उनमें सच्चाई के अंश है। इन सिद्धांतों पर हम विचार करेंगे।

(१) लौह सिद्धांत अथवा जीविका सिद्धांत, (२) मजदूरी कोष सिद्धांत, (३)

शेष प्रार्थी सिद्धात। तब सीमान्त उत्पादन सिद्धांत समझाया जायगा।

(२) मजदूरी की दूसरी समस्या 'सापेक्ष मजदूरी' है। यहा हमे विभिन्न मजदूरियों में अन्तर, जो विभिन्न मनुष्यो के उसी व्यवसाय मे, विभिन्न व्यवसायो मे अथवा विभिन्न स्थानो पर और विभिन्न समयो पर होते है, उनके कारणो पर प्रकाश डालना होगा।

५. मजदूरी का जीविका सिद्धात (The Subsistence Theory of Wages)---यह सिद्धात सर्वप्रथम फ्रासीसी अर्थशास्त्र वेत्ताओं के फिजियोक्रेटिक स्कूल से निकला और उन्नीसवी शताब्दी मे साधारण रूप से मान लिया गया। जर्मनी के अर्थशास्त्र-वेत्ता लैजले (Lassalle) इसे मजदूरी का लौह सिद्धात कहते है। कार्ल मार्क्स ने इसे अपने शोषण सिद्धात का आधार बनाया है।

इस सिद्धात के अनुसार मजदूरी उसी सतह पर ठहर जाती है, जहां कि मजदूर उस मजदूरी से कम अपनी और अपने परिवार की जीविका चला सके। अगर मजदूरी इस सतह से ऊपर उठती है, तो मजदूरो को शादी करने और अपने परिवार को बढाने का प्रोत्साहन मिलता है। श्रम पूर्ति की वृद्धि से मजदूरी जीविका की सीमा तक आ जाती है। यदि मजदूरी इस सीमा से नीचे गिर जाती है, तो शादी व पैदाइश का उत्साह नही रहता तथा आहार के अभाव के कारण मृत्यु-दर बढ जाती है और अन्त मे श्रम-पूर्ति कम हो जाती है और यह तब तक चलता रहता है, जब तक कि मजदूरी को बढाकर पुन: जीविका की सीमा तक नही कर दिया जाता।

फ्रासीसी अर्थशास्त्र-वेत्ता अठारहवी शताब्दी मे फ्रास के किसानो की गरीब दशा देखकर इस निष्कर्ष पर पहुचे थे। जर्मनी के समाजवादी गलती से सोचा करते थे कि रिकार्डो (Ricardo) भी उन्नीसवी शताब्दी मे इग्लैड के मजदूर वर्ग की दुर्दशा देखकर उसी निर्णय पर पहुचा था। वास्तव में रिकार्डो इस बात मे विश्वास करता था कि मजदूरी जीविका के स्तर से ऊपर बढ सकती है।

मगर यह सिद्धात पिछडे हुए देशो, जैसे भारत व चीन मे लागू हो सकता है, जहा मजदूर अति दरिद्र अवस्था मे है और शक्तिशाली पूजीपतियो तथा जमीदारो से अपनी वास्तविक मजदूरी भी नही ले सकते। इन दशाओं मे जमीदार और पूजीपति वह सब अधिक बचा हुआ रुपया जीवन की फिजूल आवश्यकताओ की पूर्ति में व्यय करते है, जो मजदूर और उसके परिवार के लिये काम चलाने को पर्याप्त होता है।

यह सिद्धात अधिक उन्नतिशील देशो, जैसे इंग्लैड, अमरीका आदि में, लागू नही होता। यह सिद्धात माल्थस (Malthus) के जनसंख्या-संबंधी नियम पर आधारित है। यह गलत है कि मजदूरी की वृद्धि के कारण जन्म के अनुपात में भी वृद्धि होगी। मजदूरी की उन्नति से रहन-सहन का दर्जा भी तो बढ़ सकता है। डेनमार्क और हालैड मे कृषि मजदूर जीविका की सीमा से अधिक मजदूरी पाते है। यूरोप और अमरीका सरीखे औद्योगिक देशों में मजदूरी बराबर बढ़ती जा रही है और मजदूर वर्ग एक शताब्दी

पहले जैसे था, उससे बहुत अधिक सुखी है। दूसरी आलोचना यह है कि जीविका की सीमा कुछ दशाओ को छोडकर लगभग सभी मजदूर वर्गो की एक-सी होती है। इस प्रकार यह सिद्धात विभिन्न व्यवसायो में मजदूरी के अन्तरो को प्रगट नही करता। अन्त मे यह कहा जा सकता है कि यह सिद्धात केवल पूर्ति की ओर से ही लिया गया है, माग की ओर बिल्कुल ध्यान नही दिया गया है। माग की ओर से व्यवसायी मजदूर के काम को देखता है उसकी जीविका को नही।

६. मजदूरी का कोष सिद्धान्त (The Wages Fund Theory)—यह सिद्धान्त जे० एस० मिल (J. S Mill) से सम्बन्धित है। मिल ने लिखा कि "मजदूरी श्रम की माग व पूर्ति पर अथवा जैसा कि कहा जाता है, पूजी और जनसख्या के बीच के अनुपात पर निर्भर करती है। यहा पर जनसख्या शब्द का अर्थ मजदूर वर्ग की सख्या, तथा वह मजदूर, जो किराये पर काम करते है, उनसे है, और पूजी का अर्थ 'व्यवसाय' की कुल पूजी से नही, परन्तु जितनी पूजी प्रत्यक्षत श्रम खरीदने मे व्यय होती है, उसी से है।"

इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी दो परिमाणो पर आश्रित है, (१) मजदूरी-कोष और चल पूजी जिससे श्रम का क्रय किया जाय (२) मजदूरो की सख्या जो नौकरी चाहते है। इसलिये मजदूरी तब तक नही बढ सकती जब तक कि मजदूरी कोष न बढ जाय अथवा मजदूरो की सख्या कम नही जाय। लेकिन चूकि सिद्धान्त की दृष्टि मे मजदूरी कोष नियत है, इसलिये मजदूरी तभी बढ सकती है, जब मजदूरो की संख्या मे कमी हो। इसलिए यह प्रकट होता है कि सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी बढाने के लिए ट्रेड यूनियनो के सब प्रयत्न निरर्थक है। यदि वे एक व्यापार मे अपनी मजदूरी बढा लेते है, तो यह बढ़ी हुई मजदूरी दूसरे पर प्रभाव डालेगी क्योकि मजदूरी कोष निश्चित है तथा इन ट्रेड यूनियनों का आबादी के ऊपर कोई प्रतिबन्ध नही होता।

इस सिद्धान्त पर बहुत आलोचनाये की गई है और अब तो इसे बिल्कुल रद्द ही कर दिया गया है। मिल ने स्वय इसे अपनी 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' नाम की पुस्तक की दूसरी आवृत्ति मे से हटा दिया है। विशेष आपत्तिया निम्नलिखित है :—

(१) मिल सोचते थे कि मजदूरी केवल चल-पूजी के द्वारा ही दी जाती है। इस बात मे कि मजदूरी का प्रधान जरिया पूजी है अथवा वर्तमान उत्पादक वस्तुएं, काफी वाद-विवाद रहा है। अग्रेजी अर्थशास्त्रवेत्ता रिकार्डो से लेकर मिल तक सभी यह सोचते थे कि मजदूरी पूजी से ही दी जाती है। बाद में सन् १८८० से १९१४ तक के अंग्रेजी और अमरीकन अर्थशास्त्र-वेत्ताओं का यह विचार था कि मजदूरी वर्तमान वस्तुओं के उत्पादन के कारण दी जाती है। इनमे से कोई भी विचार बिल्कुल ठीक नही है। कुछ दशाओं में, जहां पर उत्पादन का ढग छोटा होता है, वहां पर मजदूरी वर्तमान उत्पादन के अनुसार दी जाती है और दूसरी दशा में जहां उत्पादन का ढंग लम्बा होता है, वहां पर मजदूर

प्रत्यक्ष अथवा विनिमय के रूप में मजदूरी नही पाते। इन दशाओ मे उनकी मजदूरी पूजी मे दी जाती है।

(२) मिल कहते है कि मजदूरी पूजी के एक निश्चित भाग से दी जाती है जो कि इसके लिए नियत रहता है। यह भी सच नही है, क्योकि कोई निश्चित मजदूरी कोष नही होता और वह कोष, जिसे हम कह सकते है, घट-बढ भी सकता है। इसका आयतन लाभ के अनुसार बदलता है। इन चीजो को ठीक प्रकार से निर्धारित करने के लिए श्रम की उत्पादक शक्ति समयानुसार एक आवश्यक साधन है।

(३) यह सिद्धान्त स्वत सिद्ध है। यह बिना बताये हुए कि मजदूरी कोष के साधन कौन-कौन से है तथा इसका किस प्रकार अनुमान लगाया जाता है, यह इतना ही बताता है जो अपने आप प्रत्यक्ष है। अर्थात् मजदूरी कोष को मजदूरी की सख्या से भाग देने पर मजदूरी निकल आती है।

(४) इससे ज्ञात होता है कि कुछ पूजी और श्रम मे विरोध रहता है, जो वास्तव मे होता नही। इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी लाभ बढने पर ही बढ़ाई जा सकती है, परन्तु वास्तव मे ऐसी दशा नही होती है। व्यवसाय की उन्नति मे मजदूरी और लाभ दोनो बढ सकते है।

(५) यह भी समझना भूल है कि मजदूरी के बढने से पूजी विदेश मे चली जायगी। पूजी ऐसी चीज नही है और न लाभ ही ऐसे बेलोचदार है। पूजी के लाभ समय-समय पर घटते-बढ़ते रहते है।

(६) मजदूरी कोष सिद्धान्त इस बात को समझने मे कि भिन्न-भिन्न व्यवसायों की मजदूरी मे क्यो अन्तर रहता है, मदद नही करता।

(७) मजदूरी की दरे, जो विभिन्न देशो मे फैली है, वह वहा की पूजी से कोई सम्बन्ध नही रखती। नये देशो मे पूजी कम होती है, परन्तु मजदूरी अधिक होती है। इसके विपरीत हाल पुराने देशो का है।

७. अवशिष्ट स्वत्व सिद्धांत (Residual Claimant Theory)—यह सिद्धान्त अमरीका के अर्थशास्त्र-वेता वाकर (Walker) के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार मजदूरी वह बचत है, जो उत्पादन के साधनो का भुगतान करने के बाद बच रहे। वाकर के अनुसार लगान, लाभ और व्याज निश्चित नियमों के आधार पर निर्धारित किये जाते है किन्तु मजदूरी से सम्बन्धित ऐसा कोई नियम नही है। कुल योग उत्पादन में से लगान, लाभ, व्याज की रकम भुगतान करने के बाद, जो रकम बचती है, वही मजदूरी है। यदि श्रम की उत्पादन शक्ति बढ जाय तो राष्ट्रीय अश बढेगा और मजदूरी भी बढेगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त से श्रम की योग्यता बढ़ने पर मजदूरी बढ़ने की सम्भावना हो सकती है।

इस सिद्धान्त को भी बहुत से अर्थशास्त्र-वेत्ताओ ने अस्वीकृत कर दिया है। इसमें

अनेक बुराइयां है। पहली बात तो यह है कि यह सिद्धान्त यह नही बतलाता कि ट्रेड यूनियनें किस प्रकार मजदूरी बढ़ा सकती है। दूसरे, यह नही बताता कि श्रम की पूर्ति का प्रभाव मजदूरी के ऊपर क्या होता है। तीसरे, यह समझने में कठिनाई होती है कि वही मांग और पूर्ति का नियम, जो कि उत्पादन के अन्य साधनों को पुरस्कार देता है, मजदूरी पर क्यों लागू नहीं होता। अन्ततः, मजदूर बाकी के लिये प्रार्थी नहीं, बल्कि व्यवसायी होता है।

८. मजदूरी का सीमांत उत्पादन शक्ति सिद्धांत (Marginal Productivity Theory of Wages)—यह सिद्धान्त श्रम की मांग और पूर्ति दोनों को ध्यान में रखता है। इसके अनुसार मजदूरी मांग व पूर्ति के साधनों की शक्ति के बीच समानता द्वारा निर्धारित होती है। किसी विशेष समय पर पूर्ति दी रहती है और मांग विशेष महत्वपूर्ण होती है। अधिक काल होने पर श्रम की पूर्ति घट-बढ़ सकती है और पूर्ति की शक्तियां विशेष महत्वपूर्ण हो जाती है। परन्तु यह शक्तियां सीमान्त उत्पादन शक्ति के ऊपर प्रभाव डालती है, इसलिए इस सिद्धान्त को सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धान्त कहते है।

९. श्रम की मांग (Demand for Labour)–'श्रमकी मांग' निकाली हुई मांग होती है। यह उन चीजों की माग से पैदा होती है,जो उत्पत्ति में मदद देती है। इसलिए किसी वस्तु की मांग में आशा के अनुकूल उन्नति उस श्रम की मांग को बढ़ा देती है, जो उस वस्तु को पैदा करती है। श्रम की मांग उस हालत में नही बढ़ती जब कि उनकी मजदूरी कुल योग मजदूरी का बहुत छोटा भाग हो, परन्तु मांग उस हालत मे घट-बढ़ सकेगी जबकि उत्पन्न की हुई वस्तु की मांग भी घट-बढ सकती हो अथवा बदले में सस्ती चीजें उपलब्ध हों।

जिस प्रकार वस्तुओं की मांग-कीमत होती है, उसी प्रकार श्रम की मांग-कीमत होती है। एक नए प्रकार के देश की विभिन्न परिस्थितियों में श्रम की मांग उद्योगपति की ओर से होती है, जो अपने व्यवसाय मे लाभ उठाने के लिए उत्पत्ति के अन्य साधनों तथा श्रम को लगाता है। इसीलिए श्रम की मांग की कीमत वह मजदूरी है,जो एक उद्योगपति एक विशेष प्रकार के श्रम के लिए देने को तैयार है। इसको ठीक ढंग से समझाने के लिए हम मान लें कि सब श्रम एक ही श्रेणी का है तथा एक मजदूर उतना ही अच्छा है,जितना कि दूसरा। मान लो कि एक व्यवसायी श्रम चाहता है। तो वह उसकी कितनी मजदूरी देना चाहेगा ? उद्योगपति एक के बाद दूसरा मजदूर काम पर लगाता जायगा जिस प्रकार कि एक उपभोक्ता वस्तु की एक इकाई के बाद दूसरी का भोग करता है। कुछ समय के बाद क्रमागत ह्रास नियम का सिद्धान्त लागू हो जायगा जबकि प्रत्येक बढ़ा हुआ श्रम योग-उत्पत्ति को घटती दर पर बढ़ायेगा। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्ति के बढ़ने से श्रम की उत्पादन-शक्ति कम हो जायगी। किस बिन्दु तक वह बढ़े हुए मजदूरों की इकाइयों को काम पर लगाता रहेगा ? वह तब तक लगाता रहेगा, जब तक कि अन्तिम इकाई को लगाने योग्य समझेगा। वह उसी बिन्दु पर मजदूर लगाना

बन्द करेगा, जब कि उसके द्वारा योग उत्पत्ति में बढ़ाव मजदूरी के बराबर अथवा उससे कम होगा। इस प्रकार मजदूरी, जो वह उसे देगा (श्रम की सीमान्त इकाई) उस बढ़े हुए उत्पादन अथवा सीमान्त उत्पादन शक्ति के मूल्य के बराबर होगी। परन्तु जैसा कि हम मान चुके है, कि सभी मजदूर एक श्रेणी के है, इसलिए जिस मजदूरी का भुगतान सीमान्त मजदूर को होगा, वही सब मजदूरो को होगा।

वास्तव में किसी विशेष व्यवसायी के लिए, जो प्रतियोगिता में व्यवसाय करता है, मजदूरी बाजार की शक्तियों द्वारा निश्चित होती है। वह कम या अधिक मजदूरों को लगा कर मजदूरी के ऊपर अधिक प्रभाव नही डाल सकता। यह वास्तव मे उसी हालत मे होता है जैसा कि एक व्यक्तिगत उपभोक्ता किसी वस्तु को प्रतियोगिता में खरीदता है। एक व्यवसायी उतने मजदूरो को रखेगा जिससे कि मजदूरी की प्रचलित दर सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर हो जाय। यह सभी व्यवसायियों की माग होती है जो दी हुई पूर्ति के सम्बन्ध मे ली जाती है। और वह पूर्ति ही श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति तथा बाजार में मजदूरी को निर्धारित करती है।

१०. श्रम की पूर्ति (Supply of Labour)—जब हम मांग की दृष्टि से मजदूरी की व्याख्या करते है तो पूर्ति को स्थिर मान लेते है। इसी प्रकार हम माग को स्थिर मान कर यह कह सकते है कि जब श्रम की पूर्ति बढ़ती है, तो उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति गिर जाती है और जब पूर्ति गिर जाती है, तब श्रम की उत्पादन शक्ति बढ जाती है। पहली हालत मे मजदूरी गिरेगी और दूसरी मे बढ़ेगी। जब हम यह कहते है कि श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति गिर चुकी है, तब हमारा मतलब होता है कि श्रम को उस उत्पादन कार्य मे लगाया गया है, जहा पर सीमान्त उत्पादन में उसका सहयोग कम है। इसके विरुद्ध सीमान्त उत्पादन शक्ति के बढने से सीमान्त पर उसका सहयोग अधिक होता है।

इसलिए श्रम की पूर्ति पर विभिन्न साधनों का प्रभाव पड़ता है। अन्य चीजें समान रहने पर अधिक मजदूरी मिलने से अधिक श्रम आकर्षित होगा। परन्तु यह सब उद्योगो मे लागू नही होता। यह विशेष उद्योग के लिए लागू है। पूर्ति की घटा-बढी श्रम की स्थिरता पर आधारित है। विभिन्न मजदूर अपने काम के समय को अलग कर लेते है; विशेषकर स्वतन्त्र मजदूर, जो उस महत्व के अनुसार ऐसा करते है जो वह अपनी आमदनी व अवकाश को देते है। कुल श्रम की पूर्ति आबादी के बढाव पर निर्भर करती है, जिस समस्या पर हम विचार कर चुके है। किसी विशेष व्यवसाय में दूसरे उद्योगों के व्यय पर श्रम की पूर्ति बढाई जा सकती है यदि ऐसे उद्योग मे श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ जाने से मजदूरी भी बढ़ जाय। दी हुई श्रम की पूर्ति को, प्रतियोगिता मे, विभिन्न उद्योगों में इस प्रकार बांटा जाता है कि श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति सभी उद्योगो में एक-सी रहे। परन्तु यदि श्रम एक जगह से दूसरी जगह स्वतंत्रतापूर्वक नही जा सकता तो श्रम की

सीमान्त उत्पादन शक्ति विभिन्न उद्योगों में भिन्न-भिन्न होगी तथा उसी प्रकार के श्रम के लिए अलग-अलग मजदूरी होगी। यह समस्या सापेक्षित मजदूरी की है, जिस पर हम बाद में विचार करेंगे।

किसी भी समय मजदूरों के काम करने से इन्कार करने पर श्रम की पूर्ति घट सकती है। यह तभी होता है, जब श्रम मज़दूर सघ में संगठित किया जाता है। मजदूर उस मजदूरी को लेने से इन्कार कर देते है, जो उनकी आदत पड़े हुए दर्जे से कम होती है। परन्तु जैसा कि हम देखेंगे कि ऊंची मजदूरी तभी ठीक समझी जाती है, जब उसके द्वारा उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति ऊंचे दर्जे पर होती है। इस प्रकार मजदूर, जिनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति कम है, ऊंचे दर्जे पर रहते हुए भी उसके लिए ऊंची मजदूरी नही माग सकते है। किन्तु दीर्घ काल में सीमान्त उत्पादन शक्ति, मजदूरी और जीवन-स्तर एक दूसरे को ठीक कर लेते है।

११. मजदूरी व रहन-सहन का स्तर (Wages and the Standard of Living)–उन्नीसवी शताब्दी के समाप्त होने पर कुछ लेखकों ने जीवन-स्तर सिद्धांत को अधिक ठीक करके लिखा। वह इस बात पर संतोष कर चुके थे कि मजदूरी केवल जीविका की सीमा तक नही होती परन्तु रहन-सहन के उस दर्जे पर निर्धारित रहती है जिसमें रहने की उन्हें आदत हो गई है। इस शुद्ध किये सिद्धान्त मे कुछ सच्चाई अवश्य है, क्योंकि रहन-सहन का दर्जा अधिकतर मजदूरी के ऊपर विभिन्न तरीकों से प्रभाव डालता है।

प्रथम, मजदूर जहां तक संभव होगा, उस मजदूरी को स्वीकार न करेंगे, जो उन के रहन-सहन के स्तर से कम होगी तथा श्रम की पूर्ति न होने से व्यवसायी को उनकी माग मानना पडेगी। **दूसरे**, अच्छे रहन-सहन में रहने से उनकी काम की विशेषता बढने से उन की सीमान्त उत्पादन शक्ति बढ जायगी और इस प्रकार मजदूरी भी बढ़ जायगी। **तीसरे**, रहन-सहन का स्तर आबादी की वृद्धि की सीमा को नियत कर मजदूरी के ऊपर प्रभाव डालता है। यदि मजदूरी से उस मजदूर के रहन-सहन का स्तर ठीक नही रहता, तो वह बच्चों की उत्पत्ति रोक कर तथा शादी न करके उसे ठीक करेगा। यह श्रम की पूर्ति को कम करेगा और सीमान्त उत्पादन शक्ति तथा मजदूरी को बढायेगा। यह ध्यान में रखना चाहिए कि रहन-सहन का दर्जा मजदूरी पर इतना ही आश्रित है जितना कि मजदूरी रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर है। केवल रहन-सहन के स्तर पर हठ करने से ही मजदूरी नही बढ़ जायगी। मजदूरी उत्पादन शक्ति के बढने पर ही बढ़ सकेगी। इस प्रकार मजदूरी का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से रहन-सहन के स्तर पर पड़ता है।

१२. टाज़िग का मज़दूरी सिद्धान्त[1] (Taussig's Theory of

1. For detailed study see Readings in the Theory of Income Distribution, pages 278—293.

Wages)—टाजिग मजदूरी के सीमान्त उत्पादन शक्ति के सुधरे हुए रूप को लेते है। उनके अनुसार मजदूरी श्रम की बट्टा की हुई सीमान्त उत्पत्ति का प्रतिनिधित्व करती है।

वह सोचते है कि मजदूर सीमान्त उत्पत्ति का कुल योग नही पा सकता। यह इसलिए कि उत्पादन में समय लगता है और श्रम की अंतिम उत्पत्ति,शीघ्रता से,प्राप्त नही हो सकती। परन्तु मजदूरों को उस समय तक सहायता देनी होती है । यह पूंजीपति व्यवसायी के द्वारा होता है। व्यवसायी आशा की हुई मजदूरी की सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर भुगतान नहीं करता। वह अन्तिम योग उत्पत्ति से अग्रिम रुपया देने के कारण खतरे को अपने ऊपर लेने के लिए कुछ प्रतिशत कम कर लेता है। सीमान्त व्यावसायिक संस्था या सीमान्त भूमि के श्रम की योग उत्पत्ति में से उपर्युक्त कटौती काटने के बाद जो रकम बचती है, वह मजदूरी कहलाती है। उस वस्तु की वर्तमान कीमत भविष्य के अनुमानित कटौती तथा बदले पर निर्भर रहती है।

इस सिद्धांत की दो कमजोरियां स्वयं टाजिग बतलाते है। पहली, यह कि यह धुंधली तथा कठिन है जो कि वास्तविक जीवन की समस्या से दूर है। इसके लिए वह उत्तर देते है कि यह कमजोरी लगभग सभी माने हुए सिद्धान्तों में पाई जाती है। दूसरी, और अधिक गम्भीर आपत्ति यह है कि मिश्रित उत्पादन की चालू व्याज की दर पर कटौती होती है, लेकिन उसके विश्लेषण के अनुसार व्याज की दर मजदूरों के अग्रिम रुपयों के देने के ढंग का फल होती है; क्योंकि मजदूरों को जो कुछ दिया जाता है, उसी के आधार पर वह अधिक उत्पादित करते है और उसी आधिक्य पर यह निर्भर है। यह तो चक्र के रूप म तर्क करना है । इस कठिनाई को दूर करने के लिए टाजिग प्रस्ताव करते है कि हम सीमान्त उत्पादन शक्ति का समय के अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक व्याज की दर निर्धारित कर लेनी चाहिये, और उस व्याज से, जो इस प्रकार निर्धारित किया जाता है, श्रम की सीमान्त उत्पत्ति की कटौती मालूम कर सकते है।

अन्त में टाजिग का यह सिद्धान्त अवशिष्ट स्वत्व सिद्धांत का अनुवाद है। वे कहते है कि वास्तव मे मजदूरी योग उत्पत्ति में से लाभ, व्याज, लगान घटाने से जो बचता है, वही मजदूरी है। इस प्रकार इस सिद्धान्त पर अवशिष्ट स्वत्व सिद्धांत की सब आपत्तियां लागू हो सकती है ।

१३. सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त की परिमितता (Limitations of the Marginal Productivity Theory)—इन वितरण के सिद्धांतों को ध्यान में रख कर हम सीमान्त उत्पादन शक्ति के विषय में पहले ही आलोचनायें पढ़ चुके है। इस सिद्धान्त को जब हम मजदूरी पर लागू करते है तो फिर से दुहरा लेना चाहते है कि यह सिद्धान्त कुछ स्वयंसिद्धियों के बीच ठीक बैठता है, जैसे पूर्ण प्रतियोगिता, श्रम स्वतन्त्रता-पूर्वक एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में

जा सकता हो, सब श्रम एक समान हो, निश्चित व्याज व लगान की दरें तथा उत्पादित वस्तु का मूल्य दिया हो । यह एक स्थिर सिद्धांत है, परन्तु यह संसार गतियुक्त है । सब साधन, जिन्हें हम स्थायी मान लेते हैं, वे लगातार बदलते रहते है । पूर्ण प्रतियोगिता कभी नही होती । श्रम के इधर-उधर जाने में भी अनेक प्रतिबन्ध होते है । सब श्रम एक श्रेणी का नही होता । साधनों का उचित पुरस्कार स्थायी नही होता; उत्पत्ति के साधनों का मूल्य भी स्थिर नही रहता । इन सब बातों को ध्यान में रखना पड़ता है जब कि इस सिद्धांत को वास्तविक परिस्थितियों में लागू किया जाता है । फिर भी यह सिद्धांत, प्रवृत्ति के रूप में सही है, और उन मूल शक्तियों से जो मजदूरी की दरें निश्चित करती है, समझने मे बहुमूल्य है ।

वास्तविक संसार में उपर्युक्त स्वयंसिद्धियों के न होने से, सब श्रम को एक सी मजदूरी नही दी जा सकती । मजदूरी में जगह-जगह में, आदमी-आदमी में तथा व्यवसाय-व्यवसाय मे-अन्तर होता है । ये अन्तर कार्यकुशलता में अन्तर, जो प्राकृतिक रूप से अथवा स्वयं प्राप्त की गयी हों तथा अन्य आर्थिक बाधाओं के कारण होते है, जिन्हे हम सापेक्ष मजदूरी में पढ़ेंगे । सौदा करने में उद्योगपति अच्छी हालत में होते है । वह जितनी मजदूरी चाहे दें, इसके लिए वह मजबूर नही किये जा सकते । मजदूर भी मूर्खता और घर व कुटुम्बियों के मोह के कारण अच्छा बाजार नहीं ढूढते, इसलिए मजदूरी की प्रचलित दर सीमान्त उत्पादन शक्ति के हिसाब से कम होती है । उत्पादन शक्ति को उत्पादित वस्तुओं अथवा मूल्य के रूप में भी मापना कठिन है ।

१४. मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Wages)—मजदूरी का आधुनिक सिद्धांत श्रम में लागू होता है, जो श्रम का मुख्य सिद्धांत है तथा जिससे साधारणतया वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया जाता है । बाजार और सामान्य मूल्य की भांति मजदूरी भी अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन होती है । "अल्पकाल में मजदूरी व्यवसायी की सीमान्त उत्पादन शक्ति के अनुसार निर्धारित करनी पड़ती है जब कि दीर्घकालीन मजदूरी तो उतनी होनी चाहिए, जिससे कि मजदूर अपने रहन-सहन के स्तर को बनाये रख सके । दीर्घकाल में मजदूरी की सीमा वह होती है, जहां पर मजदूर की सीमान्त उत्पादन शक्ति श्रम के पूर्तिमूल्य के बराबर हो, जो कि रहन-सहन के स्तर के अनुसार नियत किया गया हो ।"

वास्तव में दो सीमाओं के बीच वास्तविक मजदूरी होती है । ऊपर की सीमा मजदूर की सीमान्त उत्पादन शक्ति के अनुसार व्यवसायी निर्धारित करता है । उद्योगपति इससे अधिक भुगतान नही कर सकता क्योंकि ऐसा करने से उसे हानि होगी । यह सीमा "आर्थिक मजदूरी" कहलाती है । मजदूर की ओर से भी एक सीमा होती है, जिसके नीचे स्थायी रूप से वह कभी भी मजदूरी स्वीकार न करेगा, अस्थायी रूप से चाहे भले ही कर ले । यह हद उसके रहन-सहन के स्तर से निर्धारित होती है । दीर्घकाल में उसकी मजदूरी इतनी हो

कि वह अपने रहन-सहन के स्तर को ठीक रख सके। यह सामाजिक मजदूरी कही जा सकती है। इन दोनों सीमाओं के बीच वास्तविक मजदूरी दोनों दलों के संबंधित सौदा करने की शक्ति के अनुसार होती है।

१५. मजदूरी और कार्यक्षमता (Wages and Efficiency)—मजदूरी और योग्यता में गहरा संबंध है। मजदूर मे जितनी अधिक योग्यता होगी, उसकी उतनी ही अधिक उत्पादन-शक्ति होगी। इससे उसकी मजदूरी भी बढ़ जायगी। ऊंची मजदूरी से उसके रहन-सहन का स्तर भी ऊंचा होगा। रहन-सहन के स्तर के ऊंचे होने से उसका भोजन अच्छा होगा। अच्छे कपड़े, अच्छा घर तथा शिक्षा एवं मनोरंजन के लिए उचित अवसर मिलेगा। इन सब चीजों के कारण मनुष्य की उत्पादन-शक्ति तथा सन्तानों को अधिक बढ़ावा मिलेगा तथा उन्हें इस योग्य बना देगा कि वे और अधिक मजदूरी प्राप्त कर सकें। इसके विरुद्ध कम मजदूरी से रहन-सहन का स्तर नीचा रखने से उत्पादन-शक्ति कम हो जायगी तथा कमाने की शक्ति भी कम हो जायगी। इस प्रकार एक बुरा चक्कर उत्पन्न हो जायगा जिससे छुटकारा पाना मनुष्य के लिए कठिन हो जायगा। इस प्रकार गरीब देश और अधिक गरीब होते जाते है जब कि धनी देश और अधिक धनी होते जाते है। गरीबी का चक्कर राज्य की जाग्रत सरकार की अच्छी योजनाओं के बल पर ही तोड़ा जा सकता है। केवल मजदूरी बढ़ा देने से ही उत्पादन-शक्ति नही बढ जायगी। बिना रहन-सहन का स्तर ऊंचा किये हुए मजदूरी बढ़ाना एक व्यर्थ का व्यय बढाना होगा।

जब अधिक उत्पादन की योग्यता को खयाल मे रख कर मजदूरी दी जाती है, तो ऐसी मजदूरी उद्योग के ऊपर भार रूप नही होती। इस प्रकार ऊंची मजदूरी का अर्थ श्रम की ऊंची कीमत से नही होता। वास्तव मे ऊची मजदूरी इस बात का द्योतक है कि वह सस्ता श्रम होगा जब कि ऊंची मजदूरी के हिसाब से श्रम की योग्यता भी ऊंची हो। उदाहरण के लिए, यदि अमरीका के एक मिल मजदूर की मजदूरी भारत के मजदूर से चार गुनी है, तथा उसकी उत्पादन-शक्ति भी भारत के मजदूर से चार गुनी है, तो अमरीका की ऊंची मजदूरी होते हुए भी श्रम सस्ता होगा। यह ऊंची मजदूरी की मितव्ययिता का सिद्धांत है। अमरीका मे नाम के लिए श्रम की लागत अधिक होगी, परन्तु वास्तव में वास्तविक लागत भारतवर्ष से कम होगी।

१६. मजदूरी तथा अन्वेषण (Wages and Inventions)—अन्वेषणों द्वारा किस प्रकार मजदूरी प्रभावित होती है, इसका उत्तर इस बात के आश्रित होगा कि नये अन्वेषणो से श्रम और पूजी मे क्या मितव्ययिता होती है। अगर एक अन्वेषण का प्रभाव श्रम की मितव्ययिता पर होता है, तो श्रम की मांग कम हो जायगी। तब इसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति गिर जायगी और मजदूरी भी कम हो जायगी। दूसरी ओर, यदि एक अन्वेषण पूंजी की मांग को कम कर देता है, तो पूंजी श्रम से अधिक बढ़ जायगी और उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति श्रम से कम हो ज़ायगी। तब मजदूरी गिरेगी नहीं, परन्तु बढ़

जायगी। कार्य रूप में कुछ अन्वेषण या तो अकेले श्रम को अथवा पूंजी को अल्पव्यय कर देते हैं, परन्तु अधिकतर अन्वेषण पूजी की अपेक्षा श्रम में अल्पव्यय करते है। इस प्रकार अल्प काल में वह मजदूरी को कम कर देते है। परन्तु यह आवश्यक नही कि दीर्घ काल में भी मजदूरी कम बनी रहे। दीर्घ काल में मजदूरी बढ़ सकती है। क्योकि नए अन्वेषणों के कारण राष्ट्रीय आय बढ़ेगी,क्योकि नये अन्वेषण उन साधनो की मात्रा को कम कर देंगे जोकि एक निश्चित उत्पत्ति के उत्पादन करने में काम मे लाये जाते है। इसलिए राष्ट्रीय अंश अवश्य ही बढ़ेगा। फलतः, उत्पत्ति के साधनों को अन्य क्षेत्रों मे भी काम में लाया जा सकेगा।

इस बात को समझ लेना चाहिए कि बढे हुए श्रम का भाग राष्ट्रीय भाग के सापेक्ष होगा अथवा स्वतत्र। यह संभव है कि स्वतन्त्र रूप मे नये अन्वेषणो के कारण मजदूरी बढ जाय तथा दीर्घकाल मे पूजी की तुलना मे सम्भव है मजदूर का अंश कम हो जाय।

१७. रीति-रिवाज अथवा प्रमाणित दरों का मजदूरी पर प्रभाव (Influence of Custom or of Standard Rates on Wages)–रीति रिवाज का जितना प्रभाव पहले जमाने मे मजदूरी निर्धारित करने मे होता था, उतना अब नही होता परतु भारतवर्ष के ग्रामों मे अब भी रीति रिवाज का बहुत अधिक प्रभाव है। पेशों के साधनों को पुरस्कृत करने मे उन्नतिशील देशो में भी रीति-रिवाज का विशेष प्रभाव पड़ता है। वकील व डाक्टरो की फीस इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। परन्तु यहां भी प्रतियोगिता का प्रभाव पड़ता है, यद्यपि यह पूर्ण प्रबल नही होती। वकील तथा डाक्टर अलग-अलग आपस में प्रमाणित दरो के अनुसार प्रतियोगिता करते है। प्रतियोगिता उनकी योग्यता पर निर्भर रहती है। प्रमाणित दरो के ऊपर उसका प्रभाव बहुत कम पड़ता है। इसी प्रकार व्यवसायों मे भी किसी सीमा तक निर्धारित दरे रहती है। किसी मैनेजर की ठीक सीमान्त उत्पादन शक्ति ज्ञात करना बहुत कठिन होता है। परन्तु जिन दरो का भुगतान किया जाता है, वह योग्यता को ध्यान में रख कर लगभग प्रमाणित दर रीति-रिवाज के अनुसार ही होता है। यद्यपि मजदूरी भी सावधानी से तथा ठीक-ठीक निर्धारित की जाती है, तथापि उत्पादन शक्ति के अन्तर को ध्यान में रखकर प्रमाणित हो जाती है। कार्यरूप में सिद्धात की माग के अनुसार सीमान्त उत्पादन शक्ति को सही-सही आंकना असभव है। किसी प्रकार साम्य स्थापित कर लिया जाता है, फिर भी कभी-कभी बड़े योग्य उद्योगपति से भी गलती हो जाती है। अधिकतर निर्णय अर्थशास्त्र के सिद्धात पर ही नही किये जाते। मंदी के दिनों में, एक आदमी को किसी लोक-हितैषी विचारों को ध्यान में रख कर काम पर लगा लिया जाता है, यद्यपि वह अपनी मजदूरी आर्थिक दृष्टि से नही लेता। यह सब विचार सिद्धांत को कार्यरूप में परिणत करने की सीमा को निर्धारित करते है।

१८. मजदूरी क्यों घटती-बढ़ती है? (Why Wages Rise or Fall)––मजदूरी की दर श्रम की मात्रा और श्रम की पूर्ति की शक्तियों

द्वारा निर्धारित होती है। श्रम की मांग से अर्थ उन वस्तुओं की मांग से है जिनको वह उत्पादन करते है तथा श्रम की पूर्ति जनसंख्या की घट-बढ़ पर निर्भर रहती है, चाहे वह घट-बढ़ प्राकृतिक कारण से हो अथवा स्थान-परिवर्तन से। मांग अथवा पूर्त्ति की ओर से किसी भी प्रकार के परिवर्तन के कारण मजदूरी की दरों मे अन्तर आ ही जाता है। मजदूरी निम्नलिखित दशाओं में बढ़ती है:—

(१) काम करने वाली जनसंख्या मे मृत्यु के कारण अथवा देश छोड़ कर चले जाने के कारण कमी होना। (२) मजदूरों की काम करने की योग्यता में उन्नति होना। (३) देश की आर्थिक उन्नति होना अर्थात् कृषि, व्यापार अथवा उद्योग में उन्नति। आर्थिक योजनाओं से देश को शीघ्र उन्नतिशील बनाने में श्रम की अधिक आवश्यकता होती है और इससे देश का राष्ट्रीय लाभांश बढ जाता है जो उत्पादन के विभिन्न एजेंटों को पुरस्कार देने का साधन होता है। (४) प्राकृतिक साधनों का वैज्ञानिक ढंगों से अधिक विकसित हो जाना। (५) सुदृढ मजदूर संघो का स्थापित होना। (६) उद्योगपतियों की योग्यता में उन्नति अथवा उनकी संख्या में वृद्धि, ताकि श्रम की प्राप्ति के लिए उचित प्रतियोगिता हो सके। (७) युद्ध।

इसके विपरीत निम्नलिखित कारणों से मजदूरी गिर जायगी :—

(१) जनसंख्या बढ़ने से। (२) मजदूरों की योग्यता में, बुरे स्वास्थ्य, भूख के कारण, बुरे घरों मे रहने तथा ठीक प्रबन्ध न होने के कारण कमी आ जाने से, (३) आर्थिक दबाव से। (४) युद्ध के कारण राष्ट्रीय संपत्ति की बरबादी से।

१९. सापेक्षित मज़दूरियों की समस्या (The Problem of Relative Wages)—अब तक हम साधारण मजदूरी से संबंधित थे। हमने उन साधारण सिद्धांतों का निरीक्षण किया है, जिनसे राष्ट्रीय लाभांश का भाग उत्पादन के अन्य साधनों में जाने के बजाय श्रम की ओर जाता है।

सापेक्षित मजदूरी की समस्या भिन्न है। हमें यहां विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों तथा व्यवसायों की श्रेणियों अथवा एक ही उद्योग या श्रेणी के लोगों में मजदूरी क्यों भिन्न होती है, इसके कारणों पर प्रकाश डालना है।

जब कि हम साधारण मजदूरी का विचार कर रहे थे, तब हम ने इन अन्तरों की उपेक्षा की थी और पूजी के विरुद्ध श्रम की चर्चा की थी अर्थात् उनके पारिश्रमिक के विषय मे हमने संपूर्ण श्रम को एक ही श्रेणी का मान लिया था। परन्तु वास्तविक जीवन में विभिन्न वर्ग है, जिनमें देश के श्रम को विभाजित किया जाता है। प्रत्येक वर्ग में विभिन्न उद्योग हैं। प्रत्येक व्यवसाय में मजदूरी की समस्या अलग है। परन्तु साधारण मजदूरी को निर्धारित करने का सिद्धांत सब जगह एक है। मजदूरी सभी जगह श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति के लगभग समान होती है, परन्तु श्रम की उत्पादन शक्ति में विभिन्न व्यवसायों और श्रेणियों में हर एक प्रकार के श्रम के साधनों की मांग के कारण कमी होने से विभिन्नता होगी। ऐसा

इसलिए है कि श्रम की मांग वह मांग है, जो श्रम के उत्पत्ति साधनों की मांग से ली गई है।

अगर श्रम स्वतन्त्रतापूर्वक सभी उद्योगों में आ-जा सकता होता तो वास्तविक मजदूरी हर एक काम में लगाये हुए उस श्रम की सापेक्ष योग्यता पर आधारित होती, तथा मजदूरों की वास्तविक मजदूरी योग्यता की उसी सीमा पर समान होती। अगर एक उद्योग के मजदूर अपनी योग्यता के अनुपात से अधिक वास्तविक मजदूरी पा रहे है, तो श्रम उसी व्यवसाय में तब तक जायगा, जब तक बढ़े हुए श्रम की पूर्ति वहां की सीमान्त उत्पादन शक्ति और मजदूरी को कम न कर देगी। अगर एक उद्योग में श्रम की सापेक्ष योग्यता के आधार पर निर्धारित की हुई मजदूरी से कम मजदूरी मिलती है, तो इसके विपरीत दशा होगी।

वास्तविक संसार में एक उद्योग से दूसरे उद्योग में विशेष तथा विभिन्न वर्गों में स्वतंत्रतापूर्वक श्रम आ-जा नही सकता। बहुत-सी श्रेणियां स्पर्धा न करने वाले दल बन जाते हैं।

२०. सापेक्षित मज़दूरियों में अन्तर के कारण (Causes of Differences in Relative Wages)—उन कारणों को, जो विभिन्न उद्योगों में नौकरी व स्थानों में मजदूरी में अन्तर लाते है, संक्षेप में, इस प्रकार कह सकते हैं—

(१) **योग्यता में अन्तर**—यह अलग-अलग जगह पैदा होने, शिक्षा, परिस्थितियों के अनुसार हो सकती है।

(२) **स्पर्धाहीन दलों का होना**—जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है, यह तब होता है, जब एक कम भुगतान करने वाले से अधिक भुगतान करने वाले व्यवसाय में श्रम के इधर-उधर होने में कठिनाइयां होती है। यह कठिनाइयां भौगोलिक, सामाजिक, और आर्थिक कारणों से होती है, उदाहरण के लिए, यातायात के साधनों की कमी, जाति-बन्धन, गृहस्थ बन्धन अथवा ठीक शिक्षा का अभाव।

(३) **व्यापार सीखने की कठिनाई**—जो कठिन व्यापारों में निपुण है, वह बहुत कम है। उनकी पूर्ति मांग से कम है और इसलिए उनकी मजदूरी अधिक है।

(४) **उद्योग की अच्छाई-बुराई में अन्तर**—जो उद्योग अरुचिकर हैं, वे मजदूरों को आकर्षित करने के लिये अधिक मजदूरी देंगे और अगर अरुचिपूर्ण कार्य अयोग्य श्रमिकों द्वारा किया जायेगा, तो मजदूरी कम होगी जैसे भारतवर्ष के मेहतर।

(५) **भविष्य की आशाएँ**—यदि एक उद्योग भविष्य में उन्नति की आशा रखता है, तो लोग इसमें कम मजदूरी पर भी कार्य करना स्वीकार कर लेंगे, परन्तु एक अन्य उद्योग जिसमें मजदूरी अधिक मिल रही है, परन्तु भविष्य में उन्नति की कोई संभावना नहीं, तो उसे नहीं करेंगे।

यह बात फिर से ध्यान में रखनी चाहिये कि यह सब साधन उद्योगों और वर्गों में श्रम की मांग व पूर्ति के साम्य पर प्रभाव डाल कर मजदूरी में अन्तर उपस्थित करते हैं। मजदूरी प्रत्येक दशा में श्रम की मांग की दृष्टि से पूर्ति की कमी के द्वारा निर्धारित की जाती

है अथवा श्रम के हर प्रकार के कार्य की सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निर्धारित की जाती है।

२१. स्त्रियों की कम मज़दूरी (Low Wages of Women)—अधिकतर दशाओ मे उसी श्रम के लिए स्त्रियो को पुरुषो से कम मजदूरी दी जाती है। यह कुछ तो आदत अथवा रीति के कारण है। बहुत काल तक स्त्रियों को सभ्य देशों में भी सेविकाएं समझा जाता रहा है। आज भी वे चन्द धंधों में ही घिरी रहती है जिसके कारण उनकी मजदूरी कम है।

दूसरे, चूकि वह अपने काम को जीविका का अंग नही बनाती इसलिए वह अपने को ठीक प्रकार से शिक्षित व कुशल बनाने का प्रयत्न नही कर सकतीं। उनका मुख्य उद्देश्य विवाह करना होता है और इसके पश्चात् वे अधिकतर स्वतन्त्र रूप से कमाना छोड़ कर पतियों के आश्रित हो जाती है।

तीसरे, इन्ही कारणो से स्त्रिया अपने को मज़दूर संघों में संगठित नही कर सकती, जो कि उनके लिए ऊंची मजदूरी दिलाने मे सहायक हो सकते है। उनका काम पर लगना बहुत कम समय के लिए होता है। इसलिए वे अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का कोई प्रयत्न नही करती।

चौथे, स्त्रियां कम मजदूरी ले कर काम करने के लिए इस कारण तैयार हो जाती हैं, कि उन पर बहुत कम उत्तरदायित्व होता है। अधिकतर दशाओं में वह अपनी आय पर आश्रित नही रहती। पति, भाई, पिता आदि को उनकी सहायता करनी पड़ती है।

और अन्त में, मनुष्य स्त्रियो से अधिक उत्तरदायी, विश्वासी एव योग्य कार्यकर्त्ता विभिन्न कारणो से माने जाते है। पुरुष अधिक शक्तिशाली होता है तथा बड़े से बड़े कठिन कार्य को कर सकता है। अधिकतर स्त्री शारीरिक कारणो से आशिक अथवा पूर्ण रूप से अपने जीवन के कुछ काल मे काम करने में असमर्थ रहती है।

२२. वस्तुओं की मांग में परिवर्तन का मजदूरी पर प्रभाव (Influence of Changes in Demand for Goods on Wages) :—एक व्यक्तिगत उद्योगपति के लिए श्रम की पूर्ति पूरे उद्योग की अपेक्षा अधिक लोचदार होती है। वह श्रम की बढ़ी हुई पूर्ति को मजदूरी मे थोड़ी वृद्धि करके भर्ती कर सकता है। जब किसी उद्योग की उत्पत्ति की मांग बढ़ जाती है तो मालिकों मे अधिक श्रम के लिये प्रतियोगिता होगी और मजदूरी बढ़ जायगी। परन्तु इसका प्रभाव उन उद्योगो पर भी पड़ेगा, जहां से श्रम आता है। जब वे इस विशेष उद्योग के लिए श्रम खोते है, तो उनके लिए श्रम का महत्व बढ जायगा। उनको भी अपने मजदूरों को रखने के लिए मजदूरी बढ़ानी पड़ेगी। पर यह संभव है कि कुछ मालिक इन उद्योगों में केवल उन्ही श्रमिकों की मजदूरी बढ़ायें जिनमें गतिशीलता अधिक हो, दूसरों की नही। परन्तु विचारवान उद्योगपति जानते है कि ऐसा करना अंत में लाभदायक नहीं होता।

बहुत कुछ श्रम की गतिशीलता पर निर्भर है। श्रम बहुत ही अचल है। मानवीय पुलिंदा बहुत ही कम वहनीय कहा गया है। श्रमिक एक व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे व्यवसाय में थोड़े से लाभ के लिये न जायगा। इसलिए वह उद्योग जो श्रमिकों की अधिक पूर्ति को आकर्षित करना चाहता है, उसे काफी ऊंची मजदूरी देने को तैयार रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित होना चाहिये कि मजदूरी अधिक समय तक ऊंची रहेगी ताकि नये श्रमिकों को उस व्यवसाय के लिए शिक्षा लेने के लिये प्रोत्साहन मिले। कोई क्षणिक लाभ श्रमिकों को अपने पुराने व्यवसाय छोड़ने के लिये प्रलोभन न देगा। एक उद्योग की श्रम की दीर्घकालीन पूर्ति अल्पकालीन पूर्ति की अपेक्षा अधिक लोचदार होती है। मजदूरी के अतिरिक्त दूसरे कारणों का खयाल करते हुए, उदाहरणार्थ कार्य की अनुरूपता तथा कुलीनता, ऊपर की आय की सभावना, उन्नति का अवसर इत्यादि, यदि एक उद्योग अधिक आकर्षण रखता है, तो श्रमिकों की पूर्ति अवश्य अधिक हो जायगी बशर्ते कि कोई कानूनी तथा श्रमिक संघ की रुकावटें नही है।

परन्तु श्रम की पूर्ति का वक्र एक ऊपर चढता हुआ वक्र होगा। चूकि श्रम दूसरी जगह से लिया गया है, इसलिये उसकी सीमान्त उत्पत्ति वहा बढनी चाहिये और उनको आकर्षित करने के लिये अधिक मजदूरी मिलनी चाहिए। तो भी यह सदैव न होगा। माग में परिवर्तन से एक उद्योग स्थायी रूप से कम हो सकता है। स्थिर नौकरी की आशा ही बिना मजदूरी बढाये विस्तृत उद्योग में अधिक श्रम आकर्षित करने के लिये काफी होगी। इस दशा में श्रम का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र एक क्षैतिज सीधी लकीर होगा, सिवाय उस दशा के जब कि उद्योग में कार्य अरुचिकर अथवा भयकर है या बड़े पैमाने की शिक्षा की आवश्यकता रखता है। ऐसी दशा मे अधिक मजदूरी देनी पड़ेगी। यदि उद्योग में पूर्ण प्रतियोगिता है तो यह अधिक मजदूरी पुराने मजदूरो को भी देनी पड़ेगी।

निर्देश पुस्तकें

Marshall—Principles of Economics.
Thomas—Elements of Economics, pp. 245—271.
Taussig—Principles of Economics, p. 164 and onwards.
Benham—Economics.
Readings in the Theory of Income Distribution, pages 221—236.
Dobb—Wages.
Hicks—Theory of Wages.

*

अध्याय २९

श्रम की कुछ समस्याएं

(SOME PROBLEMS OF LABOUR)

१. भूमिका––पिछले अध्याय में हमने राष्ट्रीय आय में श्रमिकों के भाग का निर्धारण करने वाले सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन किया था। परन्तु ये सब सिद्धान्त सर्वत्र स्वतन्त्रतापूर्वक प्रभावकारी नही होते। प्रतियोगिता कभी भी दोनों पक्षों में पूर्ण नही होती। हम देखेंगे कि नियोजक या मालिक को श्रमिक की अपेक्षा कुछ अधिक सुविधाएं रहती है। इसलिए श्रमिको को संगठन अथवा संघर्ष कार्यवाही की सहायता लेनी पड़ती है। राज्य के द्वारा भी कम से कम वेतन निर्धारित करके तथा अनेक प्रकार की सामाजिक बीमा योजनाओं के कानून चालू करके संतुलन ठीक बैठाने की चेष्टा की जाती है। इस अध्याय में श्रमिकों की इसी प्रकार अपने संगठन तथा राज्य से मिलने वाली सहायता से संबन्धित समस्याओं पर विचार किया जायगा।

२. मज़दूर संगठन (Organisation of Labour)––'वैब्स' के शब्दों में 'श्रमिक संघ मजदूरों का एक ऐसा निरंतरगामी संगठन है, जो उनके कार्य की अवस्थाओं को ठीक रखने तथा सुधारने के लिए बनाया जाता है।'

श्रमिक संघों की आवश्यकता क्यों होती है ? हम देख चुके है कि मजदूर अकेले अपने मालिक के मुकाबले में काम की शर्तें तय करने के मामलों में कमजोर रहता है। यह श्रम की कुछ विचित्रताओ के कारण होता है। श्रम सर्वाधिक शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं में से है। उसमे कोई संरक्षित-शक्ति नही रहती। एक दिन यदि काम न मिला, तो उस दिन की श्रम-शक्ति सदैव के लिए नष्ट हो जाती है। परन्तु श्रमिक का, चाहे वह काम करे या न करे, खाने-पीने आदि का खर्च तो रहता ही है। इसलिए मजदूर के सामने दो ही स्थितियां रह जाती है। या तो वह काम करे या भूखों मरे। और भी एक कारण है जिससे मालिक सौदा करने में अधिक सुविधा की स्थिति में रहता है। जैसा कि मार्शल ने कहा है 'कि वह व्यक्ति, जो हजार व्यक्तियों को काम पर लगाता है, श्रम के बाजार में हजार इकाइयों तक के खरीदारो में वह स्वयं ही एक पूर्ण दृढ़ एवं निश्चल व्यक्ति रहता है।" शर्तों का सौदा करने की इस कमजोरी के कारण मजदूरों को अपनी सीमान्त उत्पादक शक्ति से कही कम मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है। कम मजदूरी के कारण मजदूर की कार्यकुशलता और फलस्वरूप उसकी उत्पादन शक्ति कम हो सकती है।

इसलिए श्रमिक वर्ग ने औद्योगिक विकास के प्रारंभिक काल में विभिन्न देशों में इस बात का अनभव किया कि जब तक वे मजदूर संघ बनाकर काम की शर्तें तय करने में

सुविधाजनक स्थिति प्राप्त नहीं करते तब तक मालिकों के द्वारा, उनका शोषण किये जाने का गंभीर खतरा बना रहेगा।

आजकल औद्योगिक देशों में श्रमिक संघ दो प्रकार का कार्य करते हैं—एक तो संघर्ष का, दूसरे भ्रातृत्व का। श्रमिकों के अधिकारों के लड़ने के लिए वे संघर्ष के साधन है। उनका लक्ष्य उचित मजदूरी, कार्य की दशायें और शर्तों में सुधार तथा इधर कुछ दिनों से उद्योग के नियंत्रण में भाग प्राप्त करना रहता है। सदस्यों के चंदे से एक संरक्षित कोष बना करके वे मजदूरों को बीमारी व दुर्घटना के समय आर्थिक सहायता देते है और औद्योगिक झगड़ों के समय बेकारी, हड़ताल और तालाबंदी की दशा में सहायता करते है।

३. श्रमिक संघ और मज़दूरी (Trade Unions and Wages)—श्रमिक संघों के सामने मुख्य प्रश्न मजदूरी का रहा है और अब भी है। मजदूरो के नेताओं का सदा विश्वास रहता है कि मजदूरों की काम की शर्तें तय करने के बारे में शक्ति बढ़ा कर वे मजदूरी या वेतन बढ़वा सकते है। दूसरी ओर पुराने अर्थशास्त्रियों का विचार रहा है कि मजदूरी केवल लाभ को कम करके ही बढ़ सकती है। इसलिए यदि औद्योगिक कार्य को कम किया जायगा तो लाभ कम होगा और श्रम की माग भी कम हो जायगी। इसलिए या तो मजदूरी कम की जाय या फिर बेकारी का सामना करने के लिए तैयार रहें। इस दृष्टिकोण के अनुसार श्रमिक संघ स्थायी ढंग से मजदूरी नही बढवा सकते। यह भी ध्यान दिलाया जाता है कि लाभ सीमान्त उत्पादन शक्ति से निर्धारित होते है और श्रमिक संघ उस पर कोई प्रभाव नही डाल सकते। परन्तु श्रमिक संघ मुख्यतः दो प्रकार से मजदूरी बढ़वा सकते है।

(१) श्रमिक संघ इस बात को करा सकते है कि मजदूरों को उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति का पूरा मूल्य मिले। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में तो मजदूरी सीमान्त उत्पादन शक्ति के समान होती है परन्तु वास्तविकता की दुनिया में प्रतियोगिता पूर्ण नही होती। इसलिए यदि श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति निर्बल हुई तो मजदूरी उत्पादन शक्ति के अनुकूल नही होती। इस शक्ति में वृद्धि करके श्रमिक संघ उत्पादन शक्ति के स्तर तक मजदूरी बढ़वा सकते है। और इस प्रकार श्रमिकों के शोषण को बचा सकते है।

(२) श्रमिक संघ मजदूरों की उत्पादन शक्ति को भी बढ़ा सकते है। वह तीन प्रकार से :—

(क) अयोग्य मालिक को अधिक आधुनिक यंत्र एवं संगठन का उपयोग करने के लिए बाध्य करके। यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रम की उत्पादन शक्ति अन्य बातों के अतिरिक्त पूंजी तथा अन्य साधनों के साथ श्रम के संयोग के अनुपात पर भी निर्भर करती है।

(ख) मजदूरों की ही कार्यकुशलता बढ़ाकर। यह मजदूरों के स्वभाव में गम्भीरता,

मितव्ययिता एवं ईमानदारी की आदतों को बढ़ाकर तथा नई पीढ़ी को अधिक अच्छी सामान्य शिक्षा अथवा कार्य शिक्षण देकर किया जा सकता है।

(ग) श्रमिक संघ मजदूरों के किसी विशेष वर्ग की पूर्ति कम करके उसके उत्पादन शक्ति के मूल्य को बढ़ा सकते है। परतु यह नीति कुछ विशेष दशाओं में ही सफल हो सकती है। वे दशाएं ये है: (१) उस प्रकार की श्रमिक वर्ग की मांग लोचहीन हो जिसका अर्थ यह है कि जिस वस्तु के उत्पादन में वह वर्ग सहायक होता है, उसकी मांग लोचहीन हो। (२) उस वर्ग की मजदूरी कुल उत्पादन व्यय का छोटा भाग हो और (३) उत्पादन की अन्य अवस्थाएं भी अधिक मजदूरी देने को विवश करने के लिए अनुकूल हों। दूसरे शब्दों में, उनका अन्य उपयोग न हो सके। परन्तु अन्ततः इस बात की शंका रहती है कि मालिक श्रमिकों के बदले मे काम करने वाले यंत्रों का उपयोग करने लगे, और इससे श्रमिकों की मांग कम हो जाय और उसके फलस्वरूप मजदूरी भी कम हो जाय। श्रमिक संघ मजदूरी तब बढ़वा सकते है जब सब मजदूर उनके सदस्य हों और कोई अन्य मजदूर उनके स्थान पर काम करने के लिए बाहर से न बुलाया जा सके।

यहा हम श्रमिक संघों द्वारा मजदूरी निर्धारण के सम्बन्ध मे कुछ विशेष बातों को ध्यान मे रख सकते है।

एक श्रमिक संघ मजदूरी को ऊंचा कर के किसी उद्योग के अनुचित प्रसार को रोक सकता है जब कि नई फर्मों के लिये एकमात्र आकर्षण नीची मजदूरी हो। परन्तु यह एक ऐसी मजदूरी पर आग्रह कर के जिस को कि उद्योग सहन नही कर सकता बेकारी का कारण हो सकता है। कुछ उद्योगपति बाहर हो जावेंगे और कुछ उत्पादन कम कर देंगे। दोनों दशाओं में कुछ श्रमिक हटाये जायेगे। उद्योग के संकुचन से उसके उत्पादन की कीमत बढ़ जायगी (और फलस्वरुप श्रम की सीमान्त उत्पत्ति भी।) इस प्रकार मजदूरी तथा सीमान्त उत्पत्ति मे संतुलन हो जायगा। निकाले हुए मजदूरों की दूसरे उद्योगों मे जाने से वहां मजदूरी कम हो जावेगी। एक संघ में प्रवेश पर रोक लगाना अनुचित है तथा एकाधिकार की बू रखता है और मजदूरी के स्तर का एकाधिकार उतना ही बुरा है जितना कि मूल्य स्तर का एकाधिकार। यदि एक श्रमिक संघ एकाधिकारी से एकाधिकार लाभ छीन सकता है तो यह उचित है। एक श्रमिक संघ का उचित कार्य शोषण रोकना है और जब वह इससे परे जाता है तो यह बुरा है।

४. श्रमिक संघों के गुण और दोष (Merits and Demerits of Trade Unions):—जहां एक ओर श्रमिक संघ मजदूरों के लिए वरदान के तुल्य प्रमाणित हुए है, वहां उनकी आलोचना भी की गई है। इनके मुख्य लाभ ये है :—

(१) एक सुदृढ़ श्रमिक संघ औद्योगिक शाति तथा स्थिरता में सहायक होता है क्योंकि सामूहिक रूप से मजदूर, जो समझौता श्रमिक संघ के द्वारा करते है, उसके अधिकांश मजदूरों द्वारा मान्य होने की निश्चितता रहती है।

(२) मजदूरी के प्रामाणिक एवं उचित स्तर पर बल देने से ये अयोग्य अथवा (असमर्थ) मालिकों को उद्योग से बहिष्कृत करने में सहायक होते है ।

(३) पारस्परिक सहायता से उन्होंने मजदूरों की कार्य-क्षमता को काफी बढ़ाया है। मजदूरी की वृद्धि से मजदूर वर्ग की गरीबी और गंदगी को कम करने में भी सहायता मिली है ।

(४) श्रम लागत बढने से श्रम बचाने वाले यंत्रों के उपयोग को प्रेरणा मिली है। इससे यात्रिक प्रगति मे सहायता मिली है ।

परन्तु दूसरी ओर श्रमिक सघो की तीव्र आलोचना, विशेषकर उनकी समाज-विरोधी कार्यवाहियों के कारण, की गई है । उनके विरुद्ध दोषारोपणो में से कुछ निम्नलिखित है :

एक तो प्रामाणिक वेतन स्तर पर अनुचित जोर देकर उन्होने अधिक कार्य-कुशल या ऊंचे श्रमिकों का वेतन-स्तर कम कर दिया है ।

दूसरे, उन्होने वैज्ञानिक उत्पादन तथा उत्पादन के अधिक उन्नत साधनों के उपयोग का केवल इसलिए विरोध किया है कि उससे कुछ मजदूरों का काम छिन जायगा। इस रुख के कारण वैज्ञानिक यंत्रो के उपयोग की प्रगति तथा फलस्वरूप राष्ट्रीय लाभाश की वृद्धि में बाधा पडी है ।

तीसरे, वे बहुधा 'धीरे काम करो' की नीति बरतने का पाठ पढाते है, जिससे राष्ट्रीय लाभांश कम होता है। काम करने के अवसर कम होते है और इसलिए अन्तत. मजदूरों को ही हानि होती है । इससे 'प्रसंगत कोष' के भ्रम का भी निवारण होता है ।

चौथे, अपनी शक्ति के मद मे कभी-कभी उन्होने अपर्याप्त आधारो पर हडताल करा के अपने उत्पादको तथा समाज को हानि पहुचाई है ।

पाचवें, इस बात की हठ कर के कि केवल श्रमिक सघ के सदस्य मजदूरो को ही काम पर लगाया जाय, उन्होंने श्रमिकों के कृत्रिम अभाव को उत्पन्न किया है ।

परन्तु सब मिलाकर श्रमिक सघों ने अनुभव की जाने वाली एक कमी को पूरा किया है। यह समझना बिलकुल सरल है कि यदि वे न होते तो श्रमिकों का निर्दयतापूर्वक शोषण होता । जब जनसाधारण कष्ट पाता है, तो क्या राष्ट्र को लाभ होता है ?

५. औद्योगिक झगड़े (Industrial Disputes)—श्रमिको और मालिकों के झगड़े पूजीवादी देशो के औद्योगिक जीवन के एक प्रकार से साधारण अंग बन गये है। ऐसे झगड़ों का परिणाम या तो हड़ताल होता है अर्थात् मजदूरों का काम पर न जाना अथवा तालाबन्दी जिसमें मालिक मजदूरों को काम पर नही जाने देते। तालाबन्दी की अपेक्षा हड़ताल अधिक होती है क्योकि अधिकांशत: मजदूर वर्ग जो पीड़ित पक्ष है, पहले कार्य-वाही करता है ।

श्रमिकों को हड़ताल का अधिकार होना चाहिये अथवा नही, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है, विशेषकर सार्वजनिक अथवा अंशत: सार्वजनिक उद्योगों के सम्बन्ध में । रेलवे,

'ट्राम्वे', जलपूर्त्ति, विद्युतपूर्ति सम्बन्धी कार्यों के बन्द होने से समाज का जीवनक्रम अस्त-व्यस्त हो जाता है और उसमें गति-हीनता उत्पन्न होती है। जहां तक व्यक्तिगत स्वामित्व में चलने वाले उद्योग हैं और खासकर जो बुनियादी उद्योग नही है, उनमें हड़ताल का अधिकार साधारणतया स्वीकार किया जाता है। सार्वजनिक उद्योगों में भी यदि मजदूरों के हड़ताल करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगे तो न्याय की मांग है कि मजदूरों की शिकायतों पर ध्यान दिया जाय और उनके अधिकारों पर सरकार द्वारा ठीक प्रकार से संरक्षण हो।

परन्तु कारण कुछ भी हो, हडताल से समाज के जीवन पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। मजदूरों, मालिकों और समाज को हानि उठानी पड़ती है। मजदूरों को मजदूरी की हानि होती है, मालिकों को लाभ की तथा बाजार खोने की हानि होती है। विशेषकर विदेशी बाजारों का हाथ से चले जाने का भय रहता है। समाज को उद्योग द्वारा प्रस्तुत वस्तुओं की सेवा से वंचित रहना पड़ता है। इसलिए सभी सम्बन्धित पक्षों का कर्त्तव्य है कि वे ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न करें जिससे हडतालों की संभावना कम से कम हो जाय। और जब ऐसे औद्योगिक झगडे उत्पन्न हों तो उनको निबटाने के लिये उचित व्यवस्था होनी चाहिये। इसमे झगडों के कारणों की जांच की जरूरत होती है।

मोटे तौर पर औद्योगिक झगडों और श्रमिको के असंतोष के तीन कारण होते हैः—

प्रथम, श्रमिकों की उच्च जीवन-स्तर प्राप्त करने की आकांक्षा। इससे पर्याप्त मजदूरी देने की समस्या हल करने की आवश्यकता होती है। इस मांग को पूरा करने के लिये वेतन प्रणाली में कई प्रकार के परिवर्तनों का सुझाव दिया गया है और कई देशों में उनका प्रयोग करके देखा गया है। उदाहरण के लिये स्लाइडिंग स्केल सिस्टम, बोनस व अतिरिक्त लाभांश वितरण प्रणाली, लाभाश वितरण योजना, निम्नतम वेतन निर्धारण आदि। इन उपायों का वर्णन आगे किया जायेगा।

दूसरा, श्रमिकों की अधिक आर्थिक सुरक्षा की आकांक्षा। इससे बेकारी की समस्या का सम्बन्ध है। अध्याय के अन्तिम भाग मे इस पर विचार किया जायगा।

तीसरा, उद्योग के प्रबंध और नियंत्रण में कुछ भाग लेने की मजदूरों की मांग। इसके लिये भी कई तरीके बताये गये है जिनका उल्लेख आगे के खंडों में किया जायेगा।

चौथा, काम करने के घंटों के प्रश्न पर भी झगड़े उठते है। परन्तु अब उन्हें कानून बनाकर निश्चित कर दिया गया है।

पांचवां, कभी २ मजदूरों के नेता, सर्वप्रिय मजदूर का निकाला जाना अथवा श्रमिक संघ को अधिमान्यता न देने पर भी हड़तालें होती है।

औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के लिये समझौता तथा पंच निर्णय समितियों के तरीके कई देशों में काफी सफलता के साथ प्रयुक्त किये जा चुके है। अब हमको झगड़े रोकने के उपायों पर ध्यान देना चाहिये।

६. लाभांश वितरण प्रणाली (Premium Bonus System)—लाभांश

वितरण प्रणाली श्रम-काल तथा ठेके के आधार पर मजदूरी देने के दोषों को दूर करने के लिये निकाली गई है। जब काम के समय के आधार पर मजदूरी दी जाती है, तो इस बात की आशंका रहती है कि मजदूर अपनी शक्ति भर काम नही करेगा। दूसरी ओर यदि ठेके के आधार पर मजदूरी दी जाती है, तो मजदूर काम मे जल्दबाजी कर के निम्न श्रेणी की वस्तु बना सकता है। चैपमैन के कथनानुसार लाभाश वितरण प्रणाली मे, जिसके कई प्रकार है, इस बात की कल्पना की गई है कि उत्पादन के एक प्रामाणिक स्तर को स्वीकार किया जाय और उससे अतिरिक्त अधिक उत्पादन के लिये मजदूरी की घटी हुई अथवा अतिरिक्त उत्पादन की वृद्धि के साथ क्रमिक ढंग से घटती हुई दर मजदूरो को दी जाय। इससे मजदूर को सीमा से अधिक काम करने पर रोक रहती है क्योंकि जैसे ही समय बीतता जायगा, अतिरिक्त अर्जन की न्यूनता होती जायगी। इस प्रकार जल्दबाजी और अत्यधिक जी तोड़ कार्य करने का अवसर कम रह जाता है। इस प्रकार ठेके की दर के दोष उसके लाभों से बिना वचित हुए दूर हो जाते है।

लाभाश वितरण प्रणाली के कई रूप है। कभी तो बोनस मजदूर द्वारा उत्पादन के 'योग्यता स्तर' (Efficiency Rate) प्राप्त करने पर काम के घन्टों की दर के अतिरिक्त दिया जाता है। कुछ स्थानों मे योग्यता स्तर निम्नतम होता है और उससे अधिक उत्पादन के लिये बोनस दिया जाता है। पहले प्रकार मे बोनस इसलिये दिया जाता है कि समय की बचत की जाती है और दूसरे मे अतिरिक्त उत्पादन के लिये। पहले का उदाहरण अमेरिका मे प्रचलित हैलसे प्रणाली है। उसमे जितना समय बचाया जाता है, उसके लिए साधारणतया प्रति घन्टे की निर्धारित मजदूरी से अधिक पर बोनस दिया जाता है। मान लो कि एक कार्य को करने के लिये १० घटे नियत है और दर १० पेन्स प्रति घन्टा है। कोई मजदूर उस कार्य को आठ घन्टे मे करता है तो उसे (१०×८) पेस $+(२\times५)$ पेस का बोनस अर्थात् कुल ९० पेस मिलेंगे।

७. विसृप अनुमाप (Sliding Scale)—इस योजना में मजदूरी उत्पादित वस्तु के मूल्य के परिवर्तन या जीवन व्ययाक या उद्योग द्वारा अर्जित लाभ के आधार पर घटती-बढती है। जब मजदूरी की दरों का सम्बन्ध मूल्यों से होता है, तो कुछ आधारभूत मूल्य निश्चित कर लिये जाते है। यदि वस्तु का मूल्य बढता है, तो एक अनुपात से मजदूरी भी बढ़ाई जाती है; यदि मूल्य गिरते है, तो मजदूरी की दर भी गिरती है। परन्तु उसे एक निश्चित स्तर से नीचे नही गिरने दिया जाता। वैसी ही व्यवस्था जीवन व्यय तथा लाभ मे परिवर्तन होने पर की जाती है।

स्लाइडिग प्रणाली की आलोचना कभी-कभी इस आधार पर की जाती है कि उससे मजदूरों के वेतन मे ऐसे कारणों से कमी हो सकती है, जिनसे लाभ किसी प्रकार कम नही होता। उदाहरण के लिये उत्पादन के उन्नत साधनों के प्रयोग से, भाड़ा कम होने से, व्यापारिक खतरे कम होने आदि कई कारणों से मूल्य कम हो सकते है। ऐसी दशाओं में मजदूरी कम

करना न्यायसगत न होगा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यापार की अवस्थाओं में अन्तर उपस्थित होते रहने पर बुनियादी दरों मे भी बहुधा सशोधन करना चाहिये।

जीवन व्यय के आधार पर सरकने वाले माप (Sliding Scale) को लागू करने पर भी कई आक्षेप किये गये है, जिनमे सूचक अको की अपूर्णता है और यह भी कि इस प्रणाली में मजदूरी स्थायी हो जाती है और उससे केवल कम वेतन वाले मजदूरो को ही सुविधा मिलती है।

इन एतराजो का उत्तर यह दिया जाता है कि प्रणाली का उद्देश्य मुद्रा मे भुगतान की जाने वाली मजदूरी की क्रयशक्ति को स्थिर रखना है। मजदूरी की दरे बढ़ाने के लिए तो मजदूरो को अलग से अपने सगठनो और श्रमिक सघो के द्वारा जोर डालना चाहिए। सरकने वाले माप की प्रणाली से मजदूरी परिवर्तन कीमतों के अनुकूल होता है और यह प्रणाली मजदूरो को, आवश्यक होने पर, मजदूरी की दर बढाने के लिये जोर डालने को स्वतंत्र छोडे रहती है। इसके अतिरिक्त इन एतराजो को सूचक अंकों के सुधार तथा जीवन व्यय में परिवर्तन होने पर पूर्ण रूप से हानि पूर्ण कर के दूर किया जा सकता है।

८. लाभ में भाग (Profit Sharing):—इसमे मजदूरो की साधारण मजदूरी के अतिरिक्त उद्योग मे होने वाले शुद्ध लाभ का कुछ प्रतिशत भाग दिया जाता है। इसके लिए कई तरीके इस्तेमाल होते है, जिनमे सबसे अधिक प्रचलित नकद बोनस देने का है। इसमे समय-समय पर मजदूरो मे कारखाने के लाभ के एक निश्चित अश को वितरित किया जाता है।

इस प्रणाली मे कई अच्छाइया है। एक तो इससे संघर्ष कम होता है और मालिको तथा मजदूरो के बीच सद्भावना उत्पन्न होती है। दूसरे, इससे मजदूरो का कारखाने से अधिक प्रेम हो जाता है और तीसरे, इससे मजदूर को अधिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

दूसरी ओर कई कारणो से इस प्रणाली की आलोचना भी की जाती है। सर्वप्रथम उत्पादन का अधिकांश लाभ मालिको को मिलता है। दूसरे, इससे श्रमिको की एकता नष्ट हो जाती है। तीसरे, इससे मजदूरो के स्थान-परिवर्तन मे बाधा पडती है, और चौथे, लाभ मे हिस्सा दिया जाय तो नुकसान म भी हिस्सा लगना चाहिये। परन्तु यह तब तक नही हो सकता, जब तक मजदूरो का उद्योग के नियन्त्रण और प्रबन्ध में हिस्सा न हो।

९. श्रम-सहभागिता (Labour-Copartnership):—यह प्रणाली उपर्युक्त प्रणाली से मिलती-जुलती है। केवल अन्तर यह है कि लाभ का भाग प्राप्त करने की प्रणाली में श्रमिकों का उद्योग के नियन्त्रण में कोई हाथ नही रहता, परन्तु भागीदारी मे एक सीमित अंश तक नियन्त्रण में भी हिस्सा होता है। यह कार्य या तो अंश (share) खरीदने के लिए प्रोत्साहित कर के किया जाता है, जिससे भागीदारों के साधारण अधिकार तथा उत्तरदायित्व प्राप्त होते है, अथवा संचालक मण्डल (Board of Directors)

में श्रमिकों के एक या अधिक प्रतिनिधियों को नियुक्त करके किया जाता है। यह भेद इधर कई वर्षों से कम होता जा रहा है, क्योंकि श्रमिको तथा मालिकों, दोनों के प्रतिनिधियों की सम्मिलित समितिया लाभाश एवं सह-भागीदारी, दोनों बातों के देखने के लिए अधिकाधिक बनाई जा रही है। ये समितिया कारखाने के प्रबन्ध को देखने के लिए भी व्यापक अधिकारो का प्रयोग करती ह।

लाभाश वितरण प्रणाली की ऊपर लिखित आलोचनाये भागीदारी प्रणाली पर भी लागू होती है। इसके अतिरिक्त यह भी है कि यदि कारखाना बन्द हुआ तो श्रमिकों की रोजी भी जाती है और साथ-साथ उनकी पूजी भी। इससे बढकर, मजदूरों के प्रतिनिधि सचालक सदस्य सदा ही अल्प सख्या मे होते है।

लाभाश वितरण की प्रणाली ने इगलैड मे भी, जहा उसके प्रयोगो को पर्याप्त अवसर दिया गया, औद्योगिक झगड़ो की समस्या का सर्वथा समाधान नही किया। फिर भी योजना अभी प्रयोग की दशा मे ही है। और केवल सीमित क्षेत्र मे ही लागू की गई है।

१०. श्रम-परिषदें या कार्य समिति (Works Councils)—उद्योग के नियन्त्रण मे श्रमिकों के सहयोग पाने का एक तरीका, जिसका प्रयोग इगलैड मे किया गया, श्रम-समितियो का है। इस योजना को सन् १९१७ मे हिटले समिति की रिपोर्ट के पश्चात् तैयार किया गया था। श्रम-समितिया श्रमिको तथा मालिको के समान प्रतिनिधियो को मिलाकर संगठित की जाती है। कही-कही उनमे केवल मजदूरो के प्रतिनिधि रहते है और उन्हे मालिको से प्रबन्ध के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार विनिमय का अधिकार होता है। इसके अलावा, किसी एक उद्योग के मालिकों तथा मजदूरो के प्रतिनिधियों को मिलाकर जिला परिषदे भी बनाई जाती है।

श्रमसमितिया, जिन्हे ह्विटले समितिया भी कहते है, किसी सीमा तक मालिको और श्रमिको के बीच शान्ति और सद्भावना रखने मे सफल हुई है। उनसे मजदूरो मे उत्तरदायित्व की भावना अधिक बढी, क्योकि उद्योग के सचालन के हेतु किये गए निर्णयों पर प्रभाव डालने के लिये उन्हे अवसर दिया गया। झगडे अधिकाशतः पारस्परिक विचार-विनिमय से हल हुए।

११. न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wages):—औद्योगिक झगडों को कम करने का एक और तरीका पर्याप्त मजदूरी की व्यवस्था है। कानून के द्वारा न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी जाती है जिससे कम देना अपराध करार दिया जाता है। न्यूनतम वेतन कुछ चुने हुए उद्योगों मे, जिन्हें 'पसीने के धन्धे' कहा जाता है, निर्धारित किया जा सकता है अथवा उसे राष्ट्रव्यापी बनाया जा सकता है। इस प्रकार की नीति का मजदूर, मालिक तथा उपभोक्ता पर क्या प्रभाव होगा ? विभिन्न परिस्थितियों मे इसके विभिन्न परिणाम होंगे।

मान लीजिए कि किसी एक अथवा कुछ उद्योगों में प्रतियोगिता स्तर से अधिक ऊंची

न्यूनतम मजदूरी कानून या श्रमिक संघ के दबाव से निश्चित कर दी जाती है। सरकार मालिक को न्यूनतम मजदूरी देने के लिए बाध्य कर सकती है, परन्तु वह मालिक को सब श्रमिकों को काम में लगाए रखने के लिए बाध्य नही कर सकती। कुछ श्रमिकों को काम से अलग किया जा सकता है और अधिक कार्यकुशल श्रमिकों को रखा जा सकता है। इस प्रकार न्यूनतम मजदूरी की योजना से उन्हे. . हित नही होता, जिनके लिए वह लागू की जाती है। उससे केवल श्रमिकों का पुनर्वितरण होता है। साथ ही इस बात का भी खतरा रहता है कि सरकार द्वारा निर्धारित मजदूरी को मालिक अधिकतम मान कर चले। इस प्रकार मजदूरी के स्तर मे वृद्धि के स्थान पर घटने की नौबत आ जाती है। यदि इस ऊंची दर को उपभोक्ताओ के सिर पर डाला जाता है तो वस्तु की कीमत बढ जायगी और बेकारी नही होगी। परन्तु कीमत बढ़ाना हर दशा मे शायद सम्भव न हो। क्योकि विदेशो की प्रतियोगिता हो सकती है। अथवा उपभोक्ता उस वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु से काम चला सकते है। दूसरे शब्दों में जब उत्पादित वस्तु की माग परिवर्तनशील होती है, तो ऊंची मजदूरी के भार को उपभोक्ताओं के सिर नही डाला जा सकता। यदि मालिक साधारण लाभ ही कमा रहा है, तो भार उसके लाभ पर जाकर पडेगा। परन्तु अधिक दिनों तक यह नही चल सकता। यदि किसी व्यवसाय में लाभ कम होता जा रहा है, तो नई पूजी, नये उपक्रमी आगे नही बढेगे, चाहे वर्तमान पूजी कुछ समय तक कम लाभ पर लगी रह सके, बशर्ते कि उद्योग विशिष्ट प्रकार का और स्थिर है। अन्ततः उद्योग के कम होने अथवा श्रम बचाने वाले यंत्रो अथवा उत्पादन प्रणालियों के प्रयोग से बेकारी अवश्य होगी।

स्टीगलर के शब्दों में "जितनी ऊंची न्यूनतम मजदूरी होगी उतने ही अधिक श्रमिक निकाले जायंगे।" यह अनुमान किया जाता है कि न्यूनतम मजदूरी का मजदूरों के काम पर उलटा प्रभाव पडता है।

परन्तु बेकारी तब न होगी, जब कि मजदूरी कुल उत्पादन-व्यय का एक छोटा हिस्सा ही होगा। तब वस्तु के मूल्य में हल्की सी वृद्धि करने से मालिक को बढ़ी मजदूरी देने से हुई हानि की क्षति-पूर्ति हो जायगी।

इसी प्रकार तब भी बेकारी की नौबत नही आ सकती जब कि उत्पादक का सम्बन्धित उत्पादन पर एकाधिकार हो और उस वस्तु की मांग अपेक्षाकृत अपरिवर्त्तनशील हो, जैसे कि बिजली, पानी, गैस तथा अन्य सार्वजनिक उपभोग्य वस्तुओं की पूर्ति के विषय में सम्भव है।

यदि न्यूनतम मजदूरी प्रतियोगिता स्तर से कम है, तो उन उद्योगों में अधिक लाभ की आशा और संभावना के कारण अधिक पूंजी लगाने को प्रोत्साहन मिलेगा। मजदूरों के लिए उनकी मांग बढ़ेगी। पर नए 'रंगरूट' इन कामों से दूर रहने का यत्न कर सकते हैं। इस प्रकार अंशतः, मजदूरों की पूर्ति कम होने तथा अंशतः उनकी मांग अधिक बढ़ने से मजदूरी प्रतियोगिता स्तर पर आ सकती है।

यदि पसीनों के धन्धों मे पहले बहुत अधिक लाभ कमाया जा रहा था तो न्यूनतम वेतन के प्रतियोगिता स्तर पर स्थिर करने से बेकारी नही होगी वरन् लाभ कम होकर मजदूरी साधारण स्तर पर आ जायगी।

इस प्रकार यह दृढ़तापूर्वक नही कहा जा सकता कि न्यूनतम मजदूरी का प्रभाव श्रम पर क्या होगा ? कुछ स्थितियों में यह लाभदायक होगा और कुछ में हानिकारक। हर स्थिति में उसके गुणों के अनुसार विचार करना पडेगा।

१२. राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी (The National Minimum Wages):—देश भर में सब उद्योगों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का परिणाम और गंभीर हो सकता है; विशेषकर यदि मजदूरी प्रतियोगिता के स्तर से अधिक ऊंची हो। इस दशा में सब मार्ग बन्द हो जाते है। श्रमिको का एक उद्योग के स्थान पर दूसरे में लग जाना या श्रम का पुनर्वितरण नही हो सकता। हर जगह उन्हें कम से कम यही मजदूरी देनी पड़ेगी।

ऊंचे मूल्यों से उसका प्रभाव नष्ट न हो जाए, इसलिए राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी को वास्तविक न्यूनतम मजदूरी होना चाहिए, न कि निर्धारित द्रव्य मजदूरी। जब कीमतें बढ़ें तो न्यूनतम मजदूरी भी बढनी चाहिए।

चूकि इस न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी पर किसी मजदूर को कही भी नही रखा जा सकता, इसलिए एक उद्योग से निकाला गया मजदूर दूसरे मे काम नही पा सकता। इस तरह काम से निकाले गए मजदूर तबतक स्थायी तौर पर बेकार बने रहेगे जब तक कि वह अपनी कार्यक्षमता नही बढ़ाते या न्यूनतम-से-कम मजदूरी पर काम करने को तैयार नही हो जाते।

इस भार को उपभोक्ताओं पर भी नही डाला जा सकता, क्योंकि जब कीमतें बढ़ेंगी तो फिर मजदूरी का स्तर भी बढाना होगा। उत्पादन के तरीकों को बदल देने से लाभ के स्तर को स्थिर नही रखा जा सकता, क्योंकि श्रम-बचाने वाली मशीनो तथा अन्य उपायों की भी कीमते बढ जायेगी। इसका परिणाम व्यापक बेकारी होगा और सभी प्रकार के उद्योगो में संकीर्णता आ जायगी। इससे पूजी के सचय और विनियोग मे बाधा होगी।

इसके अतिरिक्त बेकारों को सार्वजनिक कोष से सहायता देनी होगी, जिसका परिणाम ऊंचे कर और उद्योगों पर और अधिक भार तथा और अधिक बेकारी होगी। इस प्रकार जहां उत्पादन में कमी होगी, वहां बेकारों पर किये गए व्यय के कारण टैक्स बढेंगे। समाज अपनी पिछली बचत को व्यय करते हुए दिवालियेपन की ओर जायगा, और यदि यह नीति बहुत अधिक दिनों तक बरती गई तो आर्थिक क्रिया के स्रोत सूखने लगेगे।

परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना आवश्यकीय तौर पर मजदूरों की हानि करना है। कई परिस्थितियों में उससे अनिवार्य रूप से

लाभ भी हो सकता है :—

(१) ऐसे उद्योगों में, जहां बहुत बडी पूंजी लगी है और विशेष प्रकार के यंत्र काम मे आ रहे है, उद्योगपति कारखाना चालू रखने पर विवश होगे, भले ही मजदूरी चुकाने में उनके लाभ कम हो जाय। ऐसी दशा में लाभ संकुचनशील होते है। मजदूरों को बेकारी का तात्कालिक खतरा हुए बिना न्यूनतम मजदूरी मिलती रह सकती है।

(२) यह सम्भव है कि बढी हुई मजदूरी का उपयोग मजदूर इस प्रकार करें कि उनकी कार्यक्षमता बढ जाय। इससे उनकी उत्पादन-शक्ति बढेगी और वे अधिक मजदूरी पाने के योग्य, यदि पहले नही थे, तो अब हो जायगे। तब मजदूरी वृद्धि का लाभ पर कोई बुरा प्रभाव नही पड़ेगा और तब पूजी के हतोत्साह होने अथवा बेकारी बढ़ने का खतरा न होगा।

(३) यह सम्भव है कि मजदूरों के गरीब और असंगठित होने से मालिक उनका शोषण करे। इस दशा मे मजदूरी निश्चित करना, पुराने अन्याय को दूर करना ही होगा और मालिक का उन्हे काम से छुडाने का कोई कारण नही होगा।

(४) अन्त मे, यदि किसी देश मे बेकारी की सहायता की व्यवस्था है, तो मजदूरों को उतना कष्ट नही उठाना पडता। वे राज्य से भरण-व्यय या खाने-पीने का खर्च पाते है। उसका भार धनी कर-दाताओ पर पडता है। इस तरह न्यूनतम मजदूरी निर्धारण सम्पत्ति के धनिकों से लेकर गरीबो में वितरण का साधन बन जाता है और आर्थिक तथा सामाजिक न्याय स्थापना मे सहायक होता है।

न्यूनतम वेतन का समर्थन कुछ ठोस आधारो पर किया जा सकता है।

(क) इससे श्रमिकों को उचित जीवन-स्तर का आश्वासन होता है, उनकी कार्य-क्षमता बढ़ती है और गरीबी से उद्धार होता है।

(ख) इससे स्वार्थी मालिकों की, जो कि मजदूरो का शोषण करते तथा न्यूनतम मजदूरी देने से बचने के लिए श्रमिकों को एक उद्योग से दूसरे मे बदलते है, स्वार्थपूर्ण तथा समाजविरोधी कार्यवाहियो की रोक होती है।

(ग) इससे अयोग्य मालिकों का, जो कि न्यूनतम मजदूरी देने भर को भी अर्जन नही कर सकते, सम्बन्धित उद्योगो से, निष्कासन होगा और औद्योगिक प्रबन्ध का स्तर ऊंचा होगा।

परन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि न्यूनतम मजदूरी निर्धारण से उसमे अपरि-वर्त्तनशीलता आ जायगी, जिससे उत्पादन-व्यय की कीमतो से ठीक करना कठिन हो जायगा। यदि स्तर बहुत अधिक ऊंचा है तो उद्योग की प्रतियोगिता-शक्ति घट जायगी और बेकारी बढ़ेगी। यदि वह नीचा होता है, तो श्रमिकों को कोई लाभ नही होता।

एक सामाजिक सुधारक को ऐसे श्रम कानून की सामाजिक लागत पर भी ध्यान रखना चाहिए। जब किसी उद्योग पर ऊंचे स्तर की न्यूनतम मजदूरी का बोझ लादा जायगा

तो उत्पादन लागत बढ जायगी। इससे कम वस्तुएँ अधिक कीमत पर मिलेंगी। राज्यकोष को अंशदान,पेंशन तथा गरीबो की सहायता के अन्य कार्यों का बढा हुआ बोझ सहन करना पड़ेगा। यह खर्चे की मदें है। आय की मद मे हम बच्चों की उन्नति से बचत तथा बडे होने पर उनकी अर्जन शक्ति में वृद्धि रख सकते है। जब शिक्षा का सामान्य स्तर ऊचा हो जाता है, तो प्रवीण श्रम तथा शिक्षित व्यापार प्रबन्धको की पूर्ति बढ जायगी। यह यथासमय पर ऐसे लोगों को उनके सापेक्षिक लाभ से वचित कर देगी क्योकि पूर्ति के बढ़ने से उनकी आय कम हो जायगी। परन्तु समाज को निःसन्देह लाभ होगा।

१३. औद्योगिक झगडों का निपटारा (Settlement of Industrial Disputes) :—झगडो को रोकने के लिए प्रत्येक प्रयत्न करने पर भी वे उठ सकते है और होते ही रहते है। इसलिए उनके निपटारे के लिए कोई व्यवस्था होनी आवश्यक है। साधारणतया उसके लिए दो उपाय होते है—समझौता तथा दूसरा पच निर्णय।

(प्रथम) समझौता :—इस उपाय की मुख्य बात यह है कि मजदूरो तथा मालिको के प्रतिनिधियो मे स्वत. बिना किसी बाहरी व्यक्ति की मध्यस्थता के अथवा मध्यस्थता की सहायता से समझौता हो जाता है। इगलैड मे सन् १८९६ के समझौता कानून के द्वारा झगडे के दोनों पक्षो मे समझौता कराने और इस प्रकार हडतालो और झगड़ो को रोकने के लिए समझौता मण्डली अथवा पंचसमिति के रजिस्टर करने की स्वीकृति थी। सन् १९११ के एक दूसरे कानून से इस योजना को और भी अधिक बल मिला तथा मजदूरो और मालिकों के प्रतिनिधियो की संयुक्त समितिया, औद्योगिक परिषदो के नाम से नियत की गई। इन परिषदो ने बड़ा उपयोगी कार्य किया है। भारतवर्ष मे सन् १९२९ के औद्योगिक विवाद कानून से सरकार ने यह अधिकार प्राप्त किया कि किसी एक पक्ष की प्रार्थना पर वह झगडे की जाच के लिये एक समझौता समिति (Conciliation Board) नियुक्त कर सकती है। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था से हडताले बिल्कुल ही असम्भव नही हो जाती, क्योकि अविश्वास की भावना, विशेषकर श्रमिक सघो मे सदा बनी रहती है।

जब समझौता समिति का सभापति बिल्कुल स्वतंत्र और विख्यात ईमानदार व्यक्ति होता है, तब समिति अच्छा काम करती है। अहमदाबाद में ऐसा ही हुआ, जहा कि महात्मा गांधी स्वय अध्यक्ष का काम करते थे।

(द्वितीय) पंच निर्णय :—इस प्रकार की व्यवस्था मे झगडे के निपटारा करने का कार्य एक बाहरी व्यक्ति या मध्यस्थ समिति को सौप दिया जाता है। पच निर्णय ऐच्छिक हो सकता है। जैसा कि इंगलैड मे है, अथवा अनिवार्य, जैसा कि आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैड में है। ऐच्छिक पच निर्णय मे झगडे को एक मध्यस्थ समिति मे, जिसमे दोनो पक्ष के प्रतिनिधि रहते हैं, भेजा जाता है। उसके निर्णय को न्यायालय मे अधिकाशत. मान लिया जाता है, परन्तु मानने की बाध्यता नही होती। पच निर्णय की रिपोर्ट प्रकाशित की जाती है और बहुत से मामलों में जनमत के दबाव से दोनो पक्षो को निर्णय मानना पडता है।

आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में पंच न्यायालय का निर्णय मानना दोनों पक्षों के लिये अनिवार्य होता है। हडताल और तालाबन्दी दोनो कानून से निषिद्ध कर दिये जाते है और जुर्माने या कारावास से दडनीय होते है। अनिवार्य पच निर्णय से काफी कठिनाइया हो सकती है, खास तौर से उन देशो मे जहा और दूसरे काम मिलने की गुजाइश कम रहती है। आस्ट्रेलिया मे चूकि खेती पच-निर्णय कानून के अधिकार क्षेत्र के बाहर है, वहा पूजी अथवा मजदूरो के लिए अन्य मार्ग खुला रहता है। चैपमैन का कहना है कि बुनियादी उद्योगों मे, जिनकी निरन्तर सक्रियता के ऊपर सारा समाज निर्भर करता है, उदाहरण के लिए, यातायात; वहा अनिवार्य पच-निर्णय के पक्ष मे बहुत कुछ कहा जा सकता है।

१४. बेकारी (Unemployment) :—आजकल औद्योगिक राष्ट्रों में मजदूरों के झगडो का सब से बडा कारण रोजगार की अनिश्चितता है। बेकारी का भय श्रमिको के सामने सदा बना रहता है। इसे प्रगति की 'सहगामिनी छाया' कहा गया है, और इसका भय मजदूरो के लिए सभी सकटो से प्रबल होता है अर्थात् बीमारी, बुढापा, यहां तक कि यह मृत्यु के भय से भी बढकर है।

सिद्धान्ततः बेकारी की परिभाषा से आशय ऐसी दशा से है जब कि किसी देश मे कार्य-क्षम आयु के शारीरिक-सामर्थ्य-सपन्न व्यक्तियो की एक बडी सख्या काम करने के लिए प्रस्तुत है, परन्तु उसे प्रचलित मजदूरी की दरो पर काम नही मिल पाता। वह लोग जो शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलता के कारण कार्य करने मे असमर्थ है, अथवा जो काम करना ही नही चाहते, उनकी गणना बेकारो में नही की जाती। जो असमर्थ है उन्हें कार्य के लिए अकुशल कहा जा सकता है, और जो समर्थ है, पर काम करने से इंकार करते है, समाज के लिए परोपजीवी है। इन दोनों प्रकार के काफी लोग हमारे देश मे है। शिशु, रोगी, वृद्ध तथा अन्य प्रकार से अयोग्य व्यक्ति पहले प्रकार के है। पीर, फकीर, साधु तथा न काम करने वाले जमीदार दूसरे प्रकार के उदाहरण है।

किसी उत्पादक कार्य मे सलग्न होना ही बेकारी का बिलकुल न होना नही माना जाता। जो लोग केवल थोड़ा समय कार्य करते है अथवा अपनी योग्यता से नीचे का काम करते है, उन्हें पर्याप्त रूप से कार्य-संलग्न नही कहा जा सकता। इसे अपूर्ण बेकारी की दशा कहते है। यह भी देश की समृद्धि के लिए हितकारी नही है। बेकारी का बिलकुल न होना उस समय नही माना जाता जब कि प्रत्येक शारीरिक सामर्थ्य-पूर्ण व्यक्ति को वह काम मिलता है, जिसके लिए वह सर्वाधिक योग्य है। पूर्ण रोजगारी की दशा आदर्श है। यह ऐसे देशों में, जैसे कि रूस में, जहां कि पूर्ण सयोजित अर्थ-व्यवस्था चलती है, संभव है। पूजीवादी देशों मे बेकारी का होना अनिवार्य है। वहां अधिक से अधिक जो किया जा सकता है, वह है बेकारो की संख्या को यथासंभव कम करना।

१५. बेकारी के कारण—चैपमैन ने बेकारी के परिस्थितिमूलक तथा आत्ममूलक कारणों में अन्तर किया है। आत्ममूलक कारण व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक दोषों

से होते है चाहे वह जन्मजात हों अथवा बाद मे पैदा हुए हों, उपचारयोग्य हो या लाइलाज। परिस्थितिमूलक कारण ऐसी शक्तियो से उत्पन्न होते है जिन पर व्यक्ति का कोई नियन्त्रण अथवा अधिकार नही होता। इनमे व्यापार चक्र, अस्थायी माग, अस्थायी पूर्ति, औद्योगिक परिवर्तन आदि जसे कारण शामिल है। परिस्थितिमूलक कारणो पर यहां कुछ प्रकाश डाला जायगा। जहां तक आत्ममूलक कारणों का प्रश्न है, जो लोग काम करने के योग्य नही है, उनकी गणना बेकारों मे नही की जा सकती।

(**पहला**) **व्यापार चक्र** (Trade Cycles):—इनका विस्तृत अध्ययन एक पृथक् अध्याय मे किया जायगा। यहां केवल इतना कहना ही काफी होगा कि व्यापार चक्र साधारणत: एक निश्चित काल के बाद प्राप्त रहता है। मंदी के समय व्यापारिक क्रिया धीमी हो जाती है और बेकारी बढती है। कुछ लोगो का काम छूट जाता है और कुछ को केवल आंशिक काम मिलता है। कितनी बेकारी होगी, यह मजदूरी की लोचशक्ति पर निर्भर करता है। परन्तु श्रमिक संघ बहुधा मजदूरी घटाने का विरोध करते है। इसलिए जो अपनी मजदूरी अर्जित नही करते, उन्हे नई परिस्थिति मे काम से अलग होना पड़ता है।

(**दूसरा**) **अस्थाई मांग**:—कुछ पेशो का काम किसी विशेष काल मे ही होता है। वह समय न होने पर मजदूरो की माग कम हो जाती है। और उसका परिणाम बेकारी होता है। उदाहरण के लिए, बर्फ के कारखानो मे केवल गर्मी की ही ऋतु मे काम होता है, खेतो मे भी काम फसल के समय होता है। तीन महीने से पाच महीने तक हमारे कृषकों को विवशत: बेकार रहना पडता है। फसल बोने और काटने के बीच के समय में भी वह पूरे तौर पर कार्य में लगे नही रहते।

(**तीसरा**) **औद्योगिक परिवर्त्तन** (Industrial Changes):—इसमे नये आविष्कार एवं नई रीतियो का प्रयोग निहित है। चूकि उत्पादन प्रणाली मे परिवर्त्तन धीरे-धीरे होता है, इसलिए बहुत से मजदूर एक साथ बेकार नही होते। परन्तु यदि ऐसे परिवर्तन शीघ्र होते है, तो बहुत से लोग बेकार हो जाते है। इगलैंड की औद्योगिक क्राति के सस्ते सामान ने भारतीय बाजारो को पाट दिया, इसलिए स्वदेशी उद्योगो मे लगे हुए लोग बेकार हो गए। यदि भारत में भी उसी समय औद्योगिक प्रगति हुई होती तो काम के दूसरे ज़रिये मिल जाते और अतिरिक्त श्रमशक्ति का उपयोग हो जाता। परन्तु चूकि मजदूर सरलता से एक स्थान से दूसरे स्थान को, और एक काम से दूसरे काम पर नही भेजे जा सकते, इसलिए थोड़े समय के लिए काफी विपत्ति का सामना करना पड सकता है।

(**चौथा**) **अस्थायी श्रम** (Casual Labour):—अस्थायी श्रम का आशय उस श्रम से है जो थोड़े समय के लिए विविध प्रकार के कार्य मे लगे रहते है, जैसे बदरगाह पर माल लादने या उतारने का काम। ऐसे लोगों को तब तक काम मिलता है जब

तक व्यापार में सक्रियता रहती है। उन्हे निरन्तर एक काम को छोड़कर दूसरे काम को करना पड़ता है। बहुत से लोग, जो आलसी होते है, अस्थायी कार्य करना पसद करते हैं अथवा जो इस तरह का कार्य करते है, वे आलस्य की ओर प्रवृत्त होने लगते है। काम मिलने और करने में अनियमितता की इससे वृद्धि होती है।[1]

(पांचवां) बीच का समय :—बीच का समय वह समय है जो कि मजदूर को एक काम छोड कर दूसरे काम के ढूढने मे लगता है। यह समय मदी के समय अधिक और व्यापार के वृद्धिकाल मे कम होता है। काम करने वाले की प्रकृति तथा उसके आर्थिक वातावरण से भी समय मे भेद हो सकता है। यह बिल्कुल सभव है कि एक ओर मजदूर बेकार हो और दूसरी ओर मजदूरो की कमी हो। ऐसी स्थिति काम तथा मजदूर चाहने वालो में सपर्क की कमी से होती है।

(छठा) ऊंची मजदूरी :—यह भी कहा जा सकता है कि श्रमिक सघ की कार्य-वाही से भी बेकारी हो सकती है। यदि सघ ऐसी मजदूरी की दर स्वीकार कराने मे सफल होते है, जो कि सीमान्त उत्पादन शक्ति के हिसाब से अधिक है, तो आगे या पीछे मजदूरो को काम से अवश्य अलग किया जायगा। ऐसा तब भी होगा जब कि न्यूनतम मजदूरी, जो कि मजदूरो की उत्पादन शक्ति से अधिक है; कानून द्वारा देना अनिवार्य किया जायगा, परन्तु जिसका देना उद्योग की सामर्थ्य के बाहर है।

(सातवां) सम्पत्ति मे वृद्धि :—कीन्स (Keynes)[2] के अनुसार बेकारी सम्पत्ति वृद्धि का परिणामस्वरूप भी हो सकती है। आय की वृद्धि के साथ लोगो मे उसके क्रमशः कम अंश को तात्कालिक उपभोग मे व्यय करने की प्रवृत्ति होती है। इससे उपभोग्य वस्तुओ की माग कम होती है। और इससे उन वस्तुओ के बनाने वाले व्यवसायियो का लाभ भी कम होने लगता है। इसकी प्रतिक्रिया मे वे उत्पादन के साधनो पर, जिसमे श्रमिक भी शामिल होते है, कम व्यय करना चाहते है और मजदूरो की सख्या कम करने लगते है। इस प्रवृत्ति की रोक तभी हो सकती है, जब कि अधिक बचत का उपयोग अधिकाधिक व्यवसाय मे पूजी लगाकर हो। परन्तु समृद्ध देशो मे नये उद्योगो मे पूजी लगाने के अवसर भी कम होते है। इसलिए नये तौर पर पूजी लगाने से भी उपभोग की कमी के प्रभाव को पूर्णरूप से रोका नही जा सकता। परिणाम यह होगा कि मजदूरो का एक भाग काम पाने मे असफल रहेगा।

१६. **बेकारी दूर करने के उपाय**—आर्थिक योजना बेकारी दूर करने का सब से अच्छा उपाय है। उसमे बेकारी की कोई गुजाइश नही रहती। सन् १९२९—१९३४ की व्यापारिक मंदी के समय अमेरिका मे ४० लाख आदमी और ब्रिटेन में २५ लाख आदमी बेकार थे। परन्तु उसी समय रूस की आयोजित अर्थ-व्यवस्था में एक

1. Chapman, op. cit., p. 351.
2. Keynes: General Theory of Employment, Interest and Money.

व्यक्ति भी बेकार नही था। परन्तु यदि किसी कारण समाजवादी ढंग की योजना न हो सके तो पूजीवादी व्यवस्था मे भी बेकारी को कम करने के लिए कई उपाय किये जा सकते है। ये निम्नलिखित है :—

(पहला) रोजगारी के दफ्तर की स्थापना :—ये सस्थाएं एक ओर बेकार व्यक्तियो के नाम, उनकी योग्यताएं और आवश्यकताएं तथा दूसरी ओर काम देने वाले मालिकों की आवश्यकताए रजिस्टर मे लिखती जाती है। इस प्रकार वे उन लोगो में जो कि काम की तलाश में रहते है, और जिन्हे मजदूरो की जरूरत होती है, सम्पर्क स्थापित करते है। इन सस्थाओं से कुछ और भी लाभ होते है। वे एक काम से दूसरे काम पाने के बीच के समय को कम करने मे सहायक होते है और साथ ही मजदूरो को अपनी कार्य-कुशलता बढाने के अवसरों की सूचना भी प्रदान करते है। नवयुवको को स्कूल छोडने के बाद काम ढूढने मे इससे मदद मिलती है। वे स्कूल के बाद शिक्षा जारी रखने अथवा शिल्प-शिक्षण पाने के विषय में भी परामर्श दे सकते है। अस्थायी कार्य करने वालो को स्थायी कार्य दिलाने मे भी उनसे सहायता मिलती है।

(दूसरा) व्यापार चक्र द्वारा उत्पन्न बेकारी का निराकरण दो प्रकार से हो सकता है। (क) मजदूरों की घटती हुई माग को सब प्रभावित व्यवसायो मे वितरित कर के। (ख) श्रम की सार्वजनिक माग को क्षतिपूर्ति का साधन बना कर।

जहां तक पहले उपाय का सम्बन्ध है, मजदूरो की माग का वितरण उद्योग को कम समय तक चला कर या काम के घटे कम करके किया जा सकता है। चैपमैन का मत है कि "यह अधिक अच्छा होगा कि एक उद्योग मे लगे हुए सब कर्मचारी कम काम करे और कम कमाये, बजाय इसके कि कुछ कर्मचारी कुछ भी न कमाये।" कुछ का सुझाव है कि मालिक सारी मजदूरी श्रमिक सघ को दे दे, जो सब श्रमिकों को नियमित रूप से मजदूरी दे।

दूसरे के विषय मे, मजदूरो की सार्वजनिक (सरकारी) मांग अन्य उद्योगों की मांग के विपरीत होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, विभिन्न प्रकार के निर्माण कार्य जैसे रेल, सडके, सरकारी इमारतें आदि व्यापारिक मदी के समय शुरू होने चाहिएँ क्योकि ऐसे समय निजी उद्योग शिथिल अवस्था में होते है। इससे केवल उन कार्यो मे लगे हुए लोगो को ही काम न मिलेगा वरन् व्यक्तिगत उद्योगों को भी प्रोत्साहन मिलेगा, क्योकि निर्माण कार्य से संबंधित अनेक वस्तुओं की मांग बढ़ेगी। इससे आर्थिक सक्रियता में तेजी आ सकती है। इसके विपरीत व्यापार के तेजी काल मे सार्वजनिक अधिकारियो को यथासंभव बडी योजनाओं को चालू न कराना चाहिए। इसमे विशेष योजना बनाने की जरूरत पड़ती है, जिससे कि विशेष संस्थाए, जैसे राष्ट्रीय रोजगार समिति अथवा विकास समिति बनाई जायं जो कि सार्वजनिक व्यय संबधी क्षतिपूरक योजनाएं तैयार करें।

(तीसरा) सामयिक या ऋतु विशेष की बेकारी एक व्यापार को दूसरे से शृंखलाबद्ध करने से दूर हो सकती है। शिथिल काल में संग्रह हेतु सामग्री निर्मित की जा सकती है; अथवा सामग्री पूर्ति के अग्रिम आर्डर लिये जा सकते है और काम को वर्ष भर चलाया जा सकता है।

जहां तक काम करने के लिए असमर्थ लोगो का सम्बन्ध है, उनकी कई प्रकार से सहायता की जा सकती है। पहले, जो शराबी है, आवारा है या अन्य प्रकार से परोपजीवी है, उनके सुधार की चेष्टा करनी चाहिए। उन लोगो की, जो किसी शारीरिक रोग से असमर्थ हो गए है, यदि उनका रोग अच्छा होने लायक है, तो उसकी व्यवस्था करनी चाहिए।

बेकारो के कष्ट निवारण की एक अलग समस्या है। एक प्रत्यक्ष तरीका बचत करने की आदत को प्रोत्साहन देना है, जिससे बचत किये हुए धन से बेकारी के समय मे निर्वाह हो सके। बचत करना मजदूरों की स्वेच्छा पर छोड़ा जा सकता है। परन्तु यह तरीका अधिक प्रभावशाली नही होता, खास तौर से जहां बचत करने की गुजायश कम होती है। दूसरा तरीका श्रमिक संघो के द्वारा अपने सदस्यों के चंदे से एक कोष जमा करना है, जिसका उपयोग बेकारी के समय मे किया जा सके। इधर कुछ वर्षो से प्रगतिशील देशों मे प्रवृत्ति सरकार द्वारा बेकार बीमा योजना चलाने की ओर है। इस प्रकार के बीमा कोष मे मजदूरों, मालिको और सरकार का अंशदान रहता है। इससे हम सामाजिक बीमा योजना की समस्या पर पहुचते है, जिसका क्षेत्र न केवल बेकारी के लिए ही वरन् मजदूरों की अन्य कठिनाइयों का समाधान करना भी है।

१७. सामाजिक बीमा (Social Insurance) :—सामाजिक बीमा, कोहोन (Cohon) के शब्दो में "बीमा के सारे क्षेत्र का वह अंग है, जिसमें मजदूरो की उन सकटों से रक्षा होती है, जिसमें या तो वह मजदूरी का ऐसा सौदा करने मे असमर्थ रहता है, जिसमे वह अपने एवं अपने परिवार का संतोषजनक जीवन-निर्वाह कर सके अथवा शारीरिक असमर्थता के कारण सौदे के अपने अंश को पूरा नही कर सकता।" ऐसे मुख्य खतरे (पहले) अस्थायी असमर्थता जैसे दुर्घटना, रोग अथवा बेकारी (दूसरे) अयोग्यता अथवा बुढापे के कारण स्थायी असमर्थता तथा (तीसरे) मृत्यु, जिसमें विधवाओं अथवा बच्चों के लिए कोई भविष्य निधि नही छोड़ी गई है, से उत्पन्न होते है।

उदाहरण के लिये हम ग्रेट ब्रिटेन में प्रयुक्त सामाजिक बीमा के विभिन्न रूपों को ले सकते है, क्योकि शायद ब्रिटेन ने इस सबंध में सर्वाधिक प्रगति की है। इसके विभिन्न रूप ये है (पहला) बेकारी बीमा (दूसरा) स्वास्थ्य बीमा (तीसरा) बुढापे के लिये बीमा (चौथा) विधवा एवं अनाथों के लिये पेंशन की योजना। अन्त में हम सबसे बाद के एव सर्वाधिक व्यापक सामाजिक सुरक्षा बीमा योजना का, जिसके साथ सर विलियम बेवेरिज (Sir William Beveridge) का नाम संयुक्त है, विवरण देगे।

(१) **बेकारी बीमा** (Unemployment Insurance)—सन् १९११

में पार्लियामेंट के एक कानून द्वारा पहले ग्रेट ब्रिटेन के कुछ चुने हुए उद्योगों मे अनिवार्य बेकारी योजना की प्रणाली चलाई गई। ये उद्योग ऐसे थे, जिनमें काम मिलन की खास-तौर से अनियमितता रहती थी। योजना की सफलता के कारण सन् १९२० तक उसका इतना विस्तार कर दिया गया कि खेती अथवा घरेलू नौकरो को छोड़कर सारी औद्योगिक जनसंख्या का अनिवार्यतः बीमा हो गया। बाद मे आर्थिक मदी की विपत्ति के कारण पार्लियामेंट ने इस योजना पर अनियमित लाभ की प्रणाली भी लागू कर दी। इसका आशय था कि योजना के अतिरिक्त मजदूरो और उनके परिवारो को लाभ का भी भाग दिया जाय। इससे राष्ट्रीय कोष पर बडा प्रभाव पडा। राजकीय आयोग (कमीशन) द्वारा बेकारी बीमा की जाच (सन् १९३०) के परिणामस्वरूप सन् १९३१ के बजट मे लाभाश प्राप्ति मे कमी कर दी गई और मालिको तथा मजदूरों के बीमा के लिए अंशदान मे वृद्धि की गई। एक साधन परीक्षण भी निकाला गया, जिससे यदि किसी को और कोई सहायता कही से प्राप्त हो तो उसको दिये जाने वाले लाभाँश को बन्द किया जा सकता था। सन् १९३८ मे इस योजना के अन्तर्गत १ करोड़ ४० लाख व्यक्तियो का बीमा था।

इस योजना मे एक बेकारी बीमा कोष एकत्र किया जाता है, जिसमे मालिक, मजदूर तथा राज्य सरकार अनिवार्यतः अंशदान करते है। इस कोष से बेकारी के समय कष्ट निवारण किया जाता है और योजना के प्रबध-संबधी व्यय पूरे किये जाते है।

इस कोष से १४ वर्ष से ६५ वर्ष की आयु तक के स्वस्थ शरीर के पुरुषों को, जो काम करने के लिए तैयार है, पर जिन्हे प्रचलित मजदूरी की दर पर अपना सीखा हुआ काम नही मिलता, उन्हें बेकारी के समय सहायता दी जाती है।

(२) **स्वास्थ्य बीमा** (Health Insurance)—यह एक अन्य सामाजिक बीमा योजना है, जिसमे चदा दिया जाता है। एक राष्ट्रीय बीमा कोष में मालिक और मजदूर चंदा देते है। पुरुष श्रमिकों के मामले मे उनका तथा मालिकों का अंशदान समान रहता है। नारी श्रमिकों के लिए मालिक का अशदान कुछ अधिक रहता है। राज्य पुरुषों के लिए सातवां भाग तथा स्त्रियों के लिए पाचवा भाग देता है।

साधारणतया सुविधाएं इस प्रकार मिलती हैं : (१) यदि श्रमिक उचित लाभकर कार्य पाने में असमर्थ हो जाय तो अधिक से अधिक २६ सप्ताहों के लिए बीमारी की दशा मे निश्चित रकम देना। (२) २६ सप्ताहों के बाद, जब तक मजदूर ठीक काम न पा सके, तब तक के लिए असमर्थता-सहायता। (३) बीमा वाले पुरुष की पत्नी को प्रसूतिका सहायता, जो कि और अधिक होती है बशर्तेकि स्त्री का भी बीमा है। (४) चिकित्सा और औषधि आदि का प्रबंध ;

स्वास्थ्य बीमा योजना १४ वर्ष से ६५ वर्ष तक आयु के सभी शारीरिक श्रम करने

वालों के लिए अनिवार्य होती है और उन कर्मचारियों के लिए भी, जो कि २५० पौंड से कम पाते हैं और जिन्होंने योजना से मुक्त रहने के अधिकार का दावा नही किया है।

(३) **बुढ़ापे की पेंशन** (Old-age Pensions)—इस योजना का प्रारम्भ ग्रेट ब्रिटेन मे पहले सन् १९०८ के कानून से हुआ। इसमे उन सब श्रमिको को, जिनकी आयु सत्तर वर्ष की हो चुकी है, और जो कम से कम दस वर्ष से ब्रिटिश नागरिक है, बुढापे की पेशन देना अनिवार्य है। योजना का सारा व्यय-भार राज्य उठाता है। जो लोग प्रतिवर्ष पचास पौड या इससे अधिक कमाते है, उनको पेशन नही मिलती। अधिक से अधिक एक व्यक्ति को दस शिलिंग प्रति सप्ताह पेशन मिल सकती है।

(४) **विधवा तथा अनाथ पेशन** (Widows' and Orphans' Pensions)—यह योजना सन् १९२५ मे बनाई गई। इसमे मजदूर और मालिक दोनों को चंदा देना पडता है। राज्य भी अपना भाग देता है। पेंशन उन व्यक्तियों की विधवा पत्नियो एव अनाथ बालकों को दी जाती है, जो कि ४ जनवरी सन् १९२६ को या इससे पहले मर गए और जिनकी अवस्था मृत्यु समय ७० वर्ष से कम थी, जब कि योजना कार्यान्वित हुई। यह पेशन कुछ शर्तो के आधीन दी जाती है। ये शर्तें बीमा तथा अशदान की सख्या से सबध रखती हैं।

१८. बेवेरिज सामाजिक सुरक्षा योजना (The Beveridge Social Security Scheme)—सर विलियम बेवेरिज की रिपोर्ट के आधार पर द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन मे एक नई तथा व्यापक सामाजिक बीमा योजना लागू की गई। सर रोनाल्ड डेविसन (Ronald Davison) के शब्दो मे यह योजना अग्रेजो के सामाजिक जीवन मे सपूर्ण तथा आकस्मिक क्राति उत्पन्न नही करती। हमारे पिछले अनुभवों से ही स्वभावतः यह उत्पन्न हुई है, विशेषकर सब पक्षो के अंश-दान से चलने वाली बीमा योजना और पिछले अनुभवो से भविष्य की रूपरेखा अंकित करती है।

योजना की मुख्य बातों को नीचे दिया जाता है :—सर्वप्रथम बेवेरिज योजना देश की जनता को ६ मुख्य वर्गो या श्रेणियो में विभाजित करती है। (१) इसमे ऐसे व्यक्तियो को शामिल किया जाता है, जो किसी ठेके पर काम करते हैं और मजदूरी एवं वेतन अर्जन करने वाले कहलाते हैं। बीमा के लिये आय के अधिकतम स्तर पर अथवा निश्चित आयु-सीमा पर कोई प्रतिबध नही रहता। पुरुष और स्त्रियों को केवल तभी पेंशन मिलती है जब कि वे काम से रिटायर हो जाते हैं। सभी को अनिवार्य रूप से एक निर्धारित रकम देनी पडती है। उसमे केवल आयु एवं पुरुष तथा स्त्री के आधार पर भेद माना जाता है। जो व्यक्ति ५००० पौड प्रति वर्ष कमाता है, उसे भी ४ शि. ६ पै. प्रति सप्ताह देना पडता है और जो ५०० पौंड या कम कमाता है उसे भी। इसमें मालिक ३ शि. ३ पै. प्रति सप्ताह अपनी ओर से मिलाते है। सबको एक-सी सुविधाए मिलती है।

(२) दूसरे वर्ग को बेवेरिज ने "अन्य रूप से लाभकारी कार्य मे लगे हुए" बताया है। इसमें स्वय भी काम करने वाले मालिक अथवा अपना स्वतन्त्र रोजगार करने वाले, जैसे दूकानदार, किसान तथा अन्य ऐसे ही पेशे वाले शामिल है। ये लोग बीमा योजना में पहली बार शामिल होगे। ये लोग भी उतना ही चन्दा देगे जितना कि पहले वर्ग वाले। परन्तु इन्हे साधारण बेकारी, बीमारी अथवा औद्योगिक दुर्घटना सबधी सुविधाएं प्राप्त न होंगी। इनको मुख्य लाभ पेशन का होगा।

(३) तीसरा वर्ग ६० वर्ष आयु से कम की गृहिणियों का होगा। उन्हे, यदि वे स्वय मजदूरी करने वाली नही है, तो कुछ भी चन्दा नही देना पड़ेगा। केवल उनके पतियो का बीमा होने से उनका भी बीमा हो जायगा। उनके लिये पेशन की व्यवस्था है तथा प्रसूतिका सहायता एव पति के बेकार या बीमार रहने पर उन्हे आश्रित सहायता भी मिलती है।

(४) चौथा वर्ग उन व्यक्तियो का है, जो काम करने की आयु के है परन्तु कमाते नही। इसमे अधिकाश आत्म-निर्भर स्त्रिया, जो अकेली होती है और घरेलू काम करती है, अथवा १६ वर्ष की आयु से अधिक के विद्यार्थी होते है, वे भी प्रथम वर्ग वालो की भाति ही चन्दा देते है।

(५) पाचवा वर्ग उनका है, जिनकी काम करने की आयु नही है। वे शिशु भत्ते की व्यवस्था के अन्तर्गत आ जाते है।

(६) अन्तत वे लोग है, जो काम करने की आयु से अधिक अवस्था के है। उन्हे कुछ चन्दा नही देना पडता और वे पेशन पाते है।

बेवेरिज योजना की सुविधाएं :—इनकी सूची नीचे दी जा रही है। उन सबको सरकार ने पूर्ण रूप से स्वीकार नही किया है परन्तु फिर मौलिक अन्तर होने की सभावना नही है।

(क) बेकारी और असमर्थता के समय प्रति सप्ताह का भत्ता —

२१ वर्ष या अधिक के एक पुरुष या स्त्री के लिये	२४ शिलिंग
काम करने वाले पति-पत्नि	२४ शिलिंग
विवाहित परन्तु अकेले पुरुष के काम करने पर	४० शिलिंग
विवाहित स्त्री और उसके पति के काम करने पर	१६ शिलिंग
(२१ वर्ष से कम के बालक तथा बालिकाओं के लिये निचली दर पर)	

(ख) निवृत्ति वेतन (पेंशन) (सन् १९६५ में)

(किसी अर्जित आय पर अशतः कम की जा सकने वाली)

पुरुष स्त्री की संयुक्त पेशन	४० शिलिंग
केवल पुरुष या स्त्री के लिये	२४ शिलिंग

पत्नी के साथ काम करने वाले पुरुष अथवा स्त्री
जिसका पति ६५ वर्ष से कम आयु का है २४ शिलिंग

(ग) केवल स्त्रियों के लिये, प्रसूति सहायता --
(१३ सप्ताह) (४ पौड की प्रसूतिका सहायता के अतिरिक्त)
विवाहित परन्तु मजदूरी करने वाली को ३६ शिलिंग
विधवा सहायता (१३) सप्ताह ३६ शिलिंग

(घ) आश्रितों के भत्ते--(उपर्युक्त के अतिरिक्त)
कुटुम्ब मे प्रति शिशु के लिये ८ शिलिंग
१६ वर्ष से ऊपर प्रत्येक आश्रित के लिये १६ शिलिंग

(ङ) औद्योगिक पेंशन--
पूर्ण असमर्थता के लिये (१३ सप्ताह की बीमारी की तनख्वाह के पश्चात्) साप्ताहिक मजदूरी की दो-तिहाई परन्तु ३ पौड से अधिक नही, बच्चों के लिये भत्ता और बीमारी वेतन आश्रितो के भत्ते से कम नही।

(च) विवाह दहेज-- (एकमुश्त रकम) काम करने वाली स्त्रियों के लिये १० पौड तक की सहायता।

(छ) प्रौढ़ अन्तिम संस्कार सहायता (एकमुश्त) २० पौड
तीन वर्ष से कम के शिशु ६ पौड

यह अनुमान लगाया गया था कि सन् १९४२ मे प्रचलित कीमतों के आधार पर पूरी योजना पर कुल व्यय सन् १९४५ मे ७० करोड़ पौड सालाना होगा। लोगों को मिलने वाली सुविधाएं सन् १९४५ मे ४५ करोड पौड की होंगी। इस प्रकार योजना का सन् १९५५ के लिए अतिरिक्त व्यय २५ करोड़ पौड होगा। सन् १९६५ तक योजना का कुल व्यय प्रति वर्ष ८५ करोड़ पौड होगा, जिसमें से ६० प्रतिशत राज्य-कोष से आयगा।

क्या ब्रिटेन इतना व्यय उठा सकता है? हां, ब्रिटेन उठा सकता है, जिसका स्पष्ट कारण यह है कि जनता का स्तर ऊंचा करके वह राष्ट्रीय लाभांश को बहुत अधिक बढ़ा लेगा। सन् १९०६ से दी गई सुविधाओं के अनुभव से इस प्रकार की योजनाओं की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है। सर रोनाल्ड के शब्दों में "अभी तक तो ये योजनाएं लाभकारी हुई हैं क्योंकि उन्होंने हमारे लोगों के नैतिक स्तर को बहुत ऊंचा कर दिया है। उदाहरण के लिए, उनके बिना इस भयानक युद्ध के समय हमारी हालत बड़ी खराब होती। न हम लोग इतना उत्पादन कर सकते और न इतना अच्छा लड़ सकते। बिजली सरीखी कौंध-युक्त आक्रमणों ने हमें अस्त-व्यस्त कर दिया होता।"

योजना का व्यय देश के राष्ट्रीय लाभांश का मुश्किल से १० प्रतिशत भाग होगा।

८५ प्रतिशत से अधिक अशदान साधारण अर्थ साधनो के परिवारो द्वारा दिया जायगा जो कि योजना से आवश्यक हुए प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष करो को भी देगे। इसलिये अशत: यह मध्यम श्रेणी के लाखो व्यक्तियो की उपभोक्ता शक्ति का ही पुनर्वितरण है। इस से अधिक उपभोग का परिणाम नही होता। इससे राष्ट्र की एकत्रित पूजी पर अधिक व्यय भार नही पडता है।

निर्देश पुस्तके

Keynes—General Theory of Employment, Interest and Money.
Sir R. Davison—Social Security.
Beveridge—Social Security Scheme.
Dobb—Wages
Meyers—Elements of Modern Economics
Tarshis—Elements of Economics.

अध्याय ३०

व्याज
(INTEREST)

१. भूमिका––व्याज उत्पादन के तीसरे साधन अर्थात् पूजी की सेवाओं के बदले मे दी गई कीमत है। यद्यपि शेयर बाजार मे पूजी ऋणीय कोष, या उधार देने योग्य धन के रूप मे प्रकट होती है; पर अन्तत. वह उत्पादन को आगे बढाने के लिए प्रयुक्त यन्त्रो और साधनो से सपन्न होती है, जो उपभोक्ताओ द्वारा प्रत्यक्ष सतोष पाने के लिए प्रयुक्त सामग्रियो से भिन्न है। पूजी के रूप मे प्रयुक्त ऋणीय कोष वास्तविक साधनो को उपभोक्ता सामग्री उत्पादन करने के बजाय पूजी को यत्रो एव साधनों के रूप मे हस्तातरित करने मे सहायता करते है। परन्तु व्याज, साधारणतः उधार ली या दी गई रकम पर एक निर्धारित प्रतिशत दर है।

इस अध्याय मे व्याज की प्रकृति एव समस्याओ का अध्ययन किया जायगा। जो व्याज कहलाता है, उसका बहुत-सा अश पूजी की सेवाओ की कीमत नही होती। जिसे लोग साधारणतया व्याज कहते है, वह वास्तव मे कुल व्याज है, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। विशुद्ध व्याज कुल व्याज का केवल एक अंश होता है। इस बात से व्याज की दरो की अनेक भिन्नताओं का स्पष्टीकरण हो जाता है। यदि प्रतिद्वन्द्विता स्वतन्त्र और पूर्ण होती है तो विभिन्न रोजगारो मे विशुद्ध व्याज समानता की ओर चलता है। परन्तु विशुद्ध व्याज का निर्धारण करने मे किन बातो का प्रभाव पडता है? इसके बहुत से सिद्धात है, जिनमे से सबसे अधिक मान्य सीमान्त उत्पादन का सिद्धात है, जिसका अध्ययन लगान तथा मजदूरी के संबंध मे किया जा चुका है। मूल्य के इस पहलू के बारे मे समय का भी महत्व अन्य बातों की भाति ही है। इसका विवेचन हम अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन व्याज का अन्तर बताते समय करेगे। इनके अतिरिक्त व्याज के बारे मे विभिन्न अवसरो पर जनता के दृष्टिकोण, व्याज, पर प्रगति के प्रभाव, तथा व्याज के बिल्कुल ही विलुप्त होने की सभावना आदि की भिन्न समस्याओ पर भी विचार किया जायगा।

२. कुल तथा विशुद्ध व्याज (Gross & Net Interest)––ऋणी साहूकार को जो पूरी रकम चुकाता है, उसे कुल व्याज कहते है। परन्तु ऋणी जो सब रकम साहूकार को देता है, वह विशुद्ध व्याज नही होता, अर्थात् पूजी की सेवाओ का मूल्य नही होता। उसमे अनेक अन्य अशों का समावेश होता है जिनमें से विशुद्ध व्याज केवल एक अंश होता है। इसलिये कुल व्याज मे निहित तत्त्वों का विश्लेषण आवश्यक है। वे निम्नलिखित है :––

(क) **विशुद्ध व्याज**—यह पूजी अथवा उधार ली हुई रकम की सेवाओं के बदले का मूल्य होता है।

(ख) **जोखिम या खतरे के लिये बीमा**—ऋणदाता जब रुपया उधार देता है तो वह कुछ खतरा उठाता है। इन खतरों के बदले में उसे कुछ रकम मिलनी चाहिए। यह खतरे दो प्रकार होते है : (१) व्यक्तिगत, जो ऋण लेने वाले के चरित्र की अविश्वसनीयता के कारण होते है, और दूसरे (२) व्यापारिक खतरे जो रुपया लगाए जाने वाले किसी व्यवसाय के चढाव-उतार के कारण हो सकते है। इस प्रकार ऋणदाता को, एक तो यह भय हो सकता है कि ऋण लेने वाला शायद उसका रुपया और व्याज वापस न करे, अथवा कर्जदार व्यापार में ही घाटा खा जाय। जितना ही अधिक इन बातो का भय होगा, उतना ही अधिक द्रव्य बीमा के रूप में ऋणदाता लेना चाहेगा।

(ग) **प्रबन्ध की मजदूरी**——भुगतान का कुछ अश प्रबध की मजदूरी के रूप मे हो सकता है। ऋणदाता को हिसाब-किताब रखना पडता है और थोडे-थोड़े समय के लिए ऋण देने की व्यवस्था करनी पडती है; इस तरह रुपया उधार देना या साहूकारी करना उसका पूरे समय का धधा हो जाता है।

(घ) फिर; असुविधाओ के बदले मे भी कुछ भुगतान होता है। जब कोई अपना पया दूसरे को उधार देता है, तो एक अवधि तक वह उस रुपये के अधिकार से वचित हो जाता है। वह इच्छा भी करे, तो भी उसके उपयोग मे असमर्थ रहता है, क्योकि रकम दूसरी जगह फंस जाती है। ऐसी दशा मे लाभकारी अवसरों के सयोग हाथ से निकल जा सकते है। असुविधा दो प्रकार की होती है। हो सकता है, ऋणदाता उस समय रुपया वापस न पा सके, जब उसे आवश्यकता हो, और दूसरे से व्याज पर रुपया लेना पडे या उसे तब रुपया वापस मिले जब उसे सुरक्षापूर्वक लगाने का अवसर न हो, और इसलिये रुपया निष्क्रिय पडा रहे और उससे व्याज भी न मिल सके। इस प्रकार की हानियो के लिए उसे क्षतिपूर्ति मुआवजे के रूप में भी कुछ मिलना चाहिए। इसलिये वह विशुद्ध व्याज के अतिरिक्त भी कुछ वसूल करता है।

इन बातों को ध्यान नें रखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि गाव के महाजन की व्याज की दरे प्रतियोगिता के होते हुए भी क्यो इतनी ऊची होती है। आशकाएं और असुविधाए बहुत होती है। उसी प्रकार वस्तुएं बन्धक रखने वाले महाजन वार्षिक आधार के अनुमान से बडी ऊंची व्याज दरें लेते प्रतीत होते है। परन्तु उन्हे छोटे-छोटे अलग-अलग हिसाब रखने आदि में काफी असुविधाओं को सहन करना पड़ता है। इसी से यह भी ज्ञात हो जायगा कि सरकारे, विशेष करके वे जिनकी आर्थिक परम्परा अच्छी है, व्याज की बड़ी हल्की दरों पर रुपया उधार ले सकती है। उनमें ऋणदाता को भय या असुविधा बहुत कम रहती है और व्याज मुख्यतः विशुद्ध व्याज होता है।

इसका एक ज्वलन्त उदाहरण ब्रिटिश सरकार की प्रतिभूतियो (Consols) पर मिलने वाला विशुद्ध व्याज है। बैको मे भी, जो बैक जितना ही अधिक दृढ होता है, वह उतना ही कम व्याज रुपया जमा करने वालो को देता है।

३. व्याज की दरो मे अन्तर (Differences in Interest Rates)––यदि एक ही शेयर बाजार मे एक सी अवधि मे गिना जाय तो तो विशुद्ध व्याज समानता की ओर चलता है। जो अन्तर विद्यमान होते है, वे कुल व्याज मे होते है। दूसरे शब्दो मे ब्याज की दरो मे अन्तर ऋणदाता द्वारा उठाए गए खतरो और असुविधाओ के आधार पर होते है।

विशुद्ध व्याज अलग-अलग उद्योगो मे लगाने पर, जबकि एक ही बाजार न हो, निम्नलिखित कारणो से अलग-अलग हो सकता है।

(क) दूरी के कारण अन्तर––लोग दूर के स्थान की अपेक्षा निवास के निकट रुपया लगाना अधिक पसन्द करते है। इससे पूजी की अपेक्षाकृत गतिहीनता के कारण माग और पूर्ति मे अन्तर पैदा हो सकता है।

(ख) समय का अन्तर––यदि लोगो को अधिक लम्बे समय के लिये अपना रुपया देना पडता है, तो वे अन्य खतरो एव असुविधाओ के होने पर भी व्याज की अधिक ऊची दर पाने की आशा करते है। बेशक, यदि रुपया थोड़ी-थोडी अवधि के लिये बार-बार देना पड़ता है, तो प्रबध की असुविधा के कारण कुल व्याज बढ़ जायगा। परन्तु वह विशुद्ध व्याज नही होता।

(ग) ऋण की मात्रा में अन्तर––साधारणतया व्याज की दर और ऋण की मात्रा मे विपरीत सबध है। जब ऋण की रकम अधिक होती तो व्याज की दर कम होती है।

कुल व्याज मे उपर्युक्त बातो के अतिरिक्त निम्नलिखित कारणो से भी अन्तर हो सकता है––

(१) सामाजिक सम्मान में अन्तर––ईमानदारी के लिए अधिक विख्यात व्यक्ति नीची व्याज की दर पर ऋण ले सकता है। यह पहले बताए गए व्यक्तिगत खतरे के कम होने के कारण होता है।

(२) उत्पादन शक्ति में अन्तर––जहा पर उत्पादक को पूजी से अधिक लाभ हो सकता है, वहा वह अधिक व्याज देने के लिए प्रस्तुत होगा। परतु ऐसे व्यापार अधिकाशत: सट्टेबाजी के होते है और ऊँचा व्याज ऊचे खतरो के कारण ही होता है। इसके अतिरिक्त प्रतिद्वन्द्विता की पूर्णता की अवस्था मे, जैसा कि हम बतायेगे, पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति तथा उसके कारण शुद्ध व्याज की दर समानता की ओर प्रवृत्त होती है। किसी विशेष व्यवसाय की विशेष लाभ की सभावनाए, यदि अधिक खतरे एवं असुविधाओं से उचित नही ठहरती, तो प्रतियोगिता की शक्ति से विलुप्त हो सकती है; परन्तु

यदि प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, तो इस प्रकार के अन्तर बने रह सकते है।

पूजी की उत्पादन शक्ति मे विभिन्न देशो मे अन्तर हो सकता है। उदाहरण के लिये नए देशों मे पूजी की माग अधिक होती है और पूर्ति कम। इसमे पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति अधिक होती है, इसलिये व्याज की दर भी ऊची होती है। इसका कारण पहले बताई गई विभिन्न स्थानो मे पूजी की गतिहीनता होती है। कुछ अश मे वह अधिक खतरे के कारण भी होती है। इस दशा मे कुल व्याज अधिक होगा, परन्तु विशुद्ध व्याज नही।

इसलिये अन्तत व्याज की दरो का अन्तर रुपया उधार देने के खतरो एव असुविधाओ के आधार पर होता है। इसका अपवाद केवल तब होता है, जब हमे किसी एक ही बाजार से व्यवहार नही करना होता। एक ही बाजार मे विशुद्ध व्याज का दर लगभग एक ही होता है।

व्याज के सिद्धान्त

४. व्याज का उत्पादन सिद्धात (Productivity Theory of Interest)--व्याज के स्पष्टीकरण के लिए कई सिद्धात प्रस्तुत किए गए है। कुछ पुराने अर्थशास्त्रियो का विचार था कि व्याज उसी रूप मे वस्तुओ का उत्पादन करता है, जिस प्रकार से भूमि द्वारा फसलो की उत्पत्ति होती है। उनका मत था कि व्याज की विद्यमानता इस कारण मे है कि पूजी द्वारा अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हो पाता है। निस्सदेह, पूजी मे उत्पादन शक्ति है। किंतु ठीक भेडो के एक झुड अथवा उपजाऊ भूमि की तरह उत्पादक नही होती। पूजी इस अर्थ मे उत्पादन-शील है कि श्रम पूजी द्वारा सहायता पा लेने पर पूजी के अभाव की अपेक्षा अधिक उत्पादन करता है।

एक मछुआ जाल की सहायता से जितनी मछलिया पकड सकता है, उतनी उसके बिना नही। एक किसान जितना ट्रेक्टर की सहायता से उत्पन्न कर सकता है, उतना उसके बिना नही कर सकता।

उत्पादन शक्ति के सिद्धात से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उधार लेने वाले क्यो व्याज देते है, परन्तु उससे यह बात नही ज्ञात हो सकती कि व्याज की दरे कैसे निर्धारित की जाती है। यदि व्याज केवल उत्पादन शक्ति पर (सीमान्त उत्पादन पर नही) निर्भर होता, तो पूजी की उत्पादन शक्ति के अन्तर के आधार पर ही व्याज का अन्तर भी होता। परन्तु व्यवहार मे विशुद्ध व्याज की दर एक देश मे एक-सी ही रहती है, और यदि पूजी श्रम को अधिक उत्पादन करने मे सहायक होती है, तो इस अतिरिक्त उत्पादन मे से कितना पूजी के कारण होता है और कितना श्रम से, क्योंकि बिना श्रम के पूजी तो कुछ भी उत्पन्न नही करती? और फिर उपभोग के उद्देश्य के लिये ऋणो

को क्या समझना होगा ? वे उत्पादन तो करते नही किंतु व्याज तो उन पर भी देना ही होता है। ऐसे तो हम बाद मे इन पर विचार करेगे, किंतु इन आपत्तियों पर विजय पाई जा सकती है, यदि हम केवल पूजी की उत्पादन शक्ति की ही बात न करके सीमान्त उत्पादन शक्ति पर भी ध्यान रखे।

५. व्याज का त्याग अथवा प्रतीक्षा सिद्धांत (Abstinence or Waiting Theory of Interest)—उत्पादन सिद्धात माग की दृष्टि से व्याज की व्याख्या करने की चेष्टा करता है, और त्याग सिद्धात पूर्ति की दृष्टि से समस्या का समाधान करता है। सीनियर (Senior) ने सर्वप्रथम बताया कि बचत मे 'त्याग' का अश निहित है। बचत उपभोग के त्याग का एक कार्य है। चूकि त्याग करने मे कष्ट होता है, इसलिये उसके लिए लोगो को कुछ प्रतिदान या पुरस्कार चाहिए। आय का एक अश व्यय करने की अपेक्षा बचत करने वालो को व्याज के रूप मे यह पुरस्कार मिलता है।

त्याग के सिद्धात की इस तर्क से आलोचना की गई है कि इसमे कष्ट उठाने का भाव सन्निहित है, जब कि बहुत से धनी लोग बिना किसी प्रकार की असुविधा के ही बचत कर लेते है। इसलिये मार्शल ने 'त्याग' के स्थान पर 'प्रतीक्षा' शब्द रख कर बचत मे प्रतीक्षा का भाव सन्निहित कर दिया। जब कोई आदमी बचत करता है, तो वह उपभोग का सर्वदा के लिए परित्याग नही करता। वरन् वह केवल वर्तमान उपभोग को किसी भावी समय या तिथि के लिए स्थगित कर देता है। इस बीच उसे प्रतीक्षा करनी होती है। किंतु, चूकि अधिकाश लोग प्रतीक्षा करना पसन्द नही करते इसलिये इस उपभोग को स्थगित करने के लिये प्रोत्साहन रूप मे किसी प्रलोभन की आवश्यकता होती है। व्याज वह प्रलोभन है।

सभी उत्पादन क्रियाओ मे प्रतीक्षा निहित है। बीज बोने और फसल काटने मे, निर्माण करने और बिक्री की रकम पाने के बीच मे भी समय का व्यवधान रहता है। इस प्रकार प्रतीक्षा उत्पादन का एक पृथक् तत्व है, जो उत्पादन की अधिक चक्रपूर्ण प्रणाली के कारण पूजीवादी समाजो मे अधिक महत्वपूर्ण है।

कुछ प्रतीक्षा व्याज प्राप्ति के प्रलोभन के बिना भी हो सकती है। कुछ लोग व्याज की नकारात्मक दर तक भी प्रतीक्षा कर सकते है। परन्तु इस प्रकार की बचत पूजी की माग को पूरा करने के लिये पर्याप्त नही होती। अन्य लोगो को बचत के लिये प्रलोभन के रूप मे व्याज देना ही चाहिए और उस दशा मे प्रतीक्षा करने मे असुविधा होगी ही। बचत की सीमान्त वृद्धि या प्रतीक्षा को उत्पादन की माग की पूर्ति के लिए अग्रणी करने के निमित व्याज की दर भी पर्याप्त ऊची होनी चाहिए। व्याज की दर उसी स्तर पर नियत की जायगी, जिसमे प्रतीक्षा की पूर्ति माग के समान होगी।

इस सिद्धात मे सचाई का पर्याप्त अंश है, किंतु यह उस शक्ति का स्पष्ट विश्लेषण

नही करती जो कि पूजी के लिए माग के पक्ष म क्रियाशील है।

६. व्याज का आस्ट्रियन या एगियो सिद्धांत (The Austrian or Agio Theory of Interest)—इसको मनोवैज्ञानिक सिद्धात भी कहते है। पहले इसे "जान रे" ने सन् १८३४ मे प्रस्तुत किया और उसको अन्तिम रूप आस्ट्रिया के प्रमुख अर्थशास्त्री बाम बावर्क ने दिया। बाद मे साधारण सशोधनो के साथ यह सिद्धांत फिशर आदि अन्य अमरीकन अर्थशास्त्रियो मे भी लोकप्रिय हो गया।

बाम बावर्क के सिद्धातों का सार यह है कि व्याज की उत्पत्ति इसलिये होती है कि लोग भविष्य की अपेक्षा वर्त्तमान सामग्री की अधिक इच्छा रखते है। इससे विद्यमान वस्तुओं का महत्व बढ जाता है। "नौ नकद न तेरह उधार" की कहावत इस बात की पुष्टि करती है। भविष्य के सतोष की अपेक्षा वर्त्तमान के सतोष को अधिक महत्व दिया जाता है। दूसरे शब्दो मे, वर्त्तमान के दृष्टिकोण से देखने पर भविष्य के सतोष का मूल्य कम होता है। व्याज इसी घाटे की पूर्ति करता है, जो जरूर दिया जाना चाहिए, जिससे लोग रुपया उधार देने अथवा वर्त्तमान सतोष को भविष्य की तिथि के लिए स्थगित करने के लिये आकर्षित या प्रलुब्ध किए जा सके। व्याज भविष्य के संतोष को वर्त्तमान सतोष के समकक्ष बनान के उद्देश्य से दिया जाता है। इस प्रकार वर्ष भर के अन्त के १०० रुपये इस समय के १०० रुपये के बराबर नही समझ जाते। इस समय किसी को सौ रुपये दे देने को आकर्षित करने के लिए वर्ष भर के बाद केवल सौ रुपया वापस करने का बचन देना पर्याप्त नही है। उधार लेने वाले को कुछ और अधिक देना होगा। अन्यथा उधार देना वाला समझेगा कि वह घाटे मे है। ऋण देने वाले को इस समय के सौ रुपये वर्ष भर के बाद केवल ९५ रुपये ही लग सकते है। इसलिये यदि आज ९५ रुपये दिए जाते है, तो ऋणदाता वर्ष भर बाद १०० रुपया पाने की आशा करेगा।

लोग भविष्य की सतुष्टि की अपेक्षा वर्त्तमान की सतुष्टि को क्यो अधिक पसन्द करते है? बाम बावर्क ने इसके तीन कारण बताए है, एक तो भविष्य के मूल्याकन को कम करना है। दूसरे शब्दों मे, भविष्य स्वभावत: वर्त्तमान की अपेक्षा कम निश्चित प्रतीत होता है। दूसरे, वर्त्तमान की आवश्यकताओं एव प्रभावो का अनुभव भविष्य की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है। परिणाम यह होता है कि वर्त्तमान वस्तुओ की माग भविष्य की वस्तुओ की अपेक्षा अधिक होती है। इसलिये माग को देखते हुए वर्त्तमान वस्तुए भविष्य की अपेक्षा दुर्लभ होती है। इसलिये उनकी कीमत अधिक आकी जाती है। तीसरे, वर्त्तमान वस्तुए भविष्य की अपेक्षा उपयोगिता मे अधिक ऊची और अधिक महत्व की होती है। यह इसलिये होता है कि समय उत्पादन की चक्रपूर्ण प्रणालियो के अधिक उपयोग का अवसर देता है, जिनसे वर्त्तमान से तुलना करते हुए भविष्य तक अधिक सामग्री का निर्माण किया जा सकता है। फिर इस तीसरे तर्क की सत्यता को

फिशर स्वीकार नही करते, परन्तु पहले दो से वह सहमत है। उनका कहना है कि तीसरा तर्क तो उत्पादन सिद्धात ही है जिसका वाम बावर्क ने स्वय जोरदार खंडन किया है।

७. फिशर द्वारा इस सिद्धांत का प्रतिपादन (Fisher's Statement of the Theory)—फिशर समय की पसन्दगी (Time preference) पर जोर देते है। लोग भविष्य की अपेक्षा उसी प्रकार के समान वर्त्तमान सतोष को अधिक पसन्द करते है। इस प्रकार वे अपनी आय को उसी समय व्यय करने के लिये व्यग्र रहते है। यह व्यग्रता की मात्रा, आय की मात्रा, आय के वितरण का काल तथा उससे भविष्य मे सन्तोष पाने की निश्चिन्तता की मात्रा, व्यक्ति के स्वभाव एव चरित्र पर निर्भर करती है। अधिक आय वालो की वर्त्तमान आवश्यकताओ का सतोष अधिक पूर्णता के साथ हो सकता है, और इस प्रकार वे गरीबो की अपेक्षा भविष्य की दर कम आँकेगे।

आय के काल-वितरण के सबध मे तीन स्थितियो का अनुमान किया जा सकता है। किसी की आय जीवन-भर बराबर रह सकती है, आयु के साथ बढ सकती है, तथा आयु के साथ घट सकती है। यदि वह एक समान है, तो व्यय करने की व्यग्रता भविष्य को बट्टा करने की दर, आय की मात्रा तथा व्यक्ति के स्वभाव से प्रभावित एवं निर्धारित होगी । यदि आयु के साथ अधिक होती है, तो इसका अर्थ यह है कि भविष्य अच्छी तरह सुरक्षित है। तो उस दशा मे भविष्य की दर ऊंची करने की प्रवृत्ति होगी। यदि आय उम्र बढने के साथ घटती है, तो इसके विपरीत होगा अर्थात् भविष्य का मूल्याकन अल्प दर से किया जायगा।

जहा तक निश्चितता की मात्रा का संबध है, यह स्पष्ट है कि आय से भविष्य मे सतोष पाने की जितनी ही अधिक निश्चितता होती है, उतनी ही अवधि-अधिमान या भविष्य के मूल्याकन की मात्रा कम होती है और उससे विपरीत भी होता है। व्यक्ति के आचरण का भी समय की पसन्दगी पर प्रभाव पडता है। एक भविष्यद्रष्टा व्यक्ति अपव्ययी की अपेक्षा भविष्य का मूल्यांकन कम दर पर करेगा।

इस प्रकार, व्यक्तिगत अवधि-अधिमान इस तरह निर्धारित होने के बाद व्याज की दर के समान हो जाती है। एक व्यक्ति, जो बाजार की व्याज दर की अपेक्षा अवधि-अधिमान की अधिक ऊची दर रखता है, वह अपनी तीव्र आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये ऋण लेने को प्रेरित होता है। यदि उसकी अवधि-अधिमान की दर बाजार की व्याज दर से कम होती है, तो वह ऋण देगा और इससे लाभ उठायेगा। इस प्रकार व्यक्ति अपनी आयधारा का प्रभाव उधार देकर या उधार लेकर परिवर्तित करेगा। इस क्रिया से व्याज की दर अवधि-अधिमान अथवा समय की पसन्दगी की दर के समान हो जायगी।

'एगियो' सिद्धात की आलोचना इस आधार पर की गई है कि यद्यपि उस मे पूजी की माग का प्रभाव ब्याज पर पडने की बात तो स्वीकार की गई है, परन्तु इसमे पूर्ति के पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया गया है। बाम बावर्क के मत मे यह न्यायपूर्ण नही है। उन्होने व्यक्तियों द्वारा भविष्य की वस्तुओ की अपेक्षा वर्त्तमान की वस्तुओ को अधिक पसन्द करने का तीसरा कारण बताया है। उससे हम सीधे उत्पादन शक्ति सिद्धात की अपेक्षा उत्पादन शक्ति सिद्धात पर पहुच जाते है। वास्तव मे बाम बावर्क की विचारधारा का सर्वप्रमुख तर्क यह था कि उत्पादन की चक्रपूर्ण प्रणाली, जिसका अर्थ पूजी तथा समय के तत्व का उपयोग करते हुए, विशिष्ट अवस्थाओ पर उत्पादन करना है, विद्यमान साधनो की सहायता से किये गए प्रत्यक्ष उत्पादन से अधिक उत्पादन करने वाली है। इस प्रकार उच्चतर उत्पादन शक्ति के कारण ही ब्याज की उत्पत्ति होती है। **ब्रिग्स** और **जार्डन** के शब्दो मे "**बाम बावर्क** का ब्याज सिद्धात मूलत उत्पादन शक्ति सिद्धात था।"[1] यद्यपि इस बात को साधारणतया भुला दिया जाता है, तथापि विभिन्न प्रसगो मे वह अपने विचाराशो के विभिन्न पहलुओ पर विभिन्न प्रकार से जोर देते है।

८. **उप-प्रतिष्ठित सिद्धांत** (New Classical Theory)—उप-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का यह कहना था कि पूजी के सबध मे ब्याज की दर का वही कार्य है जो वस्तुओ के सबध मे कीमत का होता है—अर्थात् माग और पूर्ति के बीच साम्य स्थापित करना। किसी वस्तु के सबध मे क्या होता है? मान लो गेहू की माग पूर्ति की अपेक्षा अधिक है। इसका फल यह होगा कि कीमत गिरेगी और कम आवश्यक खरीदारो को एक तरह से चेतावनी मिल जायगी। इस प्रकार माग कम होकर पूर्ति के बराबर हो लेगी। अब मान लो पूर्ति माग से अधिक है। इससे कीमत घटेगी और माग मे वृद्धि होने से साम्य स्थापित हो जायगा। इस प्रकार कीमत के घटने बढने मे माग और पूर्ति एक दूसरे के बराबर हो जाते है। ठीक इसी प्रकार का कार्य ब्याज की दर करती है। यदि माग पूर्ति से अधिक है तो ब्याज की दर ऊची होगी। ब्याज की दर ऊची होने से माग घट कर पूर्ति के बराबर हो जायगी। यह ध्यान मे रखने योग्य बात है कि यदि माग मे स्थायी रूप से वृद्धि हुई है तो इसकी पूर्ति के लिये नई पूजी का निर्माण होगा। लेकिन इसमे समय लगेगा। तब तक इसकी पूर्ति ब्याज की दर मे वृद्धि होने से होगी। इसके विपरीत यदि पूजी की मात्रा माग से अधिक है, तो ब्याज की दर घटेगी। इससे बचत की मात्रा घटेगी और माग मे वृद्धि होगी। इस तरह पूर्ति और माग मे सामजस्य स्थापित हो जायगा। सक्षेप मे, ब्याज की दर उस स्थान पर स्थिर होगी जहा पूजी की माग और पूर्ति दोनो बराबर है।

इस सिद्धात की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की गई है :—

1. Briggs and Jordan op. cit., pp 462-63.

(१) कुछ बचत अनिवार्य रूप से हो जाती है। उस पर ब्याज की दर का कोई प्रभाव नही पडता। साम्य लाने के सबध मे ब्याज की दर की महत्ता बढा कर कही गई है। (२) एक कडी आलोचना कीस द्वारा की गई है। उनका कहना है कि इस सिद्धात मे यह मान लिया जाता है कि समाज की आय उतनी ही बनी रहती है जो कि वास्तव मे ठीक नही है। यदि आय दी हुई है तो यह सिद्धान ठीक है। उदाहरणार्थ, ब्याज की ऊंची दर से बचत मे वृद्धि होगी लेकिन इस बात को यहा भुला दिया जाता है कि इस ऊची दर का आय पर क्या प्रभाव पडेगा। ऊची दर के प्रभाव से पूजी का लगाना कम हो जायगा। इससे आय गिर जायगी और फिर बचत करने की शक्ति भी कम हो जायगी। कीस के कथनानुसार साम्य की स्थापना ब्याज की दर पर नही बल्कि आय के स्तर पर निर्भर है। उनका कहना है कि पूजी की माग ओर पूर्ति का साम्य ब्याज की दर मे परिवर्त्तन द्वारा नही लाया जाता। यह काम आय मे परिवर्त्तन द्वारा होता है।

९. कीस का ब्याज सिद्धांत—द्रवता पसन्दगी (Keynes' Theory of Interest—Liquidity Preference)—अपनी "कार्य नियोजन, ब्याज तथा द्रव्य के सामान्य सिद्धात" नामक युगातरकारी पुस्तक मे स्वर्गीय लार्ड कीस ने ब्याज के सिद्धात को एक नया दृष्टिकोण दिया। उनके मतानुसार "ब्याज एक निश्चित अवधि के लिए द्रवता के परित्याग का पुरस्कार है।"[1]

एक दिये हुए आय वाले व्यक्ति को पहले यह निर्णय करना होता है कि वह कितना उपभोग करे और कितनी बचत। पहली बात कीस के शब्दो मे, व्यक्ति की उपभोग-वृत्ति पर निर्भर करेगी। इस वृत्ति के पूर्ण होने पर व्यक्ति अपनी आय के कुछ अश को बचाएगा। अब उसे दूसरा निर्णय करना होगा। क्या वह अपने साधनो को द्रव्य के रूप मे रखे जिससे किसी भविष्य समय पर वस्तुओ, सेवाओ तथा क्रय शक्ति पर वह तात्कालिक नियन्त्रण कर सके। अपने साधनो मे से कितना वह चालू द्रव्य (नकद या बिना ब्याज के बैक मे अमानत) के रूप मे रखेगा और कितना वह उधार देगा, यह कीस के कथनानुसार द्रवता पसन्दगी पर निर्भर होगा। उधार देने की जितनी ही कम इच्छा होगी उतनी ही अधिक द्रवता पसन्दगी होगी।

किसी व्यक्ति विशेष की द्रवता पसन्दगी (Liquidity Preference) कई बातो पर निर्भर करती है। प्रश्न यह है कि लोग अपने साधनो को द्रव्य अर्थात् नकद रुपयो के रूप मे क्यो रखते है, जब कि उधार देने से उनको ब्याज मिल सकता है। इसके कई कारण होते है (१) लोग नकद इसलिये रखते है, जिससे आय की प्राप्ति और व्यय के बीच के समय का काम चलाया जा सके। अधिकाशत. लोगों को सप्ताह या महीने मे आय प्राप्त होती है, जब कि खर्च हर दिन चलता रहता है। इसलिये कुछ नकद रुपया चालू भुगतान करने के लिए पास मे रहना जरूरी होता है।

1. Keynes General Theory of Employment, Interest & Money : p. 167.

उसकी मात्रा व्यक्ति की आय, आय प्राप्त होने की अवधि, तथा स्थान-विशेष मे प्रचलित भुगतान के तरीको पर निर्भर करती है।

(२) व्यापारियो और उद्योगपतियो को भी अपन साधनों के कुछ अश को नकद रूप मे रखना होता है, जिससे विभिन्न प्रकार के भुगतान किय जा सके।

(३) अप्रत्याशित आवश्यकताओ के खर्च के लिए भी नकद रुपया रखा जाता है। एसे मौको पर ऋण लेना शायद असभव हो अथवा उसके लेने से हानि की आशका हो, जैसे कि शायद हिस्सो को हानि उठाकर बेचना पडे।

(४) कुछ लोग सट्टेबाजी के लिये भी नकद रकम रखते ह। भविष्य मे ब्याज की दर ऊची चढने की संभावना हो सकती है और ऋणदाता ऐसे अवसर से लाभ उठान की प्रतीक्षा मे हो सकता है।

पहले तीन उद्देश्यो के लिए नकद रुपये रखने पर ब्याज की दर के परिवर्त्तन का बहुत कम प्रभाव पडता है। ब्याज की दर मे आशा के अनुकूल वृद्धि होन से द्रवता पसन्दगी को प्रोत्साहन मिलेगा और उसके विरुद्ध होने से विपरीत प्रभाव पडेगा। परन्तु साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जितनी ही ब्याज की दर मे वृद्धि होती है, उतनी ही नकद रुपया रखने की प्रवृत्ति कम होती है, ओर ब्याज की दर जितनी ही कम होती है, उतनी ही द्रवता पसन्दगी कम होती है। ब्याज की दर ऊची होने से निष्क्रिय पडी हुई रकमो पर हानि की वृद्धि होगी ओर लोगो को पूजी विनियोग के लिये प्रेरित करेगी। इसके विपरीत ब्याज की कम दर से उधार देने का उत्साह कम होगा और हिस्से बेच कर नकद रुपया पाने की प्रवृत्ति बढगी। दूसरी ओर यदि ब्याज की अधिक ऊची दरे हुई तो उद्योग मे रुपया लगाने की प्रेरणा कम होगी और इस प्रकार लोगो की आय का स्तर पूजी कम लगाने के कारण कम हो जायगा। लोगो के पास रुपया कम रहेगा। इसके विपरीत ब्याज की कम दर से उद्योगो मे पूजी लगाने के लिये प्रोत्साहन मिलेगा और आय का स्तर ऊचा होगा इसलिय सौदा करने के लिय अधिक रुपये की आवश्यकता होगी और लोग अधिक रुपया रखेगे।

इस प्रकार द्रवता-पसन्दगी की एक तालिका तैयार की जा सकती है, जिससे लोग ब्याज की विभिन्न दरो पर कितना रुपया रखना चाहेंगे, इसका सकेत मिल सकता है। ब्याज की ऊची दर से इस रकम मे कमी होगी और ब्याज दर कम होने से इसमे वृद्धि होगी। इस प्रकार की सूची तैयार होने पर ब्याज की दर किसी समय पर द्रव्य की मात्रा से निर्धारित की जा सकेगी। ब्याज की दर ऐसी होगी जिससे नकद उद्देश्यों के लिये द्रव्य की माग उपलब्ध द्रव्य की पूर्ति के समान होगी। ऐसा इसलिये होता है, क्योंकि किसी समय पर द्रव्य की मात्रा अवश्य ही किसी न किसी व्यक्ति के पास होगी। ब्याज की दर अवश्य ही ऐसी होनी चाहिए, जिससे लोग कुल प्राप्त द्रव्य की मात्रा को रखने के लिये आकर्षित हो सके। यदि ब्याज की दर इस स्तर से नीची है तो

उस रकम का योग, जो लोग इस दर पर रखना चाहेंगे, कुल पूर्ति से अधिक होगा, और व्याज की दर ऊची चढ जायगी। आवश्यकता से अधिक अतिरिक्त नकद रुपया, जिसे कोई पास रखना नही चाहेगा, व्याज की दर नीची करेगा। सतुलित स्थिति में व्याज की दर ठीक उस स्तर पर होगी, जहा पर द्रव्य की मात्रा उतनी ही होगी, जितनी कि लोग कुल मिलाकर रखना चाहते है।

इसी विचार को दूसरे ढग से कहा जा सकता है। द्रव्य की पूर्ति दिये होने पर लोगों की नकद रकम रखने की इच्छा अधिक होने से वे हिस्सो को नकद के रूप में परिवर्तित करने लगेगे। हिस्सो का मूल्य कम होगा और इसलिये व्याज की दर मे वृद्धि होगी। इसके विपरीत द्रवता-पसन्दगी कम होने से लोग हिस्से खरीदने के लिये आकर्षित होंगे और हिस्सो का मूल्य बढ जायगा ओर व्याज की दर कम हो जायगी। हम जानते है कि स्थिर व्याज के हिस्सों का मूल्य व्याज की दर के अनुसार परिवर्तित होता रहता है।

१०. कीन्स द्वारा अन्य सिद्धान्तों की आलोचना (Keynes' Criticism of other theories)--कीस की पुस्तक सन् १९३६ मे प्रकाशित होने के बाद तुरन्त उनके सिद्धात के बारे मे बड़ा विवाद उठा। पहले तो यह ध्यान मे रखना होगा कि कीन्स के सिद्धान्त से व्याज का आशय रुपये की शक्ति के रूप मे स्पष्ट किया गया है, न कि वास्तविक शक्तियों के रूप मे, जैसा कि अन्य सिद्धातों मे किया गया है। अन्य सिद्धातो में व्याज को अतिरिक्त उत्पादन शक्ति, वृद्धि अथवा बचत से सबधित करके स्पष्ट किया गया है। कुछ लोगो ने बचत के प्रेरक मनोवैज्ञानिक तथ्यों का विश्लेषण किया है। कीन्स ने इस बात को स्वीकार किया है कि पूजी का सीमान्त शुद्ध उत्पादन व्याज की प्रचलित दर के समान होने की ओर प्रवृत्त होता है, परन्तु उससे व्याज की दर निर्धारित नही होती। पूजी का सीमान्त शुद्ध उत्पादन अशतः उद्योग की भावी आशाओ तथा अशतः उत्पादक पूजी सामग्रियो की कीमत पर निर्भर करता है। इन दोनो मे से किसी का भी व्याज की दर निर्धारित करने मे प्रभाव नही होता।

जहा तक बचत का सबंध है, इसके विषय मे कीन्स के मत मे व्याज बचत का पुरस्कार नही है। एक व्यक्ति अपनी बचत सग्रह कर सकता है और इतने पर भी वह व्याज अर्जित नही कर सकता। और न व्याज पूजी की मांग को बचत की पूर्ति के समान कर सकता है। निःसदेह, किसी देश मे बचत की कुल रकम उद्योग मे लगी पूजी सामग्री के मूल्य के बराबर होने की ओर प्रेरित होती है परन्तु यह बात व्याज की दर के प्रभाव से नही होती, वरन् आय के स्तरों में परिवर्त्तन द्वारा होती है। यदि रुपया बचाया जाता है, पर और आगे उत्पादन करने में नही लगाया जाता तो उपभोग्य वस्तुओं की माग गिरती है, और उन वस्तुओं के उत्पादकों की आय कम होती है और उसी मात्रा में बचत की भी कमी होती है। जब बचत को पूजी के तौर पर लगाया जाता है तब नये उद्योगों की वृद्धि से आर्थिक सक्रियता बढ़ती है, लोगों की आय बढ़ती

है और बचत में अधिक वृद्धि होती है।

११. कीन्स के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Keynes' Theory)--कीन्स के सिद्धात की एक कठिनाई उनके द्वारा बताई गई द्रव्य की परिभाषा से उपस्थित होती है। उनका कहना है कि द्रव्य का विस्तार बैंक मे जमा रकम के साथ होता है। दूसरी ओर राबर्टसन के साथ की गई अपनी बहस मे वह अपनी तालिका से साख को बहिष्कृत करते हुए प्रतीत होते है।

दूसरे, कीस ब्याज की दर को विनियोग रकम की माग से स्वतन्त्र मानते है। वास्तव मे वह उतना स्वतन्त्र नही होता। व्यवसायियो के रोकड बाकी पर पूजी लगाने के लिये धन की माग का बडा प्रभाव पडता है। पूजी की माग उसकी आन्तरिक उत्पादन शक्ति पर निर्भर करती है और इस प्रकार ब्याज की दर पूजी के सीमान्त उत्पादन से स्वतन्त्र होकर निर्धारित नही की जा सकती।

कीस का सिद्धात किसी सीमा तक बाम बावर्क (Bohm Bawerk) के एगियो के सिद्धान्त से मिलता है, जिसे बाम बावर्क भविष्य का कम मूल्याकन करना कहते है और फिशर (Fisher) जिसे समय पसन्दगी कहते है, उसी को कीस "उपभोग की प्रवृत्ति" का नाम देते है। वास्तव मे उन दोनो का आशय वर्त्तमान वस्तुओं की प्राप्ति को भविष्य की वस्तुओं की अपेक्षा अधिक पसन्द करने से है। एक ब्याज को विद्यमान वस्तुओ पर अधिशुल्क मानता है, दूसरा उसे नकदी के परित्याग का पुरस्कार समझता है। सार दोनो का एक ही है।

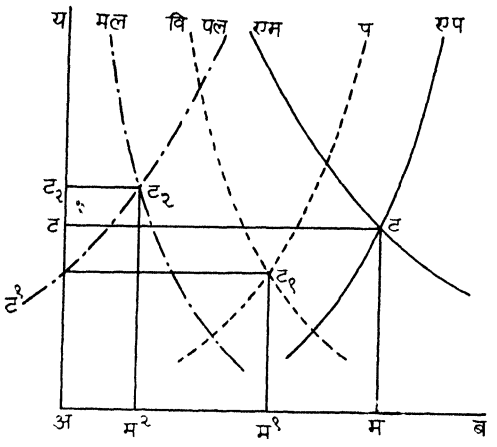
परन्तु जहा बाम बावर्क अप्रत्यक्ष रूप से पूजी की उत्पादक शक्ति को एक निर्णायक तत्व स्वीकार करते है, वहा कीस ऐसा नही मानते। कीस के मत मे चालू पूजी के इतने महत्वपूर्ण अंग नही होते कि उन्हे ब्याज की दर का निर्णायक तत्व माना जाय। वास्तव मे उन पर ब्याज का प्रभाव पडता है।

इसलिये सब मिलाकर कीन्स का सिद्धात ब्याज को स्पष्ट करने के लिय अपर्याप्त है क्योकि उसमे केवल द्रव्य के अग को विचार मे लिया गया है। वह वास्तविक शक्तिया (ऋणीय कोष से पृथक् पूजी की माग और पूर्ति) की क्रिया को प्रकाश में नही लाते। अब हम पूजी की माग और उसकी पूर्ति के पीछे काम करने वाली शक्तियो का निरीक्षण करेगे।

१२. ब्याज का विनियोग कोष सिद्धान्त (Investable Funds Theory of Interest)--इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण जे. एस. बेन द्वारा हुआ है। उनका कहना है कि किसी दिये हुए समय में ब्याज की दर विनियोग कोष की कुल मांग तथा कुल पूर्ति के साम्य द्वारा निर्धारित की जाती है। ऐसे कोषों की मांग विनियोग तथा नकद रकम की मांग होती है और पूर्ति बचत की मात्रा तथा नकद रकमों से होती है।

यह आवश्यक नही है कि व्याज की इस दर पर बचत और विनियोग एक समान हो। इन दोनो के बीच का अन्तर धन गाड़ने अथवा न गाड़ने से होता है। उदाहरण के लिये यदि बचत विनियोग से अधिक है, तो वह रकम जमा कर ली जायगी; और यदि विनियोग बचत से अधिक है, तो यह रकम जमा से निकलेगी।

हम किसी भी समय में तीन प्रकार की मांग तथा पूर्ति सूची प्राप्त कर सकते है जिनको रेखाओ में इस तरह दिखाया जा सकता है :



चित्र नं० ५५

(१) वि रेखा विनियोग की रेखा है जो विनियोग तथा उपभोग के लिये आवश्यक मांग प्रकट करती है, और प बचत की पूर्ति की रेखा है। व्याज की एक दर पर विनियोग और बचत की पूर्ति बराबर होंगे। इस चित्र मे यह दर $ट_1प_1$ के द्वारा दिखाई गई है।

(२) मांग की दूसरी सूची म ल रेखा से दिखाई गई है जो इस बात को प्रदर्शित करती है कि नकदी के रूप में रखने के लिये कितनी मात्रा की माग है; और प ल पूर्ति की रेखा है जो इस बात को बताती है कि नकदी कोष से कितनी मात्रा उपलब्ध है। व्याज की एक दर पर दोनो एक बराबर होगे। यह दर ट² म² होगी जो म ल और प ल रेखाओं के एक दूसरे को काटने के बिन्दु पर मिलती है।

(३) ए म और ए प ऊपर की दोनों सूचियों का कुल योग दिखाते है। ए म मांग रेखा है और ए प पूर्ति रेखा है। व्याज की वास्तविक दर ट म होगी क्योंकि इस पर विनियोग की कुल मांग और पूर्ति बराबर हैं। यह दर ट² म² और ट¹ म¹ के बीच में होगी जैसा कि इस चित्र से स्पष्ट है लेकिन इस दर पर बचत और विनियोग बराबर नही है। बचत और विनियोग में अन्त होने से द्रव्य आय में एक समय से दूसरे समय में परिवर्त्तन होगा। उदाहरणार्थ, यदि विनियोग बचत से अधिक है, तो द्रव्य आय में वृद्धि होगी और यदि बचत विनियोग से अधिक है तो आगे वाले समय में द्रव्य-आय अवश्य गिर जायगी। द्रव्य-आय में परिवर्त्तन उस समय तक होते रहेंगे जबतक कि बचत और विनियोग बराबर नहीं हो जाते।

१३. मांग की प्रेरक शक्तियां (Forces Behind Demand)—जब तक

हम माग और पूर्ति की प्रेरक शक्तियो पर विचार नही करते, तब तक कीमत के किसी भी पहलू को ठीक तरह से नही समझा जा सकता। सीमान्त उत्पादन का सिद्धांत अन्य कीमतो को स्पष्ट करन की तरह ब्याज की भी व्याख्या का सर्वाधिक सतोषप्रद सिद्धात है। सीमान्त उत्पादन सिद्धात एक ओर अभाव अथवा पूर्ति की मात्रा, तथा दूसरी ओर किसी वस्तु के अतिरिक्त उपभोगो, उसकी सेवा अथवा मांग के संबंध को स्पष्ट करता है। जब उसे ब्याज अथवा पूजी की सेवाओं की कीमतों पर लागू किया जाता है तो उसमें पूर्ति और माग दोनों का विचार रहता है।

मांग की दृष्टि से पूजी की आवश्यकता विभिन्न उद्देश्यों के लिये होती है, जिनमें से उत्पादन का भाग सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। परन्तु उत्पादन में भी रोजगार के अनेक रास्ते होते है, जिनमे पूजी की आवश्यकता होती है। पूर्ण-प्रतिद्वन्द्विता की अवस्था में दी हुई पूजी अपने को इस प्रकार वितरित कर लेती है कि सीमान्त उत्पादन विभिन्न उपभोगो मे समान हो जाय। यदि पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति किसी विशेष उपभोग मे ऊंची है, तो उस उपभोग की ओर पूजी तब तक आकर्षित होती रहेगी जब तक कि उसकी सहायता से तैयार की गई वस्तुएं उसके मूल्य को कम नही कर देती। और साथ ही पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति को भी। यह क्रिया तब तक चलती है, जबतक कि इस उपभोग में पूजी का लाभ उतना ही नही हो जाता जितना कि दूसरे उपभोग में होता है।

इस बात को पुनः दुहराया जा सकता है कि अतिरिक्त पूजी लगाने मे कुल उत्पादन मे वृद्धि हुई मात्रा को पूजी का सीमान्त उत्पादन कहते है।

जैसा कि पहले बताया गया है, किसी विशेष समय पर पूजी की कुल पूर्ति को दिया हुआ माना जा सकता है। इस पूर्ति का उपयोग वे करते है जो इस तरह लगाते है कि उससे पूजी की सीमान्त लागत और उसके उपयोग से हुए सीमान्त लाभ समान हो जायं। जहां तक किसी व्यक्तिगत उत्पादक का सबंध है, उसके लिए सीमान्त लागत प्रचलित ब्याज की दर के रूप में होती है। वह पूजी के विनियोग को वहा तक बढाता है, जहां तक कि सीमान्त शुद्ध आय प्रचलित ब्याज की दर के बराबर होती है। यदि ब्याज की दर गिरती है, तो वह और अधिक पजी लगायेगा और यदि दर बढती है, तो वह कम लगायेगा। वह ब्याज की दर को व्यक्तिगत रूप से निर्धारित नही करता, वरन् पूजी उधार चाहने वालो की कुल मिला कर मांग का प्रभाव ब्याज की दर पर होता है। यदि पूजी की मांग बढ़ती है, तो ब्याज की दर भी बढ़ेगी और कम होने पर गिरेगी। पूजी की बढ़ती हुई माग का अर्थ है दी गई पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति का अधिक होना, और मांग के कम होने का अर्थ है सीमान्त उत्पादन शक्ति का कम होना। इसी अर्थ में सीमान्त उत्पादन शक्ति ब्याज की दर का निर्णय करती है।

१४. पूर्ति की प्रेरक शक्तियां (Forces behind Supply)—परन्तु

पूर्ति के विषय में क्या कहा जा सकता है ? अभी तक हमने पूर्ति को दिया हुआ मान लिया था। थोडी अवधि के लिए हम पूर्ति को प्रदत्त मान सकते है, क्योकि पूजी की नई पूर्ति में समय लगता है। तो पूजी की पूर्ति पर किन बातो का प्रभाव पडता है ?

जैसा कि एक पिछले अध्याय मे बताया गया है, पूजी की पूर्ति एक तो बचत की शक्ति तथा दूसरे बचत की इच्छा पर निर्भर करती है। बचत की शक्ति तीन बातों पर निर्भर करती है : (१) कुल उत्पादन, (२) जीवन-स्तर को कायम रखने के लिये निम्नतम आवश्यकताए और (३) बैंकिग प्रणाली का विकास।

बचत की इच्छा-शक्ति चार बातो पर निर्भर करती है—(१) कानून और शान्ति (२) देश मे उपलब्ध बैंकिग की सुविधाये (३) व्याज की दर की आशाये तथा (४) अपने तथा अपने कुटुम्ब की भावी सुरक्षा।

जब बचत व्यक्तियो की अपेक्षा सार्वजनिक सस्थाओ द्वारा की जाती है, तो बचत की गई रकम अन्य बातो के अतिरिक्त उनकी नीति के ऊपर भी निर्भर करेगी।

बैंक की साख से भी द्रव्य की पूर्ति होती है। व्याज की दर और बचत के बीच के सम्बन्ध को भी समझ लेना चाहिए। कुछ लोग एक समान रकम बचायेंगे, चाहे व्याज की दर कम हो या अधिक। वे लोग कजूस हो सकते है, या गरीब। कुछ दूसरे लोग, व्याज की चाहे जो कुछ दर हो, बचत नही करेगे। वे लोग बहुत गरीब हो सकते है, या अपव्ययी। कुछ दूसरे ऐसे होगे, जो कि व्याज की दर जब कम होगी, तब अधिक बचायेगे और जब अधिक होगी तब कम बचायेगे। परन्तु सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि देश मे ऊची व्याज दर होने से बचत को प्रोत्साहन मिलता है, और कम दर का विपरीत प्रभाव होता है। यदि व्याज की दर इतने लम्बे समय तक ऊची रहती है जिससे बचत के लिए प्रेरणा होगी तो पूजी की पूर्ति बढेगी, उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति घटेगी और व्याज की दर आगे चल कर कम हो जायगी।

१५. अनिवार्य एव ऐच्छिक बचत (Forced Saving and Voluntary Saving)—हम ऊपर देख चुके है कि पूजी की पूर्ति बचत पर निर्भर करती है। स्वेच्छा से की गयी बचत और विवशता मे की गई बचत मे कभी-कभी कुछ अन्तर समझा जाता है। स्वैच्छिक बचत से तात्पर्य व्यय से बच रही आय से होता है। यह बचत की सामान्य कल्पना है। लोग इस प्रकार की बचत स्वय करते है। वे अपनी आय बढ़ाने तथा व्यय कम करने की कोशिश करते है और इस प्रकार बचत करते है। यह सब स्वेच्छा से होता है और बचत का सब से अधिक स्वाभाविक मार्ग मालूम होता है।

परन्तु अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे रकम और द्रव्य की शब्दावली मे एक नई कल्पना प्रविष्ट हुई है। वह है अनिवार्य बचत की। इस बचत का सम्बन्ध मुद्रा-प्रसार से है। मुद्रा प्रसार केवल नोट और द्रव्य बनाने वाले अधिकारियों द्वारा अधिकाधिक नोट प्रचलित करने से नही बढ़ता वरन् बैंकों द्वारा उधार देने की प्रथा से भी उनमे वृद्धि होती है। बैंक

ऋण देकर साख की सृष्टि करते है। बैंक का प्रत्येक ऋण साख की सृष्टि करता है। साख की यह कृत्रिम वृद्धि उधार लेनेवालों के हाथों में अधिक रकम दे देती है। इससे समाज में अतिरिक्त क्रयशक्ति की सृष्टि होती है। इस प्रकार चाहे मुद्रा-प्रसार सरकारी नीति का परिणाम हो, चाहे बैंक प्रथा का, उससे मूल्य बढ सकते है। कीमतों में वृद्धि से स्थायी आय वालों को बचत के लिए बाध्य होना पडता है। अनिवार्य बचत का अर्थ यह नही होता कि लोग मुद्रा-प्रसार के कारण बढी हुई आय की रकम से बचत करते है। वह तो स्वेच्छा की बचत होगी। बाध्य बचत का प्रत्यक्ष आशय यही है कि बंधी हुई आय वालों को वस्तुओं की कीमत बढ़ने के कारण विवश होकर अपने उपभोग में कमी करनी पडती है। यह तो आजकल सब को विदित ही है कि कीमतो मे असाधारण वृद्धि हुई है। क्या साधारण आय वाले प्रत्येक कुटुम्ब को अपने यहां दूध, घी, कपडे, आदि का उपभोग कम नही कर देना पड़ा है? उनको किसी-न-किसी दिशा मे अपना खर्च कम ही करना होगा, अन्यथा वे अपनी गुजर कैसे कर सकते है? यही बाध्यता की या विवशता की बचत कहलाती है।

स्वेच्छा की बचत अनिश्चित काल तक बिना किसी हानिकारक प्रभाव के चलती रह सकती है। वह तो एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है और उससे कोई क्षति नही हो सकती। स्वेच्छा की बचत स्वागत करने योग्य है और उसको प्रोत्साहित करने के लिए प्रत्येक उपाय किया जाना चाहिए। परन्तु बाध्य बचत एक कृत्रिम वस्तु है। मुद्रा-प्रसार मे बड़ी संकटपूर्ण सभावनाएं निहित रहती है। जो राष्ट्र मुद्राप्रसार का सहारा लेता है, वह एक बड़े जटिल चक्र मे फस जाता है और फिर उससे निकलना कठिन हो जाता है। यूरोप के कुछ देश प्रथम विश्वयुद्ध के समय उसमे फंस गये और उससे उनका आर्थिक पतन हुआ। कुछ दिन पहले चीन भी उसमे फसा था। जर्मनी मे मुद्राप्रसार के कारण स्थिर आय वाले वर्ग बिल्कुल दीन हो गए थे। अत्यधिक मुद्राप्रसार से आर्थिक व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त नही हो जाती वरन् उससे राज्य की सुस्थिरता तक खतरे में पड़ जाती है। इसलिए अनिवार्य बचत को संकट-रहित सीमा के अन्तर्गत ही रखना चाहिए, जबकि स्वेच्छापूर्ण बचत की कोई सीमा निर्धारित नही की जा सकती।

हम लोग इन दोनो में एक और अन्तर देखते है। अनिवार्य बचत की परिस्थिति में उपभोग रुकता है, इसलिये उपभोग की सामग्री का उत्पादन कम होने लगता है; परन्तु वस्तुओ की कीमत बढने से व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है और अधिक कारखाने खड़े किये जाते है। इसलिये उत्पादन की सामग्री में वृद्धि होती है।

अन्ततः बाध्य बचत (मुद्रा-प्रसार) कीमतों में सभी ओर वृद्धि करती है। उपभोग की वस्तुओं तथा पूजी सामग्री दोनों की कीमतें बढती है। परन्तु स्वेच्छा की बचत से उपभोग की वस्तुओं की माग कम होती है और उत्पादकों की अर्थात् पूंजी सामग्री की मांग बढ़ती है। इसलिए उसकी कीमतें उपभोग की वस्तुओं की अपेक्षा अधिक बढती हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि मुद्रा-प्रसार, जिससे बाध्य बचत की अवस्था उत्पन्न

होती है, उत्पादन सक्रियता को प्रोत्साहित करता है और वास्तविक सम्पत्ति को बढ़ाता है। जैसा कि डाक्टर हेक (Dr. Heyek) कहते है "स्थिर आय वालो की बाध्य बचत की क्षतिपूर्ति किसी सीमा तक सम्पत्ति की बढती से हो जाती है, जिसका आशय उस सम्पत्ति से है, जिसकी उपयोगिता का मूल्य बढ जाता है।" बेनहम (Benham) भी इसी प्रकार कहते है, "मुद्रा बढाने से ..... सरकार बड़ी मात्रा मे वास्तविक सम्पत्ति की वृद्धि करती है।" यद्यपि सयोजित आर्थिक व्यवस्था मे इस प्रकार कृत्रिमता से उत्पन्न किये हुए द्रव्य का उपयोग आर्थिक विकास के लिए किया जा सकता है, तथापि असीमित मुद्रा-प्रसार अन्ततः विनाशक ही होता है। समृद्धि केवल दिखावटी होती है और देश की वास्तविक सम्पत्ति में कोई वृद्धि नही होती।

१६. व्याज का निर्धारण (Determination of Interest)–मांग और पूर्ति की प्रेरक शक्तियों का अध्ययन किया जा चुका है। अब यह देखना है कि इन शक्तियो से व्याज की दर कैसे निर्धारित होती है। व्याज का निर्धारण पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति (Marginal Productivity) से होता है। सीमान्त उत्पादन शक्ति पर माग और पूर्ति दोनो का ही प्रभाव पड़ता है। माग के प्रभाव को जानने के लिए हम अपनी सुविधा के लिए मान लेते है कि पूर्ति दी हुई है। वास्तव मे दुनिया मे माग और पूर्ति के रूप बदलते रहते है। पर यह सच है कि जब समय थोड़ा होता है तो माग की पूर्ति सहज और जल्दी नही हो सकती। यदि व्याज की दर ऊची रहती है तो माग की पूर्ति बचत की वृद्धि से होती है। यदि व्याज बहुत समय तक कम दर पर रहता है तो उपभोग वृद्धि के कारण बचत कम होती है। सतुलन की अवस्था मे व्याज की दर ऐसी होती है कि माग और पूर्ति समान रहते है।

हम एक सतुलन की स्थिति से प्रारम्भ करते है। मान लो कि बचत मे आकस्मिक वृद्धि होती है और इस प्रकार पूजी की पूर्ति बढ़ जाती है, तो उससे व्याज की दर कम हो जायगी, क्योंकि पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति कम हो जायगी; अर्थात् पूजी ऐसे कामों के लिए उपलब्ध होगी, जिनमे उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति कम होगी। व्याज की दर का गिरना उस समय रुकेगा जबकि दर वहां तक पहुंच जाएगी जहा कि उसके गिरने से माग मे जो बढ़ती हुई हो, वह पूर्ति के समान हो जाय। इसके विपरीत तब होगा जबकि पूजी की पूर्ति में कमी होगी। पूजी कम होने पर ऐसे ही कार्यो में प्रयुक्त होगी, जिनमें उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति अधिक ऊंची होगी। तब व्याज की दर बढ़ जायगी। माग और पूर्ति ऊंचे व्याज की दर पर संतुलित होगे।

मांग में वृद्धि का असर वही होता है, जो पूर्ति में कमी का होता है। और माग की कमी का वही असर होता है, जो कि पूर्ति में वृद्धि का होता है।

परन्तु जब तक प्रतिद्वन्द्विता अपूर्ण रहे, पूर्ति और मांग के संतुलन म रुकावट आती रहेगी। इसका अर्थ केवल यह है कि हमें पूजी के लिए अलग-अलग बाजारों में व्यवहार

करना पड़ेगा। प्रत्येक पृथक् बाजार के लिए हमारा सिद्धान्त पूरी तरह से लागू होगा।

१७. ब्याज और अभाव का सिद्धान्त (Interest and the Scarcity Principle)—अभी तक हम मुद्रा के आधार पर बाते करते आये है, परन्तु वास्तविक पूजी (Real Capital) साधनो, सामग्रियो तथा ऐसी सेवाओं से मिल कर बनती है, जिनका उपयोग प्रत्यक्ष संतोष के लिए नही, वरन् उत्पादन को बढाने के लिए होता है। मुद्रा तो इन साधनो का केवल प्रतिनिधित्व करती है। यह एक माध्यम है, जिससे इन साधनों को विभिन्न प्रकार से उपयोग करने मे सहायता मिलती है। वास्तविक साधनो की दृष्टि से ब्याज की उत्पत्ति एक ओर तो सीमित साधनो से तथा दूसरी ओर उनके हो सकने वाले अनेक प्रकार के उपयोगो के सम्बन्ध से होती है। इस वास्तविक अर्थ मे पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति उन वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता से उत्पन्न होती है जिनके उत्पादन के लिए पूजी की सेवाए प्राप्त की जाती है। हर समाज में साधन सीमित होते है और चूंकि मनुष्य की आवश्यकताओ की कोई सीमा नही होती इसलिए साधनो को सोच-विचार कर प्रयोग करना पडता है, जिससे अधिक तीव्र मागो को कम तीव्र मागो से पहले पूरा किया जा सके। इसलिए उपलब्ध साधनो का उपयोग प्रतिद्वन्द्वी मागों से होता है। इन प्रतिद्वन्द्वी मागो को पूरा करने के लिए उनसे कैसे काम लिया जाय? उनका उपयोग इस प्रकार किया जाय जिससे समाज को उनसे अधिक से अधिक सतोष मिल सके। समाज की विभिन्न वस्तुओ एव सेवाओ की सीमान्त उपयोगिता इस बात का निर्णय करती है कि उन मे से किनका उत्पादन किया जायगा।

यदि पूजी के साधनो का उपयोग किसी विशेष प्रकार की सामग्री अथवा सेवा के लिए किया जाता है, तो उनको किसी दूसरे स्थान से हटाना पडेगा। वह कीमत जो कि इन साधनो को द्वितीय सर्वोत्तम उपयोग से हटाने के लिए दी जाती है, वह उनकी वास्तविक कीमत होती है। परन्तु विश्लेषण करने पर अन्ततः वह उन सतोषो पर आता है, जो कि उनसे वास्तव मे प्राप्त होता है। इसलिए सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त न केवल विभिन्न वस्तुओ के मूल्यो को स्पष्ट करता है. वरन् उन वस्तुओ का उत्पादन करने के लिए प्रयुक्त सेवाओ को भी, जिनमें पूजी की सेवा भी शामिल है, स्पष्ट करता है। अन्तत. ब्याज की दर से कमी की वह मात्रा ज्ञात होती है, जो उत्पादन के अन्य तत्त्वो के सम्बन्ध मे पूंजी की होती है, जब कि वह उपभोक्ताओ की विभिन्न प्रकार की वस्तुओ एव सेवाओ की प्रतिद्वन्द्वी मागो मे सहायक होती है।

१८. ब्याज की दर में परिवर्तन करने वाले तत्त्व (Factors Causing Changes in the Rate of Interest)—उपर्युक्त विवेचन से यह समझना सहज है कि ब्याज की दर मे क्यो परिवर्तन होता है। यदि पूजी की अपेक्षाकृत कमी होती है, तो ब्याज की दर मे साधारणतया वृद्धि होगी। अपेक्षाकृत कमी मांग की वृद्धि अथवा पूर्ति की कल्पना से होती है। थोड़ी अवधि में अधिक सम्भव है कि अभाव माग के पक्ष से पैदा

हो। यदि व्यापारियो को उद्योग वृद्धि अथवा अधिक ऊचे दामो और लाभ की आशा होती है, तो अल्प काल मे व्याज की दर बढेगी, क्योकि पूजी के लिए माग अधिक होगी। औद्योगिक शेयरो का मूल्य बढ जायगा, जबकि स्थिर व्याज वाली प्रतिभूतियो का मूल्य गिर जायगा, जिससे उनकी प्राप्ति मे वृद्धि होगी। यही परिणाम तब भी होते है, जब नये आविष्कारो से पूजी के उपयोग के नये और अधिक लाभप्रद मार्ग खुल जाते है।

अल्पकालीन दरो की वृद्धि पूर्ति पर प्रभाव डालने वाली बातो से भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, फसलो के खराब होने से पूजी की कमी पैदा हो सकती है। आयकर मे वृद्धि होने से लोगो की बचत की शक्ति गिर सकती है। काम के घण्टे कम करने और परिणामस्वरूप उत्पादन कम करने का भी ऐसा ही प्रभाव हो सकता है।

एक ही प्रकार के प्रभावो से अल्पावधि मे व्याज की दर कम होती है। व्यापार की मन्दी की आशंका से व्यवसाय में नई पूजी लगाने मे हिचकिचाहट होगी, स्थिर व्याज वाली प्रतिभूतियो की माग बढ जायगी, उनका मूल्य बढ जायगा, उत्पादन गिरेगा और व्याज की दर गिरेगी। जहां तक पूर्ति का सम्बन्ध है नये आविष्कारों से पूजी मे बचत हो सकती है। बहुत अच्छी फसल पैदा होने का भी पूजी की बढती हुई पूर्ति और अल्पकालीन दरों पर वही असर हो सकता है। इसी प्रकार मजदूरी मे सामान्य वृद्धि होने से आय में पूजी का भाग गिर सकता है।

अल्पकालीन दरो पर राजनैतिक बातो का भी प्रभाव पडता है। राजनैतिक सुरक्षा में सन्देह होने से उद्योग-व्यवसाय मे रुपया लगाने का उत्साह कम होगा और विनियोग के लिए माग भी घटेगी और व्याज की दर कम होगी। इसी प्रकार किसी अन्तर्राष्ट्रीय सकट से व्याज की दर बहुत कम हो जायगी। परन्तु व्याज की दर ऊंची हो सकती है, यदि इस तरह का सकट ऋण-बाजार मे उधार दी जाने वाली पूजी को कम कर दे।

अभी तक अल्पावधि की दरो के बारे मे बताया गया है। दीर्घकाल के विषय मे क्या कहा जा सकता है? हम देख चुके है कि अल्पकालीन दरों में परिवर्तन होने से उसी के समान दीर्घकालीन दरो में परिवर्तन होता है, क्योकि रुपया एक से दूसरे बाजार की ओर चलने लगता है। परन्तु फिर भी दीर्घकालीन दरो पर दीर्घकालीन तत्त्वों का जैसे कि जनसंख्या मे वृद्धि अथवा लोगों की बचत करने की आदतो मे परिवर्तन होने का असर होता है। और सब बातें समान होते हुए भी, आबादी में वृद्धि होने से अन्ततः व्याज की दरे बढ जाती है। और कमी होने से घट जाती है। दीर्घायु की आशा से बचत को प्रोत्साहन मिलता है और व्याज की दर कम होती है। इसके विपरीत भी होता है। भविष्य के विषय में अनिश्चितता होने से बचत करने के लिए उत्साह नही होगा और व्याज की दरो में वृद्धि होगी।

साधारणतया दीर्घकालीन ऋणों पर अल्पकालीन ऋणों की अपेक्षा व्याज की दर अधिक होती है। इसका कारण हम पहले ही बता चुके है। लम्बी अवधि की प्रतिभूतियों के ह्रास का भय अल्पकालीन ऋणपत्रो की अपेक्षा अधिक रहता है। इसलिए लम्बी अवधि

के ऋण मे व्याज की दर का एक अश उस आशका के बदले की क्षतिपूर्ति के रूप में होता है। जितनी ही लम्बी अवधि होती है, उतनी ही अधिक भुगतान न होने अथवा मूल्य ह्रास की आशका रहती है।

परन्तु सभव है कि कुछ दशाओ मे दीर्घकालीन दरे अल्पावधि की दरों मे कम हो। यदि रुपया लगाने वालों मे भविष्य की स्थिरता के विषय में अधिक विश्वास है, तो वे अधिक लम्बे समय के लिए कम दर पर रुपया उधार दे सकते है। लम्बी अवधि के वचनों पर अल्पकालीन ऋणो की अपेक्षा कम व्याज मिलता है, परन्तु वचनों का रुपया तुरन्त वसूल किया जा सकता है, इसलिए उनके सम्बन्ध मे रुपया ऐसा नही फंसता जो बहुत दिनो तक न निकल सके। परन्तु दूसरी ओर छोटी अवधि के बैंक के ऋण प्रायः दुहराये जाते है। जमा रकम से अधिक निकालने की व्यवस्था स्थायी हो जाती है। इसलिए अल्पावधि ऋण वास्तव मे अल्पावधि का ऋण नही होता जैसे कि दीर्घकालीन विनियोग नही होता। दीर्घकालीन ऋणो मे बाकी रकम को बार-बार लगाने की परेशानी कम हो जाती है। परन्तु अनिश्चितता की इस दुनिया मे ऐसा कम होता है।

अल्पकालीन दरो मे दीर्घकालीन दरों की अपेक्षा अधिक चढाव-उतार की सम्भावना रहती है। कारण यह है कि परिवर्तन पहले अल्पकालीन ऋण के बाजार मे होता है, और उसी के अनुसार दीर्घकालीन ऋण की व्याज दरो पर प्रभाव होने लगता है। उदाहरण के लिए, यदि अल्पकालीन दरे तेजी से बढती है, तो पूजी लगाने वाले अपनी प्रतिभूतियो को, सरकारी ऋणपत्रो को बेच कर उनके रुपयो को अल्पकालीन ऋण तथा ऐसे ही अन्य अल्पकालीन भुगतान-पत्रो मे लगायेगे। बिक्री के दबाव से प्रतिभूतियो की कीमत गिरेगी और उसी के अनुपात से उनकी आय बढ जायगी। इस प्रकार दीर्घकालीन दरे बढ जायगी। इसका उल्टा होगा यदि अल्पकालीन दरे गिरती है। लोग अपनी रकम को अल्पकालीन ऋण बाजार मे लगाने की अपेक्षा दीर्घकालीन बाजार मे लगाने की ओर अधिक प्रवृत्त होगे और दीर्घकालीन प्रतिभूतियो की माग बढने से उनके पूजी मूल्य में वृद्धि होगी। ऐसी प्रतिभूतियो की कीमत कम हो जायगी। और दीर्घकालीन व्याज की दर बढ जायगी।

१९. आर्थिक प्रगति और व्याज की दर (Economic Progress and the Rate of Interest)—आर्थिक प्रगति यात्रिक उन्नति, उत्पादन की मात्रा तथा प्रकार मे विस्तार, जीवन-स्तर मे वृद्धि, आदि बातो से जानी जाती है। आर्थिक प्रगति तथा ऊची आय होने से वस्तुओ की माग मे वृद्धि होना अनिवार्य है। इससे यह मालूम पडेगा कि जितनी ही हम आर्थिक प्रगति करेगे, उतनी ही व्याज की दर भी बढेगी। परन्तु ऐसा होता नही। आर्थिक प्रगति के साथ-साथ हमारी बचत की शक्ति और इच्छा भी काफी बढ जाती है। उपभोग की अपेक्षा उत्पादन अधिक होता है। बैंक और बीमा कम्पनियो के विकास से लोगो को रुपया लगाने के अच्छे अवसर मिल जाते है। जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा, शिक्षा मे उन्नति आदि से बचत करने की इच्छाएं और

प्रबल हो जाती है। इन सब का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि पूजी की पूर्ति मांग की अपेक्षा बहुत अधिक बढ जाती है। इसलिए ब्याज की प्रवृत्ति लगातार गिरने और घटने की ओर होती है। इगलैंड अथवा अमेरिका जैसे उन्नतिशील देशो मे कतिपय ऋणों पर तो ब्याज की दर घट कर $\frac{1}{2}$ प्रतिशत अथवा $\frac{1}{8}$ प्रतिशत रह गई है।

जैसे-जैसे कोई देश उन्नति करता जाता है, रकम गाड कर रखने की भावना कम होती जाती है और रुपया उद्योग में लगाने की इच्छा बढती है और जैसे-जैसे उद्योग मे लगाने के लिए पूजी की पूर्ति बढती जाती है, वैसे ही वैसे सीमान्त उपयोगिता और उसके कारण ब्याज की दर गिरती है।

ब्याज की दर गिरने का परिणाम धनी वर्ग की ब्याज से होने वाली आय में कमी होती है। राष्ट्रीय आय मे पूजीपति का हिस्सा कम कर देने से उत्पादन के दूसरे साधनो मे वितरण के लिए अधिक अवसर मिलता है। पूजी सामग्री की कीमत कम होने से उत्पादन कुछ सस्ता होता है, जिससे पूरे समाज को लाभ होता है।

२०. क्या ब्याज की दर शून्य भी हो सकती है? (Can there be a Zero Rate of Interest)—मिल (Mill) ने यह कल्पना की थी कि सभ्यता की निरतर वृद्धि के साथ पूजी के अधिकाधिक सचय होने से ब्याज की दर अत्यन्त कम होगी। कुछ अर्थशास्त्रियो का कहना है कि इस प्रवृत्ति के कारण ब्याज बिल्कुल लोप हो सकता है।

सिद्धान्ततः ब्याज की शून्य दर की कल्पना की जा सकती है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, लोगो की बचत की शक्ति और इच्छा बढती जाती है। शक्ति इसलिए कि उत्पादन सामर्थ्य बढता है और इच्छा इसलिए कि उन्नत लोगो में दूरदर्शिता तथा भविष्य की नीची दर पर बट्टा करने की प्रवृत्ति बढ जाती है। एक ऐसी अवस्था की कल्पना की जा सकती है, जिसमें पूजी का सग्रह पूजी की माग से अधिक हो जाय और इससे पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति शून्य हो जाय और उसे नकारात्मक कर दे अर्थात् लोग अपनी बचत को सावधानी से रखने के लिए कुछ भुगतान करने लगे।

परन्तु इस प्रकार की अवस्था का आना, यदि पूर्णतया असंभव नही, तो कठिन अवश्य है। पहली बात तो यह है कि जनसख्या के बढने के साथ पूजी के लिए मांग भी बढेगी और लोगो की आवश्यकताओं मे भी वृद्धि होगी। हम देख चुके है कि कुछ विशेष आवश्यकतायें सतुष्ट की जा सकती है परन्तु जब वे सन्तुष्ट हो जाती है, तो मनुष्य नयी आवश्यकताए अनुभव करने लगता है। इसके अतिरिक्त विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ पूजी की माग बढेगी, क्योकि उत्पादन की चक्रपूर्ण प्रणालियो का उपयोग अधिकाधिक बढ़ता जायगा। यह सच है कि नये आविष्कारो से पूजी की मितव्ययता के तरीके निकलते आयेंगे; इससे ब्याज की दर मे कमी हो सकती है। परन्तु पूजी की सीमान्त उपयोगिता फिर भी वास्तविक रहेगी, इसलिए ब्याज की दर भी वास्तविक रहेगी।

पूर्ति की दृष्टि से देखे तो हम इसी परिणाम पर पहुंचते है। कुछ लोग बचत करेगे चाहे व्याज की दर नकारात्मक अर्थात् शून्य ही हो। परन्तु यदि उपभोग को कम करने के लिए कोई क्षतिपूर्ति नही होगी तो अधिकाश बचतो मे बडी कमी आ जायगी, जिससे पूजी की अपेक्षाकृत कमी हो जायगी।

इस प्रकार व्याज की दर शून्य होने की कोई सम्भावना नही।

२१. व्याज की दर की आवश्यकता (The Necessity of the Rate of Interest)—व्याज के भविष्य के सम्बन्ध मे कुछ कहा जा चुका है। अब वर्तमान के बारे मे विचार किया जायगा। व्याज दिया ही क्यो जाय? मध्ययुग मे द्रव्य को अनुत्पादक माना जाता था और इसीलिए नैतिक दृष्टि से व्याज लेना उचित नही समझा जाता था। कुछ लोग अब भी व्याज को हर रूप मे समाप्त कर देना चाहते है। नैतिक विवाद में बिना पडे हुए, हम इस प्रश्न पर आर्थिक दृष्टि से विचार करेगे। क्या आर्थिक दृष्टि मे व्याज देना उचित है या नही? चूकि पूजी मे उत्पादक शक्ति होती है, इसलिए हम यह कह सकते है कि व्याज दिया जा सकता है। पर क्या उसे देना चाहिये? यदि वह न दिया जाय तो क्या होगा? हम इस प्रश्न का उत्तर पहले ही दे चुके है। हम व्याज की शून्य दर तभी लागू कर सकते है जब कि पूजी के अभाव की दशा समाप्त हो जाय। परन्तु जैसी कि स्थिति है, पूजी माग की अपेक्षा कम रहती है। अनेक कार्य है जिनमे पूजी का उपयोग हो सकता है। व्याज की दर इस बात का निर्णय करती है कि पूजी का उपयोग किस लिए किया जाय। कुछ उपयोगो को छोडना पड़ता है जिससे कि अधिक आवश्यक उपयोगो के लिए उसका उपयोग हो सके।

समाजवादी व्यवस्था में भी व्याज को हटाया नही जा सकता, भले ही वह व्यक्तियों को भुगतान न किया जा सके। वहा भी उसके जरिये पूजी के सीमित साधनों के विभिन्न उपयोगो के लिए प्राथमिकताओ का निर्णय करना पडेगा। समाजवादी राज्य मे सभवत. प्राथमिकताओ का क्रम पूजीवादी समाज से विभिन्न होगा, परन्तु व्याज अपना कार्य फिर भी करेगा। उसका वही काम है जो कीमत का है। वह माग का उपलब्ध पूर्ति से हिसाब बैठाता है। वह पूजी को विभिन्न उपयोगों के लिए होने वाली प्रतिद्वन्द्विताओ के बीच ठीक हिसाब से वितरण करता है। व्याज के द्वारा ही पूजी के जिस उपयोग से अधिक लाभ की आशा होती है, उसको प्राथमिकता दी जाती है। यह ठीक है कि पूजीवादी व्यवस्था मे अधिक से अधिक लाभ की कल्पना समाजवादी व्यवस्था से अलग प्रकार की होगी। पहली दशा मे उद्योग मे रुपया लगाने वाले व्यक्ति के अधिक से अधिक लाभ का विचार होगा और दूसरे मे योजना बनाने वाले अधिकारियों के लाभ का; और उसी के अनुसार प्राथमिकता का क्रम निर्धारित होगा। व्याज को समाप्त नही किया जा सकता। इसका समाजीकरण कर सकते है, बशर्तेकि आप पूजी का समाजीकरण कर डाले। जब तक पूजी का समाजीकरण नही होगा, तब तक पूजी के निर्माण के लिए व्याज अवश्य देना होगा।

इसलिए ब्याज अवश्य दिया जाना चाहिए क्योकि उधार लेने वाला उसे दे सकता है और वह ऋणदाता को अवश्य दिया जाना चाहिए, यदि उसकी पूजी की आवश्यकता है।

२२. ब्याज और लगान (Interest and Rent)—अब हम ब्याज और लगान के अन्तर को समझाने का प्रयत्न करेगे। (१) सभ्यता और आर्थिक प्रगति के साथ ब्याज की दर कम होती है जबकि लगान की दर बढती है। यह इसलिए होता है कि पूजी की पूर्ति लगातार बढती रहती है और माग से अधिक होने की ओर चलती है परन्तु भूमि की मात्रा सीमित है और बढाई नही जा सकती जबकि उसकी माग जनसंख्या की वृद्धि के साथ बढती जाती है। इसलिए लगान मे वृद्धि होती है और ब्याज में घटी।

(२) उर्वरा शक्ति तथा स्थितियो मे विभिन्नता होने से भूमि के लगान मे भी अनेक अन्तर होते है। भूमि के गुणों के अन्तर स्थायी होते है। जितनी ही अधिक प्रति-द्वन्द्विता होगी, उतना ही अधिक लगानो में अन्तर होगा। भूमि की गतिहीनता के कारण उसको एक उपयोग से दूसरे उपयोग मे परिवर्तित नही किया जा सकता, इसलिए, लगान के अन्तर स्थायी होने की ओर प्रवृत्त रहते है।

दूसरी तरफ ब्याज की प्रवृत्ति समानता की ओर होती है। केवल 'कुल' ब्याज मे खतरे तथा असुविधाजनक तत्वो के कारण अन्तर होता है। पूंजी उससे कही अधिक गति-शील होती है और इसलिए विशुद्ध ब्याज के अन्तर यदि कुछ होते भी है तो प्रतिद्वन्द्विता के कारण उनके लोप होने की सम्भावना रहती है।

(३) लगान-रहित भूमि भी होती है परन्तु ब्याज के बिना पूजी नही हो सकती। पूजी का निर्माण मनुष्य द्वारा होता है और उसकी पूर्ति की एक निश्चित कीमत होती है। जब तक वह कीमत चुकाई नही जायगी, तब तक वह नही दी जायगी। पूजी के प्रत्येक अश पर कुछ न कुछ ब्याज अवश्य होगा। परन्तु कुछ भूमि इतनी अनुपजाऊ या अनुपयोगी हो सकती है कि उस पर कोई लगान न हो। भूमि प्रकृति की देन है और कुछ न कुछ मिलने पर भी इसे हटाया नही जा सकता।

२३. ब्याज, लगान और आभास-लगान (Interest, Rent and Quasi-Rent)—कुछ अर्थशास्त्री इस बात को स्वीकार नही करते कि लगान, अर्ध-लगान तथा ब्याज में कोई अन्तर है। उनका तर्क है कि भूमि के बारे मे कोई विचित्रता नही है और यदि है भी तो उसे बहुत बढ़ा-चढा कर कहा जाता है। केवल भूमि ही प्रकृति की निर्मूल्य देन नही है, खानो की कच्ची धातुएं भी है। भूमि की तरह और भी अनेक वस्तुएं है जो सीमित है। फिर, भूमि इतनी अमर नही है जितना कि लोगों ने मान रक्खा है। उसके रासायनिक एवं अन्य तत्व निरन्तर व्यय होकर कम हो रहे है और मनुष्य द्वारा उनकी पूर्ति हो रही है। उत्पादन के अन्य साधनों में भी अन्तर का तत्व रहता है। इसलिए यह तर्क पेश किया जाता है कि पूजी लगाने से होने वाली आय चाहे वह भूमि-सदृश स्थायी वस्तुओं में लगाई जाय अथवा अर्धस्थायी या नष्ट होने वाली वस्तुओं में लगाई जाय, अर्थशास्त्र

के सिद्धान्तों की क्रिया की दृष्टि में, यह सब समान है। अभाव का सिद्धान्त मूल्य के निर्धारण करने में हर अवस्था मे लागू होता है। परन्तु इन समानताओ के कारण हमें व्याज, लगान अथवा अर्ध-लगान के अन्तर को नही भुलाना चाहिए। सब से बड़ा अन्तर परिवर्तन तत्व की पूर्ति की रकम पर होने वाली प्रतिक्रिया का होता है। लगान बढ सकता है या घट सकता है परन्तु भूमि की पूर्ति अप्रभावित रहती है और अर्ध-लगान की दशा मे भी कुछ समय के लिए पूर्ति अपरिवर्तित रहती है। परन्तु शीघ्र पुनरुत्थान की जाने वाली चीजो (पूजी) के अर्जन मे परिवर्तन होने की प्रतिक्रिया बडी शीघ्र उसकी पूर्ति पर होती है। बात यह है कि भूमि का अभाव उसका स्थायी लक्षण है, जबकि और वस्तुओ का अभाव अपवाद-स्वरूप और अस्थायी होता है।

किसी साधन की पूर्ति की अस्थिरता और उसका सतुलन स्थिर होने के लिए आवश्यक समय के कारण लगान, आभास-लगान और व्याज मे अन्तर होता है। यदि किसी साधन की पूर्ति स्थिर होती है, जैसी कि भूमि की अल्प तथा दीर्घकाल दोनो के लिए होती है, तो उससे होने वाली आय लगान के तौर पर होती है। यदि पूर्ति अल्पावधि के लिए अपरिवर्तनशील होती है, जैसे कि मशीनो की होती है तो आय अर्ध-लगान कहलाती है। परन्तु यदि किसी साधन की पूर्ति अल्प तथा दीर्घ दोनो काल मे परिवर्तनशील होती है, तो उससे होने वाली आय व्याज कहलाती है।

परन्तु मार्शल जैसे कुछ अर्थशास्त्री कहते है कि ये अन्तर मात्रा के है, प्रकार के नही। वे कहते है कि "धीरे-धीरे चल पूजी पर व्याज और पुरानी पूजी के लगाने से प्राप्त अर्ध-लगान एक दूसरे से मिल जाते है। भूमि का लगान भी स्वय कोई स्वतन्त्र वस्तु नही है, वरन् एक बडी जाति की ही एक शाखा है।" परन्तु मात्रा का यह अन्तर भी व्यावहारिक नीति और कर के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है।

२४. व्याज पर द्रव्य के मूल्य मे परिवर्तन होने का प्रभाव (Effect of Changes in the Value of Money on Interest)—द्रव्य के मूल्य का अर्थ होता है उसकी क्रय-शक्ति, जो फिर कीमतो के स्तर पर निर्भर होती है। यदि कीमते बढती है, तो द्रव्य कम खरीद सकता है अर्थात् द्रव्य का मूल्य कम होता है। इसके विपरीत जब कीमतें गिरती है, तो द्रव्य का मूल्य बढता है।

अब हमे देखना चाहिए कि द्रव्य के मूल्य मे अथवा कीमतो मे परिवर्तन होने से व्याज की दर पर क्या प्रभाव पडता है।

जब कीमते ऊची होती है, तो व्यापारियो को बडा लाभ होता है। पूजी की माग बढ़ती है और व्याज की दर भी बढती है। कीमतें बढने पर ऋणदाता को घाटा होने से वे अपनी क्षतिपूर्ति करने का प्रयत्न व्याज की दर बढा कर करेगे। फिर कीमतो मे निरन्तर वृद्धि होते रहने से वर्तमान में वस्तुओ की प्राप्ति को भविष्य की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। इस प्रकार आस्ट्रियन या एगियो सिद्धान्त की दृष्टि मे व्याज की दर बढेगी। जब

वस्तुओं की कीमत बढने के साथ द्रव्य का मूल्य बढता है, तो पूजीपतियों को रुपया बचाने के लिए आकर्षित करने को प्रलोभन की आवश्यकता पड़ती है। जब तक वह प्रलोभन नही होगा तब तक पूजी की पूर्ति कम बनी रहेगी। माग वही रहने पर, व्याज की दर में वृद्धि अवश्य होनी होगी।

दूसरी ओर जब कीमते गिरती है, तो साधारणतया व्याज की दरे भी गिरने लगती है। द्रव्य की क्रय-शक्ति बढने से ऋणदाता व्याज की कम दर पर भी सन्तोष कर लेगे। ऋणी भी अधिक व्याज देने मे समर्थ नही होंगे, क्योकि जब कीमतें गिरती है, तो ऋण का बोझ बढता है। कीमतें गिरने से व्यापार मे रुपया लगाने का साहस भी हतोत्साह नही होता है। पूजी की माग कम होती है और ऐसी दशा में व्याज की दर गिरेगी।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते है कि अप्रत्यक्ष रूप से व्याज की दर द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन के अनुसार तथा प्रत्यक्षतः वस्तुओं की कीमत के स्तर मे परिवर्तन होने के अनुसार बदलती है।

२५. व्याज की दर में परिवर्तन के परिणाम (Consequences of Changes in Interest Rates)––व्याज की दरो मे बढती और घटती होने से कई प्रतिक्रियाएं होती है। व्याज की दर मे वृद्धि होने के कुछ परिणाम, सक्षेप मे, निम्न-लिखित होते है :––

(१) व्याज की दर बढने से वस्तुओ का संग्रह अधिक महंगा हो जाता है। सट्टे-बाज और मध्यवर्ती व्यापारी हतोत्साह होते है। कच्चे माल तथा अर्धनिर्मित माल की मांग कम हो जाती है और परिणामस्वरूप उनकी कीमतें गिरने लगती हैं।

(२) व्याज की दरे बढ़ने पर उत्पादन लागत भी बढ़ जाती है। यदि मकानों का किराया नही बढता तो गृह-निर्माण कम होने लगता है। जब तक लाभ की दरें नही चढ़ती, तब तक कारखानों के लिए भी मांग नीचे गिरती रहेगी।

(३) व्याज की दर बढने पर पूजीपति भी तब तक कम ही उधार लेगे जब तक उसे बहुत बडे लाभ की आशा न होगी। इससे औद्योगिक एवं व्यावसायिक विकास में बाधा पडेगी।

(४) व्याज की दर बढने से बचत करने को प्रोत्साहन मिलेगा और कालातर मे पूजी की पूर्ति मे वृद्धि होगी।

(५) बचनपत्रों की कीमतों में कमी हो जायगी क्योकि ऊंचे व्याज पर अपेक्षाकृत कम रकम लगाने से भी वचनपत्रों से उतना ही व्याज मिलेगा।

व्याज की दर कम होने से निम्नलिखित विपरीत परिणाम होंगे :––

(१) स्थिर व्याज के वचनपत्रों की कीमत बढ जायगी।

(२) बचत करने का उत्साह कम होगा।

(३) सट्टेबाजी की वृद्धि होगी और कच्चे माल अथवा अर्धनिर्मित वस्तुओं की माग बढ जायगी, क्योकि वस्तु-सग्रह की कीमत उस अवस्था मे कम होगी।

(४) औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रगति मे सहायता मिलेगी, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल ब्याज की दर गिरने से यह नही होगा। अधिक लाभ होने की आशा अवश्य होनी चाहिये, नही तो केवल ब्याज की दर कम होने से व्यवसायी उधार लेने के लिए आकर्षित न होगे। घोडे को जल के पास ले जाया जा सकता है, परन्तु उसे पानी पीने के लिए बाध्य नही किया जा सकता।

(५) भवन-निर्माण को प्रोत्साहन मिलेगा।

(६) यदि ब्याज की दर स्वैच्छिक बचन के कारण गिरी होगी तो उपभोक्ता सामग्री की माग कम होगी और उत्पादन सामग्री के लिए बढेगी। उत्पादन के साधन उत्पादन सामग्री के उद्योग की ओर प्रवाहित होगे।

(७) यदि ब्याज की कम दर पूजी की पूर्ति अधिक होने से है, तो उत्पादन के अन्य साधनो के साथ पूजी का अधिक उपयोग होने से उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति में वृद्धि होगी। इससे लगान और मजदूरी बढेगी।

(८) कारखानो मे वस्तुए अधिक बनने से चीजे सस्ती होंगी और इससे उपभोक्ता को लाभ होगा।

निर्देश पुस्तकें

Benham, F.—Principles of Economics.

Readings in Business Cycle Theory.

Meyers, A. L.—Elements of Modern Economics, 1951, ch. 17.

Tarshis, L.—Elements of Economics, 1946, ch. 25.

Bain, J. S.—Pricing Distribution and Employment, 1948, pp. 384—395.

Fisher, J.—The Nature of Capital and Interest.

Cassel, G.—Nature and Necessity of Interest.

Stigler, G. J.—Production and Distribution Theories.

Wilson, T.—Fluctuations in Income and Employment, chs. 1. 2 3.

Lakshmi Nara Simhan, S.—Theories of Interest.

Hess & Others—Outside Readings in Economics, 1951.

Hicks, J. R.—"Mr. Keynes and the Classics" Econometrica, 1936.

Richard Youngdahl on "the Structure of Interest Rates on Business Loans at Member Banks" Federal Reserve Bulletin, July 1947, pp. 803-807.

अध्याय ३१

लाभ

(PROFITS)

१. भूमिका :—लाभ साहसी का या उसके कार्यो का पुरस्कार है। ड्रकर (Druker) के शब्दो मे "पिछली लागत पर वर्तमान आय की बढौती को लाभ कहते है। यह वर्तमान आय को पिछले औसत से तुलना कर के मापा जाता है।" व्यापारिक दृष्टि से लाभ का यही अर्थ होता है। परन्तु औद्योगिक दृष्टिकोण इससे भिन्न है; यह व्यक्तिगत होने के बजाय सास्थीय है। उत्पत्ति एक विस्तृत विधि है जब कि व्यापार अति सन्निहित विधि है। अतएव औद्योगिक अर्थव्यवस्था भविष्य पर अधिक ध्यान देती है। औद्योगिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से लाभ वर्तमान लागत तथा वर्तमान उत्पत्ति की भिन्नता से मालूम किया जाता है और यह व्यवसाय मे रुके रहने के लिए भावी लागत पर एक प्रकार का पारितोषिक है। और भावी-लागत का आशय व्यवसाय मे होने वाले विभिन्न प्रकार के जोखिमो से है। लाभ का अध्ययन कठिनाइयो से परिपूर्ण है। ये कठिनाइयां मुख्यतः दो कारणो से उपस्थित होती है। पहला यह कि लगान, मजदूरी व ब्याज के सम्बन्ध मे पूर्ति व माग के सिद्धान्त को लागू करना सरल है। हर वस्तु का स्वामी विक्रेता है और साहसी उनकी सेवाओ का खरीदार है। उपक्रमी या साहसी की सेवाओ को कौन खरीदता है ? यह कठिनाई तब अंशत: दूर हो जाती है, जब हम यह अनुभव करते है कि अन्त में सभी चीजे समाज द्वारा खरीदी जाती है। केवल अन्तर यह है कि जब भूमि, श्रम व पूजी के सम्बन्ध मे समाज उपक्रमी के द्वारा कार्य करता है, तो उपक्रमी के सम्बन्ध मे उपक्रमियो मे होने वाली प्रतिद्वन्द्विता ही अन्ततः उत्पादन के विशेष साधन से मिलने वाले पुरस्कार का निर्णय करती है। दूसरी कठिनाई इस बात से पैदा होती है कि जितना उपक्रमी प्राप्त करता है वह सभी लाभ नही है। उपक्रमी की निजी भूमि व पूजी के प्रतिफल का यदि काट लिया जाय, फिर भी कठिनाई दूर नही होती। व्यापक अर्थ मे इन वास्तविक प्राप्तियों मे से कुछ उपक्रमी के 'श्रम' के प्रत्याय है।

इस कठिनाई का रूप तब स्पष्ट होता है जब हम यह अनुभव करते है कि आधुनिक विश्व मे, व्यावसायिक इकाइयो मे भिन्नता होती है। कुछ व्यवसाय एक व्यक्ति द्वारा छोटे स्तर पर सचालित होते है जिनमें एक ही व्यक्ति उपक्रमी, पूजीपति आदि सब कुछ होता है। दूसरे वे बड़े व्यवसाय है जिनका सचालन ऐसी सयुक्त पूजी वाली कम्पनी द्वारा होता है जिसमे ये सभी कार्य विभक्त हो जाते है और उनको भिन्न-भिन्न व्यक्ति सम्पन्न करते है। "लाभ का कोई सरल सिद्धान्त (नियम) बनाना कठिन है। कारण, लाभ मे छोटे, स्वतन्त्र व्यापारी, बड़े मालिक, कम्पनियों के हिस्सेदार आदि सभी सम्मिलित है, जबकि उत्तरदायी प्रबन्धको

को अलग रखा गया है।"[१]

लाभ अन्य साधनों के प्रतिफल से तीन मुख्य बातो मे भिन्न होता है :—

(क) लाभ बची हुई आय है, न कि अन्य साधनों को मिलने वाली एक बंधी आय।

(ख) अन्य साधनो के पारिश्रमिक की अपेक्षा लाभ मे बहुत अधिक उतार-चढाव होता है।

(ग) लाभ ऋणात्मक भी हो सकता है, लेकिन लगान, मजदूरी और व्याज ऐसा कभी नही हो सकते।

२. कुल लाभ का विश्लेषण (Analysis of Gross Profits):— लाभ का वास्तविक स्वरूप समझने का सब से अच्छा उपाय यह है कि उपक्रमी की कुल आय का उसके विभिन्न भागो मे विश्लेषण कर लिया जाय। उपक्रमी को जो कुछ प्राप्त होता है, उस सब को "कुल लाभ" कहा जाता है। यह कई तत्वो का सम्मिश्रण होता है, जिनमे से यथार्थ लाभ एक है। यथार्थ या शुद्ध लाभ केवल उपक्रमी के कार्यों पर होने वाला प्रत्याय है। व्यापार से होने वाली कुल प्राप्तियों मे से उस रकम को निकाल देना चाहिये, जो ठेकेदारी के आधार पर प्रयुक्त उत्पादन के विभिन्न साधनो को पारिश्रमिक रूप मे दी गई है। इस प्रकार भूमि का लगान, मजदूरो का वेतन और पूंजी का व्याज घटा देना चाहिये। इसके बाद जो धन बचता है, वह व्यापार का कुल लाभ होता है। इनका निम्नलिखित रूपो मे विश्लेषण किया जा सकता है।

(१) **प्रायः व्यापार मे लगी हुई उपक्रमी की निजी पूँजी** के व्याज को भ्रम से लाभ में शामिल कर दिया जाता है, लेकिन यह लाभ नही है, क्योकि उपक्रमी अपनी पूजी को किसी अन्य को ऋण के रूप मे देकर उससे व्याज पा सकता है। इसलिए हमे व्याज की चालू दर के अनुसार कुल प्राप्ति मे से कुछ रकम घटा देनी चाहिए।

(२) **उपक्रमी की निजी भूमि के किराये** को भी लाभ मे नही शामिल करना चाहिये। वह अपनी भूमि को किसी दूसरे किरायेदार को देकर उससे किराया ले सकता था। अस्तु, उस प्रकार की भूमि का जो चालू किराया हो उसके बराबर कुल आय मे से कटौती कर देनी चाहिये।

(३) **प्रबन्ध-व्यवस्था पर वेतन के रूप में उपक्रमी द्वारा होने वाला व्यय**—यह प्रबन्धक के रूप मे उपक्रमी द्वारा किये गये श्रम का पारिश्रमिक है। वह किसी दूसरी सस्था में वेतन पर यही काम कर सकता था। इसलिये उसे वेतन दिया ही जाना चाहिये और इसको उसका वेतन समझा जाना चाहिये, न कि उसका लाभ।

उक्त तीनों तत्व वस्तुतः, उपक्रमी के पुरस्कार नही है, बल्कि पूजीपति, जमींदार व प्रबन्धक के प्रतिफल है जो बिना उपक्रमी हुए भी वह इतना प्राप्त कर सकता है।

(४) **जोखिम उठाने वाले के रूप में उपक्रमी का पुरस्कार**—जोखिम उठाने

१. Briggs & Jordan, op. cit. p. 466

का कार्य उपक्रमी को स्वय करना होता है। दुर्घटना, आग लगना आदि जैसे कुछ जोखिमों का तो बीमा किया जा सकता है लेकिन अनेक ऐसे जोखिम है, जिनका बीमा नही हो सकता और वे सब उपक्रमी को ही उठाने पड़ते है।

(५) मजदूर, पूजीपति, जमीदार, कच्चे माल की पूर्ति करने वाले तथा उपभोक्ताओं के साथ सौदा करने की अधिक योग्यता के कारण होने वाला उपक्रमी का लाभ भी शामिल है।

(६) तत्पश्चात् एकाधिकार लाभ का भी अश हो सकता है। यह लाभ अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण होते है जिसके अन्तर्गत उपक्रमी अधिक मूल्य लेकर अथवा प्रयुक्त साधनो को कम पारिश्रमिक देकर अपने लाभ को बढा सकता है।

(७) **संयोगवश होने वाले लाभ**—यह लाभ परिस्थितियो के कारण भाग्यवश अचानक हो जाते है; जैसे युद्ध छिड जाने पर युद्ध के लिये आवश्यक वस्तुओ के उत्पादको तथा अन्य वस्तुओ के उत्पादको को भी बडे परिमाण में लाभ होते है। युद्धकाल मे अनेक उपक्रमियों ने चीजो की माग और फलस्वरूप कीमत बढ जाने के कारण भारत तथा अन्य देशो मे बहुत बडे परिमाण में लाभ उठाया था। केवल थोडी-सी व्यावसायिक सस्थाएं जो भविष्य मे कीमत के ऊंचे होने का अनुमान लगा पाती है, वही लाभ उठा पाती है। समस्त रूप मे किसी उद्योग मे अलभ्य लाभ नही हो सकता। प्रत्यक्ष रूप से यदि कीमत मे वृद्धि का साधारणतया पूर्वज्ञान है तो कोई अलभ्य लाभ न होगा। यदि हम एक बहुत बडे समय में बिना पूर्वज्ञान के लाभ और हानि का अध्ययन करें तो यह लाभ समाप्त हो जायेगे। अलभ्य लाभ केवल कीमत के तुरन्त ही बढ़ने से नही होता। वे स्वाद मे परिवर्तन अथवा वस्तु के नए प्रयोग के पता लगने से माग मे आकस्मिक वृद्धि से भी हो सकते है। अलभ्य लाभ जनसख्या मे परिवर्तन से भी होगा। उदाहरणार्थ एक छोटे कस्बे में विश्वविद्यालय के खुलने से वहा के दूकानदारो को बहुत लाभ होगा। ऐसे लाभ अल्पकालिक ही होते है।

लाभ की व्याख्या में इस बात की कठिनाई होती है कि भिन्न-भिन्न लेखकों के लाभ के अध्ययन के सम्बन्ध मे समान विचार नही होते। उदाहरणार्थ, वालकर जैसे अमरीकी अर्थशास्त्री लाभ का अर्थ अपनी पूजी न लगाने वाले उपक्रमी के केवल शुद्ध लाभ से लगाते है। इसके विपरीत मार्शल जैसे अंग्रेज अर्थशास्त्री लाभ में जोखिम उठाने और प्रबन्ध करने से होने वाली आय के अतिरिक्त व्यापारी की निजी पूंजी (लगी हुई) के व्याज को भी शामिल मानते है।

अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्री लाभ-सम्बन्धी अमरीकी दृष्टिकोण को मानते है कि लाभ उपक्रमी के उन कार्यों का पारिश्रमिक है जो वेतनभोगी प्रबन्धकों को नही सौपा जा सकता। इन कार्यों में जोखिम उठाने व एकाधिकारयुक्त तथा संयोग से होने वाले लाभ तथा सौदा करने की योग्यता आदि के कार्य सम्मिलित है। कुछ अर्थशास्त्री जोखिम उठाने

व सौदेबाजी से होने वाले लाभ को उपक्रमी का "शुद्ध लाभ" मानते है। "शुद्ध लाभ वह रकम है, जो उपक्रमी को ऐसे जोखिम उठाने से प्राप्त होती है, जिन्हे माग की आशा मे उत्पादन की प्रणाली के अन्तर्गत समस्त व्यापार से अलग नही किया जा सकता।" "यह वह भुगतान है, जिसे विशेषत: जोखिम उठाने के निमित्त किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि उपक्रमी "कुछ" ऐसा कार्य करता है जिसे केवल वही कर सकता है। यह सब से आवश्यक कार्य माना जाता है। यह "कुछ" प्रबन्ध-कार्य नही हो सकता क्योकि प्रबन्धक वेतन पर रखे जा सकते है। न यह कोई ऐसा कार्य हो सकता है जिसे उपक्रमी किसी अन्य को सौप सके। अस्तु, यह कहा जाता है कि लाभ वह पुरस्कार है जो उपक्रमी को अन्तिम उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेने के लिये मिलता है।" वह उत्तरदायित्व जो दूसरो पर नही डाला जा सकता।

यह याद रखना चाहिए कि आय के अन्य सभी रूपो में लाभ सबसे अधिक अनिश्चित है। यह तभी तक रहेगा जब तक व्यवसाय मे एकाधिकार का कुछ अंश है। परन्तु एकाधिकार लाभ भी स्थानापन्न अथवा उस वस्तु की माग मे कमी के कारण के डर से दबे रहते है।

अब हम यहा लाभ के कुछ सर्वविदित सिद्धान्तो का अध्ययन करेगे।[1]

३. लाभ, जोखिम उठाने का एक पुरस्कार (Profits, a Reward for Risk-bearing) :—कुछ लोग ऐसे होते है जो कि स्वतन्त्रता को सब से अधिक मूल्यवान् समझते है। वे आदेश पाने के बजाय आदेश देना अधिक पसन्द करेगे, चाहे इसमे उन्हे थोडी कम आय की सम्भावना ही क्यो न हो। वे व्यापार से सम्बन्धित जोखिम पर ध्यान नही देते।

लेकिन बहुत से ऐसे लोग है,जो जोखिमो का ध्यान रखते है और मैदान मे आने से पहले हिचकिचाते है। जितना ही अधिक जोखिम होता है, उतनी ही अधिक लाभ की आशा रहती है। सभी व्यापार मे कम या अधिक जोखिम होता है। अत. जब तक जोखिम उठाने वाले को पर्याप्त मात्रा मे पुरस्कृत नही किया जायगा, व्यापार नही प्रारम्भ होगा। चूकि जोखिम हतोत्साहित करने वाला होता है, इसलिए उपक्रमियो की सख्या कम रहती है और जो जोखिम उठाते है, उनकी आय पूजी पर होने वाले साधारण प्रत्याय से बहुत अधिक होती है। इसलिए लाभ को जोखिम उठाने के लिये पुरस्कार माना जाता है। लाभ का यह सिद्धान्त "हाले" (Hawley)[2] के नाम से सम्बन्धित है। उनके अनुसार "लाभ उपक्रमी द्वारा जोखिम उठाने तथा उसके उत्तरदायित्व का पुरस्कार होता है।" ड्रकर चार प्रकार के जोखिम बताते हैं, पुनः स्थापना, उचित जोखिम, अनिश्चितता तथा प्रयोग से हटना। पहले को साधारणतया 'मूल्य में कमी' कहते है। इसको

१. Knight, F. H.—Risk, Uncertainty and Profit, 1940. Ch. II

२. Hawley, F. B.—Enterprise and the Productive Process, 1907.

जान करके लागत मे गिन लिया जाता है। 'प्रयोग से हटने' को गिना नही जा सकता परन्तु इसको भी लागत मे गिना जाता है। स्वच्छ जोखिम तथा अनिश्चितता लागत नही है। परन्तु लाभ के व्यय स्वरूप है। यह व्यवसाय मे रुके रहने की लागत कहा जा सकता है। प्राकृतिक जोखिम जैसे. आग, दुर्घटना इत्यादि की बीमा से रक्षा की जा सकती है। इसलिए इनका लागत मे गिना जाता है।

इसके विपरीत एक यह भी विचार-धारा है कि यद्यपि लाभ मे जोखिम उठाने का कुछ पुरस्कार सम्मिलित है तथापि उपक्रमी को जो भारी लाभ होता है, उस सबको जोखिम के साथ नही जोड़ा जा सकता। उठाये गये जोखिम के साथ उनका आनुपातिक सम्पर्क किसी भी प्रकार नही होता। इसके विपरीत कारवर (Carver) का कहना यह है कि केवल जोखिम उठाने से लाभ नही होता बल्कि लाभ इसलिए होता है कि अच्छे उपक्रमी जोखिम को कम करने मे समर्थ होते है।[1] हमको यह विरोधाभास प्रतीत होता है कि लाभ इसलिए नही होते क्योकि जोखिम होता है, परन्तु इसलिए होते है कि जोखिम को हटा दिया जाता है और उससे कोई सम्बन्ध ही नही रह जाता। इस पर भी इससे इन्कार नही किया जा सकता कि शुद्ध लाभ जोखिम उठाने का पुरस्कार है किन्तु प्रोफैसर नाईट (Prof. Knight) का कथन है कि सभी प्रकार के जोखिम लाभ के तत्व नही होते। जिन जोखिमो को पहले से जाना जा सकता है, उनका बीमा हो सकता है। यह पूरक लागत मे सम्मिलित है। इस प्रकार यह लागत के अश है, न कि लाभ के। कुछ ऐसे भी जोखिम होते है, जिनको पहले से नही जाना जा सकता और उनका बीमा भी नही हो सकता। ऐसे ही जोखिमो को उठाने के लिए उपक्रमी लाभ से पुरस्कृत किया जाता है।

४. लाभ का गतिशील सिद्धात (Dynamic Theory of Profits) ——यह सिद्धान्त अमरीकी अर्थशास्त्री श्री जे बी. क्लार्क (J. B. Clark) के नाम से सम्बन्धित है। इनका कथन है कि स्थिर विश्व मे जहा जनसख्या, पूजी, मानव इच्छाओ का परिमाण व गुण, उत्पादन की प्रणालिया, व्यापार का सगठन आदि एक सी स्थिति मे रहते है, वहा प्रतियोगिता के प्रभाव से लाभ की प्रवृत्ति लोप होने की ओर रहती है। लाभ विक्रय मूल्य व लागत के बीच के अन्तर का प्रतिनिधित्व करता है। यह लागत के ऊपर का आधिक्य या अतिरेक होता है। लेकिन सघर्षणहीन ढग पर प्रतियोगिता चलती रहे तो यह आधिक्य लुप्त हो जाता है। जहा कही आधिक्य होगा, उत्पादन मे वृद्धि होने से कीमत घटेगी। इस प्रकार आधिक्य लुप्त हो जायगा। स्थिरता की स्थिति मे लोग हर बात को जानते है और जान सकते है। ऐसी स्थिति मे कोई जोखिम या अनिश्चितता नही होती और इसलिए लाभ भी नही होता।

परन्तु हम स्थिरता की स्थिति मे नही रह रहे है। हमारा विश्व गतिशील है और

१. Carver—Distribution of Wealth, p. 274.

इसमे निरन्तर परिवर्तन होते रहते है। कुशल उपक्रमी पहले से ही इन परिवर्तनो को जानता है। वह अग्रगामी होता है और वह आविष्कार करके या अन्य किसी प्रकार से लागत को घटाकर लाभ प्राप्त करता है। परन्तु दूसरे लोग भी उसका अनुकरण करेगे और उसकी विधि को अपनायेगे। उनकी प्रतियोगिता या तो लागत बढा देगी या विक्रय-मूल्य घटा देगी, जिससे दोनो के बीच का अन्तर खत्म हो जायगा और फलस्वरूप लाभ भी। परन्तु दूरदर्शी, साहसी और कुशल उपक्रमियो के लिए अपने अनुकूल स्थिति बना कर लाभ करने के निमित्त परिवर्तनशील विश्व मे सीमारहित अवसर होते है। इनके लिए आगे बढना और लाभ प्राप्त करना केवल इसीलिए सम्भव है कि विश्व गतिशील है। स्थिरता की स्थिति मे लाभ गायब हो जायेगे और उपक्रमी व्यवस्था का वेतन ही प्राप्त करेगे।

प्रोफैसर नाईट का यह मत है कि केवल उन्ही परिवर्तनो से लाभ होगा, जिनके विषय मे पहले से कुछ नही जाना जा सकता और जिनके लिए पहले से कोई व्यवस्था नही की जा सकती। अन्य परिवर्तनो से लाभ नही होगे। उनका कहना है, "ऐसे को 'परिवर्तन' न कहेगे जिसको पहले से जाना जा सकता है। क्योकि यदि 'परिवर्तन' पहले से जान लिया जायेगा तो लाभ न होगे। जैसा कि बहुधा होता है। 'परिवर्तन' ऐसी परिस्थिति ला सकता है जिससे लाभ हो परन्तु यह तभी होगा जब वह भविष्य के विषय मे अज्ञानता लायेगा।" अतएव नाईट के अनुसार परिवर्तन के बजाय यह भविष्य की अज्ञानता अथवा अनिश्चितता है जिससे लाभ होते है।

५. लाभ, अनिश्चितता का भार उठाने का पुरस्कार (Profits, a Reward for Uncertainty-bearing) —प्रोफैसर नाईट के अनुसार जोखिम उठाने (जो उपक्रमी का विशेष कार्य है) के बजाय अनिश्चितता वहन करना ही वह कारण है जिससे लाभ होता है। हम यह देख चुके है कि कुछ जोखिम ऐसे है, जो पहले से ही विदित होते है और जिनके लिये व्यवस्था कर ली जाती है। मृत्यु के जोखिम और अग्निकाड, जहाज डूबने जैसी दुर्घटनाओ के जोखिम ऐसे है, जिनको पहले से निश्चित किया जा सकता है। बीमा कम्पनिया प्रीमियम के रूप मे प्राप्त होने वाले धन के बदले इन जोखिमो को अपने ऊपर ले लेती है। इस प्रीमियम के भुगतानो को उत्पादन की लागत मे शामिल कर लिया जाता है। इन जोखिमो के बदले मे उपक्रमी को लाभ नही मिलता। इस लिए जोखिम उठाने का काम उपक्रमी का नही बल्कि बीमा कम्पनियो का हो सकता है।

प्रोफैसर नाईट उन जोखिमो को जोखिम नही मानते जिनके विषय मे पहले से नही जाना जा सकता। वे उन्हे "अनिश्चितता" मानते है। जोखिम उन्ही खतरो को कहा जाता है, जिनके विषय मे पहले से जानकारी रहती है या जिन्हे पहले से जाना जा सकता है। उपक्रमी को अनिश्चितताओ को वहन करने का पुरस्कार मिलता है न कि जोखिम उठाने का। जिस प्रकार प्रतीक्षा करना (पूजी) उत्पादन का साधन माना गया है, उसी प्रकार अनिश्चितता वहन करने को भी उत्पादन के साधन का दर्जा दिया गया है। उत्पादन

के अन्य साधनों के समान अनिश्चितता वहन करने का भी एक पूर्ति-मूल्य होता है, अर्थात् जब तक निश्चित प्रत्याय की आशा नहीं होती, किसी भी उपक्रमी को अनिश्चितता का सामना करने के लिए प्रलोभन नहीं दिया जा सकता। एक साहसी और धनवान् उपक्रमी, जिसने अपने धन के बड़े भाग को उद्योग में लगाने का इरादा कर लिया है, बड़ी अनिश्चितता वहन कर सकता है। एक उपक्रमी जो कि अपनी पूंजी का बड़ा भाग छोटे भाग की अपेक्षा उद्योग में लगाने के लिए तैयार है, उसके लिए यह आवश्यक है कि उसे अधिक लाभ हो।

यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि अनिश्चितता वहन करने और पूंजी के मिलने से ही उपक्रमी को अच्छे लाभ के रूप में पुरस्कार मिलता है। अकेली पूंजी निर्जीव है और बिना पूंजी के अनिश्चितता वहन करना अर्थहीन है। केवल पूंजी ही जोखिम पर लगाई जा सकती है। इन दोनों का योग मुश्किल से ही होता है। कल्पनाशील मस्तिष्क के उपक्रमी के पास थोड़ी ही पूंजी हो सकती है। दूसरी ओर एक व्यक्ति असाधारण रूप में धनी हो सकता है किन्तु संभव है वह उरपोक हो।

लाभ के एक कारण के रूप में "अनिश्चितता वहन करने" के इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है ——

(१) अनिश्चितता ही केवल-मात्र वह कारण नहीं है जो उपक्रमियों की पूर्ति को सीमित करता है। पूंजी, ज्ञान एवं अवसर का अभाव, आर्थिक संघर्ष का होना आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो उपक्रमियों की पूर्ति को सीमित करते हैं।

(२) अनिश्चितता वहन करना ही उपक्रमी का कार्य नहीं है। जो लाभ वह प्राप्त करता है, वह अनेक प्रकार की सेवाओं का प्रतिफल होता है। वह उद्योग को स्थापित करता है, संगठन करता है, सौदे करता है, इत्यादि।

(३) अनिश्चितता वहन करने को उत्पादन के साधन का दर्जा नहीं दिया जा सकता। यह धन की लागत से भिन्न उस वास्तविक लागत का एक अंग है, जिसका अर्थ शक्ति लगाना, आत्मत्याग, बलिदान आदि हो सकता है। सामान्यतः वास्तविक लागत के रूप में लागत को नहीं आंका जाता। हम जानते हैं कि पूंजी उत्पादन का एक साधन है किन्तु पूंजी बचाने के लिए आत्मत्याग आवश्यक नहीं है। इसलिये अनिश्चितता वहन करने को पृथक् साधन नहीं माना जा सकता। अनिश्चितता पर विचार करने का इसके अतिरिक्त दूसरा अर्थ नहीं है कि जहां व्यापार में अनिश्चितता होती है, वहीं अधिक लाभ की भी आशा होती है।

६. एकाधिकार और लाभ (Monopoly and Profits) ——अभी तक हमने यह माना है कि नियोजक प्रतियोगिता की स्थिति में काम कर रहा है। जब प्रतियोगिता नहीं है या अधूरी अथवा दोषयुक्त है, तब उपक्रमी अपनी वस्तुओं की पूर्ति या साधनों की मांग पर प्रतिबन्ध लगाकर, यदि ऐसे साधनों को खरीदने का उसको एकाधिकार है, अतिरिक्त लाभ प्राप्त कर सकता है। यह दशा उपक्रमी की एक प्रकार से

सौदा करने की अच्छी स्थिति के कारण होती है, चाहे वह अपनी वस्तु के विक्रेता के रूप में या चाहे अपने उत्पादन के साधन अथवा उनकी सेवाओं के रूप में हो। हम यह देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता या शुद्ध प्रतियोगिता की भाँति पूर्ण एकाधिकार का भी होना मुश्किल है। वास्तविक विश्व में अपूर्ण प्रतियोगिता ही प्राय देखने में आती है। और इसलिए एकाधिकार के लाभ उतने मुश्किल नहीं है, जितना कि सोचा जाता है। वास्तव में ऐसे तत्व लगभग सभी लाभों में पाये जाते है।

नियोजकों के रूप में उपक्रमियों के बीच में प्रतियोगिता क्यों चलती है? आधुनिक विश्व में व्यवसाय अनेक प्रकार की जटिलताओं से परिपूर्ण है। इन व्यवसायों को जो सचालित कर सकते है, उनकी सख्या अधिक नहीं है, जब कि उनकी माग बहुत बडी होती है। इसलिए उत्पादन के अन्य साधनों के साथ-साथ उनका अभाव होने के कारण, वे राष्ट्रीय आय का बडा भाग प्राप्त कर लेने में समर्थ हो जाते है। यदि उनका इतना अभाव न होता, तो वे इतना अधिक लाभाश न ले पाते।

७. लाभ और मजदूरी (Profits and Wages) —लाभ और मजदूरी के सम्बन्ध का दो दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जा सकता है। प्रथम दृष्टिकोण समाजवादियों का है, और वह यह है कि लाभ मजदूरों के परिश्रम के फल का केवल एक निकाला हुआ भाग है। इस विचारधारा के अनुसार लाभ न्यायपूर्ण नहीं है, क्योंकि वे वेतन प्राप्त करने वालों पर प्रभाव डालकर उपार्जित किये जाते है। दूसरी विचारधारा प्रोफैसर टासिग की है। वे लाभ को मजदूरी का केवल एक विशेष रूप मानते है।

लाभ के सम्बन्ध में समाजवादियों की विचार-धारा के अनुसार, जो कार्ल मार्क्स द्वारा स्थापित की गई है, लाभ इसलिए होते है कि मजदूरों को उनके कार्य के मूल्य से कम दिया जाता है। यह मार्क्स के "आधिक्य मूल्य" के प्रसिद्ध सिद्धान्त से निकाला गया अनुमान है। इस पर हम पहले विचार कर चुके है। यह तर्क मुख्यत श्रम के मूल्य सिद्धान्त पर आधारित है, जिसकी हम आलोचना पहले कर चुके है। यहा इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक ही प्रकार के श्रम की मजदूरी की दर एक ही उद्योग में समान होती है, जिससे नियोजक को लाभ नहीं होता। वह भी उतनी ही मजदूरी देता है जितनी ऊचे लाभ पाने वाला देता है। अच्छा और योग्य नियोजक इसलिये ऊचे लाभ नहीं उपार्जित करता कि वह कम मजदूरी देता है, बल्कि वह अपनी अधिक अच्छी सगठन योग्यता और अनिश्चितता वहन करने की शक्ति के कारण अधिक लाभ प्राप्त करता है। वह अपने प्रतिद्वन्द्वी से कम लागत पर उत्पादन कर सकता है। यह अधिक प्रत्याय उसका लाभ होता है जो उसकी श्रेष्ठतर योग्यता का पुरस्कार है।

अब हम प्रोफैसर टासिग (Taussig) के इस मत पर विचार करेंगे कि लाभ केवल एक विशेष प्रकार के श्रम के लिए दी गई मजदूरी के समान है। टासिग का कथन है कि "लाभ मजदूरी का एक सर्वमान्य रूप है।" नि सन्देह एक व्यापारी

की आय अनियमित होती है, क्योंकि यह उत्पादन व्यय के ऊपर की बचत है, किन्तु यह आय केवल सयोग के कारण नहीं होती। यह उसकी विशेष योग्यता के प्रयोग करने का फल है। टासिग ने आगे चल कर लिखा है, "व्यवस्था के लिए वेतन प्राप्त पदो की एक बडी शृखला है, जिसमे निरीक्षक, प्रबन्धक, सभापति, फोरमैन आदि शामिल है। इन पदो पर काम करने वालो तथा स्वतन्त्र व्यवसाय प्रबन्धको मे स्थानातरण की प्रणाली निरन्तर चलती रहती है। दोनो एक ही प्रकार के कारणो से प्रभावित होते है। इसलिए मजदूरी के सिद्धान्त को प्रत्येक प्रकार के मजदूर की मजदूरी पर लागू करना चाहिए।"[१]

लाभ के स्वरूप के विषय पर हम जो विचार प्रगट कर चुके है, उनसे यह दिखाया गया है कि टासिग के इस विचार को क्यो नही स्वीकार किया जा सकता। मजदूरी और लाभ मे अनेक मौलिक अन्तर है जो इस प्रकार है :—

(१) जोखिम और अनिश्चितता का भार वहन करना उपक्रमी का मुख्य कार्य है। निश्चित रूप से, लाभ इसी कार्य का पुरस्कार है। मजदूर यह जोखिम उठाता है कि यदि उद्योग असफल रहा तो उसकी नौकरी चली जायगी। किन्तु प्रारम्भिक रूप से उसकी मजदूरी या पुरस्कार मुख्यत उसके द्वारा किये गये श्रम के लिए है। यह किसी जोखिम उठाने के लिए नही है। नियोजक की जोखिम की तुलना मे उसका जोखिम महत्वहीन है।

(२) मजदूरी की बजाय लाभ मे सयोग का तत्व अधिक होता है। मजदूरी निर्दिष्ट और निश्चित आय है जब कि लाभ अनियमित और अनिश्चित होता है। इस प्रकार मजदूरी लाभ से अधिक यथार्थ अर्थ मे "अर्जित" आय है।

(३) लाभ का एक बडा भाग प्रतियोगिता की अपूर्णताओ के कारण होता है। अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, जब कि लाभ की प्रवृत्ति बढाव की ओर होती है, तो मजदूरी की प्रवृत्ति गिरावट की ओर रहती है। इसके कारण पहले बताये जा चुके है।

इस प्रकार लाभ मजदूरी से भिन्न है। यदि हम सयुक्त पूजी कपनियो की कार्य-प्रणाली का अध्ययन करे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवस्था से सम्बन्धित लोगो की आय लाभ से किस प्रकार भिन्न होती है। सभी प्रबन्धकीय कार्य के भुगतान करने के बाद हम लाभ पर पहुचते है। जो लोग यह लाभ प्राप्त करते है, अर्थात् साधारण अशधारी, जोखिम उठाने या अनिश्चितता वहन करने के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य नही करते। अत किसी भी दृष्टि से उनकी आय को मजदूरी के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता।

८. क्या लाभ लगान का एक रूप है? (Is Profit a Kind of Rent?) —लाभ के सम्बन्ध मे एक दूसरी विचारधारा के अनुसार इसे लगान से मिलता-जुलता माना गया है। लाभ का "लगान सिद्धान्त" अमरीकी अर्थशास्त्री एफ. ए. वालकर द्वारा प्रतिपादित किया गया है। अग्रेजी अर्थशास्त्र सिद्धान्त मे उसने सर्वप्रथम पूजीपति और नियोजक मे भिन्नता के मत को निश्चित किया। उपक्रमी के लिए पूजी-

१. Taussig Principles, Vol. II.

पति होना आवश्यक नहीं है। वह बिना अपनी पूंजी का प्रयोग किये किसी व्यापार को प्रारम्भ कर सकता है।

वालकर लाभ को योग्यता का लगानस्वरूप मानते हैं। जिस प्रकार भूमि के विभिन्न वर्ग हैं, ठीक उसी प्रकार उपक्रमियों के भी भिन्न-भिन्न वर्ग हैं। कम योग्यता का उपक्रमी, जिसे वर्तमान मांग की पूर्ति के लिए उत्पादन क्षेत्र में रहना है, अपने उत्पादन की लागत को ही केवल निकाल पाता है। उसके ऊपर विभिन्न श्रेणी की योग्यता के श्रेष्ठतर उपक्रमी हैं। जिस प्रकार सीमान्त भूमि से श्रेष्ठतर भूमि में पार्थक्यपूर्ण सुविधा होती है, उसी प्रकार लाभ भी अलाभकर्ता उपक्रमी या सीमान्त उपक्रमी से अधिक योग्य उपक्रमी को पार्थक्यपूर्ण योग्यता के लिए प्राप्य पुरस्कार है। इसी प्रकार लाभ भी लगान के समान है और लगान की भांति मूल्य में शामिल नहीं होता। व्यवस्था-सम्बन्धी वेतन लाभ नहीं है। सीमान्त नियोजक केवल व्यवस्था-सम्बन्धी वेतन अर्जित करता है, और कुछ नहीं। मूल्य और लागत में थोड़ा भी विपरीत हेरफेर होने पर वह नियोजक की अपेक्षा कर्मचारी के रूप में कार्य करना अधिक पसंद करेगा। इस प्रकार उपक्रमियों की पूर्ति को जारी रखने के लिए व्यवस्था-सम्बन्धी वेतन का भुगतान करना ही होगा। अस्तु, इस प्रकार वेतन मूल्य में शामिल होता है।

इस सिद्धान्त में भी वही कमजोरी है, जैसा कि "रिकार्डो" के लगान सिद्धान्त में है। जो नियोजक परिस्थितियों में तनिक सी विपरीत उलट फेर होने पर ही व्यापार छोड़ देता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कम योग्य हो। वह योग्यता में और अधिक ऊंचा हो सकता है। तथा और अधिक लाभप्रद दूसरा काम उसे आकर्षित कर सकता है। विशेषतः यह सिद्धान्त लाभ के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या नहीं करता। यह केवल लाभ का एक मापदंड उपस्थित करता है। यह कहना गलत है कि लाभ मूल्य में शामिल नहीं होता। अल्पकाल में ऐसा नहीं होता, किन्तु दीर्घकाल में लाभ मूल्य में शामिल होता है। उपक्रमी जोखिम उठाने का आवश्यक कार्य करता है। और जब तक वस्तु का मूल्य इतना ऊंचा नहीं होता कि वह इस के लिए नियोजक की क्षतिपूर्ति करे, नियोजकों की पूर्ति घट जायगी। जब तक कि जोखिम उठाने की सेवाओं के लिए भुगतान करने की कीमतें पर्याप्त ऊंची नहीं हो जातीं, कुछ नियोजकों को भारी लाभ हो सकते हैं और कुछ दूसरों को भारी क्षति का सामना करना पड़ सकता है। दीर्घ अवधि में जब औसत लिया जाता है तब कल्पित आधिक्य गायब हो जाता है। अन्त में लाभ की मात्रा स्पष्ट करने में भी यह सिद्धान्त असफल रहता है। श्रेष्ठतर नियोजकों के अभाव के कारण लाभ की भिन्नता होती है। पर ऐसा अभाव होता क्यों है? भूमि के अभाव का कारण प्राकृतिक सीमाएं हैं। उपक्रमियों के बारे में ऐसी सीमाएं नहीं हैं। लाभ के सिद्धान्त को इस प्रकार के अभाव का स्पष्टीकरण करना ही चाहिए।

इस प्रकार लगान की भांति लाभ में भिन्नता के तत्व होने में श्रेष्ठतर उपक्रमी उच्च-

तर लाभ अर्जित करते है, लेकिन सामजस्यता का अन्त यही हो जाता है। बिना लगान की भूमि रह सकती है, किन्तु बिना लाभ के उपक्रमी नही रह सकते। लगान मूल्य मे शामिल नही हो सकता परन्तु साधारण लाभ हो सकते है। इस कारण भूमि की पूर्ति होगी, चाहे लगान हो या न हो, लेकिन उपक्रमियो की पूर्ति को तब तक कायम नही रखा जा सकता, जब तक कि लाभ का भुगतान न हो। यद्यपि प्राप्त लाभ मूल्य मे शामिल नही होते, तथापि लाभ की आशाये या प्रत्याशित लाभ मूल्य मे शामिल होते है। लेकिन दीर्घावधि मे लाभ की आशाओ को प्रभावित करके प्राप्त लाभ भी मूल्य मे शामिल हो जाते है।

२. सामान्य या साधारण लाभ (Normal Profits) —कुछ लेखक साधारण लाभ के दृष्टिकोण को व्यवहार मे लाते है। अनिश्चितता और अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण जो आधिक्य होता है, वह गतिशील या परिवर्तनशील स्थिति की घटना है। जैसा कि प्रोफैसर नाईट सकेत करते है कि साधारण लाभ समता की परिस्थिति से सम्बन्धित है और उनका सम्बन्ध ऐसी स्थिति से होता है, जिसमे परिवर्तन हो रहे है, जिसकी आशा पहले से की जा सकती है। परिवर्तन से पूर्णत खाली विश्व के सम्बन्ध मे कल्पना करना कठिन है। लेकिन हमारे अनेक समाज, विशेषत. पुराने स्थापित समाज ऐसे हो सकते है जिनमे स्थितिया स्थिर होती है और व्यवसाय के तरीके दैनिक कार्यों जैसे हो जाते है।

समतापूर्ण स्थिति या स्थिर समाज मे साधन, कम या अधिक, निश्चित हो जाते है और उनका विभिन्न उद्योगो मे इस प्रकार वितरण होता है कि उनको एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाने का उद्देश्य ही नही रह जाता। अस्तु, न्यूनतम अनिश्चितता और अपूर्ण प्रतियोगिता रहेगी। ऐसी दशा मे शुद्ध लाभ की प्रवृत्ति प्राय समाप्त होगी और उपक्रमी लोग केवल निरीक्षण का वेतन अर्जित करेगे। अत व्यावहारिक रूप मे साधारण लाभ केवल व्यवस्था-सम्बन्धी आय रह जायगी।

यदि प्रतियोगिता पर कोई रोक न हो और परिवर्तन के बारे मे पहले से आशा लगाई जा सके तो प्रगतिशील स्थिति मे भी इससे मिलते-जुलते परिणाम हो सकते है। चूकि परिवर्तनो मे समता नही होती, इसलिए उपक्रमी कुछ उद्योगो मे अन्य उद्योगो से अधिक उच्चतर लाभ अर्जित करने मे समर्थ हो सकते है।

यदि अनिश्चितता की स्थिति न भी हो तो भी गतिशील विश्व मे आधिक्य हो सकते है। यदि अवधि अल्प हो तो यह केवल अस्थायी दशा होगी। साधारण से अधिक लाभ देने वाले उद्योग, उपक्रमी की क्षमता के अन्य साधनो को आकर्षित करेगे। ऐसे उद्योगो के लाभ के दर गिरने लगेगे। जिन उद्योगो मे ऐसे साधन नष्ट होने लगते है, उनमे लाभ की वृद्धि तब तक होगी जब तक उसका साधारण स्तर नही स्थिर हो जाता। किन्तु गतिशील विश्व मे यह आवश्यक नही है कि साधारण लाभ ठेके पर रखे गये प्रबन्धक के वेतन के समान हो, भले ही उसमे अनिश्चितता न भी हो। परिवर्तन का अस्तित्व बना रहने का

अर्थ उपक्रमी पर स्थिर राज्य से अधिक उत्तरदायित्व का भार रहना होगा, भले ही उसके विषय में पहले से ही आशा लगाई गई हो। उपक्रमियों की पूर्ति को जारी रखने के लिए उनको ऐसा भार वहन करने का प्रोत्साहन दिया ही जाना चाहिए। लेकिन व्यवस्था सम्बन्धी व्यय के ऊपर उस अतिरिक्त भुगतान को प्रतियोगिता की शक्तियों की संकीर्ण सीमा के अन्दर रखा जायगा।

गतिशील विश्व में, प्रतियोगिता में भी अनिश्चितता के तत्व के साथ लाभ को स्थायी रूप से साधारण स्तर से ऊपर रखा जा सकता है। जहां एकाधिकारी के हाथों में पूर्ति है और मांग लोचदार नहीं है, वहां साधारण लाभ भी स्थायी रूप से हो सकते हैं, चाहे अनिश्चितता की स्थिति रही हो या नहीं।

यह ध्यान देने की बात है कि अनिश्चितता कोई स्थायी नहीं है। अनिश्चितता की श्रेणियां होती हैं। अनिश्चितता की जितनी ऊंची श्रेणी होगी, उतना ही लाभ अधिक होना चाहिये, जिससे उपक्रमियों के जोखिम उठाने की क्षतिपूर्ति हो सके।

१०. क्या लाभ में समानता की ओर प्रवृत्ति होती है? (Do Profits Tend to Equality?) — यहां भी हम सीधा उत्तर नहीं दे सकते। यह उस समय की परिस्थिति पर निर्भर करेगा। समता की स्थिति में निरीक्षण के वेतन के अर्थ में लाभ समान हो जायगा। शुद्ध लाभ लोप हो जायगा। ऐसे समाज में, जिसमें परिवर्तन उपस्थित है, किन्तु अनिश्चितता नहीं है, लाभ समानता की ओर जायगे, जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है। योग्यता में भिन्नता होने के कारण भिन्नताएं भी पूर्णतः अनुपस्थित रहेंगी। लेकिन प्रतियोगिता की शक्ति के द्वारा इन भिन्नताओं को संकीर्ण रखा जायगा। अतः यह कहा जा सकता है कि जितना ही अधिक उद्योग का दैनिक कार्य जैसा स्वरूप होगा, उतना ही अधिक लाभ का झुकाव समानता की ओर होगा। यदि समय लम्बा हो और प्रतियोगिता पर प्रतिबन्ध न रहे, तो अल्पकाल में असमानताएं रह सकती हैं।

परन्तु जब हम परिवर्तनशील समाज पर विचार करते हैं, जहां अनिश्चितता प्रमुख है, तो दीर्घावधि में भी लाभ का झुकाव समानता की ओर नहीं होता। यहां लाभों में पर्याप्त विभिन्नताएं हो सकती हैं। ऐसी दशा में लाभों की भिन्नता का तत्व स्पष्ट हो जाता है। भिन्नता के तत्व इसलिए रहते हैं कि अनिश्चितता की स्थिति में व्यवसाय में सफलता-पूर्वक कार्य करने के योग्य प्रतिभा का अभाव रहता है। यह अभाव उपक्रमियों की पूर्ति की स्थितियों के कारण होता है। अब हम इन स्थितियों की जांच करेंगे।

११. उपक्रमी की पूर्ति को नियन्त्रित करने वाली शक्तियां (Forces Controlling the Supply of Entrepreneurs) — उपक्रमी के व्यवसाय के प्रति जनता में आकर्षण क्यों होता है? पहला कारण स्वतन्त्रता है, जिसको लोग किसी के आधीन काम करने की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं। दूसरा कारण यह है कि इसमें ऊंचे लाभ की सम्भावना का प्रलोभन रहता है। इन आकर्षणों के विपरीत अपना

सर्वस्व गंवा देने तथा दिवालिया हो जाने का जोखिम रहता है। इसके बाद सब मनुष्यों को उत्तरदायित्व का तत्व भी नही जचता। और फिर, अनेक मामलो में व्यापार-सम्बन्धी दशाओं का ज्ञान अत्यावश्यक होना है। इस प्रकार नियोजक अधिकाशत: जनता के उस छोटे वर्ग से आते है, जो एक विशेष प्रकार के वातावरण मे बढता है।

किसी व्यवसाय का प्रधान बनने के मुख्यत: तीन मार्ग हो सकते है? (१) जन्म और पित्रागत सुविधा किसी को इस उद्देश्य के योग्य बना सकती है। उस व्यवसाय के वातावरण मे उसका विकास हो और वह अपने पिता या सम्बन्धी से इस व्यवसाय के रहस्यों को सीख सकता है। (२) सेवायुक्त प्रबन्धक व्यवसाय के ढगो को सीख लेने के बाद स्वतन्त्र नियोजक बन सकता है। (३) अद्‌भुत योग्यता के व्यक्ति भी कभी-कभी उन्नति कर जाते है और व्यवसाय के मुख्य नेता बन जाते है। लेकिन यह लम्बा और कठिन मार्ग है। और बहुत थोडे व्यक्ति इस ढग से सफलता पा सकते है। छोटे लोगो के लिए छोटे नियोजक बन जाना पूर्णत. सम्भव है। एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे गतिशीलता, एक व्यापार से दूसरे व्यापार मे होने वाली गतिशीलता की अपेक्षा बहुत धीमी होती है।

इस प्रकार योग्य और क्षमतावान् नियोजको का सदैव अभाव बना रहता है। इनकी पूर्ति अचानक नही बढाई जा सकती। कारण, इनका "उत्पादन" अत्यधिक धीमी गति से होता है। यदि लम्बा समय भी दिया जाय तो भी उन लोगो की सख्या जो नियोजक बनने के योग्य है कम ही रहेगी। इसका परिणाम यह होता है कि सगठन सम्बन्धी योग्यता की पूर्ति का स्थायी अभाव रहता है, जिसके कारण स्थायी रूप मे ऊचे लाभ होते है।

निश्चित रूप से नियोजको मे अपने-अपने स्वभाव और योग्यता मे अन्तर रहता है। कुछ अपेक्षा से अधिक सतर्क रहते है और कुछ अपेक्षा से अधिक विश्वासपूर्ण रहते है। कुछ की योग्यता अत्यन्त अधिक होती है और कुछ केवल काम चलाते रहने के योग्य होते है। साधारण योग्यता व चरित्र के नियोजको के रूप मे इन्ही कथित साधारण नियोजकों के निर्णय किसी विशेष व्यवसाय या आकर्षण के प्रतिबिम्ब होते है। यदि साधारण नियोजकों मे भय फैल जाता है तो सभवत. लाभ गिरने लगते है। यदि वे विश्वासपूर्ण है तो उद्योग भलीभाति चलता रहता है। पहली स्थिति मे साधन सम्बन्धित उद्योग से बाहर जाने लगते है। इसके प्रभाव स्पष्ट दिखाई देगे। जब लाभ कम होता है, तो सब से कम योग्य नियोजक पहले समाप्त होते है। जब लाभ ऊचे रहते है, तो योग्य प्रबन्धक स्वतत्र व्यवसाय स्थापित करना चाहता है।

पूरे औद्योगिक क्षेत्र को यदि लिया जाये तो दीर्घकाल में साधारण लाभ साधारण नियोजकों की आशाओं के और समीप होते जायेगे। यदि दीर्घकालीन लाभ इस साधारण स्तर से ऊचे है, तो नियोजको की पूर्ति बढ जायगी; और यदि वे नीचे है, तो पूर्ति सकुचित हो जायगी। इस प्रकार साधारण स्तर कायम रहेगा। नियोजकों द्वारा प्राप्त आय दीर्घकाल

में उनके शिक्षण के व्यय को पूरा कर लेगी। यदि ऐसा नही होता, तो जब तक उनका अभाव उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति को नही बढाता और उनके वेतन को आवश्यक स्तर पर नही लाता, तो अनिश्चितता के तत्त्व का स्तरीकरण नही होने देता। इसके अतिरिक्त नियोजको को क्षणमात्र मे बढाया या घटाया नही जा सकता, क्योकि वह एक बड़ी और महत्वपूर्ण इकाई मे होते है। एक इकाई को हटाने से पूरा व्यवसाय असगठित हो सकता है। इस प्रकार उत्पादन के इस साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति का नापतौल करना कठिन है।

इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि साधारण लाभ के समान साधारण नियोजक सम्बन्धी सामान्य विचार को गुण सहित स्वीकार किया जाना चाहिए। यह न्यूनतम अनिश्चितता की स्थिति धारण कर लेती है। जहा अनिश्चितता अति प्रभावशाली होगी, वहा साधारण नियोजक नही हो सकते।

१२. लाभ तथा सीमान्त उत्पादन-शक्ति (Profit and Marginal Productivity) ––क्या हम लाभ पर सीमान्त उत्पादनशक्ति का सिद्धान्त लागू कर सकते है? सामान्यत हा। सीमान्त उत्पादनशक्ति, जिसकी हम व्याख्या कर चुके है, अभाव तथा माग के बीच के सम्बन्ध की आकृति है। उपक्रमियो का अभाव क्यो है, तथा उनकी पूर्ति बढाना क्यो सरल नही है, इसके कारणो को हम स्पष्ट कर चुके है। उत्पादन की आधुनिक दशाओ मे उपक्रमियो, विशेषत अद्भुत योग्यता वाले उपक्रमियो की माग बढी है। उपक्रमियो की सीमान्त उत्पादनशक्ति ऊची है, और इसीलिए लाभ ऊचे है। जितना ही अधिक अनिश्चितता रहेगी, व्यापार को सफल बनाने के लिए पर्याप्त ऊची योग्यता के नियोजको का उतना ही अधिक अभाव रहेगा, और फलस्वरूप उतने ही ऊचे लाभ होगे।

अन्य साधनो की तुलना मे उपक्रमियो की सीमान्त उत्पादनशक्ति के सिद्धान्त को लागू करने मे केवल यही अन्तर है कि यहा प्रतियोगिता की शक्तिया प्रत्यक्षरूप मे काम करती है, जब कि अन्य साधनो के मामलो मे वे नियोजको के द्वारा कार्य करती है। अन्तिम सारतत्त्व वही है। समाज की प्रतियोगितापूर्ण मागो को सन्तुष्ट करना आवश्यक है और इस प्रकार उपक्रमी-विषयक योग्यता के वैकल्पिक प्रयोग हो सकते है। प्रतियोगिता की शक्तिया समान योग्यता के नियोजको के लाभ को समान करती है।

यह सिद्धान्त जितना स्पष्ट रूप मे मूल्य के अन्य विषयो पर लागू होता है, उतना स्पष्ट रूप मे लाभ पर नही लागू किया जा सकता। ऐसा इस कारण से कि नियोजक जटिल कार्यो को सम्पादित करता है तथा अनिश्चितता के नियोजक भी होते है, जिनको सीमान्त कहा जा सकता है। इस अर्थ मे कि वे इस सन्देह मे रहते है कि नियोजक बने रहें या वेतन-भोगी प्रबन्धक बन जाय––तथापि एक वर्ग के रूप मे नियोजको के अभाव के कारण लाभ व्यवस्था-सम्बन्धी वेतन (मजदूरी) के स्तर पर नही पहुचते।

१३. लाभ के निर्धारण-सम्बन्धी निष्कर्ष (Conclusions regarding the Determination of Profits)—अन्त मे, लाभ के निर्धारण के विषय मे हम यह कह सकते है कि कोई भी सिद्धात लाभ की व्याख्या करने के लिये उपयुक्त नही है। भिन्न-भिन्न विचार उपक्रमी के कार्यो के भिन्न-भिन्न अगो पर जोर देते है। वास्तविक कठिनाई इस बात से उपस्थित होती है कि लाभ एक ही प्रकार की आय नही है। यह उपक्रमी के कार्यों के मिले-जुले रूप के कारण मिली-जुली आय है। उदाहरणार्थ, उपक्रमी जोखिम उठाता है, अनिश्चितता वहन करता है, योजना बनाता है, सूत्रपात करता है, निर्णय करता है, आदि अनेक प्रकार के कार्य करता है। इनमे से कोई भी कार्य लाभ के वास्तविक रूप की व्याख्या नही कर सकता। विभिन्न कार्यों के, जिसके लिये लाभ भुगतान होते है, अनुसार लाभ के भागो मे इसका विश्लेषण करने मात्र से भी लाभ के निकलने की व्याख्या नही की जा सकती। एक सही सिद्धात को इस बात का स्पष्टीकरण करना चाहिए कि सगठन-सबधी योग्यता का इतना अभाव क्यो है ? इसका कारण यह है कि उपक्रमी-विषयक विलक्षण योग्यता के लिये माग को देखते हुए इसी अभाव के हेतु वह आधिक्य निकलता है, जिसे अनिश्चितता और परिवर्त्तन के आधुनिक विश्व मे शुद्ध लाभ कहा जाता है। सफल उपक्रमी के लिये अति आवश्यक योग्यताओ (कल्पना, सगठन, क्षमता, निर्णय, साहस आदि) का इतना अभाव क्यो है, इस बात का स्पष्टीकरण ऐसे सिद्धान्त को अवश्य करना चाहिए। कहा तक यह सीमा प्राकृतिक कारणो से है तथा कहा तक वातावरण के कारण ? इस सिद्धात को एकाधिकार के तत्त्व और सयोगवश होने वाली प्राप्तियो के कारण होने वाले अलौकिक लाभो की भी व्याख्या अवश्य करनी चाहिए। विशेषतया मुद्रासबधी साधनो की भी उपेक्षा नही की जा सकती और न हम समाज के वर्त्तमान अगो की भिन्नता के प्रभाव की, जो गतिशीलता और अवसर को सीमित करता है, उपेक्षा कर सकते है। इन जटिलताओ के कारण अभी तक लाभ का कोई विस्तृत सिद्धात नही निकाला गया है। सामान्यत: सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धान्त लागू होता है, किन्तु इतनी बडी परिमितताओ के साथ कि जो उसके व्यावहारिक महत्त्व को बहुत कम कर देते है।

अन्त मे, हम लाभ के सबध मे उपर्युक्त विभिन्न सिद्धातो की पुनरावृत्ति कर सकते है।

लाभ जोखिम उठाने का एक पुरस्कार है—(होले)
लाभ अनिश्चितता वहन करने का एक पुरस्कार है—(नाईट)
लाभ केवल गतिशील परिवर्त्तनों से होते है —(क्लार्क)
लाभ लगान के समान है—(वाकर)
लाभ मजदरी से निकाले जाते है। —(समाजवादी विचारधारा)

लाभ एक प्रकार की मजदूरी है—(टाजिग)

लाभ उपक्रमी की सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निश्चित होते है।

१४. लाभ के कार्य[1] (The Functions of Profit)—यह साधारणतया सोचा जाता है कि लाभ उपक्रमी को होता है तथा इसका भार उपभोक्ता अथवा साधारण जनता पर पडता है। यह अनुमान किया जाता है कि व्यक्तिगत उपक्रमी तथा सामाजिक हितों मे अथवा, पीगू के शब्दो मे, व्यक्तिगत उत्पत्ति और सामाजिक उत्पत्ति के हितों के बीच संघर्ष होना स्वाभाविक है।

परन्तु ऐसा विचार केवल एक धोखा है। सघर्ष होने के बजाए दोनो के बीच अर्थात् उपक्रमी क्या पाता है और समाज क्या देता है, बडी अनुरूपता है। झगडा केवल दिखावट के लिये है। समाज का रूप चाहे जिस प्रकार का हो—पूजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद अथवा अराजकतावाद—लाभ बडा महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी कार्य करता है। ड्रकर ने लाभ की अनुरूपता के प्रभाव को इस प्रकार बताया है :

"१. सामूहिक उपक्रम का जीवन उसके आर्थिक प्रयोग अथवा कार्य पर निर्भर है ;

२. समाज की बढती हुई माग आर्थिक प्रयोग अथवा कार्य के लिये है ;

३. समाज तथा सस्थाओ के दृष्टिकोण से आर्थिक प्रयोग अथवा कार्य की जाच लागत तथा बढी हुई उत्पत्ति है। दोनो लाभ से नापे तथा अकित किये जाते है।

परोपकार से प्रभावित उपक्रमी समाज के क्षेत्र को बढाने में अपने कर्त्तव्य, उनके साथ श्रमिक बनकर काम करने वालो तथा बजाय लाभ लेने के जनता को सुखी बनाने में अपने कर्त्तव्य के विषय में चाहे जो कुछ कहे, परन्तु आर्थिक उपक्रम का सबसे पहला कर्त्तव्य आर्थिक प्रयोग (कार्य) है, जिसका अर्थ प्रतिपादित साधनो को बनाए रखना है।" सामूहिक उपक्रम का इन साधनो को बनाए रखना अपनी ओर तथा समाज की ओर पहला कर्त्तव्य है। यदि इसमे वह असफल होता है तो यही नही कि वह अपने अतिजीवन की शक्ति को नष्ट करना है बल्कि समाज को भी कमजोर बनाता है।" उपक्रमी को अपने साधनों को बनाए रखने के लिये हानि न होने देना चाहिये तथा लाभ के साधारण दर के लिये कार्य करना चाहिये।

हर व्यक्तिगत उपक्रम का अपने अतिजीवन के संघर्ष मे (१) व्यवसाय की वर्त्तमान लागत और (२) व्यवसाय में रुकने के कारण बताए गए चार प्रकार के जोखिमों को पूरा करने का कर्त्तव्य है। परन्तु इसके अतिरिक्त दो कर्त्तव्य और है जिनको लाभ प्राप्त करने वाले उपक्रमी को पूरा करना चाहिये। एक तो ड्रकर के अनुसार 'ड्राई होल्स'

---

१ See P.F. Drucker on "The Function of Profit" in Fortune, March 1949.

भरना चाहिये, अर्थात् सामाजिक दृष्टिकोण से एक सफल उपक्रम को अकुशल उपक्रम की हानि को पूरा करना चाहिये।" जिस प्रकार कि एक सफल तेल के कुवे को असफल तेल के कुवे मे ले जाए गये नल तथा श्रम की लागत को पूरा करना पडता है, इसी प्रकार एक सफल कम्पनी को दूसरी असफल कम्पनी की आर्थिक हानि को पूरा करना चाहिये।" यह बीमा का सिद्धान्त है। व्यक्तिगत उपक्रम इन 'ड्राई होल्स' की चिन्ता चाहे न करे, परन्तु ऐसा समाज नही कर सकता। इसलिये लाभदायक उपक्रमो को 'ड्राईहोल्स' की हानियो को पूरा करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त एक और कार्य लाभ को करना चाहिये। वह है सामाजिक भार का उत्तर-दायित्व। सफल औद्योगिक उपक्रमो को सामाजिक सेवाओ अथवा सामाजिक सुरक्षा उदाहरणार्थ शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाएं, गरीबो की सहायता, बुढापे की पेशन, मातृक सहायता, रक्षा, नागरिक राज्यशासन इत्यादि की लागत का भार सहना चाहिये। इसको भी वर्त्तमान उत्पत्ति से ही निकालना होता है।

लाभ को यह चार कार्य आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिये करने पडते है। परन्तु कोई भी आधुनिक समुदाय केवल इससे सतुष्ट नही होते कि वे केवल जीवित अथवा बने रहे। उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि तथा उन्नति के लिए इसका प्रबध करना चाहिये। अर्थव्यवस्था को उत्पत्ति के केवल नये साधनो के प्रयोग से ही नही, बल्कि वर्त्तमान साधन के अच्छे प्रयोग से, विस्तार करना चाहिये। यह साधारण ज्ञान की बात है कि यात्रिक कला मे सुधार से उद्योग की सभी शाखाओ मे प्रतिमनुष्य कई गुना उत्पत्ति बढ गई है। यह सब लाभ के परिणाम है।

अन्त मे हम यह कह सकते है लाभ का दर इस बात का सूचक है कि समुदाय के साधन किस ओर प्रयोग मे लाए जाये। यह पर्याप्त साधन के अनुकूलतम बटवारे का मार्गदर्शक है। चाहे जिस तरह की आर्थिक पद्धति हो, कोई भी समुदाय अपने साधनो से अधिकाधिक लाभ उठाने की आवश्यकता को अवश्य मानेगा। बिना हानि उठाए इसे भुलाया नही जा सकता। यह हानि अर्थ-व्यवस्था का अस्त-व्यस्त होना है। साम्यवादी समाज मे भी साधन सीमित और आवश्यकताए असीमित होती है। लाभ का दर विनियोग का मार्गदर्शक है। अतएव समाजवादी अथवा साम्यवादी व्यवस्था मे भी लाभ को बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करना पडता है।

निर्देश पुस्तकें

Knight—Risk, Uncertainty and Profit.
Taussig—Principles, Vol. II.
Benham—Economics.
Readings in the Theory of Income Distribution. pp. 547—571.
Schumpeter, J.—Theory of Economic Development.
Meyers, A. L.—Elements of Modern Economics, 1951, Ch. 19.

अध्याय ३२

विनिमय की कार्यविधि

(MECHANISM OF EXCHANGE)

द्रव्य का रूप तथा कार्य

(The Nature and Functions of Money)

१. भूमिका--विनिमय के अध्याय मे हमने मूल्य की समस्या पर विचार किया है अर्थात् उन बातो का जो वस्तुओ की विनिमय दर को निर्धारित करते है। हमने उस समय "मूल्य" और कीमत को एक ही मान लिया था। जब मूल्य को द्रव्य मे अकित किया जाता ह तो उसे कीमत कहते है। सुविधा के लिये जिस समय हमने उन कारणों पर विचार किया था जो मूल्य निर्धारित करते है, तो हमने द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार कर लिया था। निःसदेह, वस्तु की कीमत का निर्धारण उसकी माग और पूर्ति (Demand and Supply) के सबध द्वारा होता है किंतु चूकि द्रव्य के रूप मे मूल्य कीमत है इसलिये द्रव्य के पक्ष मे परिवर्त्तन होने का कीमत पर प्रभाव पडता है। उनका विभिन्न कीमतो पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड सकता है। परन्तु यह प्रभाव उनसे भिन्न है जो अलग-अलग वस्तुओ को प्रभावित करते है। अब हम इन प्रभावो की प्रवृत्ति पर विचार करेगे किंतु सबसे पहले हमे द्रव्य (Money) के सबध मे कुछ विचार कर लेना चाहिए। द्रव्य क्या है ? उसका क्या कार्य है ? उसे चलन मे कौन लाता है तथा उसकी क्या शर्तें होती है ? यह वे कुछ प्रश्न है जिन पर अब हम विचार करेगे।

२. द्रव्य क्या है ? (What is Money)--भिन्न-भिन्न लेखकों ने द्रव्य (Money) की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। कुछ कहते है कि **"द्रव्य वह है जो द्रव्य का कार्य करता है।"** दूसरे शब्दो मे, जो भी द्रव्य का कार्य करते है, वे द्रव्य है। आगे चल कर हम द्रव्य के कार्यो पर विचार करेगे। किंतु आखिर द्रव्य है क्या ? व्यापक रूप मे द्रव्य विनिमय का आधार है। सोना, चादी, तावा, कागज, चेक, व्यावसायिक बिल्स ऑफ एक्सचेज अर्थात् हुडी, आदि। यह व्याख्या काफी लम्बी चौडी है। चेको, बिलो आदि को **प्रतिनिधि द्रव्य** (Representative Money) कहा गया है क्योंकि वे मूल्य के मापदण्ड के सुविधाजनक प्रतिनिधि है। कुछ लेखक व्याख्या को सीमित कर देते है और वे उसी वस्तु (अर्थात् सोना) को सम्मिलित करते है, जो मूल्य का कार्य कर सके। यह द्रव्य की सूची से बैंक नोटों, सरकारी करेंसी नोटों आदि को पृथक् कर देना है। तर्क की दृष्टि से इन्हें पृथक् नही किया जा सकता क्योंकि हम फिलहाल देखेंगे कि उनमे अच्छे द्रव्य के सभी गुण पाये जाते है। साधारणतया स्वीकृत मत यह है कि **"भुगतान और विनिमय के प्रत्येक**

माध्यम को जिनका ऋण के भुगतान में कानूनन प्रयोग हो सकता है, द्रव्य कहा जा सकता है।" इस प्रकार चेक, हुडी (Bills of Exchange) तथा भुगतान के ऐसे ही दूसरे साधनों को द्रव्य की अनुसूची मे नही रखा जा सकता। उनके लिये हम "साख के साधन" (Credit Instrument) शब्दो को प्रयोग में लाते है, जैसा कि हम आगे चल कर देखेगे। द्रव्य की विशेषता यह है कि वह साधारणतया ग्राह्य होता है। चेक तथा हुडियो का भुगतान नियमित नही होता और किसी व्यक्ति को भुगतान के लिये उन्हे स्वीकार करने के लिये बाध्य नही किया जा सकता। यह कह देना उचित होगा कि किसी धातु को द्रव्य का रूप देने के पूर्व कानून की स्वीकृति लेना अनिवार्य नही है, किंतु कुछ लेखक इस पर जोर देते है। द्रव्य की सार्वजनिक ग्राह्यता ही पर्याप्त है। साधारणतया बैकनोट ग्राह्य होते है, अतएव उन्हें द्रव्य कहा जा सकता है।

द्रव्य की साधारणतया स्वीकृत विशेषता यह है कि वह विनिमय का माध्यम होने के अतिरिक्त मूल्य निर्धारण का भी कार्य करता है। **किसी वस्तु को द्रव्य माना जाय अथवा नहीं, इसके परीक्षण का उपाय यह है कि यह देखा जाय कि उसकी मात्रा मे परिवर्तन का साधारण मूल्य स्तर पर प्रभाव पड़ता है अथवा नहीं।**

क्या नोट-द्रव्य के बराबर धातु को कोष में रखा जाता है ? नही। निःसदेह नोटों को धातु में परिवर्तित किया जा सकता है और वह दोनो धातु आपस मे परिवर्त्तनशील है। किंतु नोट द्रव्य होते है जब कि धातु द्रव्य नही है। **साधारणतया विनिमय में धातु को स्वीकार नहीं किया जाता।** क्रय शक्ति के रूप मे वह प्राप्य नही होता।

क्या बैंक की जमा रकम (Deposits) **द्रव्य है** ? जिनका बैंक मे धन जमा होता है उनकी दृष्टि मे वह द्रव्य ही रहता है; किंतु वास्तव मे जब तक वह बैंक मे रहता है, उसे द्रव्य नही कहा जा सकता। उसे द्रव्य की सज्ञा देने के पूर्व यह आवश्यक है कि उसमे क्रय-शक्ति पैदा की जाय। यह चेक द्वारा ही हो सकता है। तभी वह मूल्यो को प्रभावित कर सकते है और उसे प्रभावशाली द्रव्य कहा जा सकता है। अतएव बैंक मे जमा धन के उस अश को ही द्रव्य माना जा सकता है जिसे चलने का माध्यम बना लिया गया हो और जो विनिमय में व्यवहार मे आता हो।

"द्रव्य का अर्थ मूल्य के मान और भुगतान के साधनों से है। यह हिसाब खाता का आधार है, और साथ ही विनिमय का माध्यम है।"[१]

३. द्रव्य की आवश्यकता (The Necessity of Money)—क्या किसी समाज का अस्तित्व बिना द्रव्य के संभव है ? आदि काल मे बहुतेरे प्रारम्भिक समाज द्रव्य का प्रयोग नही करते थे। श्रम के विभाजन का अस्तित्व सदा से रहा है। श्रम के विभाजन से द्रव्य का प्रादुर्भाव हुआ। जब द्रव्य के बिना विनिमय होता है, हम उसे वस्तु-

१ Coulborn W. A. L.—A Discussion of Money, 1950, p. 2.

विनिमय अथवा अदला बदली (Barter) कहते है। जब विनिमय की दशाएँ सर्वाधिक सुगम होती हो तभी वस्तु-विनिमय सभव होता है। जब सामाजिक व्यवस्था श्रम-विभाजन की संकीर्णता तथा मनुष्य की मागो मे वृद्धि के कारण अधिक पेचीदा हो गई, तब यह प्रतीत हुआ कि वस्तु-विनिमय के द्वारा विनिमय सतोषजनक उपाय नही है।

वस्तु-विनिमय मे तीन आधारभूत कठिनाइयाँ है --

(१) **आवश्यकताओं की दोहरी अनुरूपता** (Double Coincidence of Wants)--वस्तु-विनिमय मे आवश्यकताओ की दोहरी अनुरूपता की आवश्यकता पडती है। यदि अ के पास एक गाय है और वह उसके बदले मे कपडा चाहता है, तो उसे ऐसे व्यक्ति की तलाश करनी होगी जिसके पास न केवल कपडा हो वरन् जिसे गाय की भी आवश्यकता हो। इससे वस्तु-विनिमय में परेशानी होती है। उदाहरण के लिये अ को, जिसके पास गाय है, पहले ऐसे व्यक्ति को तलाश करना पडेगा जिसे गाय की चाह हो। मान लिया वह ब से मिलता है, जिसे गाय की तो चाह है किंतु वह केवल गेहू दे सकता है। अब अ ऐसे व्यक्ति की तलाश करेगा जिसे गेहूं की आवश्यकता हो और यह क्रम निरन्तर गति से तब तक चलता रहेगा जब तक कि वस्तु-विनिमय के बाद वह कपडा पा सके। यह स्पष्ट है कि इस साधन मे अनगिनत कठिनाइया और खतरे है।

(२) **मूल्य के मापदण्ड का अभाव** (Lack of Common Measure of Value)--परेशानियो का यही पर अन्त नही होता। यदि दो व्यक्ति, जिन्हे एक दूसरे की वस्तु की चाह है, मिल भी जाये तो भी एक दूसरी परेशानी उपस्थित हो जाती है। किस अनुपात मे दोनो वस्तुओ का विनिमय हो ? दूसरे शब्दों में वस्तु-विनिमय की अर्थ-व्यवस्था (Barter Economy) के अन्तर्गत माग और पूर्ति मे सतोषपूर्ण समानता नही मिलेगी। मूल्य-निर्धारण का कोई समान मापदण्ड नही होता। अनुपात इच्छा से निर्धारित किया जायगा तथा उसका आधार दोनो पक्षों की आवश्यकता तथा उनकी परस्पर मागो की तीव्रता होगी। इन परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि एक पक्ष को हानि हो क्यो कि प्रत्येक विनिमय मे लेनदेन पृथक् रूप में होता है।

३. कतिपय वस्तुओं की अविभाज्यता (Indivisibility of Certain Articles)--यदि विनिमय के अनुपात के सम्बन्ध मे समझौता हो भी जाय तो उन वस्तुओं के सम्बन्ध मे एक तीसरी परेशानी उपस्थित हो जाती है कि वे विभाजित नहीं हो सकती। मान लिया, एक व्यक्ति अपनी गाय के आधे मूल्य के बराबर गेहूं लेना चाहता है। दूसरे आधे मूल्य के बदले में वह कपडा लेना चाहता है, जो तीसरे व्यक्ति के पास है। गाय का विभाजन कैसे हो ? इसी प्रकार की कई दूसरी परिस्थितियों की हम कल्पना कर सकते है।

वस्तु-विनिमय से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का उदाहरण हम एक फ्रांसीसी संगीतज्ञ से ले सकते है, जिसने एक ऐसे द्वीप मे अपने सगीत का प्रदर्शन किया जहां द्रव्य का चलन नही था। उसे सूअरो, मुर्गियो, बकरियो, सेव, केले आदि मे भुगतान किया गया। बकरियो और सूअरों ने फलो और दूसरे खाद्य पदार्थों का सफाया कर दिया और अपने सूअरो और बकरियो को जीवित रखने के लिए उसे कई अन्य प्रदर्शन देने पडे। उसे क्या लाभ हुआ ? कुछ भी नही। यदि उसे द्रव्य मे भुगतान किया जाता तो वह धनी हो जाता।

विनिमय-क्षेत्र मे वस्तु-विनिमय की इन कठिनाइयो के अतिरिक्त धन को समुचित रूप से जोडा नही जा सकता, क्योकि समय के साथ अधिकाश वस्तुए खराब हो जाती है और यदि वे खराब न भी हों और उनका पूर्व-सा ही रूप रहे, तो भी उनके मूल्य मे अन्तर पड जाता है।

४. द्रव्य का विकास (Evolution of Money)—शीघ्र ही इस नतीजे पर पहुचा गया कि विनिमय मे बड़ी सुगमता लाई जा सकती है बशर्तेकि विनिमय का आधार किसी एक वस्तु को बना लिया जाये। इस वस्तु द्वारा सभी पदार्थो का मूल्याकन किया जा सकता था और उसके द्वारा व्यक्ति वाछित वस्तु का क्रय-विक्रय कर सकता था।

इस रूप मे अनेक प्रकार की वस्तुओ को भिन्न-भिन्न सफलता के साथ अपनाया जा चुका है। दास, पशु, पत्थर, खाल तीर, अनाज, कौड़ी आदि को अपनाया गया। किसी विशेष समाज के आर्थिक विकास के लिए यह उस युग पर आधारित था कि द्रव्य का क्या रूप हो। शिकारी स्वभावत खाल और तीर को साधन मानते थे, बनजारे पशु और किसान अनाज को द्रव्य का रूप देते थे। अभी कुछ ही दिनो पूर्व तक हमारे ग्रामों में क्रय के लिए अनाज और कपास को काम मे लाया जाता रहा है। आज भी यह परम्पराएं पूर्ण रूप से लुप्त नही हुई है।

अन्ततोगत्वा, किसी भाति यह पता चला कि सोना और चादी जैसे मूल्यवान धातु इस काम के लिए सर्वश्रेष्ठ है। प्रारम्भ मे सोना और चादी को धातु के टुकडो के रूप में प्रयोग मे लाया गया। इससे असुविधा होती थी और प्रत्येक बार जब वह एक हाथ से दूसरे मे जाते थे, उनकी जाच मे गलती की सम्भावना रहती और वजन आदि करना पडता था। तदनन्तर सरकारों ने उन्हे करैसी मे सिक्कों का रूप दिया, जिससे उन्हे ग्रहण करने वालों को उसकी किस्म (Quality) और उसके वजन का कुछ भरोसा रहे। कुछ समय बाद धातु के सिक्कों (Metallic Coins) के साथ कागजी मुद्रा (Paper Currency) का प्रचलन शुरु हुआ जिसे धातु-मुद्रा मे बदला जा सकता है। बहुत-सी दशाओं मे सिक्के, विशेषकर वे जो प्रमाणित (Standard) होते थे, सरकार अथवा केन्द्रीय बैक द्वारा प्रचलित कागजी मुद्रा के सम्मुख लोप हो जाते थे और कागजी मुद्रा ही अकेली करैसी शेष रह जाती थी। इसका कारण यह था कि इसी समय बैक-द्रव्य (Bank Money) अथवा साख-पत्र (Credit Instrument) भी प्रयोग में आने

लगे। यह इतना अधिक बढ गया है कि अमेरिका और इगलैड मे विनिमय कार्य के लिए साधारण करेंसी की अपेक्षा चेक अधिक प्रयोग मे आते है।

वस्तु-विनिमय अर्थ-व्यवस्था (Barter Economy) से वस्तु-द्रव्य (Commodity Money), वस्तु-द्रव्य से कागजी-मुद्रा (Paper Currency), और कागजी मुद्रा से बैंक-द्रव्य अथवा साख अर्थ-व्यवस्था (Credit-Economy)—द्रव्य की उन्नति तथा उसका विकास इस प्रकार होता रहा है। क्राउथर (Crowther) के शब्दों मे केवल "सामान्य स्वीकृति ही मुख्य आवश्यक है। द्रव्य का ..... स्वय मूल्यवान होना आवश्यक नही। यह वास्तव मे अपेक्षाकृत सीमित होना चाहिये। परन्तु, यदि इसको अपेक्षाकृत न्यून रखने और मात्रा मे अपेक्षाकृत स्थिर रखने की सावधानी न रक्खी जाय तो द्रव्य मे ऐसी बेकार वस्तुए पाई जाने लगेगी जैसे कागज के फटे हुए टुकडे अथवा बैंक की पुस्तको मे किसी क्लर्क के कलम द्वारा किये हुए निशान।"[१]

५. द्रव्य के चलन से लाभ (Advantages of the Introduction of Money)—द्रव्य के जारी करने से वह सभी असुविधाए दूर हो गई है जो वस्तु-विनिमय से उत्पन्न होती थी। विनिमय के लिए दुहरी अनुरूपता की आवश्यकता नही रही। इच्छा के अनुसार वस्तु का विभाजन और विनिमय आसानी से हो सकता है। समाज को विनिमय का ऐसा माध्यम मिल गया जो साधारणतया सभी को मान्य था और सरलता से एक हाथ से दूसरे हाथ मे जा सकता था। मूल्य के निर्धारण के लिए एक विश्वस्त मापदण्ड (Standard) लोगो को मिल गया। क्रय शक्ति का सचय करना अथवा स्थानान्तरित करना सुगम हो गया। ऋण का लेन-देन निर्विघ्न सभव हो गया। नीचे के प्रकरण मे हम द्रव्य के इन कार्यो का स्पष्ट रूप से विश्लेषण करेंगे।

उपभोक्ता को द्रव्य के चलन से अनगिनत लाभ हुए है। द्रव्य के हाथ में होने से वह दूसरों की वस्तुओं तथा सेवाओं पर अपना अधिकार प्रकट कर सकता है। वह अपनी सुविधा के अनुसार उन वस्तुओ को किसी स्थान पर तथा किसी समय भेजने का आदेश दे सकता है, (बेशक, अपने द्रव्य की क्रय-शक्ति (Purchasing power) की सीमा तक ही)! द्रव्य से उसकी क्रय-शक्ति व्यापक हो गई है। द्रव्य के अभाव मे उपभोक्ता के लिए यह कठिन था कि वह अपने क्रय की विभिन्न दिशाओं से सम सीमान्त उपयोगिता प्राप्त कर सकता। इस प्रकार वह अब अधिक से अधिक सन्तोष प्राप्त कर लेता है।

उत्पादको के लिए भी द्रव्य के जारी करने से कम लाभ नहीं हुआ है। अब वह अपने कार्य को अधिक कुशलता और मितव्ययिता से सगठित कर सकता है। उसे उत्पादन के लिए कई साधनो को किराये पर लेना होता है। वह उन्हे वेतन के रूप में द्रव्य दे देता है, जिस से जिस प्रकार चाहे व्यय करके वे अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर लें। जिस प्रकार एक उपभोक्ता अधिकाधिक सन्तोष प्राप्त करने में सफल हो सका है, उसी भांति एक

१ Crowther, G.—An Outline of Money, 1950, p. 21.

उत्पादक भी द्रव्य के द्वारा जिन साधनो को अपने उत्पत्ति-कार्य में प्रयोग कर रहा है, उन की सीमान्त उत्पादन शक्ति को बारबार करके अधिक से अधिक लाभ उठा सकता है।

समाज पर द्रव्य के प्रादुर्भाव से काफी लाभ हुआ है। इसी के आधार पर साख का विशाल भवन निर्मित हुआ है। राष्ट्र के आर्थिक विकास मे साख और बैंक-प्रथा के विस्तार मे बडी सहायता मिली है। यह कल्पना करना भी मुश्किल है कि वर्तमान युग ने द्रव्य की जो सुविधाए दे रखी है, उनके अभाव में उद्योग और व्यवसाय कैसे विकसित हो सकते थे।

आर्थिक साधनों का आदर्श वितरण (optimum distribution) तथा आधुनिक आर्थिक पद्धति का कुशल सचालन बिना मुद्रा-विषयक प्रणाली के नही हो सकता है। आर्थिक पद्धति मूल्य-प्रणाली द्वारा कार्य करती है, और वहा द्रव्य अनिवार्य है। समाजवाद की आर्थिक व्यवस्था मे भी किसी न किसी प्रकार की मूल्य-प्रणाली आवश्यक है।

६. द्रव्य के कार्य (The Functions of Money)–हमने देखा है कि भिन्न-भिन्न समयो मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ को द्रव्य चुना गया है और सोना-चादी तथा बाद में कागज श्रेष्ठ द्रव्य सिद्ध हुए है। श्रेष्ठ किस बात के लिए? द्रव्य के कार्यो को पूर्ण रूप से करने के लिए श्रेष्ठ।

द्रव्य क्या कार्य करता है? उसके ५ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है––

(क) वह विनिमय का माध्यम (medium) है।

(ख) वह मूल्य सचय (store) करने के लिये प्रयोग मे आता है या आधुनिक व्याख्या के अनुसार साधनो को द्रवता का गुण (liquidity) देने मे सहायक होता है।

(ग) वह मूल्य का मापदण्ड (measure) है।

(घ) ऋण के लेन-देन का वह एक स्थिर साधन होना है।

(ड) वह मूल्य को स्थानान्तरित (transfer) करता है।

७. द्रव्य विनिमय के माध्यम के रूप में (Money as Medium of Exchange)––अभी हमने उन विभिन्न असुविधाओ की चर्चा की है जो वस्तु-विनिमय से उत्पन्न होती है। द्रव्य द्वारा यह सब असुविधाए दूर हो जाती है। द्रव्य की अर्थ-व्यवस्था (Money Economy) मे यह आवश्यक नही होता कि इच्छाओ की अनुरूपता हो। व्यक्ति को, जो गाय के बदले मे कपड़ा चाहता है, अब उसे ऐसे कपडे वाले को ढूढने की आवश्यकता नही, जिसे गाय की आवश्यकता हो। वह अपनी गाय को बाजार मे बेच सकता है और इस प्रकार जो द्रव्य उसे मिले, उससे कपड़ा खरीद सकता है। जिस समय व्यक्ति अपनी सेवाओं अथवा वस्तुओं को अपूर्ण अवस्था में बेचना चाहता है, उसे बड़ी सुविधा रहती है। वह उन्हे सरलता से द्रव्य के रूप में परिवर्तित कर सकता है। कतिपय वस्तुओं की अविभाज्यता का प्रश्न भी समाप्त हो गया है। द्रव्य की इकाइयां विभिन्न

मूल्य की होती है। और उनसे किसी भी प्रकार की खरीदारी की जा सकती है जो वस्तु-विनिमय मे सम्भव न थी।

८. द्रव साधनों के रूप में द्रव्य (Money as Liquid Assets)—द्रव्य मूल्य-सचय का कार्य सम्पादित करता है या यह कहना उचित होगा कि वह व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति के एक अश को द्रवत्व गुण देने के योग्य बना देता है। द्रव्य वह साधन है, जो किसी भी समय किसी भी व्यवहार मे आ सकता है। आधुनिक जगत् मे अधिकाश व्यक्ति अपनी जेबो मे करेंसी नोट रखते है, अथवा उन्हे घर पर रखते है या बैंक मे चालू खाते जमा रखते है और जिस समय चाहते है चेक के द्वारा निकाल सकते है। यह इसलिए आवश्यक होता है कि आय और व्यय का क्रम समान गति मे नही चलता। द्रव्य-आय (Money Income) उपार्जित की जाती है और व्यय होती है। किन्तु इन दोनो की कदाचित् ही कभी अनुरूपता होती है, अतएव कुछ धन जरूरत के समय व्यय करने के लिए सुरक्षित रखा जाता है। यदि एक श्रमिक प्रति शुक्रवार को अपना साप्ताहिक वेतन पा जाता है और उसी दिन उसे व्यय कर देता है तो उसे अपने साधनो को अस्थिर रखने की थोडी ही आवश्यकता पडेगी। किन्तु ऐसा कदाचित् ही होता है। यही बात मालिको पर भी लागू होती है, जिन्हे वेतन आदि का भुगतान करना होता है।

९. द्रव्य, मूल्य का प्रामाणिक मापदण्ड (Money as Standard Measure of Value)—वस्तु-विनिमय की एक यह कठिनाई भी अनुभव की गई है कि उसमे मूल्य का साधारण मापदण्ड नही था, जिसके अनुसार दूसरे मूल्यो को प्रकट किया जा सकता, जोडा जा सकता अथवा हिसाब-खाता रखा जा सकता। द्रव्य ने यह कठिनाई भी दूर कर दी है। द्रव्य के रूप मे हम मूल्य और सेवाओ की सुगमता से तुलना कर सकते है। मूल्यो का कीमतो मे प्रकटीकरण हमे उन्हे जोडने तथा व्यक्ति अथवा वस्तु के धन का अन्दाज लगाने मे सहायक होता है। वस्तुओ अथवा सेवाओ की केवल-मात्र सूची से ही यह कार्य सम्भव नही होता। विनिमय मे मूल्य का समान-स्तर लेन-देन को सरल और निष्पक्ष बना देता है। वस्तु-विनिमय मे भोग और पूर्ति मे सन्तोषपूर्ण समानता नही हो पाती। द्रव्य इसे सुगम बना देता है। क्योकि माग और पूर्ति की अनुसूची पर द्रव्य की इकाइयो (Money Units) द्वारा ठीक विचार हो सकता है और उसे ठीक व्यक्त किया जा सकता है।

१०. द्रव्य, विलंबित भुगतानों का आधार (Money as Standard of Deferred Payments)—द्रव्य ऐसे भुगतानो के आधार का भी स्तर कायम रखता है जिनका भुगतान कुछ समय बीत जाने पर किया जाता है। जब कोई ऋणदाता अपने साधनों को उधार देने लगता है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि उसे यह भरोसा रहे कि उसके साधन नियत ब्याज सहित उसे वापिस मिल जाएंगे। अतएव लेन-देन अवश्य ही किसी वस्तु के रूप में होंगे, जिनका मूल्य स्थायी होगा। बहुत-सी वस्तुएं समय के साथ

नष्ट हो जाती है, जैसे जीवित पशु, अनाज, आदि शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएं। यह वस्तुएं इस काम के लिए अनुपयुक्त होती है। समय के साथ द्रव्य के मूल्य मे भी परिवर्तन होता है, चाहे वह सोने का हो या कागज का। किन्तु यदि द्रव्य का उचित चुनाव हुआ है और उसका उचित प्रबन्ध रखा जाता है, तो उसका मूल्य दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक स्थायी रहता है।

भावी भुगतानो के लिए एक प्रामाणिक मापदण्ड का कार्य करने के कारण, द्रव्य ऋण लेने देने के खतरे को कम कर देता है। इस प्रकार यह तमाम प्रकार की आर्थिक कार्य-वाहियो को सतुलित रखता है जिनका आधार ऋण होता है। द्रव्य के कार्यो को सक्षेप मे इस प्रकार कह सकते है।

द्रव्य के चार काम है :—

"माध्यम (a medium) मापदण्ड (a measure) प्रामाणिकता (a standard) तथा एकत्रीकरण (a store)।"

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि द्रव्य के यह चारो काम परस्पर स्वतन्त्र नही है। ऋण के भुगतान के लिए द्रव्य को द्रव साधन के रूप मे रखा जाता है। यह विनिमय के माध्यम का कार्य करता है। यह विनिमय के माध्यम के रूप मे इसलिए स्वीकार किया जाता है कि इसका मूल्य स्थायी रहता है और इसी कारण से यह भावी भुगतान का साधन तथा मूल्य का मापदण्ड माना जाता है।

११. द्रव्य—मूल्य को हस्तांतरित करने का साधन (Money as a Means of Transfering Value)—कोई भी व्यक्ति एक स्थान पर अपनी चल और अचल सम्पत्ति को बेच सकता है और दूसरे स्थान पर खरीद सकता है। इस प्रकार मूल्य हस्तातरित हो सकता है। इस तरह के मामले भारत मे विभाजन के बाद बहुत पाये गए।

१२. अच्छे द्रव्य, पदार्थ के गुण (Qualities of Good Money Materials)—उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अपने कार्यो को भली-भाति सम्पन्न करने के लिए द्रव्य पदार्थ मे कुछ गुण अवश्य होने चाहिये।

(अ) **सर्वमान्यता** (General Acceptability)—वह वस्तु, जो सर्व-साधारण को ग्राह्य न हो, समुचित रूप से द्रव्य का कार्य सम्पन्न नही कर सकती। लोग एक वस्तु को या तो इस विश्वास पर स्वीकार कर लेते है कि दूसरे लोग उसे स्वीकार कर लेगे या इस विश्वास पर कि वह उसे किसी दूसरे उपयोग मे ला सकेगे। चेक और हुडियां साधारण तौर पर सभी लोग ग्रहण नही करते, अतएव वह द्रव्य नही है। एक निश्चित परिमाण के बाद लोग उसे साधारणतया स्वीकार नही करेगे। अतएव वह बुरा द्रव्य पदार्थ है। सोना और चादी सर्वसाधारण को ग्राह्य रहते है, क्योकि यह द्रव्य के अलावा और किसी दूसरे प्रयोग मे आ सकते है। करेंसी नोट इसलिए ग्राह्य रहते है, कि लोगों को विश्वास

है कि वह उनसे क्रय कर सकते है या उन्हे जारी करने वालो से उनके समान मूल्य पा सकते है आदि। साधारण ग्राह्यता द्रव्य पदार्थ की मूल्य-स्थिरता पर भी आधारित रहती है जैसा कि हम आगे देखेगे ।

(ब) **वहनीयता** (Portability)—जो पदार्थ प्रयोग मे आए, वह सहज वहनीय होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, थोडी मात्रा मे उसका अधिक मूल्य होना चाहिए। उदाहरण के लिए कोयला अच्छा द्रव्य पदार्थ नही है जबकि सोना, चादी, कागज, आदि अच्छे द्रव्य पदार्थ है। आधुनिक डाकखाने तथा बैक धन कोष को एक स्थान से दूसरे स्थान मे स्थानान्तरित करने मे बडे सहायक सिद्ध हो रहे है। आप एक स्थान पर द्रव्य जमा कर सकते है और उसे दूसरे स्थान पर निकाल सकते है। शायद ही कभी वास्तविक द्रव्य स्थान परिवर्तन करता है ।

(स) **सुगमता से पहचान** (Cognizability)—द्रव्य के लिए यह एक आवश्यक गुण है। इस के अर्थ है कि वह सुगमता से पहचान मे आ सके। यदि आप को द्रव्य की प्रामाणिकता के लिए विशेष खोजबीन करनी पडे तो इससे बडी असुविधा होगी। सिक्को और कागजी मुद्रा, जिनका आकार प्रकार पहचान योग्य होता है, उनके प्रचलन मे यह असुविधा दूर हो जाती है ।

(द) **समरूपकता** (Homogeneity)—पदार्थ को एक ही अनुरूप का होना चाहिये। यदि उनके गुण अनुरूप नही है, तो उनका मूल्य भी समान नही रहेगा।

(क) **विभाज्यता** (Divisibility)— पदार्थ को ऐसा होना चाहिए कि बिना अपना मूल्य खोये वह छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजित हो सके। उदाहरण के लिए यदि एक हीरे के दो हिस्से कर दिये जाते है तो उनका वही मूल्य नही रहता जो पहले था। जानवरो को उस समय तक विभाजित नही किया जा सकता जब तक कि वे जानवर रहते है। सोना और चादी विभाज्य है। एक तोला सोना या चादी कितने ही विभागो मे क्यो न विभाजित कर दिया जाय, उसका मूल्य कम नही होगा ।

(ख) **स्थायित्व** (Durability)— नाशवान वस्तुए द्रव्य का कार्य ठीक प्रकार से नही कर सकती। एक समय बाद उनका मूल्य समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए जानवर बीमार पड सकते है, कमजोर हो सकते है और मर सकते है ।

(ग) सब से खास बात तो यह है कि द्रव्य अपेक्षाकृत स्थिर मूल्य का (stable in value) होना चाहिए क्योकि वह दूसरे मूल्यो को निर्धारण करने के लिए प्रामाणिक मापदण्ड होना है। सोना ओर चादी दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा अधिक स्थिर मूल्य की होती है क्योकि वह स्थायी होती है और इन पदार्थो को बड़ी मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है; फिर भी इतनी अधिक मात्रा मे नही, जिनसे उनका मूल्य बहुत गिर जाय। इनका वार्षिक उत्पादन उनके कुल परिमाण मे बहुत थोड़ी वृद्धि करता है जिससे इनके मूल्यो पर अधिक प्रभाव नही पड पाता।

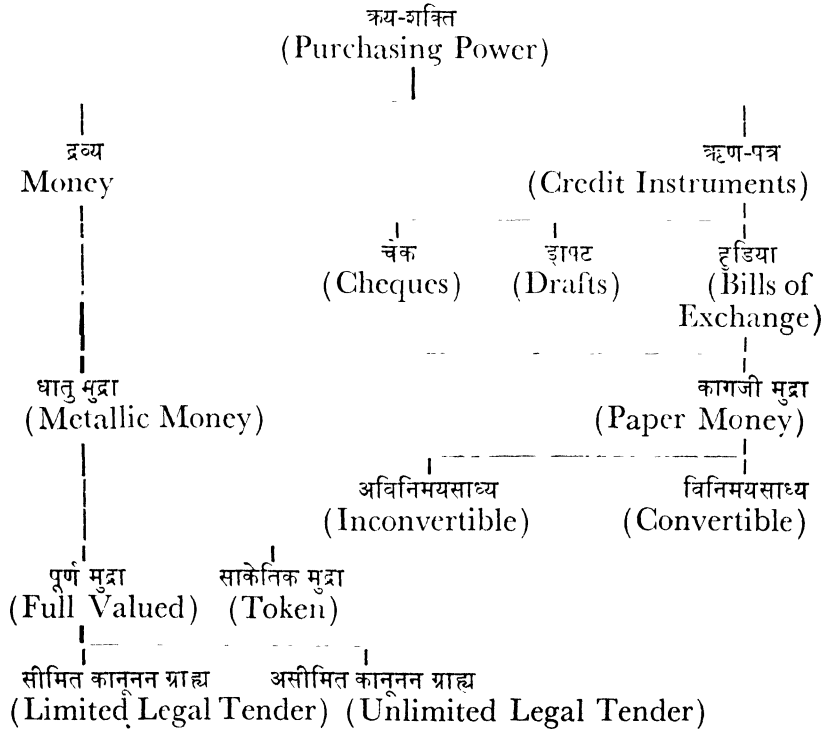
कागज की क्रय-शक्ति की स्थिरता का आधार उसके सम्बन्ध मे बनावटी नियत्रण पर अवलम्बित रहता है। अतएव सुप्रबन्धित कागजी मुद्रा, इन सबमे श्रेष्ठ है। दूसरी बातो के अलावा इससे द्रव्य-सम्बन्धी पद्धति सस्ती रहती है। किन्तु चूकि इनके जारी करने वाले अधिकारी कदाचित् ही निष्पक्ष व्यवहार करने और पूर्ण नियत्रण करने में सफल होते है, इसलिए कागजी द्रव्य के बहुप्रचलन का भय बना रहता है।

१३. द्रव्य का वर्गीकरण (Classification of Money)—मोटे तौर पर द्रव्य को दो रूपो मे विभाजित किया जा सकता है, पहला धातु-द्रव्य और दूसरा कागजी द्रव्य।

धातु मुद्रा मे या तो पूर्ण मूल्य वाली मुद्राये (Full-Valued Coins) अथवा साकेतिक मुद्राए (Token Coins) सम्मिलित रहती है। मुद्राये सीमित अथवा असीमित काननन ग्राह्य होती है।

कागजी मुद्रा अविनिमयसाध्य अथवा विनिमयसाध्य हो सकती है। द्रव्य के अतिरिक्त विभिन्न साख-पत्रो (Credit Instruments) जैसे चेक, ड्राफ्ट और हुडियो आदि मे भी क्रय-शक्ति रहती है। इन्हे बैंक-द्रव्य भी कहते है।

इस विभाजन का नियमित रूप निम्न प्रकार से है।



इन सभी किस्मों के सम्बन्ध में अब संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

१४. सिक्के और उनका निर्माण (Coins and Coinage)—धातु करेंसी अथवा सिक्के एक विशेष वजन और दोनो ओर देश की सरकार की मोहराकित धातु के टुकडे होते है। ऊचे मूल्य की मुद्राओ के किनारे साधारणतया खुदे रहते है, जिससे वे नष्ट होने से बची रहे और उनके साथ की गई चालबाजी का आसानी से पता चल सके। अच्छे टकन के मुख्य सिद्धान्त यह है :—

(१) सिक्के सुविधाजनक माप के होने चाहिये,

(२) वे इस प्रकार के बनने चाहिये कि चलन के कारण उनमे कम से कम छीजन हो,

(३) उनका स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिये कि उनका प्रतिरूपण तथा छाटना असम्भव हो जाय,

(४) उन पर कारीगरी की हुई सरकारी मोहरे होनी चाहिये।

पिछली लडाई के पहले हमारे चादी के रुपये मे १८० ग्रेन चादी रहती थी। **प्रतिकार भत्ता** (Remedy Allowance) वह सीमा है जिसके अन्दर रहते हुए मुद्रा की टकन अथवा वजन मे अन्तर होते हुए भी, वे वैधानिक रूप से ग्राह्य रहते है। इसे टकसाल की सहनशीलता (Tolerance of the Mint) भी कहते है। जहा तक हमारे रुपये का प्रश्न है, वजन मे १।५००० तथा गढन १।२००० प्रतिकार होता है। मुद्राकन मुफ्त या स्वतन्त्र (Gratuitous or Free) हो सकता है। पहली दशा मे मुद्राकन का कोई मूल्य नही लिया जाता। दूसरी दशा मे मुद्राकन पर कोई प्रतिबन्ध नही रहता। कोई भी व्यक्ति धातु को टकसाल मे ले जाकर मुद्राकन करा सकता है। भारत मे १८९३ के पूर्व निर्मूल्य मुद्राकन प्रचलित था। कोई भी व्यक्ति टकसाल मे चादी को ले जाकर सिक्के ढला सकता था। किन्तु निर्मूल्य मुद्राकन का निष्कारण होना आवश्यक नही है। अधिकारी मुद्राकन का मूल्य ले सकता है। यदि यह मूल्य धातु को मुद्राकन करने के मूल्य के समान है, तो उसे टकसाली (Mintage) अथवा (Brassage) कहेगे। यदि यह इस मूल्य से अधिक है, तो उसे प्रभुत्व (Seigniorage) कहते है। यह प्रभुत्व मुद्रा मे सीधा मूल्य लेकर अथवा उसमे मिश्रण करके वसूल किया जा सकता है। प्रभुत्व के पक्ष मे यह तर्क दिया जाता है कि इससे मुद्रा की धातु का मूल्य उसके अपने मूल्य (Face Value) से कम रहता है। फलत. मुद्राओ को गला लेने का भय कम हो जाता है। निष्कारण मुद्राकन के पक्ष मे यह दलील दी जाती है कि चूकि मुद्राओ को प्रचलित करना राज्य का काम है, अतएव मुद्राकन का मूल्य जनता से नही लेना चाहिये। निर्मूल्य मुद्राकन के पक्ष मे कहा जाता है कि यह मुद्रा-स्फीति को रोकता है।

१५. सांकेतिक मुद्रा (Token Coins)—धात्विक मुद्रा पूर्ण मुद्रा हो सकती

है। पूर्ण मुद्रा वह मुद्रा होती है, जिस पर अंकित मूल्य उसमे मिली हुई धातु के मूल्य के बराबर हो। साकेतिक मुद्रा मे उस पर लिखा हुआ मूल्य धातु के मूल्य से अधिक होता है। भारतीय रुपया एक साकेतिक सिक्का है। उसमे मिली धातु का मूल्य रुपये के मूल्य से कम है। सन् १८९३ के पूर्व भारतीय रुपया पूर्ण मुद्रा था। यदि उसे गलाया जाता तो एक रुपये के मूल्य के बराबर धातु निकलती।

मुद्राओ को दो कारणो से साकेतिक मुद्रा बनाया जाता है। पहली वजह तो यह होती है कि प्रचलन मे पूर्ण मुद्रा की अपेक्षा साकेतिक मुद्रा सस्ती पडती है और दूसरी वजह यह है कि साकेतिक मुद्रा को गलाने का भय कम रहता है। कभी-कभी यह हो सकता है कि मुद्रा की धातु का मूल्य इतना अधिक बढ जाय कि वह पूर्ण मुद्रा बन जाय। उस हालत मे उसे गलाया जाना अथवा गाडना प्रारम्भ हो जाता है। उदाहरण के लिए सन् १९१७ मे चादी का मूल्य बढ जाने से भारतीय रुपया साकेतिक मुद्रा न रहा और बाजार से वह गायब होने लगा। सरकार को उसके लिए विनिमय का समुचित माध्यम पूर्ति करने मे काफी परेशानी उठानी पडी। इसी प्रकार सन् १९४० मे १०० ग्रेन्स ११।१२ श्रेष्ठ मुद्राये प्रचलन से गायब होने लगी। सरकार ने तब नई मुद्राए चालू की, जिनमे चादी कम थी। उनमे ११।१२ के बजाय १।२ चादी थी। उन्हे सचय करने का भय नगण्य है। पुराना प्रामाणिक रुपया सिक्का बाहर कर दिया गया। उसे ऋण के भुगतान मे नही दिया जा सकता। सन् १९४६ मे निकल का पया प्रचलित हुआ।

साधारणतया साकेतिक मुद्रा सहायक मुद्रा होती है। किन्तु जैसा कि भारतीय रुपये मे है, मुख्य मुद्रा भी साकेतिक मुद्रा हो सकती है। सहायक मुद्राए छोटे भुगतानो के लिए होती है। उदाहरणार्थ पैसा, इकन्नी, दुअन्नी और चवन्नी सहायक मुद्राए है।

१६. सीमित तथा असीमित कानूनन ग्राह्य (Limited & Unlimited Legal Tender)—मुद्राए सीमित कानूनन ग्राह्य अथवा असीमित कानूनन ग्राह्य हो सकती है। कानूनन ग्राह्य करेन्सी वह होती है जिसके अन्तर्गत विधिवत् भुगतान किये जा सकते है। कानूनन ग्राह्य द्रव्य को अस्वीकार करना अपराध है। कागजी द्रव्य, धातु द्रव्य की भाति ही कानूनन ग्राह्य हो सकता है।

जब किसी भी मात्रा मे द्रव्य का भुगतान हो सकता है, तब उसे असीमित कानूनन ग्राह्य कहते है। वह यदि एक सीमा के अन्दर ही भुगतान किया जा सकता है तो उसे सीमित कानूनन ग्राह्य मुद्रा कहेगे। उदाहरण के लिए भारत मे रुपया और रुपये के नोट असीमित कानूनन ग्राह्य है और यही हाल अठन्नी का भी है। किन्तु इससे छोटे मूल्य की मुद्राये सीमित कानूनन ग्राह्य है। वे दस रुपये तक ही कानूनन ग्राह्य रहती है।

जब एक मुद्रा पुरानी हो जाती है और वह एक निश्चित सीमा से अधिक हल्की हो जाती है, तब वह कानूनन ग्राह्य नही रहती। एक पये और आठ आने की मुद्राएं जब प्रामाणिक वजन से २० प्रतिशत कम हो जाती है, तो वे कानूनन ग्राह्य नही रहती।

सरकार चाहे तो वह मुद्रा की कानूनन ग्राह्यता को समाप्त कर सकती है। उदाहरण के लिए, १८० ग्रेन्स $\frac{11}{12}$ श्रेष्ठ वाली रुपये की मुद्रा भारत मे अब कानूनन ग्राह्य नही है। सन १९४६ मे सरकार ने ५०० रुपये और उससे अधिक मूल्य के करेन्सी नोटो को कानूनन ग्राह्य नही रखा। इसका साधारण उद्देश्य यह होता है कि ऐसी करेन्सी जमा न की जा सके।

१७. प्रामाणिक द्रव्य (Standard Money)—प्रामाणिक द्रव्य वह द्रव्य है जिसके सकेत मे द्रव्य की दूसरी किस्मो का मूल्य मापा जाता है। यह द्रव्य का अति उत्तम रूप है। या तो इसमे मुद्रा-विषयक प्रमाण है या यह उसका निकट प्रतिनिधि है। साधारणतया एक धातु को चुन लिया जाता है, और द्रव्य की इकाइया उसमें बदली जा सकती है। कभी २ दो धातुए यह कार्य करती है। जब प्रामाणिक धातु एक होती है तो उस प्रणाली को एक-धातु-मान (Monometallism) कहेगे। जब दो प्रामाणिक धातुए होती है तो उसे द्विधातुवाद (Bimetallism) कहेगे। सी प्रकार यदि सोना धातु को चुना जाय तो उसे स्वर्णमान (Gold Standard) कहेगे। और यदि धातु रजत है तो उसे रजतमान कहेगे।

कभी २ कोई एक देश अपनी करेन्सी का मूल्य विदेशी करेन्सी के मूल्य के रूप में निर्धारित करता है। उसे विनिमय मान (Exchange Standard) कहेगे। यदि विदेशी मान स्वर्ण पर होता है तब सम्बन्धित देश की करेन्सी स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) होती है। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत ने अपने रुपये को अंग्रेजी करेन्सी से सम्बन्धित कर लिया। इगलैड स्वर्णमान वाला देश है। इस प्रकार भारत स्वर्ण विनिमय मान वाला देश हुआ। जब सन् १९३१ के सितम्बर मास मे इगलैड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया तो भारत का सम्बन्ध स्टर्लिंग से हो गया। तब भारत स्टर्लिंग विनिमय मान वाला देश बन गया। जब से भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) से सम्बन्ध स्थापित किया है, भारतीय रुपये के विनिमय मूल्य को तोड दिया गया है।

१८. कागजी द्रव्य (Paper Money)—कागजी द्रव्य के अन्तर्गत बैंक नोट और सरकारी नोट आते है, जो एक हाथ से दूसरे हाथ मे बिना रोक-टोक आते जाते रहते है। इसके अन्तर्गत चेक तथा हुडिया नही आती, जिनका सीमित प्रचलन होता है। यह साख-पत्र (Instruments of Credit) होते है जिन पर हम आगे चल कर विचार करेगे। कागजी द्रव्य का परिवर्तित होना इसलिए आवश्यक है कि उससे लोगो को भरोसा रहे और वे एक निश्चित सीमा मे प्रचलित रहे। जैसा कि हम आगे चल कर देखेगे, द्रव्य की पूर्ति मे वृद्धि यदि उपभोग की वृद्धि के अनुरूप न हुई तो उसका मूल्य उसी भाति घट जाता है जैसा कि अन्य किसी जिन्स का। इसलिए कागजी द्रव्य का प्रचलन सरकार की विधियो के अन्तर्गत नियन्त्रित रहता है। इसका एक उपाय नियन्त्रण का यह

होता है कि उसे मुद्रा अथवा प्रामाणिक धातु मे परिवर्तित किया जा सके।

अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य मे एक सब से बडा खतरा यह रहता है कि वह अधिक प्रचलित (Over Issue) हो सकती है। सरकार के लिए यह लाभप्रद होता है कि वह सकट काल मे, जैसे युद्ध के समय, अपने साधनों मे वृद्धि के लिए अधिक नोट छाप ले और उनकी क्रय-शक्ति से लाभ उठाये। ससार के करेन्सी इतिहास मे ऐसे कई उदाहरण है जब नोटो का अधिक प्रचलन (Over Issue) हुआ। जर्मनी पहले विश्वयुद्ध में इसका प्रमाण है। गत कुछ वर्षो मे भारत मे भी अधिक नोट प्रचलित हुए। अगले अध्याय मे हम मुद्रा स्फीति (Inflation) के परिणाम को देखेगे।

पाठको को यह स्पष्ट होना चाहिये कि कागजी द्रव्य का सोने व चादी से विनिमयत्व ही इसको अधिक मूल्यवान बनाता है। यह बिल्कुल उल्टी बात है। यदि सोने और चादी का मुद्रा-विषयक कोई उपयोग न हो तो उनका मूल्य अधिक गिर जाय। द्रव्य को जो मूल्य देती है वह है सरकारी मोहर और जो उसके मूल्य को स्थिर रखती है वह है उसकी मात्रा पर नियन्त्रण।

१९. बैक द्रव्य (Bank Money) :—बैक-द्रव्य मे विभिन्न साख-पत्र (Instruments of Credit) सम्मिलित रहते है। कीन्स (Keynes) के शब्दों मे, "बैक-द्रव्य केवल निजी कर्जे की स्वीकृति है जो कि लेखा-द्रव्य (Money of Account) मे प्रसारित की जाती है। लेन-देन के निबटारे के लिये यह एक आदमी से दूसरे आदमी के पास वास्तविक मुद्रा के रूप मे आती जाती रहती है।

बैक-द्रव्य के कई रूप है। इनमे से कुछ चेक, हुन्डी, बैक ड्राफ्ट इत्यादि है। इनका वर्णन हम आगे के अध्याय मे करेगे। यहा केवल यह समझ लेना चाहिये कि साख-पत्र (Credit Instruments) द्रव्य नही है, क्योकि वे सामान्य रूप से स्वीकृत नही किये जाते। बैक-द्रव्य अथवा 'चैक द्वारा उत्पन्न किया हुआ द्रव्य' समस्त आधुनिक सम्प्रदायो मे परिमाणित रूप मे अत्यधिक महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार धातु द्रव्य ने अन्य द्रव्य की वस्तुओ का प्रतिस्थापन किया और कुछ ही समय के अन्दर कागजी द्रव्य ने उसको प्रतिस्थापित किया था उसी प्रकार बैक-द्रव्य ने आधुनिक काल मे सभी प्रकार के द्रव्यो को प्रतिस्थापित किया है। चेक तथा बैक-द्रव्य अन्य प्रकार के द्रव्यो से इसलिये अधिक अच्छे है कि वे डाक द्वारा ले जाने मे, खरा पैसा देने मे, काउन्टर फायल के रूप मे, रसीदो के देने मे, तथा चुरा लिये जाने अथवा खोये जाने के प्रति सुरक्षित होने के कारण सुविधाजनक है।

२०. लेखा या हिसाब की मुद्रा (Money of Account)—इसके पूर्व कि हम द्रव्य के रूप पर इस अध्याय को समाप्त करे, कुछ शब्द लेखा मुद्रा की विवेचना के विषय मे कहना उचित होगा। लेखा मुद्रा वह इकाई है जिसमे किसी देश का लेखा तैयार किया जाता है और लेन-देन होता है। उदाहरण के लिये रुपया हमारी लेखा मुद्रा है। स्टर्लिंग, डालर, फ्रैंक और मार्क क्रमशः ग्रेट ब्रिटेन, सयुक्तराष्ट्र, फ्रास और जर्मनी

की लेखा मुद्रा है।

उपर्युक्त देशो मे क्रमश: यही सब इकाइया चलन का माध्यम है। किन्तु यह आवश्यक नही है कि ऐसा हो ही। लेखा मुद्रा किसी देश में प्रचलित द्रव्य से भिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिये, मुद्रास्फीति (Inflation) के कारण सन् १९२२-२४ में जर्मनी के माक का मूल्य अधिक गिर गया। लोगो का उस पर से विश्वास उठ गया क्योकि लोग नही जानते थे कि अगले दिन या अगले घन्टे मार्क का क्या मूल्य होगा। यह बडा अरक्षित था कि इतनी अनिश्चित मूल्य की करेन्सी द्वारा लेन-देन किया जाय। अतएव मार्क लेखा-शोधन मुद्रा नही रहा। उस समय अमेरिकन डालर सर्वाधिक सतुलित द्रव्य था। अतएव लोगो ने लेन-देन मे उसे अपना लिया। यद्यपि भुगतान मार्को मे होता था किन्तु सौदा डालरों में तय किया जाता था। डालरो की एक निश्चित सख्या मार्को के विपरीत निश्चित कर दी जाती थी, अतएव इस प्रकार जर्मनी मे डालर ने लेखा-शोधन मुद्रा का रूप ले लिया। इगलैंड मे गिनीस (Guineas) और भारत मे पाइयाँ (Pies) नही चलती है और विनिमय के माध्यम का काम नही करती। वे केवल 'लेखा-द्रव्य' (Money of Account) है। कीन्स (Keynes) ने द्रव्य (Money) तथा **लेखा द्रव्य** (Money of Account) मे इस प्रकार अन्तर किया है : "**लेखा द्रव्य वर्णन** (description) अथवा **टाइटिल** (Title) है और द्रव्य वह वस्तु है जो कि उस वर्णन का उत्तर देता है।"[1]

यह याद रखना चाहिए कि लेखा द्रव्य मे निरन्तरता होना आवश्यक है। जहा तक हो सके इसका नाम नही बदलना चाहिये, परन्तु जब नाम मे परिवर्तन हो तो नई इकाई का पिछली मे अवश्य ही सम्बन्ध होना चाहिये, अन्यथा, भ्रम हो जायगा। केवल एक आपत्ति ही जो कि समस्त प्रचलित सौदो को एक साथ समाप्त कर देगी, लेखा द्रव्य की निरन्तरता मे आरम्भ से बाधक हो सकती है।

२१. द्रव्य के कुछ अन्य रूप (Some other Forms of Money) :—कुछ और भी शब्द है जो कि वाद-विवाद के समय द्रव्य के सम्बन्ध मे प्रयोग किये जाते है। वे वस्तु द्रव्य (Commodity Money), फिएट द्रव्य (Fiat Money) तथा प्रबन्धित द्रव्य (Managed Money) है। कीन्स (Keynes) ने उनकी निम्नलिखित परिभाषाये की है[2] —

'**वस्तु द्रव्य** (Commodity Money) किसी विशेष असीमित मात्रा में प्राप्त उस नैकाधिकार वस्तु की वास्तविक इकाइयो से बना है, जिसकी अधिक अभिरुचि द्रव्य के स्पष्ट कार्यो के करने के लिये की गई हो, परन्तु उसकी पूर्ति का निर्धारण—अन्य वस्तुओ के अनुसार—न्यूनता (Scarcity) तथा उत्पादन व्यय

१. Keynes, J.M.—A Treatise on Money, 1950, Vol. I, pp. 3—4

२. Ibid. p. 7.

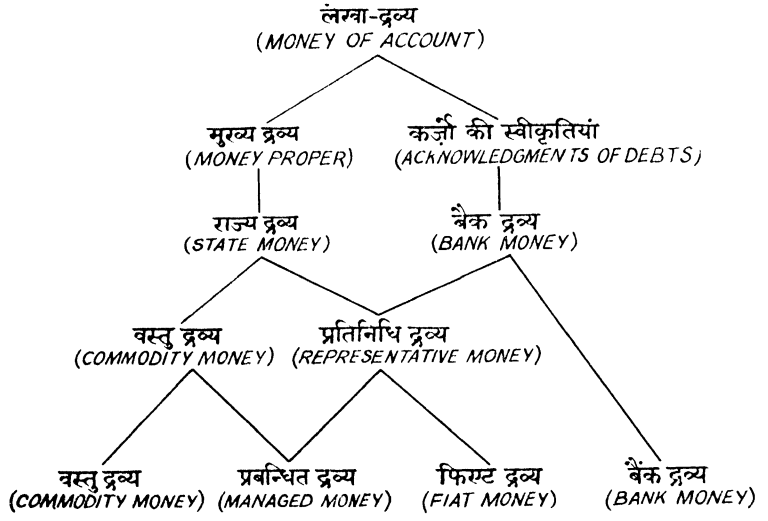
(Cost of Production) से हो।

फिएट द्रव्य (Fiat Money), प्रतिनिधि द्रव्य (Representative Money) है (अर्थात् भौतिक पदार्थ का कुछ असली मूल्य, जो कि उसके मुद्रा-विषयक अंकित मूल्य (Monetary Face Value) से पृथक् कर दिया गया है)—अब छोटी मज़ा (Denomination) के सिवा अधिकतर कागज का बनता है—जिसको सरकार बनाती अथवा निकालती है। परन्तु यह कानून के अनुसार अपने के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से बदलने योग्य नहीं है और बाहरी विनिमय के सम्बन्ध में इसका कोई निश्चित मूल्य नहीं है।

प्रबन्धित द्रव्य (Managed Money), फिएट द्रव्य (Fiat Money) के समान है। केवल अन्तर यही है कि राज्य इसके इस प्रकार चलाने की व्यवस्था का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेता है, कि चाहे बदलने योग्य हो या नहीं, किसी बाहरी वस्तु के प्रमाप के सम्बन्ध में इसका मूल्य नियत रहे।"

यह वस्तु द्रव्य तथा फिएट द्रव्य के बीच में एक दोगले के समान है। वस्तु द्रव्य के अनुसार इसका सम्बन्ध मूल्य के बाहरी प्रभाव से है और फिएट द्रव्य के अनुसार यह केवल प्रतिनिधि द्रव्य है और कोई निजी असली मूल्य नहीं रखता।

कीन्स (Keynes) के आधार पर द्रव्य के रूपों का नक्शा इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —



चित्र नं० ५७

२२. ग्रेशम का सिद्धान्त (Gresham's Law) :—टकन के सिलसिले में रानी ऐलिजाबेथ (Queen Elizabeth) के अर्थ सलाहकार

सर टौमस ग्रेशम (Sir Thomas Gresham) के नाम से सम्बोधित एक अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। रानी एलिजाबेथ इस बात के लिए उत्सुक थी कि वह अंग्रेजी करेन्सी मे, जिसका मूल्य उनके पिता हेनरी अष्टम ने घटा दिया था, सुधार करे। किन्तु वे परेशान थी कि ज्यो ही वे किसी नई मुद्रा को चलन मे भेजती वह लोप हो जाती थी। तब सर टौमस ग्रेशम से कहा गया कि वह इस पर प्रकाश डाले। उन्होंने जो उत्तर दिया, वह उन्ही के नाम पर एक सिद्धान्त बन गया।

ग्रेशम के सिद्धान्त को सक्षेप मे हम इस प्रकार कह सकते है :—

"बुरा द्रव्य, अच्छे द्रव्य को चलन के बाहर कर देता है।"

"Bad Money Drives Good Money out of Circulation".

यह कैसे कार्य करता है ?—ग्रेशम का सिद्धान्त तीन रूपो मे कार्य करता है।

(अ) अच्छा द्रव्य जमा कर लिया जाता है, (ब) अच्छे द्रव्य को गला डालते है, और (स) अच्छे द्रव्य को निर्यात कर देते है।

अच्छे द्रव्य (Good Money) से हमारा तात्पर्य प्रमाप वजन और श्रेष्ठता के पूर्ण मूल्य वाली मुद्राओ से है और बुरे द्रव्य (Bad Money) से हमारा अर्थ उससे है जिसका मूल्य कम कर दिया गया हो, अथवा जो पुराना हो गया हो, जिससे उसके मूल्य मे अन्तर पड जाय। उपर्युक्त तीन कारणो से अच्छा द्रव्य अधिक उपयुक्त होता है। इकट्ठा करने, गला देने अथवा विदेशो को निर्यात कर देने से वह चलन के बाहर हो जायगा और चलन मे बुरा द्रव्य शेष रह जायगा।

ग्रेशम का सिद्धान्त कब लागू होता है ? यह सिद्धान्त तीन दशाओ मे लागू होता है। (अ) जब पूर्ण मूल्य वाली मुद्रा और कम मूल्य, जाली अथवा पुरानी मुद्राये साथ-साथ चलन मे हो, (ब) जब धातु-द्रव्य और कम मूल्य वाला कागजी द्रव्य साथ-साथ प्रचलित हो और (स) द्विधातुवाद हो अर्थात् जब दो प्रामाणिक मुद्राये प्रचलित हो अर्थात् दोनों असीमित कानूनन ग्राह्य हो, दोनो निर्मूल्य मुद्राकन के अधीन हो और दोनो का अकित मूल्य धातु के बराबर हो। द्विधातुवाद के अन्तर्गत ग्रेशम के सिद्धान्त के प्रभाव हम अगले अध्याय मे देखेगे।

नियम की सीमायें (Limitations of the Law)—यह नियम लागू नही होगा यदि (अ) करेंसी में कमी हो और (ब) बुरे द्रव्य के विरुद्ध जनमत हो, जिसके कारण बुरे द्रव्य को चलन के बाहर जाना ही होगा।

२३. भारतीय द्रव्य प्रणाली (Indian System of Money)—भारत में मुख्य मुद्रा रुपया है, जो लगभग पूर्णतया निकिल का बना होता है। इसका मूल्य वास्तव मे २-३ आने से अधिक नही होता। रुपया हिसाब और मूल्य-निर्धारण का मान है। दूसरी मुद्रा अठन्नी है, जिसका रूप रुपये के समान है। दोनों ही असीमित कानूनन ग्राह्य

है। हमारी मुद्राओ मे चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी, अधन्ना, पैसा और पाई भी सम्मिलित है। पाई का प्रयोग केवल हिसाब-खाते (Accounting) मे होना है और उसे व्यावहारिक प्रचलन मे नही पाया जाता। यह मुद्राये दस रुपये तक कानूनन ग्राह्य है।

हमारे यहा कोई पूर्ण मुद्रा नही है अर्थात् वह मुद्रा, जिसका **अंकित मूल्य** (Face value) अथवा सरकारी मूल्य (Official value) धातुमूल्य (Metallic value) के बराबर हो। हमारी कोई भी मुद्रा पूर्ण मुद्रा नही है। वह सभी प्रतीक या सांकेतिक मुद्राये है। उनका धातु मूल्य उनके अकित मूल्य (Face value) से बहुत कम है। उसे 'चादी पर मुद्रित नोट' कहा जाता था। अब यह कहना अधिक उचित होगा कि यह 'निकिल पर मुद्रित नोट' है। इस प्रकार हमारा रुपया सांकेतिक (Token) और प्रामाणिक (Standard) मुद्राओ का मिश्रण है।

धातु मुद्रा (Metallic Money) के अतिरिक्त हमारे यहा कागजी करेन्सी भी प्रचलित है। हमारे नोट १००), १०), ५), २), और १) रुपये के है। भारत मे सन् १८३९ मे सर्वप्रथम तीन प्रेसीडेन्सी बैंको—बैंक आफ बाम्बे, बैंक आफ मदरास और बैंक आफ बगाल ने करेन्सी नोट जारी किये थे। सन् १८६१ मे नोट जारी करने का कार्य भारत सरकार ने अपने हाथो मे ले लिया। सर्वप्रथम नोटो को जारी करने का प्रत्यक्ष भाग चार करोड निश्चित रुपये किया गया। और उसके बाद शत-प्रतिशत सुरक्षित कोष रखना पडता था। यह सीमा क्रमश: बढा दी गई। हिल्टन यग कमीशन (Hilton Young Commission) ने अनुपात सुरक्षित प्रणाली (Proportional Reserve System) को स्वीकार करने की सिफारिश की। सन् १९३५ मे रिजर्व बैंक आफ इडिया (Reserve Bank of India) ने नोट जारी करने का काम अपने हाथ मे ले लिया। रिजर्व बैंक ऐक्ट के अनुसार कागजी करेसी के पीछे रुपये के सिक्के, भारत सरकार की रुपये वाली सिक्योरिटिया, स्वर्ण मुद्रा (Gold Coins), तथा (ब्रिटिश सरकार की) स्वर्ण सिक्योरिटियो का अवश्य ही पूर्ण सहारा होगा। किन्तु स्वर्ण, और स्वर्ण सिक्योरिटिया प्रत्येक दशा मे पूर्ण सुरक्षित कोष का ४० प्रतिशत हो और स्वर्ण मुद्रा तथा धातु की मात्रा कम से कम ४० करोड रुपये हो। सभी नोट केवल **एक रुपये के नोट को छोड़ कर** परिवर्तनीय है।

निर्देश पुस्तके

Crowther, G.—An Outline of Money, 1950, Ch. I
Cole, G. D. H.—Money, Its Present and Future.
Cole and Others—What Everybody Wants to Know about Money.
Brij Narain—Money and Banking (S.Chand & Co)
Coulborn, W.A.L.— A Discussion of Money, 1950, chs. I—IV
Keynes, J. M.—A Treatise on Money, 1950, Chaps I, II and III.
Wicksell, K.—Lectures on Political Economy, Vol. II, Chs. I and II

अध्याय ३३

मुद्रा प्रणालियाँ

(MONETARY SYSTEMS)

१. भूमिका—द्रव्य तभी अपना कार्य ठीक से कर सकता है जब कि उसका सगठन सही हो। यह देखा जा चुका है कि द्रव्य का एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह मूल्य का एक प्रमाणीकृत मापदण्ड है। इसलिये यह आवश्यक है कि द्रव्य की इकाई के मूल्य मे बहुत अधिक अस्थिरता न हो। इसलिये अधिकतर मुद्रा का मूल्य स्वर्ण अथवा चादी मे मापा जाता है। कभी-कभी कोई देश अपनी मुद्राओ के मूल्य को दूसरे देश की मुद्रा प्रणाली पर आधारित कर उसे स्थिर रखता है। अस्तु, समय-समय पर विभिन्न द्रव्य प्रणालियो को अपनाया गया, जिनका वर्णन निम्नलिखित है :—

(अ) **द्विधातुमान** (Bimetallism)—जब प्रामाणिक मुद्रा दो प्रकार की धातुओ, सोना व चादी की, बनती है, तो वह प्रणाली द्विधातुमान कहलाती है।

(ब) **एकधातुमान** (Monometallism)—जब केवल एक धातु, सोना अथवा चादी, के सिक्के बनते है, तो प्रणाली एकधातुमान की होती है। ऐसी प्रणाली मे जब चादी के सिक्के बनते है तब रजतमान कहलाता है। और जब सोने के सिक्के बनते है तब स्वर्णमान कहलाता है। स्वर्णमान (१) पूर्णत स्वर्णमान (२) स्वर्णधातु-मान अथवा (३) स्वर्ण-विनिमय-मान हो सकता है।

(स) **पत्र मान** (Paper Standard)—

२. **द्विधातु मान** (Bimetallism)—द्विधातुमान मे सोने और चादी के सिक्के साथ-साथ चलते है। दोनो धातुओ के बीच एक विशेष अनुपात स्थिर कर दिया जाता है और दोनो ही धातुओ के बने हुए सिक्के असीमित काननन ग्राह्य होते है। इच्छानुसार सोने या चादी किसी भी सिक्के मे ऋणी अपना ऋण चुका सकता है।

कभी-कभी दोनो प्रकार के सिक्के असीमित काननन ग्राह्य होते हुए भी स्वतन्त्र-मुद्रा निर्माण केवल एक प्रकार के सिक्के मे होता है। फ्रास मे द्विधातुमान के समय मे चादी के फ्रैंक का स्वतन्त्र मुद्रा निर्माण नही था। इस प्रकार की निर्माण प्रणाली को लग मान (Limping Standard) कहते है।

सन् १८०३ मे फ्रास ने द्विधातुमान अपनाया। सोने और चांदी मे प्रति औंस सोने पर १५½ औंस चांदी का अनुपात रक्खा गया। पचास वर्ष तक फ्रास ने यह अनुपात निभाया। पर सन् १८४८–५० मे सोने की खानो के अनुसधान के कारण चादी के सम्बन्ध में सोने का भाव गिर गया। विवश होकर उनके अनुपात को बदलकर चादी का भाव

बढाना पड़ा जिससे कि ग्रेशम के नियम से मुद्रा प्रभावित न हो जाये। ग्रेशम के नियम की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है :—"सब बातें समान होते हुए यदि किसी देश मे दो या अधिक प्रकार के सिक्के साथ-साथ चलते हो, तो निम्न कोटि की मुद्रा अच्छी मुद्रा के चलन को समाप्त कर देगी"। एक उदाहरण से द्विधातुमान के अन्तर्गत इस नियम का लागू होना स्पष्ट हो जायेगा। मान लीजिये कि किसी ऐसे देश मे जिसमे द्विधातुमान हो, अनुपात इस प्रकार रक्खा गया कि एक औंस सोना १५½ औंस चादी के बराबर हो। यदि किसी प्रकार सोने की पूर्ति इतनी बढ जाये कि बाजार मे केवल १५ औंस चादी के बदले एक औंस सोना मिलने लगे तो इसका अर्थ यह होगा कि राज्य चादी के मूल्य को कम व सोने के मूल्य को अधिक मान्यता देता है। ऐसी दशा मे सोना बुरी व चादी अच्छी मुद्रा होगी। लोग चादी को जमा करना प्रारम्भ कर देगे। इसके अतिरिक्त वे टकसाल मे जाकर एक औंस सोने के बदले १५½ औंस चादी प्राप्त कर सकेगे जिसे बाजार मे १५ औंस के अनुपात मे बेचकर ½ औंस चादी हर सौदे पर बचा सकेगे। परिणाम यह होगा कि सोने की मुद्रा का प्रचार जारी रहेगा और चादी धीरे-धीरे चलन से छिप जायगी और द्विधातुमान के होते हुए भी वास्तव मे देश मे एकधातुमान ही प्रचलित रहेगा। द्विधातुमान का अस्तित्व बनाए रखने के लिये एक उपाय यह है कि बाजार भाव के अनुसार टकसाल भाव मे परिवर्तन कर दिया जाय। फ्रास ने चादी के सिक्को मे चादी की मात्रा कम करके द्विधातुमान को स्थिर रक्खा था।

एक और उपाय जिससे द्विधातुमान मे धातुओं के बीच अनुपात ठीक रक्खा जा सकता है, वह यह है कि कई देश द्विधातुमान प्रणाली को अपनाये। यदि एक धातु, जैसे सोना सस्ता हो जाय तो द्विधातु मान के देशों मे इसकी माग बढ जायगी जब कि दूसरे धातु चादी की माग घट जायगी। इससे सस्ती धातु चादी का मूल्य घट जायगा और सोने का बढ जायगा। इस प्रकार द्विधातुमान के देश अपना अनुपात आपस मे स्थिर कर लेते है। इसी ध्येय से फ्रास, बेल्जियम, इटली और स्विटजरलेड ने १८६५ मे एक मुद्रा सघ स्थापित किया। कुछ वर्ष बाद यूनान, सर्विया, रोमानिया तथा दक्षिणी अमरीका के कुछ राज्य भी इस सघ मे सम्मिलित हो गये। पर यह सघ द्विधातुमान को स्थिर रखने मे सफल नही हो सका और फलस्वरूप १८७४ मे चादी का भाव गिरने के कारण यह समाप्त हो गया।

१९वी शताब्दी के अन्त की ओर अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर द्विधातुमान स्थापित करने के कई प्रयत्न किये गये। पर चूकि इगलैण्ड ने साथ नही दिया, इस लिये यह प्रयत्न भी सफल नही हो सके।

अमरीका अपने देश की चादी के विचार से द्विधातुमान के पक्ष मे था। भारत ने १८९३ मे अपने यहा चादी का स्वतन्त्र टकन बन्द कर दिया और इस प्रकार चादी के मूल्य मे भारी कमी पैदा हो गई। १८९७ मे भारत के सामने यह प्रश्न आया कि यदि अमरीका और फ्रास अपने यहा स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई प्रारम्भ कर दे तो क्या भारत

भी अपनी टकसालों को स्वतन्त्र कर देगा। पर भारत ने ऐसा करना पसन्द न किया और फलस्वरूप फ्रास व सयुक्तराष्ट्र अमेरिका मे भी चादी का स्वतन्त्र टकन बन्द रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान स्थापित करने का एक दूसरा उद्देश्य यह भी था कि किसी प्रकार मुद्रा की पूर्ति बढ जाय। जब दो धातु के सिक्के एक साथ कानूनन ग्राह्य होते है, तो मुद्रा की पूर्ति बढ जाती है। पर बैंक प्रणाली के विकास और पत्र-मुद्रा व साख-पत्रो के प्रयोग से यह कमी पूरी हो गई। परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान की आशा सदैव के लिये समाप्त हो गई।

३. द्विधातुमान के गुण तथा अवगुण (Merits and Demerits of Bimetallism) द्विधातुमान के गुण निम्नलिखित है —

(१) इस प्रकार की मुद्रा की पूर्ति आसानी से बढाई जा सकती है। चूंकि दो धातुओ से मुद्रा बनाई जाती है, इसलिये ऐसे बहुत कम समय होगे जब कि मुद्रा की कमी हो।

(२) ऋण के लिये बैंक उचित मात्रा मे नकद रुपया सरलता से रख सकते है। चूंकि चादी या सोना दोनो धातुओ के सिक्के असीमित कानूनन ग्राह्य होते है, इसलिये बैंक किसी भी एक सिक्के मे अथवा दोनो सिक्को मे सचित कोष रख सकते है।

(३) सरकार को भी कुछ आर्थिक लाभ होते है। एकधातुमान की अपेक्षा इसमे सरकार अधिक सुगमता से नकदी की आवश्यकताओ की व्यवस्था कर सकती है।

(४) द्विधातुमान से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे बडी सुविधा हो जाती है क्योकि इस मान के अन्तर्गत प्रत्येक से विनिमय दर स्थापित की जा सकती है।

(५) यदि केवल सोने का एकधातुमान रक्खा जाय तो इसके लिये सोना पर्याप्त मात्रा मे नही मिल सकेगा। इसलिये द्विधातुमान अधिक उपयोगी होता है।

(६) १९ वी शताब्दी के अन्त की ओर चादी के भाव मे कमी हो जाने के कारण द्विधातुमान अपनाने पर अधिक जोर दिया जाने लगा। यह विचार किया गया कि यदि द्विधातुमान नही अपनाया गया तो चादी प्रयोग करने वाले देशो को हानि होगी और ऐसी दशा मे, उन देशो के व्यापार पर जो चादी के देशो के बाजारो पर निर्भर करते है, बुरा असर पडेगा।

(७) लोगो का यह विश्वास था कि यह मान अधिक स्थिर रहेगा क्योंकि एक धातु की कीमत गिरने की कमी दूसरे धातु की कीमत की वृद्धि से पूरी हो जायगी।

द्विधातुमान के अवगुण—पर इन सब गुणो के होते हुए भी द्विधातुमान स्थापित करने के सारे प्रयत्न विफल हुए। सब को विश्वास था कि जब तक अंतर्राष्ट्रीय ढग पर द्विधातुमान की स्थापना न होगी, तब तक सफलता प्राप्त नही हो सकती। और इसकी कोई आशा न थी। इगलैण्ड इसको मानने को तैयार न था।

यदि केवल एक देश इसे अपनाता तो ग्रेशम के नियम के कारण वह सफल न होता। इसके अतिरिक्त पत्र-मुद्रा के चलन के कारण अब धातुओ के अपर्याप्त होने का भी डर नहीं

रहा। सरकार भी पत्र-मुद्रा द्वारा अपनी कठिनाइया हल कर सकती है।

और फिर विदेशी विनिमय की प्रणाली अब इतनी विकसित हो चुकी है कि बिना द्विधातुमान के भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार हो सकता है।

पत्र-मुद्रा ने द्विधातु-मान के प्रचलन के विचार को सदैव के लिये समाप्त कर दिया है।

जिस प्रकार दो उजड्ड व्यक्तियो की अपेक्षा एक गम्भीर व्यक्ति अधिक स्थिर पग रख सकता है, इसी भाति यह देखा गया कि सोना अथवा चादी के एकधातुमान मे अधिक स्थिरता होती है।

यह नही, टकसाल के भाव व बाजार मे सदैव परिवर्तन होते रहते है। ऐसी दशा में द्विधातुमान के देश मे व्यापार, आवागमन, आदि मे रुकावटे पडेगी जिसके कारण मुद्रा-प्रणाली मे अडचने पैदा होती रहेगी।

क्या द्विधातुमान में सोने व चांदी के बीच सरकारी अनुपात स्थिर रक्खा जा सकता है ? ––द्विधातुमान के समर्थको का कहना है कि इस मान मे समतोलन क्रिया (Compensatory Action) होती है क्योकि टकसाल के भाव और बाजार भाव के अनुपात मे किसी भी प्रकार के परिवर्तन से ऐसी दशाये पैदा हो सकती है जिनसे अनुपात स्वय ठीक हो जाता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी :––

मान लीजिये कि सोने और चादी मे १ : १५ का अनुपात है। अब यदि यह मान लिया जाय कि बाजार मे दोनो धातुओ का अनुपात बदल कर १ : १६ हो जाय तो किसी भी व्यक्ति के लिये यह अधिक लाभप्रद होगा कि बाजार मे जाकर एक सोने के सिक्के के बदले १६ चादी के सिक्के प्राप्त कर एक सिक्के को तो अपने पास रक्खे और १५ सिक्को से टकसाल मे जाकर फिर एक सोने का सिक्का ले ले और ऐसा करता रहे। यदि बहुत से लोग यही करना शुरू कर दे तो बाजार मे चादी की माग बढ जायगी और उसकी कीमत बढ जायगी। ऐसा उस समय तक होता रहेगा जब तक कि चादी की कीमत इतनी न बढ जाय कि अनुपात फिर १ : १५ हो जाय। इसी को द्विधातुमान के समर्थक समतोलन क्रिया कहते है।

यह विचार वैसे तो बिल्कुल ठीक लगता है, पर यदि ध्यान दिया जाय तो यह मालूम होगा कि इस प्रकार की प्रणाली मे सदैव परिवर्तन होते रहेगे और ग्रेशम के नियम के कारण कभी भी मान स्थिर नही रह सकेगा। द्विधातुमान के कार्य करने के बारे मे कोलबोर्न (Coulborn) इस भाति कहते है "इससे वाणिज्य मे गडबडी हो जाती है तथा देशो मे प्रतियोगिता उत्पन्न हो जाती है। एक देश मे द्विधातुमान, सदैव ही नष्ट हो जाता है और भिन्न-भिन्न देशो मे द्विधातुमान जब कि सोने तथा चादी के बीच भिन्न-भिन्न अनुपात होते है अवश्य ही नष्ट हो जायगा।" यही कारण है कि अब कोई भी द्विधातुमान का समर्थन नही करता। इस सबन्ध मे ससार आगे बढ़ चुका है।

४. रजत मान (Silver Standard)--रजत मान में द्रव्य की इकाई का मूल्य चादी मे निश्चित किया जाता है। अक्सर एक निश्चित भार व शुद्धता के सिक्के स्वतन्त्र टकन प्रणाली के अनुसार बनाये जाते है। उदाहरण के लिए भारत वर्ष में १८३५ से १८९३ तक रजत मान रहा। भारतीय रुपये का भार १८० ग्रेन होता था और इन मे $\frac{११}{१२}$ के अनुपात मे शुद्धता थी। इसकी टकन प्रणाली स्वतन्त्र थी और हर व्यक्ति एक निश्चित चादी के बदले किसी भी समय सिक्का प्राप्त कर सकता था। साथ ही साथ आवश्यकता पडने पर सिक्को को पिघला कर चादी का रूप भी दिया जा सकता था। इस प्रणाली के चलन की वृद्धि या संकुचन स्वचालित तो अवश्य होगया पर १८७४ मे जब चादी का भाव तेजी से गिरने लगा तो सरकार को बडी कठिनाई का सामना करना पडा। मूल्य की यह कमी बहुत कुछ तो इस कारण थी कि चादी की पूर्ति बढ गई और इसकी माग कम होने लगी पर इसका सबसे बडा कारण यह था कि योरोपीय देशो मे मुद्रा टकन के लिए सोने की माग पूर्ति मे वृद्धि के बिना अत्यधिक बढ गयी।

चादी के मूल्य मे कमी से सबसे अधिक हानि भारत को हुई। लोग सस्ती चादी खरीद कर मुद्रा बनवाने लगे। फलस्वरूप देश भर मे कीमतें बहुत बढ गईं। हमारे आयात पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पडा क्योकि पौड के बदले मे पहले से अधिक रुपये देने पडने लगे, और परिणाम यह हुआ कि इग्लैन्ड के प्रति भारत के रुपये से इग्लैन्ड मे होने वाला व्यय का भार बहुत बढ गया। अन्त मे हर्शल कमेटी के सुझाव के अनुसार भारतवर्ष मे चादी का स्वतन्त्र टकन बन्द कर दिया गया और इस प्रकार इस देशमे रजत मान की समाप्ति हुई।

रजत मान व स्वर्ण मान की कार्य-प्रणाली प्राय एक-सी है। पर स्वर्ण मान इसलिये अधिक ठीक रहता है कि चादी की अपेक्षा इसके मूल्य मे कम परिवर्तन होते है।

५. स्वर्ण परिचलन मान (Gold Circulation Standard)--इसको पूर्ण स्वर्ण मान भी कहते है। जिस देश मे स्वर्ण केवल मूल्य के मान के रूप मे ही नही वरन् सिक्को के रूप मे भी प्रचलित होता है, उस देश का मान स्वर्ण परिचलन मान कहलाता है। १९१४ के पहले इग्लैड, फ्रास, जर्मनी व सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे स्वर्ण मान प्रचलित था। ऐसी प्रणाली मुद्रा के लिये एक ठोस तथा स्पष्ट प्रतिभूति उपस्थित करती है। यह उन लोगो के लिये भी बहुत सुविधाजनक होता है जो विदेश मे भ्रमण करते है क्योकि वे अपनी मुद्रा ले जा सकते है और ससार के किसी भी भाग मे स्वीकार किये जाने की निश्चित आशा रख सकते है। यह बहुत ही पुरानी द्रव्य प्रणाली है। इसको हम पुरातन प्रणाली कह सकते है।

स्वर्णमान की प्रणाली को हम १९१४ के पूर्व के ब्रिटेन के उदाहरण से स्पष्ट कर सकते है। उस देश मे एक निश्चित भार के स्वर्ण के सिक्के सावरेन के रूप मे चला करते है। इस सिक्के मे विशुद्ध सोने के अतिरिक्त थोडा मिश्र-धातु भी होता था। सावरेन का असली भार १२३.२७४४७ ग्रेन होता था और इसमें $\frac{११}{१२}$ विशुद्धता होती थी। दूसरे

शब्दों में, अंग्रेजी मुद्रा के अनुसार $\frac{११}{१२}$ विशुद्धता का एक औस सोना ३ पौंड १७ शिलिंग १०$\frac{१}{२}$ पैंस में प्राप्त किया जा सकता था। वास्तव में ऐसे १ औंस सोने के बदले बैंक केवल ३ पौंड १७ शिलिंग ९ पैंस देता था। पर बैंक से १ औस सोना खरीदने के लिये ३ पौंड १७ शिलिंग १०$\frac{१}{२}$ पैंस देने पड़ते थे। इस प्रणाली के अनुसार ब्रिटिश सावरेन का कभी भी मूल्य १२३ २७४४७ ग्रेन से अधिक ऊपर या नीचे नही हो सकता था। प्रथम महायुद्ध के दिनो मे यह नही निभाया जा सका। अप्रैल १९३५ में ब्रिटेन ने फिर से स्वर्ण मान को अपनाया पर यह नवीन स्वर्णमान दूसरे प्रकार का था जिसको स्वर्ण-धातु मान कहते है।

६. स्वर्ण धातु मान (Gold Bullion Standard)––इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा का मूल्य सोने मे अकित रहता था पर सोना सिक्को के रूप मे प्रचलित नही होता था।

इग्लैंड मे बैंक आफ इग्लैंड ३ पौंड १७ शिलिंग ९ पैंस ($\frac{११}{१२}$ विशुद्धता) प्रति औस सोना खरीद कर ४०० औस तक सोना ३ पौंड १७ शिलिंग १०$\frac{१}{२}$ पैंस के हिसाब से बेचता था। सोने का निर्यात अथवा आयात स्वतन्त्र रूप से हो सकता था पर सोने के सिक्के नही चलते थे। इसका आशय विदेशी भुगतानो के लिये सोना सुरक्षित रखने से था।

भारत मे १९२७ मे हिल्टन यग कमेटी के सुझावों पर स्वर्ण-धातु मान अपनाया गया। इसके अनुसार राज्य को पूर्व-घोषित दरो पर कम से कम ४०० औस सोना खरीदना व बेचना पडता था। कमीशन का दावा था कि इस प्रकार के मान मे केवल स्वर्ण मान की हानिया नही होती परन्तु लाभ सब होते है, जो इस प्रकार है.––

१. यह सस्ता होता है। जनता रोज के चलन मे सस्ती मुद्रा का प्रयोग कर सोने को बचा लेती है।

२. इससे राज्य का सम्मान बना रहता है क्योकि सोने का स्वतन्त्र आयात अथवा निर्यात हो सकता है। स्वर्ण विनिमय मान की भाति केवल विनिमय के लिये ही सोने का प्रयोग नही होता।

३. स्वर्ण धातु मान के अन्तर्गत कागजी मुद्रा स्थिर रहती है, क्योकि इसे सोने में बदला जा सकता है। पर स्वर्ण विनिमय मान मे ऐसा नही हो सकता।

४. यह भी कहा जा सकता है कि इस मान में मुद्रा की वृद्धि अथवा संकुचन अपने आप होता रहता है, क्योकि मुद्रा की वृद्धि तब होगी जब सोना जनता बेचेगी और संकुचन तब होगा जब जनता सोना खरीदेगी।

५. ऐसा विचार किया जाता है कि केन्द्रीय बैंक में संचित सोना, अधिक उपयोगी होता है और राष्ट्रीय मुद्रा को उस सोने से अधिक सहारा देता है जो कि परिचलन में होता है।

६. स्वर्ण धातु मान जनता को सोना प्राप्त करने की योग्यता तथा उसको गलाने या आयात करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

[illegible] पर यह लाभ वास्तविक नही है। कम से कम भारत के लिये तो यह लाभप्रद सिद्ध नही हुआ क्योकि साधारण मनुष्य इतने कागज के नोट कभी भी जमा न कर सकता था कि ४०० औस सोना बदले मे ले सके। यदि सोने का मूल्य १०० रुपया प्रति तोला हो तो नोट के बदले मे सोना लेने के लिये कम से कम १ लाख रुपये के नोटो की आवश्यकता होती। इसलिये साधारण मनुष्य के लिये तो नोट अपरिवर्त्तनशील ही होते थे। भारत जैसे देश मे नोटो को रुपये के बजाय सोने मे परिवर्त्तनशील बना दिया जाय, तो जनता का विश्वास उठ जायगा। स्वर्ण धातु मान मे मुद्रा के विस्तार और संकुचन को स्वचालित नही रखा जा सका। [illegible]

१९३१ मे इग्लैड और भारत ने स्वर्ण-धातु मान को छोड़ दिया और स्वर्ण धातु-मान की समाप्ति हो गई।

कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार है कि अब चूकि ससार मे स्वर्ण की कमी नहीं रही, इसलिए स्वर्ण मान को फिर अपनाया जाय। इसका कारण यह है कि स्वर्ण मान अपनी कार्य प्रणाली मे अधिक स्वचालित होता है। दूसरे अध्यायो मे स्वर्ण मान का अधिक विस्तृत अध्ययन करेगे।

७. स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard)—पहिला देश जिसने स्वर्ण विनिमय अपनाया हालैड है। रूस ने इसके बाद १८९४ मे इसको अपनाया। इसी समय इसको आस्ट्रिया और हगरी ने भी ग्रहण किया। तो भी इसको पूर्ण तथा सुचारु रूप से अपनाने का श्रेय भारतवर्ष को है जहा यह १९०७ में चलना शुरू हुआ। फिलीपाइन द्वीप ने इसको कुछ वर्षों पहिले ग्रहण किया। जनेवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने जो १९२२ मे हुआ, एक प्रस्ताव द्वारा स्वर्ण विनिमय मान को अपनाने की सिफारिश की। १९१४-१८ के युद्ध के समय भारत मे यही प्रणाली प्रचलित थी। इस मान के अन्तर्गत देशीय मुद्रा चादी के रुपयो मे थी, जो कि सांकेतिक सिक्कों व कागज के नोटों की होती थी। पर विदेशी भुगतान के लिये एक विशेष दर पर रुपयो के बदले ब्रिटिश मुद्रा का प्रयोग किया जाता था। लदन मे राज्य सचिव परिषद् विपत्र (Council Bill) को (रुपये) उन लोगो के भुगतान के लिए दिया करता था जो भारत में सौदों की अदायगी करना चाहते थे। भारत सरकार जब भारत में राज्य सचिव के विकर्ष (Draft) बेचती थी तो वे प्रति-परिषद् विपत्र (Revise Council Bills) कहलाते थे। इस क्रय-विक्रय की दर ऐसी होती थी कि स्टर्लिग व रुपये का अनुपात १ शिलिग ४ पैंस अथवा इसके आसपास रहे।[1]

१—प्रथम महायुद्ध के पहले भारतीय पये का अनुपात १ शिलिग ४$\frac{1}{2}$ पें. व १ शि. ३$\frac{29}{32}$ पें. था (पहला लंदन और दूसरा भारत में)।

स्वर्ण विनिमय मान मे यह आवश्यक होता है कि दो प्रकार के रिजर्व रखे जायं। एक तो उस देश मे, जो इसे अपनाये और दूसरा विदेश मे। यदि यह रिजर्व पर्याप्त होगे तो प्रणाली सफल रहेगी। इसी उद्देश्य से भारत सरकार एक स्वर्णमान रिजर्व रखा करती थी। जो देश इस मान को अपनाता था वह उस देश पर, जिसकी मुद्रा से अपनी मुद्रा को सबधित करना था, आश्रित होता था।

प्रथम महायुद्ध मे चादी की कीमत और रुपयों की माग बढ जाने के कारण यह प्रणाली समाप्त हो गई। चादी की कीमत बढ जाने से रुपया जमा किया जाने लगा। भारत का निर्यात आयात से अधिक हो जाने के कारण रुपयो के अधिक सिक्कों की आवश्यकता पडने लगी। सरकार पुराने भाव पर रुपया नही दे सकती थी। पहले सरकार ने रुपये का भाव बढा दिया। पर बाद मे स्टर्लिग मे रुपये को स्थिर रखने का प्रयत्न छोड दिया गया। सन् १९२० मे फिर स्वर्ण विनिमय मान को अपनाने का प्रयत्न किया गया पर असफल रहा। इस बार इसकी असफलता का कारण यह था कि चादी की कीमत एक दम से गिर गई और आयात निर्यात से बढ जाने के कारण विदेशो मे भुगतान के लिए स्टर्लिग की माग अधिक हो गई। सरकार दो शिलिग स्वर्ण प्रति रुपये के भाव से अथवा दो शिलिग स्टर्लिग के भाव से रुपये नही बेच सकी और स्वर्ण विनिमय मान स्थापित करने का प्रयत्न असफल रहा।

स्वर्ण विनिमय मान की कुछ विशेषताए ये है : (१) द्रव्य मान प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सोने की कुछ मात्रा मे स्थिर कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ भारतीय रुपया ७.५३ ग्रेन के बराबर बनाया गया था।

(२) स्थानीय मुद्रा को विदेशी मुद्रा से बाध दिया जाता है और स्थानीय टकसाल मे स्वतन्त्र ढलाई नही होती ताकि उसका मूल्य बनाये रखने मे कोई अडचन न पडे।

(३) यह आवश्यक है कि दूसरे देश मे एक स्वर्ण रिजर्व रहे और पीछे चलने वाले देश मे स्थानीय मुद्रा का रिजर्व रहे ताकि मुद्रा का विनिमय मूल्य घटे-बढे नही।

(४) दोनो देशों मे ड्राफ्ट (Draft) स्वतन्त्रता से बेचे जाते है ताकि वास्तविक विनिमय दर मे स्थिर दर से अधिक परिवर्त्तन न हो।

स्वर्ण विनिमय मान के बहुत से लाभो मे से एक लाभ यह भी है कि इसके अन्तर्गत पूर्ण स्वर्ण मान के संपूर्ण लाभ प्राप्त होते है जबकि वास्तव मे सोने के सिक्के नही चलाने पड़ते। इसके अतिरिक्त भारत के रुपये पर स्टर्लिग से संबध हो जाने से कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार भारत को लाभ हुआ है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में सुविधा हो गई और विश्व व्यापार मे भारतीय रुपये का सम्मान बढ गया।

इस प्रणाली से यह लाभ होते है : (१) यह मितव्ययी होती है। (२) यह विदेशी व्यापार को सहायता पहुचाती है। (३) यह मद्रा के बाहरी मूल्य को स्थिर रखती है। (४) इससे कीमतों का स्तर भी स्थिर रहता है।

स्वर्ण विनिमय मान के अवगुण (Defects of the Gold Exchange Standard)—स्वर्ण विनिमय मान की या इससे मिली जुली व्यवस्था की जो, युद्ध के बीच के काल मे कार्य करती थी, बडी आलोचना की गई है · (१) इस पर मुद्रा-प्रसार के बढाने का दोष रक्खा जाता है। पर यह मुद्रा-प्रसार के बढाने के बजाय मुद्रा-सकुचन के विपरीत थी। (२) केन्द्रीय बैंक स्वर्ण की अपेक्षा विनिमय रिजर्व पर अधिक भरोसा रखने मे एक समान रीति न मानते थे। अत उनके पृथक् कार्य आर्थिक अशान्ति पैदा कर देते थे। (३) एक विदेशी मुद्रा मे रिजर्व रखना राष्ट्रीय गौरव को धक्का पहुचाना है। (४) चूकि यह अग्रेजो का दास समझा जाता था, इसलिये बहुत से देश इसको पसन्द नही करते थे। (५) इसमे विदेशी मुद्रा के अवमूल्यन (Depreciation) का भय था। (६) यह कहा जाता था कि स्वर्ण गति के विपरीत विदेशी विनिमय रिजर्व मे गति से मुद्रा-सकुचन व मुद्रा-प्रसार न होना था। इस तर्क मे अधिक बल नही है क्योंकि स्वर्ण की गति कभी-कभी केंद्रीय बैंको के कार्य से उदासीन हो जाती है।

जहा तक इस मान का सबध भारतवर्ष से है, हिल्टन यग कमीशन ने इसकी कटु आलोचना की है। इस सबध मे निम्न बाते उल्लेखनीय है।

१—यह प्रणाली सरल नही है और अशिक्षित जनता की समझ मे नही आती। ऐसी प्रणाली जिसे शिक्षित भारतीय भी अधिक न समझते हो, जनता की विश्वास-पात्र नही हो सकती।

२—भारत मे इस प्रणाली के अन्तर्गत कई प्रकार के रिजर्व दो स्थानो पर रखने पडते थे। भारत मे ऐसे तीन रिजर्व थे, जिनके प्रतिरूप इग्लैड मे होते थे। यह रिजर्व इस प्रकार थे : (1) Gold Standard Reserve, (2) Paper Currency Reserve और (3) Government of India's Balances.

३—प्रणाली स्वचालित नही थी क्योकि इसकी कार्यप्रणाली राज्य की इच्छा पर निर्भर थी।

४—इसमे लोच का सर्वथा अभाव था। यह अवश्य था कि परिषद् विपत्र को पूरा करने के लिये जब रुपये निर्गमन किये जाते थे तो मुद्रा का विस्तार होता था। किंतु बुराई यह थी कि एक बार निर्गमन होने के पश्चात् इनका चलन जारी रहता था। कोई ऐसा उपाय न था जिससे मुद्रा का सकुचन भी हो सके।

५—सब से बडी बात यह थी कि इस प्रणाली से एक देश की मुद्रा-नीति दूसरे देश की मुद्रा-नीति पर आश्रित हो जाती थी। भारतीय रुपये को अग्रेजी मुद्रा की सब मुसीबतो मे हाथ बटाना पडता था।

६—हिल्टन यग कमीशन का विचार था कि इस मान मे कुछ जन्मजात बुराइया है जिन्हे सुधारा नही जा सकता और इसलिए उन्होने इसे समाप्त कर स्वर्ण-धातु मान अपनाने की राय दी।

८. स्वर्ण समहिता मान (Gold Parity Standard):—स्वर्ण मान की सूची मे सबसे बाद मे आने वाला स्वर्ण समहिता मान है। यह वह मान है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अध्यक्षता के आधीन प्रचलित है। इस प्रणाली में सोने के सिक्के नही चलाये जाते। सोना विनिमय का माध्यम नही होता। देश की करेन्सी मे नोट तथा कुछ धातु के सिक्के होते है लेकिन सोने के नही और न यह नोट सिक्को मे बदले जा सकते है जैसे पूर्ण स्वर्ण मान में, न स्वर्ण धातु मे जैसा कि स्वर्ण धातु मान में होता है और न स्वर्ण विनिमय मान की तरह दूसरी स्वर्ण पर आधारित विदेशी मुद्रा मे। । इस प्रणाली मे सोने का कार्य केवल यह है कि मुद्रा अधिकारी देश की मुद्रा की विनिमय दर को सोने की एक निश्चित मात्रा में स्थिर रखने का भार अपने ऊपर लेता है। यह वह स्वर्ण माप है जिसको आई. एम एफ. (I. M. F.) के सदस्य देश मानते है।

यह चार प्रकार के स्वर्ण मान के रूप है। अब हमको स्वर्ण मान के लाभ-हानि को देखना चाहिये।

९. स्वर्ण मान के लाभ (Advantages of Gold Standard)—स्वर्णमान के, विशेषतः जब यह अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर अपनाया जाय तो कई लाभ होते है :—

१. इसके ऊपर सरकार की परिवर्त्तनशील नीति का कोई प्रभाव नही पडता।

२. इससे देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति दीर्घकाल मे स्थिर रहती है। इसका कारण यह है कि देश की मुद्रा और साख स्वर्ण पर आधारित होती है।[1]

३. स्वर्ण मान का एक बहुत बडा लाभ यह है कि इससे मुद्रा का बाह्य मूल्य (विनिमय दर) स्थिर रहता है।[2] वास्तव में स्वर्णमान से विनिमय स्थिर हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन हो जाता है।

४. स्वर्णमान से अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर मूल्य का माप प्राप्त हो जाता है। फाऊलर कमेटी के समक्ष मार्शल ने यह कहा था कि स्वर्णमान को अपनाना रेल लाइनो को मुख्य लाइनो से मिलाकर एक रेल सघ की स्थापना करने के समान है। क्योकि विनिमय दर में परिवर्तन होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा पड़ती है।[3] इससे विदेशी व्यापार मे बड़ी सुविधा मिलती है।

५. स्वर्ण मान से विभिन्न देशो के बीच भुगतान की रकमे स्वयं स्थिर हो जाती है। यह बात छोटे से उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये कि इंग्लैड और अमरीका दोनो मे स्वर्णमान है और दोनो मे आपस मे व्यापार होता है। अब यदि इग्लैड की ओर से अमेरिका का कुछ भुगतान बाकी है, तो ऐसी दशा मे इंग्लैड

---

१. केन्द्रीय बैंक अध्याय देखिये. २. विदेशी विनिमय का अध्याय देखिये.

३. Report, Fowler Committee on India, 1898, para, 34.

से अमेरिका को सोना भेज दिया जायगा। अंग्रेजी केन्द्रीय बैंक को इससे हानि होगी। और फलस्वरूप इग्लैंड मे मुद्रा का संकुचन हो जायगा जिससे इंगलैंड में कीमते गिर जायेगी। अमेरिका मे मुद्रा का विस्तार होने के कारण मूल्य बढ जायेगे । ऐसी दशा में इगलैंड मे क्रय मे लाभ रहेगा और विक्रय मे हानि। इसके विपरीत अमेरिका मे विक्रय मे लाभ रहेगा और क्रय मे हानि, इगलैंड का निर्यात बढ जायगा और आयात कम हो जायगा और अमरीकी निर्यात कम हो जायगा व आयात बढ जायगा।

परिणाम यह होगा कि दीर्घकाल मे दोनो देशो की कीमते समता की ओर जायेगी।

६ इससे जनता मे राज्य की ओर विश्वास पैदा होता है और विदेशो मे देश का सम्मान बढता है। जब तक दस व्यक्तियो मे से नौ व्यक्ति हर देश मे स्वर्ण मान को अच्छा समझते है तो यह सर्वोत्तम ही है।

१०. स्वर्णमान की हानियां (Disadvantages of Gold Standard)—इस प्रणाली मे बहुत से अवगुण भी है :—

१ यह बहुत महगी होती है। हमे केवल विनिमय का माध्यम ही चाहिए और यह माध्यम सोने का बना हुआ क्यो हो। पीली धातु को केवल असभ्य जातिया ही पसन्द करेगी।

२ स्वर्ण का मूल्य भी दीर्घकाल मे पूर्णत: स्थिर नही रहता।

३. स्वर्णमान मे मुद्रा को आवश्यकतानुसार बढाया नही जा सकता क्योकि मुद्रा की पूर्ति स्वर्ण की पूर्ति पर निर्भर करती है जिसका कि सबध खानो से है और खानो के ऊपर उद्योग अथवा व्यापार के विस्तार का कोई प्रभाव नही पडता।

हाल मे स्वर्णमान भी प्रबधित मान रह गया है। केन्द्रीय बैंकिग प्रणाली को स्वर्णमान पर नियन्त्रण करने का भार सौंपा गया। ऐसी दशा मे यह मान स्वचालित नही रहा।

४. स्वर्णमान बाह्य स्थिरता प्राप्त करने के लिए आन्तरिक स्थिरता की कुर्बानी कर देता है, चूकि इस मान मे अन्तर्देशीय विनिमय पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

५. इसके अतिरिक्त "स्वर्ण की गति से ब्याज की दरो मे परिवर्त्तन हो जाता है। जिस से केवल आय को बढाने अथवा घटाने के लिये विनियोजन की उन्नति अथवा अवनति होती है।" (वैनहम)

६. स्वर्णमान के देश की स्वतन्त्र नीति नही हो सकती। स्वर्णमान स्थिर रखने के लिये देश की अपनी इच्छा के विरुद्ध भी कभी कभी अपनी मुद्रा का सकुचन करना पड़ता है। इस प्रकार का संकुचन देश के लिये बडा हानिकर होता है। क्योकि इससे देश में बेकारी फैलती है और उद्योग आदि को हानि पहुचती है।

११. व्यावहारिक रूप में स्वर्णमान (Gold Standard in Practice)—स्वर्णमान के लाभ न केवल सैद्धान्तिक है, व्यावहारिक नही। इनको तभी प्राप्त

किया जा सकता है जबकि स्वर्णमान का देश इसके नियमों का सदैव पालन करता रहे।[1] प्रथम महायुद्ध तक स्वर्ण-मान सफल रहा, क्योंकि उस समय तक देशों ने इसके नियमों का पालन किया। इसके अतिरिक्त, क्योंकि सोने के सिक्के भी चलते थे, इसलिये केन्द्रीय बैंक के सोने और भुगतानों के माध्यमों के बीच घनिष्ठ सबध था। किंतु युद्ध के पश्चात् स्वर्ण धातुमान ने केन्द्रीय बैंक को करेन्सी मे घट-बढ करने की अधिक शक्ति देदी क्योंकि साख और द्रव्य के लिये रखे गये रिजर्व के अनुपात में काफी परिवर्तन लाया जा सकता था। इस प्रकार स्वर्ण-मान ने, स्वचालित न रह कर, एक प्रबधित चलन प्रणाली का रूप ले लिया है।

१२. स्वर्णमान के नियम (Rules of Gold Standard)—स्वर्ण-मान की सफलता के लिए राज्य को कुछ नियमो का पालन करना पडता है।

एक तो देश मे बहुत अधिक व्यापारिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए जिससे भुगतानो की असमानता वस्तुओं की गति मे व्यवस्थित हो जाय। स्वर्ण को केवल अल्प-काल मे गतिशील होना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्वर्ण-मान के देशो का आर्थिक ढाचा बहुत लोचपूर्ण होना चाहिए।

दूसरे, स्वर्णमान के देशों की आर्थिक व्यवस्था मे काफी लोच होनी चाहिए जिससे कीमत और मजदूरी अपने को सोने के साथ व्यवस्थित करल।

तीसरी बात यह है, और यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी है, कि राज्य व केन्द्रीय बैंक को सोने की गति के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न नही करना चाहिए। जिस देश में सोने की हानि हो वहा पर कीमतों को गिरने देना चाहिए। और जिस देश मे सोना अधिक हो वहा कीमतों को बढने देना चाहिए। जब सोना देश मे आय तब मुद्रा का विस्तार करना चाहिए और जब सोना देश से बाहर जाय तब मुद्रा का सकुचन करना चाहिए।

जैसा क्रावथर (Crowther) कहते है "स्वर्ण मान का स्वर्ण नियम यह है कि जब सोना आता हो तो साख को बढ़ाओ और जब सोना बाहर जाता हो तो साख को घटाओ।"

प्रथम महायुद्ध के बाद ये शर्तें पूरी नही हो सकी और स्वर्ण मान के देशो ने इन नियमों का पालन नही किया।

१३. स्वर्णमान क्यों समाप्त हो गया? (Why Gold Standard Broke Down)—प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् थोडे ही दिनो बाद एक के बाद दूसरे देश से स्वर्ण मान समाप्त होता चला गया। इसके कई कारण थे।

यह बात बडे महत्व की है कि राजनैतिक अनिश्चितता के कारण बहुत से योरोपीय राज्य अपनी पूजी के कुछ भाग विदेशी बैंको, विशेषकर इग्लैंड मे रखने लगे। इन पूजियों को किसी समय भी तनिक से भय के आभास-मात्र से निकाला जा सकता था। चूकि फ्रास ने ब्रिटेन से अपनी पूजी का भाग निकलवा लिया, इसलिये इगलैंड

१. Report, Committee on Finance and Industry, 1913, pp. 23—24.

में १९३१ मे स्वर्ण मान समाप्त हो गया। बैंक आफ इग्लैंड इतने कम समय में इतना अधिक सोना खो देना न सह सका।

इसके अतिरिक्त प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय उत्तर-दायित्व (International Obligations) व युद्ध ऋण पैदा हो गये। क्यो-कि महाजन देशो ने वस्तुओ के रूप मे भुगतान लेने से इन्कार कर दिया और अधिक ऋण देना भी पसन्द न किया, इसलिये ऋणी देशो को स्वर्ण द्वारा इस ऋण का भुगतान करना आवश्यक हो गया। परिणाम यह हुआ कि ससार के सोने का $\frac{3}{4}$ भाग सयुक्त राष्ट्र अमरीका व फ्रास मे जमा हो गया। जो सोना और देशो मे बचा वह इतना नही था कि वह सफलतापूर्वक स्वर्ण मान को स्थापित रख सकता।

इस मान के असफल होने का तीसरा कारण यह था कि जिन देशो को सोना प्राप्त हुआ उन्होने स्वर्ण मान नियमो का पालन नही किया। उन्होने (विशेषतया यू एस. ए.) अपने देश मे प्रचलित कीमतो को इस आये हुए सोने से प्रभावित नही होने दिया—फलस्वरूप सोना प्रभावहीन (Sterilised) हो गया और स्वर्ण मान स्वचालित रूप से काम न कर सका।

और फिर प्रथम महायुद्ध के बाद हर देश का आर्थिक ढाचा अत्यधिक लोच-हीन हो गया था। इसके कई कारण थे। राज्यो के ऊपर ऋण होने के कारण दीर्घकाल के व्याज की किश्तो का भुगतान आवश्यक हो गया और दूसरे आवश्यक व्यय कम नही किये जा सके। अब ट्रेड यूनियन भी अधिक शक्तिशाली हो गए थे। एकाधिकार व गुट्टबन्दी के कारण कच्चे माल के मूल्य भी निश्चित रूप से स्थिर हो चुके थे। फलस्वरूप समता की स्थापना न हो सकी।

यही, नही, इस मान की सबसे बडी कमजोरी यह थी कि सकट के समय यह मान सदैव असफल हो जाता था। इसलिये अक्सर यह मान अनुकूल समय मान (Fair Weather Standard) के नाम से पुकारा जाता है।

और अन्तिम कारण यह था कि स्वर्ण गति के कारण व्याज की दरो मे अनावश्यक परिवर्त्तन होते रहते थे। उदाहरण के लिये मान को स्थिर रखने के लिए सकट के समय मुद्रा सकुचन करना आवश्यक हो जाता है, पर इस प्रकार के मुद्रा-सकुचन का प्रभाव बहुत बुरा होता है। गिरते हुए मूल्य का सरकार व निश्चित भुगतान करने वाले लोगो पर बुरा असर पडता है। और फिर मूल्यों के गिरने से बेकारी आदि फैलती है।

यही कारण है कि सब देशो ने यह मान छोड दिया।

१४. स्वर्ण मान का भविष्य (Future of Gold Standard)—इन अनुभवो के बाद अब शायद कोई भी देश स्वर्ण मान अपनाना पसन्द न करेगा। १९१४ के पूर्व के व्यापार की दशाओं में इस मान ने लगभग स्वयंचालित होकर काम किया पर लड़ाई के बाद के अनुभवो ने यह सिद्ध कर दिया कि इसकी सफलता

के लिये समुचित संगठन व बहुत अधिक सहकारिता की आवश्यकता है। पर आर्थिक प्रणाली की दृढता के कारण मूल्य व व्यय मे ऐसी व्यवस्था नही हो सकी जिससे कि यह मान सफल रहता। और फिर विभिन्न देशों के बीच इसका वितरण भी ठीक नही था। अमरीका के पास १९३९ मे संसार का ८०% सोना था और इसका वितरण तब तक नही हो सकता था जब तक कि वस्तुए स्वतन्त्र गति द्वारा फिर से व्यवस्थित न हो जायें। इन सब बातो के लिये बहुत अधिक अंतर्राष्ट्रीय सहकारिता की आवश्यकता है। यदि किसी प्रकार ऐसी सहकारिता प्राप्त हो जाय तो एक ऐसी संगठित प्रणाली को, जिसमें सोने की इतनी महत्ता नही होती जितनी कि स्वर्ण मान मे, कार्यान्वित किया जा सकता है। लोगो को इस बात पर विश्वास नही रहा कि सोना कीमतों अथवा विनिमय के स्तर को स्थिर रख सकता है। इसके विपरीत दूसरे देशों मे प्रबधित मुद्रा प्रणाली बडी सफल रही, उदाहरण के लिये इग्लैड मे।

इसके विपरीत अमरीका व दक्षिणी अफ्रीका आदि स्वर्णोत्पादक देश किसी भी ऐसी प्रणाली का समर्थन नही कर सकते थे, जिसमे सोने का कोई भाग न हो। और फिर कोई भी सगठित प्रणाली, जो स्वर्ण की दृढ नीव पर स्थिर न हो, विश्वासपात्र नही हो सकती।

फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष की ब्रैटनवुड्स स्कीम मे एक मध्यम मार्ग निकाला गया। इस स्कीम का ध्येय अन्तर्देशीय सहयोग द्वारा स्वर्णमान की हानियों को दूर कर उसके संपूर्ण लाभ प्राप्त करना है। इस प्रबंध का भी आधार स्वर्ण होगा, पर उसका वह प्रमुख महत्व नही रहेगा जो स्वर्ण मान के अन्तर्गत था। इस प्रबध का अध्ययन हम विदेशी विनिमय के अध्याय मे करेगे।

१५. स्वर्ण मान के कार्य (Functions of Gold Standard)— स्वर्ण मान के विषय को समाप्त करने से पहिले हम देख सकते है कि आधुनिक स्वर्ण मान दो कार्य करता है :—

(१) **मुद्रा के आन्तरिक मूल्य का स्थायित्व** (Stability of Internal Value of Currency)—पहिला कार्य मुद्रा के आन्तरिक मूल्य अथवा घरेलू कीमतो के स्तर का स्थायित्व है। हर प्रकार के स्वर्ण मान में मुद्रा सोने से जुडी रहती है। इस कडी के द्वारा देश मुद्रा की मात्रा पर नियत्रण रखता है तथा उसकी व्यवस्था करता है। इंग्लैड मे सन् १९३९ मे विश्वासाश्रित निर्गम (Fiduciary Issue) जो कि कुल नोट निर्गम का $\frac{1}{5}$ था, ४० करोड पौड था। चूकि इसके अतिरिक्त नोटों के बदले मे १०० प्रतिशत सोना रखना पड़ता था, इसलिये नोटों का निर्गम बगैर सोने की वृद्धि के नही बढाया जा सकता था। इस प्रकार सोना नोटों के निर्गम पर रोक लगाता था। युद्ध काल में विश्वासाश्रित निर्गम में समय-समय पर वृद्धि की गई। यहां तक कि १९४७ में वह नोटों के निर्गम के बराबर हो गया और सोने का सहारा बिल्कुल जाता रहा। इससे

अधिक नोटों का निर्गम नियम-विरुद्ध होता यदि साथ-साथ केन्द्रीय बैंक के पास सोना न बढाया जाता। रिजर्व के बारे में कोई भी नियम क्यों न हो कोई भी केन्द्रीय बैंक बगैर नियम भंग किये अपने पास के सोने से अधिक नोट निर्गम नही कर सकता। इस प्रकार स्वर्ण मान यह निश्चित करता है कि देश की मुद्रा एकबारगी तथा बिना सोचे समझे बढा ली जाय। इससे कीमतो के स्तर में स्थायित्व आ जाता है।

(२) **बाह्य मूल्य का स्थायित्व**:— स्वर्ण मान का दूसरा कार्य आधुनिक समय में मुद्रा के बाह्य मूल्य का स्थायित्व है। यह कार्य केन्द्रीय बैंक पर यह प्रतिबध लगा कर किया जाता है कि वह एक निश्चित दर पर असीमित मात्रा मे सोना बेचे व खरीदे। अतएव एक निश्चित दर पर खरीद सकने वाला खरीदार सोने की कीमत निश्चित करने योग्य रहता है। जब तक इस नियम का सुधार या खण्डन नही किया जाता तब तक सोने की धातु की बाजार खरीदार की दया पर रहती है। हर देश मे जहा यह नियम लागू होता है मुद्रा की एक इकाई तथा एक औस सोने मे एक निश्चित अनुपात रहता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के नियम के अनुसार है। सोने के द्वारा सारे देशों की मुद्रा में एक निश्चित अनुपात स्थापित हो जाता है। जैसा क्राउथर (Crowther) कहते है "स्वर्ण मान यह निश्चित करने का एक उपाय है कि विनिमय बाजार में एक मुद्रा की माग तथा पूर्ति सदैव एक होगी।" इस प्रकार स्वर्ण मान उद्बन्धन (Pegging) का एक विशेष नमूना हो जाता है।

स्वर्ण मान की आधुनिक स्थिति यह है कि यह स्वर्ण मान की अपेक्षा डालर मान अधिक है। इसका कारण यह है कि रूस को छोडकर २९ बडे देशों के सोने का $\frac{2}{3}$ भाग सयुक्त राष्ट्र अमरीका मे है। कुछ समय के लिये, अमरीका की वस्तुओं की माग अधिक रहने के कारण दूसरे देश अमरीका को अधिक सोना देगे और इस प्रकार इनके पास कम से कम सोना रह जायगा। अनुकूल व्यापाराधिक्य (Favourable balance of Trade) द्वारा उनको सोना प्राप्त करने की बहुत कम आशा है। क्या ससार सोने के चिन्ह को छोडकर डालर का चिन्ह अपनायेगा या नही ? यह सच है कि स्वर्ण मान की अपेक्षा डालर की पूर्ति ही मुख्य देशों की मुद्राप्रणाली मे प्रभत्व रखेगी। जब तक सोने का वर्त्तमान असमान वितरण ठीक न किया जायगा, जिसके लिये कठिन परिश्रम की आवश्यकता है, स्वर्ण मान के रहने की तनिक भी आशा नही है। अमरीका की वस्तुओं की बेलोच माग के कारण अन्य मुद्राओं का डालर मे अवमूल्यन (Devaluation) कोई विशेष सहायक न होगा।

१६. स्वर्ण की गतियों के कारण (The Causes of Gold Movements)—स्वर्ण मान के नियमों में स्वर्ण के बाहर जाने व अन्दर आने का वर्णन किया गया था। अब हम यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि इस गति के कारण क्या है। बैनहेम ने इसके निम्न कारण बताये है।[१]

१. Benham—Economics, 1940, pp. 456-59.

(१) **मुद्रा-संबंधी नीति**––यदि कोई देश अपने देश में मुद्रा-प्रसार कर दे, और दूसरे देश न करे तो इस देश मे कीमतें बढ जायंगी । इससे निर्यात कम हो जायेगे और आयात बढ जायगे। और यदि स्वतन्त्र स्वर्णमान हुआ तब सोना बाहर चला जायगा।

(२) **पूंजी की गति** :— यदि कोई देश दूसरे देशों में रुपया उधार देता है, तब सोना देश से बाहर जायगा पर जब ऐसा होता है और स्वर्णमान के नियम माने जाते है, तो मुद्रा-संकुचन प्रारम्भ हो जाता है। फलस्वरूप मूल्य गिरने लगते है, आयात कम हो जाते है और निर्यात बढ जाते है। ऐसी दशा मे स्वर्ण लौटने लगेगा। जिस देश को स्वर्ण मिलेगा उसकी द्रव्य में आय बढ जायगी। और वहा कीमतें भी बढ जायंगी। ऐसे देशों में आयात बढ जायेगे और निर्यात कम हो जायेगे । फलस्वरूप सोना बाहर चला जायेगा।

(३) **वस्तुओं की पारस्परिक मांग व पूर्ति**––जिस देश में वस्तुओ का अधिक निर्यात होता है, उसके पास स्वर्ण अधिक होगा।

(४) **जनसंख्या में परिवर्त्तन**––यदि जनसख्या प्रवास के कारण बढ जाती है तो द्रव्य की माग बढ जायगी और उसके मूल्य बढने से कीमतें कम हो जायेगी। निर्यात बढ़ने लगेंगे, आयात कम हो जायेगे और सोना देश के अन्दर आने लगेगा। जनसख्या कम होने से इसके विपरीत प्रभाव होगे।

(५) **पूंजी में परिवर्त्तन**––जिस देश मे बचत अधिक होगी, वहा पूजी का संचय अधिक होगा। इससे उत्पादन बढ जायगा, मूल्य कम हो जायेगे, निर्यात बढेगे, आयात कम हो जायेगे और सोना देश मे आने लगेगा।

(६) **उत्पादन-प्रणाली में परिवर्त्तन**––उत्पादन-प्रणाली मे उन्नति होने से उत्पादन सस्ता हो जायगा। निर्यात बढ जायेगे, आयात कम हो जायेगे और सोना देश मे आने लगेगा।

(७) **मांग में परिवर्त्तन**––यदि किसी कारण विदेशों मे देश की वस्तुओं की मांग कम हो जाती है, तो निर्यात कम हो जायेगे और सब बाते समान रहने पर सोना बाहर जाने लगेगा।

"यह ध्यान रखना चाहिये कि इस संबंध में दूसरे देशों से संबंधित परिवर्त्तन ही महत्वपूर्ण होते है।" (Benham)

१७. कागजी मान या प्रबंधित कागजी मान अथवा द्रव्य विनिमय मान (Paper Standard or Managed Paper Currency or Currency Exchange Standard):–इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी द्रव्य प्रमुख द्रव्य होता है। देश के द्रव्य अधिकारी कागजी द्रव्य का सोने में विनिमय करने का उत्तरदायित्व नहीं लेते। विश्वव्यापी मंदी के पश्चात् बहुत से देशों को, जिनमें भारत और ब्रिटेन

भी थे, स्वर्णमान छोड़ना पड़ा। इस प्रकार इन देशों ने कागजी मान अपनाया।

भारत मे मुद्राकन का अधिकार रिजर्व बैंक आफ इंडिया को है। इस बैंक ने स्टर्लिंग के संबंध मे रुपये के मूल्य का अनुपात १ शि. ६ पै. रक्खा है। यह स्टर्लिंग को १ शि० ६$\frac{3}{16}$ पें० प्रति रुपये के हिसाब से खरीदता है और १ शि० ५$\frac{15}{16}$ पे० प्रति रुपये के हिसाब से बेचता है। किंतु यह क्रय-विक्रय की मात्रा £१०००० से कम नही होनी चाहिए। देश की करेन्सी मे रुपये के नोट व सिक्के सम्मिलित है।

यह प्रणाली द्रव्य विनिमय-मान की प्रणाली है क्योकि इसमे मुद्रा सोने पर आधारित न होकर एक देश की मुद्रा पर आधारित है। यदि यह देश फ्रास होता तो यह मान फ्रैंक विनिमय मान कहलाता और यदि अमेरिका होता तो वह डालर विनिमय मान कहलाता।

आजकल ब्रिटेन में भी कागजी द्रव्य मान है, यद्यपि ब्रिटिश स्टर्लिङ्ग को डालर के मूल्य से संबंधित कर दिया गया है। १९४९ की सितम्बर मे डालर के हिसाब मे स्टर्लिंग का मूल्य लगभग ३०% कम हो गया।

यद्यपि १९३१ से ब्रिटेन ने स्वर्णमान छोड दिया है और स्टर्लिंग सोने मे बदला नही जा सकता तब भी इस देश की मुद्रा १८५४ के बैंक चार्टर ऐक्ट के अनुसार स्वर्ण के रिजर्व द्वारा व्यवस्थित रहती है।

स्टर्लिंग के बाह्य मूल्य मे परिवर्त्तनों को रोकने के लिये एक विनिमय समकारी लेखा (Exchange Equalization Account) बना दिया गया है। इस हिसाब का नियत्रण ब्रिटेन के खजाने द्वारा होता है। पर वास्तव मे यह बैंक आव इगलैंड का एक भाग है। जब ब्रिटेन मे विदेशी मुद्रा बहुत आ जाती है तो स्टर्लिंग की माग बढ जाती है और फलस्वरूप उसका मूल्य भी बढ जाता है। पर इन मुद्राओ को विनिमय समकारी कोष (Exchange Equalization Fund) प्राप्त कर लेता है। और इस प्रकार स्टर्लिंग के मूल्य मे वृद्धि रुक जाती है। इसी प्रकार जब मुद्रा इग्लैंड के बाहर जाती है, तब स्टर्लिंग का मूल्य गिर जाता है और तब यह विनिमय सरकारी लेखा सोने के भुगतान करके स्टर्लिंग के मूल्य मे परिवर्त्तन होने से बचाता है।

१८. सर्वोत्तम मुद्रा-प्रणाली (The Best Currency System)—अब प्रश्न यह है कि सबसे अच्छी मुद्रा-प्रणाली कौन-सी है। इसका उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योकि विभिन्न परिस्थितियों मे विभिन्न मानों ने काफी सफलता से काम किया है। इसलिये हम यह देखेगे कि किसी मान की अच्छाई किस भांति जानी जा सकती है।

एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली में निम्नलिखित गुण होने चाहियें :—

(१) यह देश मे मूल्य की स्थिरता रखने मे समर्थ होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में इसका आन्तरिक मूल्य अथवा क्रय-शक्ति में बहुत अधिक परिवर्त्तन नही होने चाहिये।

इसके अर्थ यह है कि देश में व्यापार व उद्योग की आवश्यकताओं के अनुसार प्रचलित मुद्रा की मात्रा का नियन्त्रण होना चाहिये।

(२) इसे मुद्रा के बाह्य मूल्य को भी स्थिर रखना चाहिए। इसके अर्थ यह हैं कि इसका विदेशी मुद्रा के निश्चित परिमाण पर इतना दबाव कि इसकी विदेशों मे वस्तुओं तथा सेवाओ पर क्रय-शक्ति एक सी रहे। पर यह विदेशी विनिमय की समस्या है जिसका अध्ययन हम बाद मे करेगे।

(३) यह सस्ती होनी चाहिए। विनिमय का महगा माध्यम देश के लिए हानि-कारक होता है।

(४) प्रणाली लोचपूर्ण होनी चाहिए जिससे कि यह व्यापार की आवश्यकताओं के अनुरूप विस्तृत अथवा सकुचित हो सके।

(५) प्रणाली बहुत सरल होनी चाहिये जो साधारण मनुष्य की भी समझ मे आ जाय।

निर्देश पुस्तकें

Taussig—Principles of Economics, page 282 onwards.

Dr. F. Mlynlarsky—Functioning of Gold Standard page 15 onwards.

Robertson—Money.

Crowther—An Outline of Money.

S. E. Thomas—Elements of Economics, pages 356-379.

Benham—Economics, 1940, pp. 446-408.

D. K. Mehrotra—History and Problems of Indian Currency and Exchange.

Brij Narain—Money and Banking (S. Chand and Co.)

Cole—Money, 1935, Ch. I and III.

Houston—Fundamentals of Money, 1735 Ch. II.

Withers—Money Ch. II.

अध्याय ३४

द्रव्य का मूल्य

(THE VALUE OF MONEY)

१. भूमिका—पिछले अध्याय में हम देख चुके है कि सबसे अच्छी मुद्रा प्रणाली वह होती है जिसमें द्रव्य का बाह्य व आन्तरिक मूल्य स्थिर रहे। अब प्रश्न यह है कि "द्रव्य के मूल्य" का अर्थ क्या है ?

"द्रव्य का मूल्य" शब्द का प्रयोग कई अर्थो में होता है। अस्तु,

(१) स्वर्ण अथवा रजत के एक निश्चित वजन पर इसका अधिकार, जैसा कि स्वर्ण या रजत मान के अन्तर्गत होता है।

(२) विदेशी मुद्रा की इकाइयां जिनका यह क्रय कर सकता है। उदाहरण के लिये इस समय स्टर्लिग में रुपये का मूल्य १ शि० ६ पे० है। इसे विनिमय दर अथवा विनिमय का अनुपात कहते है।

(३) देश में वस्तुओं की क्रय-शक्ति । इसे द्रव्य की (आन्तरिक) क्रय-शक्ति कहते है।

जब हम बिना किसी दूसरे पद के जोड़े हुए "द्रव्य का मूल्य" शब्द का प्रयोग करते है, तो हमारा आशय तीसरे अर्थ से होता है !

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि द्रव्य का मूल्य अथवा इसकी क्रय-शक्ति का देश के अन्दर प्रचलित कीमतों से एक विशेष संबंध होता है । जब साधारणतया कीमतें बढ जाती है तो द्रव्य का मूल्य कम हो जाता है। जब कीमत कम हो जाती है तो यह मूल्य बढ़ जाता है।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि द्रव्य का मूल्य और मूल्य सतह (Price Level) एक दूसरे के विपरीत चलते है। जब मूल्य सतह ऊपर चढती है तो द्रव्य का मूल्य गिरता है, और जब मूल्य सतह गिरती है तो द्रव्य का मूल्य बढ़ता है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि "द्रव्य का मूल्य" स्वतः कोई अर्थ नही रखता । द्रव्य के इतने मूल्य हो सकते है जितने कि वस्तुओं और सेवाओं के बदले द्रव्य का विनिमय हो सकता है। किन्ही दो मनुष्यों के लिये द्रव्य का मूल्य समान नही होता। प्रत्येक मनुष्य के लिये द्रव्य का मूल्य उन वस्तुओं के अनुसार जिनको उसे खरीदना अथवा बेचना होता है,. भिन्न होता है। साधारणतया द्रव्य का मूल्य उन सब वस्तुओं के संबंध में प्रयोग में लाया जाता है जिनकी कीमतें लिखी तथा बतलाई जाती है। इनको थोक मूल्य कह सकते है।

इस अध्याय में हम द्रव्य के मूल्य में परिवर्त्तन होने के कारणों का अध्ययन करेंगे। इस विषय में हम एक प्रसिद्ध सिद्धांत "द्रव्य का परिमाण सिद्धात" की समीक्षा करेंगे। और तदुपरात सही सिद्धात की व्याख्या करेंगे।

२. द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त (The Quantity Theory of Money)—इटली का एक लेखक डवनजाटी (Davanzatti) जो १६ वी शताब्दी मे रहता था, द्रव्य के परिमाण सिद्धात का निर्माण करने वाला था। इसको लाक (Locke) तथा ह्यूम (Hume) ने प्रचलित किया तथा बाद में उसको प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अपने हाथ में लिया। सरलतम शब्दों में द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त यह बताता है कि द्रव्य के मूल्य में इस के परिमाण के विपरीत परिवर्तन होता है। "यदि द्रव्य का परिमाण द्विगुणित हो जाय और यदि अन्य बातें समान रहें तो वस्तुओं के मूल्य पहले से दुगुने हो जायेंगे और मुद्रा का मूल्य आधा रह जायगा। यदि परिमाण आधा कर दिया जाय तो, अन्य बातों के समान रहने पर, कीमते पहले से आधी रह जायगी और द्रव्य का मूल्य दुगुना हो जायगा।"[1] इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है। द्रव्य के परिमाण में वृद्धि होने से उसका मूल्य उसी अनुपात मे गिर जाता है और कीमतें बढ जाती है। इसके विपरीत यदि अन्य वस्तुएं समान रहे, तो द्रव्य के परिमाण मे कमी होने से द्रव्य का मूल्य उसी अनुपात में बढ़ जाता है। अब प्रश्न यह है कि "अन्य वस्तुएं समान रहने के क्या अर्थ है"? इस पद के अर्थ यह है कि निम्नलिखित बातों में किसी प्रकार का परिवर्तन नही होना चाहिए।

(१) **द्रव्य के चलन का वेग** (Velocity)—द्रव्य के चलन के वेग का आशय द्रव्य की इकाई जितनी बार उपयोग मे आती है उससे होता है। उदाहरण के लिए, यदि एक निश्चित समय मे पांच रुपये का एक नोट पाच बार उपयोग मे आता है, तो द्रव्य का परिमाण २५) रुपये हुआ। यदि यही नोट दस बार बदले तो इसका परिमाण ५०) रुपये हो जायगा।

(२) **साख-पत्रों का द्रव्य की भांति प्रचलन**—यदि साख-पत्रों के प्रयोग में वृद्धि (अथवा कमी) हो जाय, जैसे चेक आदि, तो यह समझना चाहिये कि प्रचलित द्रव्य की मात्रा में वृद्धि (अथवा कमी) हो गई है। इसी प्रकार साख-पत्रो के चलन के वेग द्वारा द्रव्य के परिमाण में घट-बढ़ हो सकती है।

(३) **अदल-बदल के सौदे**—यदि कुछ सौदे बिना द्रव्य के प्रयोग के किये जायं, तो उन्हें या तो बिल्कुल अलग कर देना चाहिये अथवा द्रव्य के परिमाण (पूर्ति) में वृद्धि समझना चाहिए अथवा सौदो की मात्रा (द्रव्य की मांग) में कमी समझनी चाहिये।

(४) **व्यापार का परिमाण स्थिर रहना चाहिए**—इसके अर्थ यह है कि द्रव्य द्वारा जो काम या सौदे होने है, वह सदैव समान रहें। केवल विनिमय की हुई वस्तुएं ही

1. Taussig—Principles of Economics, Vol. I.

नही, वरन् उनके प्रचलन का वेग भी स्थिर रहना चाहिए।

एक शब्द में द्रव्य का मूल्य उसकी मात्रा के प्रतिकूल और वस्तुओं तथा सेवाओं की राशि के अनुकूल बदलता है।

३. प्रोफैसर फिशर के विनिमय का समीकरण (Prof. Fisher's Equation of Exchange)–प्रोफैसर इरविग फिशर ने द्रव्य के परिमाण व उसके मूल्य के सम्बन्ध को एक समीकरण के रूप मे प्रगट किया है जिसे वह विनिमय का समीकरण कहते है। यह इस प्रकार है—

$$प = \frac{म\ व + म'\ व'}{ट}$$

यहां प = कीमतों का स्तर या $\frac{१}{प}$ = द्रव्य का मूल्य.....।

ट=द्रव्य द्वारा होने वाले सौदे।

म=धातु का द्रव्य म'=साख द्रव्य

व=द्रव्य का चलन वेग

व'=साख द्रव्य का चलन वेग

इस समीकरण द्वारा द्रव्य की पूर्ति उसकी माग के बराबर हो जाती है। कीमत को सौदों से गुणा कर देने से कुल सौदे निकल आते है, जिसका अर्थ द्रव्य की माग है (प ट)। यह द्रव्य की पूर्ति के बराबर है, जिसमे नकद व साख द्रव्य अपने प्रचलन प्रवेग के साथ सम्मिलित हैं (म व+म' व')।

अस्तु, प ट=म व+म' व'

$$प = \frac{म\ व + म'\ व'}{ट}$$

प्रोफैसर फिशर का कहना था कि अल्प काल मे ट, व, व', सदैव स्थिर रहते है। म' और म का अनुपात भी स्थिर रहता है, इसलिए प म के साथ सीधे अनुपात मे होता है। दूसरे शब्दों मे १/प (द्रव्य का मूल्य) म अथवा प्रचलित द्रव्य के परिमाण के उल्टे अनुपात में होता है।

अब प्रश्न यह है कि दूसरी वस्तुएं (ट, व, व' और म' का म के साथ अनुपात) स्थिर क्यों रहती है। प्रोफैसर फिशर का मत है कि:—

सौदे अथवा द्रव्य द्वारा होने वाला काम अल्पकाल में स्थिर रहता है। क्योंकि जनसंख्या नही बदलती, प्रति जन के हिसाब से उत्पादन नही बदलता, उत्पादकों द्वारा उपभोग की प्रतिशत मात्रा नही बदलती, अदल-बदल द्वारा विनिमय की प्रतिशत मात्रा नही बदलती, और वस्तुओं के चलन का प्रवेग नहीं बदलता। इस सम्बन्ध में उत्पादन के ढंग व लोगों की आदतें बिल्कुल स्थिर रहती है। अस्तु, द्रव्य की माग स्थिर रहती है।

जहां तक पूर्ति का सम्बन्ध है, मुद्रा तथा साख के चलन का वेग लोगों की आदतों व रीति-रिवाजों पर निर्भर करता है। म' का म के साथ अनुपात बैंकों की नीति पर निर्भर करता है। अल्पकाल में इन बातों में विशेष परिवर्तन नही होते। इसलिये द्रव्य का मूल्य अपनी मात्रा के उल्टे अनुपात में होता है।

४. परिमाण सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the Quantity Theory)—परिमाण सिद्धान्त की कड़ी आलोचना हुई है। "अन्य बातें समान रहे" के पद के साथ यह सिद्धान्त सिवा अनावश्यक सत्य के और कुछ भी नही है। सच तो यह है कि अन्य वस्तुएं कभी समान रहती ही नही। इनमें दीर्घकाल मे ही नही, अल्प काल में भी परिवर्तन होते रहते है। जनसख्या, प्रतिजन के हिसाब से सौदे, चलन का वेग, साख की नकद के अनुपात मे नीति, इन सभी बातो में परिवर्तन होते रहते है। इसके अतिरिक्त जैसा कि फिशर का विश्वास है, यह बातें स्वतत्र नही है। उदाहरण के लिए, म में किसी प्रकार के परिवर्तन से व मे भी परिवर्तन हो जायगा और प मे म की अपेक्षा अधिक अनुपात से परिवर्तन होगा। पिछले महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी के मार्क का मूल्य तेजी से गिरने लगा। लोगों का इसमें से विश्वास उठ गया और फलस्वरूप मार्क के बदले मे वह वस्तुएं लेने लगे। अस्तु, द्रव्य के प्रचलन की गति (व) बढ गई, यहा तक कि वह नोटों के प्रचलन (म) के सब अनुपातों से अधिक हो गई। इसी प्रकार म मे किसी प्रकार के परिवर्तन से ट में भी परिवर्तन हो जाता है और प का परिवर्तन म मे परिवर्तन कर देता है। द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि होने से कीमते और फलस्वरूप लाभ बढ जाते है, जिससे उत्पादन को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता है और मूल्यो मे मंदी प्रारम्भ होती है। इसके अतिरिक्त अधिक ऊचे मूल्य यह आवश्यक कर देते है कि द्रव्य की पूर्ति बढ जाय। इस प्रकार की ऊँची कीमते द्रव्य के परिमाण का परिणाम नही वरन् कारण होते है।

फिर म का सम्बन्ध समय के एक क्षण से है और व का सम्बन्ध समय के एक काल से है तथा दो भिन्न वस्तुओ को गुणा करना गलत है।

द्रव्य परिमाण सिद्धान्त दो ऐसी कल्पनाओं पर आधारित है जिनकी सम्पूर्ण प्रबलता अनिश्चित है: (१) कीमतें कुल व्यय के साथ उसी अनुपात में बदलती है। (२) कुल व्यय मुद्रा की कुल मात्रा के साथ उसी अनुपात मे बदलता है। सेमुअलसन का कहना है "यदि हम यह असत्य कल्पना कर ले कि कुल उत्पादन समान रहता है और लोगों में बेकारी नही होती तब कुल व्यय में वृद्धि से कीमतें उसी अनुपात में बढ़ जायंगी... मंदी के स्तर से कुल व्यय में वृद्धि से उत्पत्ति मे अधिक वृद्धि होती है और कीमतों में अनुपात से कम वृद्धि होती है। व्यय में कमी से उत्पत्ति तथा रोजगार में कमी और कीमतों में अनुपात से कम कमी होती है।" कुल व्यय तथा द्रव्य के संग्रह में भी अनुपात के साथ परिवर्तन नही होता क्योकि द्रव्य का चलन वेग भी करीब-करीब स्थिर नही रहता। जैसाकि सेमुअलसन कहते है "परिमाण के हिसाब से व्यय का द्रव्य की मात्रा से वही सम्बन्ध

है जोकि एक झील में पानी के बहाव का झील से है।" द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त का मूल दोष यह है कि यह मान लेता है कि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि वस्तुओं तथा सेवाओं के खरीदने में लगाई जाती है। यही कारण है कि इससे कीमते बढ जाती है। परन्तु इसके स्थान पर अधिक द्रव्य बैंकों में जमा किया जा सकता है, तिजोरियों मे बेकार पडा रह सकता है, सिक्योरिटी में विनियोजन किया जा सकता है अथवा बीमा कराने में प्रयोग में लाया जा सकता है। इस हद तक उसका कीमतों पर कोई प्रभाव नही पडेगा।

कुछ लेखकों ने चलन-वेग के विचार की आलोचना की है। मार्शल का कहना कि "परिमाण सिद्धान्त उन बातों की, जिनसे चलन का वेग निर्धारित होता है, कोई व्याख्या नही करता।" बजाय चलन वेग मे वृद्धि अथवा कमी के कुछ लेखक द्रव्य की मांग मे वृद्धि अथवा कमी का वर्णन करते है।

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त एक दीर्घकालीन घटना की व्याख्या है। यह उस अल्प-कालीन संसार की घटनाओ की व्याख्या करने में असमर्थ है जहा साम्य मे विघ्न डालने वाले कई कारण लगातार कार्य करते रहते है और जो एक परिवर्तन काल के सूचक है। परन्तु चूकि हमारे वास्तविक संसार में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, सिद्धान्त केवल सीमित उपयोगिता रखता है। वह दीर्घकालीन साम्य जिसकी व्याख्या परिमाण सिद्धान्त करना चाहता है कभी भी प्राप्त नही होता। "साम्य कल के समान है—यह कभी नही आता क्योकि जैसे ही सुबह की भूरी लकीरे दीख पडने लगती है, कल के अर्थ कुछ और हो जाते है। द्रव्य की मात्रा तथा सामान्य कीमत स्तर के बीच साधारण और प्रत्यक्ष सम्बन्ध तभी ठीक होता है जब कि अर्थ-व्यवस्था एक साम्य की दशा मे है। जैसाकि कीन्स (Keynes) कहते है "साम्य में—अर्थात् जब उत्पत्ति के साधन पूर्ण-रूप से कार्य करते है, जब जनता सिक्योरिटियों के लिये न तो तेजी वाली और न मन्दी वाली प्रवृत्ति रखती है और अपने कुल धन के असामान्य अनुपात से न तो अधिक और न कम भाग बचत-जमा (Savings Deposits) के रूप मे रखते है और जब बचत की मात्रा नये विनियोग की लागत तथा प्रकृति दोनो के बराबर होती है—मुद्रा की मात्रा उपभोग वस्तुओ के कीमत स्तर तथा उत्पत्ति में एक अनोखा सम्बन्ध इस प्रकार का होता है कि यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी हो जाती है तो कीमतें भी दुगनी हो जाती है" कौन कह सकता है कि ऐसा साम्य प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा परिमाण सिद्धान्त अपने प्रारम्भिक रूप में बेकार तथा धोखा देने वाला है।

प्रोफैसर हायक[1] का विचार है कि इस सिद्धान्त ने व्यर्थ में द्रव्य के सिद्धान्त में इतना प्रमुख स्थान पा लिया है। उनका यह भी विश्वास है कि जिस विचार ने इस सिद्धान्त को जन्म दिया है, उससे आगे की उन्नति में बाधा पड़ती है। "इस सिद्धान्त का एक बहुत बुरा प्रभाव यह है कि यह अर्थशास्त्र से द्रव्य के सिद्धान्त को पूर्णतः पृथक् कर देता है।"

1. Hayek : Prices and Production, Lecture I.

लार्ड कीन्स को इस सिद्धान्त के सम्बंध में सब से बड़ा विरोध यह है कि यह समस्या का उचित अध्ययन नही करता। द्रव्य के सिद्धान्त की वास्तविक समस्या केवल सांख्यिक समीकरण मात्र स्थापित कर देना ही नही है। उदाहरण के लिए द्रव्य के कुल परिमाण का द्रव्य के बदले मिलने वाली वस्तुओ से सम्बन्ध है। इस सिद्धान्त का असली कार्य तो यह है कि वह विभिन्न तत्वों का इस प्रकार विश्लेषण करे कि वह तमाम कारण, जिनसे मूल्य निश्चित होते है, और वह उपाय जिनसे समता एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्थानांतरित होती है, स्पष्ट हो जाय।"[१] विट्टेकर के शब्दो मे "परिमाण सिद्धान्त इस अर्थ में तो बड़ा अच्छा है कि यह कीमतो की प्रणाली स्पष्ट कर देता है किन्तु जहां तक कारणों की व्याख्या का सम्बन्ध है, इसमे बड़ी कमियां है।"[२]

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त को उसके प्रारम्भिक रूप मे माना नही जा सकता। कुछ थोडे प्रश्न उसकी गलत प्रकृति को स्पष्ट कर देगे। क्या एक व्यापारी अपनी वस्तुओं की कीमत केवल इसलिये बढा सकता है कि केन्द्रीय बैंक ने अधिक नोटों को छाप दिया है? क्या प्रत्येक मनुष्य जितना द्रव्य वह रखता है खर्च करने को तय्यार है? इसका जवाब नही मे है। क्या यह सभव नही है कि नई मुद्रा अधिक उत्पत्ति को सुविधा दे और इस प्रकार कीमतों को बढने से रोके। सिद्धान्त वस्तुओं की पूर्ति की लोच पर ध्यान नही देता। जब पूर्ति लोचदार है तो ट,प से अधिक बढ सकता है। फिशर का समीकरण समय का ध्यान नहीं रखता। मुद्रा एकबारगी बढाई जा सकती है, परन्तु व्यापार की मात्रा तथा प्रवेग समय पर फैले होते है।

व्यापार की मात्रा तथा उसके चलन वेग को ध्यान रखते हुए सिद्धान्त को एक सुधरी हुई दशा में इस भांति वर्णन कर सकते है: "कीमतें मुद्रा की मात्रा तथा उसके चलन वेग के अनुकूल और द्रव्य द्वारा खरीदी हुई वस्तुओं तथा सेवाओ की मात्रा के प्रतिकूल बदलती है।" पुराने तथा अधूरे परिमाण सिद्धान्त के इस आधुनिक वर्णन मे कीमतों पर प्रभाव डालने वाले तीन मुख्य साधनो अर्थात् मुद्रा की मात्रा, उसके प्रवेग तथा व्यापार की मात्रा पर ध्यान दिया गया है। कोई भी अर्थशास्त्री अब यह विश्वास नही करता कि मुद्रा की मात्रा तथा सामान्य कीमतों के स्तर के बीच कोई स्थिर तथा अचेत सम्बन्ध है। इस प्रकार सिद्धान्त बदल गया है, केवल नाम रह गया है। आधुनिक अर्थशास्त्री ने एक तरह से नई शराब पुरानी बोतल में रख दी है।

कीन्स मूल समीकरण को निम्न प्रकार रखते है और यह दृढतापूर्वक कहते है कि इसमें वह दोष नही है जो पहिले समीकरण मे है। उनका समीकरण यह है $प^{१}=म/स$, जहां $प^{१}$ कीमतों का स्तर है, म नगद आधिक्य की कुल मात्रा और स वास्तविक आधिक्य की मात्रा अर्थात् वह आधिक्य जो ठीक सम्बन्ध उस वास्तविक व्यापार की मात्रा

१. Keynes : A Treatise on Money.
२. Whittaker : op. cit., p. 660.

से रखता है जिस पर कि वह अपने आधिक्य को लगाता है। समीकरण यह बताता है कि महाजन तथा रुपया जमा करने वालो का कीमत निर्धारण मे क्या भाग है। वह कहते है "नकद आधिक्य की मात्रा बैंकों के निर्णय पर निर्भर है और उन्ही की बनाई हुई होती है। वास्तविक आधिक्य की मात्रा रुपया जमा करने वालो के निर्णय पर निर्भर है। कीमतो का स्तर ($प_१$) दोनों तरह के निर्णयों का परिणाम है और नकद आधिक्य तथा वास्तविक आधिक्य की मात्रा के अनुपात से नापा जाता है।

किन्तु परिमाण सिद्धान्त पूर्णत बेकार नही है। आर्थिक सिद्धान्त की हैसियत से यह बहुत महत्वपूर्ण है। इसकी उपयोगिता यह है कि इससे हमे यह पता चल जाता है कि मुद्रा-प्रसार की परिस्थितियों मे अथवा बैंक के साख के कम विस्तार की दशा मे अथवा व्यापार की वृद्धि की दशा मे क्या होगा। पर इसके लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरी बातो का भी ध्यान रक्खे। अधिकारी वर्ग जब मुद्रा-प्रसार करते है अथवा मुद्रा-सकुचन करते है, तो इसी सिद्धान्त के अनुसार काम करते है। सिद्धान्त मुद्रा-प्रसार के काल मे आर्थिक घटनाओं तथा भूतकाल में कीमतो की अस्थिरता की व्याख्या करने मे बहुत सहायक है। द्रव्य के मूल्य निर्धारण मे भी पूर्ति तथा माग के नियम लागू होते है। हमको देखना चाहिए कि यह कैसे होता है।

५. द्रव्य की मांग व पूर्ति का सिद्धांत (Supply and Demand Theory of Money)—हमे यह मालूम है कि द्रव्य का मूल्य कीमतो के स्तर पर निर्भर करता है। यह कीमतों के उल्टे अनुपात मे परिवर्तित होता रहता है। अर्थात् यदि कीमते बढ जाती है तो इसका मूल्य कम हो जाता है। किन्तु कीमतो का स्तर एक ओर तो द्रव्य की माग पर निर्भर करता है और दूसरी ओर द्रव्य की पूर्ति पर। इसलिए द्रव्य के मूल्य का सही सिद्धान्त वही है, जिसमे इसकी व्याख्या माग व पूर्ति के सम्बन्ध में की जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार "द्रव्य का मूल्य दूसरी वस्तुओ के मूल्य की भाति इसकी माग और पूर्ति पर निर्भर करता है।" द्रव्य की मांग व पूर्ति का वर्णन परिमाण सिद्धान्त मे भी है किन्तु वह सिद्धान्त माग व पूर्ति की शक्तियों की व्याख्या करने में सफल नही हुआ। यह सिद्धान्त बहुत सी बातों को स्थिर मान लेता है और द्रव्य के प्रचलन के परिमाण पर अधिक जोर देता है। इसके अतिरिक्त इसके समीकरण मे मुद्रा की माग का भाव कुछ अस्पष्ट सा है। अब हम मांग व पूर्ति की शक्तियो का पृथक्-पृथक् अध्ययन करेगे।

६. मुद्रा की पूर्ति (The Supply of Money)—वर्तमान समाज मे मद्रा की पूर्ति मे बहुत-सी बातें सम्मिलित होती हैं। अस्तु (अ) धातु की मुद्रा (ब) कानूनन ग्राह्य मुद्रा, जिसका प्रचलन सरकार करे (स) साख-पत्र जैसे चेक, ड्राफ्ट, बिल आफ एक्सचेज आदि।

इनमे से प्रत्येक पूर्ति का साधन विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर होता है। (अ) धातु की मुद्रा। प्रचलन के लिये मिलने वाली धातु निम्नलिखित कारणो से बढ सकती है—

(१) खान खोदने के उपायों में उन्नति, (२) नयी खानों की खोज, (३) मुद्रा-रहित प्रयोगों से अधिक सोने का आना।

(ब) कानूनी ग्राह्य मुद्रा व दूसरे छोटे सिक्कों की मात्रा निम्नलिखित बातों पर निर्भर होती है—

(१) सिक्का ढलाई व सुरक्षित रखने के विषय में सरकारी नियम।

(२) सरकार की मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकताएं।

(३) फुटकर सौदो का परिमाण।

(स) बैंक मुद्रा की पूर्ति निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है—

(१) जमा की हुई रकमों का परिमाण।

(२) बैको की साख नीति।

(३) देश में आर्थिक उन्नति की दशा।

इस विषय में हमे प्रत्येक भाति के द्रव्य के चलन के वेग का भी ध्यान रखना चाहिए।

द्रव्य की वास्तविक पूर्ति सरकार की ऋण-नीति, गाड़ने की आदत आदि से भी प्रभावित होती है।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि जिन देशो मे धातु के सिक्के ही मुद्रा का एकमात्र स्वरूप है, वहां इतनी सरलता से मुद्रा की पूर्ति नही बढाई जा सकती जितनी उन देशों में, जहां सांकेतिक सिक्के अथवा कागज़ के नोट मुद्रा के रूप मे चलते है। यदि कागज के नोट धातु के सिक्को मे विनिमय-साध्य न हों और यदि उनके विषय मे कोई सख्त सरकारी नियत्रण न हो, तो उनका चलन करैसी अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर होगा। जिन देशो में बैंक मुद्रा का चलन होता है, वहा मुद्रा की पूर्ति किसी सीमा तक भी बढाई जा सकती है। पर आम तौर से बैको मे नकद रुपये का कुछ भाग रिजर्व के रूप मे रख लिया जाता है। चूकि यह अनुपात लोचपूर्ण होता है, इसलिए पूर्ति किसी हद तक भी घटाई या बढ़ाई जा सकती है।

बैंक ब्याज की दर घटा कर उधार को प्रोत्साहन दे सकते है अथवा बढ़ाकर हतोत्साह कर सकते है। पर यह अक्सर केन्द्रीय बैंक के नेतृत्व में होता है। बैंक और विशेषकर केन्द्रीय बैंक सिक्योरिटी खरीद कर मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ा सकते है और सिक्योरिटी बेच कर इसे घटा सकते है। पर उनकी विस्तार अथवा संकुचन की शक्ति व्यापार की दशा पर निर्भर होती है; मंदी के दिनों में बैंक उपक्रमियों को उधार लेने को बाध्य नही कर सकते क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में विनियोजन लाभप्रद नही होता। यदि वह बाजार में सिक्योरिटी खरीदे भी तब भी उस धन का कोई विनियोजन नही होगा। इससे केवल द्रव्य ठहर जायगा। अस्तु, बढ़ी हुई पूर्ति के साथ-साथ बढ़ी हुई मांग भी होनी चाहिये। पर यह मांग होती क्या है ?

७. **मुद्रा की मांग** (Demand for Money)—आरम्भ में यह स्पष्ट हो

जाना चाहिए कि मुद्रा की मांग के क्या अर्थ है ? मुद्रा की मांग से हमारा तात्पर्य आय अथवा धन की मांग से नही है; वह मांग तो अतृप्य है। परन्तु मुद्रा की मांग सीमित है। इसका अर्थ नकद आधिक्य की माग से है। फिर वास्तव मे यह मुद्रा की इतनी इकाइयों की मांग नही है। मुद्रा अपने लिये नही मागी जाती। यह इसलिये मांगी जाती है कि इसकी क्रय-शक्ति होती है अतएव द्रव्य की मांग वास्तव मे उसकी क्रय-शक्ति की इकाइयों की मांग है। फिशर के समीकरण के अनुसार द्रव्य की माग (प ट) कुल सौदों के मूल्यों के बराबर होती है। मांग का यह विचार न तो सही है, न वैज्ञानिक। इस सम्बन्ध मे प्रोफैसर कैनन का कहना है कि "यह विचार ऐसे विचार के समान लगता है जैसे कि यह कहा जाय कि मकानों की माग उन व्यक्तियो द्वारा नही होती है जो उनमें रहे वरन् उन लोगो द्वारा होती है जो कि उन्हे खरीद कर बेच दें। मकानों की क्रियात्मक मांग उन लोगों द्वारा होती है, जो उन्हे अपने पास रखना चाहते है। सट्टे-बाज भी कुछ समय के लिए मकान अपने पास ही रखना चाहते है। घरों के बाजार में केवल थोड़ी-सी क्रियाशीलता से—केवल माग में उसी प्रकार वृद्धि हो जाती है जिस प्रकार क्रियाशीलता कम होने के समय पूर्ति मे वृद्धि हो जाती है। इन पदों के सही प्रयोग के विषय मे चाहे कुछ भी कहा जाय, यह तो स्पष्ट है कि जिस माग का मूल्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, वह मकान में रहने की माग है।"[1]

इसी प्रकार द्रव्य की माग इसका उपभोग करने के लिए इतनी नही होती जितनी कि उसे रखने के लिये। व्यक्ति, व्यापारिक संगठन और लोक-संस्थाएं सभी प्रकार के लोग रुपया रखना चाहते है। इसके कई कारण है। साधारण उपभोक्ता तो रुपया केवल इसलिये रखना चाहते है कि इससे उनकी वस्तुए खरीदने की प्रतिदिन की आवश्यकताएं पूरी होती रहें। उपक्रमी मजदूरी और दूसरे प्रकार के व्यय करने के लिए रुपया चाहते है। इसी प्रकार के कारणो से प्रभावित हो लोक-संस्थाएं भी रुपया रखती है। कभी-कभी रुपया केवल इसलिए रक्खा जाता है, कि इसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु प्राप्य नही होती। रुपया रखने का एक उपाय यह भी है कि इसे या तो वस्तुओ के क्रय मे समाप्त कर दिया जाय या विनियोजित कर दिया जाय। विनियोजन वस्तुओं मे भी हो सकता है, सिक्यो-रिटियों में भी, और बैको में केवल जमा पूजी के रूप में भी पूर्ण रहते है। किन्तु लोग अपनी सम्पूर्ण आय को प्राप्त करते ही समाप्त नही कर सकते। व्यय आवश्यकताओ के अनुसार होता है। जहां तक विनियोजन का प्रश्न है, इसमे सदैव आकर्षण नही हुआ करता और अल्पकाल में तो यह बहुत कठिन हो जाता है। वस्तुओं के सग्रह का मूल्य गिरने लगता है। सिक्योरिटियों का मूल्य भी गिरने लगता है और बैंकों से मिलने वाले व्याज की दर इतनी अधिक नही होती कि लोग बैंकों में रुपया जमा करने लगें। यह भी हो सकता है

1. Quoted by Stevenson and Branton ; Economics of Banking, Trade and Finance, p. 15.

कि लाभ बहुत गिर जायं; ऐसी दशा में रुपया विनियोजित होने की अपेक्षा जमा अधिक किया जायगा। लोग मंदी के दिनों मे रुपया अधिक जमा करना प्रारम्भ करेगे, इसलिए मदी के दिनों में रुपये का मूल्य, माग बढ़ जाने के कारण, बढ़ जाता है। दूसरे शब्दो मे मदी के दिनो मे कीमते कम हो जाती है, इसके विपरीत जब अधिक लाभ की आशा होती है तो विनियोजन बढ जाते है और मुद्रा की मांग कम हो जाने के कारण इसका मूल्य गिर जाता है और कीमते बढ जाती है। लोगो की रुपया जमा करने की इस प्रवृत्ति को लार्ड कीन्स ने द्रवता-पसन्दगी (Liquidity Preference) कहा है। द्रवता-पसन्दगी मे वृद्धि भी हो सकती है और कमी भी हो सकती है, जिसके अर्थ यह होते है कि लोग क्रय-शक्ति के रूप में अपनी आय को कम या अधिक संचय करते है।

इस अर्थ मे मुद्रा की माग कई परिस्थितियो पर निर्भर करती है। जनसख्या में वृद्धि मे मुद्रा की अधिक मात्राओं का सचय करना आवश्यक हो जाता है। उत्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि, कर मे वृद्धि, विद्यमान फर्मो की सख्या मे वृद्धि, निर्वाह अर्थ-व्यवस्था का नष्ट होना इत्यादि कुछ ऐसे कारण है जिनसे मुद्रा की माग मे वृद्धि होती है; कोई ऐसा उपाय, जिससे मुद्रा के चलन मे कमी हो जाय, तो मुद्रा की माग बढ़ जायगी। मनुष्यो के पास कम मुद्रा रहेगी यदि भुगतान करने तथा पाने का समय एक ही है और यदि वे ऐसी परिसम्पत प्राप्त कर सकते है जिसको कि वे इच्छापूर्वक नकदी में बदल सकते है। उदाहरणार्थ चालू लेखा (Current Account) तथा सरकारी सिक्योरिटी। जिनकी बाजार में अधिक साख होती है उनको अधिक नकदी रखने की कोई आवश्यकता नही। धन के अधिक समान वितरण से मुद्रा की माग बढ जायगी क्योकि जाति के निर्धन लोग भी पहले की अपेक्षा अधिक द्रव्य रख सकते है। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक कारणो से भी द्रव्य की माग प्रभावित होती है। जैसाकि हम कह चुके है कि कीमतो में कमी होने की आशा से लोग खर्च की अपेक्षा सचय अधिक करने लगेगे। इसके विपरीत यदि कीमत बढने की आशा होती है, तो मुद्रा का विनियोजन अधिक होता है, संचय कम।

परिमाण सिद्धान्त के चलन के वेग की प्रोफैसर कैनन व दूसरे लोगों ने कड़ी आलोचना की। यह विचार अनिश्चित है। जब इसे द्रव्य की माग के रूप में प्रकट किया जाय तो यह अधिक सही हो जायगा। उदाहरण के लिए, बढती हुई कीमतों के समय मे द्रव्य के चलन वेग की वृद्धि हो जाती है। हम यह भी कह सकते है कि द्रव्य की मांग कम हो गई। ऐसे समय में हर व्यक्ति रुपया व्यय ही नही कर सकता। जब कीमतें गिरने लगती है तब इसका उल्टा होता है। मंदी के दिनों में यह कहने के बजाय कि द्रव्य का चलन वेग कम हो गया हम यह कहते है कि द्रव्य की मांग बढ गई।

अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि और वस्तुओं की भांति मुद्रा का मूल्य भी मांग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा निश्चित होता है। मांग व पूर्ति ही कीमत और फलस्वरूप

द्रव्य का मूल्य निर्धारित करती है। यदि पूर्ति के साथ-साथ द्रव्य की मांग बढ जाय तो मुद्रा का मूल्य बढ जायगा। इसके विपरीत यदि द्रव्य की पूर्ति बढ जाय तो उसका मूल्य कम हो जायगा और कीमते बढ जायगी। पूर्ति और माग जब समता पर पहुच जाते है तो कीमते स्थिर हो जाती है।

८. कैम्ब्रिज समीकरण (The Cambridge Equation)—मुद्रा की मात्रा तथा उसके मूल्य (अथवा कीमत स्तर) के बीच के सम्बन्ध की समस्या दो प्रकार से हल की जा सकती है। इसमे दो परिमाण सिद्धान्त उठ खडे हुए है। एक मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त है, जो व्यापार वाला सिद्धान्त कहलाता है जिसका विवेचन हम खण्ड २ में कर चुके है और जिसकी व्याख्या फिशर के समीकरण से हुई है। यह सिद्धान्त अमरीका मे अधिक प्रचलित है। दूसरा सिद्धान्त जिसको नकद आधिक्य वाला भी कहते है और जो यूरोप मे, खास कर इगलैड मे अधिक प्रचलित है, केम्ब्रिज समीकरण से प्रस्तुत होता है। तो भी दोनों मूल रूप से समान है और अर्थशास्त्री यह दिखाने का प्रयत्न करते है कि एक को दूसरे मे बदला जा सकता है। इस खण्ड मे हम कैम्ब्रिज समीकरण पर ही विचार करेगे।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कैम्ब्रिज समीकरण मुद्रा के मूल्य के बारे मे नकद आधिक्य वाला सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। यह केवल यह कहता है कि मुद्रा का मूल्य नकद आधिक्य की माग तथा पूर्ति पर निर्भर करता है। पिछले खण्ड मे हम मुद्रा की मांग तथा पूर्ति के निर्धारण करने वालों के बारे मे विवेचन कर चुके है। यहा हम विद्यार्थी का ध्यान माग की तरफ एक बात पर डालना चाहते है। मुद्रा की माग केवल साधनो अथवा विनिमय की जाने वाली वस्तुओ तथा सेवाओं की मात्रा पर ही निर्भर नही करती परन्तु उस समय पर भी निर्भर करती है जिसमे व्यापार होता है। एक गेहू के उपभोग करने वाले को लो। उसके लिए क्या यह आवश्यक है कि वह सारे साल का गेहू एक साथ खरीद ले या काफी नकद रुपया सारे साल की आवश्यकता के लिए खरीदने को रख ले। नही, यह आवश्यक नही है। बहुत कम उपभोक्ता ऐसा करेगे। एक उपभोक्ता महीने-महीने खरीदना तै कर सकता है। तब उसको यह आवश्यक होगा कि वह साल भर की आवश्यकता के $\frac{1}{12}$ के बराबर नकद रख ले। इसी प्रकार वह इतना नकद रखेगा जो कि उसको दूसरी वस्तुओं तथा सेवाओं के खरीदने के लिए किसी निश्चित समय के लिये आवश्यक हो न कि पूरे साल के लिए।

यदि एक समुदाय के लोगो का स्वभाव दीर्घकाल में क्रय पूरा करने के लिए नकद रखने का है, तो नकद की माग अधिक होगी। कुल आय का केवल एक हिस्सा नकदी में रखा जाता है, शेष का विनियोग कर दिया जाता है। न तो नकद अधिक रखना चाहिये क्योंकि अधिक नकद रुपया रखना खतरे के अतिरिक्त एक प्रकार की हानि भी है, हालांकि अधिक नकद आधिक्य व्यापार को सरल तथा शान्त रूप बनाता है। और न नकद कम ही

रखना चाहिए क्योंकि व्यापार के अनुसार यह आपत्तिजनक हो सकता है। जैसाकि मार्शल कहते है "एक मनुष्य अपनी आय का उचित भाग नकद रखने तथा अपने साधनों को इस रूप में रखने की हानियों से जिसमें उनसे कोई प्रत्यक्ष आय या अन्य लाभ नही होता संतुलन करके स्थिर करता है।" एक व्यक्ति इस प्रकार अपनी आय का केवल एक अंश ही नकद रुपयों में रखता है ताकि उसका व्यापार शांतिपूर्वक चले तथा संकट-काल मे रक्षा हो। मान लो ऐसे अश को क सूचित करता है। प्रोफैसर पीगू यह समीकरण देते है।

$$प = \frac{क\ र}{म}$$

यहां प द्रव्य का मूल्य या उसकी क्रय-शक्ति एक वस्तु गेहूं में है। र का अर्थ कुल साधन अर्थात् एक निश्चित समय में गेहूं मे आय है, तथा म मुद्रा की मात्रा (विधिग्राह्य) है। जब नकद विधिग्राह्य के रूप में तथा बैंक जमा (Deposit) के रूप में होता है तो समीकरण इस प्रकार होगा।

$$प = \frac{क\ र}{म}[स + ह\ (१ - स)]$$

यहा ह कानूनन ग्राह्य मुद्रा का बैंकों मे जमा हुई रकम से अनुपात प्रस्तुत करता है।

कीन्स के अनुसार इस समीकरण की निम्न आलोचना की जा सकती है।

१. समीकरण ठीक तभी होगा जबकि र का अर्थ आय जमा से है न कि कुल जमा से। वह कहते है "कैम्ब्रिज समीकरण की मुख्य असुविधा इसमे है कि जो विचार आय जमा के अनुरूप है वह कुल जमा के साथ लगाये जाते है।"

२. जब कि समीकरण इस पर जोर डालता है कि क (आय का वह अश जो नकद मे रखा जाता है) साधनों को नकद तथा दूसरे रूप में रखने के सापेक्ष लाभों पर निर्भर है, तो क को जो श्रेष्ठता दी जाती है यह गलत है।

३. पीग के इस समीकरण मे समस्त कीमते एक वस्तु गेहूं में ही लगाई जाती है। ऐसा वास्तव मे नही है। हमारा उद्देश्य गेहूं की कीमत मालूम करना ही नही है परंतु मुद्रा का मूल्य, जिसके करने मे समीकरण असमर्थ है।

४. समीकरण इस बात पर ध्यान नही देता कि भिन्न-भिन्न अभिप्रायों के लिये रखे हुए जमा के अनुपात मे परिवर्तन होने से अथवा सचय तथा विनियोग की दर में भिन्नता होने से विघ्न पड़ सकता है।

कीन्स अपना निजी सूत्र देते है जो इन आलोचनाओं से मुक्त है।

९. द्रव्य की मांग की लोच इकाई के बराबर होती है। (Elasticity of Demand for Money is Unity)—जब हम यह कहते है कि द्रव्य का मूल्य बिल्कुल अपने परिमाण पर निर्भर करता है तो वह केवल इसलिए कि यह मान लिया गया है कि द्रव्य की मांग की लोच एक के बराबर है।

द्रव्य की मांग अदल-बदल, साख और सौदों के परिमाण पर निर्भर करती है। यह मान लिया गया है कि एक निश्चित समय में द्रव्य की मांग में कोई परिवर्तन नही होता। यदि द्रव्य की माग समान रहे तो उसकी पूर्ति उसका मूल्य निर्धारित करेगी। द्रव्य के परिमाण में किसी प्रकार के परिवर्तन से उसके मूल्य में भी उसी अनुपात में परिवर्तन होता है। यदि द्रव्य के परिमाण मे शत प्रतिशत वृद्धि हो जाय तो कीमतों में भी शत प्रतिशत वृद्धि हो जायगी। और यदि द्रव्य के परिमाण में शत प्रतिशत कमी हो जायगी तो कीमतों में भी शत प्रतिशत कमी हो जायगी। यह वस्तुओ के सम्बन्ध मे नही होता। यदि गेहू की पूर्ति शत प्रतिशत बढ जाय तो उसके मूल्य मे उसी अनुपात मे कमी नही होगी।

कुछ लोगों का यह विश्वास है कि द्रव्य केवल एक टिकट मात्र है, जिस के द्वारा केवल विनिमय होता है। इसका दूसरी वस्तुओं की भांति उपभोग नही किया जा सकता। जब वस्तुए अधिक तथा सस्ती होती है, तो उनका अधिक उपभोग होगा। परन्तु मुद्रा का इस प्रकार उपभोग नही हो सकता। इसलिए यदि यह बढ जाय तो उसका विनिमय वस्तुओ के बदले होना चाहिए। मान लीजिये, किसी देश मे सौ वस्तुएं है और सौ ही सिक्के हो तो सौ सिक्कों के बदले मे १०० वस्तुएँ मिलेगी और प्रति वस्तु की कीमत एक सिक्का होगी। अब यदि द्रव्य का परिमाण बढ जाय तो २०० सिक्को के बदले मे १०० वस्तुएँ मिलेगी। २०० सिक्को और १०० सिक्को की क्रय-शक्ति बराबर है। इसलिए कुछ लेखकों का यह विश्वास है कि द्रव्य की मात्रा मे परिवर्तन का कोई महत्व नही होता। यही बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि माग का लोच ऐक्य है।

इसका अर्थ है कि मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि से उसकी माग मे उसी अनुपात में कमी होगी और मुद्रा के मूल्य मे कमी से उसकी माग मे उसी अनुपात में वृद्धि हो जावेगी।

पर वास्तव में ऐसा है नही। वास्तविक जगत् मे हम यह नही पाते कि द्रव्य के परिमाण में किसी प्रकार के परिवर्त्तन से कीमतों मे भी उसी अनुपात मे परिवर्त्तन हो जाय। जर्मनी मे प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मुद्रा-प्रसार के दिनो मे कीमतें प्रचलित माध्यम से कही अधिक बढ गई थी। मुद्रा-प्रसार के पश्चात् और अधिक मुद्रा-प्रसार आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा मे द्रव्य की माग भी बढती रहती है। लोगो का मुद्रा से विश्वास उठ जाता है। प्रतिदिन कीमते बढती है। अस्तु, जब द्रव्य का परिमाण बढ जाता है तब उसका मूल्य अनुपात के अनुसार ही नही वरन् और भी अधिक कम हो जाता है। इसी प्रकार मंदी के दिनों में कीमतें गिरती ही जाती हैं, चाहे द्रव्य के परिमाण में कोई परिवर्त्तन न हो। बीसवी शती के प्रारम्भ में मंदी के दिनों में यद्यपि बहुत से देशों मे मुद्रा बढ़ाकर कीमतें बढ़ाने का प्रयत्न किया गया था, किंतु वह असफल रहे। सत्य तो यह है कि यह एक बड़ी अद्भुत घटना है, जिस पर द्रव्य का परिमाण प्रभाव डालने वाला एक अंग है। इसीलिये यह सोचना कि द्रव्य के परिमाण में हर प्रकार के परिवर्त्तन से कीमतों में उसी अनुपात में परिवर्त्तन होता है, गलत है।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि द्रव्य की मांग की लोच इकाई के बराबर नही होती।

पर यह बिल्कुल उल्टी बात है कि व्यापार की समृद्धि के दिनों में सौदों की संख्या बढ़ जाती है। जिसके अर्थ यह है कि द्रव्य की मांग बढ जाती है। अस्तु, द्रव्य का मूल्य भी बढ़ जाना चाहिये और कीमते गिरनी चाहिएँ, किंतु होता इसके बिल्कुल विपरीत है। यही बात मंदी के संबध में भी है।

इसका उत्तर यह हुआ कि साख का परिमाण व्यापारिक दशाओं के अनुरूप घटता बढ़ता है। समृद्धि के दिनो मे आशावादी भावनाओ के कारण उधार खूब बढ जाता है। यहां तक कि व्यापार से अधिक अनुपात में बढ जाता है। परिणाम यह होता है कि समुदाय की क्रय-शक्ति बढ जाती है और मूल्यो में वृद्धि हो जाती है। मदी के दिनों मे इसके विपरीत परिस्थितियां होती हैं और कीमतें गिरने लगती हैं।

निर्देश पुस्तकें

Taussig—Principles of Economics, Vol. 1.
Hayek—Prices and Production, Lecture 1.
Keynes—A Treatise on Money.
Whittaker—A History ef Economic Ideas.
Seligman—Principles of Economics.
Waiser—Natural Value. Page 47 Onwards.
Stevenson and Branton—Economics of Banking, Trade and Finance Page 15 Onwards.
Crowther—An Outline of Money.
Colc—Money, Its Present and Future.
Fisher—The Purchasing Power of Money, pp. 152—155.
Keynes—The General Theory of Employment, Interest and Money, pp. 295—306.
Brij Narain—Money and Banking (S. Chand and Co.)

अध्याय ३५

मुद्रा और कीमतें

(MONEY AND PRICES)

१. परिचय—हमने पिछले अध्याय में देखा है कि मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं की कीमतो के सामान्य स्तर मे उल्टा सबध है। जब कीमतो की सतह ऊपर उठती है तो मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और इसके विपरीत जब कीमतो का सामान्य स्तर नीचे गिरता है तो मुद्रा का मूल्य बढ जाता है। जब सन् १९२९-१९३३ के महान मंदी (Great Depression) के समय ससार भर में वस्तुओं के दाम गिर गये थे तो मुद्रा का मूल्य बढ़ गया था। महायुद्ध मे मुद्रा का मूल्य कम हो गया था क्योंकि वस्तुओ का मूल्य सब देशों मे बढ गया था।

मुद्रा के मूल्य मे या कीमतों के सामान्य स्तर में एकाएक परिवर्तन एक गम्भीर स्थिति उपस्थित कर देता है क्योंकि इससे विविध व्यापारिक संबंधों में बाधाये पड जाती है और इससे विविध श्रेणियों के मनुष्यों में संपत्ति का वितरण भी बदल जाता है अतएव इससे संबंधित अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। पहले हमें यह देखना चाहिये कि कीमतों मे एकाएक परिवर्त्तन होने के क्या परिणाम होते है। दूसरे यह भी देखना है कि क्या इस प्रकार के परिवर्त्तनों का माप भी किया जा सकता है? यदि हां, तो किस प्रकार से? तीसरे, इस प्रकार के मूल्यो के उतार-चढ़ाव को किस प्रकार नियत्रित किया जा सकता है?

२. स्फीति (Inflation)—आगे बढने से पहले कुछ शब्दों के अर्थ बतला देना आवश्यक है। यह शब्द उस समय प्रयोग मे लाया जाता है जब कि हमारा अभिप्राय कीमतो में असामान्य परिवर्त्तन से होता है। पहला शब्द है **'स्फीति'**। जब कीमत का सामान्य स्तर अत्यधिक बढ जाता है, जिसका कारण साधारणतः मुद्रा की पूर्ति का बढ़ना और माग का उसी के अनुसार बढना नही होता तो उस दशा को स्फीति (Inflation) कहते है। जब सोने की अधिक पूर्ति से कीमते बढ़ जाती है तो हम स्वर्ण स्फीति कहते है। यदि मुद्रा के बढने से कीमते बढ़ जाती है तो उसको मुद्रा स्फीति कहते है। और जब कीमतें साख (Credit) के अत्यधिक बढ़ जाने से बढती है, तो उसको साख स्फीति (Credit Inflation) कहते है। केवल "स्फीति" शब्द से हमारा मतलब कीमतों के अत्यधिक बढ जाने से होता है जो कि ऊपर दिये हुए किसी एक या सब कारणो से हुआ हो। स्फीति उस दशा में भी उत्पन्न हो सकती है जब कि मुद्रा की मांग कम हो जाय परन्तु पूर्ति वैसी ही बनी

रहे। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। प्रथम महायुद्ध के बाद योरोप के कई देशों में स्फीति का कष्टप्रद अनुभव हुआ था। कुछ समय चीन भी एक ऐसे ही वातावरण में था जबकि वहां एक जूते का दाम कई लाख डालर देना पड़ता था। जर्मनी में भी स्फीति इस स्तर पर पहुंच गई थी कि वहा के मार्क का मूल्य करीब-करीब नही के बराबर हो गया था। दिन प्रति दिन उसका मूल्य कम होता जाता था और इसीलिए उसको कोई लेना नही चाहता था। यदि किसी दूकानदार के पास यह सिक्का पहुंच जाता था तो वह जल्द से जल्द उसको किसी दूसरे देश के सिक्के में बदलवाने के लिए अपने आदमी को विनिमय गृह की ओर तेजी से दौड़ा देता था (उस समय वहां हर चौराहे पर विनिमय गृह थे)। वे उसका विनिमय दूसरे देश के किसी सिक्के से कर लेते थे, जिसका कि मूल्य ज्यादा स्थायी होता था। ऐसी दशा को "चल-अर्थ (करैंसी) से भागना" (Flight from Currency) कहते है। यह हिसाब लगाया गया था कि उस समय यदि जर्मनी के संपूर्ण राष्ट्रीय ऋण को किसी एक मनुष्य को दे दिया जाता तो भी वह उससे एक समय का खाना भी नही खरीद सकता था, शायद वह सिगरेट का एक पैकेट खरीद सकता।

जर्मनी के दो भाइयों की दशा से जो कि अपने पिता की बहुत बड़ी संपत्ति के उत्तराधिकारी हुए थे, यह ज्ञात होता है कि अत्यधिक स्फीति से समाज में कैसा उलट फेर हो जाता है। एक भाई ने अपने धन को बैंक मे जमा कर दिया और उसको व्यय नही किया तथा दूसरे ने अपना सारा धन शराब पीने मे लगा दिया। जब स्फीति का आविर्भाव हुआ तो मितव्ययी भाई क्या देखता है कि उसकी लाखों मुद्राओं की क्रय-शक्ति लगभग बिलकुल नही के समान हो गई जब कि उसका खर्चीला भाई अपनी खाली बोतलों को बेचकर लखपती बन गया। मध्यम श्रेणी के लोगों पर स्फीति का प्रभाव बहुत ही हानिकारक हुआ। उनका तो अस्तित्व ही मिट गया।

मुद्रा स्फीति के समय मे एक दक्षिण के रहने वाले ने कहा "हम दूकान पर मुद्रा को जेब में रख कर ले जाते थे और अपनी टोकरियों में खाना लेकर आते थे। अब हम मुद्रा टोकरियों में ले जाते है और खाना जेबों में लेकर वापस आते है।" मुद्रा स्फीति संकीर्ण स्थिति पैदा करती है। उत्पत्ति अव्यवस्थित हो जाती है। प्रत्येक वस्तु, सिवाय मुद्रा के, न्यून हो जाती है। इसलिये इस पर नियत्रण अवश्य करना चाहिये।

मुद्रा स्फीति को रोकने के लिये हम निम्न उपाय बता सकते हैं (१) बैंक दर या विवृत बाजार रीति (Open market operations) के द्वारा केन्द्रीय बैंक का मुद्रा संकुचन, (२) बैंक साख पर नियंत्रण, (३) कर बढ़ाकर, (४) राष्ट्रीय संचय को प्रोत्साहन देकर, (५) सार्वजनिक व्यय में मितव्ययिता, (६) मूल्य नियंत्रण (७) तथा उत्पत्ति की मात्रा बढ़ाकर।

संकुचन (Deflation) स्फीति का उल्टा है। इसका अभिप्राय कीमतों

के अत्यधिक गिरने से है, जो कि मुद्रा की कमी के कारण हो अथवा उसकी अधिक मांग के कारण हो। यह स्फीति से भी अधिक विनष्टकारी समझा जाता है।

संस्फीति (Reflation) औसत मात्रा मे नियत्रित स्फीति को कहते है। जब वस्तुओ की कीमते इतनी अधिक गिर जाती है कि आर्थिक कार्यो मे कोई लाभ नही होता तो उस समय द्रव्य अधिकारी कुछ ऐसे उपाय कर सकते है, जिससे कि मुद्रा परिचलन मे अधिक आ जाय, जिसके कारण कीमते बढ जाय तथा आर्थिक क्रियाओ मे उन्नति हो। जो लोग ऐसा सोचते है कि मदी का मुख्य कारण मुद्रा ही है, तो उनके अनुसार मदी का सामना करने का यह भी एक साधन है। व्यापारिक-चक्र (Trade Cycles) के अध्याय मे इसके बारे मे और अधिक प्रकाश डाला जायगा।

अस्फीति, मुद्रा-सकुचन (Disinflation) द्वारा कीमतो के गिराने की एक प्रवृत्ति को कहते है जब कि वे (कीमते) मुद्रा स्फीति के कारण अनियमित रूप से बढ गई हो।

सस्फीति तथा अस्फीति शब्द अप्रिय भाव से रहित है।

यहा पर यह ध्यान देना चाहिए कि केवल ऊची या नीची कीमतो से कोई विशेष अन्तर नही होता। यदि सब वस्तुओ के मूल्य और सारी सेवाओ के दाम एकाएक दुगुने हो जाते है या आधे हो जाते है तो मनुष्यो की आर्थिक दशा मे कोई परिवर्त्तन नही होता। परन्तु ऐसा कभी नही होता। होता यह है कि वास्तव मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ का मूल्य भिन्न-भिन्न मात्रा मे बदलता है। यह हो सकता है कि कुछ वस्तुओ के मूल्य बिलकुल न बदले या कुछ वस्तुओ के मूल्य गिर भी जाय। साधारणत, कीमतो के बढने से यह अभिप्राय है कि कीमतो का औसत स्तर ऊचा हो जाता है।

साधारणत. किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्त्तन उस वस्तु की माग या पूर्ति मे परिवर्त्तन होने के कारण होता है। परन्तु जब अधिकतर वस्तुओ के दाम बढ जाते है और कम समय मे बढते है तो उसका कारण साधारणत. मुद्रा ही होता है, अर्थात् मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि। इसके विपरीत जब अधिकतर कीमते एकाएक गिरती है तो उसका कारण साधारणत मुद्रा की माग बढ जाना है। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि ऊपर समझाया जा चुका है।

३. कीमतों में परिवर्तन होने के परिणाम (Consequences of Changing Prices)—कीस ने अपने ग्रन्थ "Tract on Monetary Reform" मे समुदाय को तीन भागो मे विभाजित किया है—

(१) विनियोजन करने वाला वर्ग (२) व्यापारी वर्ग और (३) अर्जन करने वाला वर्ग। उन्होने यह अध्ययन किया है कि द्रव्य के मूल्य मे परिवर्त्तन किस प्रकार से इन तीनों वर्गों के लोगों पर असर डालता है। विनियोजन करने वाले वर्ग मे अथवा

उन वर्गों में जो किराये की आमदनी से निर्वाह करते है, वे लोग होते है जिन्होंने कि अपनी असली संपत्ति को किसी काम में लगा दिया है, जिसके बदले में उन्हे समय-समय पर एक निर्धारित मात्रा मे धन मिलता है और सदैव मिलता रहेगा या किसी खास समय तक उन्हे बदले मे थोडा-थोडा धन मिलेगा और मूल धन एक अवधि के अन्त मे मिल जायगा जैसे कि बधक (Mortgages) बान्ड (Bonds) ऋण पत्र (Debentures) और अधिमान अश (Preference Shares)। कीमतों के सामान्य स्तर के ऊचे होने मे इस वर्ग के लोगो को काफी हानि होती है। वे अपनी स्थायी आय से अब पहले से कम वस्तुएं खरीद सकेगे।

कीमतो के बढने से व्यवसायी वर्ग या उपक्रमी वर्ग को लाभ होता है क्योकि वस्तुओ के बेचने के दाम तो बढे हुए होते है परन्तु उत्पादन का खर्च सामान्यत: कम ही रहता है। चूँकि मज़दूरी पहले से ही निर्धारित होती है, वह उसी समय नही बदलती। भूमि का किराया और ब्याज भी नही बदलते, इसलिये उत्पादक-वर्ग को लाभ होता है।

मजदूरी कमाने वाले वर्ग को भी नुकसान रहता है, क्योकि उनकी मजदूरी या तनख्वाह वस्तुओं की महगाई के अनुपात मे नही बढती। इस प्रकार उनकी असली मजदूरी कम हो जाती है। परन्तु चूकि कीमतो के बढने के समय व्यवसाय और उद्योग मे उन्नति होती है, इसलिये इस वर्ग के लोगो को एक यह फायदा होता है कि उनकी नौकरी बनी रहती है।

अब हमे देखना है कि उधार देने और लेने वालों पर क्या प्रभाव पडता है। जब कीमते बढती है तो ऋणी लोगो को लाभ होता है। ऋण का भुगतान वस्तुओ या सेवाओ को बेच कर किया जाता है। यदि ऋणी व्यक्ति एक उत्पादक है तो वह ऋण के भुगतान करने के लिए कम मात्रा मे वस्तुओ को बेच कर ऋण अदा कर सकेगा। और यदि वह श्रमजीवी है तो भी उसको अपना ऋण अदा करने के लिये कम काम करना पड़ेगा।

जब कीमते बढती है तो आमतौर पर उपभोक्ता वर्ग को हानि होती है। जबकि सभी वस्तुएं महगी हो जाती है तो व्यापारी, सट्टेबाज और चोर बाजारियो को छोड़ कर अन्य सब वर्गो के उपभोक्ताओ को हानि होती है।

कीमतो के नीचे की ओर गिरने से इन वर्गो के लोगों पर प्रभाव इसका उल्टा होता है। विनियोजन करने वाले वर्ग तथा मजदूरी करने वाले वर्ग दोनो को लाभ होता है क्योंकि अपनी स्थिर आमदनी में पहले से अधिक मात्रा मे वस्तुएं और सेवाएं ले सकते है। परन्तु यदि लगातार मदी बनी रहती है तो श्रमजीवी को हानि होती है क्योंकि उस समय बेरोजगारी (Unemployment) बढ़ जाती है। कुछ ही भाग्यशाली व्यक्ति जिनकी नियुक्ति बनी रहती है, इसका लाभ उठा पाते है। व्यापारी

वर्ग को मंदी से हानि होती है। एक तो कीमतों के गिरने के कारण उनको अपने व्यवसाय मे आमदनी कम हो जाती है, दूसरे उनके व्यावसायी खर्चे जैसे मजदूरी वगैरा यदि कम भी हुए, तो भी धीरे-धीरे ही कम होते है। इस प्रकार उनका व्यापारिक लाभ बहुत कम हो जाता है।

कीमतो के गिरने से ऋणी लोगो को भी नुकसान होता है क्योकि उस समय उनको अपने ऋण को अदा करने के लिये अधिक मात्रा मे वस्तुएं और सेवाए देनी पडती है। सन् १९३० के बाद के प्रारिम्भक वर्षो मे भारतीय किसान पर लगान का बोझ बहुत अधिक बढ गया था क्योकि उस समय खेती की उपज का दाम बहुत ही कम हो गया था। परन्तु दूसरी ओर जो व्यक्ति रुपया उधार दे चुके है, उनको लाभ होता है क्योकि जो धन उन्हे वापिस मिलता है उससे पहले की अपेक्षा अब अधिक वस्तुए खरीद सकते है।

कीमतो की कमी से आम तौर पर उपभोक्ताओ को फायदा होता है। वे अपने रहन-सहन के स्तर को ऊचा उठा सकते है।

सक्षेप मे, हम कह सकते है कि ऋणी लोगो को कीमतो के बढने से फायदा होता है और उनके गिरने से हानि क्योकि उनके निश्चित धन-सबधी दायित्व वस्तुओ और सेवाओ मे बढ जाते है, जब कि कीमते गिरती है और यह दायित्व उस समय कम हो जाते है, जब कि दाम बढते है। इसके विपरीत उधार देने वालो को दामो के बढने से नुकसान होता है और गिरने से लाभ।

कीमतो के परिवर्त्तन का प्रभाव कृषि और व्यवसाय पर उसी मात्रा मे नही होता। महान मदी (Great Depression) से हमे मालम हुआ कि कृषि उपज की कीमते व्यावसायिक वस्तुओ की कीमतो की अपेक्षा अधिक जल्दी गिरती है, परन्तु धीरे-धीरे ऊपर उठती है। यह माग और पूर्ति की विभिन्न दशाओ के कारण होता है। खेती की उपज धीरे-धीरे ही प्राप्त होती है क्योकि अनाज वगैरा के उत्पन्न होने और उनके बाजार मे लाये जाने मे अधिक समय लगता है। इसके अतिरिक्त कृषि उत्पादन के इधर-उधर फैले होने के कारण पूर्ति पर नियत्रण रखना भी कठिन हो जाता है। खेती की उपज की माग भी निर्मित वस्तुओ की माग की अपेक्षा कम लोचदार होती है। व्यवसाय मे उत्पादन कार्य अधिक सुगमता से नियत्रित किया जा सकता है तथा उत्पत्ति को नियमबद्ध बनाया जा सकता है।

हम को मुद्रा के मूल्य मे परिवर्त्तन होने का प्रभाव राज्य अथवा राजस्व पर भी देखना चाहिये। राज्य को निश्चित आय वालों की श्रेणी मे रखा जा सकता है और इस प्रकार जब मुद्रा का मूल्य बढता है (अर्थात् जब कीमतें गिरती हैं) तो इसको लाभ होता है और जब मुद्रा का मल्य गिरता है (अर्थात् कीमते बढती है) तो इसको हानि होती है। परन्तु राज्य के साथ बात इतनी साधारण नही है। जब मुद्रा का मूल्य गिर

रहा हो (अर्थात् कीमतें बढ़ती हों) तो राज्य को लाभ होगा क्योंकि आगम बढ़ेगा। यदि कर की दर समान रहती है तो भी उनसे प्राप्ति अधिक होगी। दूसरी ओर यदि मुद्रा का मूल्य धीरे-धीरे बढ रहा हो (अर्थात् कीमते गिर रही हों) तो आगम दृढ रह सकता है। परन्तु यदि धीरे-धीरे गिरने वाली कीमते मदी में विकसित हो जावे तो राष्ट्रीय आय और फलस्वरूप राज्य आगम कम हो जायगा। इन स्थितियों मे यदि आयव्ययक को सतुलन करने का प्रत्येक प्रयत्न केवल मंदी को बढायेगा अतएव घाटे की अर्थ-व्यवस्था (deficit financing) ही अधिक उचित होगी।

यदि मुद्रा का मूल्य राज्य द्वारा मुद्रा मे राशिपातन (dumping) के कारण शीघ्रता से गिर रहा हो, तो राज्य का मुद्रा बढाने का उद्देश्य असफल होगा। जब तक राज्य के आगम आयेगे, कीमते बढ जायेगी। इसलिये क्रय-शक्ति कम हो जावेगी। राज्य को उतनी ही वस्तुए तथा सेवाए खरीदने के लिये अधिक मुद्रा बनानी पडेगी। इस प्रकार मुद्रा स्फीति मुद्रा स्फीति को पालती है और सरकार एक दुष्ट चक्र मे फस जाती है। परन्तु यह एक तरह से एक छिपी ईश्वर की कृपा होगी। राज्य इस प्रकार एक बडे राष्ट्रीय ऋण को भुगतान करने के योग्य हो जायगा। यह तरीका माननीय होने के अतिरिक्त अधिक लाभकर होगा। व्यवहार मे इसका अर्थ राष्ट्रीय ऋण का विलोपन होगा।

किसी भी दिशा की ओर अत्यधिक उथल-पुथल आर्थिक क्रियाओं के लिए हानिकर है क्योकि इससे भविष्य अनिश्चित हो जाता है। अतएव आर्थिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि कीमतो मे अपेक्षाकृत स्थिरता बनी रहे। परन्तु इस दिशा मे कदम बढाने के पूर्व करैसी अधिकारी के लिये यह आवश्यक है कि वह ठीक-ठीक समझे कि उस समय कीमतो का स्तर किस दिशा की ओर जा रहा है। अब हमारे सामने एक और समस्या आती है, वह है कीमतो के स्तर मे होने वाले परिवर्त्तनो का माप करना अथवा इसके विपरीत मुद्रा के मूल्य के परिवर्त्तनों को नापना। इस कार्य को करने के लिए कीमतो के सूचक अंक (Index Numbers of Prices) बनाने की आवश्यकता होती है।

४. सूचक अंक (Index Numbers)—जब सभी वस्तुओ के दाम बढते है तो द्रव्य का मूल्य गिरता है। द्रव्य के मूल्य को मापने के लिये थोक दामों का सूचक अंक बनाया जाता है। इस प्रकार सूचक अंक बनाने के लिये जिन-जिन बातों की आवश्यकता होती है, वे नीचे दी जाती है :—

(१) **आधार वर्ष** (Base Year) **का निर्धारित करना**—पहली आवश्यकता यह होती है कि आधार वर्ष को चुना जाय। आधार वर्ष का मतलब उस वर्ष से है जिस वर्ष की कीमतों की तुलना और दूसरे वर्षो की कीमतों से प्रतिशत में दिखलाते है। यह एक सामान्य वर्ष होना चाहिए जिसमें कि आर्थिक दृष्टिकोण से न तो बहुत तेज़ी

हो और न बहुत मंदी ही। कभी-कभी कई वर्षों की कीमतों के औसत को ही आधार मान लिया जाता है।

(२) **वस्तुओं का चुनाव** (Selection of Commodities)—दूसरा काम यह है कि उन वस्तुओ को छाटा जाय जिनके मूल्य सामान्य मूल्य स्तर का निरूपण करे। वस्तुए वास्तव मे प्रतिनिधि रूप की होनी चाहिये और साथ ही ऐसी होनी चाहिये जो कि काफी मात्रा मे प्राप्त हो। इन वस्तुओ का निरूपण उस उद्देश्य पर भी निर्भर रहता है, जिसको कि ध्यान मे रख कर सूचक अक बनाया जाता है।

(३) **इसके बाद हर वस्तु के मूल्य की सूची ली जाती है**—इसके लिए ज्यादा अच्छा यह है कि उन वस्तुओ की औसत थोक कीमत कई एक प्रतिनिधि बाजारो मे ली जाये। ये कीमते आधार वर्ष (या वर्षों) के लिए मालूम की जाती है और दूसरे वर्षों के लिए भी जिनका सूचक अक हमे बनाना है।

(४) उसके पश्चात् दूसरा काम यह करना है कि प्रत्येक वस्तु के आधार वर्ष की कीमत १०० के बराबर मान ली जाय और उन सब वस्तुओ के दूसरे वर्षो की कीमते आधार वर्ष की कीमतो के प्रतिशत मे निकाली जाय। उदाहरणार्थ, यदि आधार वर्ष मे गेहू की कीमत ४ रुपये मन है, जिसको कि सौ मान लिया जाता है, तो दूसरे वर्ष मे जब गेहू की कीमत ८ रुपया मन हो जाती है तो वह २०० कहलायेगा। इसी प्रकार हर वर्ष मे हरेक वस्तु की कीमत होगी।

(५) आखिरी काम यह है कि प्रत्येक वर्ष मे प्रत्येक वस्तु के औसत अक निकाले जाये। आधार वर्ष मे तो औसत १०० ही होगा। दूसरे वर्षो मे ये औसत अंक १०० मे अधिक या कम होगे। यदि कीमते बढी है तो १०० से अधिक होगे और गिरी है तो कम।

नीचे दी हुई तालिका मे मालूम होता है कि सूचक अक किस प्रकार बनाये जाते है।

वस्तुए	आधार वर्ष के दाम १९३९	आधार वर्ष का सूचक अंक १९३९	सन् १९४५ के दाम	सन् १९४५ का सूचक अक
	(रु० प्रतिमन)		(रु० प्रतिमन)	
१. गेहूँ	४–०–०	१००	१०–०–०	२५०
२. चावल	३–८–०	१००	१६–०–०	४००
३. कपास	१५–०–०	१००	२२–८–०	१५०
४. शक्कर	८–०–०	१००	१६–०–०	२००
५. घी	६०–०–०	१००	१५०–०–०	२५०
	औसत	१००		१२५०÷५=२५०

पीछे दिये हुए सूचक अंक के हिसाब से सन् १९४५ के दाम सन् १९३९ के दामों के मुकाबिले मे १५० प्रतिशत बढ़े। इसका अर्थ यह हुआ कि १९४५ में भारतवर्ष मे द्रव्य का मूल्य सन् १९३९ के मूल्य का $\frac{३}{५}$ हो गया, अर्थात् ६० प्रतिशत कम हो गया।

५. गुरुकृत सूचक अंक (Weighted Index Numbers)—ऊपर जिस प्रकार का सूचक अक दिया गया है वह सरल सूचक अक है, जिसमें हर एक वस्तु को बराबर महत्व दिया गया है। परन्तु वास्तव मे एक उपभोक्ता के लिये किसी एक वस्तु की कीमत मे थोडी वृद्धि किसी दूसरी वस्तु की कीमत मे अधिक वृद्धि से अत्यन्त हानिकारक हो सकती है क्योकि पहली वस्तु की उपयोगिता उसके घरेलू खर्च मे दूसरी वस्तु की उपयोगिता से अधिक हो सकती है। इसका महत्व उस समय और भी बढ जाता है जब हम रहन-सहन के खर्च का सूचक अंक बनाना चाहते है, अर्थात् रहन-सहन के सूचक अंक से हमारा मतलब है किसी एक श्रेणी के लोगों के रहन-सहन के खर्चे के परिवर्त्तनो को मापना।

मान लीजये कि ऊपर दी हुई वस्तुए किसी एक अमुक श्रेणी के लोगों द्वारा प्रयोग की जाती है और हम यह जानना चाहते है कि लडाई मे उन लोगों के रहन-सहन के खर्च पर क्या प्रभाव पडा। यह आवश्यक नही है कि इन उपभोक्ताओ के लिये इन सब वस्तुओ का महत्व एक ही हो। इन वस्तुओ के सापेक्ष महत्व को दिखलाने के लिये हम हर एक वस्तु को "भार" या वजन दे सकते है। इसके लिये हमे हर एक वस्तु के सूचक अक को उसके महत्व के अनुसार किसी संख्या से गुणा करना होगा। यह सख्या साधारणतः पारिवारिक बजट मे वस्तुओ के ऊपर किये गये खर्च के अनुसार होती है।

नीचे दी गई तालिका से मालूम होता है कि गुरुकृत सूचकाक किस प्रकार बनाया जाता है। इसमे वही संख्याए ली गई है जो पहली तालिका मे थी।

वस्तुए	आधार वर्ष की कीमत १९३९ (रू० प्रति मन)	सूचक अंक १९३९	सन् १९४५ में कीमतें (रु० प्रति मन)	सूचक अंक १९४५
१. गेहू	४—०—०	१००×३=३००	१०—०—०	२५०×३=७५०
२. चावल	३—८—०	१००×१=१००	१४—०—०	४००×१=४००
३ कपास	१५—०—०	१००×१=१००	२२—८—०	१५०×१=१५०
४ शक्कर	८—०—०	१००×२=२००	१६—०—०	२००×२=४००
५. घी	६०—०—०	१००×१=१००	१५०—०—०	२५०×१=२५०
जोड		८००		१९५०
औसत		१००		२४३.७५

यहां पर हमने चावल के मुकाबिले में गेहू को तीन गुना महत्व दिया है और शक्कर को घी के मुकाबिले में दुगुना इत्यादि । इस प्रकार से निकाला हुआ रहन-सहन के खर्च का सूचक अक उतना नही बढा है जितना कि सरल सूचक अंक । ये अंक तो केवल उदाहरण के लिये दिये गये है । वास्तव मे एक ही सूचक अक कीमतों के स्तर के परिवर्त्तन और रहन-सहन के खर्च के परिवर्त्तन को नापने के काम में नही लाया जा सकता । इसके अतिरिक्त विभिन्न श्रेणियों के लोगो के रहन-सहन के खर्च के परिवर्त्तन को नापने के लिये काम मे लाई जाने वाली वस्तुएं एक न होगी । इसके लिये हमे देखना होगा कि किस श्रेणी के लोग किस प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करते है ।

यहा तो हमने थोडी सी ही वस्तुए चुन ली है । वास्तव मे इन वस्तुओ की सख्या अधिक होनी चाहिये । उदाहरणार्थ, भारत सरकार के कमर्शल इटेलीजेस डिपार्टमेट (Commercial Intelligence Department of the Government of India) के बनाये हुए सूचक अक की माला (Series) सबसे पुरानी है। इसमें २८ निर्यात की जाने वाली और ११ आयात होने वाली वस्तुएं है । इस माला में गुरुकृत सूचक अक नही है और १८७३ को आधार वर्ष माना है । सूचक अंकों की दो और मालाये है—— एक बबई की जिस मे ४० वस्तुए है और दूसरी कलकत्ते की जिसमें ७२ वस्तुएं है ।

महत्व का अंश परोक्ष रूप से भी लाया जा सकता है यदि हम किसी वस्तु की एक से अधिक गुण ले । उदाहरणार्थ गेहू की ३ किस्म, रूई की २ और चाय की ३ इत्यादि ।

भारतवर्ष में विभिन्न महत्वपूर्ण नागरिक स्थानो से १९ प्रकार के रहन-सहन के खर्च के सूचक अक प्रकाशित होते है ।

६. सूचक अंकों के लाभ तथा सीमाएँ (Uses and Limitations of Index Numbers)——सूचक अको से हम केवल कीमत के स्तर के परिवर्त्तनों को ही नही नाप सकते है बल्कि हम द्रव्य के मूल्य और रहन-सहन के खर्च के परिवर्त्तनों को तथा प्रत्येक मात्रिक परिवर्त्तन को भी नाप सकते है । मजदूरी, आयात, निर्यात, व्यावसायिक क्रियाए, नियुक्ति, कृषि की भूमि के क्षेत्र के परिवर्त्तन और जनसंख्या के परिवर्त्तनों इत्यादि के भी सूचक अंक बनाये जा सकते है । इन चीजों के माप से हमें सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्त्तनों का ज्ञान होता है जिससे कि आवश्यकतानुसार उपयुक्त नीति बनाई जा सकती है । उदाहरणार्थ, रहन-सहन के खर्च के सूचक अंक से हमें मजदूरी को कीमत के अनुसार बदलने में सहायता मिलती है । थोक कीमत के सूचक अंक से मुद्रा प्राधिकारी को कीमत के स्तर और विनिमय के स्थायीकरण करने में सहायता मिलती है ।

हम सूचक अंकों की सहायता से किसी श्रेणी के मनुष्यों की किन्ही दो विभिन्न

समय की आर्थिक दशाओं का माप कर सकते है।

सूचक अंकों की सहायता से हम बहुत से इकरारनामों का, जैसे कि उधार देना और उधार लेना, समान भुगतान कर सकते है। जब कीमते बढती है तो उधार देने वाले को हानि होती है क्योकि जो धन अब उसको वापस मिलता है उसकी क्रयशक्ति कम होती है। धन तो केवल विनिमय का एक साधन है। यह अधिक न्यायपूर्ण होगा यदि उधार देने वाले को वही क्रय-शक्ति वापस मिले। ऐसा करने के लिये मूलधन को उसी मात्रा में बढ़ा देना आवश्यक होगा जिस मात्रा मे कीमतें बढ गयी हो। इसी प्रकार जब कीमते गिर गयी हो तो उधार लेने वाले को चाहिये कि वह उसी तरह कम धन दे, नही तो ऋण का मूल्य वस्तुओं और सेवाओं के हिसाब से उसी मात्रा मे बढा हुआ होगा जिस मात्रा में कि कीमते गिर चुकी है। इस नीति को ध्यान मे रखते हुए सन् १९३० के लगभग जब खेती की उपज के दाम करीब-करीब सभी देशो मे अत्यधिक गिर गये थे तो कृषक वर्ग को काफी सहायता दी गई थी।

सीमाएँ (Limitations)—इस प्रकार हम देखते है कि सूचक अक अति लाभदायक ही नही है बल्कि वर्त्तमान शासन के लिय उनका बनना अति आवश्यक है क्योकि बगैर इसके राज्य की आर्थिक नीतियो का मतलब केवल अधेरे मे भटकना ही होगा। परन्तु यहां यह भी देखना आवश्यक है कि सूचक अक की कुछ सीमाये भी है। **सबसे पहले** तो वे केवल अनुमान (Approximations) ही है। उनको हम बिल्कुल सही मार्ग दिखलाने वाला नही मान सकते। उनके आकडे भी बिलकुल सही नही माने जा सकते और उनका मतलब भी विभिन्न लगाया जा सकता है। **दूसरे**, उनकी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना विभिन्न आधारो, विभिन्न वस्तुओ की मात्रा और गुणो मे अन्तर होने के कारण यदि असंभव नही, तो कठिन तो अवश्य ही है।

तीसरे, विभिन्न समय में उनकी तुलना करना भी सरल नही होता। अधिक समय मे कुछ सामान्य वस्तुएं भी बदल जाती है। कभी-कभी बिल्कुल ही नई वस्तु काम में लाई जाने लगती है या वस्तु वही हो केवल उसका नाम बदल दिया जाता है। हो सकता है कि नई और पुरानी वस्तु में बहुत बडा अन्तर हो। आधुनिक रेल के इंजन और पहले के इजिन की तुलना कीजिये। सन् १९५२ की फोर्ड कार और सन् १९४२ की फोर्ड कार में बहुत बड़ा अन्तर है।

चौथे, सूचक अंकों से केवल एक ही प्रकार की कीमतों के स्तर की माप हो सकती है। एक सूचक अंक जो किसी विशेष उद्देश्य से बनाया गया है, उसको दूसरे काम में नही लाया जा सकता। एक ऐसा सूचक अंक जो कि मिल मजदूर या रेलवे कुलियों की आर्थिक दशा का अध्ययन करने के लिये बनाया गया है, कालेज के अध्यापकों की आर्थिक दशा जानने के लिये बिल्कुल बेकार होगा। उनके लिये पूर्णतया भिन्न प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग करना होगा। विभिन्न प्रकार के लोग विभिन्न वस्तुओं को उपभोग

करते है और उनकी क्रय-शक्ति भी विभिन्न होती है इसलिये मूल्य के स्तर में परिवर्त्तन का प्रभाव विभिन्न श्रेणी के मनुष्यों पर अलग-अलग होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही सूचक अक से यह नही प्रतीत हो सकता कि पृथक्-पृथक् वर्ग के मनुष्यो पर मूल्य के स्तर में परिवर्त्तन का क्या प्रभाव पडा।

अन्त मे यह भी हो सकता है कि किसी वस्तु को एक प्रकार के महत्व देने का असर कुछ और दूसरे प्रकार के महत्व का फल दूसरा हो। इससे मालूम होता है कि सूचक अक मे महत्व देना केवल स्वैच्छिक ही है।

जैसा कि कालबोर्न (Coulborn) ने कहा है "इस प्रकार कोई भी सामान्य कीमत-स्तर नही सग्रह किया जाता क्योकि भिन्न-भिन्न कीमतों के इकट्ठा करने की व्यावहारिक कठिनाइया तथा आधार वर्ष के उचित और अगले वर्षो के अनुरूप उनका महत्व निकालने की कठिनाइया ऐसी है जो व्यवहार मे दूर नही की जा सकती"।

७. मूल्य के स्थायीकरण की आवश्यकता (The Need for Price Stabilisation)—क्योकि द्रव्य मूल्य या सामान्य कीमत स्तर मे एकाएक परिवर्त्तन होने से, सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल के अतिरिक्त, आर्थिक क्रियाओं को भी धक्का लगता है और वे अनिश्चित हो जाती है, इसलिये कीमतों के स्थायीकरण की अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। कीमतों के स्थायीकरण का अर्थ यह नही है कि उनको पूर्ण रूप से नियत्रित करने की व्यवस्था की जाय। इस प्रकार की व्यवस्था न तो संभव है और न उसकी आवश्यकता ही है। कीमतो मे थोडे-थोडे समय के उतार-चढाव को बिलकुल रोका नही जा सकता, चाहे वे कुछ थोडी सी वस्तुओ की कीमते हो या सामान्य कीमत स्तर। इसके अतिरिक्त अधिक लम्बे समय में होने वाले कीमतो के परिवर्त्तनो से भी इतनी अधिक हानि नही होती। अधिक लम्बे समय, जैसे कि २० वर्ष, मे होने वाले कीमतो के परिवर्तन सरलता से मालूम किये जा सकते है। कीमतो के ऐसे उतार-चढाव को न्यूनतम करने का प्रयत्न करना चाहिये। ऐसे उतार-चढाव का निरूपण समय-समय पर होने वाली तेजी (Boom) और मंदी (Depression) से होता है। एक दूसरे अध्याय में हम इन पर प्रकाश डालेगे।

मूल्यों का स्थायीकरण दो प्रकार से हो सकता है :(१) कुछ आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति और माग के साधनो पर प्रभाव डाल कर उनके मूल्यो का स्थायीकरण करना।

(२) दूसरी रीति यह है कि द्रव्य की पूर्ति को उसकी माग के अनुसार बनाकर कीमतों के सामान्य स्तर की समस्या को सुलझाना। इसके लिये विभिन्न अधिकारियो ने भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये है और कुछ स्वर्ण-मान पद्धति (Gold Standard System) को अच्छा समझते है और कुछ ऐसी व्यवस्था चाहते है जिसमें नियत्रित पत्र-मुद्रा हो।

वर्त्तमान संसार में कोई भी देश अपने को बिलकुल पृथक् नही रख सकता।

आजकल वस्तुओं और सेवाओं का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय होने लगा है। भिन्न-भिन्न देशों की कीमतों के स्तर का एक दूसरे से संबंध रहता है। एक दूसरे की मुद्राओं का मूल्य भी एक दूसरे से सबधित है। इसीलिये आजकल कीमतों का स्थायीकरण इतनी राष्ट्रीय समस्या नही है जितनी कि अन्तर्राष्ट्रीय।

८. मूल्य स्तर के नियन्त्रण की कठिनाइयाँ (Difficulties as regards Control of Price Level)—साधारणतः यह समझा जाता है कि किसी देश का केन्द्रीय बैक साख पर नियन्त्रण करके कीमत के स्तर को नियन्त्रित कर सकता है। यह अनुमान कुछ मानी हुई धारणाओ पर निर्भर है परन्तु यह धारणायें ठीक नही होती। यह धारणाये इस प्रकार है :—

(१) मूल्यों के सूचक अको का ठीक-ठीक और शीघ्रता से बना लेना और उनसे पथ-प्रदर्शक का काम लेना सभव है। सूचक अको की विभिन्न कठिनाइयो को हम पहले ही बतला चुके है। इस प्रकार के सूचक अंको मे पूर्णरूप से प्रतिनिधि वस्तुएं होनी चाहियें। उनका महत्व भी ठीक होना चाहिये और वे ऐसी वस्तुएं होनी चाहियें जो कि आसानी से मिल सके। साधारणतः इन सब बातों का होना असंभव ही है।

(२) दूसरी धारणा यह है कि द्रव्य की मात्रा और कीमतों के स्तर मे सदैव एक दृढ संबध रहता है। द्रव्य का पारिमाणिक सिद्धात (Quantity Theory of Money) समझाते समय यह बतलाया था कि वास्तव मे ऐसे सबध का अस्तित्व होता ही नही। एक साख अर्थव्यवस्था में यह अधिक ठीक होता है। पहले तो हम देखते है कि केवल बैक-साख ही उधार लेने की एक रीति नही है। दूसरे, उधार लिया हुआ धन केवल वस्तुओं के खरीदने मे ही नही लगाया जाता। यह वास्तविक संपत्ति, (जैसे कि भूमि और घर इत्यादि) और प्रतिभूति तथा सेवाएं खरीदने के काम में भी लाया जा सकता है। सपत्ति तथा प्रतिभूति के मूल्य बढने के कारण बैक की साख में वृद्धि होने से वस्तुओं का स्तर गिर सकता है। इसके विपरीत, उधार मे कमी होने से सपत्ति और प्रतिभूति की कीमतो मे कमी हो सकती है जब कि वस्तुओं की कीमतों पर कोई प्रभाव न पडे या वे बढ भी जायें। उदाहरण के लिये, लेविन्सकी (Lewinski) के कथनानुसार पोलैड में सन् १९१३ और सन् १९२५ के बीच मे प्रचलित द्रव्य का परिमाण आधा हो गया था जब कि थोक दामों का सूचक अंक ३६% बढ गया था। इस के अतिरिक्त सन् १९२३-२९ में अमेरिका (U. S. A.) में बैकों की साख द्रव्य बहुत अधिक बढ़ गयी थी परन्तु वस्तुओं की कीमतों में बहुत ही कम परिवर्त्तन हुआ था। स्टाक विनिमय की प्रतिभूतियां (Stock Exchange Securities) और वास्तविक संपत्ति की कीमतें अधिक बढ गई थी। इसके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि द्रव्य के चलन का वेग उलटी दिशा की ओर हो और वह बैक द्वारा की गई साख की बढ़ती या कमी को प्रतितुलन कर दे। केन्द्रीय बैक इस वेग को अधिक नियंत्रित

नही कर पाता। कुछ ऐसे भी कारण है जो कि धन से सबंधित नही है। परन्तु वे वस्तुओं के मूल्य पर प्रभाव डालते है जैसे कि जलवायु, राजनैतिक और व्यावसायिक उथल-पुथल, उत्पादन की रीतियों मे परिवर्त्तन, फैशन मे परिवर्तन, जनसख्या और मनुष्यों के स्वभाव मे परिवर्त्तन इत्यादि। इन सब कारणो से उस बैक के कार्य असफल हो सकते है।

दूसरे महायुद्ध तथा उसके बाद में कीमत नियत्रण ने इस नीति की त्रुटियों को स्पष्ट कर दिया है। लडाई मे कीमते लगातार बढती रहती है और एक उचित स्तर रखने के लिये कीमत-नियत्रण की पद्धति स्थापित की जाती है। ऊची कीमते गरीबों पर अधिक प्रहार करती है तथा उनको जीवन की अनिवार्यताओ से वचित रखती है। जनता की नैतिक अवस्था को ठीक रखना पडता है। कीमतो पर इसलिये भी नियत्रण किया जाता है ताकि सरकारी नौकर ऊची तन्खाहे न मागे। लडाई मे माग तथा पूर्ति के बीच का सतुलन जाता रहता है। नागरिको की माग के अतिरिक्त युद्ध के कार्यो के लिये भी वस्तुओ की माग होती है। दूसरी ओर, पूर्ति कम हो जाती है क्योकि साधनो को युद्ध का सामान बनाने के लिये हटाना पडता है तथा आयात गिर जाते है। मुद्रा स्फीति तथा उसका वेग बढ जाने के कारण कीमते बढ जाती है और अमीर-गरीब के बीच की खाई चौडी हो जाती है। इस सामाजिक असमानता को कम करने तथा रोकने के लिये कीमतो पर नियत्रण रखना सरकार का कर्त्तव्य हो जाता है।

युद्ध मे लगे हुए सारे देशो मे कीमत-नियत्रण के उपाय लागू किये गये और युद्ध के बाद भी जारी रहे। पहले समस्या का हल टुकडो मे किया गया तथा कुछ चुनी हुई वस्तुओ पर नियत्रण किया गया। जब सरकार ने अधिक अनुभव प्राप्त कर लिया तो कीमत-नियन्त्रण दृढ तथा विस्तृत कर दिया गया। माल जमा करने तथा अनुचित लाभ उठाने के विरुद्ध कानून बनाये गये। बहुत-सी वस्तुओ की कीमते एक निश्चित मात्रा के ऊपर बढने से रोक दी गई। कुछ दशाओ मे नयी कीमतो को युद्ध के पहले की कीमतो से २ प्रतिशत बढा दिया गया। यह उपाय पहले असफल रहे। जैसे ही एक वस्तु की कीमत पर नियन्त्रण किया गया, यह चोरबाजार मे गायब हो गई। कीमत नियन्त्रण असफल रहने के मुख्य कारण ये थे :—

(१) कीमत स्थिति को हल करने मे देरी

(२) अधिकारियों मे अनुभव का अभाव

(३) सरकारी नौकरों में सच्चाई का अभाव

(४) जन-सहयोग की कमी

(५) सही तथा आधुनिक अंकों की कमी

(६) कीमत-नियत्रण के उपायो का एकीकरण न होना तथा उनका योजना-रहित होना।

भिन्न-भिन्न जिलो में भिन्न-भिन्न कीमतें निर्धारित की गई थी। कभी-कभी भिन्न-

भिन्न जिलों में यातायात की लागत का ख्याल न करके एक ही कीमत रख ी जाती थी। कभी-कभी फुटकर कीमतें ही निश्चित करके थोक विक्रेताओं को ऊंचे मूल्य लेने के लिए छोड़ दिया जाता था। कीमत पर नियंत्रण था लेकिन पूर्ति पर कोई नियत्रण न था। सब वस्तुओ पर नियत्रण होने के बजाय कुछ चुनी हुई वस्तुओं पर नियत्रण था जिस के कारण नियत्रण न की जाने वाली वस्तुओं की कीमते बढ गई और नियंत्रित वस्तुओं पर नियत्रण रखना कठिन हो गया। इसका ध्यान कभी भी न रखा गया कि अधिकतर वस्तुओं की कीमतें एक दूसरे से जुडी थी। नियंत्रण के नियम इतने सामान्य थे कि उनका बनाना सरल था परन्तु उनका चलाना बहुत कठिन था।

किन्तु सब से महत्वपूर्ण बात मनुष्यो के स्वभाव से सम्बन्धित है। कीमत-नियंत्रण उन देशों मे सफल हुए जहा जनता का नैतिक स्तर ऊचा था तथा मनुष्य ईमानदार थे। पर जहां इन गुणो का अभाव था, वे असफल रहे।।

९. कीमत का स्थायीकरण सदैव आवश्यक नही है (Price Stabilization not always Desirable)—इन सब कठिनाइयो के अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि कीमतो का स्थायीकरण एक उद्देश्य समझकर सदैव आवश्यक नही समझा जाता। एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था के लिये, जो कि स्वतत्र प्रतिद्वन्द्विता पर खडी हुई हो, कीमतों का उतार-चढाव एक विशेष काम करता है। इसी यंत्र के द्वारा जनसमुदाय के साधन काम मे लगाये जाते है, जिसमे अधिक से अधिक लाभ हो। कीमतो से जनता की सापेक्षित माग का पता चलता है। कीमतो के परिवर्तन से यह मालूम होता है कि कही न कही कोई गडबडी है और उसको ठीक करने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि ग्रेगरी (Gregory) और हेक (Hayek) ने बतलाया है, स्थायी कीमतो से अर्थव्यवस्था मे समय-समय पर गड़बडी होने का डर रहता है जैसाकि अमेरिका ने सन् १९२३ से १९२९ के बीच अनुभव किया था। यदि सामान्य मूल्य-स्तर स्थायी रहता है तो भी कुछ विशेष वस्तुओं के दामो मे परिवर्तन से आर्थिक जीवन मे गम्भीर उथल-पुथल हो सकती है। अत मे हम देखते है कि सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी स्थायी कीमतें सदैव सब से अच्छी नही मानी जा सकती। इस दशा मे एक स्थायी परिमाण मे वस्तुएं उधार के लेन-देन मे रह सकती है। अधिक उपज के समय मे उन्ही वस्तुओ की निश्चित मात्रा के प्रति स्वार्थ त्याग थोडा होगा और आविष्कारो के कारण औद्योगिक उत्पादन अधिक होगा। न्याय की दृष्टि से ऐसे समय मे मूल्यों को गिर जाने देना चाहिये। इसके प्रतिकूल दशा में भी यह सब बातें ठीक होंगी।

जिस समय हमारा उद्देश्य यह होता है कि सोना संचित किया जाय, विनिमय का स्थायीकरण किया जाय और व्यापारिक चक्रों (Business Cycles) से बचा जाय, उस समय भी हमारे सामने ऐसी ही समस्याएं आती है।

१०. कीमत यंत्र का कार्य (Function of Price Mechanism)—हम

ऊपर यह अध्ययन कर चुके है कि कीमतो के स्थायीकरण की कहां तक आवश्यकता है और हमने यह बतलाया था कि स्वतंत्र प्रतिद्वन्द्विता पर निर्मित आर्थिक पद्धति मे कीमत-यंत्र रचना एक विशेष काम करती है। अब हम कीमत-यत्र रचना का कुछ और अध्ययन करना चाहते है ।

कीमत यत्र-रचना इस प्रकार चलती है कि आर्थिक पद्धति का समयोजन अपने आप होता रहता है और किसी केन्द्रीय प्राधिकार को कोई आज्ञा देने की या सकेत करने की आवश्यकता नही पडती। कीमत उत्पादन और उपभोग दोनो का प्रबधक है। उपभोक्ता जो कीमत देने के लिये तैयार होते है उनसे उनकी रुचि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार जो कीमत उत्पादक लेने के लिये तैयार होते है उनसे वस्तुओ की कमी या अधिकता मालूम होती है। कीमत के बढने से माग कम होती है और पूर्ति बढती है, इसी तरह इसके प्रतिकल भी है। यदि किसी वस्तु की माग पूर्ति से ज्यादा है, तब कीमत के बढने से दोनो मे समयोजन होगा। इसके प्रतिकूल यदि पूर्ति माग से ज्यादा है तो कीमत गिर जायगी और दोनो के बीच साम्य स्थापित हो जायगा ।

वितरण मे भी, जब कि हमारा सम्बन्ध उत्पादन के साधनो की सेवाओ को पारितोषिक देने से होता है, हम देखते है कि इसी प्रकार की क्रियाए होती है। लगान (Rent), मजदूरी (Wages), ब्याज (Interest) और लाभ (Profits) ऐसी कीमते है जो कि उत्पादन के साधनो को दी जाती है। यदि श्रमिको की पूर्ति अधिक है तो उनकी मजदूरी गिर जायगी और वह नियोजको (Employers) को अधिक मजदूर काम मे लगाने को उत्साहित करेगी। इसके विपरीत, यदि युद्ध या बीमारी के कारण मजदूरो की पूर्ति कम हो गई है तो मजदूरी बढ़ जायगी और नियोजको के लिए यह श्रमिको की कमी एक चेतावनी का सकेत होगा।

किसी वस्तु या सेवा की कीमत एक तरह की आमदनी है, जो कि अपनी क्रय-शक्ति से आर्थिक क्रियाओ की दिशा और सीमा बतलाती है। इसलिये यदि हम वर्तमान आर्थिक पद्धति को "कीमत के द्वारा शासन" कहे, तो ठीक होगा।

ऐसा समझा जाता है कि कीमत-व्यवस्था उपभोक्ता और उत्पादक दोनो के हित में साम्य स्थापित करती है। बेनहम के शब्दो मे "इसकी प्रवृत्ति ऐसी है कि उपक्रमी की लाभ की इच्छा और उपभोक्ताओं को दिये हुए उत्पादन के साधनों द्वारा अपनी आवश्यकताओ की अधिक से अधिक पूर्ति की इच्छा, दोनों की समता से संतुष्टि करती है।" परन्तु वास्तव मे यह समता देखने मे नही आती। ऐसा देखा जाता है कि या तो उपभोक्ताओ का शोषण होता है, या उपक्रमी लोग हानि सहते है। कभी तो उपभोक्ताओ को सस्ते उत्पादन का लाभ मिलता है, तो कभी जान-बूझ कर उनको धोखा दिया जाता है और वे एकाधिकारी की इच्छा पर रहते है, जो कि उनका पूर्ण रूप से शोषण करने मे जरा भी नही हिचकिचाते। इसके अतिरिक्त एक संयुक्त मिश्रित पूजी वाली कम्पनी को उसके संचालकों

के कार्य-कुशल न होने के कारण हानि हो सकती है, या यह हो सकता है कि संचालक अपने को धनी बनाने मे लगे रहे जब कि कम्पनी की हानि होती रहे। इस प्रकार हम देखते है कि वास्तव मे उत्पादको और उपभोक्ताओं के हितो मे भिन्नता है न कि समता, क्योकि कीमत-व्यवस्था प्रायः स्वतन्त्रता और सरलता से काम नही करती।

इन सब बातो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कीमत-व्यवस्था के बिना पूजीवादी व्यवस्था चल ही नही सकती। कीमत-व्यवस्था से ही आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न भागो का समयोजन होता है। यह सोचना ही कठिन है कि मूल्य-व्यवस्था के बिना आर्थिक क्रियाए किस प्रकार की जा सकती है। यहा पर हमारे कहने का यह अभिप्राय नही है कि आर्थिक व्यवस्था सरलता से और न्याय के आधार पर चल रही है। परन्तु यह ठीक है कि मूल्य-व्यवस्था के कारण आर्थिक-व्यवस्था बगैर किसी बडी अडचन के प्रायः चलती रहती है।

११. महगी मुद्रा बनाम सस्ती मुद्रा (Dear Money versus Cheap Money)––द्रव्य के विवेचन को समाप्त करने के पहिले हम यह आवश्यक समझते है कि हम मुद्रा के विषय की नीति पर केन्द्रित विवाद पर विचार करे।

जब अर्थव्यवस्था युद्ध से नष्ट हो जाती है अथवा मदी से छिन्न-भिन्न हो जाती है तो एक ही विवाद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है––अर्थात् देश एक महगी मुद्रा वाली नीति अपनाए या सस्ती मुद्रा वाली नीति को।

पर महगी मुद्रा अथवा सस्ती मुद्रा के क्या अर्थ है? कुछ विद्यार्थी ऐसा समझते है कि महगी मुद्रा का अर्थ यह है कि उसका मूल्य वस्तुओ तथा सेवाओ मे अधिक है अर्थात् कीमते नीची है तथा सस्ती मुद्रा का अर्थ है कि द्रव्य का मूल्य (अथवा उसकी क्रय-शक्ति) नीचा है और कीमते ऊची है। इस प्रकार महगे द्रव्य का सम्बन्ध नीची कीमतो से हो सकता है और सस्ते द्रव्य का ऊची कीमतो से। परन्तु महगी तथा सस्ती मुद्रा की परिभाषा इस प्रकार नही दी जा सकती। द्रव्य की कीमत जिसकी तरफ 'महगे' और 'सस्ते' शब्द सकेत करते है उसकी विनिमय-कीमत या क्रय-शक्ति के शब्दो मे नही है। द्रव्य की कीमत का उचित अर्थ वह दर है जिस पर द्रव्य उधार लिया जा सकता है। इस प्रकार महगी मुद्रा का अर्थ यह है कि उधार लेने की दर ऊची है तथा सस्ती मुद्रा का अर्थ यह है कि व्याज की दर नीची है। सक्षेप मे द्रव्य की कीमत व्याज की दर है।

कभी-कभी हम अर्थशास्त्रियो को महंगी बनाम सस्ती मुद्रा के वाद-विवाद मे भाग लेते पाते है। कुछ महगी द्रव्य की नीति अपनाते है और कुछ सस्ती द्रव्य की नीति का समर्थन करते है। इनमे से कौन ठीक है, यह उस आर्थिक स्थिति पर निर्भर है जिसका हमे सामना करना पड़ता है। एक आर्थिक नीति को चलाने के लिये व्याज की दर एक महत्वपूर्ण हथियार है। कुछ समय ऐसे होते है जब कि उचित आर्थिक नीति के लिये यह आवश्यक है कि द्रव्य के बाजार मे व्याज की दर नीची रखी जावे तथा कभी व्याज

की दर ऊंची रखनी पड़ती है। उदाहरणार्थ, जब मुद्रा का अधिक प्रसार हो, जब सट्टेबाज़ी अधिक हो, जब उद्योगपति विनियोग अधिक मात्रा मे करते हो, जब बैको ने सीमा से अधिक साख बढा रखी हो, जब शोधनाधिक्य देश के प्रतिकूल हो, तो महंगी द्रव्य की नीति सूचित होती है। यह एक मुद्रा सकुचन (Deflationary) की चाल है। यह निर्बुद्धि पूजी विनियोग पर रोक लगायगी, यह बैको द्वारा साख के बढाये जाने को रोकेगी; यह कीमतो को बढने से भी रोकेगी; सट्टेबाज़ी के वेग को कम करेगी और अन्त मे शोधनाधिक्य की स्थिति को एक दृढ़ अवस्था मे कर देगी।

सस्ती मुद्रा की नीति प्रतिकूल स्थितियो मे प्रकट होती है। उदाहरणार्थ जब मदी का बुरा प्रभाव व्यापार व्यवसाय पर पड रहा हो, जब बैक उधार देने मे हिचकते हो, जब नीचा मूल्य स्तर आर्थिक उद्दीपक को नष्ट कर रहा हो, जब अधिक बेकारी हो, और जब विस्तृत निर्माण कार्य चालू हो तो सस्ती मुद्रा नीति अथवा नीची ब्याज दर विनियोग को प्रोत्साहन देती है, बेकारी के भार को कम करती है, औद्योगिक यन्त्र के पहियो में तेल डालती है। सक्षेप मे, यह मंदी के पर्दे को उठा कर उसके बुरे प्रभावो को दूर करेगी।

सस्ती मुद्रा नीति (अर्थात् साख का सस्ता होना) (अ) मदी को रोकने, (ब) बेकारी को दूर करने तथा (स) विकास कार्यक्रम के व्यवस्था मे एक साधन का कार्य करती है। जब सस्ती मुद्रा नीति अपनाई जाती है तो सरकार को खुले बाजार मे उधार लेना पडता है। यदि साख की कमी है तो प्रतिभूतियो की कीमत बढ जायगी और उनकी माग गिर जायगी। सरकार को सस्था सम्बन्धी विनियोग करने वालो का आश्रय लेना पडेगा। सस्ती मुद्रा नीति का अर्थ सार्वजनिक ऋण का मुद्रा-निर्माण है अर्थात् सार्वजनिक ऋण को तरल नकदी (Liquid Cash) मे बदलना है। यदि पूर्ण रोजगारी की अवस्था आ गई हो, तो इसका अर्थ स्फीतिकारी अर्थ प्रबन्धन होगा।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या यह राज्य के अधिकार मे है कि केन्द्रीय बैक द्वारा या दूसरे प्रकार से मुद्रा को सस्ता या महगा रखने के लिये ब्याज दर पर नियत्रण रखे? क्या ब्याज की दर माग तथा पूर्ति के प्राकृतिक प्रभाव से निर्धारित नही होती। जैसे कि पहले समझाया जा चुका है इस सिद्धान्त की अब निन्दा की गई है कि ब्याज की दर सचित धन की माग तथा पूर्ति मे साम्य लाती है। जैसाकि सर विलियम बेवेरिज (Sir William Beveridge) ने बतलाया है "ब्याज की दर माग तथा पूर्ति मे साम्य स्थापित करने का कार्य नही कर सकती क्योंकि पूजी व्यय उसी सचय को जन्म देता है जिसकी आवश्यकता उसके अर्थ प्रबंधन मे होती है। एक को दूसरे की समता मे लाने का प्रश्न ही नही उठता क्योकि वे आय के स्तर में परिवर्तन होने से समता में रहते है।" यदि ब्याज की दर नीची है तो विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। समुदाय द्वारा ऋण लेकर या रिजर्व से किया हुआ व्यय अधिकृत आय लाता है और वचत के नये उद्गम पैदा करता है। इस प्रकार

व्याज की नीची दर बचत करने के उत्साह को भग नही करती परन्तु यह व्यय तथा विनियोग को प्रोत्साहित करती है और अधिक बचत को सभव बनाती है ।

आधुनिक अर्थशास्त्री अब इस बात को मानते है कि राज्य को व्याज की नीची दर स्थिर करने तथा बनाये रखने का अधिकार है और दर किन्ही प्राकृतिक साधनो द्वारा निर्धारित नही होती । यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध-काल तथा युद्ध-काल के बाद ऋण के लिये बढती हुई माग व्याज की नीची दर पर सतुष्ट हुई । यह स्पष्ट रूप से बताता है कि व्याज की दर पर नियत्रण रखना सभव है । हमको देखना चाहिए कि यह कैसे होता है । व्याज की दर पर नियत्रण बचत पर नियत्रण द्वारा हो सकता है । इसके लिये बचत के भिन्न-भिन्न रूपो का जानना आवश्यक है । मनुष्य अपने सचित धन को चार तरह से रख सकता है अर्थात् नकद आधिक्य, जमा, अल्पकालीन विनियोग तथा दीर्घ-कालीन विनियोग । सरकार देश की पूर्ण आर्थिक स्थिति को सोचते हुए एक विशिष्ट व्याज दर स्थिर करने का निश्चय कर सकती है और तब बचाने वाली जनता को उस दर पर अपने सचय तथा जिस रूप मे वह अपने सचित धन को रखना चाहती है ठीक करती है । जैसा कि बेवेरिज (Beveridge) ने कहा है "सरकार को दीर्घकालीन बान्ड तथा अल्पकालीन पत्र अवश्य निकालना चाहिये ताकि बचाने वालो की इच्छानुसार सचित धन उनमे आये ।" यदि यह देखने मे आता है कि सरकार इच्छित धन को घोषित की हुई दर पर प्राप्त नही कर सकती और जनता का अल्पकालीन व दीर्घकालीन अशदान अपूर्ण है तो सरकार आधिक्य को केन्द्रीय बैक से प्राप्त कर सकती है । जैसे-जैसे सरकार का व्यय आगे बढता है, नई बचते होती जाती है और बैक का नकद आधिक्य बढ जायगा । नयी बचत किसी न किसी रूप मे रहनी चाहिये तथा बैक अपना व्यावहारिक अनुपात भी रखेगे । इस प्रकार कर के रूप मे धन आयेगा । बचत जिसको जनता नकद तथा बैको मे जमा करके रख सकती है, व्यापार की विक्रय राशि पर निर्भर करती है । वे अपनी आधिक्य बचत को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन पत्रो मे भी विनियोजन कर सकते है ।

इस प्रकार व्याज की एक स्थायी दर निश्चित करने की सम्भावना का प्रश्न ही नही उठता । सरकार को केवल दर निश्चित करनी होती है और तब जनता को प्रस्ताव किया जाता है कि वह इस दर पर कितना रखना चाहेगे । बचाव का केवल एकमात्र उपाय यही है कि दर मे परिवर्तन धीरे-धीरे हो । यही कारण है कि शून्य दर निश्चित करना तथा उस को ऊपर की भाति बनाये रखने का प्रयत्न करना सम्भव नही होगा । दर के अचानक घटा दिये जाने पर, पूजी तथा दीर्घकालीन ऋण बढ जायेगे । इससे सामाजिक तनाव उत्पन्न हो जायगा । परम प्रतिभूतियो का स्रोत सूख जायेगा और बैक तथा बीमा कम्पनियो जैसी आर्थिक संस्थाओं की क्रियाओ की नीव टुकड़े-टुकडे हो जायगी ।

अब हमको यह देखना चाहिये कि आधुनिक आर्थिक स्थिति मे भारतवर्ष को कौन सी नीति अपनानी चाहिये । हम भूमजाल में पड़ जाते है और हमको दोनों विपरीत

नीतियों मे संतुलन कर लेना चाहिये। हमको मुद्रा स्फीति से लड़ना है। यह महगी मुद्रा रीति की ओर सकेत करती है। यही कारण है कि बैक दर ३ प्रतिशत से ३॥ प्रतिशत कर दी गई है। दूसरी ओर यह सोच कर कि दूसरे महायुद्ध मे तथा उसके बाद औद्योगिक सामग्री बहुत अधिक घिस गई थी और उसकी मरम्मत भी नही हो सकी थी, इस कारण उसका नए सिरे से सुधार होना चाहिये। इस काम के लिये द्रव्य की आवश्यकता होगी, इसके अतिरिक्त हमारे पास आर्थिक विकास की बहुत बड़ी योजना है। जैसा कि श्री सी. डी. देशमुख ने बताया कि हमको ३० करोड की कमी पूरी करनी है। इसके लिये हम को साख को सस्ता करना होगा जिसके लिये सस्ती मुद्रा रीति आवश्यक है। हम को इस विरोध को दूर करना होगा। हम क्या करे? हमारा प्रस्ताव है कि मुद्रा-प्रसार की पीठ टूट गई है। परन्तु मुद्रा-प्रसार के देव को केवल हल्की चोट ही लगी है; वह मरा नही है। वह फिर अपना सिर उठा सकता है। अतएव हमको सावधान रहना चाहिये। ऐसी सावधानी रखते हुए हमको यह देखने का साहस करना चाहिये कि पचवर्षीय योजना के लिये द्रव्य का प्रवाह पर्याप्त मात्रा मे हो। यह आवश्यक नही है कि सस्ती द्रव्य नीति का प्रभाव मुद्रा-प्रसार हो। सर ह्यू बर्ट हेन्डर्सन (Sir Hubert Henderson) इकनामिक जरनल मे लिखते है "मेरी राय मे सस्ती द्रव्य नीति मुद्रा-प्रसार पर बहुत कम प्रभाव डालती है।" उनका इगलैड के लिये नुस्खा जो भारतवर्ष को भी लागू होता है, यह है, "मेरा मत है कि सब बातो को सोचते हुए दीर्घकालीन नियोजन कार्य बडे पैमाने मे आरम्भ करना उचित होगा। मकानो की कमी जिससे लोगो को उपभोग किये जाने वाली वस्तुओ की कमी की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाना पडता है इतने दिनो तक बिना पूरा किये नही रह सकती जब तक कि अर्थशास्त्री सकेत करे कि मकानो की माग की कमी है।" इसमे हम यह जोड सकते है कि हम अपनी दशा मे अपने भूखे भाइयो के शातिपूर्वक तमाशबीन नही हो सकते। हम को अपने नीचे जीवन-स्तर को उठाना ही पडेगा। इसके लिये सस्ता द्रव्य आवश्यकतानुसार पर्याप्त होना चाहिये।

१२. तटस्थ मुद्रा नीति (Neutral Money Policy)—हमने ऊपर मंहगी बनाम सस्ती मुद्रा के बारे मे विवेचन किया है परन्तु तीसरा उपाय भी है। वह है तटस्थ मुद्रा नीति। यह नीति राज्य निर्बाध नीति (laissez faire policy) पर आधारित है। परन्तु व्यवहार मे यह उससे पृथक् है क्योकि तटस्थ मुद्रा नीति अपनाने के लिये मुद्रा-सम्बन्धी शक्ति को सचेष्ट नीति खोजनी पडेगी। तटस्थ मुद्रा सिद्धान्त प्रोफेसर एफ० ए० हेयक (Prof. F. A. Hayek) के नाम से जुडा हुआ है। इस सिद्धान्त के मानने वालों का विश्वास है कि आर्थिक अस्थिरता का मुख्य कारण मुद्रा मे परिवर्तन है। इन परिवर्तनों को रोकने से अर्थव्यवस्था स्थिर हो जाती है।

तटस्थ मुद्रा नीति क्या है? यह वह नीति है जो एक ओर मुद्रा-प्रसार के कारण और

दूसरी ओर इसके संकुचन से विघ्न डालने वाले प्रभावों को तटस्थ करने अथवा हटाने का प्रयत्न करती है। नई मुद्रा बढान से मुद्रा स्फीति होती है तथा मुद्रा के हटाने तथा संकुचन से अस्फीति। मुद्रा स्फीति सस्ते द्रव्य से तथा मुद्रा अस्फीति मंहगे द्रव्य से जुड़ी हुई है। आर्थिक स्थिरता अथवा कीमतो, उत्पत्ति तथा रोजगार के दृष्टिकोण से मुद्रा स्फीनि तथा अस्फीति दोनो बुरे समझे जाते है। हम को दो मे से एक को भी अपनाना न चाहिये। हम को तटस्थ रहना चाहिये। मुद्रा को न तो महंगी होनी चाहिये और न सस्ती। इस भाति तटस्थ द्रव्य नीति मुद्रा स्फीति तथा अस्फीति के शून्य चिन्ह के समान है। यह ऐसी स्थिति पैदा कर देती है जैसे कि मुद्रा है ही नही अथवा सारा विनिमय वस्तुओ द्वारा ही होता है। परन्तु चूकि मुद्रा बिल्कुल अन्तर्धान नही होती, अदला-बदली की बुराइयां भी नही रहती। तटस्थ मुद्रा नीति अपनाने मे मुद्रा सम्बन्धी शक्ति को मुद्रा की पूर्ति की ऐसी व्यवस्था करना पडती है कि उत्पत्ति स्तर, मूल्य स्तर तथा व्यापार की मात्रा ऐसी है जैसे कि समुदाय किसी भी द्रव्य का प्रयोग नही करता। यह मान लिया जाता है कि यदि चलने वाले माध्यम के टेढे-मेढे प्रभावो को पृथक् रखा जाय, तो ऐसी काल्पनिक बिना मुद्रा वाली समुदाय की अर्थ-व्यवस्था प्रतियोगिता के प्राकृतिक प्रभावो द्वारा स्थिर रखी जायगी।

तटस्थ मुद्रा नीति के लक्ष्य को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। हमने देखा है कि तटस्थ मुद्रा नीति का उद्देश्य क्या है? अब प्रश्न यह है कि यह उद्देश्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है। हमको यह ध्यान रखना चाहिये कि इस नीति के अन्तर्गत मुद्रा स्फीति तथा सकुचन दोनो को रोकना पडेगा। क्या हम ऐसे द्रव्य की पूर्ति को अचल रख कर कर सकते है। नही, बिल्कुल नही। हम जानते है कि कीमतो मे परिवर्तन केवल द्रव्य की पूर्ति मे परिवर्तन होने से होता है परन्तु ऐसे कारणो द्वारा भी जैसे जनसख्या मे परिवर्तन, यन्त्र कला में तथा यातायात मे सुधार, द्रव्य के चलन के वेग मे परिवर्तन इत्यादि। वे भी तटस्थ होने चाहिये। यदि मुद्रा की पूर्ति दृढता से स्थिर रखी जाय, तो एक पीढी मे आर्थिक उन्नति तथा उत्पत्ति की कार्यकुशलता में सुधार से कीमते बहुत गिर जायेगी और यही एक तटस्थ मुद्रा नीति नही चाहती। इस प्रकार केवल मुद्रा बढाने तथा घटाने से तटस्थ मुद्रा नीति का उद्देश्य प्राप्त नही किया जा सकता।

तब मुद्रा सम्बन्धी अधिकारी को क्या करना चाहिये? यदि जनसख्या बढती है, तो द्रव्य की माग बढेगी, और इस माग की सतुष्टि होनी चाहिये, नही तो द्रव्य की कमी से मुद्रा अस्फीति का प्रभाव पडेगा। इससे तटस्थ मुद्रा नीति अलग रहेगी। यदि द्रव्य के चलन का वेग बढ जाता है, तो यह मुद्रा स्फीति होगी, और इसके रोकने के लिये मुद्रा की वृद्धि की चाल धीमी करनी पड़ेगी। यदि आविष्कारो तथा दूसरे यात्रिक सुधारो अथवा साधनों की कार्यकुशलता मे सुधारों के कारण उत्पत्ति की मात्रा बढ जाती है तो ऐसी दशा में द्रव्य की मात्रा को बढ़ाया नहीं जा सकता क्योंकि कीमतों में कमी भयंकर

नही है। यदि यातायात मे सुधार होने से व्यापार मे उन्नति होती है तो बढे हुए ट्रैफिक का सामना करने के लिये द्रव्य की मात्रा बढ़ानी होगी। यदि व्यापार मे संगठन होता है तो द्रव्य की माग घट जायगी। द्रव्य अधिकारियो को इसका भी ध्यान रखना होगा। इनको एकाधिकार पर भी नियत्रण रखना होगा ताकि कीमते उचित स्तर पर रहे। सक्षेप मे इनको द्रव्य की पूर्ति स्थिर रखने की अपेक्षा कीमत-स्तर पर ध्यान रखना होगा।

यह नीति फलोत्पादक कैसे हो सकती है ? कागज पर सिद्धान्त सरल मालूम होता है और तटस्थ मुद्रा नीति सीधी दिखाई देती है। पर वास्तव मे इसमे बहुत सी उलझनें है। यह सिद्धान्त गलती से यह मान लेता है कि व्यापार चक्र को निर्धारित करने वाली बाते मुख्यत· द्रव्य से सम्बधित है। कीमत-स्तर, उत्पादन मात्रा तथा रोजगार पर प्रभाव डालने वाले साधन इतने भिन्न है कि किसी प्रकार की द्रव्य-व्यवस्था उनमे स्थिरता नहीं ला सकती। आधुनिक अर्थशास्त्री यह मानने को तैयार नही है कि व्यापार चक्र केवल द्रव्य सम्बन्धी घटना है। इस प्रकार तटस्थ मुद्रा नीति की बहुत सी सीमाए है।

तटस्थ मुद्रा नीति कीमत-स्थिरता नीति से कितनी भिन्न है ? तटस्थ मुद्रा नीति तथा कीमत-स्थिरता नीति मे भेद करने के लिये हम को दो कीमत स्तरो का ध्यान रखना चाहिये; एक सामान्य कीमत स्तर, और दूसरा सापेक्षित कीमत स्तर। एक तरह से इन दोनों नीतियो का उद्देश्य एक ही है। दोनों मुद्रा को तटस्थ बनाना चाहते है, और यह चाहते है कि वह एक ऐसा कार्य करे कि यदि कोई भी आर्थिक परिवर्तन हो तो द्रव्य का दोष न माना जाय। दोनो का उद्देश्य आर्थिक परिवर्तनो के एक मुख्य कारण को हटाना है। दोनो का अन्तर यह है। कीमत-स्थिरता की नीति का उद्देश्य सामान्य कीमत-स्तर में परिवर्तनो को रोकना है ताकि मुद्रा हिसाब की इकाई की तरह तटस्थ रहती है। तटस्थ मुद्रा नीति का उद्देश्य सापेक्ष कीमतो के ढाचे को स्थिर रखना है। इस कार्य के लिये यह द्रव्य की कुल मात्रा की व्यवस्था करना चाहती है ताकि मुद्रा विनिमय का एक माध्यम होते हुए अर्थ-व्यवस्था मे कोई गडबडी न डाल सके।

१३. मुद्रा नीति के उद्देश्य (Objectives of Monetary Policy)– मुद्रा नीति के कई उद्देश्य बताये गये है। इनमे से हम द्रव्य के प्रबन्ध के निम्नलिखित खास उद्देश्यों को बता सकते है। (१) विनिमय स्थिरता, (२) कीमत स्थिरता, (३) तटस्थ मुद्रा तथा (४) आर्थिक स्थिरता।

कुछ ऐसे अधिकारी है जो विदेशी विनिमय की दर को स्थिर रखना अधिक महत्वपूर्ण समझते है। विदेशी व्यापार के लिये यह एक महत्वपूर्ण सुविधा होगी और यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जोखिम को कम कर देगा। विनिमय स्थिरता के बारे मे हम अगले अध्याय में विवेचन करेगे।

इस अध्याय में हम कीमत स्थिरता की समस्या का विवेचन कर चुके है। कीमतों

मे तीव्र परिवर्तन अर्थव्यवस्था पर विघ्न डालने वाले प्रभाव डालते है। इसके अतिरिक्त वह कुछ लोगो को कष्टदायक होते है तथा कुछ को लाभ पहुंचाते है। परन्तु एक दृढ़तापूर्वक बधा हुआ कीमत स्तर न तो सम्भव ही है और न उचित है।

हमने तटस्थ मुद्रा नीति तथा उसकी सीमाओ का अभी विवेचन किया है और हम समझते है कि हम उसको मुद्रा नीति के उचित उद्देश्य की सिफारिश नही कर सकते।

मुद्रा नीति का सब से उचित लक्ष्य आर्थिक स्थिरता है। इससे ऐसा आर्थिक विकास हो कि पूर्ण अर्थव्यवस्था शातिपूर्वक चल सके। सयुक्त राष्ट्र फेड्रल रिजर्व सिस्टम (U.S. Federal Reserve System) के बोर्ड आफ गवर्नरस (Board of Governors) ने आर्थिक स्थिरता की परिभाषा इस प्रकार की है "देश की उत्पादन शक्ति तथा श्रम का ऐसा अधियोजन जो लगातार रह सके।" इस लक्ष्य को हम राष्ट्रीय साधनो की अधिकतम उपयोगिता भी कह सकते है। मुद्रा नीति के उद्देश्यो का वर्णन करते हुए बोर्ड ने यह निर्णय दिया है "बोर्ड विश्वास करता है कि सार्वजनिक नीति का उद्देश्य कीमत स्थिरता की अपेक्षा आर्थिक स्थिरता होना चाहिये। इसका दृढ विश्वास है कि यह उद्देश्य केवल मुद्रा नीति से नही प्राप्त किया जा सकता परन्तु मुद्रा नीति तथा सरकार की दूसरी बडी नीतियो के एकीकरण से जिनका प्रभाव व्यापारिक क्रियाओ तथा कर, व्यय, उधार, विदेशी विनिमय, खेती तथा श्रम से सम्बन्धित विशेष नीतियो पर पडता है।" देश के आर्थिक जीवन की स्थिरता पर मुद्रा नीति का क्या प्रभाव पडता है, इसका अगले अध्याय मे विवेचन किया जायगा।

निर्देश पुस्तकें

Crowther—An Outline of Money.
Cole—Money, Its Present and Future.
Brij Narain—Money and Banking (S. Chand & Co.)
Dekock Central Banking, 2nd Edition. (1946).
Benham—Economics.
Halm—Money and Banking.
Keynes—Essays in Persuasion.
Fisher—Purchasing Power of Money.
Langhin—Money, Credit and Prices.

अध्याय ३६

साख

(CREDIT)

१. साख क्या है ? (What is Credit)—द्रव्य के रूप बताते समय हमने साख अथवा बैंक द्रव्य की ओर सकेत किया था। उस समय हमने यह कहा था कि साख का अर्थ किसी मनुष्य के "सच्चाई, स्थिरता, योग्यता तथा गुण" पर आधारित अच्छे विचार से होता है। अर्थशास्त्र मे साख से किसी मनुष्य के द्रव्य देने की इच्छा तथा योग्यता मे विश्वास का अभिप्राय माना जाता है। किसी मनुष्य की साख तीन बातों पर निर्भर रहती है—चरित्र, योग्यता तथा पूजी। इसको दूसरे मनुष्यो से व्यवहार मे निष्कपट तथा न्याय-युक्त होना चाहिये, उसमे इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह व्यवसाय को सफल बना सके; तथा वह व्यक्ति धनी हो। इस प्रकार साख ऋणी का विशेषण होता है।

२. साख-पत्र (Credit Instruments)—आधुनिक व्यवसाय मे साख का बहुत बडा महत्व है, और यह साख-पत्र के प्रयोग द्वारा होता है साख-पत्र कई प्रकार के होते है जैसे—बही की साख (Book Credit), रुक्का (Promissory Note), विनिमय के बिल या हुडिया (Bills of Exchange), बैंक नोट (Bank Note), चेक (Cheque), ड्राफ्ट (Draft)।

बैंक नोट (Bank Note)—ये साधारणतया साख-पत्र नहीं कहलाते जब तक कि वे किसी साधरण बैंक द्वारा बिना सरकार की आज्ञा के न चालू किये गये हो। अब केवल एक बैंक को, जिसे केन्द्रीय बैंक कहते है, नोट चलाने का अधिकार प्राप्त है। दूसरे साख-पत्रो का विवेचन नीचे किया गया है।

रुक्का (Promissory Note)—यह सब से सरल साख-पत्र होता है। इस मे क्रेता द्वारा विक्रेता को द्रव्य की निश्चित राशि प्राप्त कीमत के बदले मे देने की प्रतिज्ञा होती है। उसमे लिखी हुई अवधि के पश्चात् भुगतान करना होता है। ऐसा प्रलेख निजी अथवा वाणिज्य व्यवहार मे प्रयोग किया जा सकता है। विनिमय पत्र केवल वाणिज्य व्यवहार मे प्रयोग किये जाते है।

विनिमय बिल (Exchange Bills)—यह एक आदेश होता है, जिसका भुगतान मागने पर (On demand) अथवा निश्चित भविष्य मे करने को सामान्यतः ऋणदाता द्वारा ऋणी, या खरीदार को किया जाता है, जिसमें खरीदार को यह आज्ञा होती है कि वह द्रव्य की उस मात्रा का भुगतान ऋणदाता या वाहक (Bearer) अथवा निर्दिष्ट किये हुए तीसरे व्यक्ति को करे।

यहा पर आहर्ता (Drawer), आहर्ती (Drawee) तथा वाहक को अलग-अलग समझना चाहिये। बिल के निकाल लेने के पश्चात् वह माल पाने वाले अथवा उसके एजेन्ट के पास स्वीकृति के लिये भेजा जाता है। यह बिल पर हस्ताक्षर करने से होता है। इसके बाद हुडी परक्राम्य (Negotiable) हो जाती है; अर्थात् उसका विक्रय द्रव्य के लिए हो सकता है। किसी हुडी का बट्टा उस पर अकित मूल्य पर जितने समय तक पत्र की मान्यता होना है, प्रचलित दर पर ब्याज का अनुमान लगाकर, अंकित मूल्य से घटा कर किया जाता है। यह वह मूल्य है जिसपर बिल रखने वाला किसी समय बिल को बेच सकता है। अतएव जितनी ही अधिक बट्टे की दर होगी, उतना ही बट्टे के समय बिल का मूल्य होगा। तथा जितना ही कम समय बट्टे और परिपाक के बीच होगा, बिल का मूल्य उतना ही अधिक होगा। जब बिल परिपाक हो जाता है अथवा आहर्ती के भुगतान का समय आ जाता है, तो उसका मूल्य उस पर अंकित मूल्य के बराबर हो जाता है। व्यावहारिक प्रयोग में, समय, जिसके लिए बिल बनाया जाता है, तीन महीने का होता है, यद्यपि वह अधिक समय तक के लिए भी लिखे जाते है।

विनिमय बिल का रूप साधारणतया इस प्रकार होता है:—

£ 100 Delhi

January 12, 1951.

Three months after the date pay to the Order of the Imperial Bank of India Ltd. hundred £s (£ 100) for value received.

F. Jones & Sons. G. Lall,

London.

जी. लाल ने दिल्ली से लन्दन के एफ जॉन्स एण्ड सन्स को १०० पौड के मूल्य के बराबर वस्तुओ तथा सेवाओ का निर्यात किया है। बिल १२ जनवरी १९५१ से तीन महीने तथा तीन दिन के पश्चात् अथवा १५ अप्रैल १९५१ को परिपाक हो जायगा। इस समय मे यह एक पक्ष मे दूसरे पक्ष को पूर्व प्रापण के पश्चात् जा सकता है। इस विधि के भुगतान का लाभ यह है कि इस ३ महीने के समय मे आयातकर्ता वस्तुओ को पा तथा बेच सकेगा और इस प्रकार अपने दायित्व को पूरा कर सकेगा।

बिल के चलन का क्षेत्र स्वीकर्ता की साख पर निर्भर करता है। लोग अपने बिल या हुन्डियों को अच्छी फर्म जो इस व्यवसाय मे विशेषोपयुक्त होती है, द्वारा कराते है और इस प्रकार अपने बिलों को बड़े क्षेत्र मे चलन के योग्य बनाते है।

विनिमय बिल व्यापार, मुख्यतः विदेशी व्यापार की अर्थ-व्यवस्था मे बड़ा महत्त्व

रखते है। इससे भी अधिक यह बहुत ही उपयुक्त प्रकार का विनियोग (Investment) होता है। इस प्रकार इसके लाभ ये है.—

(१) यह व्यवसायी को बिना नकद भुगतान के वस्तुओ को क्रय करने के योग्य बनाता है। इसके पहले कि बिल परिपाक हो, वस्तुओ को बेच कर तथा द्रव्य पाकर दायित्व को पूरा किया जा सकता है। अतएव बिना अधिक पूजी के उपयोग के व्यापार किया जा सकता है। दूसरी ओर यह विधि निर्यातकर्ता (विक्रेता) को, बिल के पूर्व-प्रापण के, यदि वह द्रव्य तुरन्त चाहता है, योग्य बनाता है।

(२) विनिमय बिल देशो के बीच बहुमूल्य धातु के परिवहन व्यय को बचाता है। उदाहरणार्थ, आयातकर्ता बहुमूल्य धातु का निर्यात करने के बजाय विनिमय बिल का क्रय करके द्रव्य का भुगतान कर सकता है। अतएव यह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की सस्ती तथा सरल विधि है।

(३) विनिमय बिल हर निर्यातकर्ता को अपने देश के द्रव्य मे निर्यात का भुगतान पाने के योग्य बनाता है।

(४) अस्थिर निधि (Liquid Funds) के विनियोग (Investment) के लिये विनिमय बिल एक अत्यन्त साधारण विधि है। अस्थिर निधि ऐसी निधि है, जो नकद (Cash) मे सरलता से परिवर्तनशील है। एक मनुष्य जिसके पास कुछ द्रव्य है, विनिमय बिल खरीद कर, जब तक उसे द्रव्य की आवश्यकता न हो बिल को रखकर ब्याज पा सकता है। यदि वह अचानक द्रव्य चाहता है, तो उसे वह सदैव किसी भी बैंक से पूर्व प्रापण करा सकता है। यह विधि बैंक द्वारा साधारणतया अपनी सचित अस्थिर निधि को नकद के रूप मे रखने के लिए प्रयोग मे लाई जाती है। आवश्यकता पर यह बिल को केन्द्रीय बैंक से पूर्वप्रापण करा सकते है।

हुंडी—भारतवर्ष मे बहुत समय से विनिमय बिल का प्रयोग होता रहा है। इसको हुंडी कहते है। हुडी आन्तरिक विनिमय बिल होता है। यह आन्तरिक व्यापार की अर्थ-व्यवस्था तथा द्रव्य के भुगतान मे सहायता देता है। विनिमय बिल आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनो की अर्थ-व्यवस्था मे सहायता करते है।

हुडी दो प्रकार की होती है :—

(१) **दरशनी हुंडी**—जो करीब-करीब चैक की तरह होती है और उसको तुरन्त मागने पर भुगतान करना होता है।

(२) **मुद्दती हुन्डी**—जो एक निश्चित समय के पश्चात् भुगतान करना होता है। यह विनिमय बिल की भाति होती है।

चेक—हम बैंक नोट के विषय मे कुछ कह चुके है। यह एक प्रकार की करेंसी होती है, साख-पत्र नही। दूसरा महत्त्वपूर्ण साख-पत्र चेक है। चेक बैंक पर ग्राहक, जिसने उस बैंक मे द्रव्य जमा किया हो, मांगने पर चेक के ले जाने वाले अथवा उसके आदेश पर,

निर्दिष्ट किया हुआ भुगतान करने की आज्ञा देता है। पहले प्रकार के चेक को बेयरर चेक और दूसरे प्रकार को आर्डर चेक कहते है। चेक बैंक द्वारा दिये हुए फार्म पर लिखे जाते है। प्रत्येक चेक पर नम्बर पडे होते है। चेक पर आदेश देने वाले के हस्ताक्षर होने चाहिये। जब चेक रेखित (Crossed) होता है, तो उसका भुगतान उस के खाते में किया जाता है। यदि ऐसा चेक खो जाय, तो उसको प्रत्यक्ष रूप से भुनाया नही जा सकता। बेयरर चेक रेखित नही होता और इसलिए खो जाने पर उसको कोई भी भुना सकता है, बशर्ते कि बैंक को भुगतान न देने की सूचना न दी गई हो। यदि यह आर्डर चेक है, तो सही मनुष्य को भुगतान देने का उत्तरदायित्व बैंक पर होता है।

चेक का लाभ यह है कि यह द्रव्य की बचत करता है। सभी बैंक चेक की चलन कर सकते है, जब कि बैंक नोट का चलन केन्द्रीय बैंक द्वारा ही हो सकता है। चेक किसी भी मूल्य के बनाये जा सकते है। उदाहरणार्थ, १०० रु० १० आ० ६ पा०। चेक का उपयोग क्लियरिंग हाउस (Clearing House) की व्यवस्था से बहुत सरल हो गया है।

ड्राफ्ट (Draft)—एक बैंक द्वारा दूसरे पर धनादेश की आज्ञा को ड्राफ्ट कहते है। उदाहरणार्थ, मान लीजिये, आप अपने भाई को, जो इगलैंड मे है, १३००) भेजना चाहते है। आप भारतवर्ष के किसी भी बैंक मे जाकर जिसकी लन्दन मे शाखा हो, १३००) देकर प्रचलित विनिमय दर पर वहा के बैंक के नाम ड्राफ्ट ले सकते है। यह ड्राफ्ट अंग्रेजी द्रव्य मे होगा और वह अपनी इगलैंड की शाखा को यह आदेश देगा कि वाहक को लिखित द्रव्य का भुगतान करे। आप यह ड्राफ्ट अपने भाई को भेज दीजिये और वह उसको वहा बैंक मे देकर भुगतान पा जायेगा।

३. क्लियरिंग हाउस (Clearing House)—यह ऐसी सस्था है, जिसमे अनेक बैंको पर दिये गये धनादेशो का एक दूसरे के विपरीत विलोपन किया जाता है तथा केवल आधिक्य का भुगतान होता है। क्लियरिंग हाउस का कार्य-सचालन नीचे दिये हुए उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। मान लीजिये कि कुल ४ बैंक अ, ब, स, द है जिनका हिसाब एक क्लियरिंग हाउस द्वारा किया जा रहा है। हर एक बैंक अपना एजेंट विलोपन होने वाले धनादेशो के साथ भेजता है।

यह भी मान लीजिये कि किसी समय इन बैंको का एक दूसरे पर अभ्यर्थन इस प्रकार है:—

बैंक अ—बैंक ब पर	= ५००० रु०
बैंक स पर	= ४००० रु.
,, द ,,	= २००० रु.
योग	= ११००० रु.

बक ब—बैक स पर = ५००० रु.
,, द ,, = १००० रु.
,, अ ,, = ४००० रु.
योग = १०००० रु.

बैक स—बैक द पर = ५००० रु.
,, अ ,, = ६००० रु.
,, ब ,, = ३००० रु.
योग = १४००० रु.

बैक द—बैक अ पर = ३००० रु
,, ब ,, = १००० ,,
,, स ,, = ५००० ,,
योग = ९००० ,,

सभी धनादेशो के द्रव्य का जोड जिसका हिसाब तै करना है, ४४००० रु. है। यदि प्रत्येक बैक के समाकलन तथा विकलन (Credit & Debit) को देख, तो स्थिति इस प्रकार होगी —

बैक	—	समाकलन	विकलन	आधिक्य+या—
अ	—	११००० रु.	१३००० रु.	—२००० रु.
ब	—	१००००,,	९०००,,	+१०००,,
स	—	१४०००,,	१४००० रु.	×
द	—	९०००,,	८०००,,	+१०००,,

अतएव यदि बैक अ, बैक ब को १००० रु. और द को १००० रु दे दे तो सारा हिसाब ठीक हो जायगा। ४४०००) रु का हिसाब केवल २०००) रु. के दे देने से हो जाता है। यह भी भुगतान नकद नही किये जाते बल्कि केन्द्रीय बैक को धनादेश देकर किए जाते है। यह लाभ क्लियरिंग हाउस की व्यवस्था द्वारा होता है।

भारतवर्ष मे क्लियरिंग हाउस की सुविधाएं कलकत्ता, बम्बई, मद्रास इत्यादि मे इम्पीरियल बैक के कार्यालयो मे मिलती है।

इस पर भी चेक सीमित मनुष्यो के बीच, जो एक दूसरे को अच्छी तरह जानते है, चल सकते है। चेक कानूनन-ग्राह्य (Legal Tender) नही होते।

४. साख के विस्तार के कारण (Factors on which the Volume of Credit depends) :—साख का आशय उधार लेने तथा उधार देने की क्रिया से होता है। कभी-कभी उधार लेने तथा देने की क्रियाए बहुत बढी होती है। यह साख के विस्तार का

समय होता है। पर कभी-कभी ऋणदाताओं तथा ऋण लेने वालों की कमी हो जाती है। दूसरे शब्दों में, साख की कमी हो जाती है। अतएव साख का विस्तार अथवा उसकी कमी ऋणदाताओं की देने तथा ऋणी के लेने की इच्छा पर निर्भर करती है। यह इच्छा स्वेच्छाचारी वस्तु नही है। यह कुछ बाह्य स्थितियो पर आधारित रहती है, जिनमें से मुख्यत· यह है :—

(१) **व्यापार की दशाएं** :—यदि व्यापार अच्छा है, तो ऋणी उधार लेने को उत्सुक होते है। वे यह जानते है कि उस ऋण से और अधिक द्रव्य पैदा कर सकते है। ऋण-दाता उधार देने के प्रतिकूल नही होते क्योकि बढे-चढ़े व्यापार के समय व्याज के दर ऊंचे होते है। वह दिये हुए द्रव्य के लौटने पर निश्चित होते ह क्योंकि ऐसे समय में सभी को लाभ होता है।

पर मदी के समय साख की कमी हो जाती है। पूजी भी कम हो जाती है। व्यापारी विनियोग की जोखिम उठाने को तैयार नही होते। यद्यपि केन्द्रीय बैंक के आदेशानुसार सभी बैंक ऋण देना चाहे, तो भी ऋणी उधार नही लेना चाहते। आप घोडे को पानी के पास तक ले जा सकते है, पर उसको पानी पीने को बाध्य नही कर सकते। इसका कारण यह है कि व्यापार का भविष्य रूखा तथा अधकारमय होता है।

(२) **राजनीतिक दशाएं** :—व्यापार आधुनिक समय मे राजनीतिक घटनाओं से सचेतन रहता है। जब युद्ध के बादल छाये होते है तो बहुत कम नये व्यवसाय करने का साहस करते है। पजाब की वर्तमान स्थितिया व्यवसायों को बढाने वाली नही है। प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ का डरा देने वाला व्याख्यान पूजी को व्यवसाय में लगाने से हटा देगा। शान्ति तथा सुव्यवस्था साख को बढाती है। साख के विस्तार की सीमा जनता के विश्वास पर निर्भर करती है।

(३) **सट्टेबाजी** :—साख का विस्तार तथा सट्टेबाजी की क्रियाये साथ-साथ चलती है। जब सट्टे का कार्य अधिक होता है तो साख का विस्तार होता है और जब सटोरिये हानि उठाने लगते है, तो साख की कमी होती है। परन्तु साख केवल सट्टे का परिणाम ही नही वरन् उसका कारण भी है।

(४) **मुद्रा की स्थिति** :—साख के विस्तार के लिये मुद्रा की उत्तम प्रणाली अत्यन्त सहायक होती है। जब मुद्रा की दशाये ठीक नही होती, उदाहरणार्थ मुद्रा का अधिकुच्यन (Debasement) अथवा अवमूल्यन (Depreciation) हो जाता है, तो साख की कमी हो जाती है। मुद्रा साख का यंत्र है और जब स्वयं यंत्र बुरे हों, तो साख नही बढ सकती। उसका कम होना स्वाभाविक होगा।

५. साख के कार्य तथा उसकी उपयोगिता (Utility and Functions of Credit) :—ऊपर के दृष्टांत से यह स्पष्ट है कि साख देश की आर्थिक उन्नति के लिये बहुत से उपयोगी कार्य करती है। अतः —

(१) यह धातु-द्रव्य के उपयोग मे बचत करती है। साख-पत्र सिक्कों की जगह ले लेते हैं और इस प्रकार बहुत से अनावश्यक व्यय में बचत करते है।

(२) यह व्यवसायियों को अधिक ऋण दे कर उद्योगों के विकास में सहयोग देती है।

(३) यह पूंजी की उत्पादन-शक्ति को बढाती है। अनुपयोगी द्रव्य बैंक द्वारा उन लोगों को प्राप्त हो जाता है, जो उसका अच्छे ढंग से उपयोग कर सकते है।

(४) साख द्वारा बैंक थोडी सी रकम नकद मे रख कर अधिक उधार दे सकते है। इस प्रकार एक बैंक १०००)रु. का नकद रिजर्व रखकर १०,००० रु. तक ऋण दे सकता है।

(५) साख-पत्र मुख्यत: विनिमय बिल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भुगतन करने मे सहायक होते है। बिना सिक्को तथा कोष के हस्तातरण के कितना भी भुगतान किया जा सकता है।

६. साख की बुराइयाँ (Dangers of Credit)–हम यह ऊपर बता चुके हैं कि साख आधुनिक समाज के लिए एक बहुत बडा उपहार है। परन्तु इसकी कुछ बुराइया भी है। साख अत्यन्त हानिकारक तथा खतरनाक साधन होता है। और इसलिए इसका उपयोग बडी सावधानी के साथ किया जाना है। इसकी निम्नलिखित कुछ बुराइया है :—

(१) **साख-स्फीति** :—मुद्रा अधिकारी स्फीति का आश्रय ले सकते है, अथवा बैंक उदारता से उधार दे सकते है। ऐसी दशा मे मूल्यो का बढना शुरू हो जायगा। व्यवसाय मे अनिश्चितता छा जायगी। आर्थिक उन्नति के लिए अनिश्चितता का तत्व शत्रु के समान होता है। व्यापारी ऐसे भुगतान देने का वचन दे सकते है जिनको वे पूरा न कर सकते हों। कुछ लोग शोचनीय दशा को प्राप्त हो सकते है। और इस प्रकार जिनसे वे व्यापार मे सम्बन्धित है, उनकी भी दशा खराब कर सकते है। मूल्यो की अनुचित वृद्धि से, जो साख के अत्यधिक प्रसार के कारण होती है, लोग अपने को धनी समझने लगते है और विलासिताओ पर धन व्यय करने लगते है। **आधिक्य का उत्तरदायित्व** साख की सब से बड़ी हानि है। यह समाज मे स्फीति के सभी दोषो को लाती है।

(२) साख से लोग अमितव्ययी हो जाते है। एक मनुष्य उधार लिये हुए धन को उतनी सावधानी से व्यय नही करता, जितना कि अपने कमाये धन को करता है। लोग अनुचित तथा प्रमत्त जोखिम उठाते है। अतएव साख क्षय को प्रोत्साहन देती है।

(३) साख ऐसे व्यवसायों की, जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक नही होती, सहारा देने का साधन हो सकती है। साथ ही साथ उसके सहारे के बिना उनका विनाश भी हो सकता है। इस बुरे लक्षण से वे कभी दूर नही की जा सकती है।

(४) साख व्यक्तियों तथा संस्थाओं के पास उनकी इच्छानुसार व्यय करने के लिए बहुत-सी पूजी का प्रबन्ध कर देती है। इस प्रकार बहुत बड़ी-बड़ी फर्मो का जन्म होता है।

और उनमें उपभोक्ताओं व श्रमिकों के शोषण तथा व्यापारिक लेन-देन में अनुचित रीतियों के प्रयोग का भय होता है।

७. साख तथा कीमत (Credit & Price) :—साख किस प्रकार कीमत पर प्रभाव डालती है ? क्या प्रभाव उसी प्रकार होता है जैसा कि साधारण मुद्रा का होता है? यह विवाद-सम्बन्धी विषय है। मिल तथा उसके कुछ अनुयायियो ने इस बात पर जोर दिया कि साख कीमत पर उसी प्रकार प्रभाव डालती है जिस प्रकार नकदी प्रभाव डालती है, क्योकि साख नकदी की ही तरह मुद्रा-क्रय-शक्ति रखती है। दूसरी ओर अमरीकी अर्थशास्त्री वाकर (Walker), लाघलिन (Laughlin) इत्यादि का मत था कि साख का कीमत पर कोई प्रभाव नही होता। उनका यह विश्वास था कि यद्यपि साख मे क्रय-शक्ति होती है पर उसमे निस्तारण शक्ति नही होती। विक्रय को पूरा होने के लिए अन्त मे नकद भुगतान करना पड़ता है। उधार लेने के पश्चात् उनका भुगतान नकदी मे ही करना पडता है।

यह दोनो विचार दो अलग-अलग सीमाओ पर है। अतएव पूर्ण सत्य नही है। सत्यता तो इन दोनो के बीच मे है। यदि साख-पत्र नकद द्रव्य के स्थानापन्न है तो उनका प्रभाव कीमत पर नकदी के समान होगा। वास्तव मे लोगो का विश्वास साख-पत्र के बजाय नकद द्रव्य पर अधिक होता है। अतएव बैंक सदैव अपने पास माँग को पूरा करने के लिए कुछ अनुपात मे नकद द्रव्य रखते है। जब साख का विस्तार होता है तो परिचलन से संचित नकदी का काम करने के लिए कुछ द्रव्य वापस कर लिया जाता है। इसलिए कीमत उतनी नही बढती जितनी कि नकद के वापस न करने पर बढती है। परन्तु विस्तृत साख की मात्रा की अपेक्षा बहुत कम मात्रा मे नकद द्रव्य वापस किया जाता है। साख की यह स्फीति यदि ठीक तरह से रोकी न जाय तो मूल्य मे वृद्धि करती है; और यही साख से भय है, अर्थात् उसका अत्यधिक विस्तार।

८. साख तथा पूजी (Credit & Capital)—साख को गलती से पूजी मान लिया जाता है। यह बहुधा कहा जाता है कि साख-पत्र, चेक, विनिमय पत्र इत्यादि व्यावहारिक अर्थ में द्रव्य के समान है तथा उनका व्यापार मे प्रयोग होता है। अतएव प्रभाव के विचार से वे पूजी है। परन्तु ऐसा नही है। यह साख-पत्र स्वय द्रव्य नही है। वे केवल द्रव्य का स्थान पूर्ण करते है। यदि मै किसी को चेक दू तो मै उसको द्रव्य नकद मे नही देता। मै केवल उसे बैंक में रखे हुए द्रव्य को पाने का अधिकार देता हूं। अतएव साख पूजी नही है। यह केवल व्यवसायी को पूजी की वस्तुएं जैसे कल तथा यन्त्र इत्यादि पर नियत्रण रखने के योग्य बनाता है।

साख पूजी का निर्माण भी नही करती। यह केवल पूंजी को एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास कर देती है। यह हस्तातरण समुदाय के भले के ही लिये होता है। साख द्वारा धन ऐसे मनुष्यों के पास से, जिनके पास यह बेकार होता है, ऐसे मनुष्यो के पास

हस्तातरित हो जाता है, जो उसका अच्छा उपयोग कर सकते है। इस प्रकार साख निश्चय ही उत्पादन मे सहयोग देती है परन्तु यह एक उत्पादन साधन नही है। यह केवल वैसे साधनों को इकट्ठा करती है और उनका ठीक से प्रयोग करती है। उदाहरणार्थ अ, ब को ५०००) रु. ऋण देता है। अ यह सोच सकता है कि वह ५०००) रु. का मालिक है तथा ब यह सोच सकता है कि उसके पास ५०००) रु. है। परन्तु यह ५०००) रु., १००००) रु. न हो जायगे। वहा धन की केवल एक मात्रा ५०००) रु. है। समाज दुगुना धनी नही हो जाता। साख ने ५०००) रु. की अन्य मात्रा का निर्माण नही किया परन्तु इसने अ से ब को ५०००) रुपये का हस्तातरण किया है। अतएव साख को एक उत्पादन का स्वतत्र साधन नही कहा जा सकता। **अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि साख पूंजी नहीं है और न यह पूंजी का निर्माण करती ह। यह केवल पूंजी के हस्तांतरण का एक साधन है।**

निर्देश पुस्तक

Balogh, T.—Financial Organisation.
Sayers, R. S.—Modern Banking.

अध्याय ३७

बैंक

(BANKS)

१. भूमिका---आधुनिक जगत् में बैंक द्रव्य के निर्माण तथा उसकी मांग और पूर्ति पर नियंत्रण रखने मे बहुत महत्वपूर्ण कार्य करते है। बैंक वास्तव मे एक ऐसी संस्था है जो द्रव्य का व्यापार करती है। स्पष्ट रूप मे बैंक उन लोगो से आधिक्य द्रव्य (Surplus Money) खीचते है, जो उस समय उसे प्रयोग में न ला रहे हों और जो लोग उसे उत्पादक कार्यों मे लगा सकते है, उन्हे ऋण देते है। इस प्रकार मध्यस्थो की भाति कार्य करते हुए बैंक लाभ उठाते है। यही नही, जैसा कि हम देखेगे, बैंक उस द्रव्य को, जो उनके पास नही है, उधार देकर लाभ उठा सकते है। और उठाते भी है। इसलिए इन सस्थाओ ने बहुत-से उपयोगी कार्यो मे उन्नति की है। इनकी उन्नति का अध्ययन अति रोचक है।

२. बैंकों का विकास (Evolution of Banks)---आधुनिक बैंको ने छोटी जडो से विशाल उन्नति की है। प्राचीन साहूकार सुनार थे। योरप मे वे द्रव्य का अदल-बदल करते थे। ये एक प्रकार के द्रव्य को दूसरे प्रकार के द्रव्य के साथ बदलते थे। क्योंकि वे मूल्यवान् धातुओ का व्यापार करते थे, उनको अपने कोष की रक्षा करने की व्यवस्था करनी पडती थी। धीरे-धीरे लोग, जिनके पास द्रव्य या सोना अधिक होता था, अपनी मूल्यवान् धातुओ को ऐसे व्यक्तियो के पास जमा करने लगे। यह आदि रूप में निक्षेप बैंकिग का प्रारम्भ था। वे सुनार धातुओ के जमा करने पर रसीदे दिया करते थे। चूकि हरेक व्यक्ति उनकी ईमानदारी पर विश्वास करता था, इसलिए समय बीतने पर अनुभव होने से ये रसीदे बगैर पहले सोने मे परिवर्तन किये हुए एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास लेन-देन का भुगतान करने के लिए प्रयोग होने लगी। ये रसीदें ही आदि बैंक के नोट थे।

उन सुनारों ने शीघ्र ही अनुभव किया कि जमा करने वाले किसी एक अवधि में उनके पास जमा की हुई धातु के केवल एक छोटे से भाग की ही मांग करते थे। इसलिए उन्होंने उन लोगों को, जिनको धन की आवश्यकता थी और जो एक अच्छी जमानत दे सकते थे, जमा (Deposits) का एक भाग उधार देकर लाभ उठाना शुरू किया। उधार देते समय वे केवल सोना ही उधार नही देते थे, बल्कि रसीदें भी देते थे, जो लोगों में इस तरह चलती थी जैसे कि सोना। इस प्रकार बैंक जमा की हुई धातु से कई गुना अधिक ऐसी रसीदें (नोट) चालू कर देते थे।

क्रमशः, बैंकिंग कारोबार व्यक्तिओ से संयुक्त-पूजी संस्थाओं (Joint Stock Concerns) के पास चला गया। कुछ समय के बाद राज्य ने हर बैंक को नोट छापने की स्वतन्त्रता देने मे खतरे का अनुभव किया। धीरे-धीरे एक देश से लेकर दूसरे देश में नोट छापने का काम साधारण बैंकों से ले लिया गया और विशेष नियमों के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक नाम की एक विशेष संस्था को सौप दिया गया।

इसी बीच बैंको ने क्रय-शक्ति के निर्माण करने की नई विधियां निकाली। उन्होंने अपने ग्राहको को उनके जमा पर चेक काटने की स्वतत्रता दे दी। यह जमा अवश्य ही वह धन था जो ग्राहकों द्वारा वास्तव मे "जमा किया गया था।" ये जमा बैंक द्वारा अधिविकर्षण की सुविधा (ग्राहक की वास्तविक जमा से अधिक धन निकालने की आज्ञा) देकर या जमानत पर ऋण देकर उत्पन्न किये जा सकते थे।

बैंक और उसके ग्राहको दोनो के लिए, चेक के गुण बैंक-नोट से अधिक है। जब तक कि बैंक नकद रिजर्व (Cash Reserves) के सुरक्षित अनुपात पर विश्वास रख सकता था, उस समय तक वह ऋण या अधिविकर्षण की सुविधा देकर साख को एक ऊचे शिखर तक पहुचा सकता था। अपने पास रखने तथा हस्तांतरण करने में ग्राहकों के लिए चेक अधिक सुविधायुक्त और सुरक्षित होते थे। इसके अतिरिक्त वह किसी भी प्रामाणिक राशियो के लिए लिखे जा सकते थे। इसलिए इसमे कोई आश्चर्य नहीं कि अधिक उन्नतिशील देशो मे, जैसे कि अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन, लेन-देन अधिक-से-अधिक मात्रा मे चेक के द्वारा होता ह।

इस प्रकार से बैंकिंग कारोबार मे उन्नति हुई।

३. बैंकों के भेद (Kinds of Banks):—बैंकों मे उनके विभिन्न कार्यो के क्षेत्रो से सम्बन्धित विशेष उन्नति हुई है। मुख्य प्रकार के बैंक नीचे दिये जाते है:—

(१) **व्यवसायी बैंक** (Commercial Banks):—ये बैंक विशेषकर आन्तरिक व्यापार की अर्थ-व्यवस्था करने में लगे हुए है तथा और भी साधारण साहूकारा व्यवसाय, जैसे कि जमा रखना, ऋण देना और हुन्डी का लेन-देन करना जिनके विषय मे हम अभी चर्चा करेगे।

(२) **औद्योगिक बैंक** (Industrial Banks):—ये सस्थाएं उद्योग-धन्धों को वित्तीय सहायता देने मे लगी होती है। जो व्यक्ति उपक्रमी का कार्य करते है, उनको ये दीर्घ-काल के लिए ऋण देती है। योरोप महाद्वीप में यह साधारणतया पाई जाती है, जहां कि उद्योग से उनका अति निकट सम्बन्ध है। भारतवर्ष मे इस प्रकार के बैंकों का व्यावहारिक रूप से कोई अस्तित्व नही है।

(३) **कृषि-बैंक** (Agricultural Banks):—इस प्रकार के बैंक दीर्घकाल और अल्पकाल के लिए खेती के लिए ऋण देते है। दीर्घ-कालीन पूजी की, भूमि प्राप्त करने और उसकी उन्नति करने के लिए तथा भारी मशीनें खरीदने के लिए आव-

श्यकता होती है। अल्पकालीन पूजी की आवश्यकता बीज, खाद, मजदूरी इत्यादि के चालू व्यय के लिए होती है। भारतवर्ष मे इस प्रकार के बैको ने अल्पकालीन उधार देने के लिए सहकारी समितियो (Co-operative Societies) का रूप ग्रहण किया है और दीर्घकालीन उधार के लिए भूमि-बन्धक बैको (Land Mortgage Banks) का।

(४) **विनिमय बैंक** (Exchange Banks):—इन बैंकों का विशेष काम विनिमय-पत्र, ड्राफ्ट, तार द्वारा सचार के रूप मे विदेशी मुद्रा, बल्कि विदेशी मुद्रा के स्वत्व का क्रय और विक्रय करना है। हम अपने विदेशी विनिमय के अध्याय मे इनके कार्यो का अध्ययन करेगे।

(५) **सेविंग्स बैंक** (Savings Banks) :—ये सस्थाए साधारणतया थोडी पूजी के व्यक्तियो को धन सचित करने मे सुविधा देती है। भारतवर्ष मे डाकखाने इन कामो को करते है। हा, दूसरे बैक भी बचत जमा करते है।

(६) **केन्द्रीय बैंक** (Central Banks) :—किसी देश की बैंकिग व्यवस्था मे केन्द्रीय बक सब से अधिक महत्वपूर्ण संस्था है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करता है। वास्तव मे यह प्रत्यक्ष रूप से और परोक्ष रूप से अन्य समस्त बैंकों की कार्रवाइयों का नियत्रण करता है। हम केन्द्रीय बैको के कार्यो का अध्ययन विस्तारपूर्वक आगे करेगे।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि ये ऊपर दिये हुए बैक अपने कार्यो के हिसाब से एक दूसरे पर छाये रहते है। उनके नामो से, केवल उनके आवश्यक कार्यो का, जिनमें उन्होने विशिष्टता प्राप्त की है, आभास होता है। सामान्य साहूकारे का कार्य कुछ-न-कुछ सभी बैकों में होता है।

४. साधारण बैंकिग कार्य (General Banking Functions) :—
स्पष्ट रूप मे तीन ऐसे कार्य है जो कि बैक (केन्द्रीय बैको के अतिरिक्त) करते है :—

(अ) जमा रखना (Holding Deposits)

(ब) ऋण देना (Advancing Loans).

(स) पूर्व प्रापण अधिपत्र या हुन्डियो का भुनाना (Discounting Bills).

(अ) **बचत को जमा रखना** (Holding Deposits):—यह कार्य महत्वपूणे है क्योंकि बैक विशेषकर उन जमा की रकमों पर निर्भर करते है जिनको कि जनता ने उनके पास जमा कर रक्खा है। ये जमा की रकम व्यक्तियों, व्यापारिक संस्थाओं और जन-संस्थाओं से प्राप्त की जाती है। चालू खाते (Current Deposits) मे जमा की हुई रकमों पर बैक साधारणतः कोई व्याज नही देता। वे चेक के द्वारा एक अंश में या पूर्ण-रूप से बैक से किसी समय भी निकाले जा सकते है। मियादी जमा (Fixed Deposits) इस-लिए ऐसे कहे जाते है क्योकि वे एक निर्धारित समय के लिए बैक के पास रहते है जिसके व्यतीत होने के पहले वे बिना उचित सूचना दिये निकाले नही जा सकते। ऐसी जमा की रकमों पर बैक व्याज देता है। सेविग्स के खाते में जमा हुई रकमें सप्ताह में एक या दो बार

निकाली जा सकती है। इस तरह सभी जमा की रकमे सूचना दे कर या बगैर सूचना के निकाली जा सकती है। वास्तव में किसी विशेष समय पर केवल एक छोटा भाग ही निकाला जाता है। परन्तु क्योकि ग्राहक जमा वापस ले सकते है और इसलिए बैंक को अपनी आदेय (Assets) के एक भाग को नकदी में रखना पड़ता है। बाकी सब विविध काल के लिए उधार दिया जा सकता है। अब हम बैंकों के दूसरे कार्यो पर आते है।

(ब) ऋण देना (Advancing Loans) :—इस दिशा में बैंक को सब से अधिक उत्तरदायित्व लेना पड़ता है। बैंक ऋण दे कर लाभ उठाता है। परन्तु बैंक दूसरे व्यक्तियो के धन से व्यापार करता है, जो किसी भी समय निकाला जा सकता है। उधार देने में और बचत को जमा रखने मे अति विचार-निर्णय की आवश्यकता रहती है।

यह ध्यानपूर्वक देखना चाहिए कि बैंक केवल उसी रकम को उधार नही देता जो कि वास्तव मे ग्राहक द्वारा जमा की गई है। बैंक स्वम जमा की **उत्पत्ति** करता है और इस प्रकार वह उधार दी हुई रकम को जमा की हुई रकम से कही अधिक बना लेता है। अपने को संतुष्ट करके वह कार्य जिसके लिए ऋण की आवश्यकता है और आर्थिक दृष्टि से उचित है, और जमानत आदि के द्वारा पूर्व सचेत हो कर, बैंक अपने ग्राहक को चेक देने का अधिकार दे देता है। सम्बन्धित व्यापारी का ऋण इस प्रकार उसके खाते मे जमा हो जाता है। यदि ग्राहक एक चेक या कई चेको द्वारा इस रकम को निकाल देता है, तो उसका भुगतान किसी न किसी को कर दिया जाता है। यह चेक उस देश या प्रदेश के उसी बैंक या दूसरे बैंको के पास फिर आ जाते है। वह उन व्यक्तियो के खाते में जिनको कि भुगतान किए गए थे, जमा के रूप में आ जाते है। इसका अर्थ हुआ "ऋण जमा को उत्पन्न करते है।" वर्तमान काल मे रोकड़ के जमा साख के जमा में परिवर्तित हो गये है।

(स) हुन्डियों का भुनाना (Discounting of Bills) :—व्यावहारिक दृष्टि से हुन्डियों के भुनाने के पूर्व प्रापण का अर्थ है अल्प-काल के लिए उधार देना। उदाहरण के लिए, एक व्यापारी, जो कि व्यापारिक कार्य में बड़ी रकम नही फसाना चाहता, अपने ऋणी पर हुन्डी कर सकता है और जब वह उसके ऋणी द्वारा या उसकी ओर से स्वीकृत हो जाय तब वह अपने बैंकर द्वारा उसे भुना सकता है। इससे व्यापारी को ब्याज और बैंक के कमीशन को निकाल कर बची हुई रकम तुरन्त मिल जाती है। हुन्डियां साधारणतया तीन महीने के लिए होती है। और जब वे पूरी हो जाती है तो बैंक उनके अंकित मूल्य का भुगतान कर देता है। इस प्रकार बैंक व्यापार को सुविधा देने के अतिरिक्त लाभ भी उठाता है। ये बिल अल्पकाल मे पूरे हो जाते है और आवश्यकता पड़ने पर उनका पूर्व प्रापण हो सकता है। यह बैंक की सम्पत्ति (Assets) के एक भाग को द्रव अवस्था में रखने की एक साधारण युक्ति है। बैंकर हुन्डियों के लेन-देन को एक अति उत्तम विनियोग (Investment) समझते है। यही कारण है कि कहा जाता है कि बैंक का उत्तम संचालक एक बिल या हुन्डी (Bill) और बंधक (Mortgage)

के अंतर को जानता है ।

बैंकों के मुख्य कार्यों का संकलन एक वाक्य में किया जा सकता है ।]

बैंक ऋण देने के लिये उधार लेते हैं :—वे जमा के रूप में उधार लेते हैं ।

(अ) मियादी जमा (Fixed Deposits)

(ब) सेविंग बैंक जमा (Savings Bank Deposits)

(स) चालू खाते मे जमा (Current Deposits)

बैंक तीन प्रकार से उधार देते हैं ।

(अ) विवृत लेखा या अधि-विकर्षण पर (On Open Account or Overdraft)

(ब) रोकड़-साख के आधार पर ऋण (Loans on Cash Credit Basis)

(स) बिल या हुन्डियो का भुनाना (Discounting of Bills)

बैंक थोड़े समय के लिए उधार लेते हैं और अधिक समय के लिए उधार देते हैं । उनके दायित्व (देयधन) उनके कर्ज की अपेक्षा शीघ्र पूरे हो जाते हैं । उनका दायित्व द्रव्य होता है तथा संपत्ति (आदेय) कुछ द्रव्य होती है और कुछ द्रव्य के रूप में शीघ्र परिवर्तित होने वाला धन होता है । अतएव अपने आदेय पर आने वाला ब्याज दायित्व पर देने वाले ब्याज से अधिक होता है । "जितना ही द्रव्य-तुल्य द्रव्य के समीप होगा उतनी ही उससे आमदनी कम होगी और जितना ही द्रव्य से अधिक दूर होगा उतनी ही उससे आमदनी अधिक होगी ।[1]

ऊपर दिये गये विशेष कार्यो के अतिरिक्त बैंक जनता की कई अन्य सेवाए भी करते हैं । चेक के प्रयोग से वे धन को एक स्थान से दूसरे स्थान या एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास पहुचाने मे सहायता देते हैं । कुछ बैंक अपने ग्राहकों (Clients) की ओर से बिल स्वीकार कर लेते हैं और इस प्रकार उनको अधिक सुगमता पूर्वक भुनाने योग्य बना देते हैं । वे अपने ग्राहको को विनियोग सम्बन्धी सूचना और आदेश देते हैं । इसके अतिरिक्त वे और अनेक प्रकार की सेवाएं करते हैं, जैसे मूल्यवान् वस्तुओ और सिक्योरिटियो को सुरक्षित रखना, अपने ग्राहकों की ओर से एक एजेंट की भाति कार्य करना, उनकी ओर से हिस्सा-पत्रों और ऋण पत्रों का क्रय-विक्रय करना, क्लब और धार्मिक संस्थाओं को नियमावधि चंदा देना इत्यादि ।

५. साख का उत्पादन और उसकी सीमाएँ (Creation of Credi and its Limitations) :—साख का निर्माण आधुनिक बैंक के उच्चतम कार्यों में से एक है । कभी कभी बैंक साख के निर्माण का एक कारखाना कहा जाता है । हमें देखना चाहिए कि साख निर्माण या उत्पादन का क्या अर्थ है ? बैंकों द्वारा इसका किस प्रकार निर्माण होता है और अंत में यह देखना है कि क्या बैंकों की साख निर्माण की शक्ति

1. Crowther, G.— An Outline of Money, 1950, P. 66.

पूर्ण और असीमित है या कुछ सीमाओ के अन्तर्गत है ?

साख-उत्पत्ति क्या है ? (What is Credit Creation ?):—यह एक प्रत्यक्ष रहस्य है कि बैंक ग्राहकों की मांगों की पूर्ति करने के लिये जमा के हिसाब से शत प्रतिशत सुरक्षित कोष (Reserve) नही रखते। बैंक कोई सामान रखने की (Cloak Room) जगह नही है, जहा कि आप अपने मुद्रा-पत्र (Currency Notes) या मुद्राये रख सके और जब चाहें तब उन्हीं मुद्रा-पत्रों (Currency Notes) या मुद्राओं को वापस ले ले। आप नये नोट और बिल्कुल नई मुद्रा जमा कर सकते है और आपके सामने ही वह किसी दूसरे को फिर उधार दिये जा सकते है, परन्तु आप उसका विरोध नही कर सकते। सामान्यतः यह समझा जाता है, कि बैंक मे आया हुआ धन दूसरों को देने के लिए है एक जमा करने वाले को, बैंक की केवल इस प्रतिज्ञा पर कि वह मागने पर भुगतान कर देगा, सतोष करना पडता है। बैंक यह कार्य बहुत ही छोटे सुरक्षित कोष द्वारा कर लेते है क्योंकि सब ग्राहक अपना धन एक साथ नही निकालने आते। कुछ निकालते है, तो कुछ जमा करते है। एक बैंक मे यह एक साधारण दृश्य होता है। इस प्रकार बैंक एक छोटी रोकड़ संचिति (Cash Reserve) के द्वारा साख का बहुत विशाल भवन निर्माण करने में सफल होता है। बैंक बगैर रोकड दिये धन उधार देने में और उस पर ब्याज लेने मे समर्थ होता है और जैसा कि हमने ऊपर देखा है, बैंक का ऋण एक जमा का निर्माण करता है, या वह उधार लेने वाले के लिए साख का निर्माण करता है।

इसी प्रकार बैंक सिक्योरिटिया खरीदता है और विक्रेता को अपने चेक द्वारा ही भुगतान करता है, जो रोकड नही होती; यह रोकड देने की केवल एक प्रतिज्ञा होती है। चेक किसी बैंक मे जमा कर दिया जाता है और सिक्योरिटी के विक्रेता के लिए रोकड़ द्वारा नही, बल्कि बैंक के केवल साख या विश्वास के कारण ही जमा या साख की उत्पत्ति कर दी जाती है। इसको साख की उत्पत्ति कहते है। बेनहम (Benham) के शब्दो मे साख उत्पत्ति का सकेत इस अवस्था से है: "एक बैंक ब्याज ले सकता है, केवल ग्राहको को अपने लेखा से अधिक धन निकालने की अनुमति देकर या सिक्यूरिटी खरीदकर और अपने ही चेक से उनका भुगतान करके, जिससे कि बैंक मे जमा का योग बढ़ेगा।[1]

साख की उत्पत्ति कैसे होती है ? (How is Credit Created ?)—जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, दो ऐसी रीतिया है जिनके अनुसार बैंक साख उत्पत्ति करता है।

(१) रोकड़ साख (Cash Credit) के आधार पर ऋण दकर या जमा से अधिक रकम उधार देने (Overdraft) की व्यवस्था करके अर्थात् अपने ग्राहकों को उनके लेखा से अधिक निकालने की अनुमति देकर; और

१. Benham—Economics, 1940 p. 354.

(२) सिक्योरिटिया खरीद कर उनका भुगतान अपने ही चेक द्वारा करके।

इन दोनो अवस्थाओ मे जमा की उत्पत्ति होती है या ऋणी के लिए साख की उत्पत्ति होती है और बैक की साख किसी निश्चित लेन-देन मे लगा दी जाती है। बहुत ही थोडी रोकड़ सचिति (Cash Reserve) लेन-देन के दायित्व को पूरा करने के लिये बैक मे रखी जाती है। इस प्रकार उत्पन्न की हुई साख एक बहुत बड़ी रकम के बराबर हो जाती है।

अब हम वास्तविक विधि का निरीक्षण करेगे। मान लीजिये एक ग्राहक एक बैक मे १००० रुपये जमा करता है। बैक को उसे व्याज देना पडेगा, इसलिये बैक इस रकम को किसी सुरक्षित और लाभदायक विनियोग (Investment) मे लगाने का प्रयत्न करेगा। उसे धन किसी न किसी को उधार देना पड़ेगा। परन्तु यह रकम वास्तव में ऋणी को नही दी जाती; बैक इसे लेन-देन के दायित्व अर्थात् उन जमा के भुगतान करने के लिए, जो रोकड चाहते है और उनके लिये जो चेक लिखते है, अपने पास रख छोड़ते है। बैकर का अनुभव उन्हे बतलाता है कि इस काम के लिये रोकड़-संचिति का सपूर्ण दायित्व का केवल एक विशेष भाग रखने की ही आवश्यकता होती है। इग्लैड जैसे देशों में, वह लगभग १० प्रतिशत रखते है। भारतवर्ष जैसे देशों मे, जहां बैकिग की आदत अभी पूरी तरह विकसित नही हुई है, दायित्व मे रोकड़ का अनुपात बहुत ऊंचा है। मान लीजिये, वह बैक, जिसमे किसी जमा करने वाले ने, १००० रुपये जमा किये है, जमा करने वालों की माग पूरी करने के लिये २०% 'रोकड़ कोष' रखता है। इसका अर्थ है कि जैसे ही बैक के पास १००० रुपये आते है वैसे ही वह ५००० रुपये तक अग्रिम ऋण देने के लिये तैयार हो जायगा (सचिति का केवल पाचवां भाग रखा जाता है) इसलिये जब कोई व्यापारी बैक से ५००० रुपये के ऋण की मांग करता है, तो वह यह विश्वास कर सकता है कि उसको इस सीमा तक ऋण मिल जायगा बशर्ते कि उसकी साख ठीक है। हालाकि बैक के पास केवल १००० रुपये नकद है, फिर भी वह ५००० रुपये उधार दे देता है। इस प्रकार वह साख क्षेत्र मे आ जाता है। ऋणी को साख नकद के रूप में नही दी जाती। केवल उसके नाम से एक खाता खोल दिया जाता है और वह रकम उसके खाते मे जमा कर दी जाती है। उसको केवल एक चेक-पुस्तक दे दी जाती है अर्थात् उसको इच्छानुसार किसी भी समय चेक द्वारा नकद लेने का अधिकार दे दिया जाता है। जब भी वह नकद बैक से निकालता है, तो वह किसी दूसरे बैक मे भी जमा किया जा सकता है, क्योंकि व्यापारी लोग बक्स में बन्द करके रखने के लिये नही, बल्कि अपना व्यापार चलाने के लिये और अपने साहूकारों को भुगतान करने के लिये ऋण लेते है। जब यह व्यापारी अपने साहूकारों को भुगतान करने के लिये इस बैक को चेक लिखता है, तो ये चेक उन साहूकारों के द्वारा उनके बैकों में पहुंच जाते है और वहा वह रकम उनके तो ये चेक उन साहूकारों के द्वारा उनके बैको में पहुंच जाते है और वहा वह रकम उनके

को बैंक क्लियरिंग पद्धति के द्वारा पूरा कर सकते है। इस प्रकार एक बैंक १००० रुपये की नकद संचिति पर ५००० की साख की उत्पत्ति करने में सफल होता है।

परन्तु साख उत्पत्ति की क्रिया यहा पर ही समाप्त नही होती। बैंक सामान्यतः अपना बचा हुआ नकद केन्द्रीय बैंक मे रखते है। १०००) रु० का एक भाग इस प्रकार से, केन्द्रीय बैंक मे जमा रहेगा, जो उसे फिर और अधिक साख की उत्पत्ति करने मे प्रयोग मे लायेगा। जिस प्रकार बैंक केन्द्रीय बैंक मे जमा किये हुए नकद आधिक्य पर भरोसा रख कर, साख की उत्पत्ति किया करते है, उसी प्रकार शाखा बैंक भी मुख्य बैंक पर भरोसा रख कर अपने ग्राहकों को सतुष्ट करते रहते है। इस प्रकार साख उत्पत्ति का कार्य चलता रहता है। साख उत्पन्न करने की यह एक रीति है।

साख उत्पत्ति की दूसरी रीति बहुत मामूली है। बैंक बिना नकद का भुगतान किये हुए सिक्योरिटी खरीद सकता है। वह क्रय मूल्य का भुगतान करने के लिये अपना ही चेक देता है। वह चेक या तो उसी बैंक में या किसी दूसरे बैंक में जमा कर दिया जाता है। ओर थोडी-सी नकद-संचिति, जो बैंक अपने पास रखता है, ऐसे लेन-देन के दायित्व को पूरा करने के लिये पर्याप्त होती है।

इस प्रकार नकद की एक छोटी-सी नीव पर साख के एक विशाल भवन का निर्माण किया जाता है।

परिमितताएं (Limitations)--साख-उत्पत्ति के वर्णन से, जो ऊपर दिया गया है, यह मालूम हो जाता है कि "बैंक बिना कुछ बोए ही फल प्राप्त करते है," वह बिना नकद दिये हुए उधार देते है या सिक्योरिटी खरीदते है। और उसी प्रकार वे अपने दिये हुए ऋण पर ब्याज लेते है और खरीदी हुई सिक्योरिटी पर लाभाश प्राप्त करते है। यह अति आकर्षक है कि वह बिना नकद लगाये लाभ प्राप्त करते है। साख का यह एक जादू है। यह बैंक द्वारा निर्मित साख का जादू है, जो काम करता है। वह सचमुच, जितना अधिक हो सकता है, उतना अधिक लाभ उठाना चाहेगे। परन्तु वह अनिश्चित काल के लिये साख का विस्तार नही कर सकते। अपनी ही रक्षा के लिए उन्हें रोकड लगानी पडेगी, और वे लगाते भी है, क्योंकि यह तो सर्वविदित है कि बैंकों के लाभ बहुत अधिक नही होते। सब से बड़ी परिमितता यह है **कि बैंक को जमा करने वालों की मांग के दायित्व को पूरा करना होता है।**

बेनहम ने बैंकों की साख उत्पन्न करने की शक्ति की तीन परिमितताएं बतलाई हैं:—

(१) देश में नकद की कुल रकम ; (२) रकम की मात्रा, जो जनता चाहती है कि वह रक्खे; और (३) नकद से जमा का न्यूनतम प्रतिशत जो बैंक सुरक्षित समझते है।

(१) पहले के बारे में यह कहा जा सकता है कि नकद के आधार पर साख की

उत्पत्ति की जा सकती है। नकद अर्थात् विधि-ग्राह्य-मुद्रा साख जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही अधिक साख की उत्पत्ति की जा सकती है। परन्तु नकद की वह रकम, जो बैंक के पास है, केन्द्रीय बैंक के नियंत्रण के अन्तर्गत होती है। हम लोग दूसरे अध्याय मे इस प्रकार के प्रभाव के बारे मे विस्तारपूर्वक अध्ययन करेगे। यहा पर यह बतला देना पर्याप्त है कि केन्द्रीय बैंक नकद निकालने पर एकाधिकार रखता है। वह उसको बढा सकता है और कम कर सकता है और साख उसी के अनुसार विकसित या संकुचित होगी। केन्द्रीय बैंक की मुद्रा-नियंत्रण शक्ति बैंको की साख उत्पन्न करने की शक्ति के क्षेत्र पर नियंत्रण-कारी प्रभाव रखती है।

दूसरी सीमा लोगों के नकद के प्रयोग से संबधित आदतों के कारण होती है। यदि स्वभाव से लोग नकद व्यवहार में लाते है और चेक नही, जैसे कि भारतवर्ष में, तो जैसे ही ऋणी को बैंक साख देता है, वैसे ही वह चेक का भुगतान करा लेगा और नकद ले लेगा। जब बैंक का नकद इस प्रकार कम हो जाता है तो उसकी साख उत्पन्न करने की शक्ति भी क्रमशः संकुचित हो जाती है। इसके विपरीत यदि लोग नकद का व्यवहार केवल छोट-मोटे लेन-देन के लिये ही करते हों, तो बैंकों की नकद सचिति अधिक कम नही होती और उनकी साख उत्पन्न करने की शक्ति का भी ह्रास नही होता। अमरीका, इंग्लैंड जैसे उन्नतिशील देशो में ऐसा होता है। वहा पर बैंक मुश्किल से १०% नकद सचिति रखते है।

तीसरी सीमा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसकी उत्पत्ति होती है नकद और दायित्व के परम्परागत संचिति अनुपात के कारण जो बैंकों को, अपनी रक्षा के लिए और उचित मात्रा में द्रवता (Liquidity) बनाये रखने के लिये अवश्य रखना चाहिए। यह बहुत ही सीधी-सी बात है कि जब कोई बैंक साख की उत्पत्ति करता है या ऋण देता है, तो वह दायित्व का भार अपने ऊपर लेता है। उसके दायित्व मे वृद्धि होती है और उसके फलस्वरूप संचिति अनुपात में कमी होती है। बैंक उस अनुपात को एक विशेष न्यूनतम स्तर के नीचे नही गिरने देगा। जब यह न्यूनतम स्तर की दशा आ जाती है, तो बैंक की साख उत्पन्न करने की शक्ति का अन्त हो जाता है। उस समय और अधिक ऋण देने मे जोखिम रहती है, जब तब कि बैंक अनुभव यह न बता सके कि और अधिक छोटे अनुपात से हानि न होगी। तब वह उसकी सीमा हो जायगी।

इनमें चौथी सीमा जोड़ी जा सकती है। बैंक बिना संपत्ति (आदेय) के पाये साख का उत्पादन नही कर सकते। आदेय एक प्रकार का धन होता है। इस प्रकार बैंक केवल गतिहीन धन को गतिशील धन बना देता है। अतएव क्राउथर के शब्दों में, "बैंक हवा से द्रव्य का निर्माण नही करता—यह अन्य प्रकार के धन को द्रव्य के रूप में परिवर्तित कर देता है।[१]

१. Crowther, G.—An Outline of Money, 1950, P. 30.

अतएव साख के निर्माण के मूल गुण यह है कि बैंक को नए रोकड़ रिजर्व मिलें, वे उनको उधार देने को तथा व्यवसायी उधार लेने को तैयार रहें, और उधार लेने वाले कर्ज को वापस न लें परन्तु बैंक में जमा के रूप में पड़े रहने से संतुष्ट रहें।

क्या बैंक वास्तव में साख का उत्पादन करते हैं?—ऊपर दिये उदाहरणों से तो ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु वाल्टर लीफ तथा कैनन[१] जैसे अर्थशास्त्री भी हैं जिनको इस दृष्टिकोण पर बहुत आपत्ति है। वे कहेंगे "यदि कोई ऋण नही लेता तो बैंक किस प्रकार साख उत्पन्न कर सकते है।" इस कार्य का सूत्रपात उधार लेने वालों के हाथ में है। इसके अतिरिक्त उधार लेने वाला अपने आधिक्य का कुछ भाग निकाल सकता है। उस सीमा तक निक्षेप विलीन हो जाता है। इसीलिये निक्षेप की उत्पत्ति होती है उस रकम से, जो निकाली नही गई है, न कि उस रकम के द्वारा, जो उधार दी गई है।

इस विचारधारा का उत्तर हम यह मानते हुए दे सकते है कि बैंक की साख उत्पादन-शक्ति पूर्ण और सीमा-रहित नही है। बैंक इस विचार से कई त्रुटियों के कारण हानि उठाते हैं।

६. सुरक्षित कोष का रखना (Maintenance of Reserves)—अच्छे बैंकिंग का रहस्य पर्याप्त कोष को बनाये रखना और उसके साथ हिस्सेदारों (Shareholders) के लिए लाभ प्राप्त करना है। हमने देखा है कि बैंक दूसरे लोगों के द्रव्य से व्यापार करता है; वह इस दृष्टि से कि वह द्रव्य सूचना देकर या बिना सूचना के बैंक से निकाला जा सकता है। परन्तु अनुभव से बैंकर यह जानते है कि जमा का केवल एक छोटा भाग ही वास्तव में निकाला जाता है। उनका उद्देश्य इसीलिये यह रहता है कि मांग पूरी करने के लिये पर्याप्त कोष रखना और शेष धन को उधार देकर लाभ उठाना। इसमें पर्याप्त कुशलता की आवश्यकता होती है। अत्यधिक सावधानी का अर्थ होगा कम लाभ और अत्यधिक ऋण देने से बैंक सुरक्षित न रहेगा। दोनो मे सामंजस्य लाना आवश्यक है, परन्तु यह काम आसान नही है। क्योंकि चाहे जिस रूप तथा मात्रा में वे अपने रिजर्व को रखें वे सामान्य समय बेकार होगे और जमा करने वालों के विश्वास के हटने पर अपर्याप्त रहेंगे। बैंक मे सुरक्षित कोष या रिजर्व का रखना निम्नलिखित बातों से निर्धारित होता है।[२]

(१) बैंक के जमा में रोज के उतार-चढ़ाव।

(२) ग्राहकों के उधार की आवश्यकता में कमी-बेशी।

(३) गौण कोष की प्रकृति; तथा बैंकिंग प्रणाली में कोष व्यवस्था की प्रकृति।

साधारणतया बैंक अपनी संपत्ति को द्रव साधनों या नकद में परिवर्त्तनशीलता

---

१. See Sen and Das, 1947, p. 284.

२. Kilborne and Woodworth—Principles of Money and Banking 1937, p. 291

के घटते हुए क्रम में रखता है। इसकी सुरक्षा की पहली लाइन जैसे कि कहा जाता है, एक विशेष मात्रा में वास्तविक नकद का रखना है। यह नकद या तो मुद्रा के रूप में या मुद्रा-पत्र के रूप में या केन्द्रीय बैंक में बचत के रूप में रखा जाता है। सभी आधुनिक देशों में मुद्रा-पत्रों का जारी करने का कार्य राज्य के दृढ़ नियमन के अन्तर्गत, एक एकाधिकार की भांति, केन्द्रीय बैंक को दे दिया जाता है।

केन्द्रीय बैंक के आधिक्य सदैव विधि-ग्राह्य मुद्रा के रूप मे निकाले जा सकते है। बैंक इन आधिक्यों को इसलिये नकद की भाति मानते है। सभी मुख्य बैंक कानूनी तौर पर देश के केन्द्रीय बैंक में अपने दायित्व के एक विशेष भाग को रखने के लिये बाध्य होते है। यहां पर यह कह सकते है कि इस प्रकार के आधिक्य का अस्तित्व केन्द्रीय बैंक को दूसरे बैंकों की साख विस्तार पर नियन्त्रण करने की शक्ति प्रदान करता है। केन्द्रीय बैंकों का अध्ययन करते समय हम इस शक्ति के उपयोग को भी देखेंगे।

कोष या रिजर्व को कायम रखने के लिये सुरक्षा की दूसरी दीवार वह धन है जो अति अल्पकाल के लिये उधार दिया गया है। इसमे वे ऋण शामिल होते है जो बिलो या हुंडियों के दलालों को दिये जाते है। स्टाक एक्सचेंज को दिये जाने वाले ऋण भी इसमें शामिल होते है। इस प्रकार के ऋण मांग पर या कुछ दिनों के अन्दर वापिस लिये जा सकते है।

इसके पश्चात् हुंडियों के बट्टे का काम आता है। ज्योंही वे पूरी होती है, भुनायी जा सकती है। यह या तो सरकारी बिल होते है या व्यावसायिक हुंडियां।

इसके बाद विनियोग आता है। यह मुख्यतर सरकारी सिक्योरिटियां होती है। निर्धारित व्याज देने वाली सिक्योरिटिया इस कार्य के लिये बहुत लोक-प्रिय है क्योंकि इनमे वास्तव में कोई जोखिम नही होता।

अन्त में ग्राहको के अग्रिम (Advances) आते है। वे ऋण या अधिविकर्षणों (Overdrafts) का रूप ले सकते है। वे सब से अधिक लाभ देते है, हालांकि उनमें जोखिम भी सब से अधिक है क्योंकि वे न्यूनतम अस्थिर होते है।

७. द्रवता का महत्व (Importance of Liquidity)—वह अनुपात, जिसके अनुसार अनेक रूप में आदेय रखा जाता है, एक देश और दूसरे देश में, एक बैंक और दूसरे बैंक में, और व्यापार की अवस्था के अनुसार अलग-अलग है। संपत्ति की द्रवता जितनी ही अधिक होगी, उतना ही अधिक विश्वास उस पर किया जायगा परन्तु उसके लाभ उतने ही कम होंगे।

समस्त बैंकिंग व्यापार बैंक की मांग पर, धन के वापस देने की योग्यता के ऊपर, लोगों के विश्वास पर निर्भर है। यदि किसी भी कारणवश यह विश्वास हट जाता है, तो बैंक के प्रति एक "दौड़" शुरू हो जाती है अर्थात् जिसका भी धन उसमें जमा है, वह उसे निकालने के लिये उतावला हो जाता है। कोई भी बैंक यह "दौड़" सहन नही कर

सकता, क्योंकि समस्त जमा नकदी की अवस्था में नही होता। इसलिए एक बैंक के लिए केवल यही आवश्यक नही है कि वह अपनी संपत्ति के एक विशेष भाग को द्रव-साधन के रूप में रखे बल्कि उसे यह भी देखना चाहिये कि उसकी दृढ़ता पर से लोगों का विश्वास न हटे। विश्वास बनाये रहने के लिए सब से अच्छा मार्ग यह है कि घबराहट के समय खूब ऋण दिया जाय। ऐसे समय में केन्द्रीय बैंक भी सदस्य बैंकों की सहायता करते हैं।

लोगों को अपनी आर्थिक दशा से सूचित रखने के लिये बैंकों के लिए कानूनी रूप से यह आवश्यक है कि वे अपने चिट्ठे को प्रकाशित करे। किसी बैंक का स्थिति-विवरण (Balance Sheet) उसकी आर्थिक दशा का विवरण है। साधारणतया इस प्रकार का विवरण आर्थिक वर्ष (Financial Year) के अन्त में निकाला जाता है। केन्द्रीय बैंक यह विवरण प्रति सप्ताह निकालता है। विवरण दो खानों में बनाया जाता है। बाई ओर वाले खाने मे बैंक का दायित्व (Liabilities) रहता है और दाई ओर के खाने में आदेय (Assets)। दायित्व वह धन है, जो बैंक को देना है और आदेय वह है, जो दूसरों को बैंक को देना है और जो कुछ भी बैंक के पास उस समय हो।

साधारणतः एक बैंक का चिट्ठा इस प्रकार होता है :—

दायित्व (Liabilities)	आदेय (Assets)
पूँजी (Capital)	नकद (Cash)
सुरक्षित कोष (Reserve Fund)	केन्द्रीय बैंक में जमा नकद (Cash at Central Bank)
जमा (Deposits)	मांगने पर तुरन्त मिलने वाला द्रव्य (Money at Call)
ग्राहकों के लिए स्वीकृतियां (Acceptance for Customers)	भुनाये हुए बिल (Bills Discounted)
	ग्राहकों को अग्रिम (Advances to Customers)
	विनियोग (Investments)
	स्वीकृति के लिए गाहकों का दायित्व (Liabilities of Customers for Acceptance)
	भवन तथा अन्य सम्पत्ति (Premises and other Property)

बैंक अपने विवरण में यह दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि उनकी दशा अति

दृढ़ है। यह कार्य वे एक बड़ी नकद संचिति रख कर या संचिति और दायित्व का उच्चतर अनुपात रख कर पूरा कर सकते है। इस उद्देश्य से वे उन रकमों को वापस मांगते है, जो मांग पर या अल्प सूचना पर वापस कर देने की शर्त पर दी गई थी और यह विश्वास दिलाते है कि दूसरे दिन फिर से वे उधार दे देंगे। इस प्रकार का एक सुन्दर दिखावा करने को "अभिविन्यासन" (Window Dressing) कहते है।

८. बैंकों की उपयोगिता (Usefulness of Banks)—इस समय तक यह बात समझ में आ जानी चाहिये कि बैंक आधुनिक समाज के लिये अति उपयोगी ही नही वरन् अनिवार्य भी है। "बैंकर, अस्थिर पूजी के जो हमारे व्यावसायिक और औद्योगिक क्रियाओं की जीवन-रक्त है, रक्षक तथा वितरक है और उनके प्रशासन की योग्यता पर ही हमारे राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि निर्भर है।"[1] इस प्रकार स्टीफनसन (Stephenson) और ब्रैंटन (Branton) ने बैंकों के महत्व के विषय में लिखा था। अधिक वास्तविकता से हम बैंकों की उपयोगिताओं को इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं।

(१) वे बैंक नोट, चेक, बिल और ड्राफ़्टों के रूप में क्रय-शक्ति की उत्पत्ति करते है और इस प्रकार मूल्यवान् धातुओं के व्यवहार में मितव्ययिता करते हैं।

(२) वे उधार देने वालों और उधार लेने वालों को इकट्ठा करके, और चेक, बिल और ड्राफ़्टो के द्वारा निधियों को एक स्थान से दूसरे स्थान और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास सुविधापूर्वक और कम खर्चीले तौर पर ले जाने में सहायता दे कर धन को अधिक गतिशील बनाते है।

(३) वे लोगों में धन की बचत करने की आदत को प्रोत्साहन देते है और इस प्रकार छोटी-छोटी बचतें, जो वैसे इधर-उधर बेकार पड़ी रहती, मिल कर बड़ी रकम हो जाती है और जो विभिन्न प्रकार के विनियोगों में लगाई जा सकती है।

(४) बचत और विनियोग को प्रोत्साहन देकर बैंक देश के साधनों की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाते है, जिससे कि सार्वजनिक उन्नति और कल्याण करने में वे सहायक होते है।

बिना बैंकों के संसार में आर्थिक उन्नति के वर्तमान स्तर की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

दुर्भाग्यवश, भारतवर्ष में बैंकिग की सुविधाएं बहुत कम हैं और यह अनेक कारणों में से एक है कि हमारे प्राकृतिक और मानवीय साधनों से उचित मात्रा में लाभ क्यों नही उठाया जा सका है।

1. Economics of Banking, Trade and Finance, p. 120.

कुछ ऐसे विशेष और अति महत्वपूर्ण कार्य है, जो एक देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाते हैं। अब हमें इनके अध्ययन की ओर ध्यान देना चाहिये।

निर्देश पुस्तकें

Meyers, A.L.—Elements of Modern Economics, 1951, ch. 21.
Samuelson, P.A.—Economics, 1948, ch. 14.
Keynes, J.M.—A Treatise on Money, 1950, Vol. I, ch. 3.
Coulborn, W.A.L.—A Discussion of Money, 1950, ch. VI.
Sayers, R.S.—Modern Banking, 1947, Ch. II.
Bradford, F.H.—Money & Banking; 1936, ch. V.
Dowrie, G.W.—Money & Banking, 1936, ch. VIII.
Foster, M.B. and Rodgers, R.—Money & Banking, 1936, ch. VIII and V.
Steiner, N.H.—Money & Banking, 1933 ch. VII.
Truptil, R. J.—British Banks and the London Money Market, 1936.
Crowther—An Outline on Money, 1950, ch. II, P.22-42.
Benham—Economics, 1940, pp. 348-358.
Brij Narain—Money and Banking (S. Chand & Co.)

अध्याय ३८

द्रव्य-बाज़ार तथा केन्द्रीय बैंक

(MONEY MARKET AND CENTRAL BANKS)

१. द्रव्य बाज़ार (Money Market)—हम देख चुके है कि अर्थशास्त्र में "बाजार" शब्द का अभिप्राय किसी क्षेत्र या स्थान से नही होता वरन् उस समस्त प्रदेश से होता है जहा-जहा विक्रेता होते है। परन्तु 'द्रव्य बाजार' क्या है ? यह देखना है कि द्रव्य बाजार में क्रेता और विक्रेता कौन होते है? तथा ये क्रेता और विक्रेता किस वस्तु का आदान-प्रदान करते है ?

'द्रव्य बाजार' का तात्पर्य कोई विशेष बाजार या चौक नही है, जहा नगर के बैंकों के अधिकांश कार्यालय स्थित हों।

"द्रव्य बाजार"—यह शब्द भी किसी क्षेत्र की ओर संकेत नहीं करता वरन् विनिमय-संगठनों के समूहो की ओर सकेत करता है। द्रव्य को उधार लेने तथा देने वाले ही विनिमय कर्ता या विक्रेता है और द्रव्य ही क्रय-विक्रय की वस्तु है। उधार लेने वाले द्रव्य के खरीदार है। वे द्रव्य के उपयोग का अधिकार प्राप्त करना चाहते है। द्रव्य बाजार की माग का पक्ष ये ही लोग निर्मित करते है। द्रव्य को उधार देने वाले विक्रेता है। ये लोग पूर्ति का पक्ष बन जाते है। जिस व्याज की दर पर द्रव्य उधार लिया या दिया जाता है, वही द्रव्य का मूल्य है। बैंक उधार देने वाले है (ये जनता से रुपया जमा करा कर उधार लेते भी है।) हुंडी (बिल) स्वीकार करने वाले अभिकरण, कटौती घर, रुपया लगाने वाले तथा अन्य कारोबारी लोग—ये उधार लेने वाले है। इनमें से कुछ ऐसे होते है जो बैंकों से उधार लेकर दूसरों को उधार देते है।

२. द्रव्य-बाज़ार के अंग अथवा सदस्यगण (Constituents or Members of the Money Market)—द्रव्य-बाजार किन लोगों की बन है; तथा द्रव्य-बाजार के सदस्य कौन है ? द्रव्य-बाजार किन लोगों की बनती है, यह तो हम संकेत कर चुके है। महाजन, दलाल, कटौती घर तथा रुपया लगाने वाले लोग—ये ही द्रव्य बाजार के सदस्यगण है। सब से ऊपर केन्द्रीय बैंक होता है, जो देखभाल तथा नियन्त्रण का कार्य करता है।

भारतीय द्रव्य-बाजार निम्नलिखित से बना हुआ है—रिजर्व बैंक, इम्पीरियल बैंक तथा अन्य मिश्रित बैंक, विनिमय बैंक, सहकारी बैंक, भूमि-बन्धक बैंक, सरकारी डाकखानों के सेविग बैंक, तथा अन्य पुरानी चाल के महाजन। भारतीय द्रव्य-बाजार के दो निश्चित विभाग है। एक तो देशी महाजन है, दूसरे आधुनिक बैंकिग संस्थाएं है।

भारतीय द्रव्य-बाजार पूर्ण रूप से विकसित नही है तथा इसका संगठन भी सुदृढ़ नही है। पुराने ढंग के (देशी) महाजन जिनके हाथों से लगभग ९० प्रतिशत महाजनी कार्य होते है, अपना अलग अस्तित्व रखते है। दोनो विभागों में कोई एका नही है। अतः रिजर्व बैंक की आकलन को नियन्त्रित करने की शक्ति बिलकुल सीमित है। विनिमय की कई दरें प्रचलित रहती है तथा वित्त-विषयक सामयिक खीचा-तानी अकसर देखने मे आती है। भारतीय द्रव्य-बाजार की एक और विशेषता यह है कि बिल-बाजार का विकास नही हुआ है। द्रव्य-बाजार मे व्यावसायिक महाजनी का बोलबाला है, तथा औद्योगिक वित्त-आयोजन तथा दीर्घकालीन ऋणो की सुविधा बहुत कम है। धन गाडने की आदत का होना तथा बैंक में जमा कराने की आदत का न होना––ये भारतीय द्रव्य-बाजार के समुचित विकास के मार्ग मे कठिनाइया है।

३. केन्द्रीय बैंक (Central Bank)––देश की आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने वाली संस्था केन्द्रीय बैंक है। राष्ट्र की अन्तिम सचित निधि इसी के हाथ मे होती है। क्रयशक्ति के प्रवाह का नियत्रण भी इसी के हाथ मे होता है तथा यह संस्था राज्य के लिये बैंक-सम्बन्धी कार्य सम्पादित करती है।

पिछले वर्षो मे केन्द्रीय बैंकों का महत्व बहुत बढ गया है। इसके कई कारण है। विभिन्न देशो के भीतरी तथा उनके आपसी आर्थिक जीवन में स्वातन्त्र्य की वृद्धि; मुद्रा प्रवाह के प्रबन्ध तथा नियंत्रण की अधिकाधिक आवश्यकता; सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के पश्चात् मुद्रा-स्फीति तथा विनिमय-विषयक गडबड़ी; भारी मन्दी का युग तथा उसके परिणाम के रूप में यह जानकारी कि केन्द्रीय बैंको द्वारा द्रव्य के सम्भरण को नियंत्रित करने से, भावो मे घट-बढ़ का कुचक्र बहुत कुछ सुधारा जा सकता है; हाल ही में विभिन्न देशों की आर्थिक पद्धतियो में योजनानुसार नियम का प्रारम्भ किया जाना––इन्ही समस्त कारणों के आधार पर एक ऐसी संस्था का महत्व बढ गया है, जो उन जटिल तथा विरोधी विषयों को नियंत्रित करे, उनका प्रबन्ध करे और उनमे सामजस्य स्थापित करे, जो विषय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिरता को प्रभावित करते रहे है।

इग्लैंड ने अपने केन्द्रीय बैंक (बैंक आफ इग्लैंड) को सन् १६९४ मे ही स्थापित कर लिया था। फ्रास तथा जर्मनी सरीखे अन्य महत्वपूर्ण राष्ट्रो ने अपने केन्द्रीय बैंक प्रथम महायुद्ध के बहुत पूर्व स्थापित कर लिये थे। सयुक्त राष्ट्र की फेडरल रिजर्व प्रणाली सन् १९१४ मे स्थापित हुई। केन्द्रीय बैंक का महत्व प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उत्पन्न होने वाली मुद्रा-विषयक कठिनाइयो के दिनो में विशेषरूपेण समझा गया। यह आवश्यक हो गया कि विभिन्न बैंकों की उन नीतियो को जो अधिकतर स्वार्थपूर्ण होती थी, नियंत्रित रखने के हेतु एक बैंक रहे। सन् १९२० में ब्रुसेल्स में एक आर्थिक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने आधुनिक समस्त देशों में केन्द्रीय बैंको की स्थापना पर बहुत जोर दिया। फलस्वरूप अब लगभग प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक है। भारतीय केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व

बैंक आफ़ इंडिया सन् १९३५ में स्थापित हुआ।

४. रिज़र्व बैंक का तलपट या स्थिति विवरण (Reserve Bank Balance Sheet)—रिजर्व बैंक आफ़ इंडिया भारत का केन्द्रीय बैंक है तथा द्रव्य-बाजार की आधार-शिला है। इसका पाक्षिक विवरण प्रकाशित होता है। इंग्लैंड में बैंक आफ़ इंग्लैंड को द्रव्य-बाजार का मापयन्त्र माना जाता है। कारण यह है कि लन्दन का बाजार एक सुसम्बद्ध तथा गुथी हुई पद्धति का द्योतक है। भारत मे ऐसा नही है। अतः भारतीय रिजर्व बैंक के विवरण को हम भारतीय द्रव्य-बाजार का सच्चा मापयत्र नही कह सकते।

पाक्षिक रिजर्व बैंक विवरण के दो भाग होते है—१. निकासी विभाग से सम्बन्धित विवरण तथा २. महाजनी या बैंकिग विभाग से सम्बन्धित विवरण। २३ फरवरी १९५१ को समाप्त होने वाले सप्ताह का रिजर्व बैंक-विवरण निम्नलिखित है.—

निकासी-विभाग (Issue Department)

(रुपयो की संख्या लाखो मे)

दायित्व (Liabilities)		आदेय (Assets)	
महाजनी विभाग में—१३,४२		(अ) सुवर्ण मुद्रा तथा बुलियन:—	
परिभ्रमण में—१,२१७,२१		(१) भारत मे—४०,०२	
		(२) भारत के बाहर—कुछ नही	
		विदेशी प्रतिभू—६५८,१५	
		(अ) का योग—६९८,१७	
		कुल दायित्व का (अ) कितना प्रतिशत है—	५६.७३
		(ब) मुद्रा (रुपये)	
		जिसमें एक एक रुपये के सरकारी नोट भी है।	५५,८३
		रुपये की प्रतिभूतियां	४७६,६३
कुल दायित्व	१,२३०,६३	कुल सम्पत्ति	१,२३०,६३

बैंङ्किग विभाग (Banking Department)

दायित्व (Liabilities)		आदेय (Assets)	
चुकता पूंजी—	५,००	नोट तथा मुद्रा—	१३,५४
रक्षित निधि—	५,००	बाहर लेना बाकी—	१९८,४१

जमा:—		ऋण तथा अग्रिम धन के रूप में सरकारों	
(क) केन्द्रीय सरकार	१६४,०५	को दिया—	३,३७
(ख) अन्य सरकारें	१३,३६	अन्य ऋण तथा अग्रिम धन	४,५६
(ग) बैंक—	५७,८३	बिल खरीदे, तथा कटौती लगाई	२,६१
(घ) अन्य—	६६,००	विनियोग	१००,५५
अन्य दायित्व—	१९,९९	अन्य आदेय	८,२०
कुल दायित्व	३३१,२४	कुल आदेय	३३१,२४

हम इनमे से प्रत्येक को समझाने का प्रयत्न करेगे। **पहले निकासी विभाग को लीजिये।**

जितने नोट निकाले जाते है सब निकासी विभाग के दायित्व के रूप मे होते हैं। जब नोट का रुपया मागा जाय तभी नकद देना होगा। चाहे ये नोट जनता मे चलते हों या बैकिग विभाग में, इन नोटो के सम्बन्ध मे दायित्व निश्चित है। ये विधि ग्राह्य (Legal Tender) होते है तथा बैंक इनका प्रयोग अपने दायित्वो को चुकाने में कर सकता है। परन्तु यही नोट निकासी विभाग के दायित्व है, क्योकि उससे किसी समय उनके बदले में नकद रुपया देने को कहा जा सकता है।

दायित्व की दृष्टि से जितने नोटों की निकासी है, वह आदेय में दी हुई रक्षित निधि से चुकाई जा सकती है। सपत्ति मे दी हुई रक्षित निधि में निम्नाकित अश होते है जो मिलकर रक्षित निधि कहलाते है। ये दो प्रकार के होते है:—

(१) सुवर्ण मुद्रा और बुलियन तथा स्टर्लिंग सिक्योरिटी तथा (२) मुद्रा (रुपये) तथा रुपये के रूप मे सिक्योरिटी। ये भारतीय सरकार की उसी प्रकार सिक्योरिटी होती है, जैसे ब्रिटिश सरकार की स्टर्लिंग सिक्योरिटी होती है।

रिजर्व बैंक अधिनियम सन् १९३५ के अनुसार कम से कम ४० करोड़ का सुरक्षित (कोष) सुवर्ण मुद्रा तथा बुलियन मे अवश्य होना चाहिये। प्रस्तुत तलपट में ४०.०२ करोड है। अधिनियम मे दूसरा उपबन्ध यह है कि कुल सुरक्षित कोष में कम से कम ४० प्रतिशत सुवर्ण तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतिया होनी चाहिये। प्रस्तुत बैंक-विवरण में यह अनुपात ५६ प्रतिशत से अधिक है। इससे प्रगट होता है कि स्थिति बहुत दृढ है।

अब बैंकिंग विभाग को ले लीजिये—दायित्व का सब से प्रमुख अंश जमा रकम का है। इस रकम में से अधिकतर सार्वजनिक अर्थात् सरकारी जमा रकमें तथा परिशिष्टांकित बैंकों की जमा रकमें है। अन्य जमा रकमें फुटकर है जैसे कर्मचारी-गण के वेतन का अवितरित भाग अथवा अन्य कोई रकम, जिसका जमा-खर्च नही हुआ हो उदाहरणार्थ, इम्पीरियल बैंक की कोई रकम।

अन्य दायित्वों में पूंजी, रक्षित निधि, तथा हानि-लाभ का हिसाब मुख्य हैं।

आदेय में नोट, रुपये तथा अन्य मुद्रा है। कटौती लगाये हुए बिलों का अर्थ है वे बिल जिनका मूल्य, बैंक ने अपनी कटौती काटकर, उनके तात्कालिक मूल्य के आधार पर

चुका दिया है। जब इन बिलों के भुगतान का समय आयगा, बैंक रुपया ले लेगा। 'बाहर लेना बाकी' का अर्थ है वह रकम जो विदेशी बैंकों में जमा है। 'अन्य ऋण तथा अग्रिम धन' का अर्थ है परिशिष्टाकित बैंको तथा प्रातीय सहकारी बैंकों को दिया गया रुपया। सरकारी प्रतिभूतिया तथा खजाने के बिल जो खरीदे गये है, 'विनियोग' (Investment) है। अन्य आदेय अन्य दायित्वों के समानान्तर है तथा इसमे मेज, कुर्सी आदि, साज सामान, लेखन सामग्री तथा बैंक की अन्य सम्पत्ति है।

५. केन्द्रीय बैंकिग के सिद्धान्त (Central Banking Principles)– केन्द्रीय बैंकिग जिन सिद्धान्तों पर संचालित होती है, वे सामान्य बैंकिग सिद्धान्तों से बिलकुल भिन्न है। (१) साधारण बैंक लाभ के लिये चलाया जाता है। जब तक रिजर्व बना रहे, साधारण बैंक कोई भी ऐसा कारोबार कर सकता है जिसमे लाभ हो। किन्तु केन्द्रीय बैंक देश की वित्त-विषयक तथा आर्थिक स्थिरता विषयक जिम्मेदारी निभाने के लिए चलाया जाता है। डी काक का कथन है कि "केन्द्रीय बैंक का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि उसे सार्वजनिक हित की दृष्टि से तथा समूचे राष्ट्र के हितार्थ कार्य करना चाहिये तथा लाभ को प्रधानता नही देनी चाहिये।"[१] लाभ उपार्जन करना तो केन्द्रीय बैंक के लिये गौण विषय है। केन्द्रीय बैंक राज्य की विधि के अन्तर्गत कार्य करता है तथा किसी जोखिम वाले उपक्रम में रुपया नही लगा सकता।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक लाभ तथा लाभाश के पीछे पड़ने वाली संस्था नही है और न अन्य बैंको से प्रतियोगिता या प्रतिद्वन्द्विता ही करता है। अतः जमा रकम पर व्याज शायद ही कभी दिया जाय, और न अचल सम्पत्ति के प्रतिभूति पर रुपया ही दिया जाता है। इस बैंक का प्रधान उद्देश्य होता है देश की समस्त बैंकिग व्यवस्था को मातबर बनाए रहना। अतः इसको अपनी सम्पत्ति अधिक से अधिक अस्थिर रूप में रखनी पड़ती है।

(२) केन्द्रीय बैंक सब से बड़ा ऋणदाता है। समस्त बैंक तथा वित्तीय संस्थायें आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक का सहारा ले सकती है। हां, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों को देखते हुए केन्द्रीय बैंक जो भी मूल्य निश्चित करे, उसी मूल्य पर सहारा लिया जा सकता है। परन्तु केन्द्रीय बैंक नकद रुपया मांग कर अथवा बिलों या प्रतिभूतियों को देकर किसी अन्य सस्था का सहारा नही ले सकता।

(३) केन्द्रीय बैंक की नीति क्रियात्मक होनी चाहिये। जब साख-विषयक प्रबन्ध रचना में कही भी कोई गड़बड़ी उत्पन्न हो जाय तो केन्द्रीय बैंक चुप बैठकर तमाशा नहीं देख सकता। उस स्थिति को संभालने के लिए केन्द्रीय बैंक को क्रियाशील होना पड़ता है। इस अभिप्राय से केन्द्रीय बैंक दो अस्त्रों का प्रयोग कर सकता है—प्रथम,—बैंक दर की नीति में उलट-पलट; द्वितीय, खुले बाजार में किये गये क्रिया-कलाप। इन अस्त्रों की क्रियान्विति आगे समझाई गई है।

१. De Kock : Central Banking.

(४) अपने कार्य-संचालन के हेतु केन्द्रीय बैंक के पास विशेष साज-सामान है।

(क) केन्द्रीय बैंक को नोट निकालने का एकाधिकार प्राप्त है। (ख) केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंक है। (ग) यह अन्य बैंकों का भी बैंक है। इस प्रकार की स्थिति होने के कारण केन्द्रीय बैंक मुद्रा तथा साख को नियन्त्रित कर सकता है।

(५) केन्द्रीय बैंक को किसी राजनैतिक दल के हाथो में न रहना चाहिये। केन्द्रीय बैंक को राजनैतिक प्रभाव से बिलकुल मुक्त रहना चाहिये जिसमे सम्पूर्ण राष्ट्र के हित साधन मे बिना भय या पक्षपात कार्य किया जा सके। फिर भी बैंक तथा सरकार के बीच विशेष पारस्परिक सहयोग विद्यमान रहता है।

६. केन्द्रीय बैंक के कार्य (Central Banking Functions)—अर्थ-वेत्ताओं ने इस विषय पर बहुत विचार-विमर्श किया है कि कौन-से कार्य ऐसे है जो केन्द्रीय बैंक के ही, विशेषतया, माने जाये। हाटरे (Hawtry) का कथन है कि ऋण देने के विषय मे केन्द्रीय बैंक को 'अन्तिम आश्रय' मानना चाहिये। वेरास्मिथ (Vera Smith) नोटों की निकासी के एकाधिकार पर जोर देते है, तथा शा (Shaw) के अनुसार साख को नियन्त्रित रखना ही एकमात्र सच्चा परन्तु परिपूर्ण कार्यक्षेत्र है। किश तथा एल्किन्स (Kish & Elkins) के अनुसार द्रव्य-विषयक मापदण्ड के स्थायित्व को बनाय रखना केन्द्रीय बैंक का वास्तविक कार्य है। किसी एक कार्य को विशेष रूप से छाट लेना कठिन है। एक विद्वान् ने हाल ही मे केन्द्रीय बैंक के निम्नलिखित कार्य गिनाए है —

(१) कारोबार तथा जनसाधारण की आवश्यकताओ के अनुसार कागजी मुद्रा (नोटो) की निकासी। इसी हेतु केन्द्रीय बैंक को नोट निकालने का एकाधिकार (चाहे कुछ सीमित भले ही हो) प्राप्त रहता है।

(२) राज्य के लिए बैंकिग सेवाए, तथा अभिकरण के रूप मे सेवाए करना।

(३) व्यापारिक बैंको की नकद रक्षित निधियो की अभिरक्षा (Custody)

(४) राष्ट्र की धातु-मुद्रा की अभिरक्षा।

(५) व्यापारिक बैंको, विक्रेताओ तथा अन्य आर्थिक सस्थाओ द्वारा भेजे गए विनिमय बिल (Bills of Exchange), सरकारी बिल, तथा अन्य उपयुक्त कागजों पर पुनः कटौती लगाना।

(६) अन्तिम आश्रय के रूप में ऋणदाता का दायित्व स्वीकार करना।

(७) बैंको के बीच जमा-खर्च की बाकियों का निपटारा।

(८) साख के नियंत्रण को कारोबार की आवश्यकताओं के अनुसार, अपने हाथ मे रखना, जिससे राज्य द्वारा निर्धारित द्रव्य-विषयक मापदण्ड स्थिर बना रहे।

तदनुसार, केन्द्रीय बैंक के कार्य के सिलसिले में उसकी हैसियत निम्नाकित है:—

(क) नोट निकालने वाला अभिकरण

(ख) राज्य के लिये बैंक

(ग) बैंकों के लिये बैंक

(घ) साख पर नियंत्रण द्वारा द्रव्य-बाजार का अभिरक्षक।

इन कार्यो का अब हम विस्तृत विवेचन करेगे।

७. केन्द्रीय बैंक नोट निकालने वाले अभिकरण के रूप में (The Note-Issuing Agency)—बैंक पद्धति के प्रारम्भिक काल में, लगभग प्रत्येक बैंक को नोट निकालने का अधिकार प्राप्त था। फलस्वरूप, गडबडी उत्पन्न हो जाती थी। अत्यधिक नोटो की निकासी से मुद्रा स्फीति होकर, मुद्रा-प्रणाली मे अव्यवस्था उत्पन्न होती तथा बडे बुरे आर्थिक परिणाम होते थे। अतः नोट निकालने पर सरकार को कठोर नियंत्रण करना पडा। धीरे-धीरे राज्य के प्रधान बैंक,—केन्द्रीय बैंक—को यह कार्य-भार सौपा जाने लगा। अब लगभग प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक को यह एकाधिकार प्राप्त है। इस एकाधिकार का बहुत महत्व है। इससे नोट की निकासी की प्रणाली मे समानता आ जाती है। केन्द्रीय बैंक के नोटो की साख अधिक होती है, तथा कभी-कभी जब स्थिति डावाडोल होती है तब भी नोटो को मुद्रा के रूप मे बदल कर दिये जाने की माग बहुत कम होती है। सबसे बडी बात तो यह है कि इस एकाधिकार से केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंको पर ऋण-विषयक नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है क्योकि ऋण-विषयक प्रसार की सीमा को केन्द्रीय बैंक की नकद निधि ही निर्धारित करती है।

८. नोटों की निकासी के सिद्धान्त (Principles of Note-Issue)—नोट निकालते समय एक दूसरे के विपरीत दो उद्देश्यो में सामंजस्य स्थापित करना पडता है। एक ओर तो नोटो की निकासी लचीली होनी चाहिये। व्यवसाय की आवश्यकतानुसार नोटो का चलन विस्तृत तथा सकुचित हो जाना चाहिये। दूसरी ओर नोटों का मुद्रा के रूप मे रूपान्तर करते रहकर नोटो मे विश्वास की भावना बनाए रखना चाहिये। प्रथम सिद्धान्त लचीलेपन का है, तथा द्वितीय सुरक्षा से सम्बन्धित है। तदनुसार नोटो की निकासी का समचित नियमन आवश्यक है।

मौद्रिक सिद्धान्त बनाम बैंकिंग सिद्धान्त—इगलैड मे सन् १८४४ ई० मे बैंक चार्टर एक्ट पास होते समय इस विषय पर बहुत मतभेद था कि नोटो के चलाने का सही सिद्धान्त क्या है ? दो विचार पद्धतिया एक दूसरे का विरोध कर रही थी। एक मौद्रिक सिद्धान्त और दूसरी बैंकिग सिद्धान्त की पक्षपाती थी।

मौद्रिक सिद्धान्त का कहना था कि पूरा अर्थात् शत प्रतिशत मौद्रिक कोष का होना अनिवार्य समझा जाय। प्रत्येक नोट, जो निकाला जाय, उसके बदले की मुद्रा बैंक में रख ली जाय। इस प्रकार नोट को मुद्रा के स्थान पर एक सुविधाजनक साधन-मात्र माना गया था।

इसमे तो कोई संदेह नही कि इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा पर परिपूर्ण नियन्त्रण हो जाता है। किन्तु इस प्रकार नोटों की निकासी लचीली नही रहती। उतने ही

नोट निकाले जा सकते है जितने के सम्बन्ध में नोट निकालने वाला अधिकारी सोना या चादी जमा कर सके। इस प्रकार मुद्रा का विस्तार व्यावसायिक आवश्यकताओं पर अवलम्बित न रहकर खानों की निकासी पर अवलम्बित हो जाता है। व्यावसायिक आवश्यकताओ को अवश्य प्रधानता दी जानी चाहिये।

जो बैंकिग सिद्धान्त के पक्ष में थे, उनका कथन था कि नोटों की निकासी को पूर्णतया बैंको के स्वविवेक पर छोड दिया जाय। इस प्रकार वे व्यवसाय की आवश्यकतानुसार नोटो की निकासी को विस्तृत अथवा संकुचित कर सकेगे। यदि अधिक नोट निकालेगे तो नकदी की माग अपने आप बैंको मे की जायगी। यदि बैंको को अपने हित का ध्यान होगा तो वे अपने आप समुचित रक्षित निधि बनाए रखेंगे। बैंकों पर विश्वास करके नोटों की निकासी का नियमन उन्ही पर छोडा जा सकता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार नोटो की निकासी लचीली अवश्य हो गई परन्तु पद्धति अरक्षित रही। इगलैंड के बैंकिग इतिहास मे ऐसे अनेकों उदाहरण है, जब लाभ के लोभ ने स्वविवेक को दबा दिया। अनेको बैंक बन्द हो गए, जिससे वे स्वय तथा उनके अनेको आश्रित नष्ट हो गये। अत. अनुभव यह बतलाता है कि साधारण बैंकों के हाथ मे नोटो की निकासी को छोड देना अच्छा नही। इस प्रकार मौद्रिक सिद्धान्त मे सुरक्षा है परन्तु लचीलेपन की कमी है, तथा बैंकिग सिद्धान्त मे लचीलापन है परन्तु सुरक्षा की कमी है। अतः समस्त देशों मे ऐसी पद्धतिया विकसित हो चुकी है जो इन दोनो सिद्धातो की सम्मिश्रण है। ये पद्धतिया है—प्रथम, निश्चित विश्वब्ध पद्धति या आशिक जमा पद्धति (Fixed Fiduciary System or Partial Deposit System) द्वितीय, आनुपातिक सुरक्षित पद्धति (Proportional Reserve System)

९. विभिन्न देशों में नोटों की निकासी की पद्धति (System of Note-Issue in Different Countries)—ग्रेट ब्रिटेन मे सशोधित बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार प्रथम पद्धति का प्रयोग किया गया। इस पद्धति के अनुसार नोटो की कुछ निश्चित मात्रा बिना धातु रूपी रक्षण के रक्खे हुए निकाली जा सकती है। इस निश्चित मात्रा के समान सरकारी प्रतिभूतिया होनी चाहियें। यह विश्वब्ध (Fiduciary) सीमा कहलाती है। इस सीमा मे अधिक निकाले गये नोटो के बराबर सोना होना अनिवार्य है। इस प्रणाली की आलोचना करते समय यह कहा जाता है कि यह लचीली नही है। परन्तु यह अत्यधिक विस्तार पर रोक-थाम रखती है। असाधारण परिस्थितियों में कानून का सशोधन करके उक्त सीमा बढ़ाई जा सकती है। सन् १९२८ मे खजाने को यह अधिकार दे दिया गया कि निर्धारित सीमा को बढ़ा सके। इससे पद्धति मे कुछ लचीलापन आया। परन्तु यह कहा जाता था कि इस सीमा का बढाना आर्थिक कमजोरी का लक्षण समझा जाता है। इस प्रकार यह भी तर्क किया गया कि विश्वास में कमी करके लचीलापन लाना अच्छा नही। ऐसी आलोचना होने पर भी परम्परावश यह पद्धति बनी हुई है। जापान

तथा नार्वे ने भी यही पद्धति ग्रहण की है ।

फ्रांस तथा जर्मनी में दूसरी पद्धति—आनुपातिक सुरक्षित निधि पद्धति—बरती जाती है। फ्रास ३५ प्रतिशत तथा जर्मनी ४० प्रतिशत रक्षित निधि रखता है। सयुक्त राष्ट्र की फेडरल रिजर्व प्रणाली मे भी कुछ रूपान्तर सहित यही पद्धति ग्रहण की गई है। यह प्रणाली ससार के बडे भाग मे फैल गई है और इसका विशेष लक्षण यह है कि नोटों के चलन के निश्चित अनुपात से धातु के रूप मे रक्षित निधि बनी रहे, यह अनुपात २५ प्रतिशत से ४० प्रतिशत तक हो सकता है; शेष के सम्बन्ध मे व्यावसायिक बिल तथा सरकारी प्रतिभूतिया हो ; तथा यह भी उपबन्ध (Provision) हो सकता है कि कुछ शर्तें तथा कुछ निग्रहो (Penalties) को मानते हुए रक्षित निधि का अनुपात कानून द्वारा निश्चित न्यूनतम सीमा के नीचे भी गिराया जा सकता है।" (डी काक) यह द्वितीय पद्धति (आनुपातिक सुरक्षित निधि पद्धति) प्रथम मे अधिक लचीली है। यदि केन्द्रीय बैंक चालीस रुपये का सोना प्राप्त कर लेता है तो द्वितीय पद्धति के अन्तर्गत एक सौ रुपये के नोट निकाल सकता है। किन्तु प्रथम पद्धति के अन्तर्गत, निश्चित सीमा पर पहुच जाने के पश्चात्, केवल चालीस रुपये के ही नोट निकाल सकेगा। किन्तु द्वितीय पद्धति के अन्तर्गत सुरक्षा कम होती है।

कुछ लोगो का विचार है कि यदि राज्य की ओर से नोट निकाले जाये तो निकासी पर अधिक नियत्रण रहता है। रिजर्व बैंक के यह कार्य-भार सम्भालने के पूर्व भारत मे राज्य द्वारा ही नोट निकाले जाते थे। परन्तु आपत्तिकाल मे तो नोट अधिक निकल ही जायेगे, चाहे राज्य ऐसा स्वय करे या केन्द्रीय बैंक पर अपने प्रभाव द्वारा कराये। सच तो यह है कि इस दृष्टिकोण से केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट की निकासी ही कुछ अच्छी रहती है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक द्वारा उन सरकारी प्रस्तावो का कुछ विरोध हो सकता है जिनके अनुसार द्रव्य के हेतु सरकार अधिक नोट छपवाना चाहे।

जहा तक भारत का प्रश्न है रिजर्व बैंक को नोट की निकासी का एकाधिकार प्राप्त है। इसी अभिप्राय से रिजर्व बैंक मे एक अलग निकासी-विभाग है, जैसाकि कुछ अन्य केन्द्रीय बैंको जैसे बैंक आफ इगलैंड मे भी है। इस विभाग के आदेय (Assets) को बैंक के दूसरे विभाग अर्थात् बैंकिग विभाग के आदेय से अलग दिखलाया जाता है। निकासी विभाग की सपत्ति मे चादी, मुद्रा के रूप मे रुपये, भारतीय सरकार की रुपये के रूप मे प्रतिभूतिया, सुवर्ण मुद्रा, सोना बुलियन, स्टर्लिग प्रतिभूतिया होती है। सुवर्ण मुद्रा तथा सोना चालीस करोड रुपये से मूल्य मे किसी समय कम नही होता, तथा सोना तथा स्टर्लिग प्रतिभूतियो को सम्पूर्ण रक्षित निधि का चालीस प्रतिशत होना अनिवार्य है। केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेकर चालीस प्रतिशत की सीमा को सीमित कालावधियो (Limited Periods) के लिये, विशिष्ट कर देकर, घटाया जा सकता है। इस प्रकार भारत में जो प्रणाली प्रयुक्त है वह उल्लिखित दोनो पद्धतियो का सामजस्य है।

द्वितीय महायुद्ध का अनुभव बतलाता है कि नोट की निकासी की जो प्रणाली भारत में प्रयुक्त है, उससे मुद्रा स्फीति को रोका नही जा सका। स्टर्लिग कोष बनाए रखने का उपबन्ध, जो अत्यधिक निकासी पर रोकथाम रखने के लिये लगाया गया था, और भी अधिक मुद्रा स्फीति का कारण बना। युद्धकाल मे सरकार ने जो माल खरीदा था, उसके बदले में भारत को स्टर्लिग प्राप्त हुआ। यह स्टर्लिग लदन मे रिजर्व बैंक के निकासी विभाग के हिसाब मे ले जाया गया और उसी के आधार पर भारत मे नोट चालू हुए। यद्यपि कानून का अक्षरश पालन हुआ परंतु नोटो का प्रसार बहुत अधिक हो गया। इस प्रसार का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि १ सितम्बर १९३९ को १८२ करोड रुपये के नोटो का चलन हो रहा था और ४ जनवरी १९४६ को यह चलन बढकर १,२१८ करोड हो गया। रिजर्व बैंक के निकासी विभाग मे तत् स्थानीय स्टर्लिग प्रतिभूतिया ५९ करोड से बढकर १,११० करोड हो गई।

१०. केन्द्रीय बैंक राज्य के बैंकर के रूप में (Banker of the State)—केन्द्रीय बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य सरकार के लिए बैंक के रूप मे कार्य करना है। देश की सरकार के समस्त शेष रोकड केन्द्रीय बैंक मे रखे जाते है। केन्द्रीय बैंक साधारणतया इन पर कोई ब्याज नही देता। किन्तु केन्द्रीय बैंक सरकार की कुछ सेवाए कर देता है। सामान्यत. केन्द्रीय बैंक सरकार के वित्तीय अभिकर्त्ता के रूप मे कार्य करता है। तथा सरकार को मुद्रा, विनिमय तथा वित्त-विषयक परामर्श देता है। "केन्द्रीय बैंको के राज्य के लिए बैंक का कार्य करने का कारण केवल यही नही है कि ऐसा प्रबन्ध राज्य के लिये सुविधाजनक तथा मितव्ययिता से युक्त होता है, वरन यह भी है कि सार्वजनिक वित्त तथा द्रव्य-विषयक मामलो मे घनिष्ट सम्बन्ध होता है।" (डी काक) राज्य की विभिन्न वित्त-विषयक क्रियाओ द्वारा द्रव्य-बाजार, विनिमय की दरो, तथा केन्द्रीय बैंक की ऋण देने की नीति मे हस्तक्षेप होता रहता है, अतः राज्य के महाजनी क्रिया-कलापो का केन्द्रीय बैंक के हाथो मे ही रहना अच्छा होता है।

केन्द्रीय बैंक का राज्य से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण कार्य थोडे समय के लिये ऋण देना होता है। केन्द्रीय बैंक सरकारी खजाने के बिलो को, जो चाहे सीधे आए हो, या अन्य बैंको द्वारा आए हो, कटौती पर ले लेता है। इस प्रकार ये थोडे समय के लिए ऋण दिए जाते है। यह इसलिये किया जाता है, जिसमे प्राप्त होने वाली आय के आधार पर, वह अपने चालू आर्थिक दायित्वो के भार से मुक्त हो सके। युद्ध-सरीखे आपत्तिकाल में सरकार को इस प्रकार दिए गए ऋण के फलस्वरूप बहुत अधिक मुद्रा स्फीति हो सकती है। १९१४-१८ मे तथा इसके पश्चात् फ्रास, जर्मनी तथा योरोप मे अन्यत्र ऐसा ही हुआ था। "राज्य को दिये गये ऋण के कारण मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा के मूल्य मे कमी होने के उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। अनुभव से ज्ञात होता है कि सरकार द्वारा अधिक ऋण लिया जाना, चाहे वह केन्द्रीय बैंक से सीधा लिया जाय अथवा कटौतियों द्वारा लिया जाय, मुद्रा स्फीति

का सबसे सरल तथा कभी-कभी एक-मात्र साधन होता है।" (डी काक)।

जब केन्द्रीय बैंक खजाने के विलो अथवा अन्य सरकारी प्रतिभूतियों के बदले में सरकार को अग्रिम धन देता है, तब सरकार द्वारा खर्च किया हुआ रुपया जिन लोगों को प्राप्त होता है, वह उसे पुनः व्यावसायिक बैंको के पास जमा करा देते है। तदनुसार व्यावसायिक बैंको की केन्द्रीय बैंक में जो रकम जमा होती है, वह बढती है। यह जमा रकम नकदी के समान ही समझी जाती है। और इसके आधार पर व्यावसायिक बैंक अपना ऋण तथा अग्रिम धन बढा लेता है। इस प्रकार मुद्रा स्फीति का प्रारम्भ होता है। अतः यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक राज्य से अलग रहे जिससे खतरे के समय धन की माग के रूप मे सरकारी दबाव का बैंक द्वारा विरोध हो सके। प्रथम महायुद्ध मे तथा उसके पश्चात्, कुछ देशो की सरकारों द्वारा ऋण लिये जाने के फलस्वरूप होने वाले विनाशकारी परिणामो को देखते हुए, हाल मे स्थापित कुछ केन्द्रीय बैंको (चिली, जेकोस्लोवेकिया, दक्षिणी अफ्रीका तथा भारत) पर कानून द्वारा प्रतिबन्ध लगाए गए थे, जिसमे सरकार द्वारा लिए जाने वाले ऋण पर रोकथाम बनी रहे। परन्तु आपत्तिकाल में ये प्रतिबन्ध ढीले करने पडे।

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया राज्य बैंक बन कर कई कार्य करता है। यह केन्द्रीय सरकार का तथा राज्यो की सरकारो का रुपया लेता है। उनकी जमा रकम की सीमा के अन्दर भुगतान करता है, उनका विनिमय तथा अन्य बैंक-विषयक कार्य सचालित करता है। राज्य को दिये गए अग्रिम धन के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक पर कोई रोक नही है, परन्तु यह अग्रिम-धन दिये जाने के तीन मास के अन्दर अवश्य वापस आ जाना चाहिये। बैंक किसी भी देश की सरकारी प्रतिभूतिया खरीद सकता है, किन्तु प्रतिबन्ध यह है कि महाजनी विभाग मे जितनी रकम की ऐसी प्रतिभूतिया हो, वह रकम कभी भी बैंक की शेयर-पूजी, रक्षित निधि तथा महाजनी विभाग के जमा सम्बन्धी दायित्वो के $\frac{3}{4}$ भाग के योग से अधिक न हो; साथ-साथ यह भी प्रतिबन्ध है कि वे प्रतिभूतिया, जो एक वर्ष मे अथवा दस वर्ष मे पूरी होने वाली हो, किसी सीमा के बाहर न जाये।

११. केन्द्रीय बैंक बैंकों के लिए बैंक के रूप में (The Bankers' Bank)--केन्द्रीय बैंक महाजनो या अन्य बैंको के लिए बैंक के रूप मे तीन हैसियतो से कार्य करता है :

(१) व्यावसायिक बैंको की नकद रक्षित निधि के अभिरक्षक की हैसियत से।

(२) ऋण देने के लिए अन्तिम आश्रय की हैसियत से।

(३) केन्द्रीय जमा-खर्च, निपटारो तथा हस्तान्तरणों के लिये बैंक की हैसियत से।

(१) व्यावसायिक बैंको द्वारा केन्द्रीय बैंक में अपनी नकद रक्षित निधि जमा कराने की आदत का धीरे-धीरे विकास हुआ तथा इस आदत का केन्द्रीय बैंक के (सरकारी बैंक तथा नोट निकालने वाले बैंक के रूप में) कर्त्तव्यपालन से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहा है।

केन्द्रीय बैंक के पास रक्षित निधि रखने मे सुविधा होने का कारण यह था कि केन्द्रीय

बैंक के नोटों पर सब से अधिक विश्वास किया जाता था, तथा सरकारी बैंकिग कार्य केन्द्रीय बैंक के द्वारा हुआ करते थे। पहले तो केन्द्रीय बैंक के पास नकद रुपया रखना (या नहीं रखना) अन्य बैंको की इच्छा पर निर्भर था। किन्तु बाद में अधिकतर देशों मे यह एक कानूनी पाबन्दी कर दी गई। ऐसा करने से कई लाभ है। प्रथम, नकद धन के प्रयोग मे मितव्ययिता होती है। केन्द्रित होने पर राष्ट्र का नकद धन अधिक क्रियाशील हो जाता है। द्वितीय, व्यावसायिक बैंक अपनी रक्षित निधियो को, आवश्यकता पडने पर, केवल केन्द्रीय बैंक के बिलो मे कटौती लगा कर बढा सकता है, तथा उन्हे स्वय अपने साधनो पर अवलम्बित नही रहना पडता। तृतीय, केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंको को ऋण देने मे सम्बन्धित नीति पर नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है। ऐसा क्योकर होता है, यह आगे स्पष्ट किया जाता है।

भारत के परिगणित या प्रामाणिक बैंको (Scheduled banks) (परिगणित बैंक वे है, जिनका नाम, उनकी चुकता पूजी तथा रक्षित निधि के आधार पर, रिजर्व बैंक एक्ट के द्वितीय परिशिष्ट मे समाविष्ट है) के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने माग-विषयक दायित्वो का कम मे कम पाच प्रतिशत तथा समय-विषयक दायित्वो का कम से कम दो प्रतिशत रिजर्व बैंक मे जमा रखे। वर्तमान काल मे लगभग एक सौ परिगणित बैंक है।

(२) केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको के लिये ऋण-विषयक अन्तिम आश्रय है। जब व्यावसायिक बैंक अपने साधनो को समाप्त कर चुकते है तथा बाहरी साधनो से धन नही प्राप्त कर पाते तब केन्द्रीय बैंक का आश्रय ग्रहण करते है। केन्द्रीय बैंक पुन की हुई कटौतियो द्वारा यह कार्य सम्पन्न करता है।

सकुचित अर्थो में, केवल प्रथम श्रेणी के व्यावसायिक तथा कृषि-सम्बन्धी बिलों की पुनः कटौती की जाती है। अर्थात् वे बिल, जो ऐसे व्यावसायिक बैंको, बिलों का लेन-देन करने वालो, या दलालो द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास लाये जाते है जिनको नकद रुपये की तात्कालिक आवश्यकता होती है और अपने किसी आदेश को नकद के रूप में परिणत करना चाहते है। विस्तृत अर्थो मे, जो कि अब अधिकतर देशो मे मान्य है, पुनः कटौती करना "व्यावसायिक बैंको की लेनदारी को केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त दायित्व मे परिणत करना है, चाहे ऐसा कार्य सीधा किया जाय या घुमा कर" (डी० काक)। इस प्रकार पुनः कटौती खजाने के बिलो तथा बैंको या अन्य अर्थ-केन्द्रो को दिये गये उन थोडी कालावधि वाले ऋणो पर भी लागू होती है जो केन्द्रीय बैंक द्वारा बिलो, प्रामिसरी नोटों तथा सरकारी प्रतिभूतियो के सम्बन्ध मे दिये जाते है।

पुनः कटौती की सुविधा के कारण व्यावसायिक बैंक अपना दैनिक कारोबार थोडी नकद रक्षित निधि द्वारा भी चला ले जाते है। क्योकि आपत्ति काल में वे केन्द्रीय बैंक का आश्रय ग्रहण कर सकते है। इससे व्यावसायिक बैंको की सपत्ति को अधिक लचीलापन तथा अस्थिरता प्राप्त हो जाती है। परन्तु पुनः कटौती के क्रम का दुरुपयोग न होना चाहिये। केवल आपत्तिकाल में इसका उपयोग होना चाहिए, सामान्य व्यापारिक क्रियाओं मे नही।

केन्द्रीय बैंक को भी कठिनाई के समय में सहायता देने को प्रस्तुत रहना चाहिये, किन्तु साधारणतया उदार नही होना चाहिए। व्यावसायिक बैंकों में आत्म-निर्भरता बढाने के लिए यह आवश्यक है तथा आपत्तिकाल के लिए केन्द्रीय बैंक की शक्ति को सचित रखने के लिए भी यह आवश्यक है। केवल इतना ही भरोसा, कि आपत्तिकाल में केन्द्रीय बैंक से सहायता मिल सकती है, जनता में व्यावसायिक बैंकों का विश्वास जमाए रखने के लिए पर्याप्त है।

(३) केन्द्रीय जमा-खर्च का कार्य सभी केन्द्रीय बैंक करते है। कुछ देशों में तो यह परम्परा अथवा सुविधा मात्र है; अन्य देशो में यह कानूनी पाबन्दी है। जबकि केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको की नकद रक्षित निधि के अभिरक्षक है, तो उसकी इस स्थिति का उपर्युक्त फल होना तर्कसंगत है जबकि अन्य बैंक, केन्द्रीय बैंक के पास नकद रक्षित निधि रखते है तो केन्द्रीय बैंक के खातो मे जमा या नाम करा कर उनके आपसी निपटारे सुविधा-पूर्वक हो सकते है। कई देशों में तो बैंको की आपसी तथा केंद्रीय बैंक मे सबंधित दायित्वो का खंडन करने के लिये अलग जमा-खर्च के केंद्र होते है। इन देशो मे,जो कुछ अत में शेष निकलता है, वह बिना नकदी दिये व्यावसायिक बैंको तथा केंद्रीय बैंक के खातों मे जमा-खर्च मात्र से ही दिया-लिया जा सकता है। जमा-खर्च के फलस्वरूप किसी बैंक की केंद्रीय बैंक के पास जमा निश्चित सीमा के नीचे भी गिर सकती है। ऐसी दशा मे वह बैंक कुछ दिन के लिए पुनः कटौती के आधार का सहारा ले सकता है, जबतक कि कमी पूरी न हो जाय।

हिसाब निपटाने की प्रणाली सुविधाजनक होने के अतिरिक्त मितव्ययिता से युक्त भी है। इससे, आपत्तिकाल मे, बैंक से रकम उठाना कम हो जाता है ; तथा बैंक द्वारा सम्पन्न होने वाली महाजनी पद्धति सुदृढ होती है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक को यह पता रहता है कि व्यावसायिक बैंकों की सपत्ति की अस्थिरता के सम्बन्ध में उनकी दशा कैसी है। इस जानकारी से केन्द्रीय बैंक को देश मे ऋण-विषयक फैलाव पर नियंत्रण रखने मे सहायता मिलती है।

१२. साख का नियंत्रण (Control of Credit)

नियन्त्रण के उद्देश्य (Objectives)—केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर साख का नियत्रण करता है—

(क) स्वर्ण के रूप में रहने वाले सुरक्षित निधि को घटाने वाले भीतरी तथा बाहरी मार्गों से उक्त निधि का बचाव।

(ख) भीतरी कीमतों पर स्थायित्व बनाए रहना।

(ग) विदेशी विनिमय का स्थायित्व प्राप्त करना।

(घ) उत्पादन तथा रोजगार में घट-बढ़ को दूर करना।

स्वर्ण-विषयक मापदण्ड बना रहने के कारण स्वर्ण निधि के बचाव की आवश्यकता उत्पन्न होती है। स्वर्ण मान देश (Gold Standard Country) में सोने का स्वतंत्रता

पूर्वक आयात तथा निर्यात हो सकता है। तथा ऐसे देश की मुद्रा को कानून के अनुसार सोने या स्वर्ण मुद्रा के रूप मे रूपान्तरित किया जा सकता है। ऐसे देश में साख के अत्यधिक विस्तार से मुद्रा स्फीति हो जाती है। जब देश के अन्दर कीमतें बढ जाती है तब पहले तो बैको से अधिक नकदी निकाली जाती है तथा केन्द्रीय बैको से अधिक सोना निकाला जाता है, जिसमें उच्च स्तर के सौदे निपट सके। यह "निधि घटाने वाला भीतरी मार्ग" कहलाता है। दूसरी बात यह है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो से देश के अन्दर कीमते अधिक होती है, तब आयात को प्रोत्साहन मिलता है तथा निर्यात हतोत्साह हो जाता है। व्यापार का सतुलन बिगड जाने के कारण सोने का निर्यात करना पडता है। इसको "निधि घटाने वाला बाहरी मार्ग"कहते है। यदि विदेशी पूजी लगाने वालो का मुद्रा के भविष्य के सम्बन्ध मे विश्वास उठ जाय और वे अपनी जमा वापस लेने लगे तो भी सोना बाहर जाने लगेगा। इन दशाओ मे केन्द्रीय बैक साख को सकुचित करेगा; कीमतो को गिरावेगा, तथा स्वर्ण निधि घटाने वाले भीतरी तथा बाहरी मार्गो को बन्द करेगा।

दूसरा उद्देश्य आन्तरिक कीमतो मे स्थायित्व बनाए रखना है। कीमतो की घट-बढ से होने वाली विभिन्न हानियो का हम पहले उल्लेख कर चुके है। कीमतो मे स्थिरता न रहने से आर्थिक सम्बन्धो मे गडबडी, विषमतायें तथा बुरे सामाजिक फल होते है। केन्द्रीय बैक लोगो की आवश्यकतानुसार क्रय शक्ति की पूर्ति का नियत्रण करके घटबढ को बहुत कुछ कम कर सकता है।

विदेशी विनिमय (अर्थात् विदेश के द्रव्य के रूप मे देश के द्रव्य का मूल्य) मे अस्थिरता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे गडबडी उत्पन्न होती है।

इस विषय पर मतभेद रहा है कि भीतरी कीमतों मे स्थिरता या विनिमय की स्थिरता--इन दो उद्देश्यो मे से कौनसा उद्देश्य लेकर केन्द्रीय बैक को चलना चाहिये, जब कि अवसर ऐसा हो कि दोनो उद्देश्य एक साथ नही प्राप्त किये जा सकते हो। यदि समस्त सम्बन्धित देश स्वर्ण मान पर आरूढ है, तो भीतरी कीमतो के नियंत्रण का फल अपने आप यह होगा कि विनिमय सकुचित सीमा के अन्दर रहता हुआ स्थिर हो जायेगा। अतः सन् १९१४ के महायुद्ध तक, मूल्य स्तर मे विशेष गडबडी उत्पन्न किये बिना ही, विभिन्न देश विनिमय को स्थिर बनाए रखते थे। किन्तु जिन दिनो में कागजी मुद्रा का रूपान्तर एक देश से दूसरे देश के बीच नही हो सका, उन दिनों में विभिन्न देशो की कीमतें अलग-अलग मार्गो पर चल पडीं और फलस्वरूप एक देश तथा दूसरे देश के बीच कीमतो के स्तर में खाइयां उत्पन्न हो गई। ऐसी परिस्थितियों में, विनिमय की स्थिरता चाहने वाले देश को अपने देश में कीमतो के स्तर में घट-बढ़ को विदेशी कीमतों के अनुरूप ही रखना पडा। ऐसा करने से उस देश की भीतरी आर्थिक व्यवस्था में बहुत उथल-पुथल हो गई। अतः आधुनिक काल मे केन्द्रीय बैको ने भीतरी कीमतों की स्थिरता पर अधिक ध्यान दिया है, तथा विदेशी विनिमय को अपने-आपको परिस्थितियों

के अनुकूल बना लेने के लिये छोड दिया है। अन्य विषयो मे समानता न होने पर जिस देश की विदेशी व्यापार मे अधिक रुचि होगी, (जसे इगलण्ड); वह विदेशी विनिमय पर अधिक ध्यान देगा, और जिस देश का तुलनात्मक दृष्टि से विदेशी व्यापार कम होगा (जैसे भारत) वह भीतरी स्थिरता पर अधिक ध्यान देगा। भारतीय सरकार की मुद्रा तथा विनिमय विषयक नीति की आलोचना के रूप मे यह कहा जाता रहा है, कि यहा भीतरी कीमतो की स्थिरता पर कम ध्यान और विदेशी विनिमय की स्थिरता पर अधिक ध्यान दिया गया।

हाल ही के एक नये दृष्टिकोण के अनुसार विनिमय की स्थिरता तथा भीतरी कीमतो की स्थिरता इन दोनो उद्देश्यो की आवश्यकता नही है। ससार की व्यापक मदी के दिनों के अनुभवो के आधार पर इस दृष्टिकोण ने जन्म लिया है। इसका कहना है कि केन्द्रीय बैक का उद्देश्य यही होना चाहिये कि व्यापारिक चक्र को रोके; उसे बढने न दे। यह एकमात्र कीमतो के उतार-चढाव पर ही निर्भर नही है। विदेशी विनिमय तथा आन्तरिक कीमतो—दोनो मे ही स्थायित्व की आवश्यकता है। परन्तु सम्पूर्ण आर्थिक जीवन के स्थायित्व को बनाये रखना ही प्रमुख उद्देश्य है। कारोबारी क्रियाशीलता की सुनिश्चित तथा नैतिक अभिवृद्धि करना तथा कीमतों को आसमान पर या पाताल मे जाने से बचाना, यही वास्तविक उद्देश्य है।

बहुत समय तक अर्थशास्त्री हाट्रे (Hawetrey) के इस विचार को मानते थे कि बैक-साख स्वतः अस्थायी है। इस विचार के अनुसार बैक व्यापार-चक्र को और जटिल बनाते है। बैक-साख स्फीति काल मे स्फीति को प्रोत्साहन देती है और सकुचन के समय सकुचन को प्रोत्साहित करती है। प्रो. विटलेमी (Whitlesey) ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि बैक के जमा स्थायी प्रभाव डाल सकते है। यह व्यापारिक बैको के आदेश के रूप मे अन्तर पडने के कारण सम्भव हो गया है। पहले बैको के अधिकाश आदेय व्यापारिक पत्रो के रूप मे होते थे। लेकिन अब इनका अश घट गया है और सरकारी सिक्योरिटियो का अश बढ गया है जो अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होती है।

सन् १९४५ मे अमेरिका मे सरकारी सिक्योरिटिया व्यापारिक बैको के आदेय का ७५ प्रतिशत भाग थी। लडाई के बाद व्यापारिक पत्रो का अश बढ गया है लेकिन १९४८ मे सरकारी पत्र ५५ प्रतिशत थे जब कि सन् १९२९ मे केवल १० प्रतिशत थे।

१३. साख के नियंत्रण में कठिनाइयां (Difficulties of Credit Control)—यदि केन्द्रीय बैक उपर्युक्त उद्देश्यो मे से एक या अधिक को प्राप्त करना चाहे तो भी इस मार्ग मे भारी कठिनाइयां है।

प्रथम, साख का नियत्रण करने में तो कठिनाइया है ही; द्वितीय, यदि साख को नियन्त्रण कर भी लिया जाय तो भी यह आवश्यक नही है कि उद्देश्य प्राप्त हो जायेगे।

साख के नियत्रण मे कठिनाइया निम्नलिखित है.—

(१) बैंक-साख ही साख का एकमात्र रूप नही है। अन्य प्रकार की व्यावसायिक साख जैसे विनिमय-पत्र, ऐसे प्रामिसरी नोट जिनकी बैंकों द्वारा कटौती नही हुई है, खाता बाकी आदि होते है, जिन पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण नही के बराबर है।

(२) बैंक साख के मामले मे भी समस्त बैंकों का केन्द्रीय बैंक से सीधा सम्बन्ध नही होता। उदाहरणार्थ, सयुक्त राष्ट्र मे व्यावसायिक बैंको में से जिनके साधन सम्पूर्ण साधनो का पाचवा अश है, फेडरल रिजर्व प्रणाली के बाहर है। भारत मे तो पुराने ढग के महाजन, जो भारत के कुल महाजनी कारोबार का ९० प्रतिशत कारोबार करते है, अब भी रिजर्व बैंक के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर है।

(३) यदि समस्त बैंक "सदस्य" बन जाये, तो भी व्यावसायिक बैंको के सदा सहयोग नही देने पर तथा निश्चित मार्ग पर न चलने पर वही प्रश्न शेष रह जाता है। बिना इस सहयोग के साख का नियन्त्रण हो ही नही सकता।

(४) देश के आर्थिक ढाचे मे बैंको के अतिरिक्त अन्य तत्त्व भी होते है। अर्थात् वे परिस्थितिया, जो व्यापारी वर्ग के रुख को प्रभावित करती रहती है, केन्द्रीय बैंक के कार्यक्षेत्र के परे है।

(५) साख का प्रयोग अत मे क्योकर और कैसे किया जायगा, इस पर केन्द्रीय बैंक को नियत्रण नही प्राप्त हो सकता। उदाहरणार्थ, पूर्ण व्यावसायिक ऋणो का प्रयोग सट्टे मे किया जा सकता है।

इसका यह अर्थ नही कि केद्रीय बैंक द्वारा किये गये साख को नियत्रित करने के प्रयत्न का असफल होना अवश्यम्भावी है। ऊपर तो केन्द्रीय बैंक के कार्यक्षेत्र की सीमाये दी हुई है। बैंक के अधिकारियो को इनका ध्यान रखना पडेगा।

यदि बैंक साख को नियन्त्रित कर भी ले, तो भी इसका यह अर्थ नही कि कीमतों में स्थिरता, विनिमय स्थिरता आदि अपने आप आ जायेगी। इसमे भी कठिनाइया उपस्थित होती है।

अब हम साख के नियन्त्रण की प्रणालियो पर विचार करेगे--ये प्रणालिया निम्नलिखित है--(१) बैंक-दर की नीति (२) खुले बाजार मे क्रिया-कलाप, (३) साख की राशनिग, (४) अन्य प्रणालिया।

१४. बैंक-दर की नीति (The Bank-Rate Policy)--बैंक-दर वह दर है जिस पर किसी देश का केन्द्रीय बैंक प्रथम श्रेणी के बिलो की कटौती करने को प्रस्तुत रहे। अत. यह दर केन्द्रीय बैंक की कटौती की दर है। बाजार रेट या कटौती की दर वह दर है, जो द्रव्य-बाजार में अन्य ऋण देने वाली सस्थाओं मे प्रचलित हो। केन्द्रीय बैंक अन्तिम आश्रय के रूप मे ऋण देने वाला बैंक होता है, अत: बैंक की दर बाजार की दर से ऊची होती है। 'ब्याज की दर'--ये शब्द अधिकतर लम्बी अवधि के लिये लगाये गए धन पर लागू होते है। 'जमा कराने की दर' ब्याज की उस दर को कहते है जो व्यावसायिक

बैंकों द्वारा रुपया जमा कराने वाले को साधारणतया दी जाती है।

पूर्णतया विकसित द्रव्य बाजार में इन समस्त दरों का एक दूसरे से निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है। उदाहरणार्थ, प्रथम महायुद्ध के पूर्व इगलैण्ड मे बैंक अपनी 'जमा कराने की दर' को अधिकतर बैंक दर से लगभग १॥ प्रतिशत नीचा रक्खा करते थे। तथा बिलों के दलालों आदि को बहुत छोटी अवधि के लिये दी गई रकमो के लिये साधारणतया जमा कराने की दर मे ½ प्रतिशत ऊची दर रक्खी जाती थी, जिसमें बैंक को लेन-देन मे मुनाफा रहे। ग्राहको से अग्रिम धन मे बैंक-रेट से लगभग एक प्रतिशत अधिक लिया जाता था, किन्तु पाच प्रतिशत न्यूनतम दर थी।

कटौती की बैंक-दर तथा बाजारू दर का सम्बन्ध द्रव्य-बाजार की परिस्थितियो पर निर्भर रहता था। ऐसी परिस्थितियो में बैंक-रेट के बदलने से अन्य सब रेट साधारणतया उसी ओर चल पडते थे, किन्तु सर्वदा ऐसे परिणाम उत्पन्न नही हुआ करते थे।

उन देशो मे जिनमें द्रव्य-बाजार इतनी भली भाति सुसगठित नही है, बैंक-दर तथा अन्य दरो का सम्बन्ध इतना निकट नही होता। अतः केन्द्रीय बैंक कटौती की अपनी दरों या रेट मे परिवर्तन करके अन्य दरो मे परिवर्तन इसी सीमा तक नही कर पाता।

१५. बैंक-दर की नीति का सिद्धांत (The Theory of Bank-Rate Policy)—इस सिद्धात के अनुसार केंद्रीय बैंक की बैंक-दर मे परिवर्तन करने पर समस्त स्थानीय दरो मे परिवर्तन आ जाता है। यदि बैंक-रेट बढाया जाता है, तो बाजारू दर तथा द्रव्य-बाजार की अन्य ऋण देने की दरें बढ जाती है, तथा जब केन्द्रीय बैंक अपना बैंक-रेट घटा देता है तब कटौती की बाजारू-दर तथा अन्य दरें भी गिर जाती है। इन परिवर्तनो का प्रभाव द्रव्य की माग तथा पूर्ति पर पडता है। जब दरें बढ जाती है, ऋण लेना कम, तथा जब दरे घट जाती है, ऋण लेना बढ जाता है। अर्थात् प्रथम परिस्थिति में साख सकुचित तथा द्वितीय परिस्थिति मे विस्तृत हो जाती है। विदेशी थोडी अवधि वाली पूजी का प्रवाह भी प्रभावित होता है। जब दरे ऊची होती है तब विदेशी निधि आने लगती है और जब नीची होती है तब जाने लगती है। साख के सकुचन से भीतरी कीमतों का स्तर गिरने लगता है तथा साख के विस्तार से भीतरी कीमतों का स्तर उठने लगता है। जब व्याज की दरें नीची होती है, तब व्यापारिक तथा औद्योगिक दोनों प्रकार की क्रियाएँ प्रोत्साहित होती है, तथा जब ऊची होती है, तब हतोत्साह होती है। साख को सकुचित करके घरेलू लागत तथा कीमतो को गिराकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समता लाई जा सकती है, क्योकि इसके फलस्वरूप निर्यात बढ़ेगा तथा आयात घटेगा।

१६. स्वर्णमान के अंतर्गत बैंक-दर की नीति (Bank-Rate Policy under Gold Standard)—इस नीति का सिद्धांत स्वर्ण मान के विशेषतया अनुकूल है। अतः ग्रेट ब्रिटेन मे १९१४ के पूर्व इसने बहुत सफलतापूर्वक कार्य किया। स्वर्ण मापदंड के अन्तर्गत व्यापार का असंतुलन तब होता है जब विनिमय की गति उस स्थल पर पहुंच

जाती है जहाँ कि सोने का निर्यात सीमा पार हो जाय तथा सोना बाहर जाने लगे। ऐसा होने का कारण या तो पूजी का अत्यधिक निर्यात होना है या तैयार माल का अत्यधिक आयात होता है। इसके विपरीत जब भुगतान (Payment) सतुलन पक्ष मे हो जाता है तब सोने का प्रवाह भीतर की ओर हो जाता है।

सोने का प्रवाह बाहर की ओर होने का कारण यह हो सकता है कि उत्पादन की घरेलू लागत अधिक हो, जिसके फलस्वरूप निर्यात हतोत्साहित हो जाय और आयात प्रोत्साहित हो जाये; या अपने देश की मुद्रा पर अविश्वास होने के कारण, विदेशो मे पूजी अधिक लगा दी जाय या सट्टे का प्रभाव काम कर रहा हो। ऐसी परिस्थितियो में बैक-रेट बढाने का फल हुआ––साख का सकुचन। वस्तुओ तथा प्रतिभूतियो का विक्रय बढ गया, क्योंकि व्याज की दर ऊची होने के कारण उनको पडी रहने देने मे लागत अधिक हो गई; विभिन्न वर्गों की आय घट जाने के कारण घरेलू माग कम हो गई; सट्टा तथा नये काम मे पूजी लगाना कम हो गया; कीमते और मजूरी कम हो गई। अंत मे फल यह हुआ कि निर्यात बढने लगा, विदेशी पूजी आने लगी, विदेशी पूजी जो लगी हुई थी, कम होने लगी; इत्यादि। इस प्रकार समयानुसार सतुलन पुनः स्थापित हो गया। सोने का बाहर जाना बन्द हो गया। यदि इस नीति को काफी दिन तक बरता जाय तो सोना देश मे आने लगेगा, साख का तनाव (Credit Stringency) कम हो जायगा, द्रव्य की दरे गिर जायेगी तथा कारोबार पुनः जोर पकडेगा।

इस प्रकार बैक-दर के ऊचा करने के दो प्रभाव पडते है : (१) एक तो तात्कालिक (२) दूसरा अतत.।

(१) तात्कालिक फल तो यह होता है कि बिलो की कटौती महगी हो जाने के कारण ऋण लेना कम हो जाता है। द्रव्य बैकों के बाहर नही जा पाता। यही नही, बाहर की निधि भी आने लगती है, क्योकि बैक-रेट के बढ़ने पर महाजनो की रुपया जमा करने की दर भी बढ जाती है।

(२) अतत: का फल यह होता है कि जब सोना लगातार आता रहता है, तो केन्द्रीय बैक बैक-रेट को नीचा गिराता है। इससे द्रव्य का मूल्य कम हो जाता है; साख, व्यापार, उत्पादन, रुपया लगाना, तथा सट्टा ये सब प्रोत्साहित होते है, घरेलू कीमते तथा लागत बढ जाती है। आयात प्रोत्साहित होना है तथा निर्यात हतोत्साहित होता है। विदेशो मे रुपया लगाने को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। यदि लम्बी अवधि तक यही नीति बरती जाती रहे तो भुगतान मे असतुलन पैदा हो जायेगा और सोने का प्रवाह भीतर की ओर न रह कर बाहर की ओर हो जायेगा।

१७. बैक-दर-नीति की सीमायें (Limiting Conditions of Bank-Rate Policy)––विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि बैक-दर-नीति की सफल क्रियान्विति के लिये कई शर्तो का पालन आवश्यक हो जाता है––

(१) अन्य सब दरो की गति को बैंक-दर की गति का अनुगामी होना चाहिये; जिसमे यथासभव साख विस्तृत तथा सकुचित होता रहे।

(२) देश का आर्थिक ढाचा लचीला होना चाहिये, जिसमे साख-विषयक परिवर्तन के फलस्वरूप मजदूरी, लगान, उत्पादन, व्यापार आदि में भी तदनुसार परिवर्तन हो जाय।

ग्रेट ब्रिटेन सरीखे सगठित द्रव्य-बाजार मे प्रथम शर्त परिपूर्ण होती है। ग्रेट ब्रिटेन मे ऐसी परिपाटी हो गई है कि अन्य सब दरो का सम्बन्ध बैंक-दर से एक-सा ही चलता रहता है। कभी-कभी जब द्रव्य-बाजार मे आवश्यकता से अधिक निधि सचित हो जाती है, बैंक-दर भले ही प्रभावशाली न रहे, और अन्य मार्ग ग्रहण करना पडे।

बहुतसे अन्य देशो मे यह शर्त भी पूर्ण नही होती। अत: वहा बैंक-दर-नीति को बहुत कम सफलता प्राप्त होती है। द्वितीय शर्त के सम्बन्ध मे भी ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति विशेषतया सन् १९१४ के युद्ध के पूर्व, बहुत अच्छी थी। आर्थिक ढाचा बहुत लचीला था। द्रव्य की दरो तथा साख की परिस्थितियो मे परिवर्तन के अनुसार मजदूरी, लगान और उत्पादन मे बहुत कुछ परिवर्तन हो जाया करता था। कुछ समय पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक ढाचे का लचीलापन जाता रहा। इसके कई कारण थे, जिनमे स्वर्णमान का टूट जाना, मुद्रा का नवीन प्रबन्ध के अन्तर्गत आ जाना, तथा मजदूरी तथा कीमतो का नियमन प्रधान थे। अन्य देशो मे, बैंक-दर-नीति को बहुत कम सफलता मिली, क्योकि उपर्युक्त दोनों शर्तें विद्यमान नही थी। हाल मे साख के नियत्रण का यह मार्ग ग्रेट ब्रिटेन मे भी गौण हो गया है। इसके महत्त्व मे कमी का कारण है—द्रव्य-बाजार की परिस्थितियो मे परिवर्तन तथा आर्थिक ढाचे का कठोर हो जाना। द्रव्य-बाजार के विषय मे विकास के रूप मे कई परिवर्तन हुए। घरेलू व्यापार अब बैंक ड्राफ्टो के आधार पर अधिक और विनिमय पत्रो के आधार पर कम चलता है। विदेशी हुडियो का महत्त्व भी कम हो गया है क्योकि लदन का आर्थिक स्तर आज इतना ऊचा नही है जितना १९१४-१९१८ के युद्ध के पूर्व था। इससे लन्दन में कटौती के लिये आने वाली विदेशी हुडिया कम हो गई है, यही नही, थोडी अवधि की लागत के लिये खजाने के बिलो ने थोडी अवधि की हुडियो का स्थान ग्रहण कर लिया है। इससे द्रव्य-बाजार पर खजाने का प्रभाव बढ गया है। इस प्रकार के परिवर्तन बैंक-दर-नीति की क्रियान्विति के लिये उपयोगी नही होते।

१८. बैंक-दर-नीति के सम्बन्ध मे कीन्स का दृष्टिकोण (Keynes' View of Bank-Rate Policy)—स्वर्गीय लार्ड कीन्स के मतानुसार बैंक-दर के पुराने सिद्धान्त इस बात पर बहुत जोर देते थे कि बैंक-दर बैंक के द्रव्य की मात्रा का नियमन करने का तथा देश की स्वर्ण-निधि के रक्षण का साधन है। उन सिद्धान्तो में इस बात पर ध्यान नही दिया जाता था कि बचत को दृष्टिगत रखते हुए, रुपया लगाने की दर पर बैंक-रेट का क्या प्रभाव पड़ता है तथा (१) रुपया लगाने तथा (२) बचत—इन दोनो के सम्बन्ध मे परिवर्तन का कीमतो, उत्पादन, काम धधे तथा मजदूरी पर क्या प्रभाव

पडता है।

कीन्स हाटरे की आलोचना करते है। हाटरे ने रुपया लगाए जाने के विषय पर जोर दिया था, किन्तु "केवल एक प्रकार से रुपया लगाए जाने पर (अर्थात् विक्रेताओं और दलालो द्वारा अस्थिर वस्तुओ मे रुपया लगाया जाना) बैंक-दर मे परिवर्तन का प्रभाव बतलाया जाता है, जिसका वास्तव मे अस्तित्व नही है।"

कीन्स के मतानुसार अल्पकालीन ब्याज की दर मे तथा चालू पूजी वाली वस्तुओ के स्टाक मे परिवर्तन द्वारा आर्थिक स्थिति को प्रभावित नही किया जा सकता, वरन् दीर्घकालीन ब्याज की दरो तथा निश्चित पूजी वाले माल द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। बैंक दर मे परिवर्तन का प्रभाव न केवल अल्पकालीन ब्याज की दरो पर पडता है, वरन दीर्घकालीन दरो पर भी पडता है क्योंकि दोनो एक दूसरे से सम्बन्धित है। दीर्घकालीन दरों मे परिवर्तन का प्रभाव रुपया लगाने वालो पर पडता है। पया लगाना दीर्घकालीन ब्याज तथा लाभ की गुजाइश पर निर्भर है। यदि यह मान लिया जाय कि लाभ की गुजाइश उतनी ही रहेगी तो दीर्घकालीन दर जितनी ऊची होगी, रुपया लगाना उतना ही कम आकर्षक। जब उपक्रमी निश्चित पूजी वाले माल पर कम खर्च करता है, तब बडे माल के व्यापार मे काम कम हो जाता है। इसका फल होता है--कुल आर्थिक आय का सकुचन तथा चालू उपभोग पर व्यय मे कमी। इसका फल यह होता है कि उपभोग्य माल के व्यापार मे भी काम की कमी हो जाती है। उत्पादन तथा कीमते चारो ओर से गिरने लगती है। इसके विपरीत जब ब्याज की दरे गिरती है, तब फल उल्टा होता है।

अपनी हाल ही की कृति मे कीन्स ने सामान्य आर्थिक स्थिरता के लिये बचत तथा रुपया लगाये जाने--इन दोनो मे सतुलन बनाए रखने के महत्व पर और अधिक जोर दिया है। किन्तु उसके मतानुसार खुले बाजार मे क्रियाकलाप द्वारा द्रव्य की मात्रा के नियमन को छोडते हुए, इस प्रकार का सतुलन बैंक-दर नीति द्वारा नही वरन् राज्य द्वारा, राज्य की ओर से रुपया लगाया जाना सगठित करके तथा मदी के काल मे सार्वजनिक कार्य प्रारम्भ करवा कर किया जाना चाहिये। कीन्स का कथन है कि बैंक-दर नीति साख के नियत्रण की ऐसी रीति है, जो अब पुरानी हो चुकी है।

बैंक-दर-नीति का प्रयोग अब भी समाप्त नही हुआ है किन्तु इसका महत्व बहुत कुछ कम हो गया है। अब भी यह गलत प्रवृत्तियों को सुधारने तथा द्रव्य की पूर्ति तथा माग पर अपने प्रभाव द्वारा, सतुलन के पुनस्थापन का साधन है। इस नीति की क्रिया-पद्धति अल्पकालीन ब्याज की दरो तथा अस्थिर माल मे रुपया लगाए जाने को प्रभावित करने के द्वारा है (जैसा कि हाटरी का कथन है); अथवा दीर्घकालीन ब्याज की दरों, तथा बड़े माल में रुपया लगाए जाने को प्रभावित करने के द्वारा है (जैसा कीन्स का कथन है)--यह पता लगाना कठिन है। चाहे रुपया अस्थिर माल में

या बड़े माल में लगाया जाय, ब्याज तो केवल लागत के तत्त्वो में से एक तत्त्व-मात्र है। व्यापार तथा कीमतो की दशा पर बहुत से तत्त्वो का प्रभाव पडता है। यह भी ध्यान रखा जाना चाहिये कि हाटरी तथा कीन्स ने क्रियाओ की जो व्याख्या की है, वह एक दूसरे से बिल्कुल असम्बद्ध नही है। अन्तर केवल जोर देने से हो जाता है। बैंक-दर मे परिवर्तन के फलस्वरूप स्टाक रखे जाने मे भी परिवर्तन हो सकता है और निश्चित पूजी वाले माल मे रुपया लगाए जाने मे भी।

१९. खुले बाजार की नीति (Open-Market Operations)–विस्तृत अर्थों मे, खुले बाजार की नीति का अर्थ है—केन्द्रीय बैंक द्वारा ऐसे किसी कागज की खरीद या बिक्री, जिसका केन्द्रीय बैंक आदान-प्रदान करता है; जैसे सरकारी प्रतिभूतिया, या अन्य सार्वजनिक प्रतिभूतिया या व्यापारिक हुडिया आदि, किन्तु इस पद का प्रयोग सरकारी प्रतिभूतियो की खरीद या बिक्री के सम्बन्ध मे होता है, चाहे वह अल्पकालीन हो या दीर्घ-कालीन। यह खरीद या बिक्री केन्द्रीय बैंक की ओर से, जानबूझ कर बरती जाने वाली साख नीति के रूप मे की जाती है। गत बीस या तीस वर्षो मे साख के नियन्त्रण की इस रीति का महत्व अधिक हो गया है।

खुले बाजार मे क्रियाकलाप का सिद्धान्त यह है—प्रतिभूतियो के विक्रय के फल-स्वरूप साख सकुचित होती है, तथा क्रय के फलस्वरूप साख का विस्तार। जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार मे प्रतिभूतिया बेचता है, उसको बदले मे किसी व्यावसायिक बैंक का चेक मिलता है। यदि खरीदार (क्रेता) कोई बैंक है, तो उसी बैंक पर ही चेक काटा जाता है। दोनो स्थितियो मे फल एक ही होता है। सम्बन्धित बैंक की वह रोकड बाकी, जो केन्द्रीय बैंक के पास रहती है, कम हो जाती है। रोकड घटने से बैंक को ऋण घटाना पडता है। इस प्रकार साख का सकुचन होता है। जब केन्द्रीय बैंक, प्रतिभूतिया खरीदता है तो अपने आप पर ही चेक काटकर अदायगी करता है। इससे व्यावसायिक बैंको की रोकड बाकी बच जाती है और वे साख का विस्तार कर सकते है। **"कानूनन ग्राह्य द्रव्य** (Legal Tender Money) **का ध्यान रखो और साख स्वयं अपना ध्यान रखेगी"** यही सूत्र है।

बैंक-दर-नीति को प्रभाव-युक्त बनाने के लिये यह रीति कभी-कभी ग्रहण की जाती है। यदि सदस्य बैंक, बैंक-दर के अनुसार अपनी दरो को न बढावे, क्योकि उनके पास अति-रिक्त निधि हो, तो केन्द्रीय बैंक इस अतिरिक्त निधि को प्रतिभूतिया बेचकर खीच सकता है, तथा इस प्रकार बैंको को अपनी दरे बढाने के लिये बाध्य कर सकता है। बाजार मे निधि की कमी बैंको को बाध्य कर देती है कि वे सीधा या घूमकर केन्द्रीय बैंक से हुडियो को पुनः कटौती करवा कर ऋण लें। यदि बैंक-रेट ऊचा है तो बाजार-रेट तब नीचा कैसे रह सकता है?

२०. सिद्धांत की सीमायें (Limitations of the Theory)—

यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त तभी काम करेगा जब कुछ शर्तें पूर्ण हों। य शर्तें निम्नलिखित हैं—

(१) जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियो की खरीद करता है, तब सदस्य बैंकों की नकद निधि बढ जाती है, तथा जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतिया बेचता है, तब सदस्य बैंकों की नकद निधि घट जाती है। ऐसा भी हो सकता है कि यह न हो। प्रतिभूतियों का विक्रय बैंकों में सोना आ जाने से,या चलन मे रहने वाले नोट आ जाने के बराबर हो सकता है। प्रतिभूतियों की खरीद के साथ-साथ सोने की निकासी या एकत्रीकरण के लिये नोटो की खीच भी हो सकती है। दोनो दशाओ में सदस्य बैंको की नकद निधि प्रभावित नही होगी।

(२) और यदि नकद निधि घट या बढ भी जाय तो भी बैंक तदनुसार साख का विस्तार या सकुचन न करे। रोकड और साख का अनुपात बिलकुल निश्चित नही हुआ करता तथा बडी सीमाओं के अन्दर रहता हुआ भिन्न स्थिति मे भिन्न हो सकता है। बैंक केवल नकदी साधनो के आधार पर साख को विस्तृत या संकुचित नही करेगा वरन् विद्यमान आर्थिक तथा राजनैतिक दशा को देख कर करेगा।

(३) तीसरी शर्त है कि जब व्यावसायिक बैंकों के नकदी साधन बढेंगे तब ऋणो तथा अग्रिम धनो की माग भी बढेगी। विपरीत क्रिया का विपरीत फल होगा। परन्तु ऐसा होना भी आवश्यक नही है। आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति के डावाडोल होने पर सस्ती दर पर भी ऋण लेने वाले न मिले, यह संभव है। इसके विपरीत जब व्यापार चलता है, तथा लाभ की गुजाइश होती है, तब उपक्रमी ऊची दर पर भी ऋण लेगा।

(४) अन्त मे, बैंक की साख का चलन सम-गति मे चलना चाहिये। परन्तु बैंक मे जमा होने वाली रकम की गति एक-सी नही हुआ करती। व्यापार की उन्नति के समय मे जमा होने वाली रकम की गति बढ जाती है और मन्दी के दिनों मे घट जाती है।

अतः चलन की गति अधिक हो जाने मे साख के सकुचन की नीति निष्फल की जा सकती है। इन सीमाओ के होते हुए भी, बैंक को साख के सकुचन तथा विस्तार मे तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियो के विक्रय तथा क्रय में अच्छा खासा सम्बन्ध है।

बाजारू क्रिया-कलाप के लिये यह आवश्यक है कि अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन सरकारी प्रतिभूतियो का बाजार बडा तथा चलता हुआ हो। इस प्रकार का बाजार ग्रेट ब्रिटेन और सयुक्त राष्ट्र अमरीका में ही है; अतः साख के नियंत्रण की यह रीति इन दो देशो में बहुत प्रभावोत्पादक ढग से प्रयुक्त हुई है।

विशेषतया ग्रेट ब्रिटेन में इस रीति का प्रयोग बैंक दर को क्रियाशील बनाने के लिये, मौसमी गतिविधि के निधि पर प्रभाव का सामना करने के लिये, सोने के आने या जाने को प्रभावहीन करने के लिये तथा सस्ता द्रव्य प्राप्य बनाये रखने के लिये बहुत किया गया है।

२१. साख-सम्बन्धी राशनिंग (Credit Rationing)—साख की राशनिंग का अर्थ उन नियंत्रणों से है, जो द्रव्य की कमी के समय में केन्द्रीय बैंक द्वारा लगाये जाते है। प्रत्येक प्रार्थी की रकम सीमित कर देने से साख की राशनिंग हो जाती है।

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक छोटी अवधि के पश्चात् पूरी होने वाली हुंडियों की ही कटौती स्वीकार करता है। बैंक आफ इंग्लैंड द्वारा इस रीति का प्रयोग १८वी शताब्दी के अन्त तक किया गया जब कि व्याज-विषयक कानूनों द्वारा कटौती की दर पाच प्रतिशत से अधिक नही हो सकती थी। हाल ही में, विशेषतया प्रथम महा-युद्ध के पश्चात् उत्पन्न होने वाली कठिन परिस्थितियो में रूस तथा जर्मनी सरीखे कई देशो ने साख की राशनिंग की नीति ग्रहण की। इस रीति का दुष्प्रयोग बहुत हो सकता है अतः इसको केवल आपत्तिकाल में ही प्रयुक्त किया जाना चाहिये।

२२. अन्य रीतियां (Other Methods)—साख नियंत्रण की अन्य रीतियो का संक्षेप में विवेचन किया जा सकता है। 'सीधी कार्यवाही' का एक मार्ग होता है। इसका अर्थ है दबाव डालने वाली नीति, अर्थात् जिन बैंकों की साख नीति केन्द्रीय बैंक की इच्छानुसार न हो, उनकी हुंडियों में पुनः कटौती करने से इन्कार करना। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक सदस्य-बैंको से प्रार्थना कर सकता है तथा उन्हे समझा सकता है कि सट्टे या अनावश्यक अभिप्रायों के लिये ऋण को न बढावें। कानून द्वारा केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह सदस्य बैंकों की न्यूनतम रक्षित निधि को परिवर्तित कर सके। अन्त मे, प्रचार का साधन भी प्रयुक्त होता है। पाक्षिक आंकडे, निश्चित समय पर द्रव्य बाजार की दशा का पुनर्विलोकन, सार्वजनिक वित्त, व्यवसाय तथा उद्योग की तलपट के रूप में आदेय तथा देनदारी का पाक्षिक विवरण आदि प्रकाशित करना।

२३. केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Central Banks)—पिछले कुछ वर्षो में कई केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। इनमें बैंक आफ इंग्लैंड तथा भारतीय रिजर्व बैंक प्रधान है।

(१) राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि ये बैंक सार्वजनिक संस्थायें तो समझी ही जाती है। इनसे भागीदारो के हित की अभिवृद्धि के स्थान पर राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि होती है। केन्द्रीय बैंक एक निश्चित सीमा से अधिक लाभांश (Dividend) नही घोषित कर सकता। हिस्सेदारो को उतना ही मिलता है जितना सरकारी प्रतिभूतियो में रुपया लगाने वालों को। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक बहुत कुछ राष्ट्रीय संस्थायें होती है। यदि वास्तव में ये ऐसी है तो कानूनन उनको ऐसा क्यों न घोषित कर दिया जाय ?

(२) सरकार हिस्सेदारों के हितों पर विशेष ध्यान रखे बिना, राष्ट्रीय हित में और अधिक दृढ़तापूर्वक तथा सुचारु रूप से कार्य कर सकेगी। संचालकगण कुछ व्यक्तियों

के प्रतिनिधि न होकर सरकार द्वारा मनोनीत होंगे। हिस्सेदारों के प्रतिनिधि होने की दशा में उनको कुछ तत्सम्बन्धी बातों का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। किन्तु सरकारी तौर पर मनोनीत होने पर उनका दृष्टिकोण बिल्कुल बदल जायेगा।

(३) केन्द्रीय बैंक जमा रकम पर कोई ब्याज नही देता, अतः उसे बहुत लाभ होता है। राष्ट्रीयकरण हो जाने पर यह लाभ समाज को होगा, हिस्सेदारों की सीमित संख्या को नही।

(४) केन्द्रीय बैंक प्रधानतया सरकारी काम करता रहता है; करों आदि का एकत्रीकरण, सरकारी ऋणों का प्रबन्ध आदि। मुद्रा की निकासी पूर्णतया सरकारी कार्य है, जिसे केन्द्रीय बैंक करता है। जनता को ठोस तथा पक्की मुद्रा का दिया जाना महान् राष्ट्रीय महत्व का विषय है। अतः यह उचित ही है कि केन्द्रीय बैंक सरकारी हो।

(५) केन्द्रीय बैंक का कारोबार क्रमबद्ध होता है तथा एकाधिकार के रूप में है; अतः राजकीय प्रबन्ध के अन्तर्गत सुचारु रूपेण चल जाता है।

(६) आजकल समाजवाद की धूम है। केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण से जनता की इच्छाओं की पूर्ति होगी तथा समाजवाद की ओर कदम बढेगा।

राष्ट्रीयकरण के विरोधी नौकरशाही के भूत को सामने लाकर खड़ा कर देते हैं। वे कहते है कि बैंकिग व्यावसायिक उपक्रम है, तथा उसका पूर्णतया व्यापारिक सिद्धान्तों के अनुसार चलाया जाना अत्यन्तावश्यक है। स्थायी राजकीय कर्मचारी ऐसा नही कर सकेंगे। उनका पद स्थायी होता है तथा सेवा-काल के आधार पर उनकी तरक्की होती है। अतः अच्छा काम करने की सारी भावना तथा प्रेरणा मारी जाती है। ये लोग सरकारी घिस-घिस में बंधे रहते है। इसके अतिरिक्त बैंकिग के कारोबार के लिये विशेष ज्ञान अपेक्षित है तथा सामान्य मंत्री इसे नही समझ सकता। अतः उसे अपने स्थायी कर्मचारियों के हाथ में रखना पड़ेगा। यह भी कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण की कोई आवश्यकता नही है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक पूर्णतया राष्ट्रीय हितों के आधार पर संचालित हो रहा है। भागियो को जो लाभाश मिलता है, वह बहुत अधिक नही है। केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण का सबसे बड़ा खतरा यह है कि केन्द्रीय बैंक को राजनीतिक दलबन्दी की चालों में कही दाव पर न रख दिया जाय। विचारहीन मंत्रिमण्डल द्वारा केन्द्रीय बैंक का उपयोग दल का मतलब गाठने के लिये किया जा सकता है न कि समूचे राष्ट्र के कल्याण के हेतु।

सारी स्थिति को समझ कर हम यह कह सकते है कि केन्द्रीय बैंको के राष्ट्रीयकरण ने अपने औचित्य को सिद्ध कर दिया है; तथा ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीयकरण के खतरों को अधिकतर बढ़ा-चढ़ा कर प्रदर्शित किया गया है।

२४. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)—सन् १९४५ में

दूसरी लड़ाई खत्म हो चुकी थी, लेकिन लड़ाई के कारण जो विभिन्न देशों को महान क्षति पहुंची थी, उसे दूर करना बाकी थी। आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य बहुत ही आवश्यक था। इस कार्य के लिये केवल राजनीतिक उपाय ही पर्याप्त न थे। इस समस्या के हल के लिये अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए। ब्रैटन वुड्स (Bretton Woods) सम्मेलन के फलस्वरूप दो संस्थाओं का जन्म हुआ—एक तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक।

इस बैंक का मुख्य उद्देश्य युद्ध-पीडित देशों के पुनर्निर्माण तथा पिछडे हुए देशों के विकास मे सहायता पहुचाना है। इस कार्य के लिये यह बैंक दीर्घकालीन वित्त प्रदान करता है। अपनी पूजी से ही नही बल्कि बांड द्वारा एकत्रित पूजी से भी यह बैंक दीर्घकाल के लिये साख की व्यवस्था करता है। उसके बाड के बिकने मे कोई कठिनाई नही होगी, क्योंकि इनके पीछे सभी सदस्य-देशो की गारंटी है। इसके अलावा यह बैंक व्यक्तिगत सस्थाओ द्वारा दिये गये ऋणो पर ½ या १ प्रतिशत कमीशन के ऊपर गारटी दे सकता है। इससे विदेशो मे पूजी-विनियोग के कार्य को प्रोत्साहन मिलता है। यद्यपि बैंक पुनर्निर्माण कार्य के लिये दिये गये ऋण को प्राथमिकता देता है, फिर भी यह पिछडे हुए देशो की विकास योजनाओ की ओर काफी ध्यान देता है। व्यापारिक सम्बन्धो को बहुमुखी आधार पर पुन: स्थापित करने मे भी यह सहायक होगा।

ससार के ५० प्रमुख देश (रूस को छोड कर) इस बैंक के सदस्य है और इसकी कुल पूजी ९ बिलियन डालर है। इसमे से अमरीका का हिस्सा एक-तिहाई है। भारत का अश ४०० मिलियन डालर है। अन्य देशो के हिस्से इस प्रकार है : इग्लैड १०० मि. डा., चीन ६०० मि. डा., फ्रास ४५० मि. डा.। सदस्य देशो ने अपने हिस्से का २० प्रतिशत दे दिया है और अब निकट भविष्य मे शायद उन्हे और न देना पडे। इस २० प्रतिशत मे हर सदस्य देश को १८ प्रतिशत अपनी राष्ट्रीय मुद्रा मे और शेष २ प्रतिशत सोने या डालर में देना पडता है।

बैंक की सहायता से सदस्य देश अपने उपलब्ध साधनो को पूर्ण रूप से उपयोग में लाकर जीवन-स्तर को ऊपर उठा सकते है। ससार के पिछडे हुए क्षेत्र—एशिया, अफ्रीका, भारतवर्ष, लेटिन अमरीका—अब अपने-अपने देशो मे उत्पादन में वृद्धि ला सकते है।

बैंक के कार्य उचित व्यावसायिक सिद्धान्त के अनुसार चलाये जाते है। ऋण देने के पहले सब आवश्यक आर्थिक बातों और परिस्थितियो की पूरी जांच-पड़ताल कर ली जाती है। बैंक केवल यही बात नही देखता कि जिस काम के लिये ऋण मांगा जा रहा है, वह ठीक है या नही। वह यह भी देखता है कि उस देश की आर्थिक दशा किस प्रकार की है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बैंक केवल पत्रों आदि की ही जांच नही करता, वरन् कुछ कर्मचारियो को उस स्थान पर भेजता है जिससे वे स्वयं अपने आप वहां की स्थिति को

देखें और समझें। बैंक निम्नलिखित बातों की पूर्ति पर ही ऋण देने को तयार होता है अन्यथा नही—(१) ऋण मांगने वाले देश की अर्थ-व्यवस्था संतोषजनक है। (२) वहां की विकास-सम्बन्धी योजनायें ठीक प्रकार की है और उनको इस ढग से कार्यान्वित किया जा रहा है कि शीघ्र ही देश की अर्थ-व्यवस्था सुदृढ हो जायेगी। (३) जिस स्कीम या योजना के लिये पूजी की आवश्यकता है वह आर्थिक, वैज्ञानिक सब दृष्टियों से संतोषजनक है। यह परमावश्यक हैकि पूजी उधार लेने वाला देश अपने बजट पर, मजदूरी और कीमत के पारस्परिक सम्बन्ध पर, आयात-निर्यात, कच्चे माल, शक्ति आदि के उपयोग पर पूरा-पूरा ध्यान रखे और यह देखे कि अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक अग सुचारु रूप से विकसित हो रहे है या नही। मि. होर ने, जो इस बैंक के उप-सभापति है, अभी हाल मे यह बताया है कि बैंक कैसा काम कर रहा है। उन्होने कहा कि बैंक यह तो आशा नही करता कि सब काम आदेश के रूप मे हो, लेकिन वह यह आशा अवश्य करता है कि प्रत्येक देश उन बातो को दूर करने मे प्रयत्नशील रहेगा जिनसे उस देश का स्वस्थ विकास का हुआ है। जहा तक किसी एक योजना के लिये वित्तीय सहायता देने का प्रश्न है, उन्होंने यह कहा कि बैंक को इन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—(१) वह योजना अर्थ-व्यवस्था के साथ-साथ चलती है, (२) वह आवश्यक है, (३) वह कार्यान्वित हो सकती है, (४) वह एक निश्चित समय के भीतर पूरी हो सकती है, (५) अन्य योजनाओं पर जो उससे सम्बन्धित है, ध्यान दिया गया है, (६) इस बात की पूरी जाच कर ली गई है कि उसमे कितना खर्च होगा और उसके फलस्वरूप कितना लाभ होगा।

अपने इस थोडे समय मे बैंक ने कई आवश्यक ऋण दिये है। इसका सबसे पहला ऋण (२५० मि. डा.) फ्रास को दिया गया था। दूसरा ऋण जो कुल मिला कर २६३ मि. डा. का था, नीदरलैंड, डेनमार्क और लेक्समवर्ग को दिया गया था। सन् १९५२ में बैंक ने २९८६ मि. डा. के १९ ऋण दिये। पिछले पाच सालो में (१९४७-५२) २७ देशों को १४१२१ मि. डा. के ६८ ऋण देने की व्यवस्था की। ऋण १५-२० वर्ष के लिये २॥ से ४॥ प्रतिशत ब्याज पर दिये गये है। लगभग सभी ऋण कृ और बुनियादी उपयोगिताओ की उन्नति के लिये दिये गये है। उद्योग-धन्धो के लिये कम पूजी दी गई है। सब मिला कर बैंक की सहायता से २५० योजनाओं पर काम हो रहा ह और उनमें से कुछ पूरी भी हो चुकी है। उनकी कुल लागत ३००० मि. डा. है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि बैंक के साधन काफी नही है। युद्ध-पीडित तथा पिछडे हुए देशों की आवश्यकताओं को देखते हुए इसके साधन समुद्र मे एक बूद की तरह है।

हमारे देश के लिये बैंक ने निम्नलिखित ऋण दिये है—१० मि. डा. कृषि-विकास के लिये, ३४ मि. डा. रेलवे के लिये, १८.५ मि. डा. नदी-घाटी योजनाओं के लिये। बैंक की तरफ से कई कमेटिया भी देश में आयी। सन् १९५१ म पचवर्षीय योजना की जाच के लिये बैंक ने एक "मिशन" भेजा था। जून सन १९५२ मे बैंक के एक सदस्य दामोदर

घाटी योजना के सम्बन्ध में आये थे। इसी प्रकार एक और कमेटी लोहे और इस्पात उद्योग की जांच के लिये बैंक की तरफ से आई थी।

निर्देश पुस्तकें

De Kock—Central Banking.
Kisch and Elkins—Central Bank.
Keynes—Treatise on Money.
Brij Narain—Money and Banking.
Samuelson—Economics.
Hawtrey—Art of Central Banking.
Harrod—Trade Cycle.
Sayers—Modern Banking.
Crowther—Outline of Banking.
League of Nations—International Currency Experience.
Macmillan Committee—Report on Finance and Industry.

अध्याय ३९

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त

(THEORY OF INTERNATIONAL TRADE)

१. भूमिका—अभी तक हम एक ही देश की वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय की समस्याओं के विषय में चर्चा कर रहे थे। अब हम उन समस्याओं का अध्ययन करेंगे, जो विभिन्न देशों मे रहने वाले मनुष्यों के बीच वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय से सम्बन्धित है।

यह ज्ञात होना चाहिये कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अन्तर प्रकार का नही वरन् मात्रा का है। दोनों दशाओं में मूल सिद्धान्त एक ही है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, देशीय व्यापार की भांति, श्रम-विभाजन का परिणामस्वरूप है। दोनों दशाओं मे वस्तुओं का विनिमय मनुष्यों के बीच होता है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दोनो पक्ष के मनुष्य विभिन्न देशों मे रहते है। आन्तरिक व्यापार मे मनुष्य उन वस्तुओं की उत्पत्ति करने मे विशेषता प्राप्त करते है, जिनमे उनको अधिकतम तुलनात्मक लाभ होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी यही बात होती है। देशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, दोनों में, उपभोक्ता सब से सस्ते बाजार मे क्रय करता है। फिर भी इनमें कुछ ऐसे अन्तर है, जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा उसकी समस्याओं का पृथक् अध्ययन आवश्यक है।

२. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धांत क्यों ? (Why Separate Theory of International Trade)—देशीय तथा विदेशी व्यापार में कुछ ऐसे भेद है जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धान्त बनाने की आवश्यकता होती है। ये अन्तर निम्नलिखित है:—

(१) देश में श्रम तथा पूजी की गतिशीलता विभिन्न देशों के बीच की अपेक्षा अधिक होती है,जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे। इस भिन्नता का बहुत महत्व है। इसके कई कारण भी है। श्रम के विषय में एडम स्मिथ ने कहा है, "समस्त वस्तुओं में मनुष्य का एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना अत्यन्त कठिन है"। लोग अपनी जन्मभूमि से सरलता-पूर्वक अन्यत्र गतिशील नही होते, भले ही दूसरे स्थानों में उन्हे अधिक आय हो। भाषा, परम्परा, धर्म, रीति-रिवाज, सामाजिक तथा राजनीतिक दशाओ के अन्तर उनको अपने ही स्थान पर रखते है। पूजी श्रम से अधिक गतिशील होती है, परन्तु इसे भी लोग अपने ही देश में विभिन्न कारणो से लगाना अधिक पसन्द करते है। दूसरे देश में दिये गये ऋण पर अपने देश में दिये गये ऋण की अपेक्षा अधिक व्याज मिलना चाहिये। पूंजी लगाने वाले अपने देश में पूजी लगाने में अपने को अधिक सुरक्षित समझते है।

विभिन्न देशों में श्रम तथा पूजी की कम गतिशीलता के कारण प्रतियोगिता एक देश के विपरीत दूसरे देशो मे एक प्रकार की वस्तुओं की उत्पादन-लागत को समान रखने में असमर्थ रहती है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देशों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति मे असमान लाभ होता है। अतएव विभिन्न देशो के बीच प्रतियोगिता नही रहती।

इसका अर्थ यह नही है कि एक ही देश मे प्रतियोगिताहीन समूह नही होते। ऐसा होता तो है, पर यह साधारण बात नही है। श्रम तथा पूजी के सरलतापूर्वक गतिशील होने के कारण ऐसे समूह शीघ्र नष्ट हो जाते है। पर ऐसा विभिन्न देशो के बीच नही होता, क्योकि ऐसे भेद अधिक स्थायी होते है।

दो देशों के बीच मे श्रम तथा पूजी के गतिशील न होने का एक दूसरा परिणाम भी होता है। एक देश मे किसी वस्तु का मूल्य उसकी उत्पादन-लागत के समान हो जाता है क्योकि श्रम तथा पूजी एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे आ-जा सकते है। ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में नही होता। श्रम तथा पूजी के गतिशील न होने के कारण मूल्य तथा उत्पादन-लागत बहुत कम समान हो पाते है।

(२) लाभ मे अन्तर प्राकृतिक कारणो जैसे भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु की दशाओ द्वारा भी हो सकता है। इससे उद्योगो का स्थानीकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ देशो मे विशिष्ट खनिज पदार्थ जैसे कोयला, लोहा, ताबा होते है। दूसरों में जलवायु या भूमि कुछ फसलो के योग्य होती है, जैसे बगाल प्रान्त में जूट की पैदावार। या तो यह लाभ दूसरे देशों को हस्तातरित नही किये जा सकते अथवा उनकी हस्तांतरण लागत आर्थिक दृष्टि से निषेधात्मक होती है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कुछ समस्याए इस बात से उत्पन्न हो जाती है कि वे देश स्वतत्र राज्य होते है और द्रव्य, बैकिग कानून, विदेशी ऋण, कीमत, मजदूरी आदि के सम्बन्ध मे स्वतत्र नीति अपना सकते है। सीमाओ के बाहर जाने वाली वस्तुओ पर राज्यों द्वारा रोक लगाई जा सकती है; प्राकृतिक तथा सामाजिक बाधाओ के कारण भी वस्तुएं एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाई जा सकती। उसी देश मे ऐसी बाधाएं नही होती और यदि होती भी है तो कम मात्रा मे। इन सब कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त पृथक् है।

३. तुलनात्मक लागत का पुरातन या सनातनी सिद्धांत (Classical Theory of Comparative Costs)—रिकार्डो ने सब से पहले तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया था। उन्होंने बताया कि एक ही देश में भिन्न-भिन्न व्यवसायों में लाभ समान होता है, परन्तु विभिन्न देशों मे ऐसा नही होता। इसका कारण यह है कि देश के अन्दर श्रम गतिशील होता है, परन्तु भिन्न-भिन्न देशो के बीच नही। एक गणित के उदाहरण द्वारा उन्होने बताया कि यदि पुर्त्तगाल, इंगलैण्ड की अपेक्षा कपड़ा

तथा शराब अधिक सस्ती उत्पन्न कर सकता है, तो भी पुर्त्तगाल के लिए यह लाभदायक होगा कि वह शराब की उत्पत्ति में लगा रहे, जिसमें उसको अधिक तुलनात्मक लाभ है और कपड़े का इगलैण्ड से आयात करे। उन्होंने यह भी बताया कि सापेक्षिक अथवा तुलनात्मक लागत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय दर को सीमित करती है। रिकार्डो ने इस प्रकार स्पष्ट किया कि किस सीमा तक दोनो पक्षों में व्यापार लाभ के साथ हो सकता है। जे० एस० मिल ने यह बताया कि तुलनात्मक लागत की सीमाओ के बीच मे विनिमय दर हर देश की दूसरे देश की वस्तुओ की माग की शक्ति पर निश्चित होती थी, बशर्तेकि साम्य-स्थिति पर आयात निर्यात के बराबर हो। आयात और निर्यात का यह सन्तुलन, मिल के अनुसार, सोने का किसी देश से आने या जाने से संतुलन के अभाव में निश्चित होता था। तो भी, मिल को यह ज्ञात न हो सका कि आयात तथा निर्यात एक से अधिक विनिमय दरों पर भी सन्तुलित हो सकते थे।

जे० ई० केयरस ने रिकार्डो की इस कल्पना पर आक्षेप किया कि उत्पत्ति के साधन एक देश के अन्दर ही गतिशील होते है, कई देशों के बीच नही। उन्होंने बताया कि एक देश के अन्दर श्रम पूजी की अपेक्षा कम गतिशील होता था और दूसरो देशों के बीच श्रम तथा पूजी का आना-जाना बडी मात्रा मे हुआ करता था। तो भी, वह मानते थे कि एक देश के अन्दर प्रतियोगिता न होने वाले समूहो के होते हुए भी उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता लाभ को समान करने के लिए पर्याप्त थी। किन्तु ऐसा विभिन्न देशों के बीच नही हुआ। इस भाति पुरातन सिद्धान्त केयरस द्वारा पूर्ण हुआ। अब यह विश्वास किया जाता है कि जब एक देश के अन्दर वस्तुओ का विनिमय दर उनकी लागत के अनुपात में होता है तो विभिन्न देशो मे एक दूसरे की माग इसे निश्चित करती है।

४. सिद्धान्त में आधुनिक सुधार (Recent Modifications of the Theory)—यद्यपि यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त प्रधानत. आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा मान्य है, तो भी, उसकी दृढता तथा व्याख्या करने मे कुछ सुधार कर दिये गये है। यह सुधार इस प्रकार है:—

(१) पुरातन अर्थशास्त्रियो ने लागत का माप श्रम के समय से किया। इसका कारण यह था कि वह मूल्य के श्रम सिद्धान्त मे विश्वास करते थे। आधुनिक लेखक उत्पादन लागत को श्रम की मात्रा में प्रस्तुत नही करते, क्योकि श्रम-सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया गया है। वे सिद्धान्त को सीमान्त लागत में उत्पत्ति के साधनों की सापेक्ष न्यूनता की मात्रा का वर्णन करते हुए प्रस्तुत करते है। इस प्रकार आधुनिक परिभाषा के अनुसार एक देश उन वस्तुओ का निर्यात करने लगता है, जो अधिक पूर्ति वाले साधनों से उत्पत्ति की जाती है और उन वस्तुओ का आयात करने लगते है, जिन की उत्पत्ति मे उन साधनों की आवश्यकता होती है, जो उस देश मे अपेक्षाकृत न्यून होते है।

(२) रिकार्डो के सिद्धान्त ने यह मान लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की

विभिन्न देशों में श्रम तथा पूजी की कम गतिशीलता के कारण प्रतियोगिता एक देश के विपरीत दूसरे देशो मे एक प्रकार की वस्तुओं की उत्पादन-लागत को समान रखने में असमर्थ रहती है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देशों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति में असमान लाभ होता है। अतएव विभिन्न देशो के बीच प्रतियोगिता नही रहती।

इसका अर्थ यह नही है कि एक ही देश मे प्रतियोगिताहीन समूह नही होते। ऐसा होना तो है, पर यह साधारण बात नही है। श्रम तथा पूजी के सरलतापूर्वक गतिशील होने के कारण ऐसे समूह शीघ्र नष्ट हो जाते है। पर ऐसा विभिन्न देशो के बीच नही होता, क्योंकि ऐसे भेद अधिक स्थायी होते है।

दो देशों के बीच में श्रम तथा पूजी के गतिशील न होने का एक दूसरा परिणाम भी होता है। एक देश मे किसी वस्तु का मूल्य उसकी उत्पादन-लागत के समान हो जाता है क्योकि श्रम तथा पूजी एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे आ-जा सकते है। ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में नही होता। श्रम तथा पूजी के गतिशील न होने के कारण मूल्य तथा उत्पादन-लागत बहुत कम समान हो पाते है।

(२) लाभ मे अन्तर प्राकृतिक कारणो जैसे भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु की दशाओ द्वारा भी हो सकता है। इससे उद्योगो का स्थानीकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ देशों में विशिष्ट खनिज पदार्थ जैसे कोयला, लोहा, ताबा होते है। दूसरों में जलवायु या भूमि कुछ फसलो के योग्य होती है, जैसे बगाल प्रान्त मे जूट की पैदावार। या तो यह लाभ दूसरे देशो को हस्तातरित नही किये जा सकते अथवा उनकी हस्तांतरण लागत आर्थिक दृष्टि से निषेधात्मक होती है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ समस्याए इस बात से उत्पन्न हो जाती है कि वे देश स्वतत्र राज्य होते है और द्रव्य, बैंकिग कानून, विदेशी ऋण, कीमत, मजदूरी आदि के सम्बन्ध मे स्वतत्र नीति अपना सकते है। सीमाओ के बाहर जाने वाली वस्तुओ पर राज्यो द्वारा रोक लगाई जा सकती है; प्राकृतिक तथा सामाजिक बाधाओं के कारण भी वस्तुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाई जा सकती। उसी देश मे ऐसी बाधाएं नही होती और यदि होती भी है तो कम मात्रा में। इन सब कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त पृथक् है।

३. तुलनात्मक लागत का पुरातन या सनातनी सिद्धांत (Classical Theory of Comparative Costs)—रिकार्डो ने सब से पहले तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया था। उन्होने बताया कि एक ही देश में भिन्न-भिन्न व्यवसायों में लाभ समान होता है, परन्तु विभिन्न देशों मे ऐसा नही होता। इसका कारण यह है कि देश के अन्दर श्रम गतिशील होता है, परन्तु भिन्न-भिन्न देशों के बीच नही। एक गणित के उदाहरण द्वारा उन्होने बताया कि यदि पुर्त्तगाल, इंगलैण्ड की अपेक्षा कपड़ा

तथा शराब अधिक सस्ती उत्पन्न कर सकता है, तो भी पुर्त्तगाल के लिए यह लाभदायक होगा कि वह शराब की उत्पत्ति में लगा रहे, जिसमें उसको अधिक तुलनात्मक लाभ है और कपडे का इंगलैण्ड से आयात करे। उन्होंने यह भी बताया कि सापेक्षिक अथवा तुलनात्मक लागत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय दर को सीमित करती है। रिकार्डो ने इस प्रकार स्पष्ट किया कि किस सीमा तक दोनो पक्षों मे व्यापार लाभ के साथ हो सकता है। जे० एस० मिल ने यह बताया कि तुलनात्मक लागत की सीमाओं के बीच मे विनिमय दर हर देश की दूसरे देश की वस्तुओं की माग की शक्ति पर निश्चित होती थी, बशर्तेकि साम्य-स्थिति पर आयात निर्यात के बराबर हो। आयात और निर्यात का यह सन्तुलन, मिल के अनुसार, सोने का किसी देश से आने या जाने से सतुलन के अभाव में निश्चित होता था। तो भी, मिल को यह ज्ञात न हो सका कि आयात तथा निर्यात एक से अधिक विनिमय दरों पर भी सन्तुलित हो सकते थे।

जे० ई० केयरस ने रिकार्डो की इस कल्पना पर आक्षेप किया कि उत्पत्ति के साधन एक देश के अन्दर ही गतिशील होते है, कई देशो के बीच नही। उन्होने बताया कि एक देश के अन्दर श्रम पूजी की अपेक्षा कम गतिशील होता था और दूसरो देशो के बीच श्रम तथा पूजी का आना-जाना बडी मात्रा मे हुआ करता था। तो भी, वह मानते थे कि एक देश के अन्दर प्रतियोगिता न होने वाले समूहो के होते हुए भी उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता लाभ को समान करने के लिए पर्याप्त थी। किन्तु ऐसा विभिन्न देशों के बीच नही हुआ। इस भाति पुरातन सिद्धान्त केयरस द्वारा पूर्ण हुआ। अब यह विश्वास किया जाता है कि जब एक देश के अन्दर वस्तुओ का विनिमय दर उनकी लागत के अनुपात में होता है तो विभिन्न देशो मे एक दूसरे की माग इसे निश्चित करती है।

४. सिद्धान्त में आधुनिक सुधार (Recent Modifications of the Theory)—यद्यपि यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त प्रधानतः आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा मान्य है, तो भी, उसकी दृढता तथा व्याख्या करने मे कुछ सुधार कर दिये गये हैं। यह सुधार इस प्रकार है:—

(१) पुरातन अर्थशास्त्रियो ने लागत का माप श्रम के समय से किया। इसका कारण यह था कि वह मूल्य के श्रम सिद्धान्त मे विश्वास करते थे। आधुनिक लेखक उत्पादन लागत को श्रम की मात्रा मे प्रस्तुत नही करते, क्योकि श्रम-सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया गया है। वे सिद्धान्त को सीमान्त लागत में उत्पत्ति के साधनों की सापेक्ष न्यूनता की मात्रा का वर्णन करते हुए प्रस्तुत करते है। इस प्रकार आधुनिक परिभाषा के अनुसार एक देश उन वस्तुओ का निर्यात करने लगता है, जो अधिक पूर्ति वाले साधनों से उत्पत्ति की जाती है और उन वस्तुओ का आयात करने लगते है, जिन की उत्पत्ति मे उन साधनों की आवश्यकता होती है, जो उस देश में अपेक्षाकृत न्यून होते है।

(२) रिकार्डो के सिद्धान्त ने यह मान लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की

मांग बढ़ने के कारण उत्पादन क्षेत्र में स्थिर नियम लागू होता है। आधुनिक लेखकों ने इस साधारण वर्णन का वृद्धि तथा ह्रास नियम के प्रभावों को दिखाते हुए विस्तार किया है। अतएव यदि उत्पादन के पैमाने में वृद्धि से प्रति इकाई लागत कम हो जाती है, तो तुलनात्मक लाभ बढ जायगा। दूसरी ओर, यदि अधिक उत्पत्ति से प्रति इकाई लागत बढ़ जाती है, तो तुलनात्मक लाभ घट सकता है अथवा समाप्त हो सकता है। दूसरी दशा में ऐसी वस्तुओं में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बिलकुल समाप्त हो जायगा।

(३) रिकार्डो के सिद्धान्त ने विनिमय की शर्तों की व्याख्या नही की। तुलनात्मक लागत यह निश्चय करती है कि किन वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होगा, परन्तु वह विनिमय की शर्तें निश्चित नही करती ; अर्थात् वह यह नही बताती कि आयात की गई वस्तु की कितनी इकाइयां, निर्यात की हुई वस्तु की इकाइयों के बदले दी जायंगी। एडम स्मिथ के प्रारम्भिक समर्थक बाजार के भाव तोल पर, जो एक अनिश्चित शब्द है, आश्रित थे। आधुनिक विश्लेषण के अनुसार विनिमय का अनुपात प्रत्येक देश की दूसरे देश की वस्तुओ की मांग की लोच से निश्चित होता है। इस प्रकार हमारे उदाहरण में यदि अ और ब देशो मे लाभदायक व्यापार होता है और एक गेहू मे तथा दूसरा कपास में विशेषता प्राप्त करता है, तो विनिमय-दर अ के लिए कपास तथा ब के लिए गेहूं की माग की लोच की मात्रा से निश्चित होगी। यदि अ की कपास की माग, ब की गेहूं की माग से अधिक लोचदार है, तो विनिमय की शर्तें अ के अनुकूल होंगी अर्थात् अ गेहू की एक दी हुई मात्रा के बदले अधिक कपास पायेगा।

५. सिद्धान्त का आधुनिक रूप (Modern Version of the Theory)—ऊपर लिखे हुए सुधारो के अनुसार अब हम तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का आधुनिक वर्णन करेगे।

सारा व्यापार इसलिए होता है कि उत्पादन-लागत मे अन्तर होता है। ऐसे अन्तर तीन प्रकार के हो सकते है:—

(अ) लागतों में पूर्ण अन्तर,

(ब) लागतों मे समान अन्तर, तथा

(स) लागतों में तुलनात्मक अन्तर।

व्यापार पहली और तीसरी मे सम्भव है, परन्तु दूसरी मे नही। हम इसको उदाहरण देकर समझा सकते है।

(१) पूर्ण अन्तर

देश अ में { गेहूं की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ५ रु० प्रति मन है। / कपास की उत्पत्ति की सीमान्त लागत १० रु० प्रति मन है।

देश ब में { गेहूं की उत्पत्ति की सीमान्त लागत १० रु० प्रति मन है। / कपास ,, ,, ,, ,, ५ रु० ,, ,, ।

चूंकि मूल्य उत्पत्ति की सीमान्त लागत के बराबर होता है, इसलिए अ देश में १ मन गेहूं, ½ मन कपास के बदले मे दिया जायगा। और ब देश में १ मन गेहूं का विनिमय २ मन कपास के बदले में होगा।

इस प्रकार :—

अ देश में १ गेहूं = ½ कपास लागत अनुपात १ : २

ब देश में १ गेहूं = २ कपास ,, ,, १ : ½

इस प्रकार अ को गेहूं में और ब को कपास मे पूर्ण लाभ है। अ गेहूं की उत्पत्ति में तथा ब कपास की उत्पत्ति मे लग जायगा। अ को तब तक लाभ होगा जब तक कि वह १ मन गेहूं के बदले ½ मन कपास से अधिक पा सकता है। ब को तब तक लाभ होगा, जब तक कि वह १ मन गेहू २ मन कपास से कम के बदले मे पा सकता है। विनिमय का अनुपात १ मन गेहू के लिए ½ तथा २ मन कपास के बीच मे कही होगा। वास्तविक दर प्रत्येक पक्ष की दूसरे देश की वस्तुओ की माग की सापेक्षिक लोच पर निर्भर होगी। इस को हम आगे देखेगे।

पूर्ण लाभ के कारण व्यापार समशीतोष्ण कटिबन्ध तथा अयनवृत्त वाले प्रदेशों में पाये जाते है।

(२) समान अन्तर

जब तुलनात्मक लाभ समान होता है, तो दोनों पक्षो के बीच कोई व्यापार नहीं हो सकता। अस्तु,

अ देश मे { गेहू की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ५) रु० प्रति मन है। / कपास की उत्पत्ति की सीमान्त लागत १०) रु० प्रति मन है।

ब देश में { गेहू की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ४) ० मन है। / कपास की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ८) रु० प्रति मन है।

इस प्रकार:—

अ देश मे : गेहू की १ इकाई = ½ कपास की इकाई—लागत अनुपात १ : २

ब देश मे : गेहू की इकाई = ½ कपास की इकाई—लागत अनुपात १ : २

उपर्युक्त दशाओ में विशिष्टीकरण से किसी भी पक्ष को कोई लाभ न होगा। यदि अ गेहू मे विशिष्ट है और ब कपास मे, तो अ को केवल तभी लाभ हो सकता है, जबकि १ मन गेहू उसको ½ मन से अधिक कपास प्रदान करता है। परन्तु ब १ मन गेहूं के बदले ½ मन से अधिक कपास न देगा, क्योकि वह घर पर साधनों को कपास से हटाकर और गेहूं मे लगाकर उतना उत्पादन कर सकता है। यदि व्यापार प्रारम्भ भी हो जाय, तो जैसा कि पहले बताया जा चुका है, व्यापार थोड़े समय में समाप्त हो जायगा।

३. **लागत में तुलनात्मक अन्तर**—जबकि तुलनात्मक लाभ भिन्न हो तो व्यापार होगा और चलता रहेगा।

इस प्रकार अ देश में { गेहूं की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ७) प्रति मन है। कपास की उत्पत्ति की सीमान्त लागत १४) प्रति मन है।

ब देश मे { गेहू की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ५) प्रति मन है। कपास की उत्पत्ति की सीमान्त लागत ७) प्रति मन है।

ऐसी दशा मे ब देश, अ देश की अपेक्षा गेहूं तथा कपास अ देश से सस्ती उत्पन्न कर सकता है परन्तु तुलनात्मक लाभ कपास की उत्पत्ति मे गेहू की उत्पत्ति मे अधिक है।

दूसरी ओर अ देश की दोनो वस्तुओ की उत्पत्ति मे तुलनात्मक हानि है, परन्तु हानि गेहू मे कपास की अपेक्षा कम है। स प्रकार:—

अ देश मे गेहू का १ मन = $\frac{१}{२}$ मन कपास — लागत अनुपात १ : २

ब देश मे १ मन गेहू = $\frac{५}{७}$ अथवा .७१ मन कपास — ,, १ : १$\frac{२}{५}$

अतएव ब देश को कपास की उत्पत्ति मे तथा अ को गेहू की उत्पत्ति मे विशिष्ट होना अधिक लाभदायक होगा।

इससे यह नही मान लेना चाहिये कि अ देश मे कपास तथा ब मे गेहू की उत्पत्ति पूर्णतया बन्द हो जायेगी। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त केवल औसत लागत को बताता है। यदि ब मे हर कपास के खेत की लागत अ के हर कपास के खेत की लागत से कम है, तथा यदि अ मे हर गेहू के खेत की लागत ब के हर गेहू के खेत की लागत से कम है, तो अ मे कपास और ब मे गेहूं की उत्पत्ति न होगी। परन्तु ऐसा होना असम्भव है। अ देश मे कुछ ऐसे कपास के खेतो का होना आवश्यक है जिनकी लागत ब के कुछ कपास के खेतो से कम है। अतएव अ मे कुछ कपास और ब मे कुछ गेहू की उत्पत्ति होगी।

व्यापार की क्या शर्तें होंगी?—ब को तब तक लाभ होगा, जब तक कि वह .७१ मन से कम कपास के बदले मे १ मन गेहू पाता रहे। अ को तब तक लाभ होता रहेगा, जब तक वह १ मन गेहू के बदले मे .५० मन से अधिक कपास पाता रहे। विनिमय की **दर** इसके बीच मे होगी—

१ मन गेहू = .५० मन कपास।

१ मन गेहूं = ७१ मन कपास।

वास्तविक दर एक पक्ष की दूसरे पक्ष की वस्तुओं की माग की सापेक्षिक लोच पर निर्भर करेगी।

यदि अ की कपास की माग ब की गेहू की माग की अपेक्षा अधिक लोचदार है तो विनिमय दर अ के लिये अधिक अनुकूल होगी। यह इस कारण है कि अ कपास के लिये इतना उत्सुक न होगा। दूसरी ओर इसके विपरीत विनिमय दर ब के लिये अधिक अनुकूल होगी।

जब विनिमय दर अ के लिये अनुकूल होगी तो वह १ मन गेहू = .७१ मन कपास की सीमा के निकट होगी। जब दर ब के लिये अनुकूल होगी तो वह १ मन गेहू = .५०

मन कपास की सीमा के निकट होगी।

इस उदाहरण मे लाभ की सीमा अधिक संकुचित है। वास्तविक व्यवहार में व्यापार उस समय होगा जब कि लाभ की सीमा अधिक विस्तृत होगी क्योकि ऐसा होने पर असुविधाओ का व्यापार पर कोई विशेष प्रभाव न पडेगा।

तुलनात्मक लागत का यही सिद्धान्त है। तो फिर विदेशी विनिमय के क्षेत्र में इसके प्रयोग में कहा अन्तर पड़ता है ?

हम प्रारम्भ मे कह चुके है कि सब प्रकार का व्यापार लागत मे अन्तर होने के कारण होता है। एक ही देश मे उत्पत्ति के साधनो के एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय तक सरलतापूर्वक गतिशील होने के कारण तुलनात्मक लागत मे भेद के लोप हो जाने की प्रवृत्ति होती है। अतएव वस्तुए एक ही देश के अन्दर अपनी उत्पत्ति की सीमान्त लागत के अनुसार विनिमय की जाती है। उत्पत्ति के साधनो के गतिशील न होने के कारण यह सामजस्य देशो के बीच मे नही हो सकता। इस भाति तुलनात्मक लागत मे स्थायी अन्तर हो जाता है, जिससे, जैसा कि ऊपर बताया गया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक हो जाता है। परन्तु तुलनात्मक लागत में ऐसे अन्तर एक ही देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे हो सकते है, क्योकि इन प्रदेशो के बीच उत्पत्ति-साधन गतिशील नही होते। इस प्रकार एक ही देश मे प्रतियोगिता न होने वाले समूह भी हो सकते है, उस दशा मे तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त देशीय व्यापार मे भी लागू होगा। यही कारण है कि आधुनिक अर्थशास्त्री इस बात को नही मानते कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रस्तुत करने के लिये एक विशेष सिद्धान्त की आवश्यकता है। परन्तु चूकि तुलनात्मक लागत मे अन्तर विभिन्न देशो मे एक देश के भिन्न क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक पाया जाता है इसलिये राष्ट्रो के बीच व्यापार पर विचार करते समय इस सिद्धान्त पर विशेष रूप मे ध्यान रखा जाता है।

हम तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को इस भाति सक्षेप मे कह सकते है कि एक व्यक्ति बहुत से कार्य करने के योग्य है, परन्तु वह सबको नही करता। वह केवल उसी कार्य को चुन लेता है, जिसमे उसे सबसे अधिक लाभ होता है। एक चिकित्सक कम्पाउण्डर का भी कार्य कर सकता है, परन्तु वह ऐसा नही करता। एक वकील टाइप का कार्य कर सकता है पर वह उसको नही करता, तथा एक प्रोफेसर अपने लड़के को स्वय पढ़ा सकता है, परन्तु वह ऐसा नही करता। इन सब मनुष्यो के लिये यह लाभदायक होता है। समाज का भी इसी मे लाभ है कि छोटा काम छोटों पर छोड़ दिया जाये। ऐसी दशा में समय तथा शक्ति को अधिक लाभ के कार्यो मे लगाया जा सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भी यही सिद्धान्त कार्य करता है। जलवायु, खनिज पदार्थों तथा अन्य प्राकृतिक साधनों का वितरण, भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक बनावट का ध्यान रखते हुए, प्रत्येक देश कुछ वस्तुओं की उत्पत्ति के लिये दूसरों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। यह प्रत्येक देश तथा समस्त संसार के लिये लाभदायक होगा कि हर देश उन

वस्तुओं की उत्पत्ति में विशिष्ट हों, जिसमें उसको सापेक्ष लाभ है। ऐसी दशा में उस देश के उत्पत्ति के साधन पारितोषिक रूप से अधिक उपयोग में आ पायेंगे। उन बातों में जो यह निर्धारण करते है कि किन-किन वस्तुओं के उत्पादन में कोई देश लगेगा, हम विनिमय दर, एकाधिकारी तत्त्व, हस्तातरित लागत, साधनों की कीमतें तथा उनकी तुलनात्मक कार्य-क्षमता को शामिल कर सकते है। एक देश उन वस्तुओं की उत्पत्ति में लगेगा जिनमें हस्तांतरित लागत और साधनों की कीमते कम है लेकिन उत्पादन कार्य-क्षमता अधिक है।

साधारणतः वस्तुएं वहा उत्पन्न की जाती हैं, जहां उत्पादन-लागत सबसे कम होती है। परन्तु यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार नही है। वास्तव में तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि एक देश कुछ वस्तुओ की उत्पत्ति में विशिष्ट हो और अन्य वस्तुओं का आयात करे चाहे वह उनको कम लागत पर उत्पन्न कर सकता हो। इंगलैंड डेन्मार्क से दूध के पदार्थों का आयात करता है, यद्यपि उनकी उत्पत्ति की लागत इंगलैंड में कम है। कारण यह है कि इंगलैंड श्रम तथा पूजी को अन्य दिशा में लगाकर अधिक लाभ कर लेता है, जैसे मशीनों आदि में, और पनीर तथा मक्खन के खरीदने मे जो हानि होती है, वह पूरी कर ली जाती है। अतएव तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इस प्रकार लागू होता है कि प्रत्येक देश वही वस्तु उत्पन्न नही करता, जो दूसरे देशों की अपेक्षा सस्ती उत्पन्न कर सकता है; प्रत्युत वह वस्तुएं जिनको वह **अधिकाधिक सापेक्ष लाभ अर्थात् कम से कम तुलनात्मक लागत** पर उत्पन्न कर सकता है।

दूसरे आर्थिक नियमों की भांति तुलनात्मक लागत का सिद्धात भी केवल एक प्रवृत्ति का वर्णन है। वास्तविक व्यवहार में सिद्धान्त का प्रयोग भाषा, रीति-रिवाज, धर्म के अन्तर तथा श्रम और पूजी के केवल आर्थिक महत्व से सचालन न होने के कारण ठीक तरह से नही होता। उनपर राजनीतिक प्रवृत्ति, व्यापारिक व्यवहारों तथा सामान्य सुरक्षा का भी प्रभाव पड़ता है। यातायात की लागत तथा उत्पादन-लागत के व्यवहार दूसरे सीमित करने वाले अश है। विशिष्टता उत्पत्ति के परिमाण को बढाती है, परन्तु यदि उद्योग में बढ़ती लागत का नियम लागू होता है, तो तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का लागू होना बन्द हो जायेगा।

देश के पिछड़े होने की स्थिति में—यदि एक देश आर्थिक दृष्टि से इतना पिछड़ा हुआ है कि वह ससार को कुछ भी नही दे सकता और केवल क्रेता की दशा मे सांसारिक व्यापार में घुस सकता है, तो ऐसी दशा में क्या होगा? वास्तविक ससार मे ऐसा सभव नही है। हर एक देश चाहे जितना भी वह पिछडा हुआ हो, कुछ न कुछ पूर्ति करने की स्थिति में होगा। साधारणतया ऐसे देश में मजदूरी कम होगी, तथा उसकी मुद्रा की भी कीमत कम होगी ताकि दूसरे देशों को इस देश से आयात करने में लाभ हो। विधिवत् विनिमय दर ऐसी सीमा पर निश्चित होगी कि उस देश के लिये उन वस्तुओ का आयात करने में जिनके उत्पादन में उसे सापेक्ष हानि अधिक है तथा उन वस्तुओं का निर्यात करने में

जिनके उत्पादन में उसे सापेक्ष हानि कम है, लाभदायक पाया जाय। अतएव 'एक ओर का व्यापार' वास्तविक ससार में एक अपूर्व घटना होगी, या यू कहिये कि पूर्णतया न होगी।

६. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रतियोगिता क्यों ? (Why Competition in International Trade)—तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश को उन वस्तुओ की उत्पत्ति में विशिष्ट होना चाहिये, जिनमें उसको अधिकाधिक सापेक्ष लाभ हो। प्रत्येक देश की उत्पादक क्रियाओं का पृथक् क्षेत्र होगा। ऐसे विशिष्टीकरण से प्रतियोगिता की अपेक्षा सहयोग की आशा की जाती है, क्योकि प्रत्येक देश अपनी विशिष्ट वस्तुओ की पूर्ति दूसरे देशो को करता है। परन्तु हम बहुधा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गलघोंटू प्रतियोगिता पाते है, जिससे अधिकतर राष्ट्रीय स्पर्द्धा बढती है और उपरात युद्ध। इगलैड और अमरीका का जापान से विरोध होने का कारण उसकी औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रधानता थी। फिर इसका क्या कारण है ?

(१) जैसा हमने ऊपर बताया है, तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल एक प्रवृत्ति का वर्णन है, जिसका प्रयोग सघर्षों के प्रभावो से नष्ट हो जाता है। यह सिद्धान्त स्वतत्र व्यापार (Free Trade) पर आधारित समझा जाता है, जो विद्यमान नही होता। आर्थिक राष्ट्रीयकरण के कारण आयात-कर, कोटा-पद्धति (Quota System) विनिमय नियत्रण इत्यादि जैसे उपाय प्रयोग में लाये जाते है, जिससे वस्तुओ का स्वतत्र विनिमय नही हो पाता। अतएव विशिष्टीकरण पूर्ण नही होता तथा कुछ प्रतियोगिता का होना स्वाभाविक है।

(२) तुलनात्मक लाभ ऐसा स्थापित तथ्य नही है, जिसका मान सभी देश करते हो। हम कदाचित् ही वह साम्य अथवा स्थायित्व की दशा प्राप्त करते है, जब हम यह कह सके कि प्रत्येक देश ने कुछ वस्तुओ की उत्पत्ति मे निश्चित रूप से प्रधानता प्राप्त कर ली है। वास्तव में प्रत्येक देश सदैव प्रधानता की दशा प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। प्रत्येक देश यह जानने का भी प्रयत्न करता है कि उसका तुलनात्मक लाभ कहा है। अतएव कुछ वस्तुए एक ही समय मे विभिन्न देशों मे उत्पन्न की जाती है जिससे उनमें प्रतियोगिता होती है।

(३) प्रतियोगिता वास्तविक होने की अपेक्षा अधिक दिखलावे की होती है। तट-कर, प्रतिबन्धो, यातायात की लागतो तथा स्वदेशी भावनाओं के कारण प्रतियोगिता एक-सी नही रहती। इन अंशो के न होने पर कोई प्रतियोगिता न होगी।

(४) क्रमागत ह्रास नियम के भय से किसी देश में एक वस्तु की उत्पत्ति रुक जाती है तथा उसका कुछ अश आयात करना पड़ता है। उस दशा में कुछ प्रतियोगिता होना स्वाभाविक है। यदि उद्योग मे क्रमागत वृद्धि नियम लागू होता है, तो तुलनात्मक लागत का क्षेत्र विस्तृत हो सकता है।

७. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ (The Gain from International Trade)—सब व्यापारों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में श्रम-विभाजन के कारण लाभ होते हैं। भिन्न देशों में श्रम-विभाजन सापेक्ष लागतों के अन्तरों और उत्पादन की पूर्ण लागत के अन्तरों के योग से उत्पन्न होता है। जब लागतों के अन्तर समान होते हैं तो शुद्ध लाभ प्राप्त नहीं होता। इसी अध्याय के ५वें अंश में दिये उदाहरण को यह दिखाने के लिये ले सकते हैं कि नं० १ और नं० ३ में कैसे लाभ हो जाता है, और नं. २ में क्यों नहीं होता।

(१) **लागतों में पूर्ण अन्तर**—अ देश में (जैसा कि लागत अनुपात से स्पष्ट है) उत्पादन साधनों की एक इकाई या तो १ मन गेहूँ की उत्पत्ति करती है अथवा ½ मन कपास की। ब देश में साधनों की एक इकाई या तो १ मन गेहूँ की उत्पत्ति करती है अथवा २ मन कपास की। यदि इनमें से प्रत्येक देश उत्पादन-शक्ति की दो इकाइयों को विशेषता किये बिना लगाये तो सम्पूर्ण उत्पादन इस प्रकार होगा—

अ में = १ मन गेहूँ + ½ मन कपास।
ब में = १ मन गेहूँ + २ मन कपास।
अ+ब = २ मन गेहूँ + २½ मन कपास।

यदि अ देश केवल गेहूँ की उत्पत्ति करे और ब केवल कपास, तो उन्हीं उत्पादन के साधनों से इस प्रकार प्राप्ति होगी—

अ=२ मन गेहूँ
ब=४ मन कपास
अ+ब=२ मन गेहूँ+४ मन कपास

इस प्रकार उन्हीं उत्पादन साधनों के विशिष्टीकरण से १½ मन अधिक कपास की प्राप्ति होगी। यह व्यापार में लाभ है।

(२) **लागतों में समान अन्तर**—दूसरी अवस्था में विशिष्टता के बिना और विशिष्टता के साथ सम्पूर्ण उत्पादन समान है।

विशिष्टता के बिना :

अ=१ मन गेहूँ+½ मन कपास
ब=१ मन गेहूँ+½ मन कपास
अ+ब=२ मन गेहूँ+१ मन कपास

विशिष्टता के अन्तर्गत यदि अ केवल गेहूँ तथा ब केवल कपास की उत्पत्ति करे, तो कुल उत्पत्ति यह होगी.—

अ=२ मन गेहूँ
ब=१ मन कपास
अ+ब=२ मन गेहूँ+१ मन कपास

अतः व्यापार मे कोई लाभ नही है।

(३) **लागतों में तुलनात्मक अन्तर**—तीसरी दशा मे विशिष्टीकरण से आधिक्य की उत्पत्ति होती है।

विशिष्टता के बिना:—

अ मे=१ मन गेहूं+·५० मन कपास

ब मे=१ मन गेहू+·७१ ,, ,,

अ+ब मे =२ मन गेहू+१ २१ मन कपास

विशिष्टता के साथ (अ देश केवल गेहू तथा ब केवल कपास की उत्पत्ति करे)

अ = २ मन गेहू

ब = १·४२ मन कपास

अ+ब मे= २ मन गेहू+१ ४२ मन कपास।

आधिक्य=·२१ मन कपास, यह व्यापार मे लाभ होगा।

८. लाभ की मात्रा निर्धारित करने वाले अश (Factors Determining the Size of the Gain)—ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कुल लाभ दोनो देशो मे लागत के अनुपात के अन्तर पर निर्भर करते है। जितना ही अधिक तुलनात्मक लागतो मे अन्तर होगा, उतना ही अधिक कुल लाभ होगा। हैरड (Harrod) के शब्दो मे, "एक देश को विदेशी व्यापार से तब लाभ होता है, जब व्यापारी यह जान लेते है कि अन्य देशो मे मूल्य का अनुपात अपने देशा की अपेक्षा भिन्न है। वे वह वस्तुए क्रय करते है, जो उनको सस्ती दीख पडती है, और उन वस्तुओ को बेचते है, जो महगी दीख पडती है। जितना ही अधिक इन दोनो का अन्तर होगा, और जितनी ही अधिक महत्वपूर्ण वस्तु होगी, उतना ही अधिक व्यापार मे लाभ होगा।"[1]

इस लाभ का विभाजन, जो दोनो पक्षो को मिलेगा, व्यापार की शर्तों पर निर्भर होगा, अर्थात् हमारे उदाहरण मे जिस अनुपात मे गेहू कपास के लिये बदला जाता है, यह अनुपात, जैसा कि हम बता चुके है, एक देश के लिये दूसरे देश की वस्तुओ की माग की लोच अथवा दोनों की माग की तीव्रता पर निर्भर है। जो देश खरीदने या बेचने के लिये अधिक उत्सुक होगा, सौदे मे घाटा उठाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लाभ सम्बन्धित देशो मे द्रव्य-आय के स्तर द्वारा प्राप्त किया जायगा। यह स्तर यह भी बतलायगा कि कौन-सा देश लाभदायक सौदा कर रहा है। यदि किसी देश की वस्तुओ की माग दूसरे देशो में निरतर बनी रहती है तो उस देश के द्रव्य-आय का स्तर ऊंचा होगा। निर्यात करने वाले उद्योगो में, अधिक विदेशी माग के

1. Harrod—International Economics, P. 34.

कारण, मजदूरी बढ जायगी, ऐसे उद्योगों की सफलता दूसरे उद्योगों में भी मजदूरी को प्रभावित करेगी। प्रतियोगिता इन उद्योगो को निर्यात करने वाले उद्योगो के बराबर मजदूरी करने के लिये विवश करेगी। यदि ऐसा न होगा तो श्रम उन उद्योगों की ओर जायगा जिनमे अधिक मजदूरी दी जा रही हो। इस भाति सब आय बढ जायगी। देश में इस प्रकार द्रव्य-आय तो बढ जायगी लेकिन विदेशी वस्तुओ की कीमते कम रहेगी। इसलिये लोगो को विदेशी वस्तुओं के उपभोक्ता के रूप मे लाभ होगा। इसके विपरीत उस देश मे जिसकी विदेशी वस्तुओ की माग अधिक है, द्रव्य-आय कम हो जायगी, परन्तु विदेशी वस्तुओं के लिये उसे अधिक मूल्य देना पडेगा।

९. तुलनात्मक लागत का वास्तविक स्वरूप (The Real Nature of Comparative Costs)--मूल्य का अध्ययन करते समय हमने यह बताया था कि आधुनिक अर्थशास्त्री लागत का क्या वास्तविक स्वरूप मानते है। सारी लागत हस्तान्तरित, वैकल्पिक अथवा अवसर-लागत होती है, केवल ऐसे साधनो की दशा मे नही, जो एक विशेष प्रयोग मे ही लाये जा सकते है अथवा किसी अन्य वैकल्पिक प्रयोग में नही लाए जा सकते। तुलनात्मक लागत की इसी भाति व्याख्या की जा सकती है।

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या करते समय हमने उत्पत्ति की द्रव्य-लागत की ओर सकेत किया था, परन्तु द्रव्य-लागत उन वस्तुओ के बीच का विनिमय सम्बन्ध बताती है, जो इसके अन्तर्गत होती है। फिर वास्तविक लागत का क्या अर्थ है? रिकार्डो के लिये श्रम-लागत वास्तविक लागत थी। परन्तु उन्होने उत्पत्ति के केवल एक अश को ही ध्यान मे रखा। उत्पत्ति की लागत के अन्तर्गत कई अश होते है, जो भिन्न-भिन्न प्रकार तथा श्रेणी के होते है। इनमे से कुछ साधन विशिष्ट होते है अर्थात् उनका केवल एक ही प्रयोग हो सकता है, दूसरो के वैकल्पिक प्रयोग होते है। यदि एक सतोषजनक सिद्धान्त बनाना है, तो इन सबका ध्यान रखना चाहिये।

वह लागत जो विनिमय-सम्बन्ध स्थापित करती है, अवसर अथवा सापेक्ष लागत होती है। इन लागतो का कारण यह है कि एक देश के साधन उसकी माग की अपेक्षा सीमित होते है। यदि साधन एक कार्य के लिये प्रयोग मे लाये जाते है, तो उनको दूसरे प्रयोगो से हटाना होगा। उदाहरण के लिये, यदि कुछ साधन गेहू की उत्पत्ति मे प्रयोग किये जाते है, तो कपास की उत्पत्ति के लिये प्रयोग में नही लाये जा सकते। अब मान लीजिये, किसी देश मे १ मन गेहूं पाने के लिये साधनों को कपास की उत्पत्ति से हटाना पड़ता है और इस भाति १½ मन कपास को त्यागना पड़ता है। अस्तु, उस देश मे १ मन गेहू की लागत १½ मन कपास है। १ : १½ का अनुपात दोनो वस्तुओ की लागत का अनुपात है। हम इसको तुलनात्मक लागत का अनुपात या अवसर-लागत का अनुपात अथवा हस्तांतरित लागत का अनुपात कह सकते है। क्योकि यह एक वस्तु से दूसरी वस्तु की स्थानापन्न दर को बताता है।

यह स्थानापन्न अनुपात देश-देश मे भिन्न होते हैं। यह इस कारण होता है कि उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधन भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न मात्रा में सीमित होते है। यदि यह साधन एक देश मे दूसरे देश को स्वतन्त्रतापूर्वक गतिशील हो सकते तो न्यूनता की यह मात्राये सामान हो जाती। परन्तु क्योकि, जैसा बताया जा चुका है, यह साधन देशो के बीच इतने गतिशील नही होते, इस कारण यह भिन्नता रहती है और इसीलिये तुलनात्मक लागत के अनुपात मे स्थायी भिन्नता उत्पन्न होती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सभव होता है। अतएव, हमारे उदाहरण मे अ देश १½ मन कपास उत्पन्न करने के लिये १ मन गेहू का त्याग करता है तथा यदि यह देश १½ मन कपास से अधिक १ मन गेहू के बदले ब देश से, जहा स्थानापन्न अनुपात भिन्न है, पा सकता है तो अ देश के लिये गेहू उत्पन्न करना तथा कपास को बदले मे पाना लाभदायक होगा। ब देश में भी यही विवेक लागू होगा।

यह ध्यान रहे कि किसी देश मे स्थानापन्न दर स्थायी रहना अनिवार्य नही है। क्रमागत वृद्धि तथा ह्रास नियमो के अनुसार उत्पत्ति के बदलने पर बदल सकते है।

यह तर्क, जिसको हमने दो वस्तुओ तथा दो देशो के बीच में लगाया है, वास्तविक सिद्धान्त को तोड़े बिना दो से अधिक वस्तुओ तथा देशो पर लागू हो सकता है।

१०. विदेशी व्यापार से लाभ (Advantages of Foreign Trade)—अब हम उन तमाम लाभो की ओर सकेत कर सकते है, जो विदेशी व्यापार करने वाले देशो को होते है—

(१) सर्वप्रथम वह लाभ है जो तमाम देशो मे श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के लागू होने से होता है। विदेशी व्यापार देशो को उन वस्तुओ की उत्पत्ति मे विशिष्ट होने के योग्य बनाता है, जिसके लिये वे पूर्णतया समर्थ है अथवा जिनकी उत्पत्ति मे उनको सबसे अधिक लाभ है। इसके कारण वस्तुओ की उत्पत्ति अनुकूल दशाओ मे होती है और इस भाति ससार की कुल सम्पत्ति तथा हित बढ जाता है।

(२) विदेशी व्यापार न केवल उपभोक्ताओ को उन विदेशी वस्तुओ के उपभोग करने योग्य बनाता है, जिनकी उत्पत्ति उनका देश नही कर सकता, वरन् वह अपनी आवश्यकतायें ससार के सबसे सस्ते बाजार से प्राप्त करते है। वस्तुओ का विदेश से आयात होना यह बताता है कि उनका मूल्य उसी तरह की देश की वस्तुओं से सस्ता है।

(३) अकाल के समय में एक देश के लोग विदेश से खाद्य-पदार्थ का आयात करके अपने जीवन तथा स्वास्थ्य को बनाये रखने के योग्य होते है। विदेशी व्यापार न होने पर ऐसे अकालो मे लाखो मनुष्यों की मृत्यु हो जाती है, जसा कि सन् १९४३ में बंगाल मे युद्ध के कारण बर्मा से चावल न आ सकने पर हुआ।

(४) विदेशी प्रतियोगिता के भय से देशीय उत्पादकों को अपनी उत्पत्ति आधुनिक रीति से करने के लिये विवश होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह एकाधिकार

को रोक कर प्रतियोगिता बढ़ाता है। अतएव उपभोक्ता के लिये मूल्य कम हो जाता है।

(५) विदेशी व्यापार से वे देश जिनके पास कच्चा माल नही होता आयात द्वारा कच्चा माल प्राप्त कर सकते है। इससे उन उद्योगो को विकास मे प्रोत्साहन मिलता है, जिनमे वे देश अन्यथा परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त कच्चे माल का उपयोग भली प्रकार हो सकता है।

११. विदेशी व्यापार से हानियाँ (Disadvantages of Foreign Trade)—तो भी ऊपर लिखे हुए लाभ निम्नलिखित हानियो के कारण एक सीमा तक कम हो जाते है और फलस्वरूप विदेशी व्यापार के इतने लाभ नही रह जाते।

(१) विदेशी व्यापार से देश के आवश्यक पदार्थ व खनिजो की समाप्ति हो जाती है, जिनको स्थानापन्न नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ, भारत के बहुत से प्रमुख खनिज-पदार्थ जैसे अभ्रक आदि हमारे देश से कच्चे माल के रूप मे बाहर भेज दिये जाते है। भारत को उनसे बहुत कम लाभ हुआ है। यदि उन्हे सभाल कर रखा जाता तो औद्योगीकरण के पश्चात् भारत उनसे लाभ उठा सकता था।

(२) विदेशी व्यापार देशी उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता के आधीन कर देता है और कभी-कभी तो विदेशी वस्तुओ की कीमत कम होने लगती है। १९वी शदी मे भारत की दस्तकारियो के पतन से हमारे आर्थिक ढाचे को बडा धक्का पहुचा और कृषि पर दबाव बढ गया। यह उस समय हुआ जब कि यातायात की उन्नति आदि से विदेशी प्रतियोगिता बढ गई। इसी विदेशी प्रतियोगिता ने भारतीय उद्योगो को आधुनिक रूप मे विकसित होने मे रुकावटे डाली और फलस्वरूप हमारी आर्थिक व्यवस्था मध्य-कालीन रह गई।

(३) विदेशी व्यापार हानिकर वस्तुओ के आयात द्वारा लोगो के उपभोग की आदतो को बदल देता है। पिछली शताब्दी मे अफीम के व्यापार से चीन को बडी हानि पहुची।

(४) इसके अतिरिक्त तुलनात्मक लागत के नियम के कार्यान्वित होने से देश केवल कुछ वस्तुओ मे ही अपने आपको विशिष्ट कर लेता है। इससे लोगो को प्राप्त होने वाले व्यवसाय कम हो जाते है। अस्तु, किसी देश की आर्थिक व्यवस्था को स्थिर रखने के लिये देश में किसी एक उद्योग मे अधिक विशिष्टता बुरी होती है।

(५) अन्त मे विदेशी व्यापार देश की आर्थिक व्यवस्था को दूसरे देशो पर निर्भर कर देता है। यदि युद्ध अथवा दूसरे कारणो से वस्तुओ का आयात-निर्यात स्वतत्रता से नही हो सकता, तब ऐसी दशा मे उस देश की आर्थिक व्यवस्था को बड़ा धक्का पहुचता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक व्यवस्था अथवा उद्योग मे किसी प्रकार की गडबड़ी का प्रभाव उन सब देशो पर पड़ता है जिनका उस देश से व्यापारिक सम्बन्ध होता है। १९२९-१९३२ की मन्दी के विश्व-व्यापी होने का कारण केवल यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापारिक सम्बन्धों के कारण ससार के विभिन्न देश परस्पर-निर्भर हो गये थे।

पर विदेशी व्यापार के लाभ इसकी हानियो से कही अधिक है। इनमें से अधिकतर लाभ तभी उठाये जा सकते है जब कि वस्तुओ का आयात-निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक हो सके। साथ ही साथ स्वतत्र व्यापार से बहुत सी हानिया भी होती है। इसलिये यह आवश्यक है कि स्वतत्र व्यापार और सरक्षण नीति का अच्छी तरह से अध्ययन किया जाय।

निर्देश पुस्तकें

Gordon, M. S.—Barriers to World Trade.
Haberler—International Trade.
Heuser—Control of International Trade.
Whale—International Trade.
Bertil Ohlin—Inter-regional and International Trade.
Taussig—International Trade.
Harrod—International Economics.
Tarshis, L.—The Elements of Economics, 1946, ch., 40.
Meyers, A. L.—Elements of Modern Economics 1951, ch., 23.
Samuelson, P.A.—Economics, 1948, ch. 16.
Tinbergen, J.—International Economic Cooperation.

अध्याय ४०

स्वतंत्र व्यापार तथा संरक्षण

(FREE TRADE VS. PROTECTION)

१. भूमिका— पिछले अध्याय में हमने केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का अध्ययन किया। इस परिच्छेद में हम कुछ नीति-सम्बन्धी बातो का विवेचन करेगे। समस्या यह है कि क्या वस्तुओ का आयात-निर्यात स्वतन्त्र रूप से होना चाहिये अथवा उन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण या बन्धन होना चाहिये ? और यदि यह नियन्त्रण रहे भी तो ऐसा करना किन परिस्थितियो मे उचित है? इसके अतिरिक्त हम यह भी देखेगे कि इस विषय में ससार के विभिन्न देशो का क्या रुख रहा है।

२. स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धांत (The Theory of Free Trade)— विभिन्न देशो के बीच वस्तुओ के अनियन्त्रित आदान-प्रदान की नीति को स्वतन्त्र व्यापार की नीति कहते है। पर देशीय उद्योगो को सरक्षण देने के लिये जो नियन्त्रण किये जाते है, वे सरक्षण की नीति के अन्तर्गत होते है। एडम स्मिथ के शब्दो मे, "स्वतन्त्र व्यापार व्यावसायिक नीति की उस प्रणाली को कहते है, जिसमे देशी व विदेशी वस्तुओं मे किसी प्रकार का भेद-भाव नही रखा जाता और इसलिये न तो विदेशी वस्तुओ पर अनावश्यक कर लगाये जाते है और न स्वदेशी उद्योगो को कोई विशेष सुविधाये प्रदान की जाती है।"[1] इसके यह अर्थ नही है कि स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत वस्तुओ पर किसी प्रकार के कर लगते ही नही। किन्तु जो भी कर लगे, वह केवल आय के लिये होने चाहिये, सरक्षण के लिये नही।

व्यावहारिक नीति के रूप मे स्वतन्त्र व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उस सिद्धान्त पर आधारित है जिसका अध्ययन हम पिछले अध्याय मे कर चुके है। केयरस (Cairnes) के शब्दो मे "यदि किसी विशेष लाभ के हेतु कुछ राष्ट्र परस्पर व्यापार करना प्रारम्भ कर दे तो उनके स्वतत्र व्यापारिक आदान-प्रदान मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप उनको इस लाभ से वचित कर देगा।"[2] इससे कही पहले एडम स्मिथ ने लिखा था कि "यदि कोई बाहरी देश किसी वस्तु को हमारे उत्पादन की अपेक्षा अधिक सस्ती दे सकता है, तो इसमें हमे लाभ होगा कि हम किसी अन्य वस्तु को तैयार करे, जिसमे हमें अपेक्षाकृत अधिक सुविधायें प्राप्त हो और उसके विनिमय द्वारा विदेश की वस्तु को खरीदें।" आगे चल कर

---

1. **पाल ग्रव द्वारा उद्धृत** Dictionary of Political Economy., Vol. 2. P. 143

2. Cairnes: Leading Principles of Political Economy., Pt. III, Chapter IV, Sec. I.

वे फिर लिखते है कि "यदि किसी देश को अन्य देशों की अपेक्षा कोई सुविधा प्राप्त हो, तो चाहे वह सुविधा प्राकृतिक हो अथवा प्राप्त की हुई, यह कोई विशष महत्व की बात नही है, क्योकि जब तक उस देश को वे सुविधाए प्राप्त रहेगी, उस समय तक दूसरे देशों के लिये बजाय स्वय उत्पादन करने के उस देश की वस्तुओ को खरीदना ही अधिक लाभ-प्रद होगा।"[1] इस सम्बन्ध म एडम स्मिय न केवल सुरक्षा-सम्बन्धी उद्योगो का सरक्षण आवश्यक बताया है। क्योकि अमीरी की अपेक्षा देश की सुरक्षा अधिक महत्वपूण है। स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त श्रम-विभाजन के सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय क्षत्र म विस्तार-मात्र है। एडम स्मिथ के शब्दो मे, "किमी देश के लोग अपन लाभ के लिये उन उद्योगों मे लगते है जिनमे उन्हे अपने पडौसियो की अपेक्षा अधिक सुविधाय प्राप्त होती ह। उनका यह विश्वास था कि "जो बात किमी घर के लिये बुद्धिमानी की होती ह वह किमी बड़े राष्ट्र के लिये बेवकूफी की बात नही हो सकती।" साराश यह कि स्वतन्त्र व्यापार की नीति हर देश को उन उद्योगो मे लगने योग्य बना देती है जो अपेक्षाकृत उसके लिये अधिक अनुकूल होते है।

३. स्वतन्त्र व्यापार का नेता—इंगलैड (England—The Champion of Free Trade)—नैपोलियन युद्धो के पश्चात् १९वी शताब्दी मे इगलेंड मे स्वतत्र व्यापार बनाम सरक्षण का सघर्ष आरम्भ हुआ। उस समय की कुछ विशष परिस्थितियो के कारण स्वतत्र व्यापार के पक्षपातियो की विजय हुई। स्वतत्र व्यापार के पक्ष मे परिस्थितिया ये थी—(१) सर्वप्रथम औद्योगिक क्राति इगलैड मे हुई और फलस्वरूप जिस नवीन औद्योगिक वर्ग का जन्म हुआ, वह सस्ता कच्चा माल चाहता था। मजदूर सस्ता खाना चाहते थे और उत्पादित वस्तुओ के लिये सस्ते बाजारो की आवश्यकता थी। (२) १८३२ के सुधार-एक्ट के द्वारा औद्योगिक वर्ग को राजनीतिक शक्ति प्राप्त हो गई थी।

व्यापार पर से नियन्त्रण हटाने के लिये बहुत से नियम बनाये गये। मानचेस्टर में रिचर्ड कावडेन और जान ब्राइट की अध्यक्षता मे १८३८-३९ मे एक अन्न कानून विरोधी सस्था (Anti-Corn-Law League) की स्थापना हुई। आयर्लैण्ड के आलू के अकाल से इस सस्था को बडा प्रोत्साहन मिला और फलस्वरूप अनाज सम्बन्धी नियमो मे सशोधन किया गया और १८५३ और १८६० के आयात-निर्यात कर सुधारो ने ब्रिटिश फिस्कल प्रणाली पर से सरक्षण हटा दिये।

इगलैड ने अपने स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त को भारत पर भी लागू किया जिससे भारत मे मशीन के बने हुए सस्ते सामान की प्रतियोगिता के कारण घरेलू उद्योगो की बड़ी क्षति हुई। कुछ समय तक फ्रास व जर्मनी मे भी स्वतन्त्र व्यापार का बड़ा समर्थन हुआ था, पर शीघ्र ही वहा उसका विरोध शुरू हो गया।

---

१. Wealth of Nations, Book IV, Chapter II

इंगलैंड ने स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन केवल इसलिये किया था कि इससे उसे लाभ था। पर दूसरे देश जो औद्योगिक क्षेत्र में बाद मे आये, इस प्रकार की नीति को अपना कर उन्नति न कर सके। स्वतन्त्र व्यापार का विरोध और सरक्षण का समर्थन सर्वप्रथम सयुक्त राज्य अमेरिका और उसके बाद जर्मनी व दूसरे देशो की ओर से हुआ। १९२४ मे भारत ने भी एक विवेकपूर्ण सरक्षण की नीति अपनायी। इगलैण्ड को भी मजबूर होकर गत मन्दी के दिनो मे अपनी स्वतन्त्र व्यापार की नीति मे काफी परिवर्तन करने पडे।

४. संरक्षण नीति का विकास—देश के उद्योगो को कुछ सुविधाए देकर अथवा विदेशी वस्तुओं पर ऊचे कर लगा कर प्रोत्साहन की नीति को सरक्षण की नीति कहते है। इसका ध्येय स्वदेशी उद्योगो की उन्नति करना होता है, चाहे इसमे कुछ समय के लिये उपभोक्ताओ के हितो को कुचलना भी पडे। सरक्षण की नीति मे राजनीतिक व आर्थिक उद्देश्य मिले रहते है। "आर्थिक स्वतन्त्रता स्थापित करना व विदेशी वस्तुओ के आक्रमण से अपने देश की रक्षा करना आदि ऐसी दलीले है, जो सरक्षण के समर्थको द्वारा दी जाती है। ये दलीले ऐसी है, जिनसे पता चलता है कि सरक्षण का विचार भयकर अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष के दिनो मे हुआ होगा।"[१] पर इस नीति का सबसे महत्वपूर्ण कारण राष्ट्रीयता के भावो का विकास है। "देशभक्त नागरिक के लिये देशीय उद्योगो का विकास उतना ही महत्व रखता है, जितना कि अपने देश का विदेशी आक्रमण से रक्षा का विचार।" इस प्रकार सरक्षण के कारण आर्थिक नही बल्कि राजनीतिक है। "विभिन्नतापूर्ण उद्योगो के लाभ, राष्ट्रीय साधनो का विकास और ऐसे उद्योगो की रक्षा, जो स्वतत्र व्यापार मे लोप हो जाते है, आदि विचार आर्थिक नही है।"[२]

सभवत. सरक्षण नीति का सर्वप्रथम उल्लेख अमरीकी राजनीतिज्ञ ऐलेक्जेन्डर हैमिल्टन ने सन् १७९१ मे अपनी एक रिपोर्ट मे किया। इस रिपोर्ट मे उन्होने यह सिफारिश की कि रोजगार मे वृद्धि और विभिन्नता लाने तथा देश की सुरक्षा के लिये देशीय उद्योगो को प्रोत्साहन देना चाहिये। उन्होने यह भी बताया कि उद्योगो को किस आधार पर सहायता मिलनी चाहिये—(१) आवश्यक कच्चे माल का मिलना, (२) मशीन द्वारा श्रम को स्थानापन्न करने की सम्भावित सीमा, (३) इस नीति की क्रियात्मकता, (४) अपने देश मे बाजारो का होना, (५) रक्षा के लिये महत्व। उन्होने शिशु-उद्योगो की युक्ति का भी प्रतिपादन किया था।

सयुक्त राज्य अमेरिका मे १९वी शताब्दि के प्रारम्भ मे कई कारणो से संरक्षण के समर्थन ने जोर पकड़ा। योरोप मे क्रांतिपूर्ण व नैपोलियन युद्धो के कारण इगलैंड के व्यवसाय में अडचने उत्पन्न होने लगी। अभी तक इंगलैंड ही प्रमुख औद्योगिक देश था। १८१२-१५ की लडाई मे इगलैण्ड से सारे व्यापारिक सम्बन्ध टूट गये। फलस्वरूप अम-

१. Pelgrave, op cit. P. 234.
२. Ibid,

रीकी उद्योगो को पनपने का अवसर मिला। जब इगलैण्ड से फिर व्यापारिक सम्बन्ध शु हुआ तो इनमे से कुछ उद्योगो को इस प्रतियोगिता से क्षति पहुची। फलस्वरूप १८१५ में अमरीका में सरक्षण की नीति ने बडा जोर पकडा। पेनसिलवेनिया मे हेनरी केरी के नेतृत्व मे सरक्षण के समर्थको का एक प्रमुख समुदाय उत्पन्न हुआ। केरी सरक्षण का समर्थन इसलिये करता था कि उसका विश्वास था कि "इससे उद्योगो मे विभिन्नता आ जाती है, जबकि स्वतत्र व्यापार के अन्तर्गत विशिष्टीकरण से देश के सब लोग या तो कच्चा माल जुटाने मे लग जाते है, या वस्तुओ के यातायात मे अथवा विनिमय मे।"[1] उसका यह भी कहना था कि अनाज के निर्यात से भूमि की उत्पादनशक्ति समाप्त हो जाती है। एस. एन. पैटन (१८५२-१९२२) ने भी इसी प्रकार की दलीले ी थी।

जर्मनी मे संरक्षण का सबसे बडा समर्थक फ्रैडरिक लिस्ट था। जर्मनी की संरक्षण नीति उस देश की राष्ट्रवादी नीति का परिणाम थी। १८०० मे फिश्ते (Fichte) ने एक परिपूर्ण राष्ट्र के विचार को जन्म दिया। हेगल ने व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा राजनीतिक लक्ष्य की प्रमुखता पर अधिक जोर दिया। इन राजनीतिज्ञो से प्रभावित होकर लिस्ट ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। लिस्ट ने व्यक्तिगत सम्पत्ति पर नही वरन् राज्य की भलाई पर जोर दिया। उनके विचार मे एडम स्मिथ एक अत्यन्त भौतिकवादी, व्यक्तिवादी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति था। वह राष्ट्र पर जोर नही देता था और यही कारण था कि लिस्ट ने एडम स्मिथ की आलोचना की। लिस्ट का यह भी कहना था कि यह आवश्यक नही कि जिस बात मे इगलैण्ड की भलाई हो, उसी बात में दूसरे देशो की भी भलाई हो। उसने इस बात पर जोर डाला कि प्रत्येक देश मे विभिन्न प्रकार के उद्योग होने चाहिये। क्योंकि उसका विश्वास था कि "जो देश केवल कृषि करता है, वह ऐसे व्यक्ति के समान है, जिसके एक हाथ नही होता।"[2]

अमरीका और जर्मनी से ये विचार दूसरे देशो में पहुचे। सरक्षण के पक्ष में जो तर्क दिये जाते है, उन्हे यहा प्रकट किया जाता है।

५. संरक्षण के पक्ष मे दलीले (Arguments for Protection)—संरक्षण के पक्ष मे जो दलीले दी जाती है, वे निम्नलिखित है —

(१) **शिशु उद्योगों का तर्क**—इगलैड का जेम्स स्टुअर्ट मिल केवल इसी दलील को मानता था। मिल ने इस दलील की व्याख्या इस प्रकार की थी, "जो कर संरक्षण के लिये लगाये जाते है, वह यदि काफी समय तक रहे तो वह अपने प्रयोग के लिये सबसे कम असुविधाजनक उपाय है, जिसे कोई भी राष्ट्र अपना सकता है। पर यह आवश्यक है कि सरक्षण केवल तभी दिया जाय जब यह विश्वास हो जाय कि कुछ समय पश्चात् संरक्षित उद्योग इससे मुक्ति पा सकेगा।"[3]

---

१. Carey. Principles of Social Science, Vol. II, P. 242
२. F. List : The National System of Political Economy.
३. J. S. Mill: Principles of Political Economy, Book V, Ch. 10. Sec. 1.

इस दलील को लगभग सभी अर्थशास्त्री मानते हैं। दलील यह है कि यदि किसी उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से सरक्षित रखकर विकसित होने के लिये समय दिया जाय, तो वह थोडे समय में विकसित होकर बडी मात्रा की उत्पत्ति के लाभो को उठा सके और आगे चल कर संरक्षण के बिना अपने पैरो पर खडा हो सकेगा।

यह दलील ऐसे देशो पर, जिनमे उद्योग देर से प्रारम्भ होता है, विशेष प्रकार से लाग् होती है। ऐसे देशो में कुछ ऐसी सुविधाये होती है, जिनसे उस समय तक लाभ नही उठाया जा सकता जब तक कि विदेशी प्रतियोगिता को कुछ समय के लिये दूर न रखा जाय। पर इस दलील को सर्व-स्वीकृति नही मिल सकी है। इसकी आलोचना दो कारणों से हुई है (अ) एक बार सरक्षण मिल जाने पर उद्योग को स्वार्थ आ घेरता है और तब सरक्षण को हटाना असम्भव-सा हो जाता है। (ब) एक बार इस आधार पर सरक्षण दे देने से सब प्रकार के उद्योग सरक्षण मागने लगते है। परिणामस्वरूप राजनीतिक भ्रष्टाचार फैल जाता है।

पर इन कमजोरियो के होते हुए भी ससार के बहुत से देशो ने इसी दलील के आधार पर सरक्षण द्वारा अपना औद्योगीकरण किया है, जैसे अमरीका, बहुत से ब्रिटिश राज्य और भारत।

स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक कहते है कि स्वतन्त्र व्यापार आदर्श होता है। सरक्षण से तो केवल अस्थायी रूप से काम निकाला जा सकता है।

(२) **उद्योग का विभिन्नता-सम्बन्धी तर्क**—जर्मनी के फ्रैडरिक लिस्ट व दूसरे लेखको ने यह दलील दी। इसके अनुसार किसी देश के पास उत्पादन व व्यवसाय के विभिन्न साधन होने चाहिये। सतुलित आर्थिक प्रणाली के लिये यह आवश्यक है। किसी एक अथवा थोडे से उद्योगो पर निर्भर रहना राजनीतिक व आर्थिक दोनो दृष्टियों से भयानक है। राजनीतिक दृष्टि से तो इसके अर्थ यह होते है कि ऐसी दशा मे राष्ट्र को विदेशी व्यापार पर अत्यधिक निर्भर रहना पडेगा, जो युद्ध के समय मे समाप्त हो सकता है। आर्थिक दृष्टि से यह इसलिए भयानक है कि ऐसा करने से कुछ परिस्थितियो मे उस उद्योग मे गडबडी मच जाने के कारण देश मे आर्थिक अव्यवस्था पैदा हो सकती है। कृषि-प्रधान देशों को तो उद्योगो की भिन्नता की बडी आवश्यकता है, क्योकि कृषि से आय कम होती है और देश कमजोर भी रहता है। इसके अतिरिक्त कृषि-प्रधान देश अधिक सास्कृतिक व सामाजिक उन्नति भी नही कर सकते। यह दलील भारत पर पूर्णत. लागू होती है।

किन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इस दलील से तुलनात्मक व्यय का सिद्धान्त पूर्णत: समाप्त हो जाता है, क्योकि इसके अनुसार देश उन वस्तुओं का भी उत्पादन करता है जिससे उसे अपेक्षाकृत लाभ न हो।

(३) **रोजगारी का तर्क**—यह कहा जाता है कि संरक्षण के द्वारा औद्योगिक विकास से देश में रोजगारी बढ़ जाती है। यदि संरक्षण न मिले तो विदेशी प्रतियोगिता

पुराने उद्योगों को भी समाप्त करके देश में बेकारी फैला देगी। १९वी शताब्दी में विदेशी प्रतियोगिता के कारण भारतीय दस्तकारी का पतन और फलस्वरूप फैलने वाली बेकारी इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों का कहना है कि संरक्षण से रोजगार बढता नही, वरन् इससे केवल रोजगार संरक्षित उद्योगो में दूसरे उद्योगो से आ जाता है। इसके अतिरिक्त यदि विदेशी प्रतियोगिता देशी उद्योगों की समाप्ति भी कर देती है, तो भी उस देश मे दूसरे निर्यात-सम्बन्धी उद्योग विकसित हो सकते है, अथवा वहां के लोग दूसरे स्थानों को जा सकते है। ऐसा यह मान कर कहा जाता है कि श्रम व पूजी सरलतापूर्वक एक उद्योग से दूसरे उद्योग और एक देश से दूसरे देश को जा सकते है। वास्तव में ऐसा बहुत धीरे-धीरे होता है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक यह भी मान लेते है कि देश के सारे उत्पादन-साधन पूर्वतः पूर्णरूप से नियोजित है; जब कि वास्तविकता यह है कि भारत जैसे देश मे ऐसे साधनो का पर्याप्त रूप मे नियोजन नही हुआ है।

(४) **राष्ट्रीय साधनों की बचत**—केरे और पैटेन के कथनानुसार स्वतन्त्र व्यापार का परिणाम यह हुआ कि अमरीका की सारी फसलो का निर्यात हुआ और भूमि की उत्पादन-शक्ति को क्षति पहुची। इगलैड मे जैवेन्स ने कोयले के निर्यात के सम्बन्ध में भी यही दलील दी थी। दक्षिणी अफ्रीका मे सोने के सम्बन्ध मे और भारत मे अभ्रक और काली धातु के सम्बन्ध मे यही दलील दी जाती है।

इस दलील मे काफी जोर है। क्योकि यदि कोई देश कच्चे माल का निर्यात करता है तो इससे उसे व्यवसाय के लाभ की हानि तो होती ही है, साथ ही जब कच्चे माल की समाप्ति हो जायगी, तब उसे भयकर क्षति पहुचेगी।

(५) **सुरक्षा का तर्क**—एडम स्मिथ का कहना है कि "सुरक्षा सदैव अमीरी से कही महत्वपूर्ण है।" कहा जाता है कि भले ही कोई देश आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली न हो, उसको सैनिक दृष्टि से बहुत अधिक शक्तिशाली होना चाहिये। हिटलर जर्मनी के लोगो से कहा करता था, "बन्दूके मक्खन से कही अच्छी होती है।" इस दलील के अनुसार उन उद्योगो के विकास को प्रोत्साहन देना चाहिये, जिनसे सुरक्षा सम्बन्धित है।

स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक कहते है कि यह तो अर्थशास्त्र की नही बल्कि राजनीति की बात है। आर्थिक दृष्टि से तो स्वतन्त्र व्यापार ही आदर्श है।

(६) **आय-सम्बन्धी तर्क**—आय की दृष्टि से सरक्षण का समर्थन होना है। संरक्षण की दृष्टि से लगाये गये आयात-करो से अच्छी आय होती है। भारत मे आयात-निर्यात करो से बहुत लाभ हुआ है।

पर आय व संरक्षण एक सीमा तक परस्पर-विरोधी भी है। यदि पूर्ण संरक्षण प्रदान किया जाय तो सरकार को कोई आय नही होगी, क्योकि इससे विदेशी व्यापार बन्द हो जाता है। जब विदेशी वस्तुएँ आयेगी ही नही तो उन पर लगे करों से आय भी बन्द हो जायगी। यदि हम आय चाहते है तो विदेशी वस्तुओं को आने देना चाहिये। पर इससे

हमारे उद्योगों को संरक्षण प्राप्त नही होगा। यह विरोध कुल संरक्षण और कुल आय में है पर यदि कर कुछ हल्के हों तो आय भी होती रहेगी और संरक्षण भी मिलता रहेगा। ज्यादा अच्छा तो यह है कि संरक्षण का समर्थन उद्योगों के संरक्षण के लिये किया जाय, आय के लिये नही।

(७) **प्रमुख उद्योग का तर्क**—यदि हम यह चाहते है कि किसी देश का औद्योगिक ढाचा स्थिर व मजबूत रहे तो यह आवश्यक है कि उसमें कुछ प्रमुख उद्योगों का विकास किया जाय। यदि किसी देश मे इन उद्योगों के लिये तुलनात्मक सुविधायें न भी हों तो भी उन्हे विकसित करने के लिये उनका सरक्षण आवश्यक है।

(८) **देशभक्ति का तर्क**—संरक्षण का समर्थन देशभक्ति की दृष्टि से भी किया जाता है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि जहां तक हो सके, वह देशी वस्तुओं का ही प्रयोग करे। अस्तु, हमे देशीय उद्योगों को सरक्षण प्रदान करना चाहिये, जिसमे कि अच्छी वस्तुओं का उत्पादन हो सके। वर्त्तमान शताब्दि के आरम्भ में भारत मे स्वदेशी भावनायें बडी शक्तिशाली थी, जिससे विदेशी वस्तुओं की, विशेषतया अंग्रेजी वस्तुओं की बडी क्षति हुई।

(९) **आत्म-निर्भरता का तर्क**—एक और तर्क यह है कि हर देश को अपने आप में सम्पूर्ण होना चाहिये और अपने प्रयोग मे आने वाली वस्तुओ के लिये दूसरे देशों पर निर्भर नही रहना चाहिये। इसलिये भी संरक्षण आवश्यक है। दूसरे देशो पर निर्भर रहना युद्ध के दिनों मे विशेष रूप से हानिकर होता है और आजकल तो जब कि आकाश पर युद्ध के बादल मडरा रहे है, इस दलील का विशेष महत्व है।

(१०) अनुचित प्रतियोगिता की दशा मे तो सरक्षण अत्यधिक आवश्यक हो जाता है। यह प्रतियोगिता कीमतें घटाने, अवमूल्यन और सरकारी सहायता के रूप में होती है।

६. संरक्षण के विरुद्ध दलीलें (Arguments against Protection)—अब हम सरक्षण का दूसरा पहलू देखेगे। इसके विरुद्ध निम्नलिखित दलीले दी जाती है—

(१) उद्योगो मे स्वार्थ आ जाता है। एक बार जब किसी उद्योग को सरक्षण मिल जाता है तो उसको हटाना बहुत कठिन हो जाता है। शिशु के नाम पर वे उद्योग सरक्षण के हटते ही शोर मचाने लगते है।

(२) सरक्षण मे उद्योग मे आलस्य या शिथिलता आ जाती है। विदेशी प्रतियोगिता के समाप्त हो जाने से देश के व्यवसायी लापरवाह हो जाते है। वे किसी प्रकार की उन्नति नही करते।

(३) संरक्षण से एकाधिकार का जन्म होता है। विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हो जाने से देश के व्यवसायी गुटबन्दी द्वारा एकाधिकार के लाभ प्राप्त करने लग जाते है।

(४) सरक्षण से भ्रष्टाचार फैलता है। उद्योगपति विधान सभा के सदस्यों को घूस देकर सरक्षण नही हटने देते। अमरीका मे किसी समय इसका बड़ा जोर था।

(५) ऐसी दशा मे अरक्षित उद्योग और उपभोक्ता हानि उठाते है, क्योकि आयात-करो के कारण मूल्य अत्यधिक बढ़ जाते है।

(६) धन का वितरण असमान हो जाता है। सरक्षण पूजीवादियों का पक्ष करता है और वे और अधिक अमीर हो जाते है। इस प्रकार अमीरी और गरीबी के बीच की खाई बढती ही जाती है।

(७) सरक्षण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे तनाव आ जाता है। इस प्रकार यह युद्ध के बीज बोता है।

(८) सरक्षण के विरुद्ध सबसे बडी दलील यह है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन मे कठिनाइया उपस्थित होती है। श्रम, पूजी व उत्पादन के दूसरे साधन सर्वाधिक पुरस्कार देने वाले उद्योगो मे नही जा सकते। इन साधनों का वितरण आर्थिक नियमो के अनुकूल नही रह जाता। फलस्वरूप, वह वस्तुओ के उत्पादन मे अपना पूरा सहयोग नही दे पाते और उत्पादन मे कमी होने के कारण जीवन-स्तर नीचा हो लगता है, और इस प्रकार उन्नति क जाती है।

इस दलील का यह उत्तर दिया जा सकता है कि जब तक सासारिक नागरिकता प्रारम्भ नही होती तब तक आर्थिक रूप से शक्तिवान देशो की प्रतियोगिता मे अपने हितो की रक्षा के लिये पिछडे हुए देशो को सरक्षण का सहारा लेना आवश्यक है। इसलिये हम स निर्णय पर प चते है कि सिद्धान्त के रूप में चाहे स्वतन्त्र व्यापार आदर्श हो, किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से कुछ परिस्थितियों मे सरक्षण आवश्यक होता है; विशेषकर भारत जैसे अर्ध-विकसित देशो मे।

७. विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध (Barriers to Foreign Trade)– आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए देशो मे सरक्षणवाद के जोर पकड मे, विदेशी व्यापार पर, अनेक प्रतिबन्ध लगा गये है। विदेशी व्यापार पर कई प्रकार की कावटे हो सकती है। उनमे से कुछ ये है:—(१) आयात अथवा निर्यात का काननी निषेध, (२) विनिमय नियन्त्रण, (३) आयात-निर्यात कर, (४) पक्षपातपूर्ण व्यवहार, (५) कोटा, (६) आयात के लिये लाइसेस, (७) आयात-सम्बन्धी एकाधिकार।

(१) **वैधानिक निषेध**—कभी-कभी सरकार की ओर से कुछ विशेष परिस्थितियों मे कुछ वस्तुओ का आयात अथवा निर्यात बन्द कर दिया जाता है। उदाहरण के लिये कही-कही पर "स्वच्छता के नियम" होते है। एक बार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने अर्जेनटाइना के किसी प्रदेश से आने वाले गो-मांस को बन्द कर दिया था क्योकि वहा पर जानवरो के मुह और पैर में बीमारी हो गई थी। बाद में यह निरोध सम्पूर्ण अर्जेनटाइना पर लगा दिया गया। कभी-कभी कुछ देश परोक्ष रूप से आयात कम करने के लि निर्यात

करने से इन्कार कर देते है, जब तक कि उत्पादन का कुछ काम उसी देश में न होने लगे। रूमानिया इसी शर्त पर अपने तेल का निर्यात करने को तैयार था कि उसे रूमानिया में ही साफ किया जाय। इसके विपरीत हंगरी की यह शर्त थी कि वह तभी रूमानिया से तेल लेगा जब कि उसकी सफाई निर्यात के बाद हो।[1]

(२) **विनिमय नियन्त्रण**—जब राज्य की ओर से विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय मे सरकारी हस्तक्षेप होता है, तो उसे "विनिमय नियन्त्रण" कहते है। स प्रकार विदेशी व्यापार को कम करके दूसरी दिशाओ की ओर कर दिया जाता है। ऐसी दशा में सरकार एक निश्चित राशन के अनुसार व्यापारियों को दूसरे देशों में केवल सीमित रूप मे क्रय करने का अधिकार देती है। यही नही, वह विनिमय को बिलकुल बन्द भी कर सकती है। उदाहरणार्थ, एक अमरीकन, जो जर्मनी की वस्तुओ का निर्यात करता है, उसे इस बात के लिये बाध्य किया जा सकता है कि वह वहा से मिले हुए मार्क से जर्मनी में ही क्रय करे। दूसरे उपाय का नाम विनिमय क्लियरिंग (Exchange Clearing) है। इस प्रकार एक जर्मन जो अमरीका से १००० डालर का माल खरीदता है उसके लिये यह आवश्यक होगा कि वह उस व्य को जर्मनी में ही किसी बैंक के पास जमा कर दे और यदि कोई जर्मन उसी दाम का माल किसी अमरीकन को बेचता है तो उस बैंक से उसका भुगतान हो सकता है। स प्रकार यह प्रयत्न किया जाता है कि बिना विदेशी विनिमय के विदेशी व्यापार चलता रहे।

(३) **तटकर** (Customs Duties)—यह बहुत प्राचीन उपाय है, जिसके अन्तर्गत आयात और निर्यात पर आयात व निर्यात कर लगाये जाते है। निर्यात कर की अपेक्षा आयात कर अधिक प्रचलित है। जब कर परिमाण अथवा माप के अनुसार लगाया जाता है तो वह निश्चित कर (specific duty) कहलाता है। जैसे १ आना प्रति गज कपडा अथवा दो रुपये प्रति मन गेहू। जब यह कर मूल्य के अनुसार लगता है तो इसे मूल्यानुसार कर (*Ad Valorem*) कहते है जैसे १०% मोटरों पर अथवा रेडियो पर।

इस प्रकार के करों का उद्देश्य या तो आय प्राप्त करना होता है अथवा संरक्षण देना। सूती कपडे के उद्योग को संरक्षित करने के लिए कच्ची कपास के आयात पर कर लगा कर उसे उत्पादक के लिये सस्ता बनाया जा सकता है अथवा सूती कपड़ों पर आयात कर भी लगाया जा सकता है। बाद का उपाय अधिक प्रचलित है। वास्तव में आय व संरक्षण में वैमनस्य है। भारी संरक्षण कर लगाने से आयात कम हो जाते है, जिससे आय पर बुरा प्रभाव पड़ता है। थोड़े कर से आमदनी हो सकती है किन्तु संरक्षण के लिए वह व्यर्थ है। साधारणत: ऊंचे करों से आय और संरक्षण दोनों प्रकार के प्रभाव हो सकते है।

(४) **पक्षपातपूर्ण व्यवहार**—कभी-कभी विभिन्न देशों की वस्तुओं के साथ लगने वाले करों पर पक्षपातपूर्ण बर्ताव होता है। उदाहरण के लिए, १९३२ के ओटावा समझौते

1. B.W. Knight : Economic Principles in Practice, p. 344.

के अनुसार भारत में अंग्रेजी वस्तुओं के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार होता था। भारत की वस्तुओ के साथ भी ब्रिटेन मे पक्षपातपूर्ण व्यवहार होता था। इस प्रकार के समझौतों से व्यापारिक दल बन जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इस प्रकार कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी हो जाता है कि जिन देशों की वस्तुओं पर अधिक कर लगे हों, वे अपने देशों मे बहुत ऊचे आयात कर लगा दें।

(५) **कोटा प्रतिबन्ध** (Quota Restrictions)—कोटा दो प्रकार के होते है : (क) कस्टम्स कोटा (Customs Quota) और (ख) आयात कोटा (Import Quota)। पहले प्रकार के कोटे के अनुसार किसी वस्तु की कुछ मात्रा कम कर पर ली जाती है और उस मात्रा के पश्चात् पूरा कर लिया जाता है। यह मात्रा समझौते द्वारा निश्चित की जाती है, जैसे अमेरिका कैनाडा की क्रीम व दूसरी वस्तुओ के साथ इसी प्रकार का व्यवहार करता है। आयात कोटे का प्रभाव व्यापार के ऊपर अधिक गंभीर होता है। इसमें एक मात्रा के बाद फिर उस वस्तु का आयात उस निश्चित समय मे हो ही नही सकता।

आयात करो से राज्य को आय होती है, पर कोटा प्रणाली में विदेशी मूल्य का और देशी मूल्य का अन्तर आयात करने वाले की जेब में जाता है और कोटे के लिए संपूर्ण व्यवस्था का व्यय सरकार को भुगतना पडता है। यदि निर्यात करनेवालों के पास लाईसेंस हों और वह सगठित हो तो यह रुपया उनकी जेबो में भी जा सकता है।

कोटे बहुत लोचपूर्ण होते है क्योकि वे किसी विशेष नियम से नही बनते।

इस नियम से एक लाभ और भी है। वह यह कि इस प्रणाली में चूकि मात्रा निश्चित की जाती है, इसलिए देशी व्यापारी अपने उत्पादन की उस मात्रा के अनुसार उसे व्यवस्थित कर सकते है। कोटे की प्रणाली आयात करों की अपेक्षा कम बुरी समझी जाती है। इसके अतिरिक्त दूसरे देशों से व्यापारिक समझौते करते समय इनमे सौदे अच्छे हो सकते है। इसी समझौते के कारण जब आयात कर बढ़ाना आवश्यक हो जाता है तो इन्हे संरक्षण बढाने के लिए कम भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सर्वाधिक पक्षपातपूर्ण राष्ट्र का सिद्धान्त इसके द्वारा हट सकता है।

किन्तु कोटा प्रणाली से बहुतसी हानियां भी है। देश का बाजार संसार के बाजार से पृथक् हो जाता है। यदि दूसरे देशों में मूल्य गिर रहे हों तब भी उनका कोई प्रभाव देश के बाजार पर नही पडता। कोटा निश्चित होने के कारण और अधिक वस्तुएं नही मंगाई जा सकती। पर आयात करों के विषय में ऐसा नही होता, क्योकि उसमें संसार के मूल्यों के गिरने के साथ-साथ देश में भी मूल्य गिर जाते है। इसी प्रकार यदि विदेशी निर्यात करने वाले अपने व्यय कम कर देते हैं तो उससे आयात करने वाले देश के उपभोक्ता उतना लाभ नही उठा सकते जितना कि स्थिर आयात कर की दशा में उठा सकते है। कोटा प्रणाली से सरकार को आय में बड़ी क्षति उठानी पड़ती है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली के

अन्तर्गत अधिकतर शक्ति नियम बनाने वालों के हाथ में रहती है, शासकों के हाथ में नही।

(६) **आयात लाइसेंस**—इस प्रणाली के अन्तर्गत बिना लाइसेंस के सरकार किसी प्रकार के आयात को आज्ञा नही देती। इस प्रकार आयात कम हो जाते है।

(७) **आयात एकाधिकार**—कभी-कभी सरकार आयात कम अथवा भेदभाव करने के लिए, सरकारी एकाधिकार स्थापित कर लेती है, जैसा कि रूस में है।

दोनो युद्धों के बीच के समय में, विशेषकर महामंदी के दिनों में, विभिन्न देशों द्वारा आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना से इन प्रतिबन्धों का व्यापक प्रयोग हुआ था।

निर्देश पुस्तकें

Cairnes—Leading Principles of Political Economy.

A. Smith—Wealth of Nations, Book IV, Ch. II.

Carey—Principles of Social Science.

List, F.—National System of Pol. Economy.

Mill, L. S.—Principles of Pol. Economy.

Viner—Tariff Questions and the Economist.

Beveridge—Tariff.

Benham—Economics.

Ganguli—Reconstruction of Foreign Trade.

League of Nations—Commercial Policy in the Post-War Period.

Tarshis, L.—Elements of Economics.

अध्याय ४१

भुगतान-तुला

(BALANCE OF PAYMENTS)

१. भूमिका—पिछले दो अध्यायो मे हमने इस विषय पर विचार किया कि किन कारणो से एक देश दूसरे देश के साथ व्यापार करने में लाभ समझता है और यह भी बतलाया गया है कि किन-किन दशाओं में वह ऐसे व्यापार को सीमित करना पसन्द करता है। आयात की कमी करने का एक उद्देश्य यह भी होता है कि भुगतान-तुला (Balance of Payments) अर्थात् भुगतान का संतुलन करना। यदि एक देश, किसी कारणवश आयात की कीमत वस्तुओ (या सेवाओं) का निर्यात करके नही दे सकता, तो उसको आयात मे कमी करनी ही पडेगी, क्योंकि यदि सच पूछा जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मतलब केवल यही है कि एक देश दूसरे देश की वस्तुओ और सेवाओ का अदल-बदल या विनिमय करे। इस अध्याय मे हम यह अध्ययन करेगे कि भुगतान-तुला में किस प्रकार असमता पैदा हो जाती है और उसको किस प्रकार साधारणतया ठीक किया जाता है। इसके पहले हमें भुगतान-तुला (Balance of Payments) और व्यापार-तुला (Balance of Trade) के अतर को समझ लेना चाहिये।

२. व्यापार-तुला और भुगतान-तुला (Balance of Trade and Balance of Payments)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चाहे स्वतन्त्र हो, चाहे नियत्रित, चूकि यह एक प्रकार का वस्तु-विनिमय है, यह किसी-न-किसी समय वस्तुओं और सेवाओं के आयात और निर्यात पर उसी मात्रा में प्रभाव डालेगा जिस हद तक वह स्वतंत्र है या नियत्रित। कोई भी देश निर्यात मे कमी किये बगैर आयात मे कमी नही कर सकता। यदि देशों को अपना अस्तित्व रखना है, तो उनके लेखे का सतुलन आवश्यक है, जैसे दो व्यक्तियो के बीच होता है।

प्रत्यक्ष (Visible) और अप्रत्यक्ष (invisible) आयात और निर्यात की चीजों को समझना जरूरी है। जब वस्तुए, जिनमे निधि भी शामिल है, देश में बाहर से लाई जाती है या देश के बाहर भेजी जाती है, तो बन्दरगाहों पर उनका लेखा कर लिया जाता है। वह व्यापार की "प्रत्यक्ष" वस्तुए कहलाती है। सेवाओ के आयात और निर्यात का कोई लेखा नही किया जाता। इसलिये वे "अप्रत्यक्ष" वस्तुए कहलाती है। व्यापारा-तुला का सम्बन्ध केवल वस्तुओं और निधि अर्थात् प्रत्यक्ष चीजों के मूल्यों से ही है। लेखा-तुला (Balance of Accounts) या भुगतान-तुला (Balance

of Payments) का अर्थ समस्त विकलन (Debits) या समाकलन (Credits) से है, चाहे वह प्रत्यक्ष विषयो के कारण हो या अप्रत्यक्ष के कारण। विकलन और समाकलन का अन्त में सतुलन होना आवश्यक है। आयात और निर्यात व्यापार की वस्तुओं का सतुलित होना आवश्यक नही, और ऐसा होता भी बहुत कम है।

जब आयात निर्यात से अधिक होते है (एक वर्ष मे), तब यह कहा जाता है कि व्यापार-तुला विपरीत, अभावसूचक, निष्क्रिय या देश के लिये प्रतिकूल है; जब निर्यात अधिक होता है तो वह वास्तविक क्रियाशील तथा अनुकूल कहलाता है। फिर भी यह आवश्यक नही है कि अनुकूल व्यापार-तुला देश के हित में ही हो। यह शब्द इगलैण्ड की अठारहवी शताब्दी की वाणिज्य-प्रणाली (Mercantilist School) के समय से चले आ रहे है। वे लोग आयात के ऊपर निर्यात की अधिकता को हितकर समझते थे, क्योकि इस अधिकता के कारण उनके देश मे अधिक सोना आता था। महत्त्वपूण वस्तु व्यापार-तुला नही है, बल्कि भुगतान-तुला या लेखा-तुला है। किसी देश के लेख का सतुलन अत मे होना ही चाहिये। निरन्तर प्रतिकूल भुगतान-तुला का अर्थ यह है कि वह देश दिवालिया होने जा रहा है।

उक्त कथन के अनुसार एक अनुकूल सतुलन का अर्थ यह नही है कि वह देश अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की अनुकूल स्थिति मे है या वह उन्नतिशील है। वास्तव मे इसकी विपरीत स्थिति की अधिक सम्भावना है। द्वितीय महायुद्ध के पहले ग्रेट ब्रिटेन की साधारणत: प्रतिकूल व्यापार-तुला रहती थी जबकि भारतवर्ष की अनुकूल व्यापार-तुला। ग्रेट ब्रिटेन भारत से कही अधिक समृद्धिशाली था। भारत के अनुकूल व्यापार-तुला से केवल यही स्पष्ट हुआ कि ग्रेट ब्रिटेन से आई हुई वस्तुओ और सेवाओ का सतुलन करने के लिये भारतवर्ष को वस्तुओ के रूप मे अधिक भुगतान करना पडता था। हो सकता है कि एक अनुकूल व्यापार-तुला किसी देश की केवल ऋणी स्थिति का प्रदर्शन करती हो। इसका सम्पत्ति या गरीबी से कोई सम्बन्ध नही। महत्त्व की बात व्यापार-तुला नही है बल्कि यह है कि किस प्रकार की वस्तुए देश मे आती है और किस प्रकार की बाहर भेजी जाती है। भारतवर्ष का निर्यात अधिकतर कच्चा माल रहा है और आयात निर्मित वस्तुए। व्यापार-तुला के होते हुए भी इससे इस देश की पिछडी हुई आर्थिक दशा का ज्ञान होता है।

३. भुगतान-तुला में आने वाले विषय (Items Entering Balance of Payments)—किसी देश की भुगतान-तुला क्या है? विभिन्न विषय, जो इसके अन्तर्गत है, नीचे दिये जाते है—

(अ) मुख्य विषय वस्तुओ का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है, जैसा कि बतलाया गया है। आयात और निर्यात के मूल्य की तुलना करने से हमे व्यापार-तुला (Balance of Trade) का ज्ञान होता है।

(ब) सके उपरान्त अप्रत्यक्ष आयात और निर्यात आते है। ऐसी सेवाएँ कई

प्रकार की हो सकती है, जैसे 'यातायात की सेवाएँ, जहाजों का भाडा, यात्रियो का किराया, बन्दरगाह और नहर के किराये, ोस्ट, ेलीफ़ोन तथा तार की शुल्क व्यावसायिक सेवाएँ (शुल्क तथा कमीशन), अर्थ-सम्बन्धी सेवायें (दलालों के शुल्क इत्यादि), और यात्रियों की आवागमन सेवायें।"[१] इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इनमें से कोई भी सेवा दो बार न गिनी जाय। स प्रकार यदि एक बाहर से आई हुई वस्तु फिर एक बढ़े हुए दाम पर बाहर भेजी जाती है, तो उस समय अप्रत्यक्ष निर्यात मे आने वाली सेवाओ के भी कारण ए अन्तर आयात और निर्यात के दामों ारा प्रदर्शित होंगे। ऐसी दशा मे सको अलग-अलग नही गिनना चाहिये।

अप्रत्यक्ष आयात का उदाहरण उन विभिन्न भुगतानों से दिया जा सकता है, जो भारतवर्ष को गलैण्ड को करना पड़ा था, जैसे कि भारत की सेवाओ में लगे हुए अंग्रेजो और फौजी अफसरो की पेन्शने तथा भिन्न प्रकार के उपहार, छुट्टी तथा प्रवास-अवकाश (Furlough) के भते, भारतीयों के लिये की गई जहाजो तथा बीमा की सेवायें, गलैण्ड में भारतीय यात्रियों तथा विद्यार्थियों पर कि गए खर्चे त्यादि।

(स) कभी-कभी व्यापार-तुला और सेवाओं की तुला एक साथ कर दिये जाते है और साख के सतुलन से उनके अन्तर दिखला जाते है। सके अन्तर्गत एक ओर व्याज सतुलन है और दूसरी ओर पूजी-सतुलन हो सकता है।

व्याज-सतुलन (Interest Balance) मे निम्न बातें सम्मिलित है :—

सरकारी, म्युनिसिपल तथा निजी ऋणो के नियत ब्याज, परिवर्तनशील लाभ तथा लाभाश, लगान, इत्यादि।

ूजी-सतुलन (Capital Balance) मे ीर्घावधि तथा अल्पावधि विनियोगों (Investments) मे अन्तर देखना आवश्यक होगा। ीर्घावधि पूँजी निर्यात में विदेशी उद्योगो के अंश (Shares) तथा विदेश मे लिए गए ऋणों के पुनः भुगतान आते है। अल्पावधि ूजी निर्यात मे विदेश के बैको में जमा धन में कोई बढती विदेशी हुडी का रखना इत्यादि आते है।

सन् १९३९-४५ के महायुद्ध के पहले भारत मे रेलों तथा नहरों पर लगी हुई पूजी के व्याज के रूप मे इग्लैण्ड की भारी रकम का भुगतान करना पडता था। अब स्थिति बदल चुकी है। भारतवर्ष अब ऋणदाता है और इंग्लैण्ड ऋणी। लन्दन में भारत के खाते में लगभग १,७३३ करोड रुपये की स्टर्लिंग जमा हो गई थी। हमारा साख लेखा (Credit Account) इस प्रकार अनुकूल हो गया है।

(द) अन्त में कुछ ऐसे विषय भी है, जो भुगतान-तुला के अन्तर्गत माने जाते है। ये है सरकारी लेन-देन, जैसे कि कूटनीतिक प्रतिनिधियों (Diplomatic Representatives) के वेतन, आर्थिक-सहायता (Subsidies), हानि की पूर्तियां (Repara-

१. Haberler : Theory of International Trade. p. 17.

tions), धन के उपहार जैसे कि प्रवासियों (Emigrants) द्वारा स्वदेश में भेजा गया धन, इत्यादि।

४. "भुगतान-तुला" शब्द के विभिन्न अर्थ (Different meanings of the Term Balance of Payments)—हमने ऊपर उन विशेष विषयों को बतलाया है, जो भुगतान-तुला का पता लगाते समय साधारणतया ध्यान मे रखे जाते है। जो भी हो, इस शब्द का हमेशा एक ही अर्थ नही होता।

इस प्रकार :—

(१) किसी समय इसका अर्थ एक विशेष समय की अवधि में होने वाले विदेशी मुद्रा की खरीदी गई या बेची गई रकम से होता है। इस अर्थ के अन्तर्गत भुगतान-तुला में सदैव साम्य रहता है। यह इसलिए होता है कि खरीदी हुई रकम अवश्य ही बेची हुई रकम के बराबर होती है। यह विचार धारा हमारे अधिक काम की नही।

(२) इस शब्द का अर्थ एक दिए हुए समय के विदेश को भुगतान की हुई रकम या विदेश से मिली हुई रकम से भी होता है। यह बात ऊपर दी हुई (१) जैसी नही है। भुगतान केवल विदेशी द्रव्य खरीद कर ही नही किया जा सकता बल्कि पूर्वतः रखे हुए विदेशी द्रव्य का हस्तान्तरकरण किया जा सकता है। इस अर्थ के अन्तर्गत भुगतान-तु ा कुछ समय तक प्रतिकूल रह सकती है, परन्तु केवल उसी समय तक, जब तक कि पास रखा हुआ द्रव्य समाप्त नही होता। परन्तु पहले यह क्रियाशील अवश्य रही होगी जिसके कारण वह देश विदेशी द्रव्य का सचय कर सका।

(३) इस शब्द का प्रयोग एक और अधिक सीमित अर्थ में भी होता है। उस समय इसका अर्थ आय-लेखा (Income Account) की भुगतान-तुला से होता है। इसके अन्तर्गत व्याज की तुला, व्यापार-तुला और सेवाओ की तुला आएंगे। यदि इस दृष्टि से तुला प्रतिकूल है तो उस समय या तो पूजी की तुला क्रियाशील होती है और यह सोने या विदेशी द्रव्य का परावर्तन हुआ है। इस दृष्टि से प्रतिकूल तुला यह सूचित करती है कि ऋणी होने की दशा को या दायित्वों की तुला को, जिन्हे सोना देकर या अशों का निर्यात करके पूरा करना चाहिये।

(४) ऊपर दिये हुए अर्थ से एक कदम और आगे बढ़ने पर इस शब्द का अर्थ "अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता" (International Indebtedness) होगा, जो कि किसी नियत समय के अन्दर आने वाले दायित्वों के अन्तर्गत नही होता। यह किसी समय के स्वत्वो (Claims) और दायित्वों (Liabilities) की सपूर्ण मात्रा का प्रदर्शन करता है।

(५) भुगतान-तुला का सबसे अधिक महत्व विनिमय की दर (Rate of Exchange) पर उसके प्रभाव द्वारा उत्पन्न होता है। विनिमय की दर का अर्थ है स्वदेशी मुद्रा का विदेशी मुद्रा या मुद्राओं की दृष्टि से मूल्य। इस दृष्टिकोण से यह पर्याप्त नही है कि

हम किसी दिये हुए क्षण में या किसी समय की अवधि में पूरे होने वाले दायित्वों का माप करें। किसी दिये हुए काल में किये गये सब भुगतानों को बाद में लिखने से भी कोई मतलब नही निकलता। ऐसी परिस्थिति में सब से अच्छी विधि तो यह है कि यहां पर माग और पूर्ति के सिद्धांत का प्रयोग किया जाय। स्वदेशी मुद्रा की दृष्टि से इसको विदेशी मुद्रा का दाम माना जा सकता है। उदाहरण के लिए १ रुपये का दाम १ शि. ६ पै. है। इस दाम का निर्णय किस प्रकार किया जाता है? स्पष्ट है कि यह माग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है। जब किसी विदेशी को भुगतान करना पडता है तब स्वदेशी मुद्रा की पूर्ति रहती है (या विदेशी मुद्रा की माग)। इसके विपरीत स्थिति में जब किसी विदेश के व्यक्ति से भुगतान प्राप्त करना होता है, तो उस समय विनिमय बाजार मे स्वदेशी मुद्रा की माग (या विदेशी मुद्रा की पूर्ति) होती है। भुगतान-तुला में लिये गए विषय स्वदेशी मुद्रा (या विदेशी मुद्रा) की पूर्ति या मांग बढाते है। हेबरलर (Haberler) का कहना है, "भुगतान-तुला शब्द का उपयोग उस समय पूर्ण माग या पूर्ति की दशा के अर्थ में होता है।"[१] इस अर्थ में हम इस शब्द का प्रयोग विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) के अध्ययन के समय करेंगे।

भारतवर्ष का सन १९५१ का भुगतान-तुला का लेखा नीचे दिया गया है.—

अ—चालू खाता	(करोड रुपयो मे)		
	आय	भुगतान	शुद्ध
व्यापार	७३०.५	८७०.२	—१३९ ७
विदेशी यात्रा	—	२७ ७	—२७ ७
यातायात	४० २	१२ ३	+२७.९
बीमा	८.५	३ ०	+५.५
विनियोग आय	७ ८	३१ ३	—२३.५
सरकार, जो अन्य स्थान मे शामिल नही है	२२ ७	२६.६	—३.९
फुटकर	२५.२	८ ९	+१६.३
दान	१९.९	५.६	+१४.३
अन्य	४३.०	५.८	+३७.२
कुल चालू सौदे	८९७.८	९९१.४	—९३.५
भूल-चूक	—	२३.८	—२३.८

ब—पूंजी-खाता		(करोड़ पयों में)	
निजी (बैंकों को छोडकर)	आदेय	दायित्व	शुद्ध आदेय
दीर्घकालीन पूजी	—१२.६	—१५.३	+ २.७
अल्पकालीन पूजी	—	+०.९	—०.९

१. Haberler ; Op. Cit., p. 19-

सरकारी और बैंक संस्थाएं	आदेय	दायित्व	शुद्ध आदेय
दीर्घकालीन पूंजी			
सरकारी ऋण	—	+६३.३	—६३.३
बैंक ऋण	—	—	—
सिक्यूरिटी	०.१	—१.६	+ १.६
प्रतिशोध	—७.६	—२.४	—५.२
अन्य	—	—२.९	+ २.९
अल्पकालीन पूंजी			
सरकारी और बैंक संस्थाओं का दायित्व	—	+२३.७	—२३.७
अन्य	—५१.१	—२०.०	—३१.२
कुल	—७१.३	+४५.९	—११७.३

५. भुगतान-तुला का साम्य (Equilibrium of Balance of Payments)—जिस समय किसी देश की भुगतान-तुला साम्य पर होती है, उस स्थिति में स्वदेश की मुद्रा की माग उसकी पूर्ति के बराबर होती है। इस प्रकार उस समय मांग और पूर्ति की परिस्थिति न तो अनुकूल ही होती है और न प्रतिकूल। यदि भुगजान-तुला किसी देश की प्रतिकूल दिशा की ओर बढ़ती है तो उस समय वस्तुओं और सेवाओ के निर्यात या और दूसरे प्रकार के निर्यातों को प्रोत्साहन देकर या सब प्रकार के आयात को निरुत्साहित करके उसकी व्यवस्था करनी ही चाहिये। कोई भी देश सदैव प्रतिकूल भुगतान-तुला की स्थिति में नही रह सकता, जब कि यह सम्भव है ओर अनेक देशों में अक्सर ऐसा होता है कि उनकी व्यापार-तुला सदैव प्रतिकूल रहे। देशों के संपूर्ण दायित्वों और सपूर्ण आदेयों (Assets) का, व्यक्तियो के दायित्वों और आदेयों की भांति, अंततः सतुलन होना ही चाहिये।

इसका यह अर्थ नही है कि किसी देश की भुगतान-तुला प्रत्येक दूसरे देश का, जिससे कि उसका व्यापारिक संबंध है, अलग-अलग साम्य रहे। यह आवश्यक भी नही है और न वास्तविक संसार में ऐसा होता ही है। व्यापारिक सम्बन्ध अनेक रूपो के होते हैं। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष की भुगतान-तुला अमरीका के साथ क्रियाशील हो सकती है और इंगलैड या दूसरे देशो के साथ प्रतिकूल। भुगतान त्रिकोण रूप में किये जा सकते है जैसे, भारतवर्ष अमरीका को जूट भेजे और उसका भुगतान इंगलैड से आने वाली साइकिलों के रूप में हो, तथा इंगलैड को अमरीका से कच्ची कपास मिले। जब अधिक देशों से संबंध हो, तो भुगतान की अधिक जटिल विधियां सामने आ सकती है। पर अन्त में हर एक देश, जितना उसने सब देशों को निर्यात किया है, उससे अधिक मूल्य नही प्राप्त कर सकता।

इस प्रकार भुगतान-तुला में साम्य उस देश की अर्थ-व्यवस्था की दृढ़ता का प्रतीक है।

परन्तु असमता थोड़े समय या अधिक समय के लिए उत्पन्न हो सकती है। निरंतर असमता सूचित करती है कि देश आर्थिक तथा वित्त-विषयक (Financial) दिवालियापन की ओर बढ रहा है। हर एक देश को, इसलिए, अपनी भुगतान-तुला के साम्य को बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यह जानने के लिए कि यह किस प्रकार किया जा सकता है, हमें असमता के कारणों का भी अध्ययन करना होगा।

६. असमता के कारण (Causes of Disequilibrium)—एक देश की भुगतान-तुला में असमता किस प्रकार हो सकती है ? विविध विषय, जो भुगतान-तुला के अन्तर्गत है, हम पहले ही विस्तारपूर्वक बतला चुके है। कोई भी कारण, जो उन विषयों को निरन्तर एक ओर ले जाता है, असमता उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए, कुछ कारणो से व्यापारिक वस्तुओ के निर्यात में कमी हो सकती है और आयात वैसा ही रहे या प्रतिकूल दिशा की ओर बढे। इसी प्रकार दूसरे विषयों के बारे में भी विभिन्न प्रकार के कारणों द्वारा निर्यात में कमी हो सकती है। उदाहरण के लिए, व्यापारिक वस्तुओ को ले लीजिये। हमारे निर्यात में ऋतु-सम्बन्धी या दूसरे कारणों से गिरे हुए उत्पादन के कारण कमी हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में हमारी वस्तुओं की मांग गिर सकती है क्योंकि संभव है, इन वस्तुओ के उपभोक्ताओ की क्रयशक्ति कम हो गई हो या भारतवर्ष मे इन वस्तुओ की उत्पादन-लागत अपेक्षाकृत बढ गयी हो, जो अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे हमारी प्रतिद्वंद्वी शक्ति को कम कर देती है। हमारे निर्यात विदेशियों के लिये विनिमय-दर के बढ जाने से मंहगे हो सकते है, जैसेकि रुपये का मूल्य बढ जाय,उदाहरणार्थ, १ शि. ६ पै. से १ शि. ८ पै.। यदि हम कृत्रिम रूप से रुपये का मूल्य, जितना कि आर्थिक स्थिति के हिसाब से न्याययुक्त है, उससे अधिक रखें (जिसका कि हम अगले अध्याय में अध्ययन करेंगे) तो प्रतिकूल व्यापार-तुला और भुगतान-तुला का अस्तित्व बना रहेगा।

इसी प्रकार सेवाओं के अत्यधिक आयात के कारण असमता उत्पन्न हो सकती है, जो न तो निर्यात से पूरी होती है और न पूंजी के आयात, इत्यादि से।

७. असमता किस प्रकार सुधारी जा सकती है (How Disequilibrium may be corrected)—जब किसी देश की भुगतान-तुला में कोई गंभीर असमता उत्पन्न हो जाती है, उस समय यदि देश आर्थिक व्यवस्था दृढ रखता है, तो असमता को सुधारने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। प्रत्यक्ष है कि उन कारणों को, जो इस दशा की उत्पत्ति के कारण है, अवश्य ही हटा देना चाहिए। प्रतिकूल भुगतान-तुला को ठीक करने के लिए पांच महत्वपूर्ण विधियां है :—

(१) **निर्यात को उत्साहित करना तथा/या आयात को रोकना** (Stimulating Exports and/or checking Imports)—यदि निर्यात घट गया हो तो उसको बढ़ाने के लिए यत्न करना चाहिए। संभव है कि निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए देश में लागत के स्तर को गिराना पड़े। हो सकता है कि इस काम के लिये मजदूरी,ब्याज की

दरें और दूसरी आमदनी को कम करना पड़े और कीमतों को गिराने के लिए मुद्रा को संकुचित करना पडे।

व्यवसायियों को सरकारी सहायता देकर भी निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाता है। आयातों को पूर्ण निषेध के द्वारा या आयात-कर लगाकर या नियत-अंश-प्रणाली (Quota System) के द्वारा निरुत्साहित किया जा सकता है।

(२) दूसरी विधि यह है **कि स्वदेशी मुद्रा का बाहरी (विनिमय) मूल्य कम किया जाय,** जिससे विदेशियो के लिए स्वदेश की वस्तुएं सस्ती हो जाय। परन्तु इस मार्ग की विशिष्ट सीमाए है, क्योकि दूसरे देश भी वैसा ही करने लगेगे और विनिमय का "प्रतियोगी अवमूल्यन" (Competitive Depreciation) आरंभ हो जायगा जैसा कि तीसवे दस-वर्षीय काल में मदी के समय हुआ था।

(३) तीसरी विधि **मुद्रा की अपस्फीति या संकुचन करना** (Deflate the Currency) है। जब मुद्रा सकुचित होगी,तो दाम गिरेगे, जिससे निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा और आयात पर रोक लगेगी। परन्तु अपस्फीति की विधि अनेक खतरो से भरी हुई है। यदि दाम तेजी मे गिराये जाते है, परन्तु खर्चे, जो साधारणतया दृढ रहते है, (विशेषकर उन देशो की मजदूरी जहा श्रमिक सघ भली प्रकार संगठित है) उसी प्रकार कम नही होते, तो उस दशा मे देश को एक बडी मदी और बेकारी का सामना करना पड सकता है। इसलिए भुगतान-तुला को सुधारते समय यदि एक बार भी असमता उत्पन्न हो गई, तो उसको ठीक करना कठिन हो जाता है।

(४) चौथी विधि **विनिमय अवमूल्यन** (Devaluation) है। इसका प्रभाव वैसा ही है, जैसा कि मुद्रा का मूल्य कम करने का होता है। जब किसी मुद्रा का अवमूल्यन होता है (अर्थात् इसका धातु का भाग कम कर दिया जाता है) तो विदेशी मुद्रा में इसका मूल्य कम हो जाता है। इसका फल यह होता है कि विदेशी लोग अपनी मुद्रा के द्वारा हमारे देश में पहले से अधिक वस्तुएं खरीद सकते है। इससे निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु जब हम विदेशी वस्तुएं खरीदना चाहते है, तो हमारी मुद्रा के सस्ते हो जाने के कारण, हमें अधिक भुगतान करना पड़ता है। इस प्रकार आयात निरुत्साहित किये जाते है और समय बीतने पर व्यापार-तुला हमारे अनुकूल हो जाती है और भुगतान-तुला को ठीक कर देता है।

(५) अंत में एक विधि **विनिमय नियंत्रण** की है। हम जानते है कि अपस्फीति भयंकर है; अवमूल्यन का प्रभाव थोड़े समय के लिए होता है। और उसके द्वारा दूसरों को भी अपस्फीति करने का उत्साह मिल सकता है; और अवमूल्यन देश के मान पर आघात करता है। इसलिए इन विधियों से बचने का प्रयत्न किया जाता है और इसके बजाय शासन द्वारा विदेशी विनिमय का नियन्त्रण किया जाता है। सब निर्यातकर्ताओं को आज्ञा दी जाती है कि वे अपने विदेशी विनिमय केन्द्रीय बैंक के द्वारा करें और उसके बाद वह लाइसेंस

प्राप्त आयातकर्ताओं को बांट दिये जाते है। इनके अतिरिक्त और किसी को वस्तुओं के आयात करने की आज्ञा नही दी जाती। इस प्रकार आयात को सीमा के अन्दर रखकर भुगतान-तुला ठीक कर दी जाती है।

जिस समय अधिक देशो मे स्वर्ण-मान (Gold Standard) ठीक कार्य कर रहा था, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की असमता अपने आप ठीक हो गई थी। यह १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले हुआ था। सन् १९१९-३९ अर्थात् दो युद्धो के बीच के काल के पहले भाग मे स्वर्ण-मान फिर कार्यान्वित किया गया था जो कि महान मंदी के समय में नष्ट हो गया, जिसके कारण हम पहले ही एक अध्याय मे दे चुके है। स्वर्ण-मान का आप से आप प्रभावित होना बन्द हो गया इसलिए यह इस सम्बन्ध मे बेकार है।

कई अर्थशास्त्रियो ने अभी हाल मे यह विचार प्रकट किया है कि राष्ट्रीय आय में परिवर्तन लाकर साम्य पुन. स्थापित किया जा सकता है। निर्यात मे वृद्धि मे राष्ट्रीय आय बढ जाती है और फिर इसमे विदेशी माल खरीदने की हमारी शक्ति बढ जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आयात मे भी वृद्धि होगी और फलस्वरूप आयात और निर्यात के बीच साम्य बना रहेगा। किन्तु आधुनिक आर्थिक विश्लेषण से यह पता चलता है कि आयात में थोडी वृद्धि होगी क्योकि राष्ट्रीय आय का कुछ भाग बचत का रूप धारण कर लेगा। इस लिये पूर्ण साम्य की दृष्टि से मूल्य या विनिमय दर मे परिवर्तन लाना आवश्यक है।

हाल मे साम्य बनाये रखने के लिए तथा टूटने पर फिर से इसे लाने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की स्थापना की गई है। इसका नाम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष है। अगले अध्याय में हम इसका अध्ययन करेगे। यहा यह कहना काफी होगा कि अब किसी देश के लिये यह आवश्यक नही रह गया है कि असमता के कारणो को दूर करने के लिये मुद्रा-सकुचन का प्रयोग करे जैसा कि स्वर्ण-मान के अन्तर्गत हुआ करता था। "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष" नामक सस्था एक ऐसा साधन प्रस्तुत करती है जिसमे विदेशी विनिमय दरो मे उचित ढग से परिवर्तन लाया जा सकता है।

निर्देश पुस्तकें

League of Nations—International Currency Experience.
Haberler—Theory of International Trade.
Whale—International Trade.
Heuser—Control of International Trade.
Crowther—Outline of Money.
Benham—Economics.
Meade—Balance of Payments.
Tarshis—Elements of Economics.
Samuelson—Economics.

अध्याय ४२

विदेशी विनिमय

(FOREIGN EXCHANGE)

१. विदेशी विनिमय क्या है ? (What is Foreign Exchange)— पिछले अध्यायो में हमने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और उससे सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से विदेशी विनिमय की समस्या उपस्थित होती है। इस अध्याय मे हम विदेशी विनिमय का अध्ययन करेगे। विदेशी विनिमय क्या है ? "विदेशी विनिमय" के निम्नलिखित अर्थ हो सकते है—

(अ) विनिमय की दर, अर्थात् विदेशी द्रव्य की वह मात्रा जो स्वदेशी द्रव्य की एक इकाई खरीद सकेगी;

(ब) विदेशी विनिमय की क्रियायें या व्यवहार, अर्थात् एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा में बदलना या वह यंत्र, जिससे विदेशी भुगतान किया जाता है;

(स) विदेशी विनिमय (मुद्रा) कोष जो किसी देश के पास हो; या

(द) वह सिद्धान्त जो विनिमय की दर निर्धारित करते है।

यहा हम विदेशी विनिमय शब्द को चौथे अर्थ मे प्रयोग करेंगे।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न होता तो विदेशी विनिमय भी न होता। यदि सारे ससार के लिए एक ही सामान्य मुद्रा होती तो उस समय भी विदेशी विनिमय की कोई समस्या न होती। परन्तु जैसी दशा है, उसके अनुसार देशो के आर्थिक सबंधों के कारण एक-दूसरे के बीच लेन-देन का प्रश्न उठता है, जिसको पूरा करना पडता है और विभिन्न देशो की मुद्राओं के रूप भिन्न-भिन्न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदलने की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

एक उदाहरण ले लिया जाय। मान लीजिये कि आप १०० रु. की पुस्तके इगलैड से मंगाते है। भारत के रुपये इगलैड के पुस्तक-विक्रेता के लिए किसी काम के नही। आप को उसी मुद्रा मे भुगतान करना होगा, जो इंगलैड मे क्रय-शक्ति रखती हो। इगलैड की मुद्रा पौड (£) स्टर्लिग है। इसलिए आपके लिए यह आवश्यक है कि आप अपने १०० रुपयो को पौड स्टर्लिग में परिवर्तित करे (अथवा पौड स्टर्लिग के स्वत्व में)। यदि सोना आपको मिल सके और आप उसके परिवहन के व्यय को ठीक समझते हों, तो आप उसे भी भेज सकते है। इसी प्रकार, संभवतः एक इंगलैड का आदमी भारतीय निर्यातकर्ता से चाय खरीदता है। उसे अपने पौड स्टर्लिग को पयों में बदलना होगा अथवा यदि संभव हुआ और बचत जान पड़ी तो सोना भेजना होगा; इसलिए हर एक देश में हर क्षण कुछ ऐसे व्यक्ति होते है, जो

विदेशों को भुगतान करना चाहते है या ऐसे लोग, जो दूसरे देशों से भुगतान प्राप्त करना चाहते है। पहले बतलाये हुए लोगो ने वस्तुओं और सेवाओ का आयात किया है और बाद के लोगो ने निर्यात। स्पष्ट है कि भारत के निर्यातकर्ताओं को इगलैड के आयातकर्ताओ से भुगतान लेने का अधिकार है और भारत में आयातकर्त्ताओ को इगलैड के निर्यातकर्त्ताओ को भुगतान करना पडेगा। और इसी प्रकार किन्ही भी दो देशो के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है। भारतीय आयातकर्त्ता भारतीय निर्यातकर्त्ताओ से इगलैड की मुद्रा के स्वत्व (Titles to English Money) खरीद कर इगलैड के निर्यातकर्त्ता को भुगतान कर सकता है। उसी प्रकार इगलैड के आयातकर्ता इगलैड के निर्यातकर्ताओ से भारतीय मुद्रा के स्वत्व (Titles to Indian Money) खरीद कर भारतीय निर्यातकर्ताओ को भुगतना कर सकता है। इस तरह हर देश मे विदेशी मुद्रा (या उसके स्वत्व) खरीदने वाले या विदेशी मुद्रा (या उसके स्वत्व) बेचने वाले लोग होते है। दूसरे शब्दो में, विदेशी मुद्रा की मांग भी रहती है और पूर्ति भी। विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति पर विनिमय की दर निर्भर है जिसके अनुसार विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है (या देशी मुद्रा बेची जा सकती है) और बेची जा सकती है (या देशी मुद्रा खरीदी जा सकती है)। ये ग्राहक और विक्रेता मिल कर विदेशी विनिमय बाज़ार बनाते है।

यह इस सिद्धान्त का अति सरल कथन है। वास्तव मे ससार मे निर्यातकर्त्ता और आयातकर्त्ता प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे से सम्बन्ध नही रखते। बैंक (विनिमय बैंक और दूसरे बैंक, जो विनिमय से सबधित है) मध्य-जन का काम करते है। आयातकर्त्ता विदेशी मुद्रा के स्वत्व बैंकों से खरीद लेते है और निर्यातकर्त्ता विदेशी मुद्रा के स्वत्व बैंको को बेच देते है। बैंक दोनों के बीच मध्यस्थ होकर लाभ उठाते है।

२. विदेशी मुद्रा के स्वत्व (Titles to Foreign Money)—अभी हमे "विदेशी मुद्रा के स्वत्व" के अर्थ को स्पष्ट करना है। इनके ये रूप हो सकते है—(१) विनिमय बिल (Bills of Exchange), (२) बैंक ड्राफ्ट्स (Bankers' Drafts), or (३) तार द्वारा परिवर्तन (Telegraphic Transfers)। हमने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि विनिमय पत्र या हुडी क्या है और वही पर यह भी बतलाया गया है कि इससे विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध करने में क्या फायदे है। एक भारतीय निर्यातकर्त्ता अपनी वस्तुओ के इगलैड के आयातकर्त्ता के नाम पौड स्टर्लिग से संबधित विनिमय-पत्र लिख देता है। वह बैंक को यह पत्र बेच देता है या पारिभाषिक शब्दों में (technically) वह उसको भुना (discount) लेता है। पत्र का वर्त्तमान मूल्य उसको पयों में मिल जाता है। भारतवर्ष में इंगलैड की वस्तुओं का आयातकर्त्ता इस प्रकार के पत्र को पये देकर खरीद लेता है और उसको अपने इंगलैड के निर्यातकर्ता के पास भेज देता है, जो उसको किसी बैंक से भुना लेता है या उसके पूरे हो जाने पर पौंड स्टर्लिग में भुगतान पा लेता है।

ड्राफ्ट (Draft), जैसा कि हम देख चुके हैं, एक बैंक से उसकी शाखा के लिए

या दूसरे बैंकों के लिए जिनसे कि उसका लेखा सबंध हो, किसी वाहक (Bearer) को माग पर लिखित संख्या मे मुद्रा देने के लिए एक आज्ञा है। सक्षेप मे, ड्राफ्ट एक ऐसा चैक है, जो एक बैंक द्वारा किसी दूसरे बैंक के लिए एक तीसरे व्यक्ति के हित मे लिखा गया हो। आप एक ड्राफ्ट, जिसका कि अंग्रेजी मुद्रा मे भुगतान किया जा सकता हो, खरीद कर धन इगलैंड भेज सकते है। यह ड्राफ्ट डाक से उस व्यक्ति के पास भेज दिया जाता है, जिसको भुगतान पाना है, और वह व्यक्ति उसे उस बैंक को देकर, जिसके नाम ड्राफ्ट लिखा गया है, अपना भुगतान पा जाता है। तार द्वारा परावर्तन (Telegraphic Transfer) एक बैंक को एक बतलाई हुई धन-राशि का कथित व्यक्ति को भुगतान करने का आदेश है। यह एक तार द्वारा भेजा गया ड्राफ्ट कहा जा सकता है। इस रीति से भुगतान तुरन्त कर दिये जाते है। इसलिये तार द्वारा परावर्तन की दर, खरीदारो के लिए सामान्य ड्राफ्टो पर लगने वाले दरो के मुकाबले मे अधिक तिकूल होती है।

३. विनिमय की दरें (Rates of Exchange)—विनिमय की दर को मालूम करने के लिए अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। हमने देखा है कि विदेशी मुद्रा की पूर्ति और माग ही विनिमय की दर को निर्धारित करती है, जिस प्रकार वस्तुओं का बाजार-मूल्य पूर्ति और माग की शक्तियो द्वारा निश्चित होता है। हमने यह भी देखा है कि विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति (या इसके विपरीत देशी मुद्रा की पूर्ति और माग) किस प्रकार उत्पन्न होती है। जब पूर्ति माग के बराबर होती है तो विनिमय सममात्र (par) होता है। यदि विदेशी मुद्रा की पूर्ति माग से अधिक है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के नीचे गिरता है (या देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के ऊपर उठता है।) और इसके विपरीत यदि विदेशी मुद्रा की माग उसकी पूर्ति से अधिक है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के ऊपर उठता है (या देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के नीचे गिरता है।)

विनिमय की दर किस सीमा तक सम के ऊपर उठ सकती है या नीचे गिर सकती है? ये सीमाएँ विभिन्न दशाओ मे विभिन्न प्रकार से निश्चित की जाती है। विनिमय के सममात्र (Par of Exchange) का अर्थ भी विभिन्न स्थितियो मे भिन्न होता है।

४. स्वर्ण-मान के अंतर्गत विनिमय की दरें (Rates of Exchange under Gold Standard)—जब दो सबधित देश स्वर्ण-मान (Gold Standard) के अन्तर्गत होते है, उस समय, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, उनकी मुद्रा इकाई या तो सोने के सिक्के होते है या वे एक नियत दर पर सोने मे परिवर्तित हो सकने वाली होती है। इसके अतिरिक्त सोना स्वतन्त्र रूप से देशो के बीच आता-जाता है। ऐसे देशो के बीच के विनिमय की दर को 'विनिमय की टकसाली दर' (Mint Par of Exchange) कहते है। उन दो देशो की मुद्रा इकाई मे रहने वाले सोने को (या सोने की उस मात्रा को जो मुद्रा अधिकारियो ने उनके बदले मे देना नियत किया हो) समीकरण करने से इसका निरूपण किया जा सकता है। एक स्वर्ण-मान के देश और रजत-

मान के देश के बीच कोई विनिमय की टकसाली दर नही हो सकती।

उदाहरण के लिए, युद्ध से पहले इगलैंड और फ्रास, दोनो स्वर्ण-मान प्रणाली के अन्तर्गत थे। उनके विनिमय के सममात्र टकसाल का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता था:—

एक अंग्रेजी पौंड = ७.९८८०५ ग्राम $\frac{११}{१२}$ शुद्ध सोने के।
= ७.३२२३८ ग्राम शुद्ध सोने के।

एक फ्रांसीसी नेपोलियन = ६.४५१६१ ग्राम $\frac{९}{१०}$ शुद्ध सोने के।
(२० फ्रैंक) = ५.८०६४५ ग्राम शुद्ध सोने के।

इसलिए एक पौंड $= \frac{७.३२२३८ \times २०}{५.८०६४५}$ फ्रैंक
= २५.२२१५ फ्रैंक।

इस प्रकार लन्दन और पेरिस के बीच सममात्र टकसाल था, २५.२२१५ फ्रैंक=१ पौंड। यदि इन स्थितियों मे विनिमय सममात्र है तो एक फ्रांसीसी आयातकर्ता को अपने दायित्व को पूरा करने के लिए पेरिस मे २५.२२१५ फ्रैंक देने पर लन्दन मे १ पौंड मिलेगा। एक अंग्रेजी आयातकर्ता को लन्दन मे १ पौंड देने पर पेरिस मे २५.२२१५ फ्रैंक मिलेंगे।

५. स्वर्णांक (Specie Points)—मान लीजिये कि फ्रांसीसियों को इगलैंड के लोगों को उससे अधिक भुगतान करना पड़ता है, जितना कि इगलैंड के लोग फ्रांसीसियों को करते है। फ्रांस मे इगलैंड की मुद्रा की माग उसकी पूर्ति से अधिक होगी। पौंड का मूल्य फ्रैंक की मात्रा मे बढ़ जायगा। फ्रांसीसी आयातकर्ता को लन्दन मे एक पौंड लेने के लिए २५.२२१५ फ्रैंक देने पड़ेंगे। परन्तु वह कितना अधिक देने को तैयार रहेगा? हम यह पहले ही बतला चुके है कि एक आयातकर्ता सोना भेजेगा, यदि वह उसे मिल सके और वह उसको भेजना अधिक सस्ता समझे। स्वर्ण-मान के देश सदैव अपनी मुद्रा के बदले मे सोना दे देते है और उसको बाहर भेजने की भी आज्ञा देते है। परन्तु सोना बाहर भेजने मे परिवहन-व्यय (जहाज का किराया, बीमा, ब्याज इत्यादि) लगता है। फ्रांस मे आयातकर्ता, इसलिए, उसी समय सोना भेजेगा यदि विनिमय सममात्र से पेरिस से लन्दन सोना भेजने के व्यय से भी अधिक है। मान लीजिये कि २५.२२१५ फ्रैंक के मूल्य के सोने का पेरिस से लन्दन भेजने का खर्च .३ फ्रैंक है। यदि विनिमय की दर २५.५२१५ फ्रैंक बराबर १ पौंड, से अधिक हो जाती है तो उस समय सोना भेजना उचित हो जायगा। यदि विनिमय वास्तव मे इस बिन्दु के ऊपर उठ जाता है तो सोना फ्रांस से इगलैंड की ओर जाने लगेगा। यह बिन्दु इसलिए फ्रांस के दृष्टिकोण से स्वर्ण-निर्यात-अंक (Gold Export Point) और इगलैंड के दृष्टिकोण से स्वर्ण-आयात-अंक (Gold Import Point) कहा जायगा। यह अंक-विनिमय की टकसाली दर मे परिवहन-व्यय (Cost of Transport) जोड़ देने से मालूम होता है। **इसे ऊपरी स्वर्ण बिन्दु** (Upper Gold Point) या ऊपरी स्वर्णांक भी कहते है।

इसी प्रकार फ्रांस के लिये **नीचो स्वर्णांक** (Lower Specie Point) या

स्वर्ण-आयात-अंक (Gold Import Point) होता है और इंगलैंड के लिए निर्यात अंक। यह परिवहन-व्यय को सममात्र टकसाल में से घटा देने पर मालूम हो जाता है। ऊपर के उदाहरण मे इस प्रकार होगा २४.९२१५ फ्रैंक बराबर १ पौंड के। यदि विनिमय इस अंक के नीचे गिर जाता है तो इगलैंड के आयातकर्ता फ्रैंक के स्वत्व खरीदने की अपेक्षा सोना भेजेंगे। इस प्रकार यदि सोना मिल सकता हो और उसको दो देशों (स्वर्ण-मान के अन्तर्गत) के बीच आने-जाने की स्वतन्त्रता हो, तो विनिमय-दर उन दो सीमाओं के बीच चलेगी, जोकि ऊपरी और नीची स्वर्ण-अंको द्वारा निश्चित की गई है। यदि सोना न मिल सके तो विनिमय-दर स्वर्णांको को पार कर जायगी। ये दो सीमाए है, जिनके बीच मे विदेशी मुद्रा अर्थात् हुडी ड्राफ्ट तार द्वारा परावर्त्तन इत्यादि की पूर्ति और माग में परिवर्तनों द्वारा उतार-चढाव होगा।

६. विनिमय की साम्य दर (Equilibrium Rate of Exchange)– भारतीय मुद्रा के इतिहास मे तुम १८ पे और १६ पे. की विनिमय दरो का अध्ययन कर चुके हो। उनमे से कौन-सा अनुपात ठीक था ? दोनो दरो के बारे मे यह कहा जाता था कि उन पर विभिन्न आर्थिक बातो का, जैसे कि कीमत, मजदूरी, ब्याज की दरे इत्यादि का मिलान था। अर्थात् वे साम्य-दरें थी। सब बातो को ध्यान मे रखते हुए जो दर सब से उत्तम होती है, उसे साम्य दर कहते है। उस दर पर किसी प्रकार की विषमता व असमता नही होती। इसकी परिभाषा इन शब्दो मे की गई है. "यह वह दर है जिस पर भुगतान साम्य की स्थिति मे होता है और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा रिजर्व मे कोई वास्तविक घट-बढ नही होती।" इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि साम्य दर वह दर है जिस पर प्रत्येक मुद्रा की माग उसकी पूर्ति के बराबर होगी। यह विभिन्न अर्थ-व्यवस्थाओं के बीच साम्य का संकेत करती है। साम्य-दर पर देश की मुद्रा विदेशी मुद्रा के अनुपात मे न तो अधिक मूल्य रखती है और न कम। यह न तो निर्यात को प्रोत्साहन देती है और न आयात को।

श्री हाम साम्य-दर के बारे मे निम्नलिखित बाते बताते है.—

१. इसे घरेलू स्थिरता के औसत अनुपात मे होना चाहिए। उदाहरणार्थ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भीतरी बेकारी बाहरी बेकारी से अधिक न होनी चाहिए।

२. यह आवश्यक नही होना चाहिए कि इस दर को स्थिर रखने के लिए राष्ट्रीय स्वर्ण कोष पर अधिक बोझ पडे या विदेशी विनिमय की बचत को अधिकाधिक प्रयोग करना पडे। यदि इसके लिए देश की मुद्रा को कम करना पडे जिसके फलस्वरूप मदी की स्थिति आये या विकास मे रुकावट पडे तो वह साम्य-दर नही होगी।

३. इससे विदेशी व्यापार मे कृत्रिम लाभ या हानि नही होनी चाहिए। विदेशी व्यापार से सबधित दूसरे देशो की मांग, लागत व कीमत आदि बातों के सबंध में इसे निष्पक्ष रहना चाहिये।

७. स्वर्ण तथा रजत मान के बीच विनिमय—ऊपर दिया हुआ एक ऐसा

उदाहरण है जहा कि सबधित दोनों देश स्वर्ण-मान के अन्तर्गत है। यदि एक स्वर्ण-मान के अन्तर्गत हो, और दूसरा रजत-मान के अन्तर्गत, या किसी अविनिमय-साध्य कागजी मद्रा (Inconvertible Paper) के अन्तर्गत, तो उस समय विनिमय-दर उस देश के, जो रजत-मान या कागजी मुद्रा के अन्तर्गत है, चादी की मात्रा में या कागजी मुद्रा की मात्रा में सोने के दाम द्वारा निश्चित की जायगी, और इसी प्रकार इसके विपरीत भी।

८. अविनिमयसाध्य कागजी मुद्राओं के बीच विनिमय––क्रयशक्ति की समता (Exchange between Inconvertible Paper Currencies—Purchasing Power Parity)––परन्तु सब से कठिन समस्या उन देशो की है, जहा कि दोनो अपरिवर्त्य पत्र-मुद्रा के अन्तर्गत हे। मान लीजिये कि इगलैड और फ्रास दोनो धातु मे न बदल सकने वाली पत्र-मुद्रा के अन्तर्गत हो तब एक पौड खरीदने के लिए कितने फ्रैक देने पडेगे ? स्पष्ट है कि उतने ही, जिनकी कि फ्रास मे क्रय-शक्ति उतनी ही है, जितनी कि इगलैड मे एक पौड की है। यदि इगलैड मे एक पौड मे 'क' वस्तुए खरीदी जा सकती है, तो एक पौड से फ्रास मे उतने ही फ्रैक खरीदे जा सकेंगे, जो फ्रास मे 'क' वस्तुए खरीद सके, 'क' वस्तुओ के एक देश से दूसरे देश मे ले जाने के खर्च को छोडते हुए। मान लीजिये कि इगलैड मे एक पौड 'क' वस्तुए खरीदता है। फ्रास, मे 'क' वस्तुओ का मूल्य २५ फ्रैक है। तब विनिमय-दर इस प्रकार प्रवृत्तिशील होगी।

१ पौड=२५ फ्रैक

अब कल्पना कीजिए कि दोनो देशों मे मूल्य-स्तर स्थिर रहता है परन्तु विनिमय किसी प्रकार बदल कर ऐसा हो जाता है :

१ पौड=३० फ्रैक

इसका अर्थ आ कि फ्रास मे पौड की क्रय-शक्ति अधिक है अर्थात् ३० फ्रैक। लोगों को इस दर पर ौडो को फ्रैकों मे परिवर्तित करने से लाभ होगा। वे फ्रास मे २५ फ्रैक देकर 'क' वस्तुए खरीद कर फिर उनको गलैड मे १ पौड पर ेच देगे। स व्यापार मे वे ५ फ्रैक प्रति पौड का लाभ उठायेगे। इससे इगलैड मे फ्रैक की माग बहुत बढ जायगी तथापि उनकी पूर्ति कम हो जायगी, क्योकि बहुत कम लोग इगलैड मे फ्रास के लिए वस्तुओ का निर्यात करेगे। ौड की मात्रा मे फ्रैक का मूल्य बढता जायगा जब तक कि वह, १ पौड=२५ फ्रैक के नही हो जाता। उस बिन्दु पर फ्रास मे की हुई आयात मे असामान्य लाभ नही होगा। यह दर (१ पौड=२५ फ्रैक) दो देशो की खरीदने की समशक्ति (Purchasing Power Parity) कहलाती है। जब कि किसी मुद्रा- काई का मूल्य दूसरी मुद्रा की मात्रा मे **किसी विशिष्ट समय** पर बाजार की मांग और पूर्ति की स्थितियो में से निश्चित किया जाता है, दीर्घकाल मे वह मूल्य ोनों मुद्राओ के सापेक्ष मूल्य से, जिसका कि ज्ञान उनकी वस्तुओ और सेवाओं के खरीदने की सापेक्षिक शक्ति द्वारा होता है, निश्चित किय जाता है। दूसरे शब्दों मे, विनिमय के दर की प्रवृत्ति उस बिन्दु पर स्थिर रहने की

होती है, जो दोनों देशो की मुद्राओ की सापेक्षिक क्रयशक्तियों में बराबरी दिखलाती है। यह बिन्दु क्रयशक्ति की समता (Purchasing Power Parity) कहलाता है।" (एस. ई. टामस)।

ऊपर दिये गये उदाहरण के अनुसार यदि फ्रास मे दाम दुगुने हो जाते है तो फ्रैंक का मूल्य बिलकुल आधा हो जायगा। नई समता दर होगी १ पौड=५० फ्रैंक। यह इस कारण होगा क्योंकि अब फ्रास मे ५० फ्रैंक 'क' वस्तु खरीदेगे, जो पहले २५ फ्रैंक खरीदते थे। यहा हमने माना है कि इगलैंड मे दाम वैसे ही रहते है, जैसे पहले थे। परन्तु यदि दोनों देशों मे दाम दुगुने हो जाते है, तब क्रय-शक्ति मे कोई अन्तर न आयेगा।

इस प्रकार —२ पौड=५० फ्रैंक। १ पौड=२५ फ्रैंक।

परन्तु वास्तविक परिस्थिति मे खरीदने की सम-शक्ति-दर वस्तुओ के एक देश से दूसरे देश तक के परिवहन-व्यय (कर इत्यादि सहित) के कारण बदल जाती है।

इस प्रकार अविनिमयसाध्य कागजी मुद्रा वाले देशो के बीच टकसाली दर (Mint par) का स्थान क्रय-शक्ति की समता (Purchasing Power Parity) ले लेती है। दोनो मे अन्तर यह है कि पहली तो एक स्थिर दर है, जब कि दूसरी उन दोनो देशो मे होने वाले दामो के उतार-चढाव के साथ बदलती रहती है। सम्बन्धित मुद्रा की पूर्ति और माग मे परिवर्तन होने के कारण इस सममात्र के इर्द-गिर्द पहले की तरह उतार-चढाव होगा। इन तब्दीलियो की सीमाये एक देश से दूसरे देश को वस्तुए ले जाने के परिवहन-व्यय द्वारा निश्चित होगी। इसलिए ये सीमाए उतनी निश्चित न होगी, जितनी कि स्वर्णक मे।

९. क्रय-शक्ति सिद्धांत की आलोचना (Criticism of Purchasing Power Parity Theory)—प्रथम महायुद्ध के बाद एक स्वीडन के अर्थशास्त्री गुस्टव कैसल द्वारा यह सिद्धात प्रचलित किया गया था। कैसल ने लिखा था, "दो मुद्राओं के विनिमय की दर अवश्य ही उनकी आतरिक क्रय-शक्तियो के भागफल पर निर्भर होनी चाहिए। इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि यदि हम इस बात पर विचार करते है कि विदेशी मुद्रा मे दी गई कीमत अन्त मे वही कीमत होती है, जो देशी बाजार मे वस्तुओ की कीमत से कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य रखती है।"

यहा पर यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि क्रयशक्ति समता दोनो देशों की कीमत के सामान्य स्तर की तुलना करती है, न कि केवल उन वस्तुओ के कीमत-स्तर की, जो वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे आती है। उपर्युक्त प्रकार की वस्तुओं की कीमते हर देश मे उनके परिवहन व्यय, तट कर आदि का ध्यान रखते हुए, निःसदेह एक ही होती है। यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओ की कीमतों की केवल तुलना करे तो इस सिद्धान्त को प्रमाणित करना अति सुगम हो जायगा। वास्तव मे जब हम से केवल इन्ही वस्तुओ पर लागू करते है तो यह सारहीन तथ्य रह जाता है जैसा कि प्रो.

हाम लिखते है कि "यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं की राष्ट्रीय कीमतो को यदि प्रचलित विनिमय दरो मे अकित किया जाय तो वे विभिन्न बाजारो मे समानता की ओर चलेगी।" परन्तु जब हम उन सब वस्तुओ के दामो के सूचक अको (Index Numbers) की तुलना करने का प्रयत्न करते है जो सम्बन्धित बाजार मे बेची जाती है, तो उस समय विनिमय की दर इस प्रकार से निश्चित किये गये अको के सदैव अनुरूप न होगी। यह मलिये कि घरेलू वस्तुओ की कीमते कम से कम अल्पकाल (Short period) में, हो सकता है कि उसी दिशा की ओर न बढे, जिस ओर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे आने वाली वस्तुओ की कीमते बढे। दीर्घकाल मे तो अवश्य ही विनिमय दर और कीमत स्तर की वृत्ति एक ही दिशा की ओर जाने की होगी। इसलिये यह सिद्धात, केवल दीर्घकाल में ही लागू होता है। इसके अलावा उन वस्तुओ के बीच जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे शामिल होती है, और वे जो शामिल नही होती कोई स्थायी भेद नही होता। यह तो स्वय विनिमय की दर पर आधारित है। यदि विदेशी मुद्रा का मूल्य बढ जाता है तो कुछ वस्तुओ का, जो अभी तक देश मे ही रहती थी, निर्यात लाभप्रद हो जायगा तथा प्रतिक्रम भी।

दीर्घकाल मे भी यह सिद्धात केवल उसी समय लागू होगा जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यक परिस्थितियो मे परिवर्तन नही होता परन्तु ये परिस्थितिया बहुत ही कम अपरिवर्तित रहती है। उदाहरणार्थ, व्यापार के वस्तु-विनिमय की शर्तें (Barter Terms of Trade) सदैव देशो के बीच विदेशी वस्तुओ की माग मे परिवर्तनो के कारण या घरेलू वस्तुओ की पूर्ति की स्थितियो मे होने वाले परिवर्तनो के कारण, निरन्तर बदलती रहती है। इससे अधिक, विदेशी ऋण की मात्रा मे, परिवहन-व्यय मे या अप्रत्यक्ष व्यापार-तुला के किसी मद मे परिवर्तन हो सकते है। वस्तु-विनिमय की शर्तो मे इस प्रकार हुए परिवर्तन कीमत-स्तरो के बीच के सम्बन्ध को अस्त-व्यस्त कर सकते है और हो सकता है कि इन कीमत-स्तरो पर निर्मित समताए विनिमय-दर के अनुकूल न हो। जैसा कि श्री कैमल लिखते है "दो देशो की आर्थिक स्थिति मे विभिन्नता विशेषकर यातायात तथा तट-कर के सम्बन्ध मे, साधारण विनिमय दर को, कुछ सीमा तक, मुद्राओ की क्रय-शक्ति द्वारा निर्धारित दर से दूर हटा सकती है।" यदि कोई देश तट-कर बढा देता है तो उसकी मुद्रा का विनिमय-मूल्य बढ जायगा लेकिन मूल्य-स्तर वही रहेगा।

कैमल का सिद्धान्त यह बतलाता है कि कीमतो के परिवर्तन विनिमय-दर में भी परिवर्तन लाते है लेकिन विनिमय-दर के परिवर्तन कीमतों मे कोई परिवर्तन नही लाते। यह दूसरी बात ठीक नहीं है क्योंकि विनिमय के परिवर्तन आतरिक कीमतो पर कुछ-न-कुछ अवश्य प्रभाव डालते है।

अन्त में, हम कह सकते है कि क्रयशक्ति समता सिद्धान्त विनिमय दर का निश्चय करने वाली तात्कालिक शक्तियों की अपेक्षा अन्तिम शक्तियों की

व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। अपनी त्रुटियो के होते हुए भी, क्रयशक्ति समता सिद्धान्त आजकल दीर्घकाल के विनिमय-दरो की अति सतोषजनक व्याख्या मानी जाती है। यह सिद्धात सब मुद्राओं पर लागू होता है। यह पुराने सिद्धात से जिसके अनुसार विनिमय दर ऋणत्व-तुला (Balance of Indebtedness) द्वारा निश्चित की जाती थी, अधिक उत्तम है। यह सिद्धात ऋणत्व-तुला के जड तक चला जाता है। यह इस बात की व्याख्या करता है कि स्वर्ण व्यापार-तुला या ऋणत्व-तुला किस प्रकार निश्चित की जाती है। यह सिद्धात विनिमय-दर के निश्चित करने मे कीमत-स्तर के प्रभाव को उचित महत्व देता है। किसी विशेष समय पर वास्तविक दर साम्य-दर से विचलित हो सकती है, जो उस समय के व्यापार की शर्तों या भुगतान-तुला पर प्रभाव डालने वाले साधनो के कारण क्रय-शक्ति समता-सिद्धात द्वारा सूचित होता है। ये साधन क्या है ? इनका अध्ययन नीचे किया जाता है।

१०. **विनिमय-दर की अस्थिरता** (Fluctuations of the Rate of Exchange)—दीर्घकाल-समता चाहे टकसाल-सममात्र हो, जैसी स्वर्ण-मान के अन्तर्गत होती है या चाहे क्रय-शक्ति-समता हो, जैसी अपरिवर्तनीय, कागजी मुद्रा के अन्तर्गत होती है, अल्पकाल मे बहुत-से ऐसे कारण है, जो इस साम्य-दर स्तर के नीचे या ऊपर विनिमय-दर को गिराते, उठाते है। ये कारण दो भागो मे विभाजित किये जा सकते है.

(१) जो विदेशी मुद्रा की माग या पूर्ति पर प्रभाव डालते है, और

(२) वे, जो कि मुद्रा की स्थितियो को प्रभावित करते है।

(१) पहले के सम्बन्ध मे हम देखते है कि विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति तीन कारणो मे उत्पन्न होती है—

(अ) व्यापारिक दशाये (Trade Conditions);

(ब) स्टाक-विनिमय के प्रभाव (Stock Exchange Influences); और

(स) बैंक कारोबार के प्रभाव (Banking Influences)

(अ) **व्यापारिक दशाय**—ये आयात और निर्यात पर प्रभाव डालती है और इसीलिये विदेशी मुद्रा की पूर्ति और माग क्रमश होती है। जिस समय हमारे निर्यात आयात से अधिक होते है, उस समय विनिमय की प्रवृत्ति हमारे हित की ओर बढने की होगी और विपरीत स्थिति मे सकी प्र ृत्ति हमारे प्रतिकूल होगी। आयात और निर्यात के अन्तर्गत यहा पर केवल प्रत्यक्ष विषय (Visible Items) ही नही है, बल्कि अप्रत्यक्ष विषय (Invisible Items) भी है।

(ब) **स्टाक विनिमय के प्रभाव** (Stock Exchange Influences)—इसके अन्तर्गत है ऋण का लेना, व्याज और ऋण का भुगतान करना, विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय, इत्यादि। जब कोई देश किसी दूसरे देश को ऋण देता है तो विदेशी मुद्रा

की माग ब ती है और स्वदेशी मु ा के मूल्य की प्रवृत्ति गिरने की ओर होती है। जब देश के विनियोजक (Investors) विदेशी प्रतिभूतिया खरीदते है या विदेशी विनियोजक स्वदेशी प्रतिभतिया बेचते है तो उस समय भी ऐसा ही होता है। विनिमय किसी उस देश के हित मे चलता है जब कि उसके ऋण का भुगतान हो रहा हो या जब विदेशी लोग उसकी प्रतिभूतिया खरीदते हो, क्योकि स प्रकार के कार्यों से स्वदेशी मुद्रा की माग की उत्पत्ति होती है।

(स) **बैंक के प्रभाव** (Banking Influences)—बैंक ड्राफ्ट का क्रय-विक्रय, यात्रियो के साख-पत्र, अन्तर-पणन (Arbitrage Operations) (अर्थात् विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय करके, विभिन्न केन्द्रो मे उनकी दरो मे अन्तर होने के कारण लाभ उठाना) त्यादि इस वर्ग के अन्तर्गत है। किसी विदेशी केन्द्र मे किसी ड्राफ्ट का विक्रय विदेशी मुद्रा की माग की उत्पत्ति करता है और उसके मूल्य को बढ़ाता है या स्वदेशी मुद्रा के मूल्य को गिराता है। बैंक-दर भी विनिमय-दर को प्रभावित करती है। एक ऊची क-दर विदेशी के न्द्रो से धन को आकर्षित करती है और स प्रकार स्वदेशी मुद्रा की माग को बढाती है ओर सलिये उसके मूल्य को भी। सके विपरीत स्थिति मे सका मूल्य गिर जाता है, क्योकि निधि देश के बाहर जाने लगती है और इस प्रकार विदेशी मुद्रा की माग बढ जाती है।

(२) **मुद्रा-संबंधी स्थितियां** (Currency Conditions)-वास्तविक या आशान्वित मुद्रा के मूल्य के परिवर्तन भी विनिमय-दर को प्रभावित करते है। यदि मुद्रा बहुत अधिक बाहर निकाली गई है या उसकी आशा है, तो लोग उस देश मे अपनी पूजी का विनियोजन करने के इच्छुक न होगे। वास्तव मे पूजी की प्रवृत्ति बाहर जाने की होगी। इसको "मुद्रा से भागना" कहते । यदि लोग मु ा के अधिमूल्यन की आशा करते है तो उनकी प्रवृत्ति परिकाल्पनिक लाभ के लिए ऐसी मुद्रा खरीदने की होगी। पहली दशा मे विनिमय-दर की प्रवृत्ति प्रतिकूल होने की होगी और उत्तरोत्तर दशा मे अनुकूल।

११. विनिमय उतार-चढ़ाव की सीमायें (Limits to Exchange Fluctuations)—परन्तु उतार-चढाव कुछ सीमाओ के अन्दर ही होना है। हम यह पहले ही देख चुके है कि स्वर्ण-मान (Gold Standard) के अन्तर्गत इन सीमाओ का निर्धारण टकाक (Specie points) या स्वर्ण-अंकों (Gold points) द्वारा होना है। किसी देश के लिये **अनुकूल** विनिमय-दर उस समय होती है जब यह दर स्वर्ण आयात-अंक के अधिक समीप हो, और उस समय प्रतिकूल होती है जब वह स्वर्ण-निर्यात-अंक के अधिक समीप हो। यह दर उस समय अनुकूल कहलाती है, जब स्वदेशी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा मे बढ जाता है या जब आयात मे निर्यात होने लगता है। यदि स्वदेशी मुद्रा का मूल्य गिरता है या सोने की प्रवृत्ति देश के बाहर जाने की होती है तो विनिमय-दर प्रतिकूल कही जाती है।

फिर भी, याद रखना चाहिये कि "अनुकूल" और "प्रतिकूल" शब्द केवल पारिभाषिक (Technical) शब्द है जो कि वाणिज्यवादी काल (Mercantilist Era) मे चले आ रहे है। जिसे "अनुकूल" कहा जाता है, संभव है वह वास्तव मे वैसा न हो। उदाहरण के लिये, भारत के लिये १ शि. ६ पें. की दर १ शि. ४ पें. की दर की अपेक्षा अधिक अनुकूल मानी गई थी, क्योकि इस दर पर स्वदेशी मुद्रा अधिक खरीदी जा सकती थी। परन्तु यह दर निश्चय ही देश के हित मे न थी, क्योकि इससे कृषि और औद्योगिक हितो को उस समय हानि पहुंची थी जब कि यह पहले पहल नियत की गई थी।

विनिमय स्वर्ण-आयात-अक के ऊपर नही जाता (यह मानते हुए कि यह विदेशी मुद्रा में दिया गया है) क्योकि विदेशी आयातकर्त्ता के लिये सोना भेजना हमारी मुद्रा खरीदने मे अधिक सस्ता पडेगा। इसके विपरीत, विनिमय-दर स्वर्ण-निर्यात-दर के नीचे नही गिरती, क्योकि स्वदेश के आयातकर्त्ताओं के लिये सोना भेज कर भुगतान करना विदेशी मुद्रा के खरीदने की अपेक्षा अधिक सस्ता पडेगा।

जब दोनो देश अविनिमयसाध्य कागजी मुद्रा के अन्तर्गत होते है, तो उस समय टकसाल की दर का स्थान क्रयशक्ति समता (Purchasing Power Parity) ले लेती है। जैसा कि पहले अध्ययन किया जा चुका है, क्रयशक्ति-समता टंक सममात्रा की तरह स्थिर नही है, बल्कि एक चलायमान सममात्र है। अतएव, विनिमय की चाल की कोई निश्चित सीमा नही है। जैसा कि पहले ही देखा गया है मुद्रा की माग और पूर्ति के परिवर्तनो और मुद्रा की स्थितियो के परिवर्तनो के अनुसार तबदीली होती है।

१२. स्वर्ण-मान के अन्तर्गत असमता कैसे ठीक की जा सकती है? (How Disequilibrium is corrected under Gold Standard?)—हमने स्वर्ण-मान का अध्ययन करते समय इसके गुणो मे से एक की व्याख्या करते हुए यह बतलाया था कि इसके अन्तर्गत भुगतान-तुला (Balance of Payments) के साम्य मे होने वाली किसी भी गडबडी की प्रवृत्ति इसको ठीक करने की ओर होती है। अब हम यह देखेगे कि यह किस प्रकार होता है। एक पूर्ण आदर्श स्वर्णमान की कल्पना सैद्धान्तिक रूप से ही की जा सकती है। परन्तु सन् १९१४ से पहले की ब्रिटिश पद्धति इस आदर्श के निकट मानी जा सकती है।

मान लीजिये कि उस समय ग्रेट ब्रिटेन का आयात निर्यात की अपेक्षा अधिक था और यह प्रतिकूल आधिक्य अप्रत्यक्ष निर्यात से भी पूरा नही हुआ। इससे विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जायेगी। मान लीजिये फ्रास की मुद्रा की जो स्वर्ण-मान के अन्तर्गत थी जिससे कि स्टर्लिग का फ्रेंको में अवमूल्यन (Depreciation) होगा। यही अवमूल्यन स्वयं फ्रांसीसियों के लिये ब्रिटिश वस्तुएं अधिक सस्ती करेगा और

फ्रांसीसी वस्तुएँ अंग्रेजो के लिये अधिक महगी । निर्यात को इस प्रकार प्रोत्साहन मिलेगा और आयात को निरुत्साह, और व्यापार-तुला की प्रवृत्ति ब्रिटेन के हित में जाने की होगी । इस प्रकार पहले की असमता ठीक हो जायेगी । यह उस समय भी होगा जब कि विनिमय एक अश मे ब्रिटेन के प्रतिकूल भी जाय ।

परन्तु मान लीजिये कि प्रतिकूल आधिक्य बहुत गम्भीर था और विनिमय इंग्लैंड से स्वर्ण निर्यात अक को पार कर गया, तो सोना इग्लैंड से बाहर निकलेगा और फ्रांस के भीतर जायेगा । इंग्लैंड में साख सकुचित होगी (केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनी तिथि को बचाने के कार्य मे) और उसी तरह फ्रास में साख का प्रसार होगा । कीमतें और लागतें इग्लैंड मे गिरेगी और फ्रास मे बढेगी । इग्लैंड खरीदने के लिये एक आकर्षक बाजार बन जायेगा और फ्रास मे इसके विपरीत होगा । इग्लैंड के निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा और आयात निरुत्साहित होगे । इस प्रकार असमता के मूल कारण ठीक हो जायेंगे ।

जैसा कि हम प्रारम्भिक अध्याय मे देख चुके है, इस प्रकार की पद्धति की स्वयं-गतिक क्रिया के लिये कुछ शर्तें अवश्य ही पूरी होनी चाहिये जैसे कि सोने को बेरोक-टोक आने-जाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये जिससे वह दोनों देशो मे कीमतों और लागतों को प्रभावित कर सके । इससे कीमते और लागत उस देश मे बढेंगी जो सोना प्राप्त करता है और उस देश मे गिरेगी जो सोना बाहर भेजता है । इससे अर्थ-व्यवस्था के लचीले स्वभाव का और केन्द्रीय बैंक के स्वर्ण-मान का खेल करने की इच्छा का आभास होता है ।.

सन् १९१४ के पहले ऐसी स्थितिया एक वृहद् सीमा तक पाई जाती थी । परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद वे न रही । इस प्रकार यह देखा गया कि स्वर्ण-मान अन्तर्राष्ट्रीय असमता को अपने आप ठीक करने में समर्थ न रह सका ।

१३. अविनिमयसाध्य मुद्रा के अन्तर्गत असमता का सशोधन (Correction of Disequilibrium Under Inconvertible Paper)– यदि वस्तुओ के एक देश मे दूसरे देश में आने-जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय तो उस दशा मे भी अपरिवर्तनीय मुद्रा के अन्तर्गत ऐसे ही स्वयगतिक सशोधन की कल्पना की जा सकती है । सोने के चलन के स्थान पर वस्तुओ का चलन होगा और उसमे दोनो देशो के साक्षेप मूल्य-स्तरों पर प्रभाव पडेगा ।

परन्तु वास्तव मे देशो मे होने वाले दामो के सापेक्ष परिवर्तनों का उस समय अधिक कठिनाई से आभास होता है जब कि सोने की अपेक्षा सम्बन्ध वस्तु या वस्तुओं द्वारा जोडा जाता है । उन वस्तुओ की अपेक्षा जिनकी माग बहुत से कारणों पर निर्भर करती है, सोना सर्वत्र मान्य होता है । इस तरह ऐसा हो सकता है कि वास्तविक विनिमय-दर क्रयशक्ति समानता से दूर रहे और यह असमता सापेक्ष कीमत के स्तरो के परिवर्तनों द्वारा सशोधित न हो सके । ऐसी परिस्थिति में समता लाने की आम रीति यह है कि

विनिमय को स्वतः मूल्य स्तर का समन्वय करने के लिये स्वतन्त्र कर दिया जाय।

स्वर्ण-मान के अन्तर्गत विनिमय और कागजी मुद्रा-मान के अन्तर्गत विनिमय के बीच एक और अन्तर यह है कि पत्र-मुद्रा का वर्तमान मूल्य उसके भविष्य के आशातीत मूल्य के विचारो द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होता है। यदि यह सामान्यतः विश्वास किया जाता है कि सम्बन्धित मुद्रा के अवमूल्यन (Depreciation) की आशा है तो लोग उसको किसी दूसरी मुद्रा में परिवर्तित करके उससे पीछा छुडाने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार इस मुद्रा का अवमूल्यन होगा, भले ही उन देशो के सापेक्ष मूल्य-स्तरो में कोई परिवर्तन न हुआ हो। इसी प्रकार इस तरह के परिकल्पिक प्रभावो के कारण एक असमानता उत्पन्न हो जायेगी।

एक देश मे दूसरे देश की वस्तुओ की परस्पर माग की तीव्रता का प्रभाव भी एक कारण है। यदि सापेक्ष मूल्य-स्तर स्थिर रहते है और किसी भी कारण से एक देश 'अ' की मांग देश 'ब' की वस्तुओ के लिये अपेक्षाकृत अधिक तीव्र हो जाती है, तो विनिमय दर देश 'अ' के विपरीत और देश 'ब' के अनुकूल उस सीमा से अधिक बढेगी जितना कि मूल्य-स्तरो के अन्तर के अनुसार आवश्यक है। यदि दोनो देश स्वर्ण-मान के अन्तर्गत है तो इस परिस्थिति का फल यह होगा कि सोना 'अ' देश से निकल कर 'ब' देश के पास तब तक जाता रहेगा, जब तक कि मूल्य-स्तरो के परिवर्तन टकसाली विनिमय-दर पर साम्य स्थापित नही करते।

हम यह कह सकते है कि स्वर्ण-मान के अन्तर्गत दो देशो के बीच समता की प्रवृत्ति सोने के चलन और सापेक्ष मूल्य-स्तरो द्वारा स्थापित होने की होती है तथा अविनिमय-साध्य कागजी मुद्रा के अन्तर्गत विनिमय की दरो के परिवर्तन द्वारा।

१४. विनिमय स्थायित्व बनाम कीमत स्थायित्व (Exchange Stability Versus Price Stability)—स्वर्ण-मान के अन्तर्गत विनिमय अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते है और सोने के चलन से समन्वय किया जाता है जिनका प्रभाव सापेक्ष मूल्य-स्तरो पर पडता है। अपरिवर्तनीय कागज मुद्रा के अन्तर्गत विनिमय के परिचलन द्वारा समन्वय अधिक सरलता से हो जाता है। परन्तु कागजी मुद्रा के अन्तर्गत भी विनिमय कृत्रिम रूप से नियत्रित किये जा सकते है और स्थायी रखे जा सकते है। तब उन देशो के बीच समन्वय कीमतों और लागतो के एक दुःखदायी सापेक्षिक परिवर्तन द्वारा करना होगा।

प्रश्न उठता है कि एक देश को किस नीति को अपना उद्देश्य बनाना चाहिये—विनिमय स्थायित्व या कीमत स्थायित्व ? इस प्रश्न का कोई सीधा उत्तर नही दिया जा सकता। यह देश की आर्थिक दशा और उसके विदेशी व्यापार के विस्तार पर निर्भर होगा।

यदि देश बड़ा है और उसकी अर्थ-व्यवस्था मे विदेशी व्यापार का स्थान तुच्छ

है और उसके मूल्य और लागतो का ढाचा लचीला नही है, तो उस समय उसके मूल्य-स्तर के स्थायित्व को सुरक्षित रखना और विनिमय की दर की गतिविधि का उचित समन्वय करना उसके हित मे होगा । । इसके विपरीत एक छोटे देश के लिये, जिसका विदेशी व्यापार विस्तृत है और कीमतो और लागतो का ढाचा लचीला है, यह लाभ-दायक होगा कि वह अपने विनिमय की दर को स्थायी रखे और आन्तरिक मूल्य और लागतो की गतिविधि द्वारा समन्वय होने दे । उदाहरण के लिये, भारतवर्ष जैसे देश का लक्ष्य कीमतो का स्थायित्व और स्वतन्त्र विनिमय होना चाहिये जब कि ग्रेट ब्रिटेन के लिये अधिक आवश्यक उद्देश्य स्थायी विनिमय होना चाहिये ।

इधर कुछ समय से मुद्रा-नीति का उद्देश्य इन दोनो से दूर हट गया है । उद्देश्य अब न तो विनिमय की स्थिरता है और न कीमत की स्थिरता । आर्थिक जीवन मे स्थिरता लाना अथवा व्यापार चक्र को रोकना अब उद्देश्य बन गये है ।

१५. अनिश्चित बनाम निश्चित विनिमय (Fluctuating Vs. Fixed Exchange)-क्या विनिमय-दरो को स्वतन्त्र छोड देना चाहिये, जिस ओर वे जाये जाने दिया जाय या उन्हे स्थिर रखना चाहिये ? दोनो पक्षो मे कुछ कहा जा सकता है । लोचदार विनिमय के समर्थको का कहना है कि स्वतन्त्र दर की प्रथा द्वारा एक देश स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपना सकता है । देश को आन्तरिक स्थिरता की ओर प्रयत्नशील रहना चाहिये और विनिमय-दर को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये । इस प्रकार की नीति से आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को बाहरी हस्तक्षेप से बचाया जा सकता है । विनिमय-दर भुगतान-तुला को साम्य स्थिति पर लाती है और यह ठीक ही होगा कि इसे इस वक्त अपने आप स्वतन्त्रतापूर्वक रहने दिया जाय । यदि विनिमय-दर को स्थिर रखा जाता है, तो विदेश मे उत्पन्न हुई मुद्रा-विस्तार और संकुचन की बुराइया आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे आ घुसती है । परिवर्तनशील विनिमय-दरे इन बुराइयो से बचा सकती है । और यह भी पूछा जा सकता है कि "यदि माग पूर्ति के नियम सब आर्थिक क्षेत्रो मे अच्छी तरह काम कर सकते है तो विदेशी विनिमय मे क्यो नही कर सकते ।"

इस प्रकार के तर्को मे काफी सत्यता है । फिर भी निम्नलिखित बातो के कारण स्वतन्त्र परिवर्तनशील विनिमय-दर की पद्धति को सर्वत्र त्याग कर दिया गया है :—

(१) चूकि विनिमय की दरो मे परिवर्तन का प्रभाव आयात और निर्यात पर पड़ता है, सलिये परिवर्तनशील विनिमय-दर आन्तरिक स्थिरता मे बाधा डालती है ।

(२) लोचदार विनिमय दर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जोखिमो को बढ़ाकर उसके विकास मे बाधक है ।

(३) परिवर्तनशील विनिमय की प्रथा मे विदेशी मुद्राओ के सम्बन्ध मे बहुत सट्टे बाजी होती है जिसमे विनिमय की दरो मे अत्यन्त अस्थिरता आ जाती है । यदि विनिमय

में अवमूल्यन की शका है, तो इससे बहुत खतरा बढता है। पूजी दूर भागने लगती है।

(४) लोचदार विनिमय-दरो मे आकस्मिक लाभ और हानि होती है। विनिमय-दर मे आकस्मिक परिवर्तन से लाभ उठाने के लिये व्यापारियो को अधिक मात्रा मे नकदी रखनी होती है। इससे साख का सकुचन होता है, ब्याज की दर बढ जाती है और बेकारी फैलने लगती है।

(५) लोचदार दरो मे दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन मे भी बाधा पडती है क्योकि जिस बात से आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे हलचल मचती है उसका प्रभाव पूजी लगाने वाले पर भी पडता है।

उपर्युक्त बातो से स्पष्ट है कि न तो बिल्कुल स्थायी और न पूर्णत परिवर्तनशील दरो से काम चल सकता है। परिवर्तनशील विनिमय-दरो की हानियो और जोखिमो से बचने के लिये विनिमय-नियत्रण की प्रथा का चलन हुआ है।

१६. विनिमय-नियंत्रण (Exchange Control)—प्रथम युद्ध से विभिन्न कारणो के फलस्वरूप सरकार ने विनिमय पर नियत्रण रखना प्रारम्भ कर दिया है।

विनिमय पर नियत्रण करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि इसे उस स्थान के बजाय जहा यह आर्थिक शक्तियो को स्वतन्त्र छोड देने पर निश्चित होता, दूसरे स्थान पर निश्चित किया जाय। यह सीमित रहे जब कि आर्थिक शक्तियो को पूर्ण स्वतन्त्र कर दिया जाय। विनिमय पर नियत्रण तब होता है जब किसी देश की आर्थिक स्थितियो मे ससार के अन्य देशो के समक्ष अधिक अन्तर पड जाता है। इससे देश का व्यापार विदेशियो के व्यापार से सन्तुलन न रख कर विषमता रखने लगता है। इससे देश की पूजी का विदेशी पूजी के साथ द्वन्द होता है। इन तमाम कारणो से देश मे विनिमय-नियत्रण करना आवश्यक हो जाता है।

तीन सभावित रास्ते है, जिनसे देश मे विनिमय पर नियत्रण की दशाओ पर विचार किया जा सकता है—

१—इसमे कम मूल्य होता है अथवा सिक्के का मान घट जाता है।

२—इसको अधिक मूल्य पर निश्चित किया जाता है।

३—यह लोच को दूर कर स्थायी दर को निश्चित कर सकता है। अब हमे सोचना है कि यह अवस्था कब-कब और किस-किस स्थान पर आ सकती है। जब कोई देश मूल्य मे कमी करता हो अर्थात् स्वतन्त्र विनिमय की बाजार मे कम मूल्य पर वस्तुओ को बेचता है तो आयात को धक्का लगता है और निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश की वस्तुओ की कीमत बनिस्बत दूसरे देशो के बढ जाती है। यह साधन मदी के हटाने के लिये प्रयोग मे आता है। किन्तु यह पूर्णरूप से सभव नही होता। इसमे आन्तरिक कीमतो के बढने के बजाय बाहरी कीमते बढ जाती है। यह बडे-बडे देशो मे ही घटित होती है। जैसे—भारत और अमरीका। मूल्य मे न्यूनता कर देने की नीति उन देशो के लिये अच्छी है जहा पर खाद्य सामग्री और कच्चे सामान का निर्यात किया जाता है। मंदी के समय इन मालो की कीमतो की बहुत दबा दिया जाता है किन्तु मूल्य की

न्यूनता आयात को महगा कर देती है। खाद्य सामग्री और कच्चे सामान के विक्रेताओं के मूल्य मे कमी हो जाती है।

माल की कीमत को गिराने से बचाने के लिये यह बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ है। महा मन्दी के समय बहुत से देशो ने अवमूल्यन अथवा मूल्य मे कमी कर देने वाला रास्ता स्वीकार किया।

विनिमय नियत्रण का दूसरा उद्देश्य मुद्रा के मूल्य को ऊपर उठाना है। यह रास्ता तभी अख्तियार किया जाता है जब व्यापार-तुला (Balance of Trade) में अधिक उतार-चढाव पाया जाता है। फलस्वरूप राष्ट्रीय मुद्रा की पूर्ति उसकी माग से कही अधिक बढ जाती है। ऐसी अवस्था मे देश को विदेशी माल की अधिक आवश्यकता होगी या तो युद्ध की तैयारी के लिये अथवा युद्ध के बाद पुनर्निर्माण के लिये। यदि ऐसी अवस्थाओ मे विनिमय की दरे कम कर दी जायेगी तो आयात वस्तुओ की कीमत अधिक हो जायेगी अथवा आयात बन्द हो जायेगा। यदि किसी देश का आकस्मिक आवश्यकता किसी वस्तु की दूसरे देश से खरीदने की पड जाती है तो मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि लाना अधिक लाभप्रद पाया जाता है। यदि किसी देश मे मुद्रास्फीति है तो राष्ट्रीय मुद्रा के विनिमय का मूल्य कम हो जायगा जब कि विनिमय स्वतन्त्र रूप से छोड दिया जायेगा। यदि विदेशी व्यापार भली प्रकार से देश की आर्थिक अवस्था के लिये कार्य कर रहा है तो इसे अवश्य रोकना चाहिये नही तो आयात महगा हो जायेगा और निर्यात को लाभ होगा। अधिक मूल्य की नीति देश के लिये इस अवस्था मे लाभदायक होती है जब कि देश को किसी दूसरे देश को कर्ज अदा करना हो। यह अवस्था अपने देश के लिये लागू होती है। यदि विनिमय गिर जाता है तो विदेशी ऋण का भार बढ जायेगा।

अतएव हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते है कि किसी देश को मुद्रा के मूल्य मे कमी करनी चाहिये अथवा वृद्धि। यह उस देश की परिस्थितियो पर निर्भर है। कुछ देशो को अधिक मूल्य रखना लाभदायी हो सकता है और कुछ देशो के लिये अवमूल्यन लाभदायक हो सकता है। वही देश किन्ही परिस्थितियो मे अधिक मूल्य वाली नीति से लाभ प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार किन्ही अन्य परिस्थितियो मे वह हानिकारक सिद्ध हो सकता है। यही मत क्रोदर (Crowther) का भी है। उनका कहना है कि प्रत्येक देश मे अधिमूल्यन (Over-Valuation) या अवमूल्यन (Under-Valuation) उस देश की परिस्थितियो के फलस्वरूप हुआ करता है।

विनिमय नियत्रण का तीसरा रास्ता जो न तो अधिक मूल्य का है और न कम मूल्य का, वह है उतार-चढाव से बचाव (Avoidance of Fluctuation)। इसका तात्पर्य यह नही है कि विनिमय को कठोरता से एक सूत्र मे बाध दिया जाय और वह तनिक भी हिल-डुल न सके। इसका केवल तात्पर्य यह है कि विनिमय को आकस्मिक उतार-चढाव से बचाया

जाय जिससे कि सर्वसाधारण के लिये लाभदायक सिद्ध हो सके । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) के स्थापित करने का यही उद्देश्य है ।

विनिमय नियत्रण विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय माल के विधिवत् घुमाव मे रहता है अथवा किसी निश्चित दर मे विदेशी सिक्के के क्रय और विक्रय मे रहता है । विनिमय नियत्रण तभी फलीभूत हो सकता है जब कि विनिमय बाजार मे प्रभावित माग के लिये पूर्ति हो । यह तटकर, ब्याज दरो मे परिवर्तन आदि द्वारा परोक्ष रूप मे किया जा सकता है । आयात कर और आयात मात्रा (Quota) आने वाले माल को कम कर देगी । और विदेशी मुद्रा की माग और मूल्य भी कम हो जायेगे । निर्यात कर, जो इतने साधारण नही है, इसके विपरीत प्रभाव डालते है । इसके विषय मे आर्थिक सहायता (Bounty) पृथक् प्रभाव डालती है । निर्यात सरकारी आर्थिक सहायता (Export bounty) देशी सिक्को के मूल्य को बढा देती है और आयात आर्थिक सहायता (Import bounty) देशी सिक्को के मूल्य मे कमी कर देती है । ब्याज की दर मे वृद्धि विदेशी पूजी अपनी ओर खीच लाती है, देशी सिक्को की माग मे वृद्धि लाती है तथा इसका मूल्य बढाती है, किन्तु इन साधनो से विनिमय प्रभावित किया जाता है, नियत्रित नही । यह ढग विनिमय पर नियत्रण लाने के लिये प्रतिद्वन्द्वी देश के निमित्त प्रयोग मे नही लाये जाते है । यह ढग विनिमय पर नियत्रण करने के लिये आवश्यक रूप से नही स्वीकार किये जाते । और न यह ढग कुशल नियत्रण लाने के लिये पर्याप्त ही है । अत. और बहुत से प्रत्यक्ष साधनो के प्रयोग आवश्यक होते है ।

साधारणतया केवल दो ही ढग है जिनसे विनिमय पर नियत्रण लगाया जा सकता है : (१) शासन की ओर से विनिमय की बाजार मे विदेशी विनिमय के क्रय और विक्रय को साम्य स्तर पर लाने के लिये हस्तक्षेप किया जाता है । इस ढग को हस्तक्षेप (intervention) कहते है और यह विनिमय उद्बन्धन (Exchange pegging) की ओर बढाता है । (२) सरकार मुद्रा माग और पूर्ति पर रोक लगा सकती है जिससे वे विनिमय बाजार तक न पहुच सके । यह तरीका बहुत ही लाभदायक और प्रसिद्ध है, क्योकि पहला तरीका केवल अल्पकालीन अस्त्र है । और इसमे अधिक व्यय की आवश्यकता होती है । विनिमय बन्धेज (Exchange Restriction) वास्तविक विनिमय नियत्रण है । इसके लिये निम्नलिखित ३ बातो की आवश्यकता होती है —

क—प्रत्येक विदेशी विनिमय क्रिया को सेंट्रल बैंक मे केन्द्रित कर देना चाहिये ।

ख—राष्ट्रीय सिक्के विनिमय के लिये बिना पूर्व-स्वीकृति के नही दिये जा सकते ।

ग—अनधिकृत विदेशी विनिमय के लेन-देन मे प्रवेश करने पर जुर्म लगाया जा सकता है । इसके लिये साधारण रास्ता यह होना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को जो बाहर माल भेजना चाहता है सेंट्रल बैंक के पास प्रार्थनापत्र, विदेशी सिक्को पर अपना दावा रखते

हुए प्रस्तुत करना चाहिये और सेंट्रल बैंक को लाइसेस वाले व्यक्तियों के पास विदेशी आये हुए माल को बाट देना चाहिये। इस प्रकार से विनिमय-नियत्रण पूर्ण रूप मे आये हुए माल पर नियत्रण रखता है। सन् १९३९ तक जर्मनी ही विनिमय-नियत्रण मे प्रमुख देश था। विनिमय-नियन्त्रण ने जो विभिन्न रूप अपनाये है, वे इस प्रकार है —

(१) **विनिमय "उद्बन्धन"** (Exchange Pegging)—यह विधि साधारणतया युद्ध के समय मे विनिमय उतार-चढाव को कम करने के लिए काम मे लाई जाती है। किसी मुद्रा के आतरिक मूल्य का मुद्राप्रसार के कारण अवमूल्यन हो सकता है परन्तु सरकार अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की सुविधा देने के लिए इसके बाह्य मूल्य को, जितना कि वह क्रय-शक्ति समता के अनुसार उचित है, उससे भी ऊचा स्तर बनाये रखने का प्रयत्न कर सकती है। यह विधि इगलैंड के द्वारा प्रथम महायुद्ध मे, और फिर दूसरे महायुद्ध मे भी काम मे लाई गई थी। सन् १९१६-१९ के बीच स्टर्लिंग कृत्रिम रूप से ४·७६५ डालर—एक मूल्य जोकि स्टर्लिंग के असली मूल्य से ऊचा था, पर उद्बधित रखा गया था। यह अमरीका मे ऋण लेकर और उससे ऊपर ी हुई दर के अनुसार लदन मे विनिमय खरीद करके किया गया था।

(२) **विनिमय-समकारी या क्षतिपूरक लेखा** (Exchange Equalisation Account)—इगलैंड ारा सन् १९३१ मे स्वर्ण-मान के बन्द किये जाने के बाद तीव्र विनिमय उतार-चढाव के ोकने की फिर आवश्यकता हुई। इस कार्य के लिए विनिमय समकारी लेखाविधि को काम मे लाया गया (यह पहले अध्याय मे स्पष्ट कर दिया गया है)। आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रा का इस निधि की सहायता से क्रय-विक्रय किया गया और इस प्रकार अल्पकाल निधियो की इगलैंड के अन्दर जाने की या बाहर आने की अनिश्चित गतिविधियो के होते हुए भी विनिमय एक सकुचित क्षेत्र मे सीमित रखा गया। यह निधि मुद्रा मूल्य मे दीर्घकाल समन्वय को रोकने के काम मे नही लाई जाती। इसके मुख्य कार्य ये है · (१) विनिमय की दरो मे अल्पकाल के उतार-चढाव को ठीक करना, (२) अल्पकालिक निधियो की गतिविधि और सट्टेबाजी की क्रियाओ के ारा उत्पन्न हुए विघ्नकारी प्रभावो से रक्षा करना। लगातार घटने-बढने वाले विनिमय व्यापार को भारी क्षति पहुचाते है। यह निधि, इसलिए, विदेशी व्यापार के मार्ग को समतल बनाने के लिए होती है।

द्वितीय महायुद्ध के समय ऐसी ही विधियो से डालर-स्टर्लिंग की दर १ पौड = ४·०३ डालर पर कायम रखी गई थी।

(३) **उचित विनिमय नियन्त्रण** (Exchange Control Proper)—वास्तव मे विनिमय-नियन्त्रण का अर्थ उन अनेक ुक्तियो से है, जिनमे से बहुत-सी जर्मनी में नाजी शासन के समय शुरू की गई थी। उसके बाद दूसरे देशो ने भी उनमे से कुछ को अपनाया।

विदेशी व्यापार की बाधाओं के बारे मे समझाते हुए हमने इनमे से कुछ युक्तियो का अध्ययन किया है। यहा हम फिर विदेशी व्यापार के दृष्टिकोण की अपेक्षा विदेशी विनिमय के दृष्टिकोण मे उन पर प्रकाश डालेगे। ये युक्तिया है :

(अ) निष्कासन या निकासी समझौते (Clearing Agreements), (ब) निश्चल समझौते (Standstill Agreements), (स) परावर्त्तक विलम्ब काल शोध (Transfer Moratoria) और (द) समावरुद्ध-लेखे (Blocked Accounts)।

दो देशो के बीच के निष्कासन-समझौते (Clearing Agreements) के अन्तर्गत आयात-कर्ता अपने-अपने केन्द्रीय बैको मे आयात की हुई सब वस्तुओ के क्रय-मूल्य को एक लेखे मे जमा कर देते है। इस धन से फिर निर्यात-कर्त्ताओ का भुगतान कर दिया जाता ह। मुद्राओ की दर साधारणतया समझौते की शर्तो के अनुसार निर्धारित की जाती है। इसका उद्देश्य है, राज्य की इच्छानुसार आयात का नियमन करना, भुगतान-तुला मे साम्य निश्चित करना और घटते-बढते हुए विनिमय की अनिश्चितता को दूर करना। इस प्रणाली की प्रवृत्ति बहुमुखी व्यापार (Multilateral Trade) के बजाय द्विमुखी व्यापार (Bilateral Trade) को प्रोत्साहन देने की है और इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर इसका प्रभाव अवरोधक होता है। इसके अतिरिक्त यह राशिपातन (Dumping) और मुद्रा-अवमूल्यन को निरुत्साहित करती है। सब प्रकार से देखते हुए यह प्रणाली निन्दित ठहराई जाती है। केवल युद्ध के समय की विशेष परिस्थितियो मे या एक अस्थायी मुक्ति के तौर पर किसी देश की भुगतान-तुला की असमता की परिस्थिति पर काबू पाने के लिये उस समय तक इसका आश्रय लिया जाता है, जब तक कि असमता के कारण दूर नही हो जाते।

निश्चल समझौता (Standstill Agreement) किसी देश को अपनी दशा सुधारने के लिए समय देने की एक युक्ति है जिससे कि उस देश से अति विशिष्ट विदेशी अल्पकाल ऋण के विलम्ब काल शोध (Moratorium) के रूप मे पूजी बाहर न जा सके। या तो अल्पकाल ऋण दीर्घकाल ऋण मे परिवर्तित कर दिया जाता है या उसके धीरे-धीरे भुगतान करने की व्यवस्था कर दी जाती है। यह युक्ति जर्मनी मे सन् १९३१ के सकट के बाद प्रयोग मे लाई गई थी।

परावर्त्तन विलम्ब काल शोध (Transfer Moratoria) इसी प्रकार की एक दूसरी युक्ति है। इस प्रणाली के अन्तर्गत आयातकर्त्ता और दूसरे लोग अपने विदेशी ऋण का भुगतान अपनी स्वदेशी मुद्रा मे एक निर्दिष्ट प्राधिकारी को करते है। जब विलम्ब काल शोध (Moratorium) की समाप्ति हो जाती है, तो ये निधिया विदेशो को भेज दी जाती है। कभी-कभी एक विदेशी ऋणदाता को उस देश में, जो विलम्ब कालशोध

(Moratorium) लागू करता है, अपनी निधि को सरकार द्वारा निर्दिष्ट ढंग पर व्यवहार मे लाने की आज्ञा दे दी जाती है।

पहले बतलाए हुए निश्चल समझौते (Standstill Agreement) और परावर्त्तन विलम्ब कालशोध (Transfer Moratoria) की युक्तियो से एक तीसरी युक्ति निकलती है जिसको कि समावरुद्ध लेखा या बधे हुए खातो की प्रणाली (Blocked Accounts) कहते है। जिस समय केन्द्रीय बैंक को स्वदेशी मुद्रा मे दिये गए विदेशी ऋण सरकार की आज्ञा के बगैर विदेश नही भेजे जा सकते उस समय समावरुद्ध लेखो (Blocked Accounts) की उत्पत्ति होती है। चूकि देश मे निरुद्योगी निधि साख को सकुचित करती है, इसलिए विदेशी उत्तमर्ण ऋणदाता उसको व्यवहार मे लाने से बिलकुल वचित नही किये जाते। परन्तु निधिया सरकार की निर्दिष्ट विधि के अनुसार ही व्यवहार मे लाई जाती है। साधारणतया उनको स्वतन्त्र बाजार मे बेचने की आज्ञा दे दी जाती है। अधिकतर वे ऊचे बट्टे (Discount) पर बेची जाती है।

१७. अग्रिम विनिमय (Forward Exchange)—विनिमय मे उतार-चढाव की जोखिम, विशेषकर अविनिमयसाध्य मुद्रा के अन्तर्गत, एक युक्ति से हटाई जा सकती है, जिसको कि "अग्रिम विनिमय" कहते है। इसके अनुसार एक व्यक्ति, जिसको भविष्य मे कभी कोई भुगतान करना है, या लेना है, एक ऐसे बैंक से प्रसविदा कर लेता है जो इस समय विनिमय की दर का निर्णय (Settlement) करता है। मान लीजिए कि एक भारतीय आयातकर्त्ता को तीन महीने बाद इग्लैण्ड के एक निर्यातकर्त्ता को ५०० पौण्ड का भुगतान करना है। विनिमय की अनिश्चितता के कारण वह इस बात का निर्णय नही कर सकता कि समय आने पर उसको कितने रुपये देने होगे। बिना यह समझे हुए कि उसकी लागत कितनी हुई वह आयात की हुई वस्तु का मूल्य निर्धारित नही कर सकता। इस समय के किसी निश्चित दिये हुए दर पर अग्रिम स्टर्लिंग खरीद कर वह इस संकट से मुक्ति पा सकता है। यह उसको विनिमय मे उतार-चढाव की जोखिम से सुरक्षित कर देगा। इसी प्रकार एक भारतीय निर्यातकर्त्ता जिसको कि भविष्य मे स्टर्लिंग मे भुगतान मिलता है, एक निश्चित की हुई दर पर वस्तुए बैंक को बेच सकता है। उसको विश्वास रहेगा कि भविष्य मे उसको कितने रुपये मिलेगे।

अग्रिम विनिमय की दरे प्रचलित दर मे दी जाती है, या "तात्कालिक मूल्य" (Spot Price) मे। यदि स्वदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले मे विदेशी मुद्रा का एक थोडा भाग मिलता है, तो यह अग्रिम दर "अधिमूल्य" (At a Premium) पर होती है। यदि स्वदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले मे अधिक भाग मिलता है तो उसको "अपहार" अथवा बट्टे (Discount) पर होना कहते है।

किन परिस्थितियो में अग्रिम दर अधिमूल्य पर या बट्टे पर हो सकती है? दूसरे शब्दो में वे क्या कारण है जिनको बैंक अग्रिम दरों का मूल्याकन करते समय

अपने ध्यान में रखते है। साधारणतया तीन बातें ध्यान में रखी जाती है :—

(१) **स्वदेश और विदेश में ब्याज की सापेक्ष दरें** (The Relative Rates of Interest at Home & Abroad)—यदि ब्याज की दर किसी विदेशी केन्द्र में स्वदेश से अधिक है तो बैंक को अपनी निधि विदेशी केन्द्र में भेजने से लाभ होगा। इस प्रकार वह अग्रिम विनिमय सस्ती दरो पर बेच सकता है। अग्रिम विनिमय का मूल्यांकन बट्टे पर होगा। यदि स्वदेश में ब्याज की दर उच्चतर है तो निधि के विदेश भेजने में कोई आकर्षण न होगा। अग्रिम विनिमय का मूल्याकन अधिमूल्य पर किया जायगा।

(२) **ठेके का संतुलन** (Marrying a Contract)—निधियो को एक जगह से दूसरी जगह भेजने के बजाय बैंक एक लेन-देन को दूसरे लेन-देन से पूरा कर सकते है। कुछ व्यापारियों को विदेशी मुद्रा की भविष्य मे आवश्यकता होगी और इसके विपरीत कुछ व्यापारी भविष्य में विदेशी मुद्रा बेचना चाहेगे। बैंक उनके बीच मे एक मध्यस्थ के तौर पर आ जाता है। वह एक से खरीदता है और दूसरे को बेचता है और लाभ अपने लिये निकाल लेता है। इसको ठेके का सतुलन (Marrying a Contract) कहते है। इसलिए यदि बैंक ने पहले से ही अग्रिम विनिमय खरीद लिया है तो वह उन लोगो को, जो उससे खरीदना चाहते है, उन्हे अच्छे दर पर बेच देगा। अग्रिम दरे, इस प्रकार, बट्टे पर मूल्याकित होगी, क्योकि बैंक पहले ही जोखिम उठा चुका होता है।

(३) **मुद्रा की स्थितियां** (Currency Conditions)—यदि विदेशी मुद्रा के अवमूल्यन की आशा है, तो बैंक उसको अग्रिम रूप से खरीदने के लिए तैयार न होगा और इस प्रकार अग्रिम दरे अधिमूल्य पर मूल्याकित की जायेगी।

ऊपर कही गई बातो को ध्यान मे रखकर देखने से यह समझना सरल हो जाता है कि अग्रिम विनिमय या भविष्य के लेन-देन, जैसा कि कहा जाता है, किस प्रकार विनिमय में उतार-चढाव कम करने मे सहायक होता है। ये लेन-देन केवल सच्चे व्यापारिक उद्देश्यों से ही प्रयोग मे नही लाये जाते बल्कि सट्टेबाजी के उद्देश्यो से भी।

१८. अंतर पणन (Arbitrage Operations)—जब कि अग्रिम विनिमय से विनिमय उतार-चढाव समय की दृष्टि मे कम हो जाती है तो अतरपणन से विनिमय की दरो के अन्तर स्थान की दृष्टि से कम हो जाते है। एक उदाहरण से यह भेद समझ में आ जायगा। मान लीजिये कि बम्बई के विनिमय बाजार मे पया-स्टर्लिंग विनिमय की दर है १८ पै० प्रति रुपया और लदन मे, किसी भी कारण से, दर बढकर १९ पै० प्रति रुपया हो जाती है। प्रत्यक्ष है कि इस अतर के कारण लाभ कमाने का एक अवसर उत्पन्न हो जाता है। आप अपने इग्लैण्ड के बैंक को तार से १९ पै० प्रति रुपया की दर पर स्टर्लिंग खरीदने का आदेश कर सकते है। आप उसको अपने भारतीय बैंक द्वारा १८ पै० प्रति पया की दर पर बेच कर १ पै० प्रति रु० लाभ उठा सकते है। और लोग भी अवश्य ऐसा करेगे। लन्दन में स्टर्लिंग की माग बढ़ जायगी और विनिमय की दर १८ पै०

प्रति रुपया की ओर बढने के लिए प्रवृत्तिशील होगी। इसके विपरीत भारत में स्टर्लिंग की पूर्ति बढ जायगी और रुपयो मे इसका मूल्य गिरेगा। विनिमय की दर १९ पै० की ओर बढेगी। यह उतार-चढाव तब तक चलता रहेगा, जब तक भारत और लन्दन मे विनिमय दर लगभग एक-सी नही हो जाती। वास्तव मे इतना ऊचा अतर जितना कि यहां हमने माना है, असभव होता है, क्योकि अतर पणन (Arbitrage Operations) अन्तर को न्यूनतम बनाये रहता है।

१९. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)—आजकल एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना करके विनिमय उतार-चढाव को दूर करने का एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न किया गया है। इस कोष की मुख्य बाते नीचे दी जाती है —

सन् १९४४ मे होने वाले ब्रटेन वुडस (Bretton Woods) सम्मेलन मे इस सस्था का जन्म हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष नामक सस्था के स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि विनिमय मे स्थिरता आ जाय और परस्पर एक दूसरे देशो मे विनिमय मित्रतापूर्वक हो जिसमे भुगतान-तुला की विषमता मिट जाय।

इसी सस्था की प्रथम धारा के अनुसार इसके निम्नलिखित कार्य होगे :—

१—एक स्थायी सस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहकारी कोष प्रोत्साहित करना।

२—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे साम्य रखना और सदस्य देशों मे ऊंचे स्तर की नियोजन-व्यवस्था करना।

३—विनिमय की प्रतिस्पर्धा को रोकना एव विनिमय की स्थिरता मे वृद्धि करना।

४—एक सदस्य और विदेशी विनिमय के सम्बन्ध मे द्रव्य की अदायगी के लिये बहुमुखी पद्धति की पुष्टि के लिये सहायक होना।

५—सदस्यो को पर्याप्त मात्रा मे धन उपलब्ध होने का विश्वास दिलाना जिसमे वे अपने देशो के भुगतान-तुला को सही और ठीक रख सकें और जिसमे राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति बरबाद न हो (जैसे अपस्फीति नीति)।

६—इस उपर्युक्त कथन के आधार पर सदस्यो के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की विषमता को ठीक किया जाता है।

अतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) सदस्यो के योगदानो (Subscriptions) से बनाया गया था जिन्होने कि उस कोष मे भाग लेना निश्चित किया था। चन्दे का भुगतान निश्चित अभ्यशो के अनुसार किया गया था; अशत. सदस्यो के अभ्यश का कुछ भाग सोने मे और अशत: कुछ उस देश की मुद्रा मे। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साधन, कुछ तो सोने मे है और कुछ सदस्य-देशो की मुद्राओ मे जो कि उन देशो के केन्द्रीय बैंकों में रखी जाती है।

इस कोष का उद्देश्य है विनिमय-स्थायित्व को बढाना, प्रतिद्वन्द्वी विनिमय अवमूल्यन

मे बचना और आवश्यकतानुसार राष्ट्रीय मुद्राओं को एक दूसरे मे परिवर्तित करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति करना। सम्पूर्ण विनिमय की बाधाएँ और नियंत्रण, आतरिक मुद्रा व्यवस्थाएँ तथा अनेक प्रकार की मुद्रा सम्बन्धित क्रियाएँ, जिनका यह कोष अनुमोदन नही करता, अनत हटानी पडेगी। कुछ बाधाओ को अन्तर्वर्ती काल के लिए अवश्य छूट मिल गई है। सन १९४९-५० की रिपोर्ट मे कोष द्वारा बचत वाले देशों जैसे अमेरिका मे तट-कर को घटाना और व्यापारिक पक्षपात को खत्म करने के लिए सिफारिश की गई है।

इस कोष का मुख्य कार्य सदस्य-देशो की मुद्राओ को एक दूसरे के लिये क्रय और विक्रय करना है। सदस्य-देशो को इस निधि मे उनके अभ्यश (Quota) का ७५ प्रतिशत और इसके अतिरिक्त २५ प्रतिशत प्रति वर्ष, और अधिक मे अधिक उनके अभ्यश के २०० प्रतिशत तक सहायता दी जा सकती है। कोष की इच्छा पर ये शर्तें शिथिल की जा सकती है। इस कोष की सहायता से एक ऋणी देश सोने के निर्यात और उससे उत्पन्न हुई अपस्फीति (जैसा कि स्वर्ण-मान के अन्तर्गत हुआ था) से सुरक्षित रहता है।

उत्तमर्ण देश की मुद्राए जिनका निर्यात आधिक्य उनके अभ्यश के ७५ प्रतिशत से ऊपर है, दुर्लभ घोषित कर दी जाती है। इस प्रकार की मुद्राओ का सम-वितरण (Rationing) उन देशो के बीच कर दिया जाता है, जिनको उन मुद्राओ की आवश्यकता होती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष दुर्लभ मुद्राओ की पूर्ति को भी, या तो ऋण लेकर और या सोने के द्वारा खरीद कर, बढा सकता है। यदि तब भी ये मुद्राए पर्याप्त नही होती तो उस समय ऋणी देशो को उत्तमर्ण देशो से आयात अवश्य ही कम करना पडेगा, जिससे उनकी भुगतान-तुला मे समता आ जावे।

जहा तक विनिमय की दरो का प्रश्न है, सदस्य-देशो को अपनी मुद्राओ की सोने के साथ विनिमय दर (Parities) निर्धारित करनी पडती है परन्तु ये दरे हर समय के लिए निर्धारित नही की जाती। उनमे पूर्णतया एकरूपी परिवर्तन उन सदस्य-देशो की राय मे, जो अलग-अलग अपने अभ्यश का १० प्रतिशत भाग देते है, किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सदस्य-देश अपनी मुद्राओ के विनिमय-मूल्य को १० प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकते है। इस सीमा के आगे परिवर्तन, इस कोष की स्वीकृति से केवल मौलिक असमता को ठीक करने के हेतु ही किये जा सकते है।

इस प्रकार विनिमय के मूल्य मे कमी, जोकि उक्त देश के लिए जिसका द्रव्य अधिक मूल्यवान है, बिना किसी झगडे के पूरी की जा सकती है। इस प्रकार से मुद्राकोष किसी एक देश को थोडे ही समय तक बन्दिश मे लाने के लिए सहायक नही होता है जबकि वह किसी भी प्रकार का विदेशी माल न निर्यात कर सके, किन्तु बहुत-सी मुख्य कठिनाइयो को भी हल करते है। अपने सदस्य-देशो की कभी भी विनिमय के मूल्य मे न्यूनता की प्रतिस्पर्धा को नष्ट करता है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो मे एक बहुत सुन्दर नापजोख का ढांचा तैयार हो गया है।

भुगतान-तुला में फिर से समता लाने के लिये यह निधि सदस्य-देशों की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे हस्तक्षेप नही करती।

सदस्य केवल एक लिखित सूचना देकर इस कोष से अलग हो सकते है।

मुद्रा कोष का प्रबन्ध कार्यकारिणी मडल के १२ संचालकों से होता है जिसमें अमेरिका, भारत, चीन, इग्लैण्ड प्रत्येक को स्थायी स्थान दे दिया गया है। दो स्थान लैटिन अमेरिका प्रजातत्र को दे दिये गए है और शेष ५ स्थानो की चुनाव द्वारा पूर्ति की जाती है।

यह प्रणाली विनिमय स्थायित्व लेखो (Exchange Stabilisation Accounts) से, जिसको कि मदी के दिनो मे पृथक् २ देशो ने निकाला था, मिलती-जुलती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी यही सिद्धान्त प्रयोग मे लाये गए है। यह निधि अन्तर्राष्ट्रीय-स्वर्णमान के उद्देश्य की प्राप्ति, उसकी त्रुटियो के बिना, करना चाहती है।

इस प्रकार उपर्युक्त दिये गये वर्णन से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ३ कार्य हो सकते हैं :—

१. यह अल्पकालीन साख सस्था के रूप में कार्य करता है। यदि किसी देश को कठिनाई ह और व्यापार-तुला उसके प्रतिकूल है तो ऐसे समय पर यह उसकी मदद के लिये आगे कदम बढाता है। लेकिन यह उस देश की विदेशी विनिमय की प्रत्येक पूर्ति की जो वहा पर प्रयोग मे आती है, जिम्मेदारी नही लेता। प्रत्येक देश मे आशा की जाती है कि वे विदेशी विनिमय सचिति रक्खे जिसमे वे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। यह सस्था प्रत्येक वस्तु की पूर्ति का उत्तरदायित्व नही लेती। वह तो केवल आकस्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। कर्ज लेने वाले देश को व्याज देना पडता है और अपने कोटे को पूर्ण रखना पड़ता है। साधारणतया देशो को कर्ज न लेना चाहिये, क्योकि जब सभी कर्ज लेने लगते है तो व्याज दर बढ जाती है। कम व्याज उसी अवस्था में लिया जाता है जब कर्ज थोडे समय के लिये दिया जाता है। यदि कर्ज की दर पर व्याज ५ प्रतिशत से बढ जाता है तो यह दर को किसी भी स्तर तक जुर्माने के रूप मे बढ़ा सकता है। इस प्रकार मे विदित हुआ कि उत्तम व्यापारिक आधार पर इस सस्था के सिद्धान्त आधारित नही है। वह केवल अल्पकाल के लिये ही ऋण देते है।

२. मुद्रा कोष दीर्घकालीन भुगतान-तुला की स्थिति मे सुधार लाने की व्यवस्था करता है। यह केवल साधारण विनिमय दरो को बताता है। कोई भी सदस्य-देश अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो मे प्रतिस्पर्धा नही कर सकता है। जब कोई देश यह समझता है कि हमारी विनिमय की दरे कम है तो वह उन्हे परिवर्तित कर सकता है किन्तु देश और मुद्राकोष के अधिकारियों के मान लेने पर ही। इस प्रकार मे विनिमय दरों में एक निश्चित शर्त है। इस प्रकार इस ढंग से आन्तरिक स्थिरता और संसार के पूर्ण धधे उच्च व्यापार के रूप में चलते हैं। प्रत्येक देश को सकी कुशलता पर विश्वास करना चाहिये।

३. मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय विचार विनिमय के लिये साधन आयोजित करता है। इस संस्था मे ससार के मुख्य-मुख्य देशो के प्रतिनिधि आते है। इससे केवल ससार की आर्थिक व्यवस्था पर ही विचार नही होता बल्कि संसार के प्रत्येक देश के व्यापार के विकास के विषय मे आयोजनाये बनाई जाती है। ससार की उत्पत्ति का भी लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार से प्रत्येक सदस्य देश के व्यवसाय धन्धो और आय विकास पर विचार किये जाते है। यह सस्था इन सब समस्याओ को हल करने के लिये गहन अध्ययन और शोध कार्य करने मे सतत प्रयत्नशील है।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मुद्रा कोष अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिरता व अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो को सफल बनाने मे बहुत महत्वपूर्ण भाग ले सकता है। किंतु अभी तक मुद्रा कोष अपने मुख्य उद्देश्य तक नही पहुच सका है। इसकी सातवी रिपोर्ट सितम्बर १९५२ में वितरित हुई थी। उसमे लिखा है कि युद्ध समाप्त हुए सात वर्ष हुए, किन्तु व्यापार मे नाममात्र के लिये बहुत थोडा-सा सुधार हो सका है। यूरुप और अमेरिका में कृषि उत्पादन मे राज्य-सबधी नीति लागू होती है। यह नीतिया मुद्रा कोष (Fund) के लिये अच्छी नही प्रतीत होती है। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता और आयात के पिछडे होने के कारण बहुत सी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। रिपोर्ट मे आन्तरिक आर्थिक स्थिरता को प्रमुख बताया है जिसमे कि स्फीति (inflation) समाप्त हो जाय। स्फीति को समाप्त करने की सूचना प्रत्येक सदस्य-देश को दे दी गयी है। नही तो ससार भर मे व्यापार पर रोक और मुद्रा की परिवर्तनशीलता पर हस्तक्षेप होगा।

सक्षेप मे हम इसको अग्रेजी के छोटे से मुहाविरे मे कह सकते है कि "too little and too soon" अर्थात् देखने मे तो बहुत थोडा-सा प्रतीत होता है किन्तु कार्य अधिक और शीघ्र होता है। सन् १९४८ मे फ्रास मे ४४.४ प्रतिशत अवमूल्यन था किन्तु इसने सोने का बाजार अमरीका के डालर से स्वतन्त्र रखा था क्योकि कोष के सिद्धान्तो से प्रतिस्पर्धा के योग्य न था। किंतु फिर भी इस सस्था ने फ्रास के साथ सहानुभूति प्रकट की और इसके प्रबध और सिद्धान्तो को कायम रक्खा। सितम्बर १९४९ मे पौण्ड मे ३० ५ प्रतिशत का अवमूल्यन हुआ। इसके अनुसार केवल मित्र-राष्ट्रो के देशो मे ही नही (पाकिस्तान को छोडकर) १३ अन्य देशो मे भी अवमूल्यन हुआ। मुद्राकोष इस महान परिवर्तन पर हस्तक्षेप कर सकता था किन्तु किया नही क्योकि विषमता अर्थात असमता को ठीक करने का यह एक सही रास्ता था। श्री आइवर थ (Ivar Rooth) प्रबन्ध सचालक (Managing director) ने सितम्बर १९५२ में रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए कहा था कि पूर्व से ही द्रव्य की अदायगी की स्थिति बन्धेज द्वारा हुई थी। कौलबार्न (Coulborn) ने मुद्रा कोष के कार्यो का एक खाका दिया है जो निम्नलिखित है। लगभग ५० देश है जो अर्ध-स्वर्ण मान (Semi-Gold Standard) का खेल खेलना चाहते है। जिसमें से ६ देश मुख्य है। यह उसी प्रकार का जाल है और इसमें मुख्य भाग लेने वाले भी वही देश

है जैसा कि चुनाव की तालिका से सूचित होता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्वर्णमान विनिमय के लेखा (accounts) को सम रखना चाहता है। यह अच्छा खेल है जो किसी हद तक वाशिगटन मे देखा जा सकता है। यह यथोचित कल्पना होगी कि यह वर्तमान सगठन लाभप्रद सिद्ध होगा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के पास इतना धन नही है कि आकस्मिक आवश्यकताओ को पूरा कर सके। इसके नियत्रण के कोई भी साधन नही है। इसके लिये राष्ट्रीय बचत के साधन प्रयोग मे आते है।

२०. अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के साथ तुलना (Comparison with International Gold Standard)--ब्रेटनवुडस स्कीम (Bretton Woods Scheme) जैसी कि यह व्यवस्था साधारणतया कहलाती है, कुछ बातो में स्वर्ण-मान से मिलती-जुलती है।

(१) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत हर एक देश अपने बाह्य लेखे का समन्वय सम्पूर्ण संसार मे एकबारगी करता है, न कि पृथक्-पृथक् देशो से।

इसको बहुपक्षवाद (Multilateralism) कहते है। यह द्विपक्षवाद (Bilateralism) के विपरीत है, जो कि सन् १९३० की मंदी के समय बहुत लोकप्रिय हो गया था। बहुपक्षवाद के अन्तर्गत एक देश का निर्यात-आधिक्य दूसरे देश के आयात-आधिक्य के भुगतान करने के काम मे लाया जा सकता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष के अन्तर्गत मुद्राए किसी विशेष समय पर निर्धारित की हुई दरो पर परिवर्तित की जा सकती है। इस प्रकार बहुपक्षी लेन-देन को प्रोत्साहन मिलता है।

(२) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत एक देश, जिसकी भुगतान-तुला घाटे मे है, इस कमी को सोने या विकर्षों के निर्यात से पूरा करता है। नई व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का अभ्यश इस कार्य को करता है।

(३) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत अभ्यश और प्रत्यक्ष विनिमय जैसी कोई बाधाएं नही थी। ये बाधाए इस सिद्धान्त के असगत है कि व्यापार तुलनात्मक लागत के द्वारा शासित होना चाहिये। ये बाधाए व्यापार को उस मार्ग पर ले गई जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत भी ये बाधाए अन्तर्वर्ती काल के बीतने पर हट जायेंगी और व्यापार फिर से स्वतन्त्र रूप से परिवर्त्य मुद्राओ और उचित स्थायी विनिमय द्वारा होने लगेगा।

ब्रेटन वुड्स स्कीम के अन्तर्गत ये सब सुविधाएं, बगैर स्वर्ण-मान की बुराइयों के मिल जाती है। हम एक दूसरे सम्बन्ध मे स्वर्ण-मान की कुछ त्रुटियों को पहले ही बतला चुके है। हम यहा पर इस प्रणाली की दो सबसे बड़ी त्रुटियां बतलाते है, जो कि नयी व्यवस्था में नहीं पाई जाती।

(१) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत किसी देश के संचित सोने पर चालू लेखे (Current Account) के अन्तर्गत आयात-आधिक्य (Import Surplus) (अर्थात्

प्रतिकूल व्यापार-तुला) और पूजी के वापस लेने का प्रभाव लगभग एक-सा ही था। सोना बाहर गया और साख संकुचित हो गई। विनिमय-समकारी लेखे (Exchange Equalisation Account) की प्रणाली द्वारा, जो घरेलू साख के आधार को अल्पावधि पूजी के आतरिक प्रवाह (Inflow) तथा बाह्य-प्रवाह (Outflow) से प्रभावित नही होने देती थी, यह त्रुटि बहुत कुछ दूर हो गई है। नयी प्रणाली को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता से एक देश को, उसकी साख-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव डाले बिना प्रतिकूल आधिक्य का सामना करने के लिये शक्तियुक्त ब ाती है।

(२) स्वर्ण-मान की दूसरी और अधिक महत्वपूर्ण त्रुटि यह थी कि विनिमय-स्थायित्व इस नीति का पहला उद्देश्य बनाया गया था और यह मान सोना बाहर भेजते रहने वाले देश के साख की अपस्फीति (Deflation) करके कायम रक्खा गया था। सिद्धांततः जिस देश में सोना अन्दर जा रहा था उससे साख के विस्तृत करने की आशा थी। परन्तु इस व्यवस्था के नियमों के इस भाग का सदैव पालन नही किया गया। भुगतान-तुला में समता कायम रखने की इस कोष ने, जिससे कि विनिमय समता रही, उस समय तक सरलतापूर्वक कार्य किया जब तक कि मजदूरी तथा दूसरी लागतें लोचदार रही, जिससे कि साख की अपस्फीति ने निर्यात वस्तुओं की कीमत को कम किया और समता के मौलिक कारणों को फिर उत्पन्न किया। परन्तु क्योकि विशेषकर व्यावसायिक सघों के मजदूरी कायम रखने के दबाव के कारण लागत अधिकाधिक दृढ होती गई इसलिये साख की अपस्फीति का अर्थ हुआ आर्थिक व्यवस्था पर पक्षाघात और अपने सब दुष्परिणामों के साथ देश में बेकारी।

नई प्रणाली स्वर्ण-मान की इन कटुताओं से बचने का प्रयास करती है जैसा कि हम लोगों ने देखा है। हालाकि विनिमय दरे सोने की मात्रा में सदस्य-देशों द्वारा निर्धारित की जाती है, परन्तु फिर भी किसी मूल असमता के आने पर सदस्यों द्वारा इन दरो में परिवर्तन करने की व्यवस्था है। हालाकि ये परिवर्तन इस कोष की आज्ञानुसार ही किये जा सकते हैं, परन्तु यह आज्ञा सच्चे मामलों में रोकी नही जायगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत भी सोना निम्नलिखित कार्य करेगा :—

१. जब सोने की विनिमय दरें बदल जाती है, तो यह विनिमय दर को स्थिर रखने में सहायक होगा।

२. जब अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में अल्पकालिक असमता आ जाती है, तो यह फिलहाल काम चलाने में सहायता दे सकता है।

३. यह विभिन्न मुद्राओं का मान है।

४. चूकि मुद्रा कोष में सोने को निश्चित स्थान दिया गया है, इसलिये उन देशों को, जो सोना उत्पन्न करते हैं, इस कोष में शामिल होने के लिये प्रोत्साहन मिलता है।

इस प्रकार यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्वर्ण मान तथा स्वतंत्र विनिमय के गुणों को मिलाता है। सोना अब भी मूल्य का अंतिम मान है। परन्तु स्वर्ण-मान की बन्दिशों को

दूर रखा गया है। फिर भी इस नई प्रणाली को चलाने के लिये अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है।

निर्देश पुस्तकें

Crowther—An Outline of Money.

Cole—Money, Its Present and Future.

Brij Narain—Money and Banking.

Publication of the League of Nations—Economic Policy in Inter-war and Post-war period.

Halm—Monetary Theory.

Tarshis—Elements of Economics.

Meyers—Elements of Modern Economics

Samuelson—Economics.

Cassel—Money and Foreign Exchange.

Keynes—Tract on Monetary Reforms.

Whale—International Trade.

Paul Einzig—Exchange Control.

Furness—Foreign Exchange.

Marshall—Money, Credit and Commerce.

Pigou—Essays in Applied Economics.

Whittakar—Foreign Exchange.

Harris—New Economics.

Hawtrey—Bretton Woods.

Hoover—World Charter.

अध्याय ४३

व्यापार-चक्र और संकट-काल

(TRADE CYCLES AND CRISES)

१. व्यापार-चक्र किसे कहते है ? (What is a Trade Cycle)– पिछले डेढ सौ वर्षों में संसार ने महान् आर्थिक उन्नति का अनुभव किया है। पर यह विचार सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा कि यह उन्नति सदैव समान व स्थिर रही है। सच तो यह है कि हर दस या बारह वर्ष बाद व्यवसाय को एक धक्का सा लगता है, जिससे कई वर्ष के लिये उद्योगो की प्रगति रुक जाती है। अस्तु, व्यवसाय में प्रगति के साथ अवनति के भी दिन आते है और समृद्धिकाल के पीछे मदी का समय भी आया करता है। मंदी व समृद्धि के इसी चक्र को व्यापार चक्र (Trade Cycles) कहते है।

इसके विपरीत सकटकाल (Crises) उस काल को कहते है जब व्यवसाय में कठिनाइया उपस्थित होने लगती है। एडोल्फ वेगनर के शब्दो मे "सकटकाल मे व्यवसायियों के सामने इस प्रकार की कठिनाइया उपस्थित हो जाती है कि वह अपने को ऋण चुकाने के लिये निरतर अशक्त पाते है।" अथवा जे. एस. मिल के अनुसार,"जब बहुत से व्यापारी अपने व्यापार में अडचनो का अनुभव करने लगते है तो वह अवस्था संकट की होती है।" जब यह कठिनाइयां केवल व्यापारियो तक ही सीमित रहती है तो संकटकाल व्यावसायिक होता है, पर जब यह अत्यधिक बढ जाती है और बैक आदि बन्द होने लगते है, तो आर्थिक सकट पैदा हो जाता है।

२. व्यापार चक्र का पथ (Course of Trade Cycles)—अब हम व्यापार-चक्रो के पथ का संक्षेप मे अध्ययन करेगे। मदी के दिनों मे जब व्यवसाय बिलकुल शिथिल होता है, तो नौकरीपेशा लोगों की तनख्वाहे बिलकुल कम हो जाती है। ऐसे समय में द्रव्य की क्रयशक्ति तो अवश्य बहुत अधिक बढ जाती है, पर व्यक्ति की क्रयशक्ति कम हो जाती है; जाति की सामान्य क्रयशक्ति कम हो जाती है। इसलिये उत्पादन-कार्य, चाहे वह उपभोक्ताओं की वस्तुओ का हो अथवा उद्योगी वस्तुओं का, शिथिल हो जाता है। ऐसा लगता है मानों विश्व बहुत नीचे व्यवसाय व जीवन-स्तर पर स्थिर हो गया हो। अयोग्य उपक्रमी ऐसी परिस्थितियों में स्वयं समाप्त हो जाते है और संसार मे कीमतों, लागतों और लाभो के निम्न स्तर की एक नई समता के आधार पर व्यापार की स्थापना होती है। इस प्रकार विश्व अपने आपको मदी के अनुसार व्यवस्थित करके किसी प्रकार काम चलाता है। इस भाति की व्यवस्था या साम्य-स्थिति कई वर्षो तक रह सकती है।

पर यह परिस्थिति सदैव बनी नही रह सकती। थोडे ही समय बाद आशा की क्षीण

रेखाये प्रगट होने लगती हैं और मंदी के दिन समाप्त होने लगते है। चूंकि कार्यकुशल व्यक्तियो की भी तनख्वाहे कम होती है, इसलिये उनकी पूर्ति बढ़ जाती है। द्रव्य व उत्पादन के अन्य पदार्थ और साधन बहुत सस्ते होते है। यह अवश्य है कि मूल्य कम होते हैं पर साथ ही उत्पादन व्यय तो बहुत ही कम होता है। कभी-कभी तो उत्पादन व्यय व लागतो मे इतनी कमी हो जाती है कि लाभ का भाग उभर आता है और फलस्वरूप उपक्रमी अपने प्रतियोगियो को पीछे हटाने के लिये अपने व्यवसाय में हर प्रकार की उन्नति करने का प्रयत्न करता है। रचनात्मक उद्योगों की उन्नति होती है और बेकार व्यक्ति उनमें खप जाते है। यह श्रमिक इस प्रकार मिली हुई अपनी नयी क्रय-शक्ति का उपयोग उपभोक्ताओ की वस्तुए खरीदने मे करते है, जिससे उद्योग को बढने का अवसर मिलता है। मदी मे इन तमाम परिवर्तनो से व्यापार की दशा ही बदलने लगती है और उन्नति के लक्षण प्रगट होने लगते है। यह उन्नति उत्तरोत्तर बढने लगती है और उद्योगों में वृद्धि होने लगती है। एक उद्योग दूसरे उद्योग को सहारा देता है। माग की वृद्धि से मूल्य बढना प्रारम्भ कर देते है। व्यापारी की आय आशातीत रूप से बढ जाती है, जबकि मजदूरी, व्याज व अन्य व्यय नीचे स्तर पर रहते है। लाभ बढ जाते है। बैंक अग्रिम देना आरम्भ कर देते है और इस प्रकार उधार व साख प्रणाली बढ जाती है। व्यावसायिक लोग अधिकाधिक विनियोजन करना चाहते है। हर व्यक्ति अधिक से अधिक रुपया बनाने का प्रयत्न करता है। इस काल को समृद्धि काल कहते है। और मदी की भाति यह भी कई वर्षों तक चल सकता है।

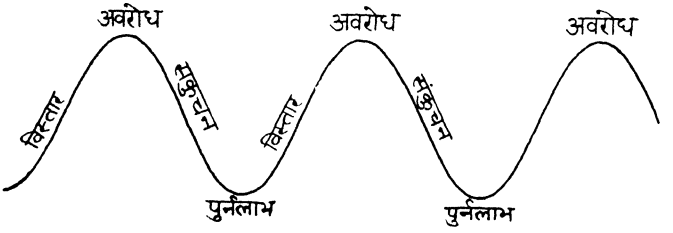
पर जिस प्रकार मे मदी के बाद तेजी आती है इसी प्रकार तेजी की परिस्थितियो में भी कुछ समय बाद अडचनें आने लगती है। क्योकि सब भांति के लोग उद्योग मे लग जाते है, इसलिये प्रदत्त श्रमिको की किस्म बुरी मिलने लगती है। परिणाम यह होता है कि कम योग्य व्यक्ति भी अधिक वेतन पाने लगते है। व्याज व अन्य वस्तुओं की दरे भी बढ जाती है। फलस्वरूप व्यय बढ जाते है, जिसमे लाभ का भाग कम होने लगता है। बैंक अग्रिम देने मे आनाकानी करने लगते है और अन्तत. यह होता है कि समृद्धि का काल समाप्त हो जाता है।

फिर चक्र नीचे की ओर घूमता है। लाभ कम हो जाने से चतुर व्यापारी अपने व्यवसाय मे छटनी करना प्रारम्भ कर देते है। सरकार कठोर नियंत्रण लगाती है, बैंक भुगतान पर जोर देते है, चारों ओर जमा की हुई वस्तुओ को निकालने की भावना जोर पकड़ जाती है। मंदी के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते है, बहुत से उद्योगी तो दिवालिए हो जाते है। व्यवसाय में चारो ओर अंधकार दिखाई पड़ने लगता है। व्यापार-चक्र के इस पहलू को संकट-काल कहते है।

सकट-काल उद्योगों के लिये सबसे अधिक मुसीबत का समय होता है। पर समय के साथ वे अपनी कठिनाइयो को पार कर लेते है। किसी प्रकार वह अपने भुगतानों को

निपटा कर अपना व्यवसाय चलाते है। यह मंदी का समय होता है। लार्ड ओवरस्टोन ने व्यापार चक्र की गति का वर्णन इस प्रकार किया है—"स्थिरता का समय–उन्नति–विश्वास काल–समृद्धि–उत्तेजना–अत्यधिक व्यापार–धक्का–निराशा–कठिनाई अथवा मंदी और अन्त में फिर स्थिरता।"[१]

मिचेल (Mitchell) के शब्दो के अनुसार हम व्यापार-चक्र के चार रूप बतला सकते है—अर्थात् विस्तार (ऊपर की ओर गति), अवरोध, संकुचन (नीचे की ओर गति) तथा पुनर्लाभ। इसको हम इस प्रकार भी प्रस्तुत कर सकते है।



चित्र नं० ५८

३. व्यापार-चक्र की विशेषताएं (Characteristics of a Trade Cycle)—व्यापार-चक्र के अध्ययन से दो विशेषताओ का पता चलता है : (१) इसका चक्रात्मक रूप (Cyclic Nature) और (२) इसकी सामान्य प्रकृति (General Nature)।

यह देखा गया है कि व्यापार-चक्र लगभग निश्चित समय के उपरान्त प्रगट होते रहते है। यह व्यापार-चक्र जिस नियत्रित रूप से प्रगट होते है, उससे हम इस अवधि की निश्चितता का पता लगा सकते है। लोगों का विचार है कि लगभग सात तथा दस वर्षों में व्यापार-चक्र पूरा हो लेता है। इसके विषय मे किसी निश्चित अवधि को स्थिर नही किया जा सकता। पर यह अवश्य है कि जिस प्रकार रात के पश्चात् दिन होता है, इसी प्रकार मंदी के बाद तेजी का होना आवश्यक है। चैपमैन ने व्यापार की इन गतियो की तुलना घड़ी के पेन्डुलम की उन अव्यवस्थित गतियो से की है, जिससे कोई बच्चा खेल रहा हो। व्यापारियों की अन्तर्दृष्टि इतनी तीक्ष्ण हो जाती है कि उनको यह पता चल जाता है कि किस समय मदी अथवा तेजी होगी। इससे हम वर्तमान काल मे व्यापार की नियमित गति का अनुमान लगा सकते है।

व्यापार-चक्र की दूसरी विशेषता यह है कि यह सर्वव्यापक होता है। व्यापारिक विश्व एक सम्पूर्ण आर्थिक इकाई है, जिससे किसी भाग पर धक्का लगने से सम्पूर्ण व्यवसाय को झटका लगता है। यदि किसी एक उद्योग मे बुराइया उत्पन्न हो जायें तो वह सारे उद्योग, जिनका उससे सम्बन्ध है, प्रभावित होंगे। इस प्रकार मंदी एक उद्योग से दूसरे

१. Quoted by Marshall in Money, Credit and Commerce, p. 246.

उद्योग में फैलती है। व्यवसाय जगत् में किसी एक उद्योग के बन्द होने से अन्य बहुत से उद्योग बन्द होने लगते है, निराशावादी भावनाओ मे छूत का प्रभाव होता है और इसलिये बहुत कम व्यवसाय ऐसे है, जो मदी अथवा तेजी की परिस्थितियों में अछूते रह सकें। ऐसा समय आता है जब कि सारे देश मे सभी उद्योग तथा व्यावसायिक संस्थायें निमग्न हो जाती है। इस बात से बहुत कम संस्थायें बच पाती है। 'अमरीकन इकानामिक्स असोसियेशन' के अनुसार व्यापार-चक्र के साधारण लक्षण इस प्रकार है:—

(१) कृषि को छोड़कर कीमत तथा उत्पत्ति की गति एक ही ओर को होती है।

(२) उत्पादक तथा स्थायी वस्तुओं के कुल व्यय मे उपभोग तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ के कुल व्यय से अधिक परिवर्तन होता है। अतएव उन उद्योगों में, जो उत्पादक वस्तुओ तथा स्थायी वस्तुओं की उत्पत्ति करते है; अधिक तेजी से घटाव-बढाव होते है।

(३) व्यावसायिक आविष्कार पर प्रचलित व्यय कुल बिक्री से अधिक प्रतिशत दर से घटते अथवा बढते है।

(४) द्रव्य (मुद्रा तथा साख द्रव्य) की मात्रा तथा चलन-वेग कुल उत्पत्ति तथा व्यवसाय के परिवर्तन के साथ प्रत्यक्ष रूप मे बदलती है।

(५) निर्माणित वस्तुओ की कीमते सापेक्ष रूप मे दृढ होती है जबकि खेती से उत्पन्न की हुई वस्तुओ की कीमते दृढ नही होती।

(६) लाभ मे दूसरे साधनो की आय की अपेक्षा अधिक घटाव व बढाव होता है।

व्यापार-चक्र के सिद्धान्त

(Theories of Trade Cycles)

४. जलवायु-सम्बन्धी सिद्धान्त (Climatic Theory)—कुछ अर्थशास्त्रियो ने व्यापार-चक्र के कारण भौगोलिक बताये है। उनका विश्वास है कि जलवायु की परिस्थितियो के कारण ही व्यापार-चक्र उत्पन्न होते है। भारतवर्ष मे यह विश्वास है कि मानसून अच्छी और बुरी वर्षा के चक्र के अनुसार होती है। जलवायु का प्रभाव फसल पर पडता है और परिणाम यह होता है कि कच्चे माल की पूर्ति प्रभावित होती रहती है।

अच्छी फसल के उपरान्त बुरी फसल का समय आता है और फलस्वरूप तेजी और मंदी एक दूसरे के बाद आते रहते है। किसी देश में यदि फसल खराब हो जाती है तो उसका प्रभाव ससार के अन्य देशो पर भी पडता है। यही नही कि कच्चे माल की केवल पूर्ति ही प्रभावित होती है, वरन् उत्पादकों की भी क्रयशक्ति कम हो जाती है; जिसका प्रभाव उस देश की अथवा दूसरे देश की बनी वस्तुओं की माग पर बुरा पडता है। यदि भारत में फसल खराब होने के कारण अकाल पड जाय तो बहुत सम्भव है कि जापान की कुछ सूती कपडों की मिले बन्द हो जायें। इससे यह स्पष्ट है कि जलवायु का प्रभाव व्यापार-चक्र पर बहत होता है।

जलवायु सिद्धांत के समर्थकों का विचार है कि जलवायु में परिवर्तन नियमित रूप मे हुआ करते है। इसलिये, वे केवल इस संकट के होने की ही व्याख्या नही करना चाहते, प्रत्युत उसके पुनः होने की भी। इसके लिये प्रमाण बहुत दुर्लभ है। इस प्रकार के सिद्धान्त के लिये कोई वैज्ञानिक आधार भी नही जान पडता। यह केवल कल्पना का विषय है।

इस सम्बन्ध मे एक अग्रगामी सिद्धान्त बहुत ही प्रसिद्ध है; वह है जेवन्स का सूर्य-बिन्दु सिद्धान्त (Jevons' Sunspot Theory)। प्रोफेसर जेवंन्स का कहना है कि सूर्य पर नियमित रूप से कुछ बिन्दु या धब्बे प्रगट हुआ करते है, जिससे सूर्य की गर्मी पर बहुत प्रभाव पडता है और जो बदले मे वर्षा और फसल को प्रभावित करती है। इसके बाद फसल और उद्योग का सामान्य सम्बन्ध आता है, और मंदी फैल जाती है। जलवायु के दूसरे सिद्धातो की भाति जेवन्स (Jevons) का सिद्धान्त भी सदिग्ध दृष्टि से देखा जाता है।

हम केवल इतना ही कह सकते है कि जलवायु का प्रभाव व्यवसाय और उद्योग पर पडता तो अवश्य है किन्तु भौगोलिक अश मे हमे व्यापार-चक्र के चक्रमय स्वरूप की पूर्ण एव संतोषजनक व्याख्या नही मिलती। ससार मे कृषि का क्षेत्र इतना विस्तृत है और जलवायु की परिस्थितिया इतनी भिन्न है कि स्थानीय भिन्नताओ का केवल स्थानीय प्रभाव ही दिखाई पडता है।

५. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory)--लोगो का विश्वास है कि बाह्य कारणो से सकटकाल नही पैदा होते। इसलिये बहुत से लोग इस बात का समर्थन करते है कि व्यापार-चक्र मनोवैज्ञानिक कारणो से उत्पन्न होते है।

इस सिद्धान्त के समर्थको का यह कहना है कि अधिकतर व्यवसाय चतुर दूरदर्शिता पर निर्भर करता है और व्यापारिक लोग सदैव निराशा अथवा आशा की लहर से प्रभावित हुआ करते है। "वहा तो स्वत उत्पन्न की हुई भूलो का समूह है।" आशा और निराशा दोनों ही इनकी बीमारिया है। इस सिद्धात के समर्थको के अनुसार यह विचार गलत है कि व्यक्तियो के मस्तिष्क अलग-अलग दिशाओ मे काम करते है। मनुष्यो मे सामूहिक प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिये उनकी मनोवृत्ति समूह के अनुसार चलने की होती है। व्यापारिक मदी का विस्तृत रूप मे कारण मनुष्यो मे पाई जाने वाली यही समूह मनोवृत्ति है।

कभी-कभी मनुष्य जोखिम लेकर व्यापार को विस्तार देने के लिये तैयार होते है। किन्तु ऐसे समय भी आते है कि जब वह असफलता के भय से किसी प्रकार का जोखिम उठाना पसद नही करते। जब कोई व्यवसायी किसी सौदे मे हानि उठाता है, तो वह केवल रुपये की ही हानि नही उठाता वरन् वह हीन मनोवृत्ति वाला हो जाता है, जिसका और भी बुरा प्रभाव उसके व्यापार पर पडता है। किन्तु जब उसे लाभ होता है तो वह सोचता है कि व्यापार में उत्कर्ष ही उत्कर्ष है, और बहुत से दूसरे लोग भी इसी विचार के भागीदार होते है, और अधिकाधिक लाभ करते है।

इसमे सन्देह नही कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में सत्यता का अश है। पर इस सिद्धान्त में इस बात का कोई उत्तर नही मिलता कि मदी का आरम्भ किस प्रकार होता है और मदी के बाद तेजी किस प्रकार आती है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त द्वारा व्यापार की इन 'जटिलताओ' की सतोषजनक व्याख्या नही होती, यद्यपि यह इस बात की सही-सही व्याख्या कर सकता है कि कैसे यह प्रवृत्ति ऊपर की ओर उठती है अथवा नीचे की ओर जाती है। यह वास्तविकता है कि व्यापार बहुधा अच्छी तरह चलता रहता है, चाहे भले ही व्यापार की समृद्धि करने वाले उद्दिष्ट हेतुओ का लोप हो जाय। इसी प्रकार, यह गिरना भी जारी रहता है, चाहे भले ही दलन करने वाले अशो की विद्यमानता न रहे। इसका विश्लेषण मानव की मनोदशा में निहित है।

६. वित्तीय सिद्धान्त (Financial Theory)--ऐसे भी लेखक है जो यह यकीन नही करते कि व्यापार-चक्र जलवायु के अशो पर निर्भर करते है अथवा मानव प्रकृति की भिन्नताओ पर निर्भर करते है। वह वित्त सस्थाओ पर ही पूर्ण दोष डाल देते है अर्थात् बैकिग और साख प्रणाली पर। आर. जी हाट्रे (R.G. Hawtrey) इस सिद्धान्त पर दृढ विश्वास रखते थे। उनके अनुसार द्रव्य के बहाव में परिवर्तन पूर्ण रूप से व्यापारिक क्रियाओ को निश्चित करते है। इसके अतिरिक्त वे परिवर्तनशील पुनर्लाभ तथा मदी के समय लाते है। ऐसे मुद्राहीन कारण जैसे अनावृष्टि, बाढ, भूकम्प, सग्राम, हडताल, कुछ उद्योगो का विस्तार इत्यादि केवल अपूर्ण मदी ला सकते है। इस सिद्धात के समर्थको का कहना है कि अधिकतर व्यवसाय उधार लिये धन से होता है। उन्नत व्यापार की स्थितियो मे बैक उधार की खूब सुविधाये प्रदान करते है। यदि उधार की समुचित सुविधाए प्राप्त हुई तो व्यापारी हर प्रकार के जोखिम लेकर अपने व्यापार का निरन्तर विस्तार करता रहता है। इस प्रकार साख का बहुत बडा ढाचा खडा कर लिया जाता है, जिसको स्थिर रखने के लिये सस्ते द्रव्य का प्रचलन आवश्यक है। किन्तु हर देश मे एक समय आता है, जब बैक यह समझने लगता है कि और अधिक उधार देना ठीक नही होगा। ऐसे अवसरो पर वह और अधिक उधार देना बन्द कर देता है और पूर्वत. दी हुई पेशगियों को लौटाने की माग शुरू कर देता है। उधार की सुविधाओ के इस प्रकार एकाएक समाप्त हो जाने से व्यवसाय को बडा धक्का लगता है, क्योकि व्यापारी वर्ग सदैव बैक से प्राप्त सुविधाओ पर निर्भर रहता है। इससे बाजार मे मंदी आ जाती है और जमा की हुई वस्तुओ को व्यापारियो की ओर से निकालने का प्रयत्न होता है। उन परिस्थितियो मे आर्थिक दृष्टि से कमजोर काम बन्द होने लगते है। यही नही, बहुत सी बड़ी-बडी फर्मे भी समय पर आर्थिक सहायता न मिलने के कारण बन्द हो जाती है। इसका कारण सिर्फ यह है कि कभी-कभी बैक इतनी सरलता से उधार देते है कि बाद मे फर्मों को कठिनाइयों का सामना करना पडता है। यह बैक सट्टेबाज़ो को भी वित्तीय सुविधायें देते है, पर जब संकट आता है तो यह बैक सट्टेबाज़ों को किसी प्रकार की सहायता करने से इंकार कर

देते है। संकटकाल में यदि बैंक थोडा भी सहायतापूर्ण भाव अख्तियार करे तो आर्थिक संकट से व्यापार की रक्षा की जा सकती है। परन्तु उन परिस्थितियों मे बैंक का प्रभाव अनुदार रहता है। अधिकाधिक फर्मे दिवालिया होती चली जाती है। परिणाम यह होता है कि व्यापारिक संकट आर्थिक सकट का रूप धारण कर लेता है।

इससे इन्कार नही किया जा सकता कि व्यापारिक क्षेत्र में बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान है। यह कहना कि सकट का निर्माण बैंक करता है, एक निर्दय आक्षेप के सिवाय और कुछ नही है। यह अवश्य है कि बैंक सकट को अधिक भयकर बना देते है। पहले तो वह खूब उधार देकर समृद्धि का निर्माण.करते है और फिर उधार की सारी सुविधाएं बंद करके मदी का समय लाते है। किन्तु मदी या तेजी का जन्म बैको के कारण नही होता। इसके अतिरिक्त नवीन मदी जैसी विश्व घटना को एक देश मे नितान्त बैको पर ही नही डाला जा सकता। इसलिये यह कहना कि केवल द्रव्य की प्रणाली से ही व्यापार-चक्र पैदा होते है, ठीक नही है।

७. प्रतियोगिता सिद्धान्त अथवा आधिक्य-उत्पादन सिद्धान्त (Competition Theory or Over-Production Theory)—कुछ लोगों का विश्वास है कि पूजीवादी परिस्थितियो मे प्रतियोगी शक्तियो के कारण व्यापार-चक्र उत्पन्न होते है। प्रतियोगिता दो प्रकार से व्यापार-चक्र पैदा करती है, (१) इससे अत्यधिक उत्पादन हो जाता है, जिसे चैपमैन अनुकूल अश (Positive Aspects) कहता है; (२) इससे उत्पादन की लागतो मे वृद्धि होती है— (Negative Aspects) प्रतिकूल अश।

प्रतियोगिता की दशा मे अत्यधिक उत्पादन हो जाता है, क्योकि हर व्यवसाय में प्रतिद्वन्द्वियो की संख्या अत्यधिक हो जाती है और प्रत्येक प्रतिद्वन्द्वी अधिकाधिक उत्पादन करके बाजार में जमने का प्रयत्न करता है। यही नही, ऐसी दशा मे बहुत-सी नई फर्मो का भी जन्म होता है। ऐसी परिस्थितियो मे यह आवश्यक है कि बाजार भर जाय और मूल्य गिरने लगे। इसके विपरीत इन सब बातो का सामूहिक प्रभाव यह होता है कि लागतें बढ़ जाती है। उपक्रमी उत्पादन बढाने के प्रयत्न में अधिकाधिक उत्पादन के साधनों की माग करते है। फलस्वरूप साधनो के मूल्य बढ जाते है और इस प्रकार व्यय बढ़ जाता है। हम यह देख ही चुके है कि प्रतियोगिता में वस्तुओं की कीमतें गिर जाती है। इसलिये उपक्रमियों का लाभ समाप्त हो जाता है।

फलस्वरूप छोटी-छोटी फर्मे समाप्त हो जाती है जिससे चीजों की कीमतें कम होकर बढने लगती है। मदी के दिनों में मूल्य गिर जाते है और परिस्थितियां आरोग्य के अनुकूल हो जाती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रतियोगिता व्यापार की चक्रात्मक प्रगति होती है। चैपमैन के शब्दों में "जिस प्रकार हवा से समुद्र का पानी उठने लगता है, उसी प्रकार व्यवसाय में में भी प्रतियोगिता की शक्तियों

से व्यवसाय में समृद्धि आती है और जिस प्रकार पृथ्वी का आकर्षण हवा के प्रभाव को समुद्र पर कम कर देता है, उसी प्रकार प्रतियोगिता की प्रतिकूल शक्तियां मदी उत्पन्न करती है। साराश यह कि आर्थिक क्षेत्र में भी समुद्र की भांति अच्छे व बुरे समय की लहरें आती है।" समाजवादियों का कहना है कि सारे संकट प्रतियोगी पूजीवाद की देन है और जब तक संसार मे पूजीवाद रहेगा, संकट समाप्त नही हो सकेगा।

किंतु प्रतियोगिता से इसका कोई उत्तर नही मिलता कि ऐसे संकट निश्चित समय के भीतर क्यों आते है। इसमे सन्देह नही कि प्रतियोगिता से अनावश्यक उत्पादन हो जाता है और परिणामस्वरूप मदी पैदा हो जाती है, पर यह मदी कितने समय तक रहती है और व्यापार-चक्र पूर्ण होने में कितना समय लगता है, इसका कोई समुचित उत्तर प्रतियोगिता सिद्धान्त से नही मिलता। एक बात और भी है, जो समझ में नहीं आती और वह यह कि इस प्रकार की मदी अथवा तेजी के काल एक ही समय में सब प्रकार के व्यवसायो में कैसे प्रगट हो सकते है। प्रतियोगिता द्वारा इसका कोई समुचित स्पष्टीकरण नही मिलता।

८. अतिरिक्त बचत अथवा कम उपभोग सम्बन्धी सिद्धान्त (Over-Saving or Under-Consumption)--समाजवादियों ने व्यवसाय-चक्र के सम्बन्ध मे एक नये सिद्धान्त की स्थापना की है। वह लोग इसे अतिरिक्त बचत अथवा कम उपभोग का सिद्धान्त कहते है। सर्वप्रथम इसको जे. ए. हौबसन (J.A. Hobson) ने प्रतिपादित किया है और मेजर डगलस ने उसे विस्तृत किया। इन लोगों का कहना है कि अमीरों और गरीबो की आय में अत्यधिक अंतर होता है, जो समय के साथ बढ़ता ही चला जाता है। अमीर अपनी सारी आय खर्च नही कर सकते और परिणामस्वरूप बचत होती रहती है। अपनी इस बचत को वह उद्योग में लगाते रहते है, जिससे उत्पादन में वृद्धि होती रहती है। किन्तु श्रमिक वर्ग, जो अधिकतर उपभोक्ता होते है, उपक्रमियों की अपेक्षा कम आय पाते है। उत्पादन में तो वृद्धि होती रहती है किन्तु उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति में उतनी वृद्धि नही होती। इस प्रकार माग और पूर्ति के मध्य एक प्रकार की असमता स्थापित हो जाती है, और यहां तक कि मूल्य बहुत अधिक गिर कर मंदी की स्थिति उत्पन्न कर देते है।

संकट को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति उत्पादन व्यय के बराबर हो। किन्तु होता यह है कि उत्पादन व्यय उपभोक्ता तक पहुंच ही नही सकता, क्योंकि उत्पादक-कंपनी सम्पूर्ण लाभ को हिस्सेदारों में बांटने के बजाय लाभ के बहुत बड़े भाग को रिजर्व के रूप में अलग कर देती है। इस प्रकार उपभोक्ताओं को लागत के आनुक्रम में क्रय-शक्ति प्राप्त नही होती। यह अवश्य है कि जैसे-जैसे पूंजी का संचय होता है, ब्याज की दरें कम होती जाती है किंतु संकट टालने के लिये यह कमी पर्याप्त नही होती।

समाजवादियों की दलील बहुत कुछ मान्य है, परंतु यह संकट का केवल पक्षपातपूर्ण उत्तर है। इस दलील में एक गलती नजर आती है। यदि क्रय-शक्ति को न सचय किया जाय

तो वह उपभोक्ता तक अवश्य पहुंचेगी। किन्तु बचत और संचय में अन्तर है। बचत विनियोजन को कहते है और ऐसा होने पर यह क्रय-शक्ति को कुछ लोगों से दूसरो में परिवर्तन मात्र कर देती है और फिर केवल पूजी की वृद्धि ही व्यापार में समृद्धि नही ला सकती। जब तक इस प्रकार लाभ की आशा नही होती, उपक्रमी अपनी पूजी बैंकों से नहीं निकालते। इसके बाद पुनः पूजी के अधिक सचित हो जाने से व्याज की दरें कम हो जाती है और इस प्रकार लागतें न्यून होती है। जब तक मूल्यो की अपेक्षा लागतें कम रहती हैं, तब तक मदी आ ही नही सकती। यह सच है कि पूजीवादी अवस्था में उत्पादकों की संचय-शक्ति उपभोक्ताओ की क्रय-शक्ति की अपेक्षा अधिक तेजी से बढती है। अमीर अधिक अमीर होने लगते है और गरीब अधिक गरीब। अमीरो द्वारा निर्मित बाजार में उपभोक्ताओं की संख्या अधिकतर गरीबो की होती है और गरीब होने के कारण वह सब वस्तुओ का क्रय नही कर सकते। परिणामस्वरूप संकट पैदा हो जाता है।

९. लार्ड कीन्स का व्यापार चक्र के सम्बन्ध में विचार—विनियोजन मे उतार-चढ़ाव (Lord Keynes' View of the Occurrence of a Trade Cycle—Fluctuations in Investment)—लार्ड कीन्स का विश्वास था कि व्यापार मे किसी प्रकार की मदी बचत और विनियोजन की असमता के कारण होती है। किसी वस्तु के उत्पादन का व्यय उस आय को प्रकट करता है, जिन्होने उस वस्तु के उत्पादन मे भिन्न साधनो द्वारा लाभ प्राप्त किया है। सब वस्तुओं और सेवाओं के सयोजित उत्पादन-व्यय समाज के विभिन्न सदस्यो की आय प्रकट करते है। इस आय में से एक भाग वस्तुओ और सेवाओ के क्रय मे लगा दिया जाता है और शेष भाग बच जाता है। यदि इस बचत का विनियोजन कर दिया जाय तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वस्तुओ की माग बढ जायेगी। पर इसका यदि सचय किया जाय तो समाज की क्रय-शक्ति क्षीण हो जायेगी और उत्पादित वस्तुए अधिक लाभ से नही बेची जा सकेंगी। परिणामस्वरूप व्यवसाय मे म ी आ जायेगी। दूसरी ओर यदि बचत से विनियोजन अधिक होता है, तो बैको द्वारा साख की सुविधायें अधिक होने से मूल्य बढ जाने के कारण व्यापार मे समृद्धि अवस्था आ जायेगी। इस प्रकार बचत और विनियोजन की असमता के कारण मदी अथवा तेजी होती है। जब भी बचत बढ जाती है, तो व्याज की दरे गिरने लगती है और विनियोजन को प्रेरणा मिलती है और इस प्रकार विनियोजन और बचत में संतुलन रहता है। दोनों में असमता होने से व्यापार अस्त-व्यस्त हो जायेगा।

पर व्याज की दर मे कमी हो जाने मात्र से विनियोजन में वृद्धि नही हो जाती। उपक्रमियो के लिये व्याज की दर ही मुख्य विचार नही। उन्हे व्यापार की दशा का भी ध्यान अधिक रहता है। बेनहम के शब्दो में "उपक्रमी केवल उसी दशा में अपने व्यवसाय का विस्तार करते है अथवा नये व्यवसाय प्रारम्भ करते है जब कि इन्हे यह आशा होती

है कि उनकी वस्तुओं की माग बढ जायेगी अथवा उत्पादन-व्यय इतना कम हो जायेगा कि वह अपनी वस्तु पहले की अपेक्षा कम मूल्य पर लाभ से बेच सकेंगे।" ब्याज की नीची दर उपक्रमियो को उधार लेने के लिये प्रेरणा करती है। किन्तु यह आवश्यक नही कि उपक्रमी सदैव उधार ही लिया करे। "आप घोडे को पानी के पास ले जाकर भी उसे पानी पीने के लिये मजबूर नही कर सकते।" प्रोफेसर कीन्स का सिद्धांत व्यापार-चक्र के अवध्यात्मक रूप पर कोई प्रकाश नही डालता। पर इसके यह अर्थ नही कि विनियोजन में उतार-चढाव[1] का व्यापारिक दशाओ के परिवर्तनों मे कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध नही।

१०. गुणक-सम्बन्धी विचार—(The Concept of the Multiplier)—व्यापारिक उतार-चढाव के सम्बन्ध मे दो प्रकार के गुणको का वर्णन हुआ है—विनियोजन गुणक—(Investment Multiplier) और नियोजन गुणक (Employment Multiplier)

विनियोजन गुणक (Investment Multiplier) **का मत सर्वप्रथम प्रोफेसर कीन्स ने प्रकट किया**। प्रोफेसर कीन्स ने सम्पूर्ण विनियोजन व राष्ट्रीय आय में अनुपात की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। जब विनियोजन बढ जाता है तो उत्पादन-योग्यता में भी वृद्धि होती है और परिणाम-स्वरूप राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है। विनियोजन की वृद्धि और राष्ट्रीय आय की वृद्धि के अनुपात को विनियोजन गुणक कहते है। यह अनुपात समयानुसार बदलता रहता है। यह व्यापार की कार्य-कुशलता मे उन्नति और उत्पादन साधनो की क्षमता मे वृद्धि अथवा साख, बैंकिग और संवाहन तथा यातायात के साधनो मे प्रगति के साथ परिवर्तनशील होता है। यदि यह अनुपात अथवा विनियोजन गुणक 'अ' कहलाता है, तो सम्पूर्ण विनियोजन मे होने वाली वृद्धि आय मे वृद्धि का कारण होगी, जो विनियोजन की 'अ' गुना वृद्धि है।[2]

नियोजन गुणक (Employment Multiplier) का सम्बन्ध आर. एफ. काहन (R. F. Kahn) के नाम से है।[3] "नियोजन गुणक पूर्ण नियोजन की वृद्धि के अनुपात व प्रारम्भिक नियोजन की निश्चित वृद्धि के अनुपात को नापता है।" जब उद्योगी नवीन यत्र और मशीनो का क्रय करना प्रारम्भ करते है तो बहुमूल्य वस्तुओ का निर्माण करने वाले उद्योग उन्नत होगे। ऐसे उद्योगो मे विनियोजित राशि प्रारम्भिक विनियोजन कहलाती है। इस प्रकार के विनियोजन मे उन लोगों के विनियोजन की उत्पत्ति होती है, जो मशीनों के निर्माण मे लगे होते है। इस प्रकार के

१. विनियोजन सम्पूर्ण अथवा शुद्ध हो सकता है। यह सम्पूर्ण विनियोजन निर्माता की वस्तुओ के उत्पादन और रक्षा पर व्यय हुई सम्पूर्ण राशि है। यदि आप इसमे से केवल पूजी को स्थिर रखने के व्यय (अर्थात् मरम्मतें; और अदल-बदल के व्यय) की राशि को घटा दें, तो शेष शुद्ध विनियोजन रह जायेगा।

2. Brij Narain—Principles of Economics, 1945, P. 266.

3. Ibid—P. 287.

नियोजन को प्रारम्भिक नियोजन कहते है और जब मशीनें तैयार होकर बिक जाती हैं तब उनका प्रयोग उपभोक्ताओं की वस्तुओं के निर्माण में किया जाता है। जब उत्पादन आरम्भ होता है तो नियोजन अधिक होगा। संभव है यह प्रारम्भिक विनियोजन होते ही तुरन्त न हो सके, क्योंकि प्रारम्भिक नियोजन और उपभोक्ताओं की वस्तुओं के उद्योगों के नियोजन के बीच सदैव कुछ समय का अन्तर होता है। प्रारम्भिक नियोजन की वृद्धि पूर्ण नियोजन में भी वृद्धि हो जाती है और इन दोनों वृद्धियों के बीच के अनुपात को **नियोजन गुणक** कहते है।

गतिवर्धन नियम (Acceleration Principle) :—यह कहावत कि कभी-कभी हम को रुकने के लिये चलते जाना पडता है, आर्थिक संसार में जो गतियुक्त होता है, पूर्ण रूप से सत्य होती है। आर्थिक संसार में हमको वर्तमान स्थिति को बनाये रखने के लिये तेजी से आगे बढना पड़ता है। यदि आर्थिक पद्धति को अपना कार्य बिना किसी रुकावट के कुशलतापूर्वक करना है तो विनियोजन मांग को व्यापार, आय तथा बिक्री के क्रमागति फैलाव से ऊचा रखना होगा। इसी को **गतिवर्धन नियम** कहते है। जब आय तथा बिक्री बढ जाती है तो उससे जो समृद्धि होती है वह विनियोजन को बढ़ाती है। विनियोजन को लाभदायक बनाये रखने के लिये बिक्री को तीव्र गति से बढ़ाना पड़ता है। उपभोग, आय तथा बिक्री के परिवर्तन का विनियोजन पर तीव्र गति से प्रभाव पडता है। इसी कारण से इसे गतिवर्धन अथवा तीव्र गति का नियम कहते है। यह नियम दोनों स्थितियों को काटता है। यदि आय तथा बिक्री का तीव्र गति से बढना बन्द हो जाता है तो व्यापार मे कमी हो जायेगी। पूजी का विनियोजन शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा, क्योंकि विनियोजन लाभदायक न होगा। यह याद रखना चाहिये कि यदि बिक्री में कोई कमी नही है तो भी मदी आ सकती है। ऐसा इसलिये है क्योकि बिक्री में बढ़ती हुई वृद्धि वर्तमान उत्पत्ति तथा व्यवसाय को बनाये रखने के लिये आवश्यक है। अतः व्यापारचक्र की नीचे की ओर चाल प्रारम्भ हो जायेगी चाहे बिक्री उतनी ही ऊंची रहे अथवा कम दर से बढ़े। गतिवर्धन नियम विनियोजन को प्रोत्साहित करता है।

गतिवर्धन नियम का प्रयोग प्रो. जे. आर. हिक्स ने अपने व्यापारचक्र के सिद्धान्त में किया है। परन्तु बहुत से अर्थशास्त्री इसको विश्लेषण के लिये एक अपक्क तथा बड़ा अयोग्य औजार समझते है। इस नियम के अनुसार उत्पत्ति तथा पूंजी का अनुपात किसी विशेष कारण से निश्चित होता है और इसलिये इसमें अल्पकाल में कोई विशेष परिवर्तन नही होता। परन्तु यह अनुपात व्यापार-चक्र के साथ-साथ बराबर बदलता रहता है।

११. डाक्टर हेयक का सिद्धान्त (Dr. Hayek's Theory):—डाक्टर हेयक ने संकट का सारा दोष कृत्रिम रूप में अत्यल्प दर पर दी गई अत्यधिक साख पर रक्खा है। यह अल्प दर प्राकृतिक नही होती, क्योंकि चालू बचतों में से आने वाली पूंजी की वास्तविक पूर्ति से इसका कोई सम्बन्ध नही होता।

जब स्वेच्छापूर्वक बचतें ही केवल पूजी की पूर्ति का स्रोत हैं, तो उचित सीमाओं से परे ऋण लेना संभव नही होगा, क्योंकि साख के विस्तार पर रोक लगाने के लिये ब्याज की दर तेजी के साथ बढ़ेगी। उत्पादन और खपत के बीच एक संतुलन को अधिक या कम रखा जायेगा।

किन्तु बाध्य बचतों की अवस्था में साम्य बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो जाता है अर्थात् मुद्रा स्फीति द्वारा। चूकि साख का विस्तार बैंकों की निजी इच्छा पर निर्भर करता है, इसलिये वह उन दरों की अपेक्षा अल्प दर पर उधार दे सकते है जो कि उस समय ली गयी होती जब कि उन्हे स्वेच्छा बचतों पर निर्भर करना होता। सस्ती मुद्रा कीमतों को बढ़ाती है। द्रव्य की अतिरिक्त पूर्ति उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों की ओर बढती है। उत्पादन की विधि 'लम्बी' हो जाती है अथवा उत्पादन अधिकाधिक चक्रदार अथवा पूंजी-वादी हो जाता है। यह नया द्रव्य अन्ततः उत्पादन के साधनों के भुगतानों द्वारा अन्तिम उपभोक्ताओ तक पहुंचता है। उपभोक्ताओं की वस्तुओं की कीमतें भी ऊंची हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप साधनों का उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्थाओं से अन्तिम अवस्थाओं की दिशा में परिवर्तन होता है। प्रारम्भिक अवस्था को साख के अधिक विस्तार द्वारा स्थिर रखा जा सकता था। किन्तु बैंक, निजी रक्षा के चिन्तित और केवल आत्मरक्षा के कारण, अधिक उधार देने से इन्कार कर देते है और तब सकट उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्थाओं में वहा स्थिरता होती है। इस संकट से बचा जा सकता था, बशर्ते कि उत्पादन विधि को उपभोक्ता-वस्तुओ की मांग में वृद्धि प्रकट होने के समय के साथ ही पूर्ण कर दिया जाता; किन्तु यह संभव नही है। जब साधनो को चुकाये गये पारिश्रमिक से उनकी क्रय-शक्ति बढ़ जाती है, तब भी उत्पादन जारी रहता है।

यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि समाज के साधन सीमित है। एक उद्देश्य केवल दूसरे के त्याग पर ही प्राप्त किया जा सकता है। उत्पादन के एक चरण को केवल तभी विस्तार दिया जा सकता है, जब कि दूसरे मे छंटनी की जाय। जब उपभोक्ता वस्तुओ की वृद्धि पूर्ण माग के प्रत्युत्तर मे अन्तिम चरण का विस्तार हो जाता है, तो उस समय उन साधनों को प्रारम्भिक चरणों से हटा लेना चाहिये। नि.संदेह, विशिष्ट साधनों को हटाया नही जा सकता, अस्तु, उन्हे बेकार रहना होगा, क्योंकि विशिष्टताहीन उन साधनों को तो हटाया जा चुका होता है जिनके साथ वह काम कर सकते थे। उत्पादन के प्रारम्भिक चरण उखड़ जाते है और अलाभकर बन जाते है, क्योंकि बैंक ऋण लेने वालों से पिड छुड़ाने के लिये अत्यधिक ऊंची दरें वसूल करने लग जाते है। डाक्टर हेयक का विश्वास है कि इस सब अव्यवस्था का कारण वह ऋण हैं, जो उपक्रमी को उचित सीमाओं का उल्लंघन करके व्यापार स्थापित करने की प्रेरणा करते हैं।

डाक्टर हेयक ने अपने सिद्धान्त में यह मान लिया है कि बचत और विनियोजन में समता होती है, जो कि बैंकों की नीति से अव्यवस्थित हो जाती है। परन्तु यह मान लेना

ठीक नहीं है। हम देख चुके है कि प्रोफेसर कीन्स का सिद्धान्त इस सत्य पर निर्भर है कि बचत व विनियोजन में असमता होती है। इस सिद्धान्त में यह भी मान लिया गया है कि सब साधनों का पूर्ण नियोजन किया जाता है और उधार के कारण उत्पादन की कुछ प्रणालियों का दूसरी प्रणालियों की ओर परिवर्तन हो जाता है और इससे अव्यवस्था उत्पन्न होती है। पर सत्य तो यह है कि सब साधनो का पूर्ण प्रयोग तो शायद ही कभी होता हो। अत्यधिक व्यस्त व्यापार के दिनों में भी कुछ न कुछ बेकारी रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्पादन बिना किसी दूसरे चरण को अव्यवस्थित किये भी किसी एक चरण में विस्तृत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के अनुसार उपभोक्ताओं की मांग बढ़ने के साथ-साथ उत्पादक वस्तुओं के निर्माण की मांग नही बढती; यह बात सर्वथा असत्य है। अन्ततः इस सिद्धान्त के अनुसार यह जान पड़ता है कि साख उत्पन्न करना सदैव हानिकारक है। निःसंदेह साख के आधिक्य के बहुधा गम्भीर परिणाम होते हैं, तिस पर भी साख के साधन को कभी-कभी समाज के महान् लाभ में प्रयुक्त किया जा सकता है। संभवतः जब देश आर्थिक स्थिरता की दशा में हो, तो व्याज की न्यून दर विनियोजन को विस्तार दे सकती है। इसके अतिरिक्त, डाक्टर हेयक का सिद्धान्त व्यापारिक मंदी के चक्रात्मक रूप की व्याख्या नही करता।

१२. हिक्स का सिद्धान्त (Hicks's Theory)—ऊपर दिये हुए सिद्धान्तों से यह पता चलता है कि व्यापार-चक्र पर विचार कितने भिन्न है। इन विरोधी सिद्धान्तों के बीच विद्यार्थी उलझन मे पड जाता है कि किस सिद्धान्त को अपनाया जाय। सौभाग्य-वश कीन्स के साधारण सिद्धान्त के प्रकाशित होने से व्यापार-चक्र पर विचार समान होने लगे है। आजकल अधिकतर व्यापार-चक्र के आधुनिक सिद्धान्त कीन्स के उत्पत्ति अथवा व्यवसाय की समता के मत के चारों ओर घूमते है और इस प्रकार आय तथा विनियोजन के परस्पर सम्बन्ध को बतलाते है। इनमे हम केलेक्की (Kalecki), काल्डर (Kaldor) फ्रिस्च (Frisch), हारड (Harrod), सैमुल्सन (Samuel-son) तथा हिक्स (Hicks) के सिद्धान्तो को शामिल कर सकते है।

हिक्स (Hicks) आय पर विनियोजन की निर्भरता लाभ आकाक्षा में सम्ब-न्धित परिवर्तन द्वारा बतलाने को गतिवर्धन नियम का प्रयोग करते है। वे विनियोजन को आय के परिवर्तन के बजाय आय में परिवर्तन के दर का कार्य समझते है।

गतिवर्धक गुणक दो प्रकार के होते है:—संकुचित तथा असंकुचित। (गतिवर्धक गुणक विनियोजन के मूल्य में परिवर्तन, आय के मूल्य में परिवर्तन के अनुपात में बताता है।) संकुचित गुणक यह मानता है कि उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति तथा गतिवर्धक स्थिर रहते है और असंकुचित गुणक में स्वयं गुणक के मूल्य उत्पत्ति की मात्रा के साथ-साथ बदलते हैं। हिक्स के व्यापार चक्र का प्रतिरूप असंकुचित गुणक के विचार पर आधारित है यद्यपि वे संकुचित पद्धति के मत पर भी विश्वास रखते है। अतएव उनका

सिद्धान्त "प्राथमिक हटाने वाले कार्य से बिना सम्बन्धित एक विशिष्ट विस्तार की अस्थिरता" बतलाने मे समर्थ होता है। वे यह दिखलाते है कि अस्थिरता दो सीमाओं के बीच होती है। ऊपरी सीमा पूर्ण व्यवसाय से निश्चित होती है तथा नीचे की सीमा इस बात से निश्चित होती है कि स्वच्छ विनियोजन किसी एक सीमा से बाहर नही जा सकता। जब प्राथमिक गति इन सीमाओ के विपरीत उछलती है तो चक्र गति का होना शुरू हो जाता है। "स्वाभाविक शीघ्रदाह्य चक्र स्थिर विस्तार के चक्र मे बदल जाते है क्योंकि एक बार यदि ऐसी गति को सीमाओ से रोका गया तो क्रमबद्ध हल्कोरे उसी प्रकार की गति करेंगे।" अतः बाद वाले गति केवल पहले के पुनर्जन्म है। व्यापार चक्र के ऊपर की ओर की गति मे गतिवर्धक गुणक तब तक कम होता चला जाता है जब तक कि वह पूर्ण व्यवसाय की सीमा पर शून्य नही हो जाता, तथा नीचे की ओर की गति में भी गुणक उसी प्रकार बदल जाता है।

काल्डर (Kaldor) के विचार से हिक्स के सिद्धान्त की वास्तविक निर्बलता गतिवर्धन सिद्धान्त के प्रयोग की है। गतिवर्धक यत्रकला से सत्याभासक परिणाम की आशा नही की जाती। जैसा कि काल्डर का कहना है, "यह मान लेना आवश्यक है कि उत्पत्ति के परिवर्तन से किया गया विनियोजन उस उत्पत्ति के परिवर्तन का कोई गुणक है जो पूर्ण रूप के परिवर्तन से स्वतन्त्र है। यद्यपि वास्तव मे व्यावसायिक सस्थाओ का विस्तार उनके आर्थिक साधनों से सीमित रहता है, जिसका अर्थ यह होता है कि वे बडे विनियोजन के अवसरों का लाभ इतनी शीघ्रता से नही उठा पाते जितना कि छोटे विनियोजन के अवसरो का..... ऐसा इसलिये नही होता कि किसी व्यावसायिक सस्था के लिये आर्थिक साधन काफी हो और किसी के लिये कम। ऐसा इसलिये भी होता है क्योकि छोटे परिवर्तनों से बड़े परिवर्तनों से सम्बन्धित आकांक्षा लोचदार बहुत कम होती है।"

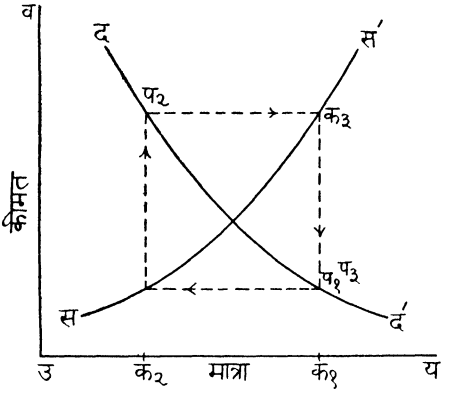
१३. जाल सूत्र[1]—(Cobweb Theorem):—कुछ अर्थशास्त्रियो ने व्यापार-चक्र का एक ऐसा सिद्धान्त बनाया है जिसको यदि आकृति द्वारा प्रस्तुत किया जाय तो एक मकड़ी के जाले के समान दिखाई पडता है। यह सिद्धान्त उत्तरगामी समय की उत्पत्ति पर वर्तमान कीमत, फिर परिणाम की कीमत तथा उत्तरगामी उत्पत्ति इत्यादि की प्रतिक्रियाओं पर निर्भर है। इसका सैद्धान्तिक वर्णन तीन अर्थशास्त्रियों द्वारा अलग-अलग किया गया था। उनके नाम यह हैं :—इटली के अमबर्टो रिसी (Umberto Ricci). हालैड के स्कल्टज (Schultz) तथा अमरीका के टिनबर्गन (Tinbergen) 'जाल सूत्र' नाम सबसे पहले निकोलस काल्डर (Nicholas Kaldor) ने Review of Economic Studies, Feb. 1934 में एक लेख में लिया था।

१. See article by Mordecai Ezekiel in the Quarterly Journal of Economics, February 1938, P.P. 255—80.

उत्पत्ति कीमत तथा मांग और पूर्ति वक्रों के बीच आगे व पीछे उत्पत्ति के क्रमबद्ध एकीकरण तथा दुबरा क्रमबद्ध एकीकरण से बने हुए जाल तीन प्रकार के हो सकते है अर्थात् लगातार (निरन्तर), एक केन्द्र पर झुकता हुआ (समवाय) तथा विभिन्न।

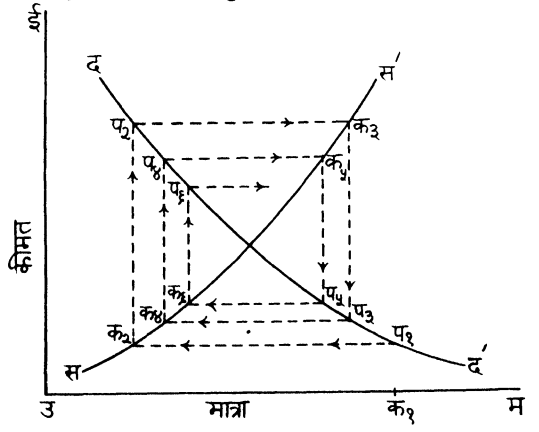
(१) **लगातार**—इस प्रकार के जाल में कुछ प्राथमिक एकीकरण के पश्चात् चक्र स्वय फिर से उसी प्रकार चालू हो जाता है। यह उसी ओर की गति होती है और करीब-करीब उसी प्रकार की उत्पत्ति तथा कीमत पैदा करती है। यह उस समय होता है जब कि माग वक्र पूर्ति वक्र के ठीक विपरीत होता है अर्थात् उनकी लोच एक-सी होती है। नीचे दिये हुए चित्र द्वारा इस प्रकार के जाल को प्रस्तुत करते है:—

हम उ $क_1$ मात्रा से प्रारम्भ करते है। यह $प_1$ कीमत देती है। यह कम कीमत दूसरे समय में कम उत्पत्ति उ $क_2$ करेगा। कम उत्पत्ति से कीमत $प_2$ तक बढ़ेगी—इस ऊची कीमत से उत्पत्ति $क_3$ तक बढ़ेगी और इसी प्रकार चक्र फिर से प्रारम्भ हो जायेगा।



चित्र नं० ५९

(२) **एक केन्द्र पर झुकता हुआ**—इस प्रकार उत्पत्ति तथा कीमत की गति भी भीतर की ओर झुकती है और जाल छोटा होता जाता है। यह उस समय होता है जब पूर्ति मांग से कम लोचदार होती है। यह नीचे दिये हुए चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

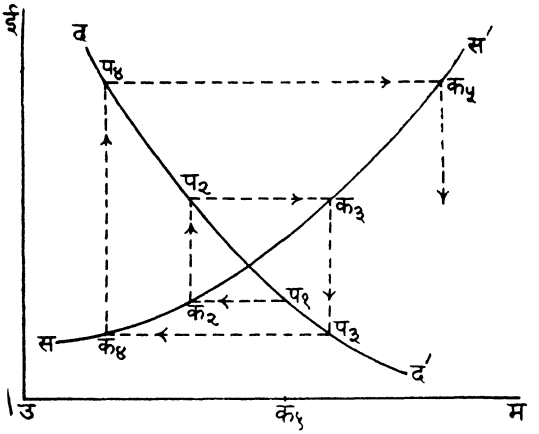


चित्र नं० ६०

हम पहले की तरह $क_1$ बड़ी मात्रा से प्रारम्भ करते है। इससे $प_1$ कीमत आती है। क्योंकि $प_1$ कीमत कम है इसलिये दूसरे समय में उत्पत्ति $क_2$ तक कम कर दी जायेगी। पर इससे कीमत $प_2$ तक बढ़ जायेगी और फिर उत्पत्ति $क_3$ तक बढ़ जायेगी। मात्रा के अधिक होने के कारण कीमत $प_3$

तक गिर जायेगी। उत्पत्ति क$_४$ तक घट जायेगी। और इसी प्रकार यह चक्र चलता रहेगा। कीमत और उत्पत्ति दोनों हर समय में घटते चले जायेंगे और इससे एक केन्द्र पर झुकता हुआ जाल बनेगा।

(३) **विभिन्न प्रकार के जाल**—इस प्रकार मे जाल बाहर की ओर बढ़ता है। यह उस समय होता है जब कि पूर्ति माग से अधिक लोचदार होती है। इस प्रकार का जाल नीचे दिये हुए चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है:—



चित्र नं० ६१

ऐसी दशा मे क$_१$ मात्रा प$_१$ कीमत पर बिकती है। कीमत के कम होने के कारण उत्पत्ति की मात्रा घटकर क$_२$ हो जाती है। मात्रा के घट जाने से कीमत प$_२$ तक गिर जाती है। ऐसी हालत में क$_३$ मात्रा उत्पत्ति की जाती है। तो भी कीमत प$_३$ तक गिर जाती है। कीमत के गिरने से उत्पत्ति क$_४$ तक घट जाती है। इसी प्रकार जाल बाहर की ओर बढ़ता जाता है। जाल सूत्र की कई सीमाये है। यह केवल इन दशाओ में लाग् हो सकता है:—

(क) जब कि पर्याप्त पूर्ति से कीमत का निर्धारण होता है।

(ख) तथा जब कि उत्पत्ति स्वच्छ प्रतियोगिता मे कीमत के विचार मे निर्धारित होती है। तथा

(ग) जब कि उत्पत्ति मे विना एक समय के अन्त होने से पहले परिवर्तन नही किया जा सकता।

उत्पादक एक बार जब किसी वस्तु की उत्पत्ति के विषय में निर्णय कर चुकते हैं तो वे उत्पत्ति मे कमी तो कर सकते है पर उसको बढा नही सकते। इसके अतिरिक्त किसी वस्तु की उत्पत्ति करने में केवल उस वस्तु की कीमत पर ही ध्यान नही दिया जाता, वरन् उन साधनों की कीमतो पर भी ध्यान दिया जाता है जिनकी उस वस्तु की उत्पत्ति में आवश्यकता पड़ती है। उत्पत्ति प्राकृतिक दशाओ पर भी निर्भर रहती है। खेती के व्यवसाय में कीमत के गिरने से खेती के क्षेत्र में तो तुरन्त कमी हो सकती है पर कीमत के बढ़ने से क्षेत्र में बढ़ती के लिये अधिक समय लगेगा। ऐसी दशा में वह कौन-सी वस्तु है जिसकी कीमत का निर्धारण केवल उस वस्तु की पूर्ति करती है? बहुत से ऐसे कारण

हैं जिनसे वस्तु की कीमत के निर्धारण पर प्रभाव पड़ता है जैसे—उपभोक्ता के आय, मौसम, फैशन तथा प्रतियोगी वस्तुओं की पूर्ति में परिवर्तन, आयात-निर्यात कर, सरकारी रोक इत्यादि। ऐसे विचार हमको इस निष्कर्ष पर लाते है कि जाल-सूत्र व्यापार-चक्र का संतोषजनक वर्णन प्रस्तुत नही करता।

१४. व्यापार-चक्रों के कारण (Causes of Trade Cycles)—किसी विषय में इतना मतभेद नही है जितना व्यापार-चक्रों के विषय में है। हर सिद्धान्त में कुछ न कुछ सत्य है पर हम किसी एक सिद्धान्त पर पूर्णतया निर्भर होकर व्यापार की गतियों की वक्रात्मक प्रकृति अथवा सामान्यता का पता नही लगा सकते। व्यापार-चक्र बडी जटिल घटना होती है। किसी भी सिद्धांत मे हमे व्यापार-चक्र की पूर्ण व्याख्या नही मिलेगी। व्यापार-चक्र विभिन्न प्रकार के बहुत से कारणों के फलस्वरूप होता है। जलवायु उत्पादन को रोककर अथवा उसकी सहायता करके व्यापार-चक्र को निर्माण करती है। दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक कारण आशावादी व निराशावादी लहरों को जन्म देते है। आर्थिक कारणों से गति मे उत्थान और पतन होता है, प्रतियोगिता तथा अत्यधिक बचत, अत्यधिक उत्पादन व कम उपभोग की परिस्थितिया पैदा होती है। इस प्रकार अनेक बाते मिल कर संकट पैदा कर देती है।

एस. ई. टामस ने व्यापार-चक्र के कारणो को निम्नलिखित तीन वर्गो मे विभाजित किया है.—

(अ) आकस्मिक कारण, जिनका प्रभाव कच्चे पदार्थो की पूर्ति पर पड़ता है।

(ब) माग व पूर्ति का अपूर्ण समन्वय।

(स) वित्तीय कारणो से मूल्यो मे भिन्नताएं।

(अ) कच्चे पदार्थों की पूर्ति को प्रभावित करने वाले कारण (Causes affecting the Supply of Raw Material)—बुरी जलवायु, बहुत अधिक या बहुत कम वर्षा, कीडे, भूचालों तथा युद्ध आदि का प्रभाव कच्चे पदार्थो की पूर्ति पर बुरा पड़ता है। यदि कोई आम हडताल बहुत दिनों तक रहे, तब भी व्यापार उखड जाता है। साथ ही साथ यदि कच्चे पदार्थो की कमी हो तो उत्पादक यन्त्र भी बेकार रहने लगेगे। आधुनिक संकट केवल कच्चे माल की कमी से ही नही पैदा होता वरन् उनके आधिक्य से भी पैदा होता है। पिछले दिनों में होने वाली महान् मंदी में जहां एक ओर बेहद अमीरी थी, वहां दूसरी ओर लोग भूखों भी मर रहे थे। इसका कारण मांग व पूर्ति के बीच समन्वय का न होना था।

(ब) मांग व पूर्ति का अपूर्ण समन्वय (Imperfect Adjustment of Demand and Supply) —आधुनिक उत्पादन एक बड़ी लम्बी-चौड़ी विधि है। विश्व के कोने-कोने में रहने वाले हजारों व्यक्ति बहुत मामूली-सी एक वस्तु के उत्पादन में सहायता देते ह। इसके अतिरिक्त उपक्रमियों

के व्यक्तिगत प्रयत्नों से भी उत्पादन कार्य नियन्त्रित होता है। इसलिए यदि उत्पादन कभी बहुत अधिक और कभी बहुत कम हो जाय, तो कोई आश्चर्य नही। उदाहरण के लिए, यह हो सकता है कि सूती माल के उद्योग के सूत कातने की क्षमता कपड़ा बुनने की क्षमता से अधिक विस्तृत हो जाय। इससे सूत कातने के उद्योग में मंदी पैदा हो जायगी, जो कभी बढ़ेगी और कभी कम होगी। इसलिए यदि उत्पादन कार्य सफलतापूर्वक चलता है तो उत्पादन की दोनो परिस्थितियो मे पूर्ण रूप से सतुलन होना चाहिए। पर ऐसा होता नही और अधिकतर असमता रहती है। जब विभिन्न परिस्थितियो मे उत्पादन विभिन्न व्यक्तियो के हाथ मे होता है, तब यदि उत्पादन और माग में सतुलन स्थिर रहे, तो आश्चर्य की बात होगी।

(स) **मूल्य-स्तर में भिन्नताएं** (Variations in the Price Level)—मुद्रा-प्रसार के समय में मूल्य बढ जाते है। यह या तो इसलिए कि सरकार अत्यधिक मुद्रा जारी कर देती है या बैंक साख का बहुत विस्तार कर देते है। बढते हुए मूल्यों की दशा में सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। और यह सकट को आह्वान करता है। मुद्रा-स्फीति के बाद मुद्रा-सकुचन की नीति अपनायी जाती है।

१५. आर्थिक संकट को दूर करने के उपाय (Remedial Measures to fight Economic Crisis)—सकट के समय व्यवहार मे आने वाली नीतियो के विषय मे सकट के कारणो की अपेक्षा अधिक मतभेद है। अधिकतर अर्थशास्त्री अब इस विषय पर सहमत है कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में संकट अवश्यम्भावी है। अधिक से अधिक उन्हे स्थगित मात्र किया जा सकता है, रोका नही जा सकता। अस्तु, इन सकटो का सामना करने के लिये हमें दो प्रकार के उपायो की आवश्यकता है—निवारक (Preventive) और औपचारिक (Curative)।

निवारक उपाय संकट की प्रकृति पर निर्भर करते है। कच्चे माल की पूर्ति पर जलवायु का जो प्रभाव होता है, उससे हम विमुख नही रह सकते। भारत जैसे देश के लिए, जहा २/३ से अधिक निवासी कृषि पर निर्भर करते है, यह आवश्यक है कि कृषि को वर्षा से स्वतंत्र किया जाय। पानी की नियमित पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा मे कुओ, नहरो व तालाबों का निर्माण अति आवश्यक है। यह अवश्य है कि युद्ध, भूचाल व छूत की बीमारी जैसे बाह्य कारणों का कोई उपाय नही किया जा सकता पर इनका व्यापार-चक्र में कोई विशेष महत्व नही है। कम से कम यह नियमित रूप से तो कोई प्रभाव नही डाल सकते।

माग व पूर्ति की अपूर्ण व्यवस्था को फसलों की दशा, उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मात्रा, व्यवसाय की दशा, आयात व निर्यात, आय प्रति व्यक्ति, मूल्य व लागत संबंधी दशनांकों, व लाभ की दशा आदि की सही परिगणना करके सम्हाला जा सकता है। इसके द्वारा व्यापारी वस्तुओ की मांग व पूर्ति के विषय में ठीक अनुमान लगा सकता है। इसके

अतिरिक्त सूचना विभाग को अनुचित आशावादिता अथवा निराशावादिता को रोकने के हेतु समय-समय पर चेतावनिया प्रकाशित करते रहना चाहिये। समृद्धि के दिनो मे कारखानो को लाभाश देते समय विशेष सावधानी से कार्य करना चाहिए।

मुद्रा-नीति (Monetary Policy)–पर केवल इतने निवारक उपाय ही पर्याप्त नही है। इसके अलावा तेज़ी व मंदी को रोकने के लिए देश को सदैव उचित बैकिग नीति को अपनाना चाहिए। नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि यदि किसी भाति आर्थिक सकट उपस्थित भी हो जाय तब भी कम से कम उनकी तीव्रता तो कम हो जिससे शीघ्रातिशीघ्र आर्थिक स्थिरता स्थापित हो सके। मुद्रा-नीति साख के विस्तार को प्रभावित करके देश मे प्रचलित मूल्यो व आर्थिक क्रियाओ को प्रभावित करती है। इसका विस्तृत अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके है। यहा केवल इतना याद रखना पर्याप्त है कि इस नीति को दो उपायो मे प्रभावशाली बनाया जा सकता है.––बैक-दर को व्यवस्थित करके और खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा। जब समृद्धि की परिस्थितिया होती है तो बैक-दर को बढाकर व्यापारिक क्रियाओ मे और अधिक विस्तार को रोक दिया जाता है। इसी प्रकार मंदी के दिनो मे सस्ती मुद्रा की नीति मे व्यापारिक विनियोजन को प्रोत्साहन दिया जाता है और इस प्रकार पुनर्जीवन मे सहायता होती है।

बैक की साख नीति मे दो प्रकार के नियन्त्रण होते है · परिमाण-सम्बन्धी तथा गुण-सम्बन्धी। परिमाण-सम्बन्धी नियन्त्रण से अभिप्राय साख पद्धति का सामान्य दृढ तथा ढीला करने से है। यह बैक के कोष को प्रभावित करके किया जाता है। गुण-सम्बन्धी नियन्त्रण एक विशिष्ट प्रकार के साख को नियन्त्रित करती है। यह स्पष्ट है कि मुद्रा-नीति बडी सफल नीति है और इसी कारण अभी कुछ ही वर्षो तक यह सर्वसुन्दर व्यापार-चक्र-विरोधी उपाय समझा जाता था। पर इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि बहुत-सी मानी हुई बाते सही हो। उदाहरणार्थ, यह बात ध्यान रखने योग्य है कि अन्य बैक किस सीमा तक केन्द्रीय बैक का अनुकरण करने को तत्पर है, कहा तक बैक अपने ऋणियो को रुपये का उचित विनियोजन करने के लिए बाध्य कर सकते है, कहा तक इन परिवर्तनो के लिए मुद्रा-सम्बन्धी कारण उत्तरदायी है और अन्त मे व्यापारिक वर्ग परिवर्त्तित दर पर विनियोजन करने को तत्पर है या नही।

लेकिन, यह बाते सर्वथा सत्य नही है, इसलिये इस प्रकार की व्यवस्था पूर्णतया सफल नही हो सकती। मंदी के दिनो मे विशेष तौर से यह नीति सर्वथा असफल रहती है, क्योकि इन दिनों मे व्यापारी वर्ग निराशा मे ऐसा जकडा होता है कि दरों में अत्यधिक कमी होने पर भी वह नवीन विनियोजन करने अथवा अपने व्यापार का विस्तार करने की हिम्मत नही करते। मुद्रा-सम्बन्धी अधिकारी केवल व्यवसाय को प्रोत्साहित कर सकते हैं, परन्तु वह व्यवसायियों को उधार लेने और व्यवसाय करने को बाध्य नही कर सकते। कम ब्याज की दर का परिणाम केवल अस्थिर धन की दशा बनाने की है। भारी सरकारी

ऋण ने मुद्रा-सम्बन्धी नियन्त्रण को कठिन बना दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बैंक खजाने (Treasury) से सचालित होते है।

आयात-निर्यात कर-नीति (Fiscal Policy)—मुद्रा नीति के अपर्याप्त होने के कारण दूसरे उपायो की खोज हुई। इनमे सब से महत्वपूर्ण उपाय राजकोषीय नीति का उपाय है। यद्यपि "इस उपाय की खोज केवल मुद्रा-नीति की सहायता के लिए की गई थी किन्तु अब वह उसी नीति को बिलकुल स्थानापन्न करना चाहती है।" (विलियम्स)

आयात-निर्यात-कर मे यह बाते सम्मिलित है—(१) राजकीय व्यय (Public Spending) अथवा सार्वजनिक कार्यो की नीति और (२) उचित कर प्रणाली (Appropriate Taxation)। हम यह देख चुके है कि कीन्स के सिद्धांत के अनुसार व्यापार-चक्र बचत व विनियोजन के बीच असमता के कारण उत्पन्न होता है। इसलिए यदि राज्य और सार्वजनिक सस्थाओ के विनियोजनो का विभिन्न व्यक्तिगत विनियोजनो से समन्वय कर दिया जाय तो असमता उत्पन्न होने से रोकी जा सकती है। और इस प्रकार आर्थिक स्थिरता स्थापित की जा सकती है। और यदि किसी भाति असमता उत्पन्न भी हो जाय तो सार्वजनिक व्यय के समन्वय द्वारा उसकी व्यवस्था की जा सकती है। इसलिए व्यापारिक स्थिति के अनुसार सार्वजनिक व्यय को परिवर्तित करते रहना पडता है। मदी के दिनो में जब व्यक्तिगत विनियोजन बहुत शिथिल होता है, तो उसकी कमी पूरी करने के लिए राज्य को बडी मात्रा मे विनियोजन करना पडता है। इसके विपरीत यदि समृद्धि का काल हो तो राज्य को अपने व्यय कम करने पड़ते है। इस प्रकार मदी के दिनो में राज्य को अपने चलित राजस्वो की सीमा मे परे खर्च करने को तैयार रहना चाहिए। दूसरे शब्दो मे मंदी के दिनो मे राज्य को घाटे के बजटो के लिए उद्यत रहना चाहिए और असाधारण समृद्धि के दिनो मे बजट मे अतिरेक के लिए। अस्तु, राज्य को बजट सतुलन की नीति अपनानी चाहिये।

जहा तक राज्य की आय का प्रश्न है राज्य को मंदी के दिनो मे कर कम कर देने चाहियें और तेजी के दिनो मे अधिक। यही नही, मंदी के दिनो मे राज्य की ओर से कई प्रकार की उदार रियायतें और दूसरी सुविधाएं दी जानी चाहिए।

इस प्रकार राजकोषीय नीति का सचालन सार्वजनिक राजस्वो और सार्वजनिक व्यय द्वारा हो सकता है। इसे राजस्व का चक्र विरोधी सगठन भी कहते है। इन दोनो मे व्यय वाला सिद्धान्त अधिक सफल है, क्योकि इससे व्यापारिक क्रिया को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त राजस्व वाला ढग विशेष लाभ का नही होता क्योंकि इसमे विनियोजन उचित रूप से नही हो सकता। पर सब से अधिक सफलता तब प्राप्त की जा सकती है जब दोनों ढगो के सहयोग से काम लिया जाय।

राजकीय व्यय अथवा सार्वजनिक कार्यों की नीति (Public Spending or

Public Works Policy)—यह नीति अधिक सफल हुई है। मंदी के दिनों में जब आर्थिक क्रियाएँ पूर्णतः शिथिल हो जाती है, और फलस्वरूप बेकारी बढ जाती है, तो वस्तुओ के उपभोग में भी कमी आ जाती है। यह बात बडे महत्व की है कि उपभोग की ओर रुचि बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय। यदि किसी प्रकार सार्वजनिक कार्यो द्वारा कुछ नवीन नियोजन पैदा किया जा सके तो लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ जायगी और उपभोग की मात्रा भी बढ़ जायगी, जिससे गुणक के सिद्धात के अनुसार व्यक्तिगत विनियोजन को प्रोत्साहन मिलता है। अस्तु, सार्वजनिक कार्यो पर सरकार की ओर से व्यय किये गए धन से व्यक्तिगत विनियोजन को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार किसी देश की आर्थिक क्रिया मे राज्य जीवन-संचार (Priming the Pump) का कार्य करता है। इससे मंदी रोकी जा सकती है। पर सार्वजनिक व्यय से एक और भी काम होता है—वह यह कि इससे आर्थिक क्रिया मे दीर्घकाल मे स्थिरता आ जाती है और वह मंदी व तेजी से सुरक्षित हो जाती है। इस उद्देश्य को व्यक्तिगत विनियोजनो के अनुसार सार्वजनिक विनियोजनो का समन्वय करके प्राप्त किया जा सकता है। इसे आर्थिक नीति का क्षतिपूरक पूर्णात्मक कार्य (Compensatory Action) कहते है। 'अमरीकन इकानामिक्स असोसियेशन' के अनुसार व्यापार चक्र की अस्थिरता को रोकने के लिए सरकारी नियन्त्रण निम्नलिखित है.—

(१) व्यक्तिगत उत्तेजना मे परिवर्तन लाने के लिए कर दर तथा कर के ढाचे में परिवर्तन।

(२) कुल आय में सरकारी अश का हस्तान्तरित भुगतान द्वारा (उदाहरणार्थ Employment benefit) परिवर्तन।

(३) राजकीय कार्यों मे तथा अन्य सरकारी व्यय मे परिवर्तन।

(४) लागत तथा बैंक साख की प्राप्ति मे परिवर्तन लाने के लिए मुद्रा-सम्बन्धी नियत्रण।

(५) जनता के ऋण चुकाने योग्य सपत्ति मे परिवर्तन के लिए ऋण अथवा मुद्रा सम्बन्धी नीति।

(६) विनियोजन निर्णय तथा उत्पत्ति और व्यवसाय से सम्बन्धित निर्णय को प्रभावित करने के लिए सरकारी नीति की ठीक समय मे घोषणा।

(७) कीमत तथा मजदूरी-निर्धारण पर प्रभाव डालने वाले कारण।

(८) एक उचित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति। आर्थिक स्थिरता को पाने के लिए दो मूल नियम बतलाए गए हैं:—

(अ) सरकारी करों से प्राप्त आमदनी को बेकारी के समय में पूर्ण व्यवसाय के समय से सरकारी व्यय की तुलना में ऊचा होना।

(ब) पूर्ण व्यवसाय के समय में द्रव्य तथा साख सापेक्ष-रूप से अधिक दृढ़ हो।

पर अब भी अर्थशास्त्रियों में इसका बडा मतभेद है कि सार्वजनिक व्यय की नीति द्वारा बचत व विनियोजन में समता रखी जा सकती है अथवा नही। इसके विपरीत यह सब मानते है कि आयात-निर्यात-कर नीति वक्रात्मक परिवर्तनो से लड़ने में बड़े उपयोग की है।

मंदी के दिनों मे विनियोजन में सहायता देने के अतिरिक्त इससे राज्य को कम मूल्य मे सार्वजनिक सेवा के कार्य करने मे सहायता मिलती है। मजदूरी, मूल्य व ब्याज की दरें मंदी के दिनों मे कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त राज्य के शुद्ध व्यय तो और भी कम होते है। और फिर यदि यह नीति नही अपनाई जाती तो बेकारी के भत्ते देने आवश्यक हो जाते है। इसलिए सार्वजनिक कार्यों का शुद्ध व्यय उनके पूर्ण व्यय में से बेकारी के भत्ते निकाल कर होता है जोकि अन्यथा दिया जाना होता।

पर राजकोषीय नीति में कुछ कमजोरियां भी है। बहुत से सार्वजनिक कार्य ऐसे भी है, जिन्हें मंदी की प्रतीक्षा मे स्थगित नही किया जा सकता। उनमे से बहुतो का सबंध तो व्यवसाय की गति से होता है और इसलिए उनके द्वारा सुधार नही हो सकता। फिर श्रम की गतिहीनता के कारण कभी-कभी नीति अतिरिक्त नियोजन का निर्माण करने मे असफल रहती है। जैसे सडक बनाने के काम मे सूती मिल के बेकार मजदूर नही लगाये जा सकते। एक जनतन्त्रात्मक राज्य मे जनता समृद्धि के दिनो मे बचत के बजटो का विरोध करती है और करो मे कमी की माग करती है। इसके अतिरिक्त राज्य को इस बात का भी ध्यान रखना पडता है कि वह ऐसे क्षेत्रो मे व्यय करे, जहा व्यक्तिगत विनियोजन की सभावना न हो, अन्यथा राज्य का विनियोजन व्यक्तिगत विनियोजन को स्थानापन्न मात्र कर देगा। यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि राज्य के सार्वजनिक व्यय से उत्पादन-व्यय बढ़ जाने के कारण व्यक्तिगत विनियोजन की कठिनाइया भी कही बढ न जांय।

इन सब बातो के होते हुए भी राजकोषीय नीति बहुत अच्छा व्यापार-चक्र-विरोधी शस्त्र है। यदि इसके साथ समुचित द्रव्य-व्यवस्था भी हो तो यह और भी अधिक सफल हो सकती है। "मंदी से निकलने के लिए कमी का बजट आय के नवीन साधन निकाल कर और सस्ते द्रव्य को अपना कर अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर सकता है तथा समृद्धि के दिनो मे मुद्रा की नीति अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है"।

विनियोजन पर राज्य-नियंत्रण (State Control of Investment)– कुछ वर्षो से व्यापारिक परिवर्तनो से बचाव के लिए अर्थशास्त्री राज्य-विनियोजन के अतिरिक्त और भी उपाय सोचने लगे है। उनका कहना है कि व्यक्तिगत विनियोजन के ऊपर राज्य की ओर से नियन्त्रण होना चाहिये। कुछ देशो में सन् १९३० से यह नियंत्रण लागू है। यद्यपि पहले यह केवल संकट से बचाव के लिये लगाये गये थे तो भी, लड़ाई के दिनों में यह नियंत्रण और भी बढ़ा दिये गये। पर इनका उद्देश्य केवल युद्ध के साधनों को व्यवस्थित करना था। युद्ध के पश्चात् यह नियंत्रण कम कर दिये गये पर अर्थशास्त्री अब इस बात

पर जोर देते है कि आर्थिक स्थिरता के लिए यह नियंत्रण आवश्यक है। किन्तु इस नीति में भय यह है कि राज्य के बहुत अधिक हस्तक्षेप से व्यक्तिगत विनियोजन समाप्त हो जायगा। पर व्यक्तिगत विनियोजन को पूर्णतः स्वतन्त्र छोड़ देना भी भयंकर है। अस्तु, एक मध्यम मार्ग की आवश्यकता है। कीन्स का विश्वास है कि इस प्रकार का मार्ग निकाला जा सकता है और यदि ऐसा हो गया तो आर्थिक स्थिरता प्राप्त की जा सकती है।

अंतर्राष्ट्रीय उपाय (International Measures)—अभी तक हमने केवल उन उपायों का अध्ययन किया है जो व्यक्तिगत राष्ट्रों की ओर से किये जाते हैं। पर व्यापार-चक्र की प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय है। कोई देश संसार के दूसरे भागों से पृथक् नहीं रह सकता। इसकी यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति नियंत्रण को जटिल बना देती है।

अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर व्यापार-चक्र को रोकने के लिये जिन उपायों का सुझाव रखा गया है वह इस प्रकार है—अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन नियंत्रण (International Production Control); अन्तर्राष्ट्रीय स्कन्ध निरोध (International Buffer Stocks); अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन नियंत्रण (International Investment Control)। अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन नियंत्रण के अन्तर्गत उत्पादन की प्रमुख वस्तुओ के मूल्यों में नियन्त्रण रखा जाता है। इस प्रकार के नियन्त्रण में बडी कठिनाइयां होती है। भारत जैसे देशो में कृषि बहुत छोटे पैमाने के व्यवसाय के रूप में नही वरन् जीवन की आवश्यकता के रूप में होती है। फलस्वरूप यदि कृषि लाभप्रद न भी रहे तो भी उसे छोड़ा नही जा सकता। पर उत्पादन-नियंत्रण और स्कन्ध-निरोधक पूर्ति के अचानक परिवर्तनों को रोक कर मूल्यों के उतार-चढाव को रोक सकेगा।

पिछड़े हुए प्रदेशों के विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर विनियोजन नियन्त्रण करने से वहां के लोगो का जीवन-स्तर उठाया जा सकेगा और विभिन्न देशों के लोगों के जीवन-स्तर में असमानता दूर हो जायेगी, परिणामस्वरूप स्थिरता बढ़ेगी। प्रेसिडेंट ट्रूमैन का चतुर्थ-योजना क्रम (Point-Four Programme) आई. बी. आर. डी. इसी दिशा में किये गये प्रयत्न है।

पर यह उपाय बहुत अधिक सफल नही हो सके। अभी तक भी व्यापारिक संकट की कोई अचूक दवा नही खोजी जा सकी है। वास्तव में आवश्यकता तो इस बात की है कि हमारे आर्थिक ढांचे को पूर्णतः बदल दिया जाय। यह संपूर्ण संकट पूंजीवाद की देन है। और संसार में जब तक पूंजीवाद रहेगा यह संकट भी रहेंगे। इसलिए समाजवाद के किसी रूप की आवश्यकता है।

किन्तु उत्पादन के संगठन में समाजवादी राज्य से भी गलती हो सकती है। क्योंकि उसे भी मांग के अनुसार चलना पड़ेगा। कोई मानवीय संगठन सम्पूर्ण नही हो सकता। पर यदि आर्थिक क्षेत्र को समुचित रूप से संगठित कर दिया जाय तो आर्थिक क्रियाएं कुछ

इतनी सुव्यवस्थित हो जायँगी कि संकट कम हुआ करेंगे। और यदि इस प्रकार के संकट होंगे भी तो राज्य उनका मुकाबला कर सकेगा—व्यक्तिगत कारखाने बन्द नही होंगे और हानियां पूरी की जा सकेंगी। सन् १९३० के आस-पास जब सारे विश्व में मंदी व बेकारी का अन्धकार था, तब रूस के आर्थिक क्षितिज पर इस प्रकार के काले बादल नही दिखाई देते थे। अस्तु, संकट से लड़ने का सब से अच्छा उपाय आयोजित आर्थिक नीति ही है।

निर्देश पुस्तकें

Hawtrey—Trade & Credit.

Hawtrey—Economic Destiny.

Pigou—Industrial Fluctuations.

Brij Narain—Money and Banking (S. Chand & Co.).

Crowther—An Outline of Money.

Myrdal—Monetary Equilibrium.

Keynes—(i) Treatise on Money. (ii) The General Theory of Employment, Interest & Money.

Robertson—Money.

Hayek—Prices & Production.

Estey—Business Cycles.

Haberler, G.—Prosperity and Depression—American Economic Association—

Readings in Business Cycle Theory 1944.

American Economic Associatian on "Problem of Economic Instability" in the American Economic Review, September 1950 p.p. 505-38.

Mitchell, W.C.—Business Cycles. The Problem and its setting.

Hansen, A.H.—Fiscal Policy and Business Cycle, 1941.

Tarshis, L.—The Elements of Economics, 1936, ch. 32.

Meyers, A.L.—The Elements of Modern Economics 1946, ch. 27.

Samuelson, P.A.—Economics, 1948, ch. 17.

Halm, G.N.—Monetary Theory, 1946, ch. 20—23.

Hicks, J.R—A Contribution to the Theory of Trade Cycle 1950.

Kalecki, M.—Essays in Theories of Economic Fluctuations, 1939.

अध्याय ४४

सार्वजनिक अर्थशास्त्र

(PUBLIC ECONOMICS)

१. आर्थिक क्षेत्र में राज्य-हस्तक्षेप की आवश्यकता (Necessity of State Intervention in the Economic Sphere)—राज्य एक राजनीतिक समाज है। इसका अंतिम उद्देश्य मानव-कल्याण की वृद्धि है। इसलिए राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने नागरिकों की आर्थिक क्रियाओं पर दृष्टि रखे। विभिन्न कार्यों में वह कार्य, जिनका रूप आर्थिक है, मानव-कल्याण के लिए अत्यावश्यक है। कोई भी राज्य अपने नागरिकों के आर्थिक कार्यों की उपेक्षा करके इस उद्देश्य की ओर संतोषजनक रूप से नहीं बढ़ सकता।

हम इस बात को नहीं मानते कि राज्य स्वतः एक लक्ष्य है। कुछ अर्थशास्त्री कहा करते थे कि अर्थशास्त्र राजनीति की कठपुतली है। किन्तु इस कथन में अधिक सचाई है कि राजनीति अर्थशास्त्र की कठपुतली है। आर्थिक उद्देश्य—गरीबी का दूर करना—एक अधिक आवश्यक उद्देश्य है, इसलिए आर्थिक ढांचा इस प्रकार का बनाना चाहिए कि जिससे यह उद्देश्य पूरा किया जा सके। उदाहरण के लिए हम भारतवर्ष से गरीबी मिटाना चाहते हैं। इसलिए इस देश की संवैधानिक व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए कि जो हमें इस उद्देश्य की ओर बढने में सहायता दे। यदि भारतवर्ष की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिए आर्थिक योजनाओं के बनाने की आवश्यकता है, तो संविधान में ऐसी व्यवस्था होनी ही चाहिए, जिससे देश का केन्द्रीय शासन आर्थिक कार्यों के विभिन्न अंगों का आवश्यकतानुसार संचालन कर सके।

अब तो यह आम तौर पर माना गया है कि राज्य का आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप और नियंत्रण सामान्य कल्याण के लिए अत्यावश्यक है। ऐसा अनुभव किया जाने लगा है कि आर्थिक क्रियाओं को सुचारु रूप से चलाने के लिए तथा उनको फलदायक बनाने के लिए राज्य को इस क्षेत्र में अवश्य उतरना चाहिए। यह देखने के लिए कि देश के साधनों का उपयोग लाभदायक सिद्ध हो रहा है या नहीं अथवा उससे नागरिकों को अधिकतम संतोष होता है कि नहीं, राज्य-नियंत्रण की आवश्यकता और भी स्पष्ट हो जाती है।

२. राज्य कार्यकलाप की सीमा (Extent of State Activity)—यह ठीक ही कहा गया है कि "राजनीतिक सिद्धान्त परिस्थितियों (Environments) पर आश्रित है।" यह देखा गया है कि जैसे-जैसे परिस्थितियां बदलती हैं, वैसे ही राज्य के कार्यकलापों के उचित क्षेत्र के विचार भी बदलते गये हैं। राज्य के हस्तक्षेप की सीमा और रूप के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारकों में असमता रही है। हम यहां पर कुछ राज-

नीतिक विचारों के मुख्य रूपों का भेद उपस्थित करते है।

अराजकतावादी (The Anarchists)—ये लोग शासन के न रखे जाने में विश्वास करते है। वे सोचते हैं कि एक ऐसी दशा आयगी, जब मनुष्य नैतिकता के इतने ऊँचे स्तर पर पहुँच जायगा कि शासन अनावश्यक हो जायगा और "उसका अन्त हो जायगा"। समाज स्वयं अपने को नियमित कर लेगा। राजनीतिक विचारकों का यह केवल स्वप्न-मात्र है।

साम्यवादी (The Communists)—दूसरे छोर पर साम्यवादी है, जो विश्वास करते हैं कि राज्य का हटाना तो बहुत दूर की बात है, राज्य को जीवित रहना होगा और उसे आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शक्तिशाली साधन के रूप मे दृढ होना होगा। साम्यवादी व्यक्तिगत आर्थिक कार्यकलाप पर दृढ नियंत्रण रक्खेंगे। हर एक चीज राज्य की होगी और शासन सब तरह के आर्थिक कार्यकलापों की व्यवस्था करेगा। व्यक्ति तो केवल शतरंज के खेल में एक प्यादे के समान है। कुछ लोग इसको आर्थिक दासता कहेगे। यह दशा अभी क्रियात्मक राजनीति से दूर है।

इन दो चरम धारणाओ के बीच में दो अन्य विचारधाराएं है, जिन्होंने वास्तव में राजनीतिक नीतियों को प्रभावित किया है। इनमें से एक विचारधारा वह है, जिसको व्यक्तिवाद (Individualism) या आर्थिक उदारता (Economic Liberalism) कहते है, दूसरी है समूहवाद (Collectivism)।

व्यक्तिवादी (Individualists)—व्यक्तिवादी राज्य को एक बुराई समझते हैं, और यह अनिवार्य बुराई है। उनका यह विश्वास है कि मानव-कल्याण सब से अधिक उस समय होगा, जब आर्थिक क्रियाकलाप राज्य के हस्तक्षेप के बिना निर्बाध रुकावट और अड़चनरहित दशा में होगे। फ्रास के एक फिजियोक्रेट (Physiocrat) फ्रेंकोस क्वेज्ने (Francois Quesnay) के शब्दों में "प्रतियोगिता की असीमित स्वतंत्रता अन्दर के और बाहर के व्यापार का सब से उत्तम संरक्षक है, यह बहुत ही ठीक है और राष्ट्र और राज्य, दोनों के लिए अति लाभदायक है।" इंगलैंड में ऐडम स्मिथ (Adam Smith) की आर्थिक विचारधारा के अनुसार सरकार को कम से कम कार्य करने चाहिएँ। यह एक पुलिस राज्य होगा और नियमो का पालन कराना और शांति स्थापित रखना ही केवल इसका काम होगा। कारखानों के नियम और सामाजिक सुरक्षा के लिए इसमें कोई स्थान न होगा। यह स्पष्ट है कि यह विचारधारा समाज की उचित आवश्यकताओं पर ध्यान नही देती। व्यक्तिवाद को राजनीतिक सिद्धांत और राज्य कार्यों के लिए एक पथ-प्रदर्शक के रूप से भी दोषी ठहराया गया है। व्यक्तिवाद की नीव कभी की नष्ट हो चुकी है। अब कोई भी यह सचाई से विश्वास नही करता कि हर व्यक्ति अपने हित को ठीक-ठीक समझता है या उसके पाने की शक्ति रखता है। यहां तक कि जे. एस. मिल को भी, जो 'यथेच्छाचारिता' (Laissez Faire) के प्रबल समर्थक हैं, कुछ क्षेत्रों में राज्य के

हस्तक्षेप की आवश्यकता स्वीकार करनी पडी। जीवित रहने का संघर्ष बड़ा तीव्र हो गया है। सारी पृथ्वी बस गई है और अब "पड़ौसी के कुत्ते की आवाज सुनकर वहां जाने तक की जगह नही रह गई है।" सारे समुद्र तक में कही जगह नहीं रह गई है। आज के ऐसे संसार में उन्नीसवी शताब्दि के व्यक्तिवाद का अब कोई भी स्थान नही है। व्यक्तिवाद के दिन पूर्णतया चले गये है। एक कवि के शब्दों में:—

> "The Moving Finger writes; and having writ,
> Moves on : nor all your Piety nor Wit,
> Shall lure it back to cancel half a line,
> Nor all your tears wash out a word of it."[1]

समूहवादी या समाजवादी विचारधारा (The Collectivist or the Socialist View)—समूहवादियो और समाजवादियो की विचारधाराये बिल्कुल भिन्न है। समाजवादी समाज के हित पर ज्यादा जोर देते है और व्यक्तियों के अधिकारो और विशेषाधिकारो पर कम। राज्य को एक अनिवार्य बुराई समझना तो दूर रहा, वे इसको एक अति आवश्यक और उपयोगी सस्था मानते है और वे उसको बहुत-सी सीमा-रहित शक्तिया देना चाहते है। वे राज्य के हर प्रकार के हस्तक्षेप को उचित मानते है बशर्ते उसके द्वारा सामाजिक कल्याण मे उन्नति होती है। राज्य के हस्तक्षेप की कोई सीमा नही है, केवल आवश्यक शर्त यह है कि उससे मानव-कल्याण की प्रगति होनी चाहिए।

२. आधुनिक विचारधारा (The Modern View)—आधुनिक काल की विचारधारा समाजवाद या समूहवाद की ओर दृढता से झुकी हुई है। आज के नीतिज्ञ (Statesmen) शासन के आर्थिक क्षेत्रों मे हस्तक्षेप करने की कोई सीमा निश्चित नही करते। वे केवल यही देखते है कि राज्य के कार्य प्रत्यक्ष रूप से, या परोक्ष रूप से, समाज के हित मे होते है या नही। लियोन डुग्इट (Leon Duguit) ने अपनी पुस्तक (Law in the Modern State) मे कहा है, "जो कुछ भी समाज की सरलतापूर्वक उन्नति करने के लिये आवश्यक है, वह सार्वजनिक सेवा है।"

कुछ समय तक राज्य-कार्य पर आर्थिक विचारों का शासन रहा। लाभ ही उनकी कसौटी समझी जाती थी। राज्य के सब कार्यो पर एक प्रश्न किया जाता था, "क्या उससे लाभ होता है ?" निम्नलिखित अवतरण मे स विचारधारा को अच्छी तरह अकित किया गया है।"[2]

"जे० एम० कीन्स (J.M. Keynes) ने उन्नीसवी शताब्दी को एक गणक (Accountant) का कुस्वप्न (Nightmare) कहा है। ऐसा कोई काम नही किया जाता जब तक कि उससे "लाभ" न हो; प्रत्येक कार्यकलाप आर्थिक गणना के अन्तर्गत

1—See Samuelson, P.A.—Economics. 1948 p.p. 152—53.
2—Kinley—Government of Economic Life, 1936, pp. 11—20.

रखा जाता था। हम लोगो ने झोंपडे बनाये, क्योकि उनसे अच्छे मकानो के मुकाबले मे अधिक लाभ होता था। हमने जमीन के रूप को बिगाड़ा, नदियो के तलों को बर्बाद किया, जंगलों को नष्ट किया, कुछ तो अज्ञान के कारण परन्तु अधिकतर इसलिये कि ऐसा करने से हमे क्षणिक लाभ होगा। हमने बेकार व्यक्तियो को सरकारी कार्यों मे नही लगाया, क्योकि उससे हमे लाभ न होता। हमे गरीब रहना होगा, क्योकि धनी होने से लाभ नही होगा। हमे गदे झोपड़ो मे रहना होगा, इसलिये नही कि हम महल नही बना सकते, बल्कि इसलिए कि हम उनको लाभकारी नही समझते। आर्थिक हिसाब-किताब के इस स्वय-नष्टकारी नियम ने जीवन के हर क्षेत्र पर शासन किया।"

नि:सन्देह यह अत्यन्त दु:खदायी बाधा थी; परन्तु सौभाग्यवश अब यह दूर हो चुकी है। आर्थिक विचार सर्वथा असगत नही है, किन्तु आजकल यह बात स्वीकार की जाती है कि कोई भी सार्वजनिक खर्च, जो राष्ट्र की प्राकृतिक सामग्री या मानव-हित की उन्नति करने के लिए किया जाता है, वह न्यायपूर्ण है, और उसे 'लाभकर' समझा जा सकता है।

समय पाकर शासन को परिस्थितिवश अधिक से अधिक कार्य अपने हाथ में लेने पडे। इस प्रकार राज्य-कार्यकलाप का क्षेत्र दिन पर दिन बढता गया और विभिन्न प्रकार का होता गया। ससार-व्यापी प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४-१८) ने 'यथेच्छाचारिता' (Laissez Faire) नीति पर एक कठोर प्रहार किया। ससार-व्यापी और अभूतपूर्व आर्थिक मदी (Economic Depression) ने ससार के शासनों को वृहद् आर्थिक नीतियो का आविर्भाव करने पर मजबूर किया। अमेरिका की नई नीति (New Deal) ने आर्थिक जीवन के हर क्षेत्र मे प्रवेश किया। दूसरा महायुद्ध राज्य को आर्थिक जीवन के प्रबन्धक या सचालक के रूप मे हमारे समक्ष लाया। राज्य नियत्रण और नियमन अब बढा दिये गये है और वे आर्थिक-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का सचालन करते है। इनसे हमारा सम्बन्ध केवल नागरिक की हैसियत से ही नही है, बल्कि उत्पादक और उपभोक्ता की हैसियत से भी है। अब पीछे हटा नही जा सकता। चेस (Chase) का कहना है कि "समूहवाद (Collectivism) हमे चारों तरफ से घेरे हुए है, घुडसवार, पैदल और तोपखाने के साथ।" उनके मतानुसार इस समय योरोप के ७० प्रतिशत निवासी राज्य-नियत्रित व्यवसाय की छाया मे रहते है और अब प्रश्न यह है कि क्या व्यापारी लोग शासक बनेगे या शासक व्यापारी ?

आधुनिक अर्थशास्त्री राज्य के आर्थिक कार्यकलापों की कोई सीमा नही मानना आजकल समाज के साधनो के मितव्ययी वितरण और सम्पत्ति के विभिन्न रीतियो से वितरण के लिए शासन का यंत्र स्वतन्त्रतापूर्वक काम मे लाया जाता है। शासन इस कार्य को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निजी उपक्रम पर दृढ नियंत्रण रखकर करता है।

हम आधुनिक विचारधारा को इन शब्दों में प्रकट कर सकते हैं : "ऐसा विश्वास किया जाने लगा है कि राज्य का कर्तव्य सेना, जल सेना और पुलिस की व्यवस्था के अतिरिक्त

1—Chase, S.—Government in Business, 1935, p.5.

और भी कुछ है और एक दूसरी प्रकार की सुरक्षा का प्रबन्ध भी आवश्यक है। पूर्ण समाज को संगठित होना चाहिए और "बर्बर-शक्ति" के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए, जिससे आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली व्यक्तियो से निर्बल व्यक्तियों की रक्षा हो सके जिससे कि धनी लोग गरीबो का शोषण न कर सकें और जिससे कि गरीबी और बीमारी की बुराइयों के साथ, जिनका सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था पर नष्टकारी प्रभाव होता है, लड़ाई लड़ी जा सके।"[१]

४. आधुनिक राज्य के कार्य (Functions of a Modern State)—विभिन्न लेखकों ने राज्य के कार्यो का भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किया है। एडम स्मिथ ने इसके तीन वर्ग बनाये : (अ) "समाज की दूसरी स्वतन्त्र समाजो के आक्रमण और शक्ति प्रयोग से रक्षा करना" ; (ब) "जहा तक सभव हो, समाज के हर एक व्यक्ति की रक्षा करना" ; (स) और "ऐसी जन-सस्थाओ और सार्वजनिक उद्योगों का निर्माण करना और उनके अस्तित्व को बनाये रखना, जो कि समाज के लिए एक वृहद् मात्रा मे लाभकारी हो, चाहे भले ही वे इस रूप के हो जो किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो के खर्चो को भी पूरा न कर सकते हो।"

जे० एस० मिल ने राज्य के कार्यों को दो वर्गो मे विभाजित किया है : (अ) आवश्यक कार्य, जो न्याय और सुरक्षा का प्रबन्ध करे ; और (ब) दूसरे वैकल्पिक, जिसमें अन्य सब कार्य सम्मिलित हो।

एडम स्मिथ (Adam Smith) ने अपनी १७७६ की प्रकाशित 'वेल्थ आफ़ नेशन्स' मे शासक के तीन कर्तव्यो का उल्लेख किया है :

(१) समाज की अन्य स्वाधीन समाजो के अन्याय तथा बलात्कार से रक्षा करना ;

(२) नागरिको के बीच आन्तरिक न्याय का प्रबन्ध ;

(३) जनता की उन संस्थाओ का बनवाना तथा बनाए रखना जो चाहे बड़े समाज के लिए अत्यन्त लाभदायक हों परन्तु एक व्यक्ति को कभी व्यय न अदा कर सके।"

आधुनिक राज्य के मुख्य कार्यों का नीचे दिया हुआ वर्गीकरण उचित माना जा सकता है :—

(१) **संरक्षण तथा रक्षा के कार्य** (Protective Functions)—बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करना और देश में शान्ति स्थापित रखना, इन कार्यो में शामिल है। राज्य का यह पहला काम है। कुछ लेखक इन कार्यों को अनुत्पादक कार्य कहते है। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नही है। इसमें कोई शक नही कि सकुचित आर्थिक दृष्टि से देखते हुए इस प्रकार के कार्यो का कोई भौतिक या प्रत्यक्ष फल नही होता, तिस पर भी विस्तृत दृष्टि से और अप्रत्यक्षत:, रक्षाविषयक कार्यकलाप उत्पादक कहा जा सकता है। जब तक

[१] Thomas, S. E. : Elements of Economics, 1936, p. 599.

कोई देश बाहरी आक्रपण से सुरक्षित नही रखा जाता, उस समय तक वहां कोई उत्पादन कार्यकलाप नही किया जा सकता।

(२) **प्रशासकीय कार्य** (Administrative Functions)—सेना और पुलिस रखने के अतिरिक्त, जिनका कार्य देश की बाहरी और भीतरी रक्षा करना है, हर एक सरकार बहुत से ऐसे प्रशासन कर्मचारियो और सस्थाओं का प्रबन्ध करती है, जिनका काम शासन के विभिन्न विभागो और विषयो का प्रबन्ध करना होता है। प्रशासन कार्यों का सम्बन्ध सरकार के नित्य-प्रति के कार्यों के करने से है।

(३) **सामाजिक कार्य** (Social Functions)—इसी वर्ग मे आमतौर पर वे कार्य लिये जाते है, जैसे गरीबो, रोगियो और बेकारो की सहायता का प्रबन्ध, सामाजिक बीमा, जिसमे कि आरोग्य और बेकारो का बीमा शामिल है, और वृद्धावस्था की पेशनें, वर्तमान काल मे सभी सभ्य सरकारो के आवश्यक कार्य समझे जाते है। ससार के उन्नतिशील देशों मे आजकल ऐसी बडी-बडी और ऊची योजनाए बनाई जा रही है, जिनका लक्ष्य जनता मे से अभाव और भय को एक दम हटा देना है। इन सब बातो के अतिरिक्त आजकल की सरकारे अजायबघर, सार्वजनिक उद्यान, पुस्तकालय, शिक्षा, चिकित्सा और मकानों का भी प्रबन्ध करती है और इनको अपना कर्त्तव्य समझती है। सकुचित दृष्टि से इन कार्यों से कोई धन का लाभ नही होता, परन्तु विस्तृत दृष्टि से ये कार्य अति लाभदायक समझे जाते है। इनसे राष्ट्र के प्राकृतिक और मानवीय साधनो का उत्थान होता है।

(४) **आर्थिक और व्यापारिक कार्य** (Economic and Commercial Functions)—अर्थशास्त्र मे हमारा ऐसे कार्यों से ही अधिक सम्बन्ध है। ये सरकार के सभी व्यापारिक और व्यावसायिक कार्यों मे सम्बन्धित है। इनमे "व्यापार को सुविधाए देना, उत्साहित करना और उसपर नियत्रण करना" शामिल है।[1]

अब हमे विस्तार मे यह अध्ययन करना चाहिए कि व्यापार मे राज्य का हस्तक्षेप कब उचित है, और वह किस रूप मे सामने आता है।

५. **राज्य द्वारा हस्तक्षेप** (State Intervention)—एस० ई० टामस (S.E. Thomas) के अनुसार आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप निम्नलिखित दशाओं में उचित है[2]:—

(१) **जब व्यापार एकाधिकारी-प्रकृति का हो** (When the Business is of Monopolistic Nature)—एकाधिकार के होने पर उपभोक्ताओं के एकाधिकारी द्वारा शोषण किये जाने की सभावना और भी बढ़ जाती है। उस समय राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह एकाधिकारी शक्ति के दुरुपयोग को रोके और शोषण को बन्द करे। ऐसे समय में शासन के लिए एकाधिकारी के कार्य पर नियंत्रण करना

1. Thomas, S.E.—Elements of Economics, 1936 p. 616.
2. Ibid, p. 605.

आवश्यक हो सकता है, यहां तक कि शासन को एकाधिकारी वस्तु की कीमत को भी निश्चित करना आवश्यक हो जाता है।

(२) **जब निजी उपक्रम या व्यवसाय को कोई आकर्षण नहीं होगा** (When Private Enterprise Would not be Attracted)—यह अधिकतर उस समय होता है, जबकि विनियोजन पर लाभ की कोई आशा नही होती ; जैसे स्कूल, अस्पताल और सड़के। इस प्रकार के उद्योगों से अधिक लाभाश नही मिल सकता, इसलिये उनको चलाने के लिए समाज को मिलकर काम करना पड़ता है। सरकार को उस अवस्था मे भी दखल देना चाहिए, जब व्यक्तिगत उद्योग आगे न बढ़ता हो, क्योकि उसको वर्तमान पीढी मे लाभ नजर नही आता। उदाहरणार्थ, जगलों के लगाने की योजनाए, भूमि कटाव बन्द करने की योजनाए, इत्यादि।

(३) **जबकि आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियों को रक्षा की आवश्यकता हो** (Where the Economically Weak Require Protection)—कारखानो के मजदूर बहुत ही शोचनीय दशा में है और उनको शक्तिशाली संचालकों से सुरक्षित रखना ही चाहिए। ऐसी दशा खासतौर पर पसीने की कमाई या पसीने के धंधों (Sweated Trades) मे पाई जाती है।

(४) **सामाजिक एकाधिकार या सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाएं** (Social Monopolies or Public Utility Services)—साधारणत. रेलवे, डाक तथा तार, जल, विद्युत् या गैस वितरण आदि लोकोपयोगिता के वर्ग मे आते है। ऐसी अवस्थाओं मे यह स्पष्ट है कि प्रतियोगी संस्थाओ का सेवाओं की पूर्ति करना अमितव्ययी तथा अवाछनीय है। लगातार और सस्ती सेवाओं के बनाए रखने के लिए नगरपालिका या शासन का नियत्रण होना आवश्यक है। इसलिये यह शासन के हस्तक्षेप करने का उचित क्षेत्र है।

(५) **जहां उपभोक्ताओं के हितों की उपेक्षा हो** (Where the Consumers' Interests May be Prejudiced)—एक साधारण उपभोक्ता से किसी वस्तु के गुण या शुद्धता के बारे में ठीक निर्णय पर पहुचने की आशा नही की जानी चाहिए। इस प्रकार वह इस दशा मे नही होता कि वह अपने हितों की रक्षा कर सके। सरकार को उसकी सहायता के लिए आगे बढना चाहिए। इसलिए हम देखते है कि सब देशों में मिलावट के विरुद्ध नियम बनाये गए है। उत्पादकों के दुर्व्यवहार से उपभोक्ताओं की रक्षा करने के लिये सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक समझा जाता है।

(६) **जहां कि राज्य-प्रबन्ध और नियन्त्रण के लिए राजनीतिक या सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से आज्ञा दी जाती है** (Where State Management and Control are Dictated by Political or Social as well as Economic Considerations)—इसके उदाहरण स्पष्ट है : मुद्राचलन

की पूर्ति तथा अस्त्रों का उत्पादन। अब यह माना जाता है कि कागजी मुद्रा (Currency Notes) का निजी संस्थाओं द्वारा निकाला जाना संपूर्ण समाज के लिये बहुत खतरनाक हो सकता है। आर्थिक यंत्र को अव्यवस्थित न होने देने के लिये मुद्रा-चलन का राज्य ारा नियंत्रण और नियमन बहुत ही आवश्यक है। इस प्रकार शस्त्रो का निर्माण और विक्रय निजी उपक्रम को नही सौंपा जा सकता, क्योंकि उस दशा में देश मे शान्ति भग होने का भय रहेगा। अणु-शक्ति के अन्वेषण को राज्य के एक बहुत बड़े रहस्य की तरह सुरक्षित रखा जाता है।

६. व्यवसाय में राज्य-हस्तक्षेप के रूप (Forms of State Intervention in Business)—अब हमे यह देखना चाहिए कि राज्य की क्रियाएं किस प्रकार से देश में व्यापार और व्यवसाय को सहायता पहुंचाती है। विस्तृत रूप से हम व्यापार और व्यवसाय को सहायता पहुचाने वाले राज्यकार्यो को निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते है :—

(१) **व्यापार को सुविधाएं देना** (Facilitating Business)—सरकार व्यापारियो को अनेक प्रकार की सुविधाए देती है, जिनके बगैर उनको लगभग अपना काम चलाना मुश्किल हो जाय। उनमे से खास ये है—मुद्रा-चलन की व्यवस्था करना, आने-जाने और परिवहन के साधनो की व्यवस्था करना, नाप और तौल को निर्धारित करना, व्यापारिक कानूनो का बनाना, इत्यादि। इस तरह की सब सुगमताओ के कारण व्यापार और व्यवसाय का चलना आसान हो जाता है। भारतवर्ष मे हम इस दिशा मे उचित रूप में सम्पन्न नही है। देश के क्षेत्र और विस्तार को देखते हुए आने-जाने और परिवहन के साधन बहुत ही अपर्याप्त है। बैंकिग और साख भी भली प्रकार विकसित नही है। यह त्रुटियाँ देश के आर्थिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण है।

(२) **व्यवसाय को प्रोत्साहन देना** (Encouraging Business)—आधुनिक समय में ऊपर बतलाई हुई सुविधाए मुश्किल से पर्याप्त समझी जाती है। राज्य के इस प्रकार के उपेक्षित व्यवहार से देश की उतनी मात्रा में उन्नति होने की आशा नही की जा सकती जितनी कि वह कर सकता है। इसलिये ऐसा अनुभव किया जाता है कि सरकार को अवश्य ही देश में औद्योगिक और आर्थिक कार्यों को तीव्रता से प्रोत्साहन देना चाहिए। यह प्रोत्साहन अनेक रूपो मे हो सकता है। एक उचित मुद्रा-नीति देश को बहुत कुछ व्यावसायिक दृष्टि से समृद्धिशाली बना सकती है। घरेलू व्यवसाय विदेशी प्रतियोगिता से आयात-कर लगाकर रक्षित किये जा सकते है या विदेशी आयात अभ्यंश-पद्धति (कोटा-प्रणाली) द्वारा, जिससे विदेशी प्रतियोगिता सीमित हो, नियमित किया जा सकता है। किसी उद्योग को सरकारी सहायता (Bounties) या अर्थ-साहाय्य (Subsidies) देकर सरकार उसको प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दे सकती है। द्विमुखी (Bilateral) या बहुमुखी (Multila-

teral) व्यापारिक संधियां (Agreements) देश के वाणिज्य के हित के लिए की जा सकती है ।

उद्योगों के लिए और भी ऐसी सुविधाएं है, जो राज्य देते है। उदाहरणार्थ, औद्योगिक शिक्षा और अन्वेषण की व्यवस्था करना, औद्योगिक जानकारी तथा आकडों की आर्थिक सहायता, कर्ज या अंशपूजी (Share Capital) के चन्दे द्वारा, ऋण-पत्र के क्रय द्वारा या पूजी पर न्यूनतम प्रत्याय की प्रत्याभूति (Guarantee) द्वारा। सरकार अपनी नीति निर्धारित कर सकती है और सब वस्तुओ का क्रय अपने देश के उत्पादको से कर सकती है। औद्योगिक कारखानो के लिए उचित स्थान रियायती दर पर दिलाने मे राज्य सहायता कर सकता है । ये ऐसे तरीके है जिन पर सरकार व्यापार और उद्योग को प्रोत्साहन दे सकती है। यह कहना बेकार है कि राज्य की एक प्रोत्साहन देने वाली सचेष्ट नीति एक पीढी मे औद्योगिक क्राति ला सकती है।

(३) **व्यापार का नियमन करना** (Regulating Business)—देश में व्यापारिक क्रियाशीलता का नियमन करने के लिए और उपक्रमी की आवश्यक और असामाजिक प्रवृत्तियों को नष्ट करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप और भी आवश्यक है। भूतकाल में अनियमित और अनियत्रित प्रतियोगिता से ऐसी सामाजिक बुराइया पैदा हुईं, जो सामाजिक चेतना पर गहरा आघात करने के लिए पर्याप्त थी। औद्योगिक क्राति की आदि अवस्था में कारखानों के मालिकों के लालच और स्वार्थ-साधन के परिणामस्वरूप श्रमजीवियो पर बहुत अत्याचार हुआ। व्यक्तियो की आर्थिक क्रियाओ पर राज्य-नियमन रखने की आवश्यकता को देख राजनीतिज्ञ जैसे जाग उठे। कारखानो के लिये नियम बनाये गये। कानून मे रेलो और जहाजों के मजदूरो की सुरक्षा के लिए भी व्यवस्था है। दुर्घटना होने पर मुआवजा (Compensation) दिया जाता है और सभी उन्नत देशों में सामाजिक बीमे की योजनाएँ कार्य कर रही है। न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी गई है। जन-हित सेवाओं का दृढ़ता से नियमन करके उपभोक्ताओ के हितों की रक्षा की गई है।

(४) **नियंत्रण** (Control)—कुछ क्षेत्रों में राज्यो को केवल व्यापार को सुविधाएं देने से, प्रोत्साहन देने से और उनके नियमन करने से ही संतोष नही होता। वह आगे बढते है और देशवासियो पर एक दृढ़ नियत्रण रखने लगते है। शाति के समय इटली और जर्मनो जैसे फासिस्ट देशों मे राज्य-नियन्त्रण एक दूर सीमा तक पहुच गया था। उस समय वहां पर उत्पादन और उपभोग, दोनो पर सेना-क्रम (Regimentation) था। जन-साधारण अब आर्थिक नियंत्रणों की कार्य-प्रणाली से भली-भांति परिचित हो गया है। यद्यपि युद्ध का अन्त हो गया है तथापि नियंत्रण का अस्तित्व जारी है। विनिमय पर नियंत्रण है, आयात और निर्यात पर नियंत्रण है, कीमतों तथा पूंजी व व्यय पर नियंत्रण हैं, इत्यादि। समाज की आर्थिक क्रियाशीलता को दृढ़तापूर्वक जकड़ दिया

गया है। जब राष्ट्र सकटकाल से निकल रहा हो तो ऐसे नियत्रण आवश्यक हो जाते है।

(५) **राज्य स्वामित्व** (State Ownership)—हस्तक्षेप का अधिकतम उग्र रूप, जो कि राष्ट्र धारण करता है, वह है उद्योग के निजी स्वामित्व का अन्त करना। इग्लैण्ड के बैक का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है, और अब वहा लोहे और इस्पात के उद्योग का भी राष्ट्रीयकरण होने जा रहा है। भारतवर्ष मे रिजर्व बैक का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। कुछ स्थितियो में ऐसा समझा जाता है कि राष्ट्र के सम्पूर्ण हितो की सबसे अच्छी रक्षा उस समय हो सकती है, जब निजी व्यवसायी को हटा दिया जाय। समाज लाभ को कुछ आर्थिक क्रियाओ से इस प्रकार सम्बन्धित करना चाहता है कि वह व्यक्ति-विशेष को धनी न बनाकर इस प्रकार से किया जाय कि उससे साधारण समाज का हित हो। आजकल समूहवाद या राष्ट्रीयकरण की ओर तीव्र झुकाव है। निजो उद्यम के किले के मध्य मे ही निरकुश पूजीवाद की इमारत टुकडे-टुकडे होकर गिरती हुई दिखलाई देती है।

निर्देश पुस्तके

Kinley—Government Control of Economic Life.
Chase, S.—Government in Business.
Dalton—Public Finance.
Pigou—Public Control of Industry.
Findlay Shirras—Public Finance.

अध्याय ४५

राजकीय अर्थ-व्यवस्था

(PUBLIC FINANCE)

१. राजकीय अर्थ-व्यवस्था का महत्त्व (Importance of Public Finance)—"द्रव्य से ही गाडी चलती है", यह बहुत साधारण कहावत है। प्रत्येक व्यक्ति उन सब कार्यो में, जिन्हे वह करता है, द्रव्य की आवश्यकता को अनुभव करता है। यदि एक व्यक्ति के लिये द्रव्य का महत्त्व बडा है तो सरकार के लिये द्रव्य का महत्त्व तो और भी अधिक बडा है। पिछले अध्याय में हम उन अनेक कार्यों को देख चुके है, जिनसे हम आशा करते है कि एक आधुनिक सरकार को सम्पन्न होना चाहिये। यह स्पष्ट है कि इन कार्यो को सम्पन्न करने के लिए द्रव्य की आवश्यकता है। किसी भी राष्ट्र की शक्ति का सूचक उसका आयव्ययक (Budget) होता है। राष्ट्र के कार्यों की सीमा तथा उसकी कार्यक्षमता मुख्यतः उसके कोष की शक्ति पर निर्भर करती है।

हम प्रायः यह शिकायत किया करते है कि शिक्षा की दृष्टि से भारत बहुत पिछडा हुआ है, चिकित्सा-सबधी सहायता की व्यवस्था पूर्णतः असन्तोषजनक है तथा भारत मे कृषि व उद्योग सर्वाधिक प्रारभिक ढग पर सचालित होते है। ऐसा क्यों है ? इसका केवल एक ही उत्तर है — धन का अभाव। भारत में जनहित-संबंधी सेवाओं पर जितना धन व्यय होता है वह अत्यधिक न्यून है और सभ्य स्तर के बराबर नही है। राष्ट्रनिर्माणकारी विभागों के हाथ में न्यून साधन होने से कोई विशेष प्रगति की आशा नही की जा सकती। ऐसा कहा जाता है कि "राजकीय आय ही राज्य है।" हर चीज इसी पर निर्भर करती है। भारतीय अर्थशास्त्रियो में सबसे प्राचीन कौटिल्य ने २००० वर्ष से अधिक समय पूर्व लिखते हुए कहा है कि "प्रत्येक उपक्रम का प्रारम्भ अर्थकोष है।"[1]

किसी देश के सार्वजनिक अर्थकोष का प्रभाव पूरे आर्थिक क्षेत्र पर पड़ता है। अब इसे केवल राजकीय आय की वृद्धि करने का साधारण साधन-मात्र नही माना जाता। कालबर्ट के शब्दों में अब यह केवल "बतख पकडने की वह कला नही मानी जाती कि जिससे वह कम से कम चिचयाय।" दूसरी ओर राजकीय अर्थव्यवस्था सामाजिक न्याय का एक शक्तिशाली अस्त्र माना जाता है। आधुनिक सरकारों द्वारा धनी और गरीब के बीच की खाई को जहां तक हो सके पाटने के लिये इसका उपयोग किया जाता है। अर्थकोष की निष्पक्ष प्रणाली धनवान लोगों पर कर लगायेगी और जो आय होगी उसे ऐसी सेवाओं पर व्यय करेगी जिनसे

1—Shirras; Findlay : Science of Public Finance, 1939, vol. I, P. 2.

मुख्यतः गरीबों का हित हो। कर लगाने की शक्ति वास्तव में आर्थिक क्रिया की व्यवस्था करने की शक्ति है; यह उसमे रुकावट डाल सकती है या उसको उत्तेजित कर सकती है। कर का प्रभाव केवल आय प्राप्त करने में ही नही होता, परन्तु उस समय भी होता है जब उसका व्यय होता है। किसी विशिष्ट कर-नीति से केवल द्रव्य-संबधी भार अथवा लाभ ही नही होते पर मानसिक भार व लाभ भी होते है जिनका प्रभाव कर देने वालों तथा समुदाय की भावनाओं, विवेक तथा आर्थिक व्यवहार पर भी पडता है। इस प्रकार आधुनिक काल में कर लगाने का दोहरा उद्देश्य है: (१) राज्य के लिए धन इकट्ठा करना, (२) सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करना। सार्वजनिक कोष के इन उद्देश्यो का आजकल अधिक महत्त्व हो गया है।

डाल्टन के अनुसार राजकीय अर्थव्यवस्था का सबसे अधिक मौलिक सिद्धात वह है, जिसे, उन्होंने "अधिकतम सामाजिक सुविधा का सिद्धांत"कहा है।[1] राजकीय अर्थ-व्यवस्था की क्रियाओ का प्रभाव क्रय-शक्ति हस्तातरणो की मालाओ पर पडता है। कर सरकार की क्रय-शक्ति का हस्तातरण करता है, जो बाद में व्यक्तियों के पास पहुच जाती है। सरकार उसी का भुगतान ठेकेदारो या कर्मचारियो को कर देती है। इन सभी हस्तातरणो का उद्देश्य "अधिकतम सामाजिक सुविधा" की प्राप्ति है। डाल्टन के अनुसार 'सामाजिक सुविधा' की कसौटी समाज के सरक्षण से तथा उपभोग व उत्पादन दोनो के सुधार से बनती है।

एक अर्थशास्त्री के लिये, जो मुख्यतः मानव-कल्याण की उन्नति से संबंधित है; वास्तव मे राजकीय अर्थ-व्यवस्था के अध्ययन का महत्त्व बहुत बडा है।

२. राजकीय अर्थ-व्यवस्था क्या है ? (What is Public Finance ?) राजकीय अर्थ-व्यवस्था के विज्ञान का सही अर्थ हम क्या समझते है तथा इसका क्षेत्र और विषय क्या है ? इस अर्थ-व्यवस्था मे हम इस बात का अध्ययन करते है कि सरकार अपनी आय कैसे प्राप्त करती है और वह उसको किस प्रकार खर्च करती है ? आर्मिटेज स्मिथ के शब्दों में "राजकीय व्यय और आय के स्वभाव व सिद्धातों की जांच को राजकीय अर्थव्यवस्था कहा जाता है।"[2]

किन्तु राजकीय अर्थ-व्यवस्था का विज्ञान, जैसा कि आजकल समझा जाता है, केवल राजकीय व्यय व राजकीय आय से ही संबंधित नही है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमे आर्थिक प्रशासन अर्थात् आय-व्ययक (Budget) प्रस्तुत करना, लेखापरीक्षण (Auditing) आदि भी सम्मिलित है। यह व्याख्या सत्य के निकटतर है कि "राजकीय अर्थ-व्यवस्था, लोक अथवा राजकीय कार्यों के संचालन के लिये आवश्यक साधनों की व्यवस्था, संरक्षण व वितरण से संबंध रखती है।"

बेस्टेबेल (Bastable) के शब्दों में, "सार्वजनिक अर्थकोष राष्ट्र के राजकीय अधि-

1. Dalton, Hugh : Principles of Public Finance, 1943, PP. 10—11
2. Armitage Smith : Principles and Methods of Taxation, 1935, p. 14.

कारियों के आय-व्यय , उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा आर्थिक प्रशासन व नियंत्रण से संबंध रखता है ।"[1]

अस्तु, व्यापक दृष्टि से राजकीय अर्थ-व्यवस्था विज्ञान के अध्ययन को निम्नलिखित मुख्य भागो मे विभाजित किया जा सकता है :—

(क) राजकीय व्यय का वर्गीकरण तथा उसके सिद्धात;

(ख) राजकीय आय प्राप्त करने की प्रणालिया तथा कर लगाने के सिद्धात;

(ग) वैत्तिक प्रशासन—जिसमे बजट का प्रस्तुत करना, स्वीकृति, जाच आदि शामिल है;

(घ) राजकीय ऋण—राजकीय ऋण लेने के साधनो व सिद्धातो का अध्ययन ।

३. राजकीय एवं निजी अर्थ-व्यवस्था का अंतर (Distinction between Public Finance and Private Finance)[2]—राजकीय अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन करने के पूर्व इसका अध्ययन कर लेना उचित होगा कि राजकीय अर्थ-व्यवस्था एव निजी अर्थ-व्यवस्था मे क्या अन्तर है। इससे हमको यह समझने में आसानी होगी कि लोक प्राधिकार के प्रति सरकार के कार्य करने के ढग एक व्यक्ति के ढगो से कितने पृथक् है।

१. **आय-व्यय का संयोजन**—(Adjustment of Income and Expenditure)—यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि "उतना पांव पसारिये जितनी चादर होय।" लोगो को प्रायः यही उपदेश दिया जाता है, किन्तु सरकार पहले चादर की लम्बाई चौडाई निश्चित करती है और उसके बाद उसके लिये आवश्यक कपडे का प्रबन्ध करती है। दूसरे शब्दों मे एक व्यक्ति को अपनी आय की सीमा के अन्दर रहना अर्थात् आय के अनुसार व्यय करना आवश्यक होता है। इसके विपरीत सरकार पहले व्यय का अनुमान लगाती है, उसके पश्चात् उतना धन प्राप्त करने के उपाय एव मार्ग निकालती है।

परन्तु ऐसा सदैव सत्य नही होता। कभी-कभी व्यक्ति भी पहले यह निश्चित करता है कि उसे कितना देना या व्यय करना है तथा उसके बाद उतना धन कमाने का प्रयास करता है। व्यक्ति को भी अपने आय-व्यय मे सन्तुलन रखने की चेष्टा करनी चाहिए । इस प्रकार यह कथन सदैव सही नही है कि व्यक्ति उतना ही पाव पसारता है जितनी लम्बी उसकी चादर होती है। कभी-कभी वह अपनी चादर का माप जानता है और किसी न किसी तरह से उसके लिये कपडा प्राप्त करता है। इसी प्रकार कभी-कभी सरकारें भी अपनी आय के अनुसार व्यय का समन्वय करने में व्यक्ति के समान कार्य करती है। जब सरकारें आधिक्य आय का अनुभव करती है, तब वे कुछ इच्छित दिशाओं मे व्यय में वृद्धि करने का निर्णय कर सकती है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व पंजाब सरकार के पास बराबर आधिक्य आय हुई और उसने कृषि कल्याण कोष, विशेष विकास कोष

1. Lutz, Harley Leist : Public Finance, 1936, p. 3.
2. For a fuller discussion see Findlay Shirras : Principles of Public Finance, 1936, Vol. 1, Ch. IV.

आदि अनेक ऐसे कोष बनाये। दूसरी ओर जबकि राजकीय आय में कमी होती है तब सरकारें छंटनी की नीति के द्वारा अपने व्यय में उतनी ही कमी करती है।

परन्तु इस पर भी हम यह कह सकते है कि सरकार और व्यक्ति के अर्थ-व्यवस्था के तरीकों में वास्तविक अन्तर होता है। साधारणतः व्यक्ति अपनी आय जानता है और तदनुसार अपने व्यय की योजनाए बनाना उसके लिए आवश्यक होता है। इसके विपरीत सरकारें प्रथमतः विभिन्न विभागों से व्यय का अनुमान मांगती है, कुल व्यय निश्चित करती है और उसके बाद तदनुसार कर लगाती है।

(२) **समय की अवधि** (Period of Time)--राजकीय अधिकारियों के लिए, आयव्ययक के लिये समय की अवधि एक वर्ष होती है। परन्तु व्यक्ति उस अवधि को कोई विशेष महत्व नही देता जिसमे सूर्य के चारो ओर पृथ्वी एक चक्र लगाती है। उसे किसी निश्चित तारीख को या निश्चित अवधि के अन्दर अपना आय-व्ययक सतुलित करने की आवश्यकता नही होती। वह आय उपार्जित करता है और व्यय करता रहता है। थोडे से ही ऐसे परिवार होगे, जिनके मुखिया अपना वार्षिक हिसाब-किताब रखते हो।

(३) **व्यक्ति कोई आन्तरिक ऋण नहीं ले सकता**--(No Internal Borrowing for an Individual)--सरकार तथा व्यक्ति के अपने साधनों मे भी अन्तर होता है। जब कठिनाई उपस्थित होती है तो सरकार देश व विदेशों से ऋण ले सकती है अर्थात् वह आन्तरिक या बाह्य ऋण ले सकती है; लेकिन व्यक्ति केवल बाह्य ऋण ही ले सकता है. आन्तरिक नही।

(४) **सरकार के लिए मुद्रा-प्रसार--एक विशेष सुविधा** (Inflation, a Peculiar Privilege of the Government)--सरकार के लिये आय का एक दूसरा स्रोत भी खुला रहता है। वह मुद्रण-यन्त्र का आश्रय ले सकती है। युद्ध में लिप्त सभी सरकारो ने, कम या अधिक, युद्ध के भारी व्यय की पूर्ति के लिए नोट छापे थे। ब्रिटिश तथा अमरीकी सरकारो से अधिक नोट भारत सरकार ने छापे। सन् १९१४-१९१८ के युद्ध मे जर्मनी ने तो नोटो के अत्यधिक प्रसार से अपने को नष्ट ही कर लिया। जब सरकारें यह अनुभव करती है कि राष्ट्र की कर लगाने की सामर्थ्य पर अधिक भार हो गया है और जनता का विश्वास समाप्त हो रहा है तब वे इस "गुप्त शक्ति" का प्रयोग कर सकती है और इस जादू के डंडे को चला कर रुपया बना सकती है। क्या व्यक्ति भी ऐसा कर सकता है। कदापि नही। हा, जेल जाने को तैयार हो जाने पर ही वह ऐसा कर सकता है।

(५) **सीमांत उपयोगिताओं का समीकरण** (Equalising Marginal Utilities)--हम यह देख चुके है कि सम-सीमान्त उपयोगिता के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यय को ऐसा व्यवस्थित करना चाहता है कि वह धन की प्रत्येक इकाई से वही सीमात उपयोगिता पाता है, जैसा कि वह खर्च करता है। इस उद्देश्य से वह

सतर्कतापूर्वक विभिन्न वस्तुओं के खरीदने की उपयोगिताओं पर विचार कर लेता है। किन्तु जब सरकार धन को व्यय करती है तो उसके लिये इस प्रकार सतर्कतापूर्वक विचार करना सम्भव नही है; क्योंकि उपयोगिता निराकार है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राजकीय व्यय अविवेकपूर्ण होता है। अर्थ-मंत्री पूरे समाज के लिये राजकीय व्यय से वैसी ही सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने का प्रयास करता है। परन्तु निराकार तत्त्व सार्वजनिक अर्थकोष में व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्ध से कम प्रमुख है।

(६) **राजकीय अर्थव्यवस्था में सोच-विचार कर भारी परिवर्तन करना आसान है** (Deliberate and Big Changes in Public Finance are Easier)—किसी व्यक्ति के लिये आय अथवा व्यय मे बड़े परिवर्तन लाना आसान नही होता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय को बढ़ाना या दुगुना करना चाहता है। लेकिन ऐसा कितने लोग कर सकते है? इसी प्रकार एक व्यक्ति रहन-सहन के एक निश्चित स्तर का आदी हो जाता है जिसमे आसानी से परिवर्तन व समयोजन नही हो पाता। लेकिन सरकार राजकीय आय व व्यय की योजना मे अच्छी तरह बडे व मौलिक परिवर्तन कर सकने मे समर्थ है। यदि एक समाजवादी दल के हाथ मे सत्ता आ जाए तो वह निश्चित ही राजकीय आय व व्यय दोनो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकता है। निजी अर्थ-प्रबन्ध मे इस लोच का अभाव है।

(७) **भविष्य के लिये व्यवस्था** (Provision for the Future)—भविष्य के लिये व्यवस्था करने के मामले मे सरकार बहुत अधिक उदार और दूरदर्शी होती है। राजनीतिज्ञ भावी पीढियों के लिये एक प्रन्यासी (Trustee) होता है। जंगलात सबंधी, निर्माण कार्य व सामाजिक सुरक्षा आदि से सबंधित योजनाओं पर सरकार भारी रकमें खर्च करती है, जिनके बदले मे उसको कुछ धन का लाभ नही होता, यदि होता भी है तो पीढ़ियो बाद। इसके विपरीत व्यक्ति शीघ्र लाभ प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। मानवजीवन इतना अनिश्चित होता है कि कुछ व्यक्ति भविष्य की विशेष चिन्ता नही करते। परन्तु समाज व्यक्तियो के आवागमन के बाद भी जीवित है। वह हमेशा स्थायी रहता है। इसलिये राज्य भविष्य के लिये ठोस व्यवस्था करने को बाध्य होते है।

(८) **आधिक्य आय-व्ययक व्यक्ति के लिए एक गुण है परन्तु राज्य के लिए नहीं** (Surplus Budgeting is a Virtue for an Individual but not for the State)—मितव्ययी व्यक्ति को अपनी आय से कम व्यय करना ही चाहिए। उसका आधिक्य आय-व्ययक होना चाहिए। व्यक्ति के लिये यह स्वाभाविक है, किन्तु राज्य के लिये नही। घाटे के बजट निस्संदेह बुरे है और अस्थिर राजकीय अर्थ-व्यवस्था का संकेत करते है। परन्तु कुछ भी हो, आधिक्य आय-व्ययक होना वास्तव में कोई गुण नहीं है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि करों का स्तर अनावश्यक रूप से ऊंचा रखा जाय और राजकीय व्यय अनुचित रूप से नीचा रखा जाये। कल्याण-संबंधी या राष्ट्र-

निर्माण-संबंधी जैसे कुछ विभागों को भूखा रहना पड़ सकता है। आधिक्य आय-व्ययक को साधारण बना देना अच्छी अर्थ-व्यवस्था नही है। हमें आधिक्य आय को देवता नहीं बना देना चाहिए। यदि प्रतिवर्ष बड़ी तादाद में आधिक्य आय हो तो करदाताओ को कुछ छूट देना या सामाजिक व्यय के स्तर में वृद्धि करना अधिक उत्तम होगा।

(९) **व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्ध रहस्य में छिपा है** (Individual Finance is Shrouded in Mystery)—व्यक्तिगत अर्थप्रबन्ध गुप्त होता है। प्रत्येक धनवान व्यक्ति दूसरों की बुरी नजर बचाता है। वैयक्तिक साख इस बात पर आश्रित नही होती कि उसके पास कितना धन है वरन् वह साख इस पर निर्भर रहती है कि उसे कितना धनवान माना जाता है। वह लोगों को अनुमान लगाने देता है। वह अपनी आर्थिक स्थिति के विषय मे लोगों के सामने अस्पष्ट तथा बढा हुआ चित्र रखने का प्रयत्न करता है। किन्तु इसके विपरीत राजकीय अर्थ-व्यवस्था का सार, प्रचार है। आय-व्ययक प्रकाशित होते है और उनका अधिकतम प्रचार किया जाता है। प्रचार राजकीय साख को कमजोर नही बल्कि शक्तिशाली बनाता है।

यही वे तथ्य है, जिनके द्वारा राजकीय तथा वैयक्तिक अर्थ-प्रबन्ध के बीच का अन्तर जाना जाता है और जो वैयक्तिक अर्थ-प्रबन्ध से राजकीय अर्थ-प्रबन्ध को भिन्न रखते है।

४. राजकीय व्यय (Public Expenditure)—सार्वजनिक अर्थकोष के राजकीय आय व राजकीय व्यय नामक जो दो अग है, उनमें से पहले हम राजकीय व्यय का अध्ययन करेगे। १९वी शताब्दी मे सार्वजनिक अर्थकोष के लेखको द्वारा सार्वजनिक अर्थकोष के इस विभाग पर कम ध्यान दिया गया। केवल राजकीय आय पर ही अधिकाधिक ध्यान दिया गया। केवल वर्तमान शताब्दी मे ही यह अनुभव किया गया कि राजकीय व्यय जनहित मे उससे कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। सभवत: पहले राजकीय व्यय की उपेक्षा किये जाने का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय राजकीय व्यय की रकम बहुत थोड़ी थी, क्योकि सरकारी कार्य के क्षेत्र सीमित थे। किन्तु अब क्योकि सरकारी कार्य के क्षेत्र बहुत बढ़ गये है, इसलिये राजकीय व्यय भी बहुत अधिक बढ गया है। अतएव अर्थशास्त्रीगण सार्वजनिक अर्थकोष के इस अग पर भी उचित ध्यान देने लगे है।

५. राजकीय व्यय में वृद्धि के कारण (Causes of Increase in Public Expenditure)—हमें यहां राजकीय व्यय में इतनी अधिक वृद्धि होने के विभिन्न कारणों का भी अध्ययन कर लेना चाहिए। मुख्य कारण निम्नलिखित है :—

(१) **क्षेत्र व जनसंख्या में वृद्धि** (Increase in Area and Population)—सर्वप्रथम राजकीय व्यय में वृद्धि का कारण यह है कि राष्ट्रों की सीमा में व्यापक प्रसार हो गया है। "अराजक क्षेत्रों" में भी संगठित शासन होने लगा है। साथ-साथ जहां क्षेत्र में वृद्धि नही हुई, वहां जनसंख्या काफी मात्रा में बढ़ गई। इसलिये सरकारों को उन जगहों के करोड़ों अतिरिक्त लोगों की आवश्यकताओं का प्रबन्ध करना

पड़ता है, जो कि विस्तृत क्षेत्रों में फैले हुए है। कहा जाता है कि सरकार का काम क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) अथवा प्रति व्यक्ति के व्यय की वृद्धि के सिद्धात पर चलता है। जितने अधिक व्यक्तियों की सेवा की जाती है उतना ही प्रति व्यक्ति खर्च अधिक होता है।

(२) **उच्च कीमत-स्तर** (The Higher Price Level)—राजकीय व्यय के अधिकाधिक बढते जाने का दूसरा कारण उच्चतर कीमत-स्तर है। जिन्होने भारत के पुराने 'अच्छे दिन' देखे है या उनके विषय में सुना है; उनका कथन है कि एक समय वह था, जब घी रुपये का चार सेर बिकता था, जबकि आज उसका भाव रुपये में चार छटाक भी नही है। अन्य वस्तुओ की कीमतों में भी इसी प्रकार वृद्धि हुई है। अतः व्यक्ति के समान सरकारो को भी इन वस्तुओ और सेवाओ की खरीद के लिये अधिक धन का प्रबन्ध करना पडा। फलस्वरूप राजकीय व्यय का स्तर ऊचा होना ही चाहिए।

(३) **राष्ट्रीय धन व रहन-सहन के उच्चतर स्तर में वृद्धि** (Increase in National Wealth & the Higher Standard of Living)—हर देश मे कृषि, व्यापार व उद्योग मे निरन्तर विकास हुआ है, यद्यपि भारत जैसे कुछ देशों मे इसकी गति दुःखद रूप से धीमी रही है। प्रति व्यक्ति की आय मे काफी वृद्धि हुई है और उसके फलस्वरूप जीवन-स्तर मे सुधार हुआ है। साथ-साथ सार्वजनिक आगम (Public Revenue) तथा सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure) मे भी विकास हुआ है; धनी जनता, धनी राष्ट्र।

(४) **युद्ध व युद्ध-निवारण** (War and Prevention of War)—हम हानि उठा कर यह जान चुके है कि आधुनिक युद्ध कितना खर्चीला है। गत युद्ध में इंग्लैड १५० लाख पौड दैनिक खर्च कर रहा था। आज, जबकि युद्ध चल भी नही रहा है, तब भी उसकी तैयारी या उसे रोकने के उपायों पर भारी रकम खर्च की जा रही है। तृतीय युद्ध की सम्भावना को अस्वीकार नही किया जाता और यदि यह होता है, तो यह बड़ा खर्चीला होगा। सार्वजनिक व्यय को बढाने के लिये जिम्मेदार कारणों में से युद्ध मुख्य रहा है।

(५) **दोषपूर्ण अर्थ-प्रबन्ध व नागरिक प्रशासन** (Defective Financial and Civil Administration)—नागरिक प्रशासन के कारण सार्वजनिक व्यय में कोई कम वृद्धि नही हुई। सरकारी संस्थाओं का दोहराव तथा उनका अनावश्यक गुणक हो जाना साधारण बात है। साधनों एव कार्यो के दोषपूर्ण निर्धारण से भी अधिक व्यय होता है। सार्वजनिक व्यय पर ढीला नियंत्रण होने से भी व्यय के अंक अनावश्यक रूप में ऊंचे हो जाते है।

(६) **प्रजातंत्र का भार** (Incidence of Democracy)—प्रजातंत्र राज्य में कई राजनीतिक दल होते है और उनमें से प्रत्येक जनता का समर्थन प्राप्त करने को

उत्सुक रहता है। इन दलो के समर्थक राजकीय कोष (Public Fund) से लाभ व सुविधाओं के लिये निरन्तर जोर देते रहते है। देश के हर कोने तथा हर वर्ग की ओर से अधिकाधिक सुविधा, शिक्षा, चिकित्सा-सहायता, सडक आदि के लिये आवाज उठाई जाती है। मंत्रियों से जनता के लिये जिले-जिले मे कालेज आदि खोलने की माग की जाती है। अस्तु, प्रजातंत्री शक्तियों के द्वारा सरकारों पर कार्यों का बोझ बढता जाता है। "सार्वजनिक कार्यों मे वृद्धि" के वैगनर (Wagner) के सिद्धांत के अनुसार सार्वजनिक कार्यों मे गहन व विस्तृत दोनो रूपो में वृद्धि हुई है। पुराने कार्यो को और अच्छे ढग से सम्पादित किया जा रहा है तथा अनेक नये कार्य हाथ मे लिये जा रहे है। सन् १८६२ मे डिजरेली (Disraeli) ने कहा था, "व्यय नीति पर निर्भर करता है"। इसी प्रकार लोई (Lowe) कहते है, "अर्थ-प्रबन्ध सार्वजनिक नीति की कठपुतली है।" आधुनिक युग में सार्वजनिक नीति राजकीय कार्य के क्षेत्र का प्रसार करना है।

अनेक सेवाओ मे सरकारी सस्थाओ को अधिक क्षमतापूर्ण तथा अवलम्बन के योग्य माना जाता है और निजी सस्थाओ की अपेक्षा उन पर अधिक विश्वास किया जाता है। सरकार ने सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, शाति, व्यवस्था, पुस्तकालय, अजायबघर, कला-केन्द्र, उद्यान आदि की योजनाओं जैसे अनेक "अविभाज्य" (indivisible) लाभों की अधिकाधिक व्यवस्था की है। इन सब कार्यो से सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होना अनिवार्य है।

अल्फ्रेड ब्रिकलर (Alfred Brichler) अपने ग्रथ "पब्लिक फिनास" में कहते है, "कुछ लोगो को सार्वजनिक व्यय मे संबधित वृद्धि एक सकट के समान प्रतीत होती है। कुछ लोग इससे प्रभावित ही नही होते। राष्ट्रीय आय के किसी भी निश्चित प्रतिशत को सरकार के खर्च की सीमा नही कहा जा सकता; क्योकि ऐसी सीमा सबधित परिस्थितियों पर निर्भर होती है। उचित व्यय समाज की आवश्यकताओं व इच्छाओं, सरकारी व्यय व उसके लिए आगम के प्रभावो, कर-भार सहन करने की जनता की इच्छा, कर के वर्तमान बोझ, जनसख्या व समुदाय के साधन व आय के वितरण, आर्थिक विकास के स्तर तथा अन्य विभिन्न बातो पर निर्भर करता है। वास्तविक प्रश्न है विशिष्ट समय पर किसी विशिष्ट सरकार का विशिष्ट व्यय।

६. सार्वजनिक व्यय के नियम (Canons of Public Expenditure)–जिस प्रकार कर लगाने के सुविदित नियम है, ठीक उसी प्रकार कुछ ऐसे नियमो को बना लेना संभव है, जिनके अनुरूप मितव्ययी सार्वजनिक व्यय हो। ये निम्न-लिखित है :—

(१) **लाभ का नियम** (Canon of Benefit)—सभी सार्वजनिक व्यय के लिये "अधिकतम सामाजिक सुविधा"के मूल आधार की पूर्ति करना आवश्यक है। सरकार द्वारा खर्च किए गए हर रुपये का उद्देश्य समाज को अधिकतम सुविधा पहुंचाना होना चाहिये। इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि सार्वजनिक कोष का प्रयोग समाज के

किसी गुट या वर्ग-विशेष के हित में न हो। हमारा ध्येय समाज का सामान्य कल्याण है। सरकार जनता की भलाई के लिये होती है। इसलिये पूरे समाज के हित में सार्वजनिक व्यय होना न्यायपूर्ण है।

(२) **मितव्ययिता का नियम** (Canon of Economy)—यद्यपि सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य सामाजिक कल्याण को अधिकतम करना है तथापि इससे सरकार के अपने व्यय मे अधिकतम मितव्ययिता करने मे रुकावट नही आती । मितव्ययिता का अर्थ कृपणता (Niggardliness) नही है। इसका अर्थ केवल अपव्यय और क्षय को रोकना है। सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक हित के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है, परन्तु यह हानिकारक भी हो सकता है। कोलेरिज (Coleridge) के शब्दों में "सूर्य बागीचा, चरागाह तथा खेत मे पानी बरसाने के लिए नदी, दलदल और समुद्र से तरी को सोख सकता है; परन्तु इसी प्रकार वह स्थिर प्रवाहहीन तालाब, एकत्रित कीचड तथा अलाभकर बालू मे नमी पहुचाने के लिए उसे खेतों से खीच सकता है।" इसी प्रकार यदि करदाताओ से संग्रहीत आगम का व्यय लापरवाही से किया जाता है तो यह अमितव्ययितापूर्ण होगा।

राज्य के आगम का विकास करने पर भी सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। क्योंकि यदि विभागी आय मे वृद्धि हो जाती है तो विभागो को थोड़ा अनुदान दिया जा सकता है। इसका अर्थ, खर्च मे मितव्ययिता होगा। मितव्ययिता की रीति को सतुष्ट करने के लिए खर्च के दोहराव से बचना आवश्यक होगा।

सार्वजनिक व्यय का बचत पर विपरीत प्रभाव नही पड़ना चाहिए। इसको जनता को अधिक खर्च करने के लिए बाध्य नही करना चाहिए और इसको, जनता की बचत की क्षमता को, नष्ट भी नही करना चाहिए। यदि राजकीय कार्यविधि व्यक्ति की बचत करने की इच्छा या शक्ति को नष्ट करती है, तो यह मितव्ययिता नियम के विपरीत होगा।

(३) **स्वीकृति नियम** (The Canon of Sanction)—सार्वजनिक व्यय का एक अन्य मुख्य सिद्धान्त यह है कि वास्तविक रूप में इस व्यय को करने के पूर्व इसको ठीक अधिकारी द्वारा स्वीकृत हो जाना चाहिए। अस्वीकृत खर्च करने से अपव्यय व अति व्यय होगा। इसका अर्थ यह भी है कि किसी भी रकम को उसी उद्देश्य में खर्च किया जाना चाहिए जिसके लिए यह स्वीकृत हुई हो। स्वीकृति नियम से सम्बन्धित एक दूसरा नियम लेखा-परीक्षण (Auditing) का है। सार्वजनिक व्यय के लिए उसकी पूर्व स्वीकृति ही अनिवार्य नही है बल्कि व्यय के बाद उसकी परीक्षा भी उतनी ही आवश्यक है। सभी सार्वजनिक खातों के विषय में प्रति वर्ष इस बात की जांच होनी चाहिए कि रकमों को अनुचित ढंग से तो खर्च नही किया गया और विभिन्न अधिकारियों ने अपने अधिकारों की सीमा का उल्लंघन तो नही किया।

(४) **आधिक्य नियम** (The Canon of Surplus)—वैयक्तिक अर्थ-प्रबंध

के समान ही सार्वजनिक अर्थ-कोष की यह सुदृढ प्रणाली है कि बजट को सतुलित रखने व आय-व्यय में सामजस्य लाने का प्रयास करते रहना चाहिए। प्रतिवर्ष बडे परिमाण में आधिक्य प्राप्त करना आवश्यक नही है। ऐसा भी आय-व्ययक अच्छा नही होगा। परन्तु निरन्तर घाटे से बचने की जरूरत है। यदि किसी देश को अपनी अर्थ-साख रखना है और स्थायित्व को नष्ट नही होने देना है, तो उसको अपने आय-व्ययक में उचित सतुलन रखना ही चाहिए। घाटे के आय-व्ययकों की लम्बी माला जनता के विश्वास को हिला देगी और देश की साख को अन्य देशो के सामने गिरा देगी।

(५) **लोच नियम** (The Canon of Elasticity)–सार्वजनिक व्यय का एक और सिद्धात यह भी है कि इसको उचित रूप में लोचदार होना चाहिए। सार्वजनिक अधिकारियों के लिए आवश्यकता व परिस्थितियों के अनुसार व्यय मे भिन्नता लाना सम्भव होना चाहिए। व्यय का कठोर स्तर आपत्तिकाल मे कष्टदायक हो सकता है। ऊपर की दिशा में परिवर्तन करना कठिन नही है। व्यय के स्तर में वृद्धि कर देना आसान है। किंतु लचीलेपन की आवश्यकता व्यय को घटाने की दिशा में सबसे अधिक होती है। मितव्ययिता की कुल्हाड़ी का प्रयोग करना वेदनाप्रद तरीका है। व्यापक स्तर में छटनी से गम्भीर सामाजिक असतोष उत्पन्न होता है। इसलिये यदि सार्वजनिक व्यय को बढाना है तो उसे धीरे-धीरे बढाना बहुत आवश्यक है। थोडे समय के लिए यदि समृद्धि आ जाय तो उसके साथ ही दीर्घकालीन व्यय का निर्धारण न हो जाना चाहिये। आगम मे जब गिरावट आ रही हो तब यदि आर्थिक पतन से बचना है तो उचित मात्रा मे लचीलापन होना अत्यन्त आवश्यक है।

(६) **उत्पादन व वितरण पर बुरा प्रभाव न हो** (No Adverse Influence on Production or Distribution)—इस पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि धन के उत्पादन व वितरण पर सार्वजनिक व्यय का अच्छा प्रभाव बना रहे। उसे उत्पादन-सम्बन्धी कार्य को इतना प्रोत्साहन देना चाहिये कि देश का उत्पादनस्तर बढ़ जाय। और इससे जनता के जीवन के स्तर को ऊंचा करना भी सम्भव हो सकता है। लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति केवल तभी सम्भव है, जबकि धन का समान वितरण हो। यदि नव उत्पादित धन केवल उनके ही पास जाता ह, जिनके पास पहले से ही धन है तो इस उद्देश्य की पूर्ति नही होती। सार्वजनिक व्यय का लक्ष्य धन के वितरण की असमानता को कम करना होना चाहिये।

७. राजकीय व्यय का वर्गीकरण (Classification of Public Expenditure)[१]–ऐसे कई आधार है जिन पर राजकीय व्यय का वर्गीकरण हो सकता है। हम आगे कुछ प्रसिद्ध वर्गीकरण दे रहे है :—

१. For a fuller discussion see Findlay Shirras, Principles of Public Finance, 1936, Vol. 1, Ch. V.

सार्वजनिक अधिकारियो के प्रादेशिक कार्यो के आधार पर हम एक वर्गीकरण कर सकते है। इस आधार पर सार्वजनिक व्यय के निम्नलिखित वर्ग किये जा सकते है :—

(१) **केन्द्रीय सरकार से सम्बन्धित केन्द्रीय या राष्ट्रीय व्यय** (Central or National Expenditure) जैसे भारत सरकार का व्यय।

(२) **स्थानीय व्यय** (Local Expenditure)—स्थानीय संस्थाओ के व्यय जैसे प्रमण्डल (Corporation), नगरपालिकाए (Municipalities) तथा जिला बोर्ड समितिया (District Boards) और

(३) **अर्धराष्ट्रीय व्यय** (Semi-National Expenditure)—इस वर्ग में भारत के राज्य सरकारों का व्यय आयेगा।

ऐडम्स ने सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार विभाजित किया है :—

(१) **संरक्षण व्यय** (Protective Expenditure)—जैसे सेना, पुलिस आदि पर होने वाला व्यय।

(२) **व्यावसायिक व्यय** (Commercial Expenditure)—व्यवसाय के नियत्रण, नियमन, प्रोत्साहन तथा सुविधा आदि देने तथा प्रत्यक्ष राज्य द्वारा व्यावसायिक उद्यम किया जाने वाला व्यय।

(३) **विकास-सम्बन्धी व्यय** (Development Expenditure)—शिक्षा स्वास्थ्य, गृह-निर्माण, निर्माण कार्य, अंक सकलन आदि सम्बन्धी व्यय।

८. उत्पादन पर सार्वजनिक व्यय के प्रभाव (Effects of Public Expenditure on Production) कुछ लोगो मे यह विचार-धारा पाई जाती है कि सार्वजनिक व्यय राष्ट्रीय उत्पादन मे कोई भी योगदान नही देता। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सार्वजनिक व्यय मे जितना धन खर्च होता है, वह राष्ट्रीय आय से घट जाता है। यह गलत विश्वास है। स सम्बन्ध मे भ्रांति यह है कि ऐसा विश्वास किया जाता है कि सरकार सार्वजनिक व्यय के लिए जो रुपया लेती है, वह समाज से गायब हो जाता है। किन्तु रुपया वही रहता है। हा, वह अपने मालिक के द्वारा खर्च किये जाने के बदले सरकार द्वारा किया जाता है। समाज की उत्पादन-शक्ति बढाने में इसका बहुत बड़ा महत्व है।

लेकिन एक दूसरे प्रकार का सार्वजनिक व्यय भी है, जो कुछ लोगों के अनुसार निश्चित रूप में अनुत्पादक है। उनके इस विचार के निश्चित आधार है। यह व्यय युद्ध की तैयारी या उसके संचालन मे होता है। उत्पादक कार्यों से सैनिकों व नाविकों को हटाकर लड़ाई पर बुला लिया जाता है। कोयला, तेल, रबड़ आदि चीजें, जिनको उत्पादन में प्रयुक्त होना चाहिए, युद्ध मे नष्ट कर दी जाती है। इस प्रकार इस विश्वास मे सत्यता है कि युद्ध उत्पादक के बजाय विध्वंसक है।

यह विश्वास पूर्ण रूप से सही नही है। सैनिक व्यय, यदि अधिक न किया जाय, तो

वह समाज में व्यवस्थित आर्थिक जीवन बना कर उत्पादन में अप्रत्यक्ष सहायक होता है। वस्तुतः वह अधिक होता है और उसके एक बड़े भाग को अनुत्पादक कहा जा सकता है। साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पडेगा कि अल्पकालीन और सफल युद्ध कुछ आर्थिक सुविधाओं को पाकर राष्ट्र का बहुत आर्थिक लाभ कर सकता है। इसी प्रकार आक्रमण को रोक कर सशस्त्र सेना देश को आर्थिक हानि से बचा सकती है। इसलिये सैनिक व्यय को अप्रत्यक्ष या व्यापक रूप में, उत्पादक माना जा सकता है।

सार्वजनिक व्यय का अधिकांश, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, उत्पादक होता है। प्रत्येक देश में सरकारे व्यापारिक उद्योगों का सचालन करती है, जो प्रत्यक्ष रूप मे उत्पादक है। भारत सरकार ने नहरो और रेलों के रूप में ठोस और उत्पादक संपत्ति बना ली है। राज्यों के उद्योग उत्पादन में प्रत्यक्ष योगदान देते है। इसी प्रकार भूमि का सुधार करके उसे कृषि-योग्य बनाने व जगल उगाने की योजनायें भी प्रत्यक्ष रूप मे उत्पादक है।

कुछ भी हो, सार्वजनिक व्यय का बडा भाग केवल परोक्ष रूप मे उत्पादक होता है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित पर सार्वजनिक व्यय के प्रभावो के विषय मे विचार किया जा सकता है :--

(क) कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति;

(ख) कार्य करने और बचत करने की इच्छा;

(ग) भिन्न-भिन्न जगहो और नियोजनो मे साधनो का स्थानान्तरण।

कार्य करने व बचत करने की शक्ति (Power to Work & Save)--जहा तक इसका सबध है, यह ध्यान में रखने की बात है कि आधुनिक सरकारो द्वारा किया जाने वाला सामाजिक दृष्टि से वाछनीय व्यय निःसन्देह समाज की उत्पादक शक्ति को बढ़ाता है और इसके परिणामस्वरूप बचत करने की शक्ति को भी बढ़ाता है। इस प्रकार के व्यय में सूचना, सपर्क व यातायात के साधनो की व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य, वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान, मनुष्य, पशु व पौधों के रोगों पर नियंत्रण, सामाजिक बीमा (स्वास्थ्यबीमा, बेकारी बीमा, वृद्धावस्था मे पेशन) आदि सम्बन्धित व्यय सम्मिलित है।

कार्य करने व बचत करने की इच्छा (Will to Work & Save)--यह अधिकतर सार्वजनिक-व्यय व उसको सचालित करनेवाली नीति पर निर्भर करती है। यदि जनता को सार्वजनिक व्यय से भविष्य में होने वाले लाभ की आशा दिलाई जाय तो इससे जनता की काम करने व बचत करने की इच्छा नष्ट हो सकती है। सार्वजनिक व्यय में वृद्धावस्था में पेंशन देने, बेकारी व अस्वस्थता का बीमा और शिक्षा की व्यवस्था करने से जनता में भविष्य के प्रति उदासीनता आ जायगी और वह बचत करने की उपेक्षा करेगी। वर्तमान दशा में इसका विपरीत प्रभाव होगा। लोग कम काम करेंगे। किंतु यदि इस प्रकार के व्ययों को उचित सीमा में रखा जाय और यदि यह वास्तव में असहायों की

सहायता करें, तो काम करने व बचत करने में जो बाधा पडेगी, वह उपेक्षणीय रहेगी।

भिन्न-भिन्न जगहों और नियोजनों में साधनों का स्थानान्तरण (Diversion of Resources as between Employment & Localities)—व्यय का उत्पादन पर लाभदायक प्रभाव हो सकता है। सहायता व अनुदानो के ारा सरकार अपने साधनों का ऐसी मदों मे प्रयोग कर सकती है, जो अब तक उपेक्षित रहे हो। इस प्रकार वह नए उद्योगो की स्थापना कर सकती है। इसी प्रकार पिछडे हुए क्षेत्रो पर पये खर्च कर के सरकार देश के कुल उत्पादन को बढा सकती है। बुद्धिमानी से सचालित सार्वजनिक ऋण लेने की रीति से उन वर्गो को पूजी लगाने व बचत करने की प्रेरणा मिल सकती है, जो कि उत्पादन के लिए निश्चित रूप में लाभदायक है। साथ ही सरकार अपने साधनो का ऐसे मदों में प्रयोग कर सकती है, जिससे राष्ट्रीय धन की पर्याप्त वृद्धि हो सकती है।

अतत', हम इस परिणाम पर पहुचते है कि बुद्धिमानी से होने वाले सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर बहुत बडा प्रभाव पडता है। काम करने व बचत करने की च्छा बढ़ा कर यह परोक्ष रूप में उत्पादन में सहायता करता है। यह राज्य ारा उद्यमो के प्रत्यक्ष उत्पादन के अलावा होता है।

हम यहां यह चेतावनी भी दे देना चाहते है कि सार्वजनिक व्यय भी क्रमागत ह्रास नियम के अन्तर्गत है। यदि इसका प्रयोग निश्चित सीमाओ के बाहर किया जाता है तो इससे समाज की उत्पादन-शक्ति या इच्छित सामाजिक लाभ में तनिक भी वृद्धि न होगी।

९. राजकीय व्यय का वितरण पर प्रभाव (Effects of Public Expenditure on Distribution)—समाज में धन के वितरण पर राजकीय व्यय का बहुत अच्छा और बड़ा प्रभाव पड़ता है। यहां तक कि यह आय की असमानताओं को भी दूर कर सकता है। इस बात को सब जानते है कि राज्य-संस्थाओं द्वारा गरीबों को अमीरों से अधिक लाभ पहुंचता है। धनी व्यक्ति अपना संरक्षण स्वयं कर सकता है। वह अपनी शिक्षा तथा चिकित्सादि की व्यवस्था स्वयं कर सकता है। परन्तु एक निर्धन मनुष्य असहाय होता है। अस्तु, सार्वजनिक कार्यों से निर्धन ही अधिक लाभ प्राप्त करता है। सार्वजनिक व्यय इस सीमा तक धनी तथा निर्धन की खाई को पाटने का प्रबन्ध करता है और यही उसका लक्ष्य भी होता है।

कुछ निश्चित व्यय ऐसे है जिनसे गरीब का मुख्यत: हित होता है, जैसे गरीबी की सहायता, वृद्धावस्था मे पेंशन, बेकारी व अस्वस्थता की सहायता आदि। इन रीतियों से गरीबों को जो लाभ होता है, उसे उनकी आय मे योग कहा जा सकता है। जब कि हम यह जानते है कि धनियों पर कर लगाकर आगम प्राप्त किया जाता है, तब हमें इसी परिणाम पर पहुंचना होगा कि कुछ सीमा तक धन-वितरण की असमानताओं को कम कर दिया गया है।

किन्तु फिर भी सार्वजनिक व्यय व उसको संचालित करनेवाली नीति पर

बहुत कुछ निर्भर करता है। जिस प्रकार आनुपातिक, प्रगतिशील व प्रतिगामी कर होते हैं, ठीक उसी प्रकार राजकीय अनुदान भी आनुपातिक, प्रगतिशील, व प्रतिगामी हो सकते है। यदि वास्तव में सार्वजनिक व्यय द्वारा धन के वितरण को अधिक न्यायपूर्वक बनाना है तो उसे प्रगतिशील होना ही पड़ेगा। इसे (कर के रूप में भुगतान की क्षमता के अनुरूप ही) प्राप्ति की क्षमता के अनुकूल रहना ही होगा। कर में न्यूनतम त्याग के सिद्धांत के अनुकूल सार्वजनिक व्यय में अधिकतम लाभ का सिद्धात है। सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाना चाहिये कि उससे पूरे समाज को अधिकतम लाभ हो। यह मार्ग दर्शक सिद्धांत है। इस दृष्टि से हम यह देखते हैं कि ऋण-सम्बन्धी सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय प्रतिगामी होता है क्योंकि इससे धनी लोगों को अधिक आय होती है। वृद्धावस्था में सहायता (पेंशन) तथा सामाजिक बीमा आदि के लाभों का अनुदान प्रगतिशील है। यदि सरकार गरीबों द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन में सहायता देती है तो वह प्रगतिशील है अन्यथा प्रतिगामी।

हमें यहां वैयक्तिक आय पर सार्वजनिक व्यय की प्रतिक्रिया पर भी विचार कर लेना चाहिए। यदि राजकीय अनुदान कार्य करने व बचत करने की इच्छा को कम करता है, तो इससे लाभ पाने वालों की आय में कमी हो सकती है। यदि ऐसा है तो धन के वितरण की असमानताएं कम नही की गईं।

सारांश यह है कि आधुनिक युग में सार्वजनिक व्यय समाज म धन के वितरण में अधिकतर समता लाता है।

———

अध्याय ४६

राजकीय अर्थव्यवस्था (गत अ० से आगे)

(PUBLIC FINANCE—Contd.)

राजकीय आय (Public Revenue)

१. भूमिका—पिछले अध्याय में हमने राजकीय व्यय के सिद्धांतों पर विचार किया था। हमने देखा है कि हाल में, राजकीय व्यय मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। जहां इसके अन्य कारण है, वहाँ यह भी है कि सरकार के कार्यों मे भारी और विस्तार के साथ वृद्धि हुई है। इन कार्यो को भलीभाति सपन्न करने के लिए सरकार की आय समुचित होनी चाहिए।

अतएव, अब हम यहां राजकीय आय के साधनो और उन सिद्धांतों का अध्ययन करेगे जिनपर कर की सब से अच्छी प्रणाली आधारित है।

२. राजकीय आय का वर्गीकरण (Classification of Public Revenue) समय-समय पर राजकीय आय के विभिन्न वर्गीकरण किये गए है। एडम स्मिथ ने राजकीय आय को दो भागों में विभक्त किया है :—

(१) राजा की सपत्ति से प्राप्त तथा (२) लोगो की आय और सपत्ति से प्राप्त। स्पष्टतया यह वर्गीकरण समयानुकूल नही है, क्योकि राजा और राज के बीच पूर्ण अलगाव किया गया है। राजा को एक राजकुल-व्यय (Civil List) की उदार सूची मे सन्तुष्ट होना पडता है। आधुनिक राज्य अपनी अधिकाश आय करो द्वारा प्राप्त करता है।

एडम स्मिथ ने राजकीय आय का निम्न भाति वर्गीकरण किया है :—

(१) **प्रत्यक्ष आय** (Direct Revenue) राज्य की निजी आय अर्थात् सार्वजनिक कार्यो, सार्वजनिक उद्योग, ग्रेच्युटी, उपहार, जब्ती और हर्जानों से प्राप्त किया जाता है।

(२) **व्युत्पाश्रित आय** (Derivative Revenue)—यह आय लोगों की आय से प्राप्त की जाती है। इसे आयकर, फीस, असेसमेंट, जुर्माना और दंडों से प्राप्त किया जाता है।

(३) **प्रत्याशित आय** (Anticipatory Revenue)—इसमें भावी आय का अनुमान लगाया जाता है।

किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋणों से प्राप्त आय सामान्यतः सार्वजनिक आय का अंग नही मानी जाती। जैसा कि साधारणतया विदित है, सार्वजनिक आय में राज्य की आय सम्मिलित है, जो राज-भूमि-अधिकार, उद्योग, और करों आदि से प्राप्त होती है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि वर्गीकरण के प्रयत्नों में केवल सैद्धान्तिक महत्त्व होता है, व्यावहारिक महत्व बहुत थोड़ा या बिल्कुल नही होता। भारत में आय के साधनों का वर्गीकरण केन्द्रीय, प्रांतीय और स्थानीय किया गया है। केन्द्रीय साधनो मे आयकर, चुगी, केन्द्रीय आबकारी कर, अफीम, नमक, डाक-तार, रेलवे और कारपोरेशन कर सम्मिलित है; प्रांतीय साधनों में लगान, जगलात, रजिस्ट्रेशन टिकट, आबकारी तथा आय-कर का भाग सम्मिलित है तथा स्थानीय सूत्रों में राज्य-पालिकाओ के लिए चुगी कर, गाडियों, व्यापारों, व्यवसायों पर कर, पानी कर, मकान कर आदि तथा जिला बोर्डों के लिए प्रान्तीय दरें और अनुदान सम्मिलित है।

३. राजकीय आय के विभिन्न स्रोत (Different Sources of Public Revenue)—हमने देखा है कि राजकीय आय का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत कर है। किन्तु करो द्वारा आय के बहुत से रूप होते है। उसमें कर, फीस, कीमते, विशेष निर्धारण, दरें आदि सम्मिलित है। अब हम इन सबके भेदो पर विचार करेंगे।

कर (Tax)—प्लेहन (Plehn) ने कर की परिभाषा इस प्रकार की है: "कर धन के रूप मे दिये गये सामान्य अनिवार्य अशदान है, जो राज्य के निवासियो पर **सामान्य लाभ** पहुचाने के लिए, किये गये व्यय को पूरा करने के लिए, लोगो से लिये जाते है।"[१] इस परिभाषा से कर का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कर की विशेषता यह है: (अ) कुछ दशाओ के अन्तर्गत यह अनिवार्य समाहरण (Levy) है, और (ब) यह राज्य के सामान्य अभिप्राय के लिए लिया जाता है। व्यक्ति यह आशा नही कर सकता कि उसके द्वारा दिये गये कर के बदले राज्य को उसकी विशेष सेवा करनी चाहिए। यदि मै आय-कर अदा करता हू तो मै बदले मे यह दावा नही कर सकता कि राज्य मेरी सपत्ति की रक्षा के लिए जो मेरी आय का स्रोत है मेरे फाटक पर पुलिस बिठा दे। इसका अर्थ यह नही है कि लोगों से आय प्राप्त कर के बदले में राज्य को कुछ भी नही करना चाहिये। राज्य सामान्य प्रशासन को चलाता है और लोगों को बहुत से लाभ पहुँचाता है। किन्तु वे साझे लाभ है, जो सब के लिए होते है, किसी विशेष करदाता के लिए नही। कोई प्रत्यक्ष "जैसे को तैसा" (quid pro quo) नही है। सरकार द्वारा सारे लाभ के लिए किये गये सामान्य व्यय को पूरा करने के उद्देश्य से कर लगाये जाते है। टासिग के शब्दो में, "सरकार द्वारा लिये गए अन्य प्रभार (Charges) के अतिरिक्त कर का सार करदाता तथा सार्वजनिक अधिकारी के अन्तर्गत किसी प्रत्यक्ष 'जैसे को तैसा' (quid pro quo) का न होना है।"[२]

शुल्क या फीस (Fee)—यह भी अनिवार्य अदायगी है, जो उन लोगों द्वारा दी जाती ह जो बदले मे निश्चित सेवा प्राप्त करते है। फीस की गई सेवा की लागत के एक अंश

१ Plehn: Introduction to Public Finance, 1921, p. 59.

२ Taussig: Principles of Economics, ch. I, 46.

को सामान्यतः पूरा करने के लिए ली जाती है। यह सेवा की लागत से अधिक नही होती। की गई सेवा म किसी सार्वजनिक अभिप्राय का दृष्टिकोण रहता है । स्पष्ट उदाहरण शैक्षिक फीस का है। प्लेह्न के शब्दों में, "फीस व्यक्ति द्वारा सार्वजनिक शक्ति के अधिकार के अंतर्गत धन के रूप में दिया गया चन्दा है, जो सरकार द्वारा किये गए ऐसे कार्य की कुल लागत अथवा उसके एक भाग को पूरा करने के लिए ली जाती है, जो साझे के लाभ प्रदान करने के साथ-साथ विशेष लाभ की भी व्यवस्था करता है अथवा जो मध्यस्थतापूर्वक माना जाता है।" सक्षेप मे फीस विशेष सेवा के लिए ली जाती है, जो सार्वजनिक हित के लिए की जाती है। लाइसेंस की फीस सेवा की लागत से बहुत अधिक होती है और बदले मे विशिष्ट सेवा नही की जाती।

मूल्य (Price)—राज्य द्वारा की गई विशिष्ट सेवाओ के लिए मूल्य भी दिये जाते है। किन्तु फीस और मूल्य में अन्तर यह है कि फीस में सार्वजनिक हित प्रमुख होते है, जब कि मूल्य व्यापारिक ढंग की सेवा के लिए अदायगी है; जैसे कि राज की रेलो द्वारा यात्रा करने की लागत। आप सेवा को क्रय न करके मूल्य देने से बच सकते है। मूल्य कर से भी भिन्न होते है। कर साझे लाभ के लिए दिये जाते है जब कि फीस और मूल्य दोनों ही विशेष लाभो के लिए दिये जाते है। जब सार्वजनिक अधिकारी किसी वस्तु को बेचता है अथवा सेवा करता है, तो उपभोक्ता से, जो सेवा का उपयोग करता है, अथवा किसी वस्तु का क्रय करता है, ली गई अदायगी मूल्य कहलाती है।

विशेष कर-निर्धारण की प्रोफेसर सेलिगमैन ने इस प्रकार परिभाषा की है, "विशेष लाभ के अनुपात से लिया गया एक अनिवार्य अशदान है, जो सार्वजनिक हित के लिए ली गई संपत्ति के विशेष सुधार की लागत को चुकाने के लिए लिया जाता है।" कल्पना करिये कि सरकार सडक का निर्माण करती है अथवा नालियों की उचित व्यवस्था करती है, तो पडौस की सारी सपत्ति का अधिमूल्य (मूल्य मे वृद्धि) हो जायगा। सरकार को अधिकार है कि वह इस अनार्जित वृद्धि का एक भाग उपयोग में लाये। इस सम्बध में सार्वजनिक अधिकारी द्वारा किये गए निर्धारण विशेष व्यय के एक भाग को पूरा करने के लिए किये जाते है। वे पहुँचाये गए लाभ के अनुपात से सपत्ति पर लगाये जाते है। सेलिगमैन ने विशेष कर-निर्धारण के सार का विश्लेषण इस प्रकार किया है: (अ) उसमें विशेष अभिप्राय का तत्त्व रहता है; (ब) विशेष लाभ को नापा जा सकता है, (स) ये निर्धारण प्रगतिशील नही वरन् प्राप्त लाभ के समानानुपाती है; (द) वे विशेष स्थानीय सुधार के लिए होते है और (इ) वे समुदाय के स्थायी पौदे को बढाने और सुधार करने के लिए लगाये जाते है। विशेष निर्धारण मे दबाव का तत्त्व रहता है, जो फीस में नही होता।

दर (Rates)—वे स्थानीय अभिप्रायों से नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों द्वारा लगाये जाते है। वे सामान्यतया निवासियों की अचल संपत्ति पर लगाये जाते है किन्तु

यह आवश्यक नही कि ये किसी विशेष सुधार अथवा लाभ के लिये लगाये जाते हैं। दरें स्थान-स्थान पर भिन्न होती है।

४. करों का वर्गीकरण (Classification of Taxes)—करों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। कुछ वर्गीकरण नीचे दिये जा रहे हैं:—

(१) कर अनुपाती, प्रगतिशील, प्रतिगामी तथा अधोगामी हो सकते हैं।

अनुपाती कर (Proportional Tax)—समानुपातिक कर उसे कहते है जिसमे आय का चाहे जो भी आकार हो, वही दर अथवा वही प्रतिशत लिया जाता है। यदि सभी करदाताओं को अपनी आय का १ प्रतिशत अथवा पये में ६ पाई कर के रूप मे देना पड़े तो यह आनुपातिक कर कहलाता है।

प्रगतिशील कर (Progressive Tax)—इसके विपरीत यदि कर की दर उस आय की वृद्धि के साथ बढ़ती है, जिस पर कर लगाया जाय, तो इस कर को प्रगतिशील कर कहते है। प्रगतिशील कर का सिद्धांत यह है कि जितनी अधिक आय हो उतना ही अधिक कर होता है।

यह ध्यान देने की बात है कि समानुपातिक कर के अन्तर्गत भी धनी व्यक्ति अधिक अदा करता है। उदाहरणार्थ, यदि मासिक वेतन पर दर १ प्रतिशत है, तो जो व्यक्ति २०० रुपये प्रति मास पाता है, वह वर्ष मे २४ रु. अदा करता है और जो व्यक्ति महीने में ५०० रु. पाता है, वह वर्ष में ६० रुपया अदा करेगा। इस प्रकार अधिक आयवाला व्यक्ति समानुपातिक कर के अतर्गत भी अधिक अदा करता है। किन्तु प्रगतिशील कर-निर्धारण के अंतर्गत वह अपेक्षाकृत अधिक अदा करेगा, क्योंकि जैसे-जैसे आय बढती है, कर की दर भी बढ़ती है। ५०० रु. मासिक आयवाले व्यक्ति को १ प्रतिशत के बजाय २ प्रतिशत अदा करना पड सकता है। अतएव वह वर्ष में ६० रु. के बजाय १२० रु. अदा करेगा। प्रत्येक देश ने कर-निर्धारण की प्रगतिशील प्रथा को अपनाया है, क्योकि उसे अधिक समतायोग्य समझा जाता है। यह इस कारण है कि समानुपातिक कर-निर्धारण में योजित त्याग जितना होना चाहिए, उससे कम होता है। प्रगतिशील कर-निर्धारण की अच्छाई बुराई पर हम आगे विचार करेंगे।

क्रमशः घटता हुआ या प्रतिगामी कर (Regressive Tax)—जब कर का भार अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पडता है, तो उसे प्रतिगामी कर कहते है। वह प्रगतिशील कर का उल्टा है। कोई भी सभ्य सरकार ऐसा कर नही लगाती जिसमें आय के बढ़ने के साथ कर घटता जाता हो। यह अनुचित होगा। किन्तु वस्तुओ पर लगे ऐसे बहुत से कर होते है, जिनका बोझा मुख्यतः गरीबो पर ही पडता है। भारतीय नमक कानून अप्रगतिशील माना जाता था, क्योकि उसका भार अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर बहुत था। साफ बात तो यह है कि अमीर लोगों को यह कर महसूस ही नही होता।

अधोगामी कर (Degressive Tax)—उस कर को अधोगामी कर कहते है,

जो अधिक आय उचित त्याग नहीं करती अथवा जब कर का भार अपेक्षाकृत कम होता है। ऐसा उस दशा मे होता है जब कर अर्द्ध प्रगतिशील होता है अर्थात् जब प्रगतिशीलता की गति काफी ढालू नही होती। कोई भी कर एक सीमा तक प्रगतिशील हो सकता है, जिसके आगे वही दर ली जाती है। ऐसी दशा में कम आय की अपेक्षा अधिक आय को कम त्याग करना पड सकता है।

(२) करो का वर्गीकरण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष करों (Direct or Indirect Taxes) में किया जा सकता है। प्रत्यक्ष कर में जो व्यक्ति उसे अदा करता है, वही उसे बरदाश्त भी करता है। किन्तु अप्रत्यक्ष कर का भार अन्य व्यक्तियों पर चला जाता है। यदि मै आय-कर देता हू तो मुझे ही उसे बरदाश्त करना पडता है। मै उसे किसी अन्य व्यक्ति के माथे बरदाश्त करने के लिये नही मढ सकता। यह प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) है। किन्तु यदि शक्कर पर कर लगाया जाता है तो शक्कर का व्यापारी जो उस कर को देता है; वह उसकी अदायगी दूसरे क्रेता से करा लेता है। अन्त मे यहा तक कि उसे शक्कर के उपभोक्ता द्वारा बरदाश्त करना पडता है। कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर बरदाश्त करने के लिए हट जाता है। इसे अप्रत्यक्ष कर (Indirect Tax) कहते है।

अगले अध्याय में हम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो के गुण-दोषो पर विचार करेगे।

(३) विशिष्ट तथा यथामूल्य कर (Specific and 'ad valorem' Taxes)—विशिष्ट कर वस्तु के भार के अनुसार लगाया जाता है। यथामूल्य वस्तु के मूल्य के अनुसार होता है। यदि उसे मोटी और सस्ती वस्तुओं पर लगा दिया जाय तो उसे प्रतिगामी समझा जाता है। किन्तु ऐसे करो का प्रशासन करना आसान होता है। यथामूल्य करो के प्रशासन के लिए समुचित प्रशासकीय व्यवस्था की आवश्यकता होती है। बीजक की जाच की जाती है और वस्तुओ का मूल्याकन करने के लिए जांचने वाले की आवश्यकता पड़ती है।

५. कर नीति के सिद्धांत (Canon of Taxation)—अर्थशास्त्र सिद्धान्त के इस अश के प्रति एडम स्मिथ का योगदान अब भी प्रतिष्ठित माना जाता है। कर-निर्धारण-नियम-सम्बन्धी एडम स्मिथ का कथन स्पष्टता और सरलता से आगे निकल गया है। उसके नियम अब भी कर-निर्धारण सिद्धांतो पर होने वाली बातचीत का आधार ग्रहण करते है।

(१) **समानता का सिद्धांत** (The Canon of Equality)—"प्रत्येक राज्य की प्रजा को अपनी क्षमतानुसार सरकार के सहयोग के लिए योगदान देना चाहिए अर्थात् उस आमदनी के समानुपात से जो राज्य द्वारा दी गई सुरक्षा के अतर्गत उसे प्राप्त होती है।"

इस नीति में समानता या न्याय का सिद्धान्त निहित है। यह कर-निर्धारण का अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धात है। इसी से कर प्रथा की नैतिक नीव पडती है। समानता के नियम का यह अर्थ नही है कि प्रत्येक करदाता को उतना ही धन अदा करना चाहिए। ऐसा अनुचित

होगा। न इसका यही अर्थ है कि उन्हें उसी दर से अदा करना चाहिये, जिसका अर्थ होता है समानुपातिक कर-निर्धारण और समानुपातिक कर भी उचित कर नही होता। इस रीति का अर्थ है त्याग की समानता। कर की मात्रा करदाता की क्षमता के अनुसार होनी चाहिए। इससे साफ़-साफ़ प्रगतिशील कर का सकेत मिलता है। एडम स्मिथ ने अपनी "वेल्थ आफ़ नेशन्स" नामक पुस्तक में लिखा है—"अमीरों द्वारा न केवल आमदनी के समानुपात से बल्कि उससे अधिक सार्वजनिक व्यय मे योगदान देना बहुत अधिक अनुचित नही होगा।"[1] तभी कर अदा करने की क्षमता के समानुपात होगा।

(२) **निश्चितता का सिद्धांत** (Canon of Certainty)—वह कर जिसे प्रत्येक व्यक्ति को अदा करना पडता है, वह निश्चित होना चाहिए, ऐच्छिक नही। अदायगी का समय, अदायगी का ढग, अदायगी की मात्रा, अदा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्पष्ट होनी चाहिए। जहा ऐसी बात नही है, वहा प्रत्येक व्यक्ति, जिसे कर अदा करना होता है, कर वसूल कर्ता के अधिकार के अन्तर्गत कम या ज्यादा आ जाता है। वसूलकर्ता या तो कर न देने वाले व्यक्ति के ऊपर यह कर और अधिक बढ़ा सकता है अथवा बढ़ावे का डर दिखाकर अपने लिये कुछ भेट या रिश्वत वसूल कर सकता है।

एडम स्मिथ के अनुसार कर-निर्धारण में अनिश्चितता से भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। वह इस नियम को बहुत ही आवश्यक मानता है क्योकि उसके विचार से असमानता की अधिकता बहुत बडी बुराई नही है जितनी कि थोडी-सी अनिश्चितता बुराई है। हैडले भी इसी महत्वपूर्ण नियम को मानता है, क्योकि उसके विचार से समानता के सारे प्रयत्न करो के निश्चित होने के बिना भ्रमात्मक सिद्ध होगे। निश्चितता के नियम की माग यह है कि कर मे स्वेच्छाचारिता की गुजाइश न हो। यह आय-कर विभाग की इच्छा पर छोड दिया जाने वाला न हो। करदाता को स्वय ही देखना चाहिये कि उसे विशेष धन देने के लिये क्यो कहा जाता है। इसी कारण बजट प्रस्तावो और उन पर होने वाली बहस का अत्यधिक प्रचार किया जाता है। बजट का पास होना निश्चितता की गारटी करना है।

'पुराना कर कोई कर नही' यह एक सिद्धान्त है, जो निश्चितता के इस सिद्धान्त में से निकलता है। पुराने कर को सभी जानते है और उसके प्रति होने वाली प्रतिक्रिया भी निश्चित है और लोगो के सम्बन्ध में ऐसा अनुमान कर लिया जाता है कि वे आवश्यक समन्वय कर लेते है और कर महसूस नही होता। करदाता की आर्थिक व्यवस्था में उससे कोई गडबडी पैदा नही होती।

न केवल करदाता के दृष्टिकोण से निश्चितता आवश्यक है वरन् राज्य के दृष्टिकोण से भी उसकी आवश्यकता है। लगाये जाने वाले प्रस्तावित करों का मोटे तौर से सरकार में अनुमान लगाने की क्षमता होनी चाहिये, और उसे उस समय का भी अनुमान

1. The Wealth of Nations, Book V. Vol. II, p. 327.

लगाने की योग्यता होनी चाहिये जब कि वे आने लगेगे। तभी सरकार अपने आर्थिक कार्यक्रम पर चल सकती है।

(३) **सुविधा का सिद्धांत** (The Canon of Convenience)—प्रत्येक कर को ऐसे समय और इस ढग से लगाना चाहिये, जिससे कि करदाता को अधिक से अधिक सुविधा का अनुभव हो।

निश्चितता का नियम बताता है कि अदायगी का समय और ढग निश्चित होना चाहिये, किन्तु सुविधा का नियम बताता है कि अदायगी का समय और ढग सुविधा-जनक होना चाहिये। यदि भूमि अथवा मकान पर किराया ऐसे समय लिया जाता है जब कि किराया अदा किये जाने की आशा है, तो इससे सुविधा की रीति को सतोष हो जाता है। यदि कर चेक द्वारा अदा किया जा सकता है तो यह ढग सुविधाजनक है, किन्तु इतना नही कि जितना कर अधिकारी को व्यक्तिगत रूप मे अदा करने मे हो जाता है। बाद वाले मामले मे बहुत अधिक असुविधा और परेशानी होगी। उपभोक्ताओ पर लगाये जाने वाले कर सुविधाजनक होते है। उपभोक्ता उन करो को उस समय अदा करता है, जब कि वह क्रय करता है और उस समय जब कि वह अदा कर सकता है क्योकि क्रेता अपने क्रय का समय स्वय तय करता है। ढग भी बहुत ही सुविधाजनक होता है, क्योकि कर अदा करने के लिये उसे कोई विशेष व्यवस्था नही करनी होती। वह उसे उस समय अदा करता है जब कि कोई वस्तु क्रय करता है। कर वस्तु की कीमत मे लिपट जाता है।

भारतीय लगान सुविधा के नियम के अनुसार है, क्योकि वह किश्तो मे और फसल कटने के बाद अदा किया जाता है। इसके विपरीत आय-कर सुविधा की रीति का उल्लघन करता है। करदाता को अपनी हिसाब-किताब की बहियो को आय-कर अधिकारी के पास उसे सतुष्ट करने के लिये ले जाना पडता है। इसके फलस्वरूप बहुत-सी व्यक्तिगत मुलाकाते करनी पडती है और इससे बहुत-सा समय बरबाद होता है। इससे बहुत परेशानी भी होती है। अच्छे प्रशासन और उत्पादन के आधार पर सुविधा की रीति उचित है।

(४) **मितव्ययिता का सिद्धांत** (The Canon of Economy)—प्रत्येक कर को इस प्रकार लगाना चाहिये कि लोगो की जेबों से जितना लिया जाता है, और जितना सरकार के पास पहुचता है, इन दोनो मे कम से कम अन्तर हो।

मितव्ययिता की रीति का एक कार्य-रूप बहुत ही स्पष्ट है। वह कर मितव्ययी है जिस पर वसूली की लागत बहुत कम होती है। इसके विपरीत यदि कर वसूली करने वाले अधिकारियो के वेतन मे कर से प्राप्त आय का बहुत बडा भाग निकल जाता है, तो यह कर निश्चय ही अमितव्ययी होगा। जहा तक सभव हो, राज्य के कोष मे उतना आना चाहिये, जितना कि लोगो की जेबो से लिया जाय। मार्ग मे कोई ऐसी चीज न होनी चाहिये कि वह कम पड जाय। यदि आय-कर कार्यालय मे बहुधा आने मे अथवा कर अधिकारी की जांच मे भ्रष्टाचार अथवा दबाव निहित है तो मितव्ययिता का नियम पूरा नही होगा।

किन्तु कर दूसरे अर्थों मे कदाचित् विस्तृत अर्थों मे मितव्ययितापूर्ण होना चाहिये। उससे मितव्ययिता के नियम का उल्लघन होगा यदि उससे व्यापार और उद्योग के विकास मे किसी प्रकार की अडचन पडती है। यदि आय पर भारी कर लिया जाता है तो पूजी जमा नही होगी और समाज की उत्पादन-क्षमता पर गम्भीर आघात पड़ेगा। बचत को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। यह स्पष्टतया अमितव्ययितापूर्ण होगा। वह कर मितव्ययी कहा जाता है यदि उससे देश की समृद्धि मे किसी भी प्रकार से अडचन नही पडती। मितव्ययिता की रीति के नियम के अनुसार ही १९४६-४७ का केन्द्रीय सरकार के बजट मे वैज्ञानिक अनुसधान, निर्मित इमारतो और खडी की गई मशीनो पर खर्च की रियायत देना स्वीकार किया गया था। समय आने पर उनसे निश्चय ही राष्ट्र की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि होगी।

हानिकारक दवाइयो तथा नशीले पदार्थों पर लगाये गये कर मितव्ययितापूर्ण माने जाते है क्योकि उनसे न केवल राज्य को आमदनी होती है वरन् अनुत्पादक व्यय को भी प्रोत्साहन नही मिलता। किन्तु कच्चे माल पर लगाये गये कर मितव्ययितापूर्ण नही होते, क्योकि उनसे तैयार वस्तुओ के दाम बढ जाते है और उद्योग की प्रतियोगिता क्षमता निर्बल हो जाती है। साथ ही यह भी कि प्रत्येक बिचवैया उस कर मे कुछ न कुछ जोडता जाता है जो वह अदा कर चुका होता है।

एडम स्मिथ का पहला नियम नैतिक है और अन्य तीन प्रशासनीय प्रकृति के है।

अन्य सिद्धान्त (Other Canons)—जब से एडम स्मिथ ने लिखा है, तब से राजकीय अर्थशास्त्र ने बराबर प्रगति की है। बाद के लेखको ने उसकी चार रीतियों मे अपनी रीतिया जोड दी है।

(५) **राज्य कर औचित्य अथवा उत्पादकता** (Fiscal Adequacy or Productiveness)—कर द्वारा लोगो से प्राप्त राजस्व पर ही राज्य को रहना चाहिये। सरकार को आर्थिक कठिनाइयो से मुक्त रहना चाहिये। अतएव यह आवश्यक है कि कर से प्राप्त आय उचित होनी चाहिये और सरकार को घाटा नही होना चाहिये। किन्तु सरकार को ज्यादती की गलती भी नही करनी चाहिये। अधिक राजस्व बढाने के उत्साह मे उसे समाज की उत्पादन-क्षमता को किसी भी प्रकार से कम अथवा देश के आर्थिक साधनो को नुकसान नही पहुचाना चाहिये।

उत्पादकता की रीति से यह सकेत मिलता है कि एक कर जिससे अधिक आय होती है, वह उन बहुत-से करो मे अच्छा है, जिनमे से प्रत्येक से बहुत थोड़ी आय होती है। करो की सख्या को रोकना चाहिये, क्योकि प्रत्येक कर से नागरिको को परेशानी हो सकती है। किन्तु यहा पर हमें चेतावनी देनी चाहिये कि एकाग्रता के नियम को अधिक ज्यादती की ओर नही ले जाना चाहिये अन्यथा वह या तो अमितव्ययितापूर्ण अथवा अनुचित बन जायेगा।

(६) **लोच का सिद्धान्त** (The Canon of Elasticity)—लोच की रीति

का राजकर औचित्य से निकट सम्बन्ध है। जैसे-जैसे राज्य की जरूरियात बढती है, वैसे-वैसे राज्य की आय भी बढनी चाहिये अन्यथा वे समान नही रह पायेंगे। सकट अथवा परेशानी की अवधि का सामना करने के लिये राज्य को इस स्थिति मे होना चाहिये कि वह अपने आर्थिक साधनो को बढा सके। कुछ कर ऐसे होने चाहिये कि यदि आवश्यकता आ पडे तो उनसे अधिक आय हो सके। आय-कर लोचपूर्ण कर का एक अच्छा उदाहरण है। कर को थोडा बढा देने अथवा उपरिकर (Surcharge) लगा कर आय को काफी बढाया जा सकता है। जब यह शुरू हुआ था तो प्रथम आर्थिक उपाय, जो काम में लाया गया, वह यह था कि आय-कर में उपरिकर लगा दिया गया। रेलवे और डाक दरें भी बहुत ही लोचपूर्ण है।

(७) **कोमलता** (Flexibility)—कोमलता की रीति लोच की रीति जैसी लगती है किन्तु दोनो के बीच का अन्तर बहुत ही स्पष्ट है। कोमलता का अर्थ यह है कि कर-प्रथा मे कोई कठोरता न होनी चाहिये जिससे कि उसका नई दशाओं के अनुसार आसानी के साथ समन्वय किया जा सके। लोच का अर्थ यह है कि आय बढाई जा सकती है। जब तक प्रथा कोमल नही है, आय बढाई नही जा सकती, क्योकि परिवर्तन सभव नही होगा। इस प्रकार कोमलता का होना लोच की एक शर्त है। यदि कर-प्रथा को बिना क्रान्ति के बदलना सभव नही है तो उसमे कोमलता नही होती। बगाल का स्थायी बन्दोबस्त (१७९३) कठोरता का अथवा कर मे कोमलता के अभाव का एक उदाहरण है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार ने अपने को भूमि-मालिकों से एक ही राशि सदैव वसूल करने के लिये बाध लिया था। कोमलता का यह अभाव बगाल मे आर्थिक संकटो का कारण है।

(८) **सरलता** (Simplicity)—आरमीटेज स्मिथ (Armitage Smith) के शब्दो मे "कर-प्रथा सादी, सीधी और सर्वसाधारण की समझ मे आने योग्य होनी चाहिये।" भ्रष्टाचार और दबाव को रोकने के लिये यह नियम आवश्यक है। यदि कोई कर जटिल है कि कर दाता यह समझ नही पाता कि उसे कितना अदा करना चाहिये, और क्यों अदा करना चाहिये, तो कर एकत्र करने वालो के हाथ में बहुत अधिकार चले जावेंगे। भ्रष्टाचार और दबाव के लिये दरवाजा खुल जायेगा।

(९) **अनेकरूपता** (Diversity)—अन्य महत्वपूर्ण रीति विभिन्नता की है। अकेले एक कर से अथवा थोडे करो से काम नही चलेगा। करों में बहुत-सी किस्मे होनी चाहिये, जिससे कि सभी नागरिक जो राज्य की आय मे देने की क्षमता रखते हो, दे सकें। उनके पास विभिन्न तरीको से पहुचना चाहिये। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों का बुद्धिमत्तापूर्ण मिश्रण होना चाहिये। इस प्रकार आर्थिक औचित्य व समानता दोनों को सतोषप्रद ढग से उपयोग किया जा सकता है। किन्तु अत्यधिक संख्या वृद्धि अनुचित और अमितव्ययी होगी।

अन्य बहुत से विचार सामने रखे जाते है। कहा जाता है कि कर आमदनी पर होना चाहिये न कि पूजी पर। उससे कर दाता के कम से कम जीवन-निर्वाह के साधन पर कटौती नही होनी चाहिये।

यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश मे प्रत्येक कर इन नियमों मे से प्रत्येक नियम को सतुष्ट नही करता। हमे सम्पूर्ण कर-प्रथा को देखना चाहिये न कि प्रत्येक कर को अलग-अलग। कुछ कर कुछ नियमो का उल्लघन करते ही है। किन्तु समूची कर-प्रथा कर-निर्धारण के इन अधिकाश नियमो को सन्तुष्ट करती है।

६. उत्तम कर-प्रथा की विशेषताएँ (Characteristics of a Good Tax System)—उत्तम कर-प्रथा मे ऐसे कर शामिल होने चाहियें जो उपर्युक्त कर-निर्धारणो के नियमो के अनुकूल हो। समूची कर-प्रथा समान होनी चाहिये। उसका भार विस्तृत कधो पर पडना चाहिये। उसे मितव्ययितापूर्ण होना चाहिये जिसमे कि एकत्र करने का काम जितना ही सस्ते ढग से हो सके, उतना ही अच्छा है। उससे व्यापार और उद्योग के विकास मे बाधा नही पड़नी चाहिये। इसके विपरीत उसे देश के आर्थिक विकास मे सहायता करनी चाहिये। सरकार को अपनी आमदनी के सम्बन्ध मे निश्चय होना चाहिये। कर-प्रथा सम्पूर्ण और वर्तमान आकडो सम्बन्धी जानकारी पर आधारित होनी चाहिये, जिससे कि सही भविष्यवाणी संभव हो सके। कर-प्रथा अधेरे मे एक उछाल-मात्र नही होनी चाहिये। उसके प्रभावो का सही-सही हिसाब लगाया जा सकना चाहिये। समूचे कर सुविधाजनक होने चाहियें अर्थात् उनको जितना भी सभव हो, उतना कम महसूस किया जा सके। एक सूत्र इस आशय का प्रस्तावित किया गया है कि "अमीरो को जितना वे सोचते है, उससे अधिक कर देना चाहिये जब कि गरीबो को समझना चाहिये कि जितना वे दे सकते है, उससे अधिक देते है। दलील दी जाती है कि इस दोहरे भ्रम से अमीर सतुष्ट और गरीब ईमानदार रहेगे।" फिर भी यह सूत्र कठिनता से व्यावहारिक है।

कर-प्रथा सरल, आर्थिक रूप से उचित और लोचपूर्ण होनी चाहिये जिससे कि उससे नई आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके। वह हमारे लगान की भाति जटिल नही होनी चाहिये जो ३० या ४० वर्षों के लिये निर्धारित कर दिया जाता है। पंजाब मे लगान की सरकने वाले स्तर की प्रणाली (Sliding Scale System) के उपयोग से यह खराबी कुछ सीमा तक दूर हो जाती है।

सरलता के आदर्श से हम एक कर प्रणाली के समर्थक हो सकते है। किन्तु एक कर-प्रथा अन्य गम्भीर आपत्तियों को खोल देगी। अतएव, यह माना जाता है कि कर-प्रथा का जितना संभव हो, उतना ही विस्तृत आधार होना चाहिये। कर-प्रथा में विभिन्नता होनी चाहिये। किन्तु हम करो की बहुत अधिक संख्या नही चाहते। अतएव, हम आर्थर यंग के इस कथन से सहमत नही है कि "यदि उसे उत्तम कर-प्रथा की परिभाषा करनी पड़े तो वह बिन्दुओं की अनिश्चित संख्या हल्का प्रभाव डालने वाली और भारी

दबाव डालने वाली, किन्तु किसी पर नही होनी चाहिये।"

इसके अतिरिक्त प्रशासन के दृष्टिकोण से कर-प्रथा योग्य होनी चाहिये। वह प्रशासन के लिये सरल होनी चाहिये। बकाया को दबा जाने अथवा जमा हो जाने की गुजाइश नही होनी चाहिये। उस पर मूर्खों का कोई असर नही पड़ना चाहिये और न दगाबाजों का ही कोई असर होना चाहिये। भ्रष्टाचार की गुजायश कम होनी चाहिये।

उत्तम कर-प्रथा की एक अन्य विशेषता यह है कि वह पूरी तरह से सद्भावना-पूर्ण होनी चाहिये। वह वास्तविक एक प्रथा होनी चाहिये न कि अलग करों की वसूली मात्र। प्रत्येक कर समूची प्रथा में ठीक-ठीक जम जाना चाहिये जिससे कि वह मिले-जुले सम्पूर्ण का एक अंग हो जाय। आर्थिक ढांचे में प्रत्येक कर को एक निश्चित और उचित स्थान प्राप्त होना चाहिये। वे विभिन्न दिशाओं में खीचातानी करने वाले नही होने चाहिये। उदाहरणार्थ, सुरक्षा कर (Protective Duty) तथा अन्तःशुल्क-कर (Excise Duty) साथ-साथ भली भांति नही चल सकते।

७. भारतीय कर-प्रथा (The Indian Tax System)—प्रशासन के दृष्टिकोण से भारतीय कर प्रथा बहुत ही सुन्दर है। चोरी से वस्तुएं लाने और ले जाने का काम नही हो पाता और न उसमे बहुत-सी खामियां ही है। कर देने से बचना साधारण बात नही। कर वसूली की लागत भी असमानुपातिक रूप से अधिक नहीं है। वह बहुत ही सादी है। राज-कर औचित्य और पर्याप्तता के आधार पर कठिनता से कोई आपत्ति की जा सकती है। कर-प्रथा निन्तात उत्पादक है। वह बिल्कुल विस्तार के साथ आधारित है। यहां तक कि देश का गरीब से गरीब व्यक्ति भी कुछ न कुछ अदा करता है, अर्थात् लगान। यह अनेक रूपों वाली प्रथा है। अन्य देशो की अपेक्षा भारतीय कर-प्रथा विशेषतया असुविधाजनक भी नही है। लगान किस्तों में अदा किया जाता है और फसल कटने के बाद दिया जाता है। वस्तुओं पर करों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कोमलता और सरलता के आधार पर हमें शिकायत का कोई कारण नही है। हमारी करप्रथा ने खर्चीले युद्ध के प्रभावो का शानदार ढंग से सामना किया है।

किन्तु हम यह नही कह सकते कि हमारी कर-प्रथा आदर्श कर-प्रथा है। भारत में भारतीय व्यापार और उद्योग की आवश्यकता के महत्व को समझे बिना कर लगाये गये है। चुगी-कर आमदनी के उद्देश्य से लगाये गये है। आयातनिर्यात-कर (Tariff-Duties) से भारतीय उद्योगों के विकास में बहुधा बाधा उपस्थित हुई, घिसाई-खर्च को कम अवमोल दिये गये। अतएव, उद्योग के यंत्रों को नया करने अथवा उनके स्थान पर दूसरे यंत्र लगाने में वास्तविक कठिनाई अनुभव हुई। यद्यपि हाल के बजटों में इस बुराई को कुछ सीमा तक दूर किया गया है। फिर भी हमारी कर-प्रथा मितव्ययिता के नियम के पूरी तरह अनुकूल नहीं है।

सबसे अधिक उल्लंघन समानता के नियम का है।[1] भारतीय कर-प्रथा अमीरों के विरुद्ध गरीबों के प्रति भेद-भाव रखती है। आय-कर वह कर है, जो अमीरों द्वारा अदा किया जाता है, किन्तु प्रगति उतनी ढालू नही है, जितनी कि होनी चाहिये। लगान, चुगी, आबकारी और यहां तक कि रेलवे किराया कुल मिला कर गरीबों द्वारा अमीरों की अपेक्षा अधिक अदा किया जाता है। उत्तराधिकार की अनुपस्थिति अथवा मृत्यु-कर हमारी कर-प्रथा की प्रतिगामी प्रवृत्ति को बढ़ा देता है। प्रोफेसर के. टी. शाह के शब्दों में, "अमीर वर्ग अपेक्षाकृत थोडे भार के साथ बच जाते है, यद्यपि इस भार को टाल देने अथवा सहन की उनकी क्षमता अधिक होती है, जब कि गरीब वर्ग, जो इस प्रकार के भार से बच नहीं सकते, उन्हें सिह-सी शक्ति के इस भारी बोझ को वहन करना पड़ता है जब कि उसे वहन करने की उनकी क्षमता मेमने जैसी होती है।" भारतीय आय-कर-प्रथा आश्रितों की संख्या के लिये कोई भत्ते की व्यवस्था नही करती। अतएव वह अदायगी की क्षमता के अनुकूल नही है।

अनिश्चितता का तत्त्व भी इसमें निहित है। मानसून एक घबडाहट पैदा करने वाला कारण है। भारतीय बजट मानसून में एक जुआ माना गया है।

भारतीय करप्रथा में अन्य बहुत से दोष है। वह बहुत ही उल्टी-सीधी है, और उसकी योजना वैज्ञानिक ढग से नही तैयार की गई। वह समय की आवश्यकताओं के अनुकूल तोड़ी-मोड़ी गई है। विशेष आवश्यकता बजट में संतुलन बनाने की रही है। करों के प्रभावों तथा उत्पादन और वितरण पर उनके प्रभावों के प्रति बहुत कम ध्यान दिया गया है। वह वास्तव में कोई प्रथा नहीं रही। सर वाल्टर लेटन ने भारतीय बजट को "कसा हुआ" बताया है, जिसमें अप्रत्याशित और अनजाने व्ययों की बिल्कुल ही व्यवस्था नही है।

कर-प्रथा बहुत ही अनुदार भी है। वर्तमान रूप में आबकारी आय और लगान भी जारी है, यद्यपि उनकी व्यापक रूप से निन्दा की गई है।

अन्य उन्नत देशों के विपरीत भारत में प्रत्यक्ष कर गौण कार्य करते है, यद्यपि युद्ध-काल (१९३९-४५) में अपनाये गये आर्थिक साधनों के फलस्वरूप यह प्रथा इस दशा में सुधारी गई है। १९३८-३९ में सम्पूर्ण राजस्व में आय पर लगाये करों का अनुपात २२.६ प्रतिशत था, किन्तु १९४५-४६ में वह ६२.३ प्रतिशत था।

अभी हाल तक हमारी कर-प्रणाली ने अर्जित और अनार्जित आय में कोई भेद नही किया और इस प्रकार वास्तविक श्रमिक और निष्क्रिय अमीर के साथ एक-सा व्यवहार किया। १९४५-४६ में १० प्रतिशत अर्जित सहायता स्वीकार की गई थी।

केन्द्रीय, प्रान्तीय, और स्थानीय वित्त के बीच वितरण की रीति भी दोषपूर्ण है। चूकि आय-कर प्रत्यक्ष कर है, अतएव वह सम्पूर्णतया प्रान्तीय होना चाहिये और बहुत से प्रान्तीय कर, जैसे मनोरंजन-कर और बिक्री-कर स्थानीय संस्थाओं के होने चाहियें।

1. See Indian Economics by Dewett and Singh.

भूमि-कर का एक भाग भी स्थानीय बोर्डों को मिलना चाहिये।

अतएव, हम यह नही कह सकते कि भारतीय कर-प्रणाली पूर्णतः संतोषजनक है। सुधार की बहुत ही गुजायश है।

८. कर-निर्धारण में न्याय की समस्या (The Problem of Justice in Taxation)—हमने कर-निर्धारण के विभिन्न नियमों पर विचार किया है और इनमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नियम समानता का नियम जान पड़ता है। अतएव कर-निर्धारण की अत्यधिक आधारभूत समस्या न्याय की समस्या है। प्रत्येक व्यक्ति वित्त मंत्री से आशा करता है कि वह अपने कर-निर्धारण प्रस्तावों को इस प्रकार तैयार करें कि जिस-से इस बात का विश्वास पैदा हो जाय कि कर-निर्धारण का भार उन पर पड़ता है, जो उसे पूरी तरह से वहन कर सकते है। यह उचित है कि एक ही आर्थिक स्थिति के लोगों के साथ कर-निर्धारण के अभिप्राय से एक प्रकार से व्यवहार किया जाय, किन्तु आर्थिक स्थिति की नाप क्या होनी चाहिये ?

कर-निर्धारण में न्याय के आदर्श के प्राप्त करने के लिये समय-समय पर अनेक सिद्धान्त सामने रखे गये है। हम नीचे उनमें से कुछ सिद्धान्तों की जाच करेंगे:—

(१) **सेवा की लागत का सिद्धान्त** (The Cost of Service Principle)—चाहे कितना ही सेवा लागत सिद्धान्त उचित जान पड़े, उसे वास्तविक व्यवहार में लागू नही किया जा सकता। करों से प्राप्त आय द्वारा की जाने वाली सेवाओं, जैसे सशस्त्र सेनायें, पुलिस आदि, का लागत खर्च ठीक-ठीक निश्चित नही किया जा सकता। हमें हिसाब लगाना पड़ता है कि किसी विशेष करदाता की सेवा में क्या लागत लगेगी। हम जानते हैं कि करों के मामले मे करदाता के लिये कोई प्रत्यक्ष जैसे के साथ तैसा व्यवहार नही है। इसलिये किसी करदाता के लिये व्यक्तिगत रूप से सेवा के मूल्य के आंकने का प्रश्न ही नहीं उठता। केवल उन्ही मामलों में, जिनमें सेवायें कीमतों के बदले में की जाती है, जैसे बिजली की पूर्ति, रेलवे या डाक सेवा आदि, वहां सेवा के मूल्य के अनुसार कुछ निकटता तक कीमत वसूल की जा सकती है। यहां तक कि यहां भी ठीक-ठीक कीमत नही आंकी जा सकती और कीमत को निर्धारित करने के लिये हमें इस सिद्धान्त पर आना पड़ता है कि सेवा की जो लागत हो वही वसूल किया जाय। अतएव, सेवा के कीमत-सिद्धान्त को अव्यावहारिक होने के कारण अस्वीकार कर देना चाहिये।

(२) **लाभ अथवा "जैसे को तैसा" सिद्धान्त** (Benefit or 'Quid Pro Quo' Theory)—जिन कारणों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उन्ही के फल-स्वरूप लाभ सिद्धान्त भी उस समय असफल हो जाता है, जब उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया जाता है। बहुत-सा सार्वजनिक व्यय साझे अथवा अविभाज्य लाभों के लिये किया जाता है। यह हिसाब लगाना कठिन है कि एक विशेष कार्य के लिये कितना लाभ किसी समय में बढ़ कर होता है। बहुत थोड़े ऐसे मामले हैं, जहां व्यक्ति के लाभ का

हिसाब लगाया जा सकता है, जैसे वृद्धावस्था की पेंशन। इस मामले पर लागू करने से सिद्धान्त स्वयं ही पेंशन की वापसी की मांग करेगा क्योंकि वह लाभ की ठीक-ठीक नाप है। कोई भी इस प्रस्ताव को गम्भीरता के साथ नही रखेगा। अतएव लोगों से यह कहना असंभव है कि वे अपने द्वारा प्राप्त लाभ के अनुसार धन अदा करें। लाभ सिद्धान्त के विरुद्ध अन्य बहुत-सी आपत्तियां उठाई जा सकती हैं। कर राज्य के सामान्य अभिप्रायों के लिये दिया जाता है, न कि किसी विशिष्ट सेवा का बदला चुकाने के लिये। लाभ सिद्धान्त का अर्थ उसी दशा में हो सकता है, जब कि हम सारे समाज के लाभ की बात सोचें, किन्तु व्यक्ति पर कर लगाने के अभिप्राय से यह स्पष्टतया व्यर्थ है। यदि आप कुछ मामलों में ऐसा करना भी चाहेगे, तो कठिनाई में पड़ जायेंगे। आप किस आधार पर ऐसा करेंगे ?

इसके अतिरिक्त ऐसा सामान्यतः विश्वास किया जाता है कि राज्य के संगठन से गरीबों का अमीरों की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। यदि ऐसा ही है तो लाभ सिद्धान्त को लागू करने का अर्थ होगा उन लोगों से अदायगी कराना जो अदा करने की क्षमता नहीं रखते और उन लोगों को छोड़ देना जो कर सकते हैं, और जिन्हें करना चाहिये। यह एक भद्दी बात होगी।

प्लेह्न (Plehn) के शब्दों में, "शांतिपूर्ण जीवन-यापन, स्वतन्त्रता और संपत्ति साझे के लाभ हैं।" जहां तक जीवन और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है, सभी के लिए वही सुरक्षा राज्य की ओर से प्राप्त होती है। यह समान कर के लिए संकेत करता है अर्थात् प्रति-व्यक्ति कर (Poll Tax)। किन्तु पोल टैक्स को बहुत पहले ही त्याग दिया जा चुका है, क्योंकि उससे अपेक्षाकृत कम प्राप्ति होती है और लागत अधिक लगती है तथा वसूली में बड़ा झंझट भी होता है। यदि हम आधार के रूप में सम्पत्ति की सुरक्षा को लें तो वह समानुपातिक कर होगा ; पूंजी के मूल्य की समानुपातिक अथवा सम्पत्ति की आय कराने वाली क्षमता। किन्तु आधुनिक समय में समानुपातिक कर-निर्धारण भी अस्वीकार कर दिया गया है, क्योंकि वह न्यायपूर्ण नहीं है। अतएव हम लाभ को न्याय का स्तर नहीं मान सकते।

फिर भी, सभी आधुनिक कर-प्रणालियों में लाभ सिद्धांत को स्थान है। फीस, लाइसैंस, विशेष निर्धारणों तथा स्थानीय करों में लाभ का सिद्धान्त लागू होता है।

(३) **अदा करने की योग्यता अथवा क्षमता का सिद्धान्त** (Ability to Pay or Faculty Theory)—अत्यधिक लोकप्रिय तथा न्याय का विश्वसनीय सिद्धांत यह है कि प्रत्येक करदाता को अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार कर देना पड़े। उसे उसकी कर दे सकने की क्षमता पर आधारित होना चाहिए। इससे अधिक और कुछ न्यायपूर्ण नही हो सकता। किन्तु इस सिद्धांत को स्वीकार करने का अर्थ हमारी कठिनाइयों का अन्त नहीं; बल्कि यहीं से कठिनाइयां शुरू होती हैं। जो प्रश्न हमारे सामने है वह यह है कि मनुष्य की योग्यता की नाप किस प्रकार की जाय। किसी व्यक्ति की कर अदा करने की क्षमता जानने के उचित आधार की खोज करने के लिये हमें दो दिशाओं पर चलना चाहिये—

एक तो भीतरी और दूसरा बाहरी। यदि हम किसी करदाता की कर देने की क्षमता की उसके परोक्ष रूप में जांच करना चाहें तो उसमें निहित असुविधा और त्याग पर विचार करना होगा। इस बात पर तीन स्पष्ट दृष्टिकोण सामने रखे गये हैं :—

(अ) समान त्याग का सिद्धांत ;

(ब) समानुपातिक त्याग का सिद्धांत ; और

(स) न्यूनतम त्याग का सिद्धांत।

जे० एस० मिल के शब्दों में, "राजनीति के सिद्धांत के रूप में कर-निर्धारण की समानता का अर्थ है त्याग की समानता (Equality of Sacrifice)। इसका अर्थ है सरकार के कामों की मद में प्रत्येक व्यक्ति के भाग को इस प्रकार से निश्चित करना कि जिससे वह अपनी अदायगी के भाग से ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की अपेक्षा, जो अपने भाग से असुविधा अनुभव करता है, न कम और न अधिक अनुभव करे।"[1] इस सिद्धांत के अनुसार कर-निर्धारण का धन भार इस प्रकार वितरित किया जाता है कि व्यक्तिगत करदाता के ऊपर समान वास्तविक बोझ रहे। इसका अर्थ होगा समानुपातिक कर-निर्धारण।

समानुपातिक त्याग (Proportional Sacrifice) के सिद्धांत के अनुसार व्यक्तिगत करदाताओं के ऊपर वास्तविक बोझ समान नही वरन् या तो उनकी आय या आर्थिक कल्याण, जो वे प्राप्त करते है, उसके समानुपातिक होगा। जो अधिक त्याग कर सकते है, उन्हे ऐसा करने के लिये कहना चाहिए। इसका अर्थ है प्रगतिशील कर-निर्धारण।

न्यूनतम त्याग का सिद्धांत (Minimum Sacrifice Principle)—कर-दाताओं का विचार सम्पूर्ण रूप से करता है, न कि व्यक्तिगत रूप से। इस सिद्धान्त के अनुसार समुदाय पर कुल बोझा इतना कम होना चाहिए, जितना कि सम्भव हो। न्यूनतम सम्पूर्ण त्याग सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिनिधि एजवर्थ के शब्दों में, "न्यूनतम त्याग कर-निर्धारण का श्रेष्ठतम सिद्धान्त है।" इस सिद्धान्त में न्यूनतम मुक्ति का एक ऊंचा धरातल होगा और जैसे-जैसे आय बढ़ती है, बहुत ही ढालू प्रगति निहित होगी। जितना ही सम्पूर्ण त्याग कम होगा, उतना ही समुदाय पर कर-भार का अच्छा वितरण होगा। राज्य मानव-कल्याण को बढ़ाने के लिए होता है। ऐसा वह निहित त्यागों को कम करके कर सकता है।

त्याग के सिद्धान्तों का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है। इसका बहुत ही कम व्यावहारिक महत्त्व है। त्याग एक परोक्ष की वस्तु है। वह करदाता की आंतरिक वस्तु है और हमारे पास उसके नापने के कोई साधन नहीं होते। शराब पर लगे कर का अर्थ है शराब के उपभोक्ता के लिये बहुत बड़ी असुविधा, किन्तु उसके लिए कम हानि। क्षमता की परीक्षा के रूप में त्याग को अवश्य ही छोड़ देना चाहिये।

अतएव व्यक्ति की क्षमता को मापने के लिए हमें दूसरी विधि से काम लेना चाहिये। यहां हमारा आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित है। किन्तु यहां पर फिर हम देखते है कि

1. Mill, J. S. : Principles of Political Economy, Book V, 11 2.

बहुत-सी विधियां बताई गई हैं। व्यक्ति की कर देने की क्षमता को (अ) उपभोग (ब) संपत्ति, अथवा (स) आय के अनुसार मापना चाहिए। उपभोग निश्चित विधि नहीं है क्योंकि गरीब द्वारा राज्य की सेवाओं का उपभोग अथवा उपयोग उनके साधनों के सम्पूर्ण समानुपात से बाहर माना जाता है। अतएव उसे कर-निर्धारण का व्यावहारिक सिद्धान्त नही माना जा सकता। सम्पत्ति भी कर-निर्धारण का उचित आधार नही माना जा सकता, क्योंकि उसी आकार और उसी प्रकार की संपत्ति से वही आय नही प्राप्त हो सकती । कुछ लोगों के पास दिखाने के लिये कोई संपत्ति न हो, किन्तु हो सकता है कि वे अधिक आय प्राप्त करते हों, जबकि संपत्ति वाले व्यक्तियों को, हो सकता है, छोटी आय होती हो। संपत्ति के आधार पर क्षमता के अनुसार कर नही होगा। फिर भी मनुष्य की देने की क्षमता के लिए आय सबसे अच्छा परीक्षण है। किन्तु आय के मामले में भी कर क्षमता के अनुसार तभी होगा जबकि उचित निर्वाह के लिए न्यूनतम छूट दी जाती है, बशर्ते कि आश्रितो की संख्या के लिए भत्ते की व्यवस्था कर दी जाती है, और अंत में यदि धनी व्यक्ति पर ऊंची दर पर कर लगाकर प्रगतिशीलता के सिद्धांत को लागू किया जाता है।

इसके अतिरिक्त न केवल हमें व्यक्तिगत कर-दाता की वरन् सम्पूर्ण समुदाय की अदायगी की क्षमता पर विचार करना है। इस अवस्था में यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण कर-प्रणाली दबावपूर्ण न हो अर्थात् वह बचत को हतोत्साह न करती हो और न ही पूजी के निर्माण में शिथिलता लाती हो, और न देश के व्यापार एवं उद्योग के विकास में अड़चन डालकर समुदाय की उत्पादन-क्षमता को कम करती हो।

कर-निर्धारण में न्याय की समस्या का यही हल है। न्याय के उद्देश्य से सेवा के मूल्य सिद्धान्त को लागू करने अथवा लाभ के अनुसार कर लगाने से पूरे नही होते, वरन् वे अदा करने की क्षमता और योग्यता के अनुसार पूरे होते है। अदा करने की क्षमता निहित त्याग की मात्रा के द्वारा परोक्ष ढंग से नही आंकी जा सकती, वरन् मनुष्य की आय के अनुसार परोक्ष ढंग से, और उसके उपभोग अथवा सम्पत्ति के अनुसार नही। न्याय प्राप्त करने का प्रत्येक प्रस्ताव कर-निर्धारण में प्रगतिशीलता के एक ढंग की ओर ले जाता है। आवश्यकता है कि सम्पूर्ण कर-प्रणाली उचित हो। प्रत्येक व्यक्तिगत कर बिल्कुल ही उचित नही भी हो सकता। एक कर की बुराई दूसरे कर की अच्छाई से तटस्थ बन सकती है। "अलग भागों में असमानता हो सकती है किन्तु सम्पूर्ण में औचित्य होगा।"

समानता के विषय में अलग-अलग राय हो सकती है। कभी-कभी कुछ लोग सोचते है कि कोई एक कर समता योग्य है। समता की सामान्य-स्वीकृत कोई व्याख्या तो है नही। डाल्टन के शब्दों मे, "यह एक छली औरत के समान है, जिसका अनुसरण, शायद एक दार्शनिक के लिए उत्साहपूर्वक हो और राजनीतिज्ञ के लिए सावधानी से केवल देखना ही भर हो।"

९. कर-निर्धारण के कुछ अन्य सिद्धांत (Some Other Theories

of Taxation)—राजकीय अर्थ-व्यवस्था पर कुछ लेखकों द्वारा प्रस्तुत कुछ अन्य सिद्धान्तों अथवा विधियों का हम यहां पर केवल सक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

"जैसा उन्हें पाया वैसा छोड़ दो" सिद्धांत ('Leave as you find them' Principle)—इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान वितरण से छेड़-छाड़ नहीं की जाती। धन-वितरण की असमानतायें न तो बढ़ाई जाती है और न घटाई जाती है। इस सिद्धान्त के समर्थक वर्तमान धन-वितरण के प्रश्न की आलोचना न करने का रुख अपनाना चाहते है। इसके अनुसार करों को इस प्रकार लगाना चाहिए कि जब सभी उन्हें अदा कर दें, प्रत्येक व्यक्ति अपने साथियों जैसी स्थिति में रह जाय जैसा कि वह अदायगी से पहले था। इस सिद्धान्त को आधुनिक काल में नही माना जाता। राज्य को धन-वितरण की असमानता को कम करना चाहिए और जैसे वे है, वैसे ही उन्हें नहीं छोड़ देना चाहिये।

राजनीतिक अथवा नैतिक सिद्धांत—इसका सम्बन्ध कर-निर्धारण में समानता, औचित्य अथवा न्याय से है। इस सिद्धान्त पर हम पहले ही विचार कर चुके है। यदि कर-दाता की परिस्थितियां और आर्थिक दशा वही रही तो न्याय प्राप्त करना एक साधारण क्रम होगा। किन्तु व्यक्तिगत करदाता की विभिन्न परिस्थितियों में न्याय प्राप्त करने का प्रयत्न वित्तमन्त्री को कुछ सिर-दर्द पैदा कर सकता है। अनेक तरीको के सुझाव किये है जिनकी पहले ही जांच की जा चुकी है।

वित्तीय सिद्धांत (The Financial Principle)—काल्बर्ट ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—"बतख को ऐसे नोचो कि वह कम से कम अवरोध के साथ चिल्लाए।" इस सिद्धान्त के अनुसार कर वसूल करने वाले के लिए एक-मात्र पथ-प्रदर्शन यह है कि कम से कम विरोध के साथ अधिक से अधिक आय हो। उसके मस्तिष्क में न्याय का कोई विचार नही आना चाहिए। उसे कम से कम विरोध का मार्ग अपनाना चाहिए। वास्तव में वित्त-मन्त्री इस प्रकार के मार्ग को अपनाते है। यद्यपि वे इसे स्वीकार नही करेंगे। यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि वित्त-मन्त्री प्रत्यक्ष कर-निर्धारण की अपेक्षा अप्रत्यक्ष कर-निर्धारण की ओर अधिक झुके होते है। इस दृष्टिकोण के अनुसार औचित्य की अपेक्षा उत्पादन और अविलम्बन अधिक महत्त्वपूर्ण है।

समाजवादी और क्षतिपूरक सिद्धान्त (Socialist and Compensatory Theory)—कर-निर्धारण के इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार यह राज्य का काम है कि वह समुदाय में धन-वितरण में समानता लाये। यह प्रगतिशील कर-निर्धारण द्वारा किया जा सकता है। उद्देश्य गरीब और अमीर के बीच की खाई को पाटने का है। यदि यह उद्देश्य पूरी तरह से प्राप्त हो जाता है तो उससे अमीरों पर इस सीमा तक कर लगाने की आवश्यकता पड़ेगी कि बचत को प्रोत्साहन न मिले और पूंजी को बाहर खदेड़ दे, जिससे इसमें सन्देह नही कि समुदाय की उत्पादन-शक्ति को पंगु बना देगी। धन

वितरण की असमानतायें केवल कर लगाने से ही नही वरन् बुद्धिमानीपूर्ण सार्वजनिक व्यय से भी कम की जा सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति को कुछ अदा करना चाहिए (Everyone Ought to Pay Something)—विचार यह है कि राज्य के मामलों में प्रत्येक नागरिक में जिम्मेदारी की भावना पैदा हो जिससे कि वह नागरिक जीवन में अधिक सक्रिय और बुद्धिमानीपूर्ण दिलचस्पी ले सके। इससे नागरिक को अपनी स्थिति का आभास और राज्य में अपने महत्त्व का आभास होगा। किन्तु गरीब लोगों के लिए यह नागरिक-आभास बहुत ही महंगा पडेगा। यदि गरीबों को कर से भार से बिल्कुल मुक्त कर दिया जाय, तो यह अधिक उचित होगा।

१०. आनुपातिक बनाम प्रगतिशील कर-निर्धारण (Proportional Vs. Progressive Taxation)—कर-भार के उचित वितरण के विभिन्न सिद्धांतों पर विचार करते समय हम इस नतीजे पर पहुंचे है कि जहा कही सम्भव हो कर में प्रगतिशीलता की कुछ मात्रा होनी चाहिये। प्रगतिशीलता के सिद्धान्तों को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। किन्तु ऐसा सदैव नही।

आनुपातिक कर-निर्धारण के बहुत-से समर्थक हुए है। मैक कुलो(Mc Culloch) का प्रसिद्ध कथन १९ वी शताब्दी की मनोवृत्ति को स्पष्ट करता है। उन्होंने लिखा है—"जब आप सरल सिद्धान्त (समानुपात का) को छोड देते है तो आप अपने को बिना पतवार तथा कम्पास के समुद्र में पाते है और अनौचित्य की कोई सीमा नही जिसे आप पार कर सकते है।" जे. एस. मिल इससे भी अधिक जोरदार शब्दों में कहते है—क्रमबद्ध परिवर्तित होने वाले आय-कर का निर्धारण का तरीका सम्पूर्णतः अनुचित है। वास्तव में वह एक क्रमबद्ध परिवर्तित होने वाली डकैती है।" उसके अनुसार प्रगतिशील करनिर्धारण छीन लेने की दिशा मे एक कदम है।

त्याग की समानता के सिद्धान्त के अनुसार आनुपातिक कर-निर्धारण केवल इस अनुमान पर उचित हो सकता है कि आय के बढ़ने के साथ धीरे-धीरे आय की उपयोगिता कम हो। यदि हम समानुपातिक त्याग के सिद्धान्त को दृष्टिकोण में रखें तो समानुपातिक कर केवल इस अनुमान पर उचित हो सकता है कि जैसे-जैसे आय बढ़ती है, वैसे-वैसे आय की उपयोगिता बिल्कुल ही कम नही होती। यह अनुमान गलत है, क्योंकि जब आय बढ़ती ह तो उसकी उपयोगिता अवश्य गिरनी चाहिए। इसलिए आनुपातिक कर-निर्धारण न तो त्याग की समानता के सिद्धान्त पर और न आनुपातिक त्याग के ही सिद्धान्त पर उचित है। आनुपातिक कर-निर्धारण में समान त्याग निहित होगा जबकि स्वय त्याग कर-दाता की क्षमता के अनुपात में होना चाहिये। अतएव समानुपातिक कर-निर्धारण उचित नही है। वह पर्याप्त उत्पादक भी नही है और यहां तक कि आनुपातिक कर-निर्धारण में भी स्वेच्छा का तत्त्व बिल्कुल ही अनुपस्थित नही रहता। अतएव समानुपातिक कर-निर्धारण के सिद्धान्त

को, जहां तक प्रत्यक्ष कर-निर्धारण का सम्बन्ध है, बिल्कुल ही त्याग दिया गया है। दूसरे शब्दों में, जहां सम्भव है, प्रगतिशील कर-निर्धारण का सिद्धान्त अपनाया गया है।

प्रगतिशील कर-निर्धारण का सिद्धान्त कुछ अनुमानों पर उचित है। अनुमान किया जाता है कि जैसे-जैसे आय बढती है, आय में होने वाली प्रत्येक वृद्धि की उपयोगिता कम होती है। आगे और अनुमान किया जाता है कि आय के बढ़ने के साथ विलास की सामग्रियों पर व्यय बढ़ता है। जबकि आर्थिक लाभ के विचार से विलास की सामग्रियो की अपेक्षा आवश्यकताये अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतएव इससे यह होता है कि धनवान पर अधिक कर लगा कर हम उन्हे विलास की सामग्रियों में कमी करने के लिए बाध्य करते है। इसमे जो त्याग निहित है, वह उन गरीबो को होने वाले लाभ की भाति ही महान् है कि जिन पर कर से प्राप्त धन खर्च किया जा सकता है।

प्रगतिशील कर-निर्धारण से अधिक आय होती है और इस कारण वह अधिक उत्पादक है। यह देखना बड़ा कठिन है कि प्रगतिशील सिद्धान्त की अनुपस्थिति मे आधुनिक सरकार आज अपने बजट को किस प्रकार सतुलित करती है।

प्रगतिशील कर-निर्धारण अधिक मितव्ययितापूर्ण है। जब दर बढती है तो करों के उगाहने की लागत नही बढ़ती। प्रगतिशील कर-निर्धारण के सम्बन्ध मे कोई आपत्ति नही उठाई जा सकती। वह करदाता से समानुपातिक त्याग की मांग करता है। वह चौड़ी पीठ पर सबसे भारी बोझा रखता है।

प्रगतिशीलता का सिद्धान्त कर-प्रणाली को अति आवश्यक समानता प्रदान करता है। जब आवश्यकता पडती है तो दरो में थोडी वृद्धि कर देने से स्थिति का सामना करने के लिये पर्याप्त हो जाता है।

प्रगतिशील सिद्धान्त के विरोधियो ने इस प्रणाली के विरुद्ध बहुत-सी आपत्तिया उठाई है। हम नीचे इन आपत्तियो की जांच करेगे।

(१) कहा जाता है कि यह बिल्कुल ही अस्वेच्छाचारितापूर्ण है। प्रगतिशीलता की मात्रा वित्तमन्त्री द्वारा बिना किसी निश्चित और वैज्ञानिक आधार के तय की जाती है। यह विशुद्धतः व्यक्तिगत राय होती है। कर के प्रस्तावों पर उसी की इच्छाओं का रंग चढ़ना अनिवार्य हो जाता है। स्पष्ट है कि यह आपत्ति सिद्धान्त पर नही वरन् प्रगतिशीलता की मात्रा पर है। यद्यपि उसे वैज्ञानिक ढंग से निर्धारित नही किया जा सकता, फिर भी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए छोटे अतरों का कोई महत्त्व नही। वित्तमन्त्री की बुराइयों को ठीक करने के लिए विधान सभा के सदस्य तो होते ही है।

(२) कहा जाता है कि प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का समर्थन हित वृद्धि करने के आधार पर नही किया जा सकता, क्योंकि हित परोक्ष होता है और उसे मापा नही जा सकता। ऐसा कोई वैज्ञानिक यन्त्र नही जिससे यह परीक्षण किया जा सके कि आय में असमानता

की कमी होने के फलस्वरूप हितवृद्धि हुई है या नही। कदाचित् गरीबों को आराम पहुंचने की अपेक्षा गरीबों को परेशानी अधिक होती है।

हम इस आपत्ति की शक्ति को स्वीकार कर सकते है। हम सुख अथवा कल्याण को माप नही सकते। किन्तु कोई भी इस बात से इन्कार नही करेगा कि सामाजिक रूप से यह उचित है कि धनवानो को अधिक कर देना चाहिये, क्योकि वे ऐसा कर सकते है।

(३) प्रगतिशीलता बचत को हतोत्साहित करेगी, पूजी को बाहर खीचेगी और इस प्रकार व्यापार तथा उद्योग मे बाधा उपस्थित करेगी। सक्षेप मे वह मितव्ययितापूर्ण नही होगी।

किन्तु ऐसे बुरे परिणाम उसी दशा मे होगे, जब प्रगतिशीलता औचित्य और अविलम्बन की सीमा पार कर जायगी। ऐसा बहुत कम हुआ है। पूजी इतनी चेतनशील नही है, जैसा कि समझा जाता है।

(४) प्रगतिशीलता वैज्ञानिक आधार पर टूट जाती है। उसका यह आधारभूत अनुमान कि वही आय उसी सन्तोष को नापती है, उचित नही है। फिर क्रमागत ह्रास नियम की उपयोगिता धन के मामले मे ठीक भी नही उतर सकती। उनका कथन है, "धन एक अच्छाई का प्रतिनिधित्व नही करता वरन् सामान्यत: अच्छाइयो का प्रतिनिधित्व करता है। चूकि मानव की आवश्यकताएँ असीम है, इसलिए यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या धनी व्यक्ति को अतिरिक्त धन की आवश्यकता कम होती है। यह भी हो सकता है कि जैसे-जैसे आय बढे वैसे-वैसे उसकी अतिरिक्त आय की इच्छा भी बढ़े। ऐसा उस दशा में हो सकता है जब आय मे वृद्धि उसके रखने वालों को उच्चतर सामाजिक क्षेत्र मे आने-जाने के लिए प्रेरित करे और इस प्रकार उसकी आवश्यकताओं में वृद्धि हो।"[१]

वैज्ञानिक आधार पर इस दलील का जवाब नही दिया जा सकता किन्तु धार्मिक और राजनैतिक आधार पर प्रगतिशीलता का समर्थन जोरों के साथ किया जा सकता है।

(५) कहा जाता है कि प्रगतिशीलता से कर देने से बच जाने की भावना बढ सकती है। किन्तु समानुपातिक कर-निर्धारण में भी कर देने से बच रहने की सम्भावना कम नही है। यह सामाजिक चेतना पर निर्भर करता है।

इस प्रकार प्रगतिशील कर-निर्धारण, चाहे वह वैज्ञानिक ढग से उचित हो अथवा नही, धार्मिक रूप से ठीक है, सामाजिक रूप से उचित है और मितव्ययिता, उत्पादन तथा नम्रता के नियम के अनुरूप है।

११. कर देने की शक्ति का विचार (Concept of Taxable Capacity)—कर देने की क्षमता के विचार ने बहुत से अर्थशास्त्रियो और प्रसारकों के मस्तिष्क को परेशान किया है। डाल्टन उसे एक "धुधला अस्तव्यस्त विचार" कहते है। वह कहते है कि "कर देने की क्षमता एक ऐसी पौराणिक कहानी है, जिसे सार्वजनिक वित्त

१ Thomas, S. E. : Elements of Economics, 1936, p. 332.

पर होने वाले गंभीर विचार के समय बिल्कुल ही त्याग देना चाहिये।" इस प्रश्न पर कि क्या कर देने की क्षमता नापी जा सकती है, उनका विचार है कि कैनन (Cannan) का यह उत्तर कि "नही कैसे?", सब से अच्छा है। फिन्डले शिराज कहते है कि "सरकार के लिये मोटे तौर से भी यह जानना बुद्धिमानी होगी और साथ ही उपयोगी भी, कि साधारण और असाधारण दोनों ही परिस्थितियों में करों के द्वारा देश किस सीमा तक अदायगी कर सकता है।" उनका आगे यह कहना है कि "युद्धोत्तरकालीन वित्त की आवश्यकता ने, विशेषकर सार्वजनिक ऋण से लदे बजटों के संतुलन की आवश्यकता ने कर अदा कर सकने की क्षमता को वास्तविक और कर-निर्धारण की एक स्थिर समस्या बना दिया।"[१]

कर अदा कर सकने की क्षमता क्या है ? (What is Taxable Capacity) ——कर अदा कर सकने की क्षमता दो अर्थो में प्रयुक्त हो सकती है: (१) निरंकुश और (२) तुलनात्मक। निरंकुश कर अदा कर सकने की क्षमता की परिभाषा भिन्न तरीकों से की गई है। इसका अर्थ है कि एक विशेष समुदाय करों के रूप में कोई अशोभनीय प्रभाव डाले बिना कितना अदा कर सकता है। इसके विपरीत तुलनात्मक अदा कर सकने की क्षमता का अर्थ है——साझे खर्च मे अर्थात् केन्द्रीय खर्च के प्रांतीय योगदान में दो समुदायों को अलग-अलग कितना देना चाहिये। डाल्टन का कहना है कि पहला एक कल्पना है, और दूसरा वास्तविकता। सापेक्ष सीमा पर निरंकुश सीमा के बिना जाया जा सकता है अर्थात् हम उस सीमा तक पहुच सकते है कि एक विशेष समुदाय को कितना अदा करना चाहिये। ऐसा हम उस सीमा तक पहुचे बिना कर सकते है कि जिसके आगे सम्भवतः वह समुदाय अदा नही कर सकेगा।

निरंकुश कर अदा कर सकने की क्षमता के दो अलग-अलग दृष्टिकोण है: ——(अ) बिना पीडा के अदा करने की क्षमता (ब) पीडा की परवाह किये बिना अदा कर सकने की क्षमता। पहले अर्थ मे अदा कर सकने की क्षमता वस्तुतः कुछ भी नही है, क्योकि प्रत्येक कर मे कुछ पीड़ा निहित होती ही है। दूसरे अर्थ मे अदा कर सकने की क्षमता की कोई सीमा नही है। सिवा, इसके कि जो समुदाय के साधनों के विचार से निश्चित की जाय।

सर जोसिया स्टाम्प (Sir Josiah Stamp) ने कर अदा कर सकने की क्षमता की परिभाषा इस प्रकार की है: "कुल खर्च पर कुल उत्पादन का सीमान्त या जनसंख्या को एक जीवनोपार्जन के स्तर पर रखने के लिये आवश्यक धन" इसका अर्थ है——"अधिक से अधिक जो कि समुदाय अदा कर सके और इस अदायगी में दुःखी और पददलित जीवन न रहे और न सगठन में बहुत अधिक गड़बड़ी हो।" फिन्डले शिराज (Findlay Shirras) ने निरंकुश कर अदा कर सकने की

१. Findlay Shirras : Science of Public Finance, 1936. P. 227.

परिभाषा इस प्रकार की है—"किसी असहनीय कष्ट का अनुभव किये बिना देश के नागरिकों द्वारा सार्वजनिक खर्च के लिए दिया गया अधिक से अधिक धन"। संक्षेप में, कर दे सकने की क्षमता दबाव की सीमा है। वह राष्ट्र की कर दे सकने की क्षमता है, कर से वसूल किया गया और समुदाय की आर्थिक भलाई के लिये खर्च किया गया अधिक से अधिक धन।"

इन परिभाषाओं में वैज्ञानिक औचित्य की कमी है और साथ ही वह अस्पष्ट भी है। स्टाम्प का "जीविकोपार्जन का धरातल" और[१] "दुःखद पददलित जीवन" और शिरास का "असहनीय दुःख" और "अधिक से अधिक आर्थिक कल्याण" की वैज्ञानिक परिभाषा नही की जा सकती और न उनको ठोस शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु इससे कर दे सकने की क्षमता के विचार की उपयोगिता तथा व्यावहारिक महत्त्व कम नही होता। ऊपर की परिभाषाओं में जो अर्थ है, वह बहुत ही स्पष्ट है। यद्यपि हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि कर दे सकने की क्षमता को नापने के लिये कोई भी प्रयत्न निश्चित रूप से असफल होगा। कैनन का "नही कैसे", वास्तव में सही उत्तर है।

कर दे सकने की क्षमता की सीमा कब पार होती है ? (When is the Limit of Taxable Capacity Exceeded)—इस सम्बन्ध में भी दृष्टिकोणों में अन्तर है कि कर दे सकने की क्षमता के पार हो जाने की पहचान क्या है। स्टाम्प कर दे सकने की क्षमता के लिए दो सीमाओं का उल्लेख करते है : (अ) कुल उत्पादन पर अकुश (ब) कुल आय पर अंकुश। किन्तु अत्यधिक कर-निर्धारण के अतिरिक्त अंकुश के और भी कारण हो सकते है। कर-निर्धारण ही एक ऐसी वस्तु नही जो उत्पादन पर प्रभाव डालती है। एलिन्गर (Ellinger) समझते है कि "सीमाओं तक उस समय पहुचा जायेगा जब कि करदाता की जेब से इतना लिया जाय कि उत्पादन के लिए किए गए प्रयत्नों में कमी हो जाय और जब कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक पूंजी की व्यवस्था करने के लिए तथा बढ़ती हुई जनसख्या में नये श्रमिकों को काम पर लगाने के लिए अपर्याप्त शेष रह जाता है।" वह उत्पादन पर सार्वजनिक व्यय के लाभप्रद प्रभाव को स्पष्टतया ध्यान में नही रखते। तथ्य यह है कि कर दे सकने की क्षमता को जटिलता के साथ निर्धारित नही किया जाता। वह एक गतिशील बिन्दु है। वह ऐसे बहुत से कारणों से सबंधित है जिनमें होने वाला कोई भी परिवर्तन राष्ट्र की कर दे सकन की क्षमता के संबंध में किए गए हमारे अनुभवों को बदल देगा।

१२. कर दे सकने की क्षमता के तत्त्व (Factors of Taxable Capacity) फिन्डले शिराज़ ने निम्न तत्त्व बताये है जो राष्ट्र की कर दे सकने की क्षमता को निश्चित करते है[२]:—

---

१. Quoted by Dalton—Principles of Public Finance, 1943, P. 136.

२ Findlay Shirras : Science of Public Finance, 1936, p. 234.

(१) **निवासियों की संख्या** (The Number of Inhabitants)—यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जितनी ही अधिक जनसंख्या होगी उतना ही अधिक सरकारी खर्च में समुदाय द्वारा कर दे सकने की क्षमता होगी। इस दृष्टिकोण से भारत का स्थान अच्छा है। उसकी कर दे सकने की क्षमता उस समय निश्चित रूप से बढ़ेगी, जब कि देश का उचित आर्थिक विकास किया जायगा।

(२) **देश में धन का वितरण** (The Distribution of Wealth in the Country)—यदि धन को अधिक समानता के साथ वितरित किया जायगा तो उसी हिसाब से कर दे सकने की क्षमता भी कम होगी। किन्तु यदि कुछ हाथों में धन का अधिक जमाव है, तो सरकार अमीरों पर कर लगाकर अधिक धन एकत्र कर सकती है।

(३) **कर-निर्धारण का तरीका** (The Method of Taxation)—वैज्ञानिक ढग से निर्मित कर-प्रणाली, जिसमे करो के विभिन्न प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तरीको का बुद्धिमानी के साथ समन्वय किया गया हो, निश्चित रूप से अधिक प्राप्ति करेगी। हमारी कर-प्रणाली इतनी विभिन्नरूपी नही है। कृषि की लम्बी आय तथा उत्तराधिकार पर हमारे यहा कर नही लगाये जाते। इससे निश्चय ही कर दे सकने की क्षमता में कमी होती है।

(४) **कर-निर्धारण का उद्देश्य** (The Purpose of Taxation)—यदि कर-निर्धारण का उद्देश्य लोगो की भलाई करने का है, तो अपने ऊपर कर लगाने के लिए वह अपेक्षाकृत अधिक इच्छुक होगे। एक लोकप्रिय उद्देश्य के लिए लोग अपनी क्षमता को अधिकाधिक विस्तृत करने के लिए इच्छुक होंगे। यदि सरकार अकाल और बीमारी का सामना करने के लिए और शिक्षा-प्रसार के लिये धन वसूल करना चाहती है तो करों की प्राप्ति मे आश्चर्यजनक विस्तार होगा। किन्तु यदि अधिकांश सार्वजनिक धन को विदेशी सशस्त्र सेनाओं के रखने और ऐसे खर्चीले सरकारी कर्मचारियों पर, जिनमें विदेशियों की भरमार है, खर्च किया जाता है, जैसा कि भारत में था, तो कर देने की क्षमता बहुत अधिक कम हो जायगी।

(५) **करदाता की मनोवैज्ञानिक स्थिति** (The Psychology of the Tax Payer)—सरकार के प्रति लोगों के रुख पर अधिक निर्भर करता है। एक लोकप्रिय सरकार लोगों के उत्साह को बढा सकती है और उन्हे बडे त्याग के लिए तैयार कर सकती है। इसी से युद्ध ऋण को सफलता मिलती है। लोगों का मनोविज्ञान एक महत्वपूर्ण वस्तु है और जब तक उचित ढंग से उनके पास पहुंचा न जाय, वे अपने ऊपर कर लगाने के लिए तैयार नही हो सकते।

(६) **आय की स्थिरता** (Stability of Income)—यदि नागरिकों की आय गंभीर रूप से कम है तो अधिक कर-निर्धारण के लिये गुजाइश नही रह सकती। अनिश्चित मानसून भारतवर्ष में कम कर दे सकने की क्षमता का कारण है। केवल स्थिर आय

पर ही दीर्घकालीन आर्थिक व्यवस्थाए आधारित हो सकती है ।

(७) **मुद्रा स्फीति** (Inflation)—इससे लोगों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है । कर देने की शक्ति पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है ।

राष्ट्र को कर दे सकने की क्षमता की जानकारी के लिये हमें इन सब बातों पर ध्यान देना चाहिये । ऐसा भी हो सकता है कि कर दे सकने की क्षमता पर प्रभाव डालनेवाले अनेकानेक कारणो के फलस्वरूप हम इस क्षमता की माप न कर सकें । महत्व मात्रा में निहित है, न कि लक्ष्य मे । शिराज के शब्दों में किसी महत्त्वपूर्ण केन्द्र को जाने वाली सडक पर बहुधा बहुत से चौराहे होते है जो दिशा संकेत है, जो खतरा सूचक चिह्न (Danger Singal) होते है किन्तु इससे सतर्क यात्री के लिए यात्रा का मूल्य कम नही होता ।[1]

१३. एक कर प्रथा का स्वप्न (Dream of a Single Tax)—इस की सादगी से आकर्षित होकर बहुत से लेखको ने केवल एक कर लगाने का समर्थन किया है । इसके पीछे एक लम्बा इतिहास है । साथ ही इसका समर्थन भी विभिन्न रूपों में किया गया है ।

क्वेसने (Quesnay) और टरगाट (Turgot) ने भूमि में एक कर का समर्थन किया है । उनके अनुसार भूमि ही धन का एक-मात्र साधन है । भूमि ही से अकेले विशुद्ध आय की प्राप्ति होती है । उन्होने इस विशुद्ध प्राप्ति पर इकहरे कर की व्यवस्था की है ।

सान फ्रासिस्को के हेनरी जार्ज ने भूमि के मूल्य में अनार्जित वृद्धि पर इकहरे कर का समर्थन किया है । वह समाजवादी ढंग की विचारधारा रखते थे और उनका कहना था कि भूमि पर कुछ लोगो का एकाधिकार जनता की गरीबी का कारण है । उन्होने राज्य द्वारा कर-निर्धारण के माध्यम से समूचे लगान पर अधिकार करने का समर्थन किया है । उन्होने कहा कि इसके बाद किसी भी कर की आवश्यकता नही होगी ।

उनके सिद्धान्त को स्वीकार नही किया गया और उनके प्रस्तावों के विरुद्ध निम्न आधारों पर आपत्ति उठाई गई है:—

(१) कहा जाता है कि कर से प्राप्त आय आधुनिक सरकार के लम्बे खर्च को सहन करने के लिए काफी नही होगी ।

(२) उससे एक ढंग की आय के व्यक्तियों को दंड सहना पड़ेगा और दूसरे लोग बिल्कुल अछूते बच जायेंगे । यह न केवल अनुचित है, वरन् उससे कर देने से बचे रहने का मार्ग खुलेगा क्योकि जमीदार उसके बजाय दूसरे ढंग की जायदाद प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे और उससे कर के बोझ का उचित वितरण नही होगा ।

(३) यह हिसाब लगाना आसान नही है कि ठीक-ठीक कितना अनार्जित किया

---

१ Findlay Shirras : Science of Public Finance, 1936, p. 31.

गया है और व्यक्तिगत प्रयत्न अथवा भूमिस्वामी के सुधारों के फलस्वरूप कितनी वृद्धि हुई है।

(४) जहां भूमि का मूल्य कम हो जाता है, वहां राज्य द्वारा मुआवज़ा देना पड़ेगा। अनावश्यक रूप से सरकार भूमि मूल्य के उतार-चढ़ाव में फंस जायगी।

(५) बहुत-सी प्रशासन-सम्बन्धी कठिनाइयां होंगी।

समाजवादी आय पर इकहरे कर का समर्थन करते हैं। प्रत्येक आय पर कर लगाना चाहिए। कहा जाता है कि इससे भूमि पर इकहरे कर के समक्ष उपस्थित दो प्रमुख कठिनाइयां आसानी के साथ हल की जा सकती है। सभी आयों और ऊंची आयों पर कर लगाने से उचित कोष तैयार किया जा सकता है। वर्गीकरण और अन्तरीकरण के द्वारा भी कर का बोझ उचित ढंग से वितरित किया जा सकता है। किन्तु यह भी प्रस्ताव आपत्तियों से मुक्त नही है :—

(१) यह कष्टप्रद होगा, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को कर देने की असुविधा उठानी पड़ेगी।

(२) अनेकानेक छोटी-छोटी आयों से कर वसूल करने का खर्च लगभग निषेधात्मक होगा। फिर भी शासन-सम्बन्धी सुधारों से इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

(३) जब केवल एक ही कर होगा तो कर से बच रहना अपेक्षाकृत एक गम्भीर मामला होगा। शिथिलताओं को ठीक करने के प्रयत्न से कर-प्रणाली और भी दुरूह हो जायगी।

(४) प्रशासन-सम्बन्धी कठिनाइयां होंगी।

(५) धन के उत्तराधिकारी बचे रहेंगे, यदि केवल आय पर कर लगाया जायगा। इस पर केवल इसी प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है कि उत्तराधिकार को कर लगाई जाने वाली आय समझा जाय।

(६) इससे बचत पर रोक रहेगी और इसलिए पूंजी जमा होगी और फिर इससे व्यापार और उद्योग के विकास में बाधा पहुंचेगी। इस आपत्ति को बचत पर छूट देकर दूर किया जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ व्यक्तिगत आय पर कर लगाना न होगा वरन् व्यक्तिगत खर्च पर कर लगाना होगा। इससे प्रशासकीय कठिनाइयां उपस्थित होंगी और बहुत-सी शिथिलताएं रह जायंगी।

आय पर एक कर व्यावहारिक भी नही है। इकहरे कर की दूसरी किस्म सम्पत्ति की पूजीगत कीमत पर कर लगाना है। किन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि आय पर कर-निर्धारण जायदाद की अपेक्षा मनुष्य की अदा कर सकने की क्षमता का अधिक अच्छा संकेत है।

इकहरे कर के विशेष रूपों के विरुद्ध आपत्तियों के अलावा इकहरे कर के सभी रूपों के लिए सामान्य ढंग की दो दलीलें दी जा सकती हैं :—

(१) इससे व्यक्तियों के बीच असमानता पैदा होगी और इन्हें केवल बहुरूपी कर-प्रणाली द्वारा ही सुधारा जा सकता है।

(२) इकहरे कर में कर देने से बचे रहना आसान है जबकि बहुरूपी प्रणाली में रुकावटें है।

इकहरा कर सिद्धान्तवादियों का स्वप्न है। व्यावहारिक राजनीतिज्ञों में उसके बहुत कम समर्थक है। इस वादविवाद का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है क्योंकि इकहरा कर व्यावहारिक वित्त से परे की चीज है। प्रत्येक देश ने कर-निर्धारण की सयुक्त अथवा बहुरूपी कर प्रणाली अपनायी है।

१४. स्थानीय कर (Local Taxation)—चूकि स्थानीय अधिकारी ही नागरिक के घनिष्ट सम्पर्क में आते है, इसलिये स्थानीय कर-व्यवस्था का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

स्थानीय वित्त की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या केन्द्रीय और स्थानीय वित्त सम्बन्धों का समन्वय है। यह एक टेढ़ी समस्या है। प्रजातन्त्रवाद और कार्य-क्षमता कुछ अंश तक एक दूसरे के विरोधी है। प्रजातन्त्रवाद के सिद्धांतों की पूर्ति के लिये स्थानीय बोर्ड या कमेटी को बहुत अधिकार या छूट देनी पड़ती है। लेकिन स्थानीय बोर्ड सुचारु रूप से उच्चकोटि की सेवाएं नही कर सकता। फलस्वरूप कार्य-क्षमता गिरेगी। लेकिन यदि कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिये केन्द्रीय सरकार, स्थानीय सेवाओं को अपने हाथों में लेती है तो स्थानीय बोर्ड की स्वतन्त्रता और अधिकार छिन जायेंगे। स्थानीय सुप्रबन्ध के लिये उस स्थान की जानकारी आवश्यक है। लेकिन स्थानीय सम्पत्ति और स्थानीय आवश्यकताओं के बीच बहुत अन्तर होता है। अधिकतर स्थानीय सम्पत्ति आवश्यकताओं की दृष्टि से बहुत कम होती है। जितना ही कोई स्थान निर्धन होता है, उतनी ही अधिक वहां की आवश्यकताएं होती हैं। इस कमी को दूर करने के लिये स्थानीय करों और केन्द्रीय अनुदानों (Grants) की उचित व्यवस्था आवश्यक है।

जिस प्रकार केन्द्रीय कर-सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त हैं उसी प्रकार स्थानीय करों के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है। एक अच्छी स्थानीय कर-प्रणाली के लिये क्या-क्या बातें आवश्यक हैं ? अन्य करों की तरह, स्थानीय करों को भी समानता, निश्चितता, बचत तथा सुविधा के सिद्धांतों को पूरा करना चाहिए। इनके अलावा अच्छे स्थानीय करों की कुछ और भी विशेषताएं हैं क्योंकि स्थानीय अर्थ-व्यवस्था केन्द्रीय अर्थ-व्यवस्था से कई आधारभूत बातों में भिन्न है।

(१) अच्छे स्थानीय करों की एक मुख्य विशेषता यह है कि उनसे प्राप्त आय स्थायी होनी चाहिए। व्यापार के उतार-चढ़ाव का उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये। स्थानीय सरकार के लिये यह बात अपेक्षाकृत बहुत आवश्यक है। स्थानीय सरकार की ऋण लेने की शक्ति सीमित होती है जबकि केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में वस्तुतः कोई

सीमा नही होती। अस्तु, यह आवश्यक है कि स्थानीय सरकार की आय जहां तक हो सके स्थायी हो और व्यापार आदि की दशा पर निर्भर न हो। अन्यथा मंदी के दिनों में स्थानीय सेवाओं का काम बन्द हो जायगा। सन् १९३० में अमरीका के साथ ऐसा ही हुआ।

(२) आधार का केन्द्रीकरण स्थानीय करप्रणाली का दूसरा चिन्ह है। जब तक कि कर का आधार कुछ सीमाओं के भीतर केन्द्रित न होगा, बजट पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण सम्भव न होगा। लेकिन इसमें एक खतरा भी है। छोटे क्षेत्रों में वित्तसम्बन्धी अवसर तो कम होते है लेकिन बाहर जाने के अवसर अपेक्षाकृत अधिक होते है। बम्बई में ऊंचे स्थानीय करो के कारण सूती मिल उद्योग वहां से हटकर हैदराबाद, अहमदाबाद आदि की ओर चला गया। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि जहां तक सम्भव हो, स्थानीय अर्थ-व्यवस्था में तीव्र प्रगतिशील करों को दूर रखना चाहिए। स्थानीय करों को आनुपातिक और थोडा-सा घटता हुआ होना चाहिए।

(३) "स्थानीय कर स्थानीय उपयोग" एक तीसरी विशेषता है। राष्ट्रीय और स्थानीय सरकारों के बीच कर लगाने के अधिकारों का उचित बटवारा होना आवश्यक है। ऐसा न होने पर दुबारा व तिबारा कर लगने का डर रहेगा जिससे वितरण क्षेत्र में बड़ी असुविधा होगी। साथ ही केन्द्रीय सरकार को अपनी कर-व्यवस्था को प्रगतिशील बनाने में अड़चन होगी।

इन तमाम बातों को ध्यान में रखते हुए भूमि और मकान पर कर स्थानीय उद्देश्यों के लिये अति उत्तम प्रतीत होते है। इन करो से आय स्थायी होती है और इनका आधार निश्चित रूप से केन्द्रित होता है। स्थायी होने का कारण यह है कि अन्य माल की तुलना में इनके चलन का वेग धीमा होता है और फलस्वरूप इनके मूल्य में कम उतार-चढ़ाव होता है। भूमि-कर में एक और अच्छाई है। प्रत्येक नागरिक के आर्थिक जीवन में इनका इतना महत्त्व होता है कि कर के थोड़े-से भार से भी काफी आय हो सकती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा इन करो पर अधिकार प्राप्त करने का भी डर नही रहता।

फिर भी भूमि आदि पर कर लगाने में एक कमजोरी नजर आती है। मूल्यांकन के लिये स्थानीय सरकार विशेषज्ञों को नियुक्त नही कर सकती। एक दूसरी मुसीबत छूट के गुणन से आती है। फल यह होता है कि जिनको छूट नही मिल पाती, उन्हें कर का अधिक भार सहन करना पड़ता है। सिद्धान्ततः भूमि-कर के खिलाफ यह बात कही जाती है कि स्थानीय सरकार की दृष्टि से यह लोचरहित है और कर-दाता की दृष्टि से प्रतिगामी। लेकिन यह हम पहले ही कह चुके है कि स्थिरता और अप्रगतिशीलता स्थानीय कर-प्रणाली के गुण हैं, दोष नही।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्थानीय सरकार के लिये निम्न प्रकार के कर अति उत्तम है---मनोरंजन कर, सवारी-कर, मोटर कर, चुंगी, व्यवसाय-कर, साइकिल कर, पशु-कर आदि ।

अध्याय ४७

कर का भार

(INCIDENCE OF TAXATION)

१. कर का भार क्या है? (What is Incidence ?)—वास्तव में कर कौन देता है ?—यही कर के भार की समस्या है। कर सदैव उन्ही व्यक्तियों पर नही पड़ता जो उसको प्रारम्भ में देते है। कभी-कभी वह अन्य व्यक्तियों पर टाला जा सकता है। उसके भार का अभिप्राय कर के अन्तिम स्थान पर स्थिर होने से है। वह भार उस मनुष्य के कंधो पर पड़ता है, जो अन्त में उस कर का द्रव्य-भार सहन करता है। हमें यह देखना है कि कर का मुद्रा में भुगतान किस की जेब से हुआ है अथवा यदि कर न लगाया जाता तो वह द्रव्य किसकी जेब में बचा रहता ?

हम **दबाव** (Impact) और **भार** (Incidence) में भेद कर सकते हैं। कर का दबाव उस व्यक्ति पर होता है जो प्रारम्भ में उसे देता है। और भार उस व्यक्ति पर होता है जो अन्त में उसे सहन करता है। यदि चीनी पर उत्पाद-कर लगा दिया जाता है, तो प्रारम्भ मे उसका भुगतान चीनी का व्यवसायी करता है तथा उसका दबाव उसी पर ही पड़ता है। परन्तु वह कर चीनी की बिक्री के समय मूल्य में जोड़ दिया जायगा जो कि अनेक हस्तांतरणों की मालाओं द्वारा अन्त में चीनी के उपभोक्ता पर पडेगा। अतएव, उसका भार (Incidence) अन्तिम उपभोक्ता पर पड़ता है।

कर का भार, विवर्तक नहीं होता (Incidence is not Shifting)—कर विवर्तन का अर्थ है हस्तांतरण की विधि अर्थात् एक कर का उस व्यक्ति से, जो सबसे पहले भुगतान करता है, आगे उस व्यक्ति तक बढ़ना, जो अन्त में सहता है। यह कर विवर्तन या चलन की विधि के द्वारा ही है कि कर का भार अन्त में कही न कही पड़ ही जाता है। कर विवर्तन की क्रिया धीमी हो सकती है अथवा कुछ ही अंश तक प्रभावक हो सकती है, जिसके कारण एक कर का बोझा उस व्यक्ति पर नही भी पड़ सकता, जिसपर कि पड़ना चाहिए था। कर विवर्तन को **प्रतिघात** (Repercussion) भी कहते है। एक कर का विवर्तन उत्पादक से उपभोक्ता की ओर आगे बढ़ाया जा सकता है अथवा दूसरे से पहले की ओर पीछे भी हटाया जा सकता है।

कर-विवर्तन अपवंचन से सर्वथा पृथक् है (Shifting is Quite Different from Evasion)–अपवंचन का अर्थ कर देने से मुंह चुराना है। मैं एक कर लगी हुई वस्तु का उपभोग छोड़ सकता हूं और इस प्रकार कर को टाल सकता हूं। ऐसा अपवंचन बिल्कुल कानूनी है। परन्तु एक गैरकानूनी अथवा कपटी अपवंचन भी होता है।

उदाहरणार्थ, उस दशा में जब कि मै अपनी आय का एक झूठा परिलेख देता हूं अथवा अपनी वास्तविक आय छिपाता हूं। अपवंचन में किसी दूसरे पर कर विवर्तन का कोई प्रश्न नहीं उठता, कर तो बिल्कुल दिया ही नही जाता।

कर के भार और प्रभाव या परिणाम में भेद करना चाहिये। एक कर के प्रभावों से उसके आनुषंगिक परिणाम प्रतीत होते है। एक कर के लगाने से ऐसे बहुत से परिणाम होते है जो कि कर-भार की समस्या से सर्वथा पृथक् होते है। जैसा कि हम देख चुके है, यदि चीनी पर उत्पादन-कर लगाया जाता है तो वह अन्त में चीनी के उपभोक्ता पर विवर्तन किया जा सकता है। उपभोक्ता पर उसका भार पड़ता है। यह तो एक बहुत साधारण तथा छोटी समस्या है। परन्तु ऐसे उत्पादन-कर के प्रभाव गहरे भी हो सकते है; एक भारी उत्पादन-कर किसी उद्योग को कुचल सकता है। उस व्यवसायी का लाभ कम हो सकता है। मजदूरी घट सकती है। श्रमिकों तथा पूजीपतियो को उद्योग छोड़ना पड़ सकता है। हजारो मध्यजनों की, जो कि चीनी के वितरण में लगे हुए है, आय घट सकती है। उनके पारिवारिक आय-व्ययकों (बजटों) में उथल-पुथल होने के कारण कुछ अन्य वस्तुओं की मांग पर भी प्रभाव पड़ सकता है। चीनी का उपभोग कम हो सकता है और उसकी स्थानापन्न वस्तुओ का बढ़ सकता है। यह सब कर के ही प्रभाव है। यह एक बडी विस्तृत समस्या है, जो कि कर की भार की समस्या से पृथक् है। कर के भार में एक सीमित तथा विशेष समस्या का अध्ययन करते है, जिससे कि हम इस बात की खोज करते है कि किस पर मुद्रा भार पड़ता है।

हम एक कर के द्रव्य-दबाव (Money Burden) तथा वास्तविक दबाव (Real Burden) में भेद कर सकते है। कर का मुद्रा-दबाव, कोष में जो कुल द्रव्य आता है उसके बराबर होता है। यदि एक उपभोक्ता को ५ रुपये प्रति मास चीनी पर इस लिये व्यय करने पडें क्योकि चीनी का कर लगा हो, तो उसको मुद्रा-दबाव सहना ही होगा। परन्तु वह चीनी के उपभोग को कम कर सकता है जिससे उसके आर्थिक क्षेम में कमी हो जायगी। उसको अन्य वस्तुओं के उपभोग को कम करना होगा। यह प्रेरणा, असुविधा, त्याग अथवा संक्षेप मे आर्थिक कल्याण (Economic Welfare) की क्षीणता है जो कि एक कर का वास्तविक दबाव कहा जा सकता है। कर के भार में हम मुद्रा-दबाव को ही देखते है, न कि वास्तविक दबाव को। हम यह भी कह सकते है कि कर के भार का प्रश्न वास्तव में एक मूल्य का प्रश्न है। कर का दबाव, एक वस्तु के अथवा एक कर-दाता की सेवा के मूल्य के बढ़ाने से हटा दिया जाता है। मूल्य से ही अन्य व्यक्तियों पर प्रभाव पड़ता है। अतएव कर-भार का प्रश्न वास्तव में यह हो जाता है, एक कर का मूल्य पर कितना प्रभाव पड़ता है ? इस प्रकार यह एक मूल्य की विस्तृत समस्या का एक अंश हो जाता है। परन्तु मूल्य तथा कर में संबंध विदित करना इतना साधारण नही है, क्योंकि मूल्य अनेकों साधनों से प्रभावित होता है, जिनमें से कर केवल एक है।

२. कर-भार के अध्ययन का महत्त्व (Importance of the Study of Incidence)—हम यह देख चुके है कि राजकीय अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्तवादियों ने आधुनिक काल में कर के वित्त-सिद्धान्त को त्याग दिया है। कर के लगाने का ध्येय केवल एक निश्चित आय प्राप्त करने का ही नही है, परन्तु जनता की उन श्रेणियों पर कर लगाने का है जो कर को आसानी से सह सकती है। संक्षेप में, ध्येय यह है कि कर-भार का एक उचित वितरण हो। यह स्पष्ट है कि ऐसा करना असम्भव है जब तक कि प्रत्येक कर के भार की, जो कि सरकार लगाये, पूरी तौर से खोज न कर ली जाय। यह जानने के लिये कि किसी व्यक्ति से एक कर देने के लिये कहना उचित है या नही अथवा उस पर उसका दबाव कर-दाता की योग्यता के अनुकूल है या नही, हमको यह जानना आवश्यक है कि अन्त में कर किसको देना पड़ेगा।

यदि हमें एक कर-प्रणाली को एडम स्मिथ की प्रथम रीति अर्थात् समानता रीति के अनुसार बनाना है, तो हमको प्रत्येक कर की प्रतिक्रियाओं और प्रतिघातों का सावधानी से अध्ययन करना और उनके अन्तिम विश्राम का स्थान पता चलाना आवश्यक हो जाता है। जब तक हम यह नही जान जायं कि एक कर का वास्तव में कौन भुगतान करता है, हम यह नही कह सकते कि वह सम है, अथवा यह उन्ही व्यक्तियों पर पड़ता है जो उसका दबाव सह सकते है।

कुछ ऐसे भी कर है जिनको हम प्रत्यक्ष कर कह सकते हैं और जिनको उन्ही व्यक्तियों को भुगतान करना पड़ता है जो उसको सबसे पहले देते है। इनमें कर का भार स्पष्ट है। परन्तु एक देश की कर-प्रणाली केवल प्रत्यक्ष करों से ही नही बनती। उसमें परोक्ष कर भी होते है जिनकी प्रतिक्रियाएं जटिल होती है। ऐसे करों को विवर्तक बनाने के अभिप्राय से लगाया जाता है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में आर्थिक संघर्ष होने के कारण, करों का विवर्तन हो सकता है, बिल्कुल न हो अथवा अपूर्ण रूप से हो, अथवा उन व्यक्तियों पर हो, जिन पर बोझा डालने की इच्छा ही नही थी। कर विवर्तन के क्रम को आर्थिक शक्तियों की स्वतन्त्र चाल पर छोड़ना ही पड़ता है। अर्थ-विभाग को एक अपूर्ण और तात्कालिक गणना इस सम्बन्ध में करनी होगी कि कर-विवर्तन की प्रायः क्या गति होगी और किस को अन्त में कर को सहना पड़ेगा।

आधुनिक प्रजातन्त्र राज्य में, जिसमें शासन एक विशेष राजनीतिक दल से होता है, सरकार एक विशेष कार्यक्रम के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध रहती है। वह किसी एक वर्ग के लोगों की सेवा करना चाहती है और किसी एक वर्ग पर कर लगाना चाहती है। स्वर्गीय सर छोटूराम, अखंड पंजाब की सरकार के विकास मंत्री, यह निःसंकोच घोषणा करते थे कि वह एक निश्चित आय केवल नगर के व्यापारी-वर्ग से ही इकट्ठी करना चाहते थे। यह स्पष्ट है कि सरकार ऐसी नीति पर नहीं चल सकती जब तक कि वह यह कल्पना न कर ले कि करों का अन्तिम विश्राम-स्थान कहां होगा।

यदि राज्य-अर्थ-कोष को सामाजिक न्याय का एक यन्त्र या साधन बनाना है तो कर के भार की समस्या का महत्त्व एकाएक बहुत बढ़ जाता है। धनी पुरुषों पर कर लगाना ही है और उनकी आय से दरिद्र पुरुषों का उपकार करना ही होगा। यदि आप धनी पुरुषों पर कर लगाना चाहते है तो उसका भार उन्ही पुरुषों पर पड़ना चाहिये वरना हमारा उद्देश्य पूरा नही होगा। अतएव, हमको चाहिये कि हम प्रत्येक कर का अनुकरण करें और यह निश्चय करे कि उस कर को विश्राम करने के लिए एक धनी पुरुष का स्थान मिले।

३. प्रत्यक्ष और परोक्ष कर (Direct and Indirect Taxes)—हम पहले यह बता चुके है कि कर के भार की समस्या, जहां तक कि एक प्रत्यक्ष कर का सबंध है, बहुत सीधी है, क्योंकि एक ही व्यक्ति पर कराघात और कर-भार पड़ते है। परन्तु एक परोक्ष कर का एक व्यक्ति पर तो दबाव पड़ता है और दूसरे पर भार। एक प्रत्यक्ष कर को विवर्तक बनाने की इच्छा से नही लगाया जाता, जबकि एक परोक्ष कर को इसी इच्छा से लगाया जाता है। वास्तव में कर के भार की समस्या, परोक्ष कर के सम्बन्ध मे ही खड़ी होती है। इससे पहले कि हम एक कर के भार की खोज करें, हमको चाहियें कि प्रत्यक्ष और परोक्ष करों में अधिक स्पष्ट रूप से भेद करे और उनके सापेक्ष गुण-अवगुण का अध्ययन करें।

वस्तुओं पर कर, साधारणतः, परोक्ष कर कहलाते है क्योंकि वे पूर्ण रूप से अथवा अपूर्ण रूप से उपभोक्ताओं पर टाल दिये जाते है, यद्यपि वे विक्रेता या उत्पादकों से पहले वसूल किये जाते है। परन्तु यह हमको याद रखना चाहिये कि केवल एक वस्तु पर कर का लगाना ही उसको परोक्ष कर नही बना देता। इससे पहले कि हम किसी कर को परोक्ष कहें, हमको यह निश्चित करना चाहिये कि उसका दबाव विवर्तक हो। यह भी बहुत सम्भव है कि किसी वस्तु पर कर लगाया जाय, तो भी उसके मूल्य कर कोई प्रभाव न पड़े। इस अवस्था में उपभोक्ता पर कोई प्रभाव नही पड़ता और कर प्रत्यक्ष होगा न कि परोक्ष। किसी एकाधिकारी पर जो एक पिन्डराशि (Lump Sum) के रूप में अथवा एकाधिकार शुद्ध आय (Monopoly Net Revenue) पर प्रतिशत में कर लगाया जाता है, विवर्तक नही होता। इसके वितरीत, एकाधिकार पर ऐसा कर जो उत्पत्ति (Output) के अनुपात में हो, विवर्तक हो जाता है। पहली अवस्था में वह एक प्रत्यक्ष कर होगा जब कि दूसरी अवस्था में वह परोक्ष कर होगा। उत्तराधिकार कर (Inheritance Tax) साधारणतः एक प्रत्यक्ष कर कहा जाता है। यह उत्तराधिकारी पर पड़ता है और वही रुक जाता है। परन्तु पूर्वाधिकारी ने जब कि वह जीवित था, कोई जीवन-बीमा करा लिया हो जिससे कि उसके कर की राशि का आवरण हो जाता हो। ऐसी अवस्था में यह उस पर परोक्ष-धन दबाव डालेगा। आय-कर भी एक प्रत्यक्ष कर है परन्तु कुछ विशेष अवस्थाओं में उसका कोई अंश विवर्तक हो सकता है। उस सीमा तक यह परोक्ष कर हो जायगा। अब हम इस परिणाम पर पहुंच सकते है कि हम कोई स्पष्ट रेखा

प्रत्यक्ष और परोक्ष करों के बीच नहीं खींच सकते। इन दो प्रकार की अवस्थाओं में केवल इतना ही भेद कर सकते हैं कि एक कर विवर्तक हो सकता है अथवा नहीं। यदि कोई कर विवर्तक है तो वह परोक्ष है अन्यथा प्रत्यक्ष।

४. प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर के सापेक्ष गुण और अवगुण (Relative Merits and Demerits of Direct and Indirect Taxes)—हम इन दो प्रकार के करों की इसलिये तुलना नही करते कि हम यह निश्चय करना चाहते हैं कि इनमें से एक रखें अथवा दूसरा। कोई भी देश केवल एक प्रकार के कर पर निर्भर नहीं रह सकता। दोनों प्रत्यक्ष और परोक्ष करों की एक सामान्य तथा पर्याप्त पद्धति बनाने के लिये आवश्यकता होती है। ग्रेट स्काटमैन (The Great Scotman) के कथनानुसार, "मैं प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों के सम्बन्ध में और कुछ सोच नही सकता सिवा इसके कि मैं उनको दो आकर्षक बहनों के सदृश मानूं जो कि लन्दन के सुन्दर वातावरण में आई हैं। दोनों ही विपुल भाग्यशालिनी है, दोनों के एक ही मां-बाप है—मेरा विश्वास है कि दोनों के माता-पिता 'आवश्यकता' और 'आविष्कार' हैं— उनमें अन्तर केवल इतना ही हो सकता है कि जितना दो बहनों में होता है.....।"[1] कुछ भी सही, किसी सूरत में प्रत्यक्ष कर अधिक उत्तम है और किसी में परोक्ष कर।

हम प्रत्यक्ष करों के पक्ष में यह कह सकते है : (In Favour of Direct Taxes we can say)—(क) वे अधिक निष्पक्ष है, क्योंकि उनमें प्रगतिशील सिद्धान्त लागू होता है। कर की दर को बदला जा सकता है ताकि कर देने की योग्यता के अनुसार हो।

(ख) वे मितव्ययी होते हैं, क्योंकि उनके संग्रह पर बहुत थोड़ा व्यय होता है और क्योंकि कर-दाता और राज्य के बीच में कोई मध्य-जन नही होते, इसलिए मार्ग में कर का कोई अंश लोप नहीं हो जाता।

(ग) उनकी प्राप्ति की गणना बहुत कुछ पूर्ण रूप से की जा सकती है। कर-दाता को भी अपनी निश्चित राशि का जो उसको देनी है, ज्ञान होता है।

(घ) उनमें अत्यधिक मात्रा में लोच होती है। आय-कर ने युद्ध में, राज्य की अत्यधिक बढी हुई आवश्यकताओं की अत्यन्त सन्तोषजनक पूर्ति की।

(च) वे कर-दाताओं में एक नागरिक कर्त्तव्य का भाव उत्पन्न करते हैं। एक मनुष्य जोकि प्रत्यक्ष कर देता है, या यह अनुभव करता है कि वह राज्य के व्यय के प्रति रुपये दे रहा है तो उससे यह आशा की जाती है कि वह नागरिक मामलों में अधिक तीव्र अभिरुचि रखेगा।

इसके विपरीत प्रत्यक्ष करों में कुछ अवगुण भी होते हैं (On the Other Hand, Direct Taxes Have some Drawbacks Too)—

1. Quoted by Findlay Shirras—Science of Public Finance, 1936, P. 297.

(क) उनके भुगतान करने में बहुत असुविधा होती है। प्रत्येक कर-दाता को उनको देते समय कष्ट होता है। इसलिए वे लोकप्रिय नही है। कर को एक इकट्ठी राशि में देना पड़ता है, विक्रय बही का अनुवर्तन एक जटिल काम है और बहुत क्लेश सहना पड़ता है।

(ख) उनको आसानी से टाला जा सकता है और राज्य की यथोचित आय में धोखे से कमी हो जाती है। एक तरह से प्रत्यक्ष कर ईमानदारी पर लगाये गए कर के समान होता है।

परोक्ष कर के गुण निम्नलिखित हैं (The Merits of Indirect Taxation are as Under) :—

(क) ये सुविधायुक्त है। एक मनुष्य जब कोई वस्तु खरीदता है तो कर देता है और वह ऐसा समय होता है कि जब वह कर सुविधा से दे सकता है। वह थोड़ा-थोड़ा करके दिया जाता है,न कि इकट्ठी राशि में। बहुत-से व्यक्ति अन्धकार में कर देना अधिक पसन्द करते है। कर-दाता यह अनुभव नही करता कि वह कर दे रहा है। कर तो उस वस्तु के मूल्य में मिश्रित रहता है जिसको वह खरीदता है।

(ख) एक परोक्ष कर को टालना अत्यन्त दुष्कर है।

(ग) यदि उन वस्तुओं पर कर लगाया जाय जोकि प्रायः धनी पुरुष ही उपभोग करते है, तो परोक्ष करों को भी अधिक समान बनाया जा सकता है। विलास-सामग्री पर साधारणतः कर अधिक दर से लगाया जाता है।

(घ) जबकि परोक्ष कर जीवन की अनिवार्यताओं पर लगाया जाता है अथवा उन वस्तुओं पर जिनकी मांग लोचपूर्ण हो, तो वह कर बहुत अंश तक लोचपूर्ण हो जाता है।

(ङ) उनका एक लाभदायक सामाजिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि ऐसे करों द्वारा हानिकारक पदार्थो तथा मादक वस्तुओं के उपयोग को कम किया जा सकता है।

परोक्ष करों में निम्नलिखित अवगुण होते हैं (The Demerits of Indirect Taxes are as fallows) :—

(क) वे अनिश्चित होते है। किसी कर के, जोकि एक वस्तु पर लगाया गया हो, अनेक प्रभावों के सम्बन्ध में पूर्व धारणा करना सर्वथा सम्भव नही है। वित्त-मन्त्री ठीक-ठीक यह अनुमान नही कर सकता कि एक कर से कितनी आय प्राप्त हो सकेगी।

(ख) वे प्रतिगामी (Regressive) होते हैं। एक कर लगाई हुई वस्तु का प्रत्येक उपभोक्ता, चाहे वह धनवान हो अथवा गरीब, एक ही दर से कर देता है। अतएव, वास्तविक भार गरीब पर धनवान की अपेक्षा अधिक पड़ेगा। यदि कर जीवन की अनिवार्यताओं पर लगाया जाय, तो इसके प्रतिगामी स्वभाव पर दबाव पड़ जाता है। ऐन्जिल के 'उपभोक्ता के नियम' के अनुसार एक गरीब आदमी की अधिकतर आय जीवन की अनिवार्यताओं पर व्यय होती है। अतएव गरीब आदमी अपनी प्रायः कुल आय पर कर देता है

जबकि धनवान पुरुष अपनी उस आय के थोड़े-से अंश पर कर देता है, जिसको वह जीवन की अनिवार्यताओं पर व्यय करता है ।

(ग) वे कर-दाता में किसी नागरिक चैतन्य का विकास नही करते ।

(घ) यद्यपि एक दूकानदार को अवैतनिक कर इकट्ठा करने वाला समझा जाता है, तो भी यह विचार किया जाता है कि कुछ निश्चित परोक्ष करों को वसूल करने में लागत अत्यधिक लग जाती है । तटकर (Customs Duties) के वसूल करने के लिये एक उच्च आगम कर्मचारीवर्ग को, चोरी से भीतर से माल लाने (Smuggling) को रोकने के लिए छापा मारने वाले समूह का अभियोजन करना पड़ता है । ये कर एक दूसरी दृष्टि से भी अलाभकर है । कर-आरोपित वस्तु अनेक मध्य-जनों के बीच से निकलती है और हर एक उस पर कुछ कर जोड़ देता है । इस प्रकार अन्तिम ग्राहक को, राज्य को जो कुछ मिलता है, उससे कही अधिक भुगतान करता है ।

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर का अन्तर व्यावहारिक रूप से अधिक महत्त्व का नही है । हम यह नही मान सकते कि प्रत्यक्ष कर का सारा बोझ धनी लोगों पर और परोक्ष कर का गरीबो पर पडता है । परोक्ष कर, जैसे विलासिता की वस्तुओं के कर, धनियो पर पड़ते है, न कि गरीबों पर । फिर भी,यह साधारणतया सच है कि प्रत्यक्ष कर जैसे कि उत्तराधिकार कर, आय-कर और अतिरिक्त कर (Super Tax)केवल धनिकों पर ही पड़ते है । एक उत्तम कर-प्रणाली के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष करो मे एक उचित अनुपात होना चाहिए । वे एक, दूसरे को ठीक करते है । परोक्ष करारोपण धनियों पर पडने वाले दबाव को कम करता है और कर प्रणाली को विस्तृत आधारयुक्त बनाता है ।

५. कर का सम्मिश्रण सिद्धांत (Diffusion Theory of Taxation)—कर के सम्मिश्रण के सिद्धान्त को मानने वाले यह कहते है कि कर समुदाय में अपने आप विस्तारपूर्वक मिल जाता है, जिससे कि हर एक कर-दाता कर के बोझ का केवल एक छोटा अनुपात ही अपने ऊपर लेता है । वह एक ऐसा अनुपात है जिसे वह सह सकता है और सहना भी चाहिए । यहा पर कहने का यह अर्थ है कि कर का बोझ अपने आप समाज के विभिन्न वर्गो के ऊपर बराबर से फैल जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि कर के भार के विषय में चिन्तित होना बेकार है तथा इस जटिल विनिमय के ससार में कर-विवर्तन की, जोकि अन्तिम भार के प्रश्न को हल करता है, देखभाल करते रहना असम्भव है । दूसरे शब्दों में कर-प्राधिकारी यह विश्वास करके, कि कर-नीति बिल्कुल ठीक है, शान्ति से रह सकता है । और यदि एक कर में पहले से अन्याय का कोई अंश आ गया है, तो उसका समयोजन अवश्य ही हो जायगा और अन्याय या तो हटा दिया जायगा या उसका बिलकुल अनुभव न होगा । अठारहवी शताब्दी के अन्त के लगभग लार्ड मैस फील्ड ने कहा था, "मै यह सत्य मानता हूं कि किसी स्थान में लगाया हुआ कर किसी झील में गिरते हुए

पत्थर के समान है कि जो उसमें वृत्त बनाता है, जिससे कि एक वृत्त दूसरे वृत्त की उत्पत्ति करता है तथा उसको आगे बढ़ाता है और केन्द्र से लगाकर समस्त परिधि में हलचल मच जाती है।"[१] इस प्रकार कर सारे समुदाय में मिल जाता है या फैल जाता है।

विनिमय की विधि के द्वारा प्रसार होता है। यदि किसी वस्तु पर कर लगा दिया गया है तो वह वस्तु के मूल्य में छिपकर धीरे-धीरे उपभोक्ताओं पर आ जाता है। लाभ पर लगाया हुआ कर वस्तु की लागत मे आ जायेगा। कर उत्पादन-व्यय का एक भाग होता है या किसी सेवा-कार्य के व्यय का भाग और इस प्रकार यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास वस्तु के साथ जाता है और शान्त हो जाता है जबकि उसे होना ही चाहिये। यह समुदाय के किसी विशेष भाग को हानि नही पहुचाता। केनार्ड ने करारोपण की तुलना कपिग की चीरफाड (Operation of Cupping) से की है। उन्होने कहा है कि धमनी का रक्त निकालने के पश्चात् वह शरीर में रक्त-सचार के कारण दूसरी धमनियो की अपेक्षा अधिक रक्तरहित नही है।[२]

यह इन्कार नही किया जा सकता कि करारोपण का कुछ प्रसार या सम्मिश्रण तो होता ही है, परन्तु यह कहना कि कर-प्रसार के कारण करारोपण का बोझ अपने आप कर-दाता की सहनशक्ति के अनुसार समावर्तित हो जाता है, प्रमाणित करने का अत्यधिक प्रयत्न होगा। यदि यह इतना सच्चा तथा स्वयमेव होता तो वित्त-मन्त्रियो को किसी कर के सम्भावित प्रभाव का पता लगाने और उसके अन्तिम विश्राम-स्थान के जानने के लिए कष्ट उठाने की आवश्यकता न पडती। यदि कर किसी अज्ञात नियम के अनुसार प्रसारित हुआ करते, तो वे किसी विशेष वर्ग के लोगो के लिए करारोपण के मार्ग न ढूढ़ते। कोई भी यह गंभीरतापूर्वक विश्वास नही करता कि कर समस्त समुदाय के ऊपर अपने आप न्यायोचित ढग से फैले हुए है वरना जब भी कर लगाया जाता है, उस समय के कोलाहल की व्याख्या हम किस प्रकार कर सकते है। कर वास्तव मे कुछ व्यक्तियो से चिपट जाते है। यह चीर फाड़ के अनुभव (Cupping Operations) की भाति नही है बल्कि किसी वृक्ष की डाल या शरीर के किसी अवयव काटने की भाति है।

कुछ ऐसे कर है जैसे कि प्रति व्यक्ति कर (Poll Tax), उत्तराधिकार-कर (Inheritance Tax) या आय-कर जिनमें कि विवर्तन बिल्कुल नही होता, विस्तार भी बिल्कुल नही होता। इस सिद्धान्त का प्रयोग केवल सीमित है। यह परोक्ष करो के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होता है और उनसे सम्बन्धित होते हुए भी समस्त समुदाय में थोड़ा भी प्रसार नही होता।

सम्मिश्रण या प्रसार-सिद्धान्त (Diffusion Theory) स्वतन्त्र और पूर्ण

---

१. Quoted by Findlay Shirras—Science of Public Finance, 1936, p. 336.
२. Ibid, p. 347.

प्रतियोगिता को मान लेता है, जिसका अस्तित्व नही होता। आर्थिक संघर्ष अधिक मात्रा में रहता है जोकि कर के विवर्तन के मार्ग को रोकता है।

प्रसार सिद्धान्त रीति की दृष्टि से दोषपूर्ण है, वास्तविक अनुभव तथा विश्वास के प्रतिकूल है तथा यह केवल एक सीमित प्रयोग के ही अन्तर्गत है।

इसकी केवल यही विशेषता है कि यह इस बात पर जोर देता है कि कर जहां पहले लागू किये जाते है, वही नही बने रहते। किंतु समाज में उचित रूप से पूर्णतः कर के बोझ को वितरित करने के लिए हम ऐसे सिद्धान्त पर विश्वास नही कर सकते।

हम अब कुछ महत्त्वपूर्ण करो के भार पर विचार करेग।

६. वस्तु-कर(Commodity Tax)–किसी वस्तु पर कर विवर्तन की प्रवृत्ति उत्पादक से उपभोक्ता की ओर, और फिर उपभोक्ता से उत्पादक की ओर विवर्तन करती रहती है। किसी वस्तु के उत्पादन पर कर की प्रवृत्ति उसके मूल्य को बढ़ाने की ओर रहती है और इसलिए इसको साधारणतः उपभोक्ता सहन करेगा। किन्तु उपभोग पर कर लगाने से,उपभोग पर रोक लगने की सभावना रहती है और उसकीप्रवृत्ति फिर ीछे उत्पादक तक के विवर्तन की ओर रहती है। किन्तु किस सीमा तक वास्तव मे कर का विवर्तन किया जायगा, यह उन साधनों पर निर्भर करेगा,जिनसे उस वस्तु के लिए माग और उसकी पूर्ति निर्धारित होती है। यदि माग लोचहीन है, जैसा कि जीवन की आवश्यकताओं के सम्बन्ध मे है, तो लोग उस वस्तु को अवश्य खरीदेगे। उत्पादक की स्थिति दृढ़ रहेगी और कर के पूरे बोझ को उपभोक्ता पर विवर्तित किया जायगा। परन्तु यदि माग लोचदार हुई तो लोग कम खरीदेगे। इस स्थिति मे कर की पूरी रकम के अनुसार मूल्य नही बढ़ेगा। सलिए कुछ अंश में विक्रेता व कुछ अश मे खरीदार कर का बोझ सहन करेंगे। ठीक-ठीक कितना ? यह लोच की मात्रा पर निर्भर करेगा। सी प्रकार यदि पूर्ति लोचहीन होती है,जैसा कि खराब हो जाने योग्य वस्तु के सम्बन्ध में होता है, विक्रेता पूर्ति को वापस नही ले सकता। उसकी स्थिति कमजोर होती है। कर उसी पर पड़ेगा और जमा रहेगा। यदि पूर्ति लोचदार हुई ो वह उपभोक्ता पर बोझ को विवर्तित कर सकता है। नियमानुसार जब पूर्ति से माग अधिक लोचदार होती है, तो वह कर का छोटा अंश सहन करता है।

यह सभव है कि मूल्यों में बिल्कुल वृद्धि न हो। यह तब होता है जब कि उपभोक्ता उस वस्तु की ऐसी पूर्ति ढूंढ निकालता है, जिस पर कर नही लगा हो या उसने कोई दूसरी ऐसी वस्तु निकाली हो जो उसी की स्थानापन्न हो और जिस पर कर न लागू हो। ऐसी स्थिति के कर का पूरा बोझ उत्पादक तथा विक्रेता पर पड़ेगा।

पूर्ति की ओर से उत्पत्ति के नियम अपने प्रभाव का प्रयोग करेंगे। किसी वस्तु पर कर लगाने से उसकी मांग पर रोक लगती है, जिसके बदले में उत्पादन भी रुक जायगा। अब यदि उद्योग उत्पत्ति वृद्धि नियम के आधीन है तो ऊँचे मूल्य पर घटाया हुआ उत्पादन मिलेगा और क्रमागत ह्रास नियम के आधीन कम मूल्य पर प्राप्त किया जा सकता है।

इस स्थिति से पहले बताई गई स्थिति में मूल्य ऊँचे होंगे, फलतः उपभोक्ता पर बोझ आएगा।

बहुत कुछ कर की रकम और प्रणाली पर भी निर्भर करता है। छोटे कर की कोई चिन्ता नही करता। थोड़ी सी रकम के लिये कोई उत्पादक अपने ग्राहक को परेशान करना पसन्द नही करेगा। वह स्वय प्रसन्नता के साथ उसे सहन कर लेगा। केवल जब यह भारी होगी तभी उसका विवर्तन होगा। सीमान्त उत्पत्ति पर कर मूल्य को बढ़ा देगा परन्तु आधिक्य उत्पत्ति पर नही।

वस्तु के स्वभाव से भी अन्तर पडेगा। शक्कर जैसी वस्तु पर लगे कर का विवर्तन शीघ्रता से हो जायगा। किन्तु इतनी जल्दी एक मकान पर लगे कर का विवर्तन नही हो सकता क्योकि एक निश्चित अवधि के लिये किराया निश्चित होता है और जब तक पट्टा चालू है, उस अवधि मे कुछ भी नही किया जा सकता।

वस्तु-कर के विवर्तन की क्रिया को जो प्रभावित करते है, वे यह है: प्रतियोगिता पूर्ण है या नही, श्रम और पूजी स्वतन्त्र रूप मे गतिशील है या नही। केवल स्वतन्त्र और बंधन-रहित प्रतियोगिता के द्वारा ही कर को उपभोक्ता तक पहुंचाया जा सकता है। अन्यथा यह उत्पादक पर ही स्थिर रहेगा। यदि श्रम तथा पूजी स्वतन्त्र रूप में गतिशील है, तो इससे उत्पादक की उपभोक्ता पर बोझ डालने की क्षमता में वृद्धि होती है। इसके विपरीत, यदि किसी उद्योग में पूजी बडे परिमाण मे एकत्रित और ताले में बन्द पडी है, तो उत्पादक की उतनी ही स्थिति कमजोर रहेगी। सम्भावना इस बात की रहेगी कि उसी को कर का बोझ सहन करना पडेगा। वह अपनी पूजी को वापस नही ले सकता। कुछ समय गवाते हुए भी उसे मैदान मे रहना ही होगा।

इस प्रकार 'भार' बहुत जटिल प्रश्न है। यह मूल्य-निर्धारण की बड़ी समस्या का एक भाग है। मूल्य पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होते है। हम कहते है कि वस्तु पर कर की प्रवृत्ति उपभोक्ता द्वारा सहन किये जाने की होती है। किन्तु इस प्रवृति को वास्तविक रूप में अनुभव किया जा सकता है अथवा नही भी किया जा सकता। जब तक मूल्य पर प्रभाव नही पडता उपभोक्ता अछूता रहता है और उसका स्पर्श केवल उसी सीमा तक होता है जब करारोपण के साथ ही मूल्य बढा दिया जाता है।

७. एकाधिकार पर कर (Tax on Monopoly)—हम यह बता चुके है कि भार का प्रश्न मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त के बड़े प्रश्न का एक भाग है। जिस प्रकार एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्यनिर्धारण प्रतियोगिता की स्थिति मे होने वाले मूल्य-निर्धारण से भिन्न होता है, उसी प्रकार एकाधिकार पर कर का भार भी भिन्न रूप में कार्य करता है।

एकाधिकार कर (१) एकाधिकृत उत्पादित वस्तु की उपस्थिति से स्वतन्त्र हो सकता है (२) तथा वह उत्पत्ति से भिन्न रूप का हो सकता है अर्थात् उत्पत्ति के साथ वृद्धि या कमी।

जब कर उत्पादित वस्तु के परिमाण से स्वतंत्र होता है, तब यह एकाधिकारी पर एकमुश्त रकम, कर, या एकाधिकारी की विशुद्ध आय (लाभ) का एक प्रतिशत हो सकता है। इन दोनों स्थितियों में यह एकाधिकारी पर पड़ेगा। वह इसका विवर्तन उपभोक्ता पर नही कर सकता। ऐसा मूल्य बढ़ाकर किया जा सकता है। किन्तु ऐसा माना जाता है कि वह पहले ही एक मूल्य निश्चित कर चुका है, जिससे उसको एकाधिकार की अधिकतम विशुद्ध आय हुई है। इससे ऊंचे या नीचे मूल्य का अर्थ होगा कम एकाधिकार का लाभ। यदि उसके लिये अपना लाभ अधिकतम करने की नीति के अनुरूप मूल्य बढाना संभव होता है, तो उसने इसे पहले ही कर लिया होता है। इस प्रकार लाभ की कीमत पर ही मूल्य में कोई परिवर्तन होगा। ऐसा होने के कारण उसको अब अपने लाभ मे से ही कर का भुगतान करना होगा। विक्रयमूल्य को अपरिवर्तित रख कर और उपभोक्ता को बिना प्रभावित किए हुए वह कर का भुगतान करने के बाद अधिकतम लाभ प्राप्त करेगा।

यह संभव है कि वह बजाय यह खोज करने के कि कर देने के बाद लाभ को कैसे अधिकतम किया जायगा वह कीमत बढा कर उपभोक्ता पर कर का बोझ डाल दे। लेकिन ऐसा करना लाभ को कम करना होगा।

यदि अधिकतम लाभ पाने की अपेक्षा वह उपभोक्ता के हित का ध्यान रखते हुए कम लाभ लेता है तो जब कर लगेगा, वह धीरे से उसे प्राप्त कर लेगा। और इस सीमा तक कर के बोझ को उपभोक्ताओं पर विवर्तित कर दिया जायगा।

आइये, हम अब यह अध्ययन करें कि जब कर प्रत्यक्ष रूप में या उल्टे रूप में उत्पादित वस्तु के परिमाण से भिन्न होता है,तब क्या होता है। ऐसी स्थिति में जैसा कि पहले विचार किया जा चुका है, मांग और पूर्ति की लोच तथा उत्पत्ति के नियमों के प्रभाव पर विचार करना चाहिये। कर उत्पादन की लागत में शामिल हो जायगा। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक उत्पादित इकाई के व्यय में योग हो जायगा। अस्तु, वस्तुओं पर कर लगाने से मूल्य बढ़ता है जो मांग को कम कर देगा। यदि मांग लोचदार नही है, तो इसे काफी घटाया नही जा सकता और कर उपभोक्ता पर अंतरित कर दिया जायगा। यदि माग लोचदार है तो उपभोक्ता कम खरीदेगा। ऐसी स्थिति में एकाधिकारी अंशतः कर का भार सहन करेगा। मांग की कमी का सामना करने के बदले यह मूल्य घटा सकता है तथा स्वयं कर का भार सहन करने का निश्चय कर सकता है। यदि पूर्ति और अधिक लोचदार है तो उत्पादक की स्थिति मजबूत रहती है। इसी प्रकार यदि मांग पूर्ति से अधिक लोचदार है तो उपभोक्ता पर कर का कम भार पड़ेगा और यदि पूर्ति मांग से अधिक लोचदार है तो उत्पादक पर कर का कम भार पड़ेगा। यदि वस्तु का उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि के नियम को मानता है, तो कर लगाने के फलस्वरूप उत्पादन में होने वाली कमी क्रमागत ह्रास के नियम से भी

अधिक मूल्य बढ़ा देगी। पहली स्थिति से दूसरी स्थिति में उपभोक्ता पर अधिक भार आयेगा।

जब सीमान्त लागत स्थिर हैं तथा एकाधिकारी के सामने मांग वक्र एक सीधी रेखा की तरह है, तो एकाधिकार कीमत के सिद्धांत[१] के अनुसार कर लगाई गई वस्तु की कीमत कर की आधी मात्रा के बराबर बढ़ जायेगी; जबकि प्रतियोगिता की स्थिति में कीमत कर की पूरी मात्रा के बराबर बढ जाती। यदि मांग वक्र नतोदर (Concave) है तो कीमत मे वृद्धि इससे अधिक होगी। जहां मांग वक्र इस प्रकार नतोदर है कि सीमान्त आय वक्र प्रासंगिक फैलाव पर मांग वक्र के समानान्तर है तो कीमत कर की पूरी मात्रा के बराबर बढ़ जायेगी। तो भी यदि मांग वक्र केवल नतोदर नही है परन्तु स्थिर लोच प्रगट करता है, तो सीमान्त लागत और कीमत के बीच अनुपात स्थिर रहेगा। सीमान्त आमदनी की कीमत से कम होने के कारण सीमान्त आमदनी वक्र की ढाल मांग वक्र की ढाल से कम होगी; अतः कीमत कर से अधिक बढ़ जायेगी।"[२]

यदि उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए कर की दर उत्पादन के विपरीत रूप में भिन्न होती है, तब एकाधिकारी को अधिक उत्पादन करने तथा मूल्य को नीचा रखने को प्रलोभन मिलेगा। कर का भार पूर्णतः एकाधिकारी पर होगा जो वास्तव में अपने एकाधिकार-लाभ का एक अंश उपभोक्ताओं को देता रहेगा।

८. आयात तथा निर्यात पर कर (Taxes on Imports and Exports)—सामान्यतः तथा लगभग विशिष्टतः स्वदेश के उपभोक्ता को ही आयात करों को सहन करना पड़ता है। आयातकर्ता जो कर देता है, वह उस मूल्य में जोड़ दिया जाता है जिसे वह दूसरे खरीदार से लेता है और यही क्रम चलता रहता है। अन्तिम रूप से कर उपभोक्ता तक ही पहुंचता है। ऐसे थोड़े से ही आयात होते हैं जिनमें करों का भार विदेशी उत्पादकों पर छोडा जा सकता है। यदि आयात वस्तु के लिये हमारी मांग लोचदार है ताकि हम उसे खरीदें या न खरीदें, और पूर्ति लोचदार नही है, और विदेशी उत्पादक के लिये कोई दूसरा बाजार नही है, तब ऐसी स्थिति मे कर का भार विदेशी उत्पादक पर डाला जा सकता है। किन्तु ऐसी स्थितियां बहुत कम रहती है तथा स्वदेश के उपभोक्ता ही को कर का भार सहन करना पडता है।

इसी प्रकार निर्यात कर माल भेजने वाले को देना पड़ता है। यह उसके लाभों में से निकलता है। जहां तक उसका सम्बन्ध है, विश्व के बाजारों में मूल्य निश्चित है। कोई भी व्यक्तिगत निर्यातक विश्व के मूल्य को प्रभावित करने की स्थिति में नहीं है। किन्तु हम यहां भी उस स्थिति की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें अपवादस्वरूप निर्यातक मजबूत स्थिति में है, ताकि कर विदेशी खरीदार पर डाला जा सके। उदाहरणार्थ, किसी वस्तु

१. See Mrs. J. Robinson—The Economics of Imperfect Competition.

२. Mrs. U. K. Hicks—Public Finance, 1948, pp. 173-74.

की पूर्ति के हम एकाधिकारी हो सकते है और हमारे उत्पादनों के लिये विदेशियों की मांग लोचहीन हो सकती है, क्योंकि अनेक दूसरे बाजार उनके लिये खुले हो सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में हम कर की पूरी रकम के अनुरूप वस्तु का मूल्य बढ़ाकर निश्चित रूप में विदेशियों से निर्यात कर दिला सकते है। किंतु ऐसी स्थिति मुश्किल से आती है। जब तक यह स्थिति उपस्थित न हो, निर्यातिक को ही निर्यात कर देना पड़ता है। डाल्टन ने यह नियम स्थिर किया है—"आयात और निर्यात पर करों को विनिमय की बाधा माना जा सकता है और पिछले सिद्धान्त के अनुसार ऐसी किसी बाधा के मुद्रासम्बन्धी भार को विनिमय के दो पक्षों के बीच में अपनी क्रमिक मांगों की लोच के विपरीत अनुपात में विभाजित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में इसका विभाजन उनकी क्रमिक आवश्यकताओं की तात्कालिकता के प्रत्यक्ष अनुपात में होता है जिनकी तृप्ति विनिमय के द्वारा होती है।"[१]

९. भूमि पर कर (Taxation of Land)—भूमि का मूल्य दो प्रकार के तत्त्वो पर निर्भर करता है :—(क) भूमि की उर्वरता, जैसे प्राकृतिक तत्त्व, भूमि की स्थिति तथा कुछ अन्य प्राकृतिक दशाएँ तथा (ख) नालियों सम्बन्धी योजनाओं पर पूजी का लगाना, अपक्षारण विरोधी (Anti-erosion) उपाय, सिंचाई-सम्बन्धी सुविधाएं तथा उत्पादित शक्ति को कायम रखन और उसमें वृद्धि करने के लिये आवश्यक अन्य उपाय। प्रथम प्रकार के तत्त्व पर आश्रित रहनेवाला कर आर्थिक लगान पर कर है और वह मालिक पर आता है। वह इसे किरायेदार पर नही लगा सकता। कारण, आर्थिक लगान भूमि कर से स्वतन्त्र साधनो द्वारा निश्चित किया जाता है। सीमान्त भूमि से अपनी भूमि की श्रेष्ठता के अनुरूप मालिक पहले से ही पूरा किराया लेता रहता है, यह अनुमान लगाया गया है। किन्तु यदि अज्ञानता या आलस्यवश वह पूरा आर्थिक किराया नही ले रहा है, तो जब कर लगेगा तब वह चारो ओर शीघ्र ही अपनी दृष्टि डालेगा और धीरे से उसे प्राप्त कर लेगा। इस सीमा पर कर का बोझ किराएदार पर आ जाता है।

इस प्रकार के कर अर्थात् आर्थिक लगान पर कर का बोझ उपभोक्ता पर नही टाला जा सकता क्योकि केवल मूल्य के द्वारा ही उपभोक्ता तक पहुंचा जा सकता है। हम जानते है कि लगान मूल्य में नही शामिल होता। लगान को कम या अधिक करने का प्रभाव मूल्य पर नही पड़ता। भूमि पर रहने वालों के द्वारा लगान का भुगतान होता है, यह बात कोई अन्तर नही उपस्थित करती। यदि वह कर का भुगतान करता है तो वह मालिक को लगान का भुगतान करने के समय उसे उसमें से काट सकता है।

इस प्रकार भूमि के मालिक द्वारा आर्थिक लगान सहन किया जाता है न कि किरायेदार या उपभोक्ता के द्वारा।

---

१. Dalton : Principles of Public Finance, 1943, p. 57.

किन्तु जहां मालिक भूमि में अपने विनियोग को बदल सकता है, वहां जब कर लाग होगा, वह अपने विनियोग को कम कर देगा। इसका प्रभाव उपज पर और इसलिये वस्तु के मूल्य पर पडेगा। ऐसी स्थिति मे अर्थात् उन्नति की स्थिति में कर उपभोक्ता पर पहुंच जाता है।

भवन के स्थानो पर लगने वाला कर इन स्थानो के मालिकों पर ही, जो अपनी भूमि की अधिक अच्छी स्थिति होने के कारण अतिरिक्त आय प्राप्त करते है, पड़ता है।

क्या भूमि-कर भूमि के भावी ख ीदार पर डाला जा सकता है ? नही, इसे वर्तमान मालिक ही सहन करेगा। खरीदार को भूमि खरीदने के समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि उसे कर का भुगतान करना पडेगा। फलस्वरूप, वह कम मूल्य प्रस्तावित करेगा। इस प्रकार कर मूलधन बना दिया जाता है या भूमि के निम्नतर मूल्य में लगा दिया जाता है। यह इस सीमा तक होता है कि कर के भावी भुगतानो के सम्बन्ध से ठीक भविष्यवाणी की जा सकती है। किन्तु एक तटस्थता की धारणा भी है। भूमि के मूल्य के सम्बन्ध मे भविष्य मे सम्भावित वृद्धि की आशा की जा सकती है और अधिकतर मूल्य प्रस्तावित किया जा सकता है।

१०. मकान पर कर (Tax on Buildings)—जहा तक गृह-निर्माण का सम्बन्ध है, दो पक्षो का तत्काल पारस्परिक सम्पर्क होता है। ये पक्ष है मालिक और किरायेदार। यदि मालिक पर कर लगाया जाता है तो वह मकान का किराया बढ़ाने का प्रयास करेगा और इस प्रकार वह कर के बोझ को किरायेदार पर या रहने वाले पर पहुचा देगा। किन्तु जब तक पट्टा चालू है उस अवधि के बीच वह कुछ नही कर सकता। किराये पर नियन्त्रण रखने और मालिकों को किराया बढ़ाने से रोकने के लिये किराया कानून भी हो सकते है। यदि वह किराया बढ़ा भी सकता है तो किराएदार कम निवास-स्थान का अधिक ऊचा किराया समझ कर दूसरे मकान मे चला जा सकता है। अतः ऐसे मामलों मे, किसी भी दर पर, कुछ समय के लिये भार जमीदार पर रहेगा। किन्तु परिणाम यह होगा कि हो सकता है कि किराए पर उठाने के लिये भवन-निर्माण लाभप्रद साध्य न रहे। भारी कर भवन-निर्माण की क्रिया मे रुकावट हो जायगा तथा सम्भव है कि इस कार्य में लगे लोगो व निर्माणकर्त्ता की मजदूरी का स्तर गिर जाय। भवनो के लिये स्थानो की मांग कम हो सकती है। यदि वे उसे बेचने की चेष्टा करेंगे तो नया खरीदार कर को ध्यान मे रखेगा और उसके अनुरूप कम मूल्य लगायेगा। किन्तु कुछ समय मे मकानों की पूर्ति कम हो सकती है, तब किराए में अधिक वृद्धि होगी। इस प्रकार कुछ सीमा तक कर का बोझ किराएदारों पर आ जायेगा। इस प्रकार कर का बोझ अंशतः मालिक, अंशतः भवन-निर्माण-कर्त्ता और अंशतः रहने वाले पर पड़ता है।

इसके विपरीत यदि रहने वाले पर कर लगाया जाता है तो वह उस पर लगा ही रहेगा। न तो नया मकान पाना सरल होता है और न घर बदलना इतना सुविधाजनक

होता है। मनुष्य जहां है, वही रहना पसन्द करता है। मकान की मांग लोचहीन होती है। अतः जमीदार (मकान मालिक) की स्थिति मजबूत होती है। इस प्रकार कर वही रहेगा जहां वह पहले लागू होता है। किन्तु यदि रहने वाला दूकानदार है, तो जो वस्तुएं वह बेचता है, उनके मूल्य को थोड़ा-सा बढ़ाकर कर का बोझ अपने पडोसी ग्राहकों पर डाल सकता है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि सम्पर्क तथा यातायात के साधनों का विकास यात्री विक्रेता को हमारे दरवाजे पर ले आता है और इससे आस-पास की दूकानों को कमजोर बना देता है।

इस प्रकार अन्त में हम इस परिणाम पर पहुंच सकते है कि सामान्यतः मकान पर लागू कर का बोझ रहने वाले पर आता है। परन्तु कुछ परिस्थितियों में इसे मालिक, निर्माण-कर्त्ता या ग्राहक पर डाला जा सकता है।

११. जायदाद कर (Property Tax)—वास्तविकता में यह आयकर है और यह शेषपूर्ति के अभिप्राय से लगाया जाता है। जब किसी भी प्रकार की जायदाद पर कर लगाया जाता है तो उसकी कीमत में वृद्धि होती है। यह माग को कम करेगी तथा इसके पश्चात् पूर्ति व्यवस्थित हो जायेगी जिससे इसके उत्पादक साधन दूसरे व्यवसायों मे प्रयोग मे लाये जायेगे। इसके विपरीत कर के हटाये जाने अथवा कम करने से उत्पादक साधन इस ओर आकर्षित होगे। स्थायी वस्तुओ मे जिनकी उत्पत्ति में काफी समय लगता है, पूर्ति केवल क्रम से प्रभावित होगी। यह मकानो में लागू होता है। उत्पादक वस्तुओं के विषय मे क्या होगा ? उत्पादक साधनों का, जो कर लगाई गई वस्तुओं की उत्पत्ति में प्रयोग में लाए जाते है, मूल्य कम हो जायेगा। परन्तु वह किस सीमा तक गिरेगा यह माग की प्रकृति, यत्र के जीवन, तथा कब तक उसका प्रयोग असामान्य है, पर निर्भर होगा। परन्तु जब उत्पादक वस्तुओ पर प्रत्यक्ष रूप में कर लगाया जाता है, उनके मूल्य तुरन्त प्रभावित होते है। जितना ही वस्तु स्थायी होगी और जितने ही समय तक कर लगने की सम्भावना होगी, उतना ही अधिक उत्पादक मूल्यों पर प्रभाव पड़ेगा जबकि कम स्थायी वस्तुओ पर थोड़े समय के लिए कर लगने से प्रभाव कम पड़ेगा।

१२. दरों का भार (Incidence of Rates)—सम्पत्ति के पूजीकृत मूल्य या वार्षिक मूल्य के अनुपात से अचल सम्पत्ति पर स्थानिक सस्थाओं द्वारा दर लागू किये जाते है। उनका भार ठीक भवन-निर्माण करों के भार जैसा होता है। इसको भी मालिक, रहने वाले या ग्राहक (यदि व्यावसायिक उद्देश्य मे सम्पत्ति का प्रयोग होता है) सहन करेंगे तथा हर एक पर पड़ने वाला क्रमिक बोझ आर्थिक संघर्ष तथा सभी पक्षों की सम्बन्धित सौदा करने की शक्ति या उस सम्पत्ति के लिए माग और पूर्ति की लोचों पर निर्भर करेगा।

यह सामान्य नियम है कि स्थान के मूल्य पर कर उसके मालिक पर पड़ेगा और भवन का कर अथवा निर्माण दर उसके रहने वाले या उद्योग के ग्राहक पर पड़ेगा। रहने वाले की दूसरा मकान बदलने की इच्छा तथा योग्यता पर बहुत कुछ निर्भर करेगा। जितना

ही अधिक वह स्थान बदलने के लिए इच्छुक तथा योग्य होगा, उतना ही अधिक दर का भार मालिक पर पड़ेगा। अल्पावधि मे सग्रह की रीति भी महत्वपूर्ण है। चाहे मालिक अथवा रहने वाले, जिस पर भी इसका आघात होता है, अल्पावधि में इसकी प्रवृत्ति वही पर जमे रहने की रहेगी।

१३. मृत्युकर (Death Duty)—लगभग सभी विकसित देशो में कर-व्यवस्था का मृत्यु-कर प्रमुख अंग है। मृत्यु-कर के दो रूप होते हैं:—भूसंपत्ति कर तथा उत्तराधिकार कर। उत्तराधिकारी के सम्बन्ध से पृथक् मृत व्यक्ति द्वारा छोडी हुई चल-अचल समस्त सम्पत्ति के कुल मूल्य पर भू-सम्पत्ति-कर लगाया जाता है। सम्पत्ति के कुल मूल्य के अनुसार इसमें वृद्धि हो जाती है। उत्तराधिकार-कर में मृतक के साथ माफ़ीदार के सम्बन्ध के अनुरूप रूपान्तर होता है। इसको उस अलभ्य तत्त्व के आधार पर विभाजित किया जाता है, जो सम्बन्ध की दूरी को बढाता है। यह उत्तराधिकारी के वैयक्तिक हिस्सो पर विचार करता है न कि कुल मूल्य पर, जैसा कि भू-सम्पत्ति-कर के सम्बन्ध में होता है। इंग्लैण्ड में मृत्यु-कर, भू-सम्पत्ति-कर तथा उत्तराधिकार-कर का सम्मिश्रण है। जर्मनी मे इस कर मे माफीदार की पहले की भी सम्पत्ति शामिल होती है। अन्य बातों में समानता होते हुए भी यदि माफीदार के पास पहले की बड़ी सम्पत्ति है तो इस कर का दर, उच्चतर होगा। भारतीय संसद् (१९४७) मे भी भूसम्पत्ति कर विधेयक प्रस्तुत किया गया है और सामान्यतः इस विधेयक के सम्बन्धित वाक्याशो में सयुक्त राज्य ब्रिटेन जैसी ही व्यवस्था है।

मृत्युकरो का भार कहां पर पड़ता है? क्या यह भार मृतक या माफीदार अर्थात् उत्तराधिकारी पर होता है? यदि मालिक मर चुका है तो ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु समस्त ऋण का भुगतान करती है। उससे अब और अधिक कर नही लिया जा सकता। उसपर आगे कोई और बोझ नही डाला जा सकता। यदि इस प्रकार का कर देने के लिए उसका बीमा हुआ होता, तब वह निश्चित रूप में इसे सहन करता जबकि उसने प्रीमियम का भुगतान किया है। क्योकि जायदाद के मालिक को, जबकि वह जीवित था, ऐसी कोई सम्भावना नही थी, इसलिए अब उस कर का भार स्पष्टतः माफ़ीदार पर पड़ेगा, क्योंकि वह उसकी उतनी कम सम्पत्ति का उत्तराधिकारी है। मृतक की सम्पत्ति पर लगाये गये कर के द्वारा वह और गरीब होता है।

करदाता के दृष्टिकोण से भारी वार्षिक आयकर तथा मृत्युकर में कौनसा कर अच्छा है? यह इस बात पर निर्भर है कि वह किस दर से मृत्यु कर के अपने दायित्व को पूर्वप्रापण करता है। क्योकि वर्तमान स्वामी को न तो अपनी आय देनी पड़ती है और न अपनी पूजी। इसलिये वह मृत्युकर के दायित्व को ऊंचे दर से पूर्वप्रापण करता है। अतएव, मृत्यु-कर का अर्थ उसके थोड़े त्याग से है। अतः सरकार आयकर के लगाने के

बजाय मृत्युकर लगाकर अपनी आमदनी बढ़ा सकती है । तथा इससे करदाता की सन्तुष्टि में कम कमी होगी ।

जहा तक मृत्युकर के आर्थिक प्रभाव का प्रश्न है, वे वार्षिक आयकर की भांति है । इसमे सन्देह नही कि मृत्यु कर का भुगतान भू-सम्पत्ति अथवा पूजी से किया जाता है परन्तु इस दायित्व को भुगतान करने मे बेची जाने वाली सम्पत्ति समुदाय की सामान्य वार्षिक बचत द्वारा सरलता से खरीदी जा सकती है । अतः मृत्युकर का भुगतान पूजी की अपेक्षा आय से समझना चाहिये ।

समुदाय मे मृत्युकर धन के वितरण मे अधिक समानता लाता है और इस प्रकार सामाजिक न्याय के आदर्श के पूर्णतया अनुरूप है। यह उपयोग मे स्थिरता प्रोत्साहित करता है ।

यह बहुधा कहा जाता है कि मृत्युकर छोटे व्यवसायियों को विस्तार के लिए पूजी इकट्ठा करने से रोकता है । परन्तु इसके लिये केवल मृत्यु-कर पर पूरा दोष न लगाना चाहिये। आजकल छोटी व्यावसायिक सस्थाओं की पूजी के बाजार मे अधिक साख नही है। अतिरिक्त कर भी विनियोजन के लिये पर्याप्त निजी धन मे कमी कर देता है। तो भी मृत्युकर कृषि पूजी को विरुद्धता से प्रभावित कर सकता है । वास्तविक भू-सम्पत्ति का बाजार सीमित होता है और जब मृत्युकर के दायित्व को भुगतान करने के लिये उन्हे बेचना होता है तो उसके उत्पादक मूल्य मे भारी कमी हो सकती है।

१४. आय पर करों का भार (Incidence of Taxes on Income) –आय-कर, अतिरिक्त कर तथा आधिक्य लाभ-कर ये सभी प्रत्यक्ष कर हैं और इनको वे लोग सहन करते है जो पहले इनका भुगतान करते है । उनको साधारणतया स्थानान्तरित नही किया जा सकता । किन्तु एक व्यवसायी, जिससे उसका सम्पर्क होता है, उससे अलौकिक रूप में सुदृढतर स्थिति का होता है, अपने कर के एक भाग को अपने ग्राहकों पर स्थानान्तरित कर सकता है । हो सकता है कि वह बहुत ही लोकप्रिय व्यापारी हो, हो सकता है कि वह ऐसा चिकित्सक हो जिसमे उसके रोगियों का पूर्ण विश्वास हो। ऐसी स्थितियो में ग्राहक लोग कुछ अधिक भुगतान करने को इच्छुक हो सकते हैं। किन्तु ऐसी स्थितियां बहुत कम होती है और आयकर दाताओं को ही कर का बोझ सहन करना पड़ता है। अल्पावधि मे यह निश्चित है कि व्यवसायी पर कर का मूल्य जो मांग और पूर्ति के द्वारा निश्चित होता है, कोई प्रभाव नही होता । लाभ मूल्य पर निर्भर करता है और विलोमता पर नही। अतः लाभ पर कर मूल्यों में वृद्धि करके उपभोक्ता पर नही डाला जा सकता। दीर्घकाल में भारी कर पूर्व धारण किये हुए लाभों को घटा कर उपक्रम में बाधा डाल सकता है। परन्तु यह पूजी लगाना प्राप्य वैकल्पिक स्रोतों तथा पूर्ति की लोच पर निर्भर करेगा। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि दीर्घकाल में क्या होगा। उदार कर की अवांछित प्रतिक्रिया न होने की संभावना है।

यदि आय-कर अत्यधिक भारी है, तो यह बचत को हतोत्साह कर सकता है, पूंजी के इकट्ठा होने को रोक सकता है, या उसे बाहर निकाल सकता है। ऐसे भारी कर की व्यापक प्रतिक्रिया होगी तथा समाज की उत्पादक क्षमता का ह्रास होगा। किन्तु मुश्किल से ही कर इतने भारी होते है। अस्तु, साधारणतः ये कर उन्ही पर निर्भर करते है, जिन पर इन्हे लागू किया जाता है।

भारी आय-कर प्रवर्तक तथा साहस को हताश कर सकता है। फिर भी यह इस बात पर निर्भर होगा कि कर औसत आय पर पड़ता है या सीमान्त आय पर पड़ता है। पहली अवस्था में करदाता कम आय की श्रेणी मे हस्तांतरित हो जाता है तथा उसको अपने प्रचलित रहन का स्तर बनाए रखने के लिए अधिक परिश्रम करना पडेगा। यदि कर की वृद्धि पूर्णतया सीमान्त आय पर पडती है तो इसका अर्थ आय को पूरा करने के लिए उत्साह भंग करने के कार्य से होगा। वास्तविकता में उपक्रम कितना प्रभावित होगा यह करदाता की आय तथा उसके अपने प्रयत्न को परिवर्तित करके, दायित्व को परिवर्तित कर सकने की शक्ति पर निर्भर होगा। साधारणतया अपने प्रयत्नों को परिवर्तित करके आय के परिवर्तित कर सकने की शक्ति कुछ ही श्रमिकों में होती है। ऐसा तभी हो सकता है जबकि अतिरिक्त समय में काम करने की मांग अधिक है।

१५. व्याज पर कर (Tax on Interest)—आय के स्रोत के रूप में साधारणतः आय-कर के अंतर्गत व्याज पर कर लिया जाता है। किन्तु व्याज से होने वाली आय पर पृथक् कर लगाया जाता है। साधारणतः इसप्रकार के कर पूजीपति द्वारा सहन किये जायंगे। विशेषतया तब, जब कि पूजी की पूर्ति बहुत अधिक हो और पूजी के लिए मांग कम हो, परन्तु यदि मांग अधिकतर तात्कालिक है और पूजी की पूर्ति बहुत थोड़ी है, जैसा कि भारत के ग्राम्य क्षेत्रों में होता है, तो व्याज पर लगने वाले कर को ऋण लेने वाले पर पहुंचा दिया जायगा। बहुत कुछ पूजी की गतिशीलता की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि पूंजी को लागत के कुछ अन्य स्रोतों में ले जाया जा सकता है, तो उधार देने के लिए पूंजी की पूर्ति संकुचित हो जायगी जिससे व्याज की दर बढ़ जायगी। इसका अर्थ यह है कि इसका भार ऋण लेने वाले पर होगा। वास्तव में मुश्किल से ही पूजी इतनी गतिशील होती है तथा कर का एक अंश कम से कम पूजी के स्वामियो द्वारा सहन किया जाता है। यदि कर बहुत भारी है तो यह पूजी के एकत्रित होने को हतोत्साहित करेगा, जिससे देश के व्यवसाय तथा उद्योग की क्षति होगी। ऐसी स्थिति मे उपभोक्ताओ में भार व्यापक रूप में फैल जायगा।

१६. लाभ पर कर (Tax on Profits)—लाभ पर कर के भार की समस्या इस बात के कारण जटिल है कि लाभों तथा जिन तत्वों से यह बनते है, उनकी व्याख्या पर अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। प्रोफेसर वालकर जैसे अर्थशास्त्री लाभ को लगान के सदृश मानते है। इस अर्थ में लाभ उपक्रमी द्वारा अर्जित आधिक्य है, जो सीमान्त उपक्रमी से श्रेष्ठकर है। सीमान्त उत्पादक द्वारा बाजार में मूल्य निश्चित है इसलिए लगान के समान

लाभ भी मूल्य में नही शामिल होता। अतः इसे उपभोक्ता पर नही डाला जा सकता। इसे वही व्यापारी सहन करेगा जो इसका भुगतान करता है। किन्तु हम इस विचारधारा को नही मानते। सीमांत उपक्रमी भी दीर्घावधि में थोड़ा लाभ प्राप्त कर सकता है। अतः साधारण लाभ आधिक्य नही वरन् आवश्यक लागत का एक भाग है। इससे हम इस परिणाम पर नही पहुंचते कि जब तक उपक्रमी मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता, जिस को वह मुश्किल से कर सकता है, तो लाभ पर लगाया कर उपभोक्ता पर डाल दिया जायगा। व्यक्तिगत उपक्रमी के लिए बाजार के मूल्य निश्चित हैं। ऐसा होने के कारण उसकी जेब में से उसके लाभो पर लगे हुए कर को अवश्य बाहर निकालना चाहिये। जबतक मूल्य तेजी से न चढ रहे हों और उपभोक्ता खरीदने के लिए उतने चिन्तित न हों तब तक लाभों पर लगने वाला कर, जैसा कि नियम है, स्थानांतरित नही किया जा सकता। ऐसा मगर बहुत कम होता है।

परन्तु यदि कर किसी विशेष व्यापार तथा उद्योग से हुए लाभ पर है, तो उपक्रमियों में इन उद्योगों से हट जाने की प्रवृत्ति फैल जायगी। यदि ऐसा होता है तो यह कर भार वस्तु के उपभोक्ताओं पर, तथा ऐसे सेवा करने वालों पर जिन्हें इन उपक्रमियों ने नियुक्त किया, अंततः डाला जायगा। बहुत कुछ मांग की लोच तथा पूजी की गतिशीलता पर निर्भर करता है।

लाभों पर लगने वाला कर अनुज्ञापत्र (लाइसेंस) कर का रूप धारण कर सकता है। इस स्थिति में भी उत्पादक ही इसको सहन करेगा। अपने को संतुलित करने के लिये वह अपने उत्पादन को बढ़ा सकता है। उपभोक्ता को सामान्यतः लाभ होता है लेकिन अनुज्ञापत्र कर का भार उत्पादक पर पड़ेगा। यह सामान्यतः इतना छोटा होता है कि उत्पादक इसका विवर्तन करने की चेष्टा करता है।

१७. आधिक्य लाभ पर कर (Tax on Excess Profits):—यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि आधिक्य लाभ पर कर का अर्थ अत्यधिक लाभ पर कर से नही है अर्थात् वह लाभ जो आवश्यक लाभ से अधिक है। यह कौन बता सकता है कि लाभ कितना होना चाहिये ? यदि लाभ के लिये कोई एक दर निश्चित कर दी जाय जिससे अधिक लाभ 'असंयम' लाभ मान लिया जाय तो यह स्वेच्छाचारी होगा। इसके अतिरिक्त विनियोजित पूजी को परिभाषित करने तथा उसके मूल्य के आंकने में बड़ी कठिनाई होगी। विशेष कठिनाइयों तथा इस कर की अव्यवस्थाओं के कारण इसको त्याग देना चाहिये नहीं तो यह समता-रीति के विरुद्ध होगा। क्योंकि अतिरिक्त सामान्य लाभ का होना इस बात का आवश्यक आर्थिक सूचक है कि समुदाय के उत्पादक साधन किस ओर ले जाय जांय इसलिये ऐसे लाभ पर कर इस सूचक को हटा कर साधन के सर्वोत्तम बटवारे को रोकेगा। अतएव हमको ऊंचे लाभ पर यह समझ कर कि लाभ भारी है कर न लगाना चाहिये।

परन्तु असंयम लाभ पर इस विचार से कर लगाना कि वे लड़ाई के पहले के लाभ से

ऊंचे है, केवल साध्य ही नही वरन् समान भी होगा। इस विचार से असंयम लाभ पर कर लगाने से कुछ कठिनाइयां सामने आती है। उन व्यवसायी संस्थाओ के विषय में क्या होगा जिनका संकट काल में जन्म हुआ है? ऐसी दशा में संपत्ति (आदेय) के नए होने के कारण पूजी के आधार पर असयम नापा जा सकता है। दूसरे, ऐसा हो सकता है कि उन व्यवसायों में, जिनमें बडे घटाव व बढ़ाव होते है, लड़ाई के पहले लाभ बहुत कम हों। ऐसी दशाओं में कुछ मुजरा करना होगा। फिर ऐसे उद्योगों का मामला है जो क्षयी आदेय की उन्नति में लगे हुए हैं। संकट के समय मांग की पूर्ति करने के लिये उनको शीघ्रता से मितव्ययी होने के बजाय अन्याय से काम करना पड़ता है। अतएव उनको इसका मुआवजा मिलना चाहिये। यह स्पष्ट है कि कर अधिकारी सभी दशाओ मे पूरा न्याय नही कर सकते। अतः व्यक्तिगत आय-कर से असयम लाभ कर कठिन तथा खराब कर है। क्योकि कर ऊचा होता है तथा कर लगाने की रीति भद्दी होती है इसलिये वंचन सरल होता है तथा वंचन समता-रीति का खण्डन करता है। यह अच्छी व्यवस्था का बढाने वाला नही होता। लागत बढती चली जाती है। व्यापारिक कुशलता कम हो जाती है और ऐसा हो सकता है कि सकट के हटने पर भी बुरी व्यवस्था की आदत से सरलता से छुटकारा न मिले।

१८. आभास-लगान पर कर (Tax on Quasi-Rent)––आभास-लगान का अर्थ उन उत्पादन साधनों की आय से है जिनकी पूर्ति थोड़े समय के लिये स्थिर होती है। यदि इस आय पर कर लगाया जाता है तो इसकी प्रवृत्ति वही पर जमे रहने की होगी। इस दृष्टि से यह आर्थिक लगान के समान है। अल्पावधि में साधनों की पूर्ति लोचहीन होती है और मालिक वस्तु के उपभोक्ता को उसकी पूर्ति को रोक कर कर को स्थानान्तरित नही कर सकता। लेकिन दीर्घकाल में आभास लगान पर लगने वाला कर व्याज पर लगने वाले कर के सदृश होता है। इसकी प्रवृत्ति उस दिशा में विनियोग को रोकने की रहेगी। वस्तु की पूर्ति संकुचित हो जायगी और इसका मूल्य इस तरह बढ़ जायगा कि कर का बोझ उपभोक्ता पर आ जायगा। इस प्रकार आभास लगान पर कर का भार अल्पावधि में उत्पादक पर और दीर्घावधि में उपभोक्ता पर होगा।

१९. मजदूरी पर कर (Tax on Wages)––आधुनिक युग में मजदूरी (वेतन) पर प्रत्यक्ष कर नही लिया जाता। परन्तु सामाजिक बीमा की योजनाओं में श्रमिकों के योगदान को मजदूरी पर कर माना जा सकता है। यदि सभी श्रमिकों पर कर सामान्यतः लागू किया जाता है तो मजदूर नियोजकों पर इस कर को स्थानांतरित करने में समर्थ नही हो सकते, यदि श्रम के लिए मांग लोचदार है और पूर्ति लोचहीन है। यह सर्वविदित है कि मजदूरों की सापेक्ष सौदा करने की शक्ति कमजोर होती है। यदि उन पर कर लागू होता है तो मजदूरी में वृद्धि कराना उनकी शक्ति में नही है। जब तक वे मजदूरी में वृद्धि नही करा पाते, कर का बोझ उन्ही पर रहेगा। श्रम संबंधी झगड़ों में कर्मचारी (मजदूर) सदैव विजयी नही होते। श्रमिको के लिए मांग में जितनी अधिक लोच होगी,

उतना ही अधिक उन पर मजदूरी कर का भार होगा। यदि इससे उनका जीवनस्तर गिरता है तो कर का भार मजदूरों पर आता है। किन्तु यदि यह योग्यता के स्तर को गिराता है तो उत्पादन-व्यय बढ़ जायगा और वस्तु का मूल्य ऊंचा हो जायगा। ऐसी स्थिति में कर का बोझ उपभोक्ताओ पर चला जायगा। स्वयं उपभोक्ता होते हुए मजदूरों को भी कर मे अपना भाग बंटाना पड़ेगा।

परन्तु विशेष प्रकार के श्रम पर लागू कर का विवर्तन किया जा सकता है। वे दूसरे व्यवसाय में जा सकते है या स्वतंत्र व्यापार प्रारम्भ कर सकते है। ऐसी स्थिति में श्रम की पूर्ति में बहुत अधिक लोच होगी परन्तु मांग उतनी लोचदार नही हो सकती। अस्तु, यदि श्रम की पूर्ति लोचदार है किन्तु मांग लोचहीन है, तो मजदूरी-कर का बोझ मालिकों पर पड़ेगा।

२०. सामाजिक बीमा का भार (Incidence of Social Insurance):—सामाजिक बीमा के योगदान का भुगतान मालिक तथा सेवक दोनों करते है। जहां तक मालिक के योगदान का प्रश्न है यह मजदूरी के लेखा में जुड़ जाता है। इससे करीब-करीब उसी अनुपात में कीमत बढ जाती है। परन्तु क्योकि बीमे का धन श्रमिकों को बांटा जाता है तो उनकी आय में कीमत की वृद्धि के साथ वृद्धि होती है। इससे वास्तविक आय तथा व्यवसाय प्रभावित नही होते। यद्यपि आन्तरिक स्थितियां नही प्रभावित होतीं परन्तु बाह्य स्थितियां अवश्य प्रभावित होती है। घरेलू कीमत में वृद्धि से निर्यात में कमी हो जाती है जब कि श्रमिकों की आय में वृद्धि से आयात बढ सकते है। इसका परिणाम यह होता है कि भुगतान-तुला कमजोर हो जाती है।

श्रमिकों के योगदान का भार बचत के बजाय उपभोग पर होता है। क्योकि योगदान एक से होते है, उन श्रमिको पर अधिक भार से गिरते है जो बहुत कम बचा पाते है। जब कि पूरा समुदाय बीमा से ढक जाता है तो बीमा के योगदान का भार आय-कर के भार की भांति पडेगा।

२१. आधिक्य पर कर (Taxation of Surplus)—किसी भी उत्पादन साधन की पूर्ति बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि उसके लिए निम्नतम पारिश्रमिक की व्यवस्था की जाय। प्रत्येक अभिकर्ता को न्यूनतम मजदूरी, व्याज की न्यूनतम दर व लाभ की उचित तथा साधारण दर मिलनी ही चाहिये। उनकी आय आवश्यक लागत का संविधान करती है। इन आवश्यक लागतों पर कर नही लिया जा सकता। यदि इन पर कर लगाया गया तो वह विवर्तित हो जायगा। उदाहरणार्थ, यदि कोई कर साधारण लाभ में कटौती करता है तो इससे उपक्रमी हतोत्साहित होगा, उत्पादन में कमी हो सकती है और कर मजदूरों या उपभोक्ताओं पर विवर्तित हो जायगा। यदि न्यूनतम मजदूरी पर कर लगता है तो या तो यह श्रम की योग्यता को घटा देगा या उसकी पूर्ति को घटा देगा। इसका अर्थ उपभोक्ता

या मालिक पर कर का विवर्तन होगा। आवश्यक लागतों पर कर लगाने का अर्थ संबन्धित साधनों के प्रत्याहार का संतर्जन करना होगा। इस प्रकार यह कहा जाता है कि सभी करों की प्रवृत्ति आधिक्य, अर्थात् किसी साधन को नियमित रखने के लिए न्यूनतम आवश्यकता से अधिक आय की ओर होती है। केवल एकाधिकारी ही आधिक्य का आनन्द लेता है। वह स्वयं ही कर का बोझ संभालेगा। यदि जीवन की आवश्यकता के उत्पादन से आधिक्य आता है तब मांग के लोचहीन होने के कारण कर का बोझ पूर्णतः उपभोक्ताओं पर चला जायगा। यदि यह वस्तु विलासिता की है तो इस भार को अंशतः उत्पादक, अंशतः मध्यमवर्ग और अंशतः उपभोक्ता सहन करेंगे।

२२. बिक्री कर का भार (Incidence of Sale Tax)–यह कर विक्रय राशि पर लगता है, चाहे लाभ हो या न हो। इसका भार एक जटिल समस्या है। क्योंकि इसमें विस्तृत रूप में विभिन्न किस्म की वस्तुएँ आ जाती है। यदि किसी वस्तु के लिए मांग लोचहीन है तो उसका मूल्य बढ़ाया जा सकता है और बाद में उसी सीमा तक उपभोक्ताओं पर कर को विवर्तित कर दिया जायगा। किन्तु यदि मांग लोचदार है तो अंशतः विक्रेता और अंशतः उपभोक्ता इसे सहन करेगे। विक्रय कर लाभो पर ऐसे भारी छापे मार सकता है जिससे व्यवस्था-विभाग व कर्मचारियों की छटनी हो सकती है, कुछ व्यावसायिक स्थान खाली रह सकते है। इस प्रकार इसके भार कर्मचारियों, व्यवस्था-विभाग तथा जमीदारों पर पड सकते है। वास्तव में विक्रय कर विभिन्न प्रकार की बड़ी संख्या में जनता पर चोट करता है।

२३. व्यवसाय कर या हैसियत कर (Profession Tax or Haisiyat Tax)––यह कर व्यवसाय या सेवा पर लगता है। इसके भार आय-कर के समान होते है। यह वही पड़ा रहता है, जहां इसे लागू कर दिया जाता है और विवर्तन नहीं करता बशर्ते कि यह सामान्य कर है। यदि यह कुछ निश्चित व्यवसायों पर कर है और भारी है तब यह उन व्यवसायो में दूसरो के प्रवेश को हतोत्साहित करता है। जो लोग ऐसे लोगों की सेवा का प्रयोग करते है, उन्हे अधिक भुगतान करना होगा और अधिक भार सहन करना होगा।

२४. सीमा कर और चुगी कर (Terminal Taxes and Octroi Duties)––ये कर वस्तुओं पर लगते है और भार-सम्बन्धी नियम वही है जिन पर हम छठे खंड (Sec. 6) में विचार कर चुके है।

२५. करों की विभिन्नता (Tax Differentiation)––जब कोई कर लगाया जाता है तो उससे कुछ लोग निश्चय ही प्रभावित होंगे। कुछ के पक्ष और कुछ के विपक्ष में इसका प्रभाव पड़ेगा। किसी स्थान के लोगों के पक्ष में यह प्रभाव कर सकता है और किसी दूसरे स्थान के लोगों को यही दंडित कर सकता है। कुछ लोगों की हानि करके यह प्रभाव कुछ व्यापारियों को लाभ पहुंचा सकता है। दूसरे शब्दों में करों में कुछ लोगों के

पक्ष व कुछ के विपक्ष में भिन्नता होती है। यही कर-भिन्नता है। बेनहम के शब्दों में "कर कुछ करने की आतरिक प्रेरणा को परिवर्तित कर देते है, कुछ क्रियाओं में इनसे भिन्नता होती है।"

कुछ उदाहरण इसे स्पष्ट कर देंगे। आय-कर, जो अर्जित आय पर छूट देता है,विनियोग-आय के विरुद्ध और वैयक्तिक परिश्रम के पक्ष में अधिक भिन्नता करता है। उत्तराधिकार कर का भी इसके सदृश प्रभाव होता है। जो उत्तराधिकार से सम्पत्ति प्राप्त करते हैं, उनको अपेक्षा यह उनका साथ देता है, जो स्वयं सम्पत्ति बनाते है। बम्बई में स्थानिक करों के भार ने सूती वस्त्रोद्योग को बम्बई से निकाल कर अहमदाबाद,शोलापुर व हैदराबाद भगा दिया। प्रति व्यक्ति कर किसी देश के निवासियों में ही भिन्नता करता है। कुछ पेशों पर लगे हुए करो से ऐसे लोगो को लाभ होता है जो बिना कर के व्यवसाय में हैं और जो ऐसे व्यवसाय के है, जिसमे कर नही लगा हुआ है तो उनके प्रति भिन्नता होती है। चाय पर लागू कर काफी के प्रति भिन्नता पैदा करता है। अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। भिन्नता का अर्थ पूर्णतः स्पष्ट है। समाज के कुछ वर्गों पर इसका क्या अनुचित प्रभाव है या इसके विपरीत क्या प्रभाव होगा, इसका पता लगाना ही इसका अर्थ है।

सामाजिक न्याय के साधन के रूप मे सरकार को राजकीय अर्थ-कोष का प्रयोग करना है। इस उद्देश्य के लिए यह कुछ की क्षति करके कुछ को लाभ पहुचाता है। इसको कुछ उद्योगों को प्रोत्साहित करना है, या उन्हे कुछ क्षेत्र में विकसित करना है। इन सब उद्देश्यो के लिए करो के भेद का अध्ययन अति आवश्यक है।

अध्याय ४८

राजकीय ऋण

(PUBLIC DEBT)

१. राजकीय ऋण का प्रारम्भ तथा विकास (The Beginning and Growth of the Public Debts)—सरकार द्वारा ऋण लेने की प्रणाली हाल ही मे प्रारम्भ हुई है। १८ वी शताब्दी तक इसे कोई नही जानता था। जब भी कोई आकस्मिक घटना, जैसे लडाई इत्यादि छिड़ती थी, तो राजा अपने संचित धन का आश्रय लेता था अथवा अपनी निजी साख पर ऋण लेता था। इतिहास में बहुत से ऐसे उदाहरण पाये जाते है, जिनमे राजाओं के खजानो अथवा मन्दिरो और गिरजाघरों से संचित धन की लूटमार का वर्णन किया गया है। महमूद गज़नवी के भारतवर्ष पर आक्रमण तथा शिवाजी के लूटमार के आक्रमण भलीभाति ज्ञात है। शिवाजी के बारे में तो कहा जाता है कि वह सूरत के पहले आक्रमण में एक करोड रुपया ले गये थे। एक महत्त्वपूर्ण भारतीय राज्य के राजप्रमुख का निजी कोष एक करोड पौड से भी अधिक समझा जाता था और गद्दी पर बैठने के समय जवाहरात आदि मिलाकर उसकी लागत १५ करोड के बराबर होती थी। हर देश के राजा युद्ध को आर्थिक सहायता देने या शेरशाह सूरी या फिरोजशाह तुगलक की भांति लोक-कल्याण के कार्य करने के लिए ऐसे कोषों पर आश्रित रहते थे।

परन्तु वित्त-प्रबन्ध की यह रीति आधुनिक काल के लिए उचित नही है। यह पर्याप्त तथा मितव्ययी नही होगी। १९ वी शताब्दी में निजी ऋण का स्थान राज्य-ऋण ने ले लिया है और एक बार प्रारम्भ होने पर इसका विकास बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। राज्य-ऋण के शीघ्र विकास के कारण सीमित उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के पश्चात् उद्योग तथा व्यापार की उन्नति, बैको तथा बीमा कम्पनियो की उत्पत्ति, अर्थ-प्रबन्ध की उचित प्रणाली का विस्तार, उदाहरणार्थ, आवर्त्तक व्यय (Recurring Expenditure) का चालू राजस्व मे से पूरा होना, तथा शासन व न्याय की उचित प्रणाली की स्थापना है। एक साधारण नागरिक आजकल अधिक सुरक्षा तथा विश्वास के कारण उधार देने के लिए अधिक योग्य और तत्पर है। यह सब सार्वजनिक ऋण की प्रणाली के मुख्य आधार है।

राजकीय ऋण की इस प्रणाली के फलस्वरूप जिससे ऋण लेने मे सुविधा हो गई है, आजकल के राज्यो में भी ऋणग्रस्तता (Indebtedness) की अधिक वृद्धि हो गई है। २७ देशो का राजकीय ऋण सन् १९०० में ६ अरब, ७ करोड ९० लाख

पौड था। १९१३ मे यह ऋण ८ अरब ५६ करोड़ ६० लाख पौंड हो गया तथा १९३३ में २२ अरब पौड हो गया। इस घटनावश वृद्धि का मुख्य कारण युद्ध था। १९१४-१८ के युद्ध की वास्तविक लागत ४२०० करोड पौंड थी,[१] १९३९-४५ के युद्ध की लागत तो इससे भी कही अधिक होगी।

युद्ध के अतिरिक्त अन्य दूसरे कारण भी है जिनकी वजह से राज्य ऋण में वृद्धि हुई है। पहला कारण बजट में बहुधा घाटा है। इन घाटो का कारण पूर्ण आर्थिक क्रिया के प्रतिपादन की आवश्यकता उन अर्थ-व्यवस्थाओ मे है जोकि विस्तृत होने से रुक गई है। राज्य-ऋण में वृद्धि का दूसरा कारण दीर्घकालीन औद्योगिक विनियोग तथा कल्याण-योजनाओ का चलाना है। तीसरे लोक उपयोगिताओं मे जहा लाभ पर कोई अनुकूल रुकावट नही है, लागतो पर कोई नियन्त्रण नही रखा जा सकता और इसलिए लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। इनसे भी राज्य ऋण में वृद्धि हुई है।

राजकीय ऋण के लाभ व हानि.—राजकीय ऋण के कई लाभ है :—

(१) निःसन्देह, इससे पूजी मे वृद्धि नही होती है, फिर भी, यह पूजी को अधिक उत्पादक बना देता है और इससे उत्पादन का विकास होता है, और इससे राष्ट्रीय सम्पत्ति मे वृद्धि होती है। धीरे-धीरे इससे जीवन-स्तर भी ऊंचा हो जाता है।

(२) राजकीय ऋण के बिना राज्य के बडे-बडे कार्य, जैसे, सडकों, नहरों आदि का कार्य असम्भव था। और इन कार्यों के बिना हम अपनी हालत स्वयं सोच सकते है।

(३) राजकीय ऋण ही प्राकृतिक दुर्घटना, जैसे बाढ़, भूकम्प, अकाल आदि के समय देश की साधारण स्थिति बनाये रखने का एकमात्र उपाय है। इस प्रकार की दुर्घटनाओं का सामना सामान्य आगम नही कर सकता।

(४) आधुनिक युद्ध भी राजकीय ऋण के बिना नही लडे जा सकते। जिस राष्ट्र की आर्थिक स्थिति संकुचित हो जाती है, वह आत्मसमर्पण के लिए बाध्य हो जाता है। अतः राजकीय ऋण ही राज्य की सुरक्षा और स्वतन्त्रता का अस्तित्व बनाये रखता है।

(५) जनता द्वारा दिये गये राजकीय ऋण से ही पिछडे देश अपने प्राकृतिक साधनों का विकास करके, अपनी शक्ति और प्राकृतिक सम्पत्ति बढा सकते है।

(६) उधार देने वाले राष्ट्रो को भी राजकीय ऋण अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ है। उधार देने वाले राष्ट्रों के नागरिको के लिए सुरक्षित और लाभजनक धन लगाने के साधन मिल जाते है। अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यापारिक सन्तुलन में एक अनुकूल प्रतिक्रिया है और वैदेशिक विनिमय को भी संतुलित रखता है।

अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यवस्था के कुछ आर्थिकेतर लाभ भी है, जैसे उधार देने वाले देश ऋणी देश के भौतिक उत्थान मे रुचि रखने लगते है। यह उस देश के नागरिकों के दृष्टिकोण को विकसित करता है। इस तरह विभिन्न देशों का पारस्परिक सम्बन्ध

१. Findlay Shirras · Science of Public Finance, 1936. p. 779.

एक दूसरे को समझने में सहायक होता है और फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखने में समर्थ होता है।

राज्य ऋण के लाभों के साथ-साथ कुछ हानियां भी होती है, जो निम्न प्रकार है :–

(१) राजकीय ऋण का सबसे बड़ा भय इस बात से उत्पन्न होता है, कि सरकार बहुत आसानी से उधार ले सकती है। यह ऋण लेना लोगों की कर देने की क्षमता की सीमा पार कर जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सरकार या तो दिवालिया हो जाती है या समय पर न दे सकने को या बिलकुल ही न दे पाने के लिए विवश हो जाती है।

(२) नये और पिछडे देशो का लापरवाही से उधार लेना उनको अमितव्ययी बना देता है। अधिक व्यय वाली योजनायें होने वाले लाभ का माप किये बिना ही प्रारम्भ की जाती है और इस ओर ध्यान ही नही दिया जाता कि यह योजनाएं देश की सहन-शक्ति की सामर्थ्य की है भी या नही। यह आने वाली पीढ़ी पर ब्याज का भार और अधिक बढा देती है, जबकि इन योजनाओ से कोई विशेष लाभ नही होता वरन् हानि अधिक होती है।

(३) इसके कारण बहुत से देशो ने अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता खो दी। मिस्र उनमे से एक है। देश के आगम (Revenue) कभी-कभी विदेशी बाण्ड रखने वालो के यहा धरोहर के रूप मे रख दिये जाते है। उनके हित सुरक्षित रखने के लिए विदेशी सरकार हस्तक्षेप करती है।

(४) विदेशी ऋण देश के धन को निरन्तर देश के बाहर ले जाते है। अगर रुपया अनुत्पादक कार्यों के लिये लिया गया है, तो व्याज का देना आने वाली पीढी पर व्यर्थ का भार होगा।

(५) राजकीय ऋण अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें बढाता है और शान्ति को बढाने के बजाय उसको खतरे में डाल देता है। इससे निजी स्वार्थ (Vested interests) उत्पन्न हो जाते है। राजकीय ऋण उधार देने व लेने वाले देशों में निरन्तर फूट का कारण बन जाते है। सारांश यह कि राजकीय ऋण के लाभ उसकी हानियों से अधिक है। दुनिया में थोडी ही ऐसी वस्तुएँ है, जो केवल एक ही पक्ष उपस्थित करती हो और वह भी केवल आशापूर्ण पक्ष। राजकीय ऋण के भी निराशापूर्ण पक्ष है परन्तु उसके आशापूर्ण पक्ष अधिक हैं, और वह भी अधिक प्रत्यक्ष है। इसने सम्बन्धित उधार देने व लेने वाले देशों पर अनेक और सदैव रहने वाले लाभ प्रदान किये है।

३. संकटापन्न स्थिति में सरकार किस प्रकार कोष बढ़ाती है (How the Govt. Raises Funds For Emergencies)––सरकार के संकटापन्न स्थिति में धन जुटाने के निम्नाकित साधन है :––

(१) संचित धन का उपयोग।

(२) सरकारी सम्पत्ति का विक्रय।

(३) नये करों का लागू करना और पुराने करों की दर में वृद्धि करना।

(४) अस्थायी ऋणों का लेना।

(५) स्थायी ऋण का लेना।

(६) अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा का चलन।

संचित संपत्ति कुछ ही आधुनिक सरकारों के पास होती है। जवाहरात और संचित संपत्ति शासकों की अपनी निजी संपत्ति है। दूसरा साधन **'सरकारी सम्पत्ति का विक्रय'** है, जो कि पुराने देशों मे जहां राज्य की भूमि पहले से ही बिकी हुई मान ली जाती है, महत्वपूर्ण नही है। एक आधुनिक सरकार पूर्वतः संपत्ति को बेचने की अपेक्षा अधिक संपत्ति प्राप्त करना चाहेगी। अतः हम अब अंतिम चार पर ही विचार करेगे और प्रत्येक पर कुछ शब्द कहेंगे।

४. नये करों का लागू करना और पुराने करों की दरों में वृद्धि (Imposition of New Taxes and Enhancing the Rates of the Old)—जब कभी लडाई जैसी संकटापन्न स्थिति उपस्थित हो जाती है तो सरकार का राजकीय कोष बढ़ाने के लिए सब से पहला साधन आता है, नये करो की वृद्धि के साथ-साथ पुराने करों, जैसे आय कर, उत्पादन कर, रेलवे और डाक की दरों मे वृद्धि करना। नये उत्पादन करो का वसूल करना और आयात-निर्यात कर की सूची बढा दी जाती है। लेकिन इसकी भी एक सीमा होती है। इसके बाहर सरकार को इस दिशा में अप्रिय कर बढाना सुरक्षित नही है। कर देने की सामर्थ्य की भी एक सीमा होती है। एक सीमा के बाहर लोग कर देने में असमर्थ या अपने आप को परेशान पाते है या कर न देने की इच्छा करते है। यदि कर अधिक लगाये जाते है तो इससे राष्ट्र के उत्पादन सामर्थ्य को क्षति होती है। इसके अलावा देश के नागरिकों की देश-भक्ति पर अत्यधिक दबाव पडता है। इसलिये सरकार कम-से-कम विरोध की नीति अपनाती है और अपनी कर-प्रणाली को अधिक नही बढाती। निःसंदेह, कर बढाये जाते है परन्तु सरकार को अपने आगम बढाने के और भी साधन अपनाने पड़ते है। लड़ाइयो को आर्थिक सहायता देने के लिए सिर्फ करों के साधनों को अपनाना एक बड़ी भारी मूर्खता होगी और यह निश्चित है कि यह क्राति को प्रेरणा देगी, और शीघ्र ही घरेलू मोर्चे में दरार पड जायगी। इसलिए इस साधन का अधिक सहारा नहीं लिया जा सकता है।

५. अस्थायी बनाम स्थायी ऋण (Temporary Vs. Permanent Loans)—बहुधा अस्थायी ऋण (Temporary Loans) सरकारी हुंडियों के बेचने से बढ़ाया जाता है अथवा केन्द्रीय बैंक के रीतियों और साधनों वाले अग्रिम (Ways and Means advances) द्वारा। नियम के अनुसार यह देश के अन्दर ही बढ़ाये जाते है। नीचे कुछ "अल्प-अवधि-ऋण" लेने के विषय में आवश्यक विवेचनाएं दी जाती है :

(अ) जब मुद्रा के बाज़ार में व्याज की दर साधारण से कुछ अधिक हो तो यह बुद्धि-

मत्ता नही होगी कि सरकार अधिक व्याज के बोझ को सहन करे। जब व्याज की दर कम हो तब रुपया उधार लेना बुद्धिमत्ता होगी। मुख्यतः स्थायी ऋण के लिए यह अच्छा अवसर है।

(ब) जब सरकार को अस्थायी कठिनाइयों पर विजय पानी होती है तब स्थायी ऋण लेना अनावश्यक होगा, जैसे बजट की कमी को पूरा करना या तात्कालिक व्यय और आशान्वित आय के बीच की खाई को पूरा करना। जून और जुलाई में नये करों की आय का आना प्रारंभ नही हो सकता और अप्रैल और मई में धन कोष का अभाव हो सकता है। ऐसी परिस्थिति मे स्थायी ऋण व्यवस्था ही केवल एकमात्र उपाय है। अगर लक्ष्य अस्थायी है तो ऋण का स्थायी होना आवश्यक नही।

(स) अस्थायी ऋण की यह विशेषता है कि वह सरकार को अपने कामों को अविरोध और बेरोक-टोक करने की क्षमता प्रदान करता है और स्थायी ऋण बढ़ाने की कठिनाइयों से बचाता है।

(द) मुद्रा के बाज़ार में अस्थायी ऋण के निकालने का स्वागत होता है। सरकारी हुंडियां सबसे अधिक सुरक्षित और बैंकों के लिए सब से अधिक लाभप्रद विनियोग हैं और वे बैंकों के लिए एक आदर्श विनियोग बनाती है।

दूसरी ओर अस्थायी ऋण की कुछ बुराइयां भी है :–

(अ) जब सरकार मुद्रा बाजार में अस्थायी ऋण बढाने के लिए प्रवेश करती है तो बैंकों का रुपया व्यापार और उद्योग से हटाकर सरकारी हुंडियों में परिवर्तित कर दिया जाता है। फलस्वरूप उद्योग व्यवसाय नष्ट हो जाते है। यहां तक कि बैंक जमा में भी कमी आ जाती है।

(ब) अल्पकालीन ऋण का होना सरकार के लिए एक परेशानी का कारण बन सकता है। इससे सरकार की आर्थिक स्थिरता में अविश्वास उत्पन्न हो सकता है और इसके परिणाम अच्छे नही हो सकते। जब एक बडा अस्थायी ऋण पूरा हो लेता है तो यह सरकारी अर्थ-प्रबंध के लिए कठिन और भार-स्वरूप प्रतीत होता है।

(स) यह बहुधा देखा जाता है कि जब एक अस्थायी ऋण पूरा प्राप्त होता है तो उसके भुगतान के लिये दूसरे ऋण निकाले जाते है। इस तरह से यह अस्थायी ऋण एक स्थायी ऋण का रूप धारण कर लेता है। मुद्रा बाजार का धन निश्चित काल के लिए एक जगह बन्द कर दिया जाता है जिससे व्यापार और उद्योग को क्षति पहुंचती है।

(द) अल्पकालीन ऋण का होना, भविष्य में एक भयानक रूप धारण कर लेता है जबकि वास्तविक संकट उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिये जब युद्ध छिड जाता है तो सरकार को शीघ्र ही अधिक धन की आवश्यकता होगी, लेकिन पहले से ऋणी होने के कारण और ऋण लेने के कम अवसर प्राप्त होंगे।

(य) अल्पकालीन ऋण से दूसरी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि वह मुद्रा-प्रसार को जन्म देता है। जब ऋण लौटाने का समय आता है तो चुकाने के लिए सरकार पत्र-मुद्रा

छाप सकती है और मुद्रा-प्रसार की कठिनाइयों से तो हम भली भाति परिचित ही है।

(र) अल्पकालीन ऋण पर वैधानिक नियंत्रण नही रहता और उसका प्रचार भी अधिक नही होता। यह नितांत प्रबन्ध-कृत्य द्वारा होता है। ऋण लेना वास्तव में एक बडी कठिनाई है। अत्यधिक ऋण लेना अमितव्ययिता को जन्म देता है।

स्थायी ऋण (Permanent Borrowing) के भी हानि और लाभ है। स्थायी ऋण के पक्ष मे हम निम्न बातें कह सकते है :—

(अ) यह उस समय लाभप्रद होगा जबकि व्याज की दर कम हो। इन परिस्थितियों में जन-कल्याण की योजनाएं कार्यान्वित करना अच्छा होगा क्योंकि धन के लिये अधिक व्याज नही देना पड़ेगा।

(ब) स्थायी ऋण सरकार के लिए कठिनाईस्वरूप नही होते। इनके भुगतान के लिए सामयिक प्रबन्ध किये जा सकते है।

(स) सरकारी बांड (Bond) वास्तव मे अच्छा विनियोग है। वे प्रन्यास कोष (Trust Funds), बैंक और बीमा कम्पनियो के लिये लाभप्रद प्रतीत होते है। निःसन्देह इसके द्वारा धन की बचत बढ़ती है और देश अधिक पूजी का संचय कर सकता है।

(द) यह हमारी न्याय की भावना को भी संतुष्ट करता है जिससे रेलो, नहरों का निर्माण आने वाली सन्तान को लाभप्रद होता है। युद्ध के द्वारा लाई गई बर्बादी के लिए भी लाभप्रद हो सकता है। यह सब तभी हो सकता है जबकि अधिक समय के लिए ऋण लिया जाय।

(य) आधुनिक युग को सफल बनाने और उसके द्वारा लाई गई बर्बादी के सुधार के लिए स्थायी ऋण का होना नितान्त आवश्यक है। क्षतिग्रस्त स्थानो की मरम्मत और पूर्ववत दशा मे लाने के लिए भी अधिक कोष चाहिए, जो अधिक करों के बढाने से होगा। ऋण का इतना बड़ा भार कुछ ही वर्षो द्वारा प्राप्त धन पर नही लादा जा सकता। इसे सहने योग्य बनाने के लिए इसकी अवधि अधिक लम्बी होनी चाहिये। यह केवल स्थायी ऋण के द्वारा ही संभव है।

(र) उत्पादक कार्यो के लिए लिये गए ऋण राष्ट्रीय धन की रचना करते है, जिससे मूलधन और व्याज, दोनों पूर्ण किए जा सकते है। स्थायी ऋण की सहायता से धन बढ़ाने वाले साधन उत्पन्न होते है — जैसे नहरें, रेले आदि सदैव रहती है और भविष्य में राष्ट्रीय धन को बढ़ाती है। अतः स्थायी ऋण अधिक लाभकारी है।

(ल) अन्त में स्थायी ऋण नागरिकों को राज्य मे स्थायी व्याज देते है। यह उनमें नागरिक भावनाएं तथा देशभक्ति को बढ़ाते हैं और सरकार का जनता द्वारा ऋण लेने से दोनो के बीच एक निकट संपर्क स्थापित हो जाता है।

दीर्घकालीन अथवा स्थायी ऋण में भी कुछ बुराइयां है :—

(अ) स्थायी ऋण व्याज की दर ऊंची होने की दशा में लेना उचित नही होता।

ऐसे समय में दीर्घकालीन ऋण का निकालना जनता की राय में अनुचित होगा।

(ब) यह भी उचित नही है कि हमारी भूलों को आने वाली सन्तान भुगते। हिटलर के द्वारा की जाने वाली भूलों के लिए जर्मनी की आने वाली संतान को क्यों दंड दिया जाय ? इसी ढंग से गलत जन-कल्याण की योजनाएं भी आने वाली सन्तान के लिए अहितकर भार-स्वरूप होती है।

(स) करों की तुलना मे ऋण लेना आसान है। कर लोकप्रिय नही होते लेकिन सरकार ऋण लेकर एक अप्रिय कार्य को उन्नति दे सकती है या एक शंकित उद्देश्य को चला सकती है। सरकार के हाथ मे यह एक भयकर शस्त्र है और यह प्रजातत्र के विपरीत है। यदि युद्धो की अकेले करों द्वारा ही अर्थ-व्यवस्था होनी है तो वह समाप्त हो जायेंगे।

(द) भारी राजकीय ऋण उद्योग और व्यवसाय पर रोक लगाने का काम करते हैं। सरकार को अधिक व्याज का भुगतान करने के लिए (ऊचे) भारी करों का लगाना आवश्यक हो जाता है और अधिक कर आर्थिक उन्नति पर चोट करते है। इस तरह उद्योग पर इसका भारी दबाव पडेगा।

इन आपत्तियो के होते हुए भी ऋण लेने से छुटकारा नही दीख पडता। प्रत्येक सरकार ऋण लेती है और लेना ही चाहिए। इसकी राजनीतिक आवश्यकता भी है। स्थायी ऋण आन्तरिक और बाहरी दोनो हो सकते है। वह देश की जनता से या विदेशी सरकार से लिये जा सकते है। विदेशी ऋण की दशा में व्याज का धन दूसरे देशों में जाता है। इससे ऋणी देश अपनी राजनीतिक स्वाधीनता भी खो सकता है। इसका अर्थ आने वाली सन्तान पर यह ऋण भार-स्वरूप होगा जबकि इस धन को उत्पादित कार्यों में न लगाकर युद्ध आदि मे लगाया जाता है।

६. क्या राष्ट्र अनिश्चित सीमा तक ऋण ले सकता है ? (Can a Nation Borrow Without a Limit) –प्रत्यक्षतः नही ; यह ठीक व्यक्ति विशेष के मामले की तरह ही है । अन्त में ऋण चुकाना ही होता है। इसलिये कोई भी राज्य लौटाने की सामर्थ्य के बाहर उधार नही ले सकता। राज्य विभिन्न रूपों मे ऋण ले सकता है, लेकिन इनकी भी सीमा है और अपनी सुरक्षा के बाहर वह नही जा सकता। आइए, हम ऋण के विभिन्न रूपो और हरएक की सीमा पर विचार करें।

(अ) **कागजी मुद्रा का निकालना** (Issue of Paper Money)–यह अस्वाभाविक या विवश-ऋण कहलाता है। अब यह मान लिया गया है कि मुद्रा-प्रसार एक बहुत भयानक शस्त्र है। हम शीघ्र ही बढी हुई पेचीदी कीमतों में जकड जाते है। अगर कागजी मुद्राप्रसार सीमा के बाहर बढ़ जाता है तो यह सारहीन हो जाता है और देश को नष्ट कर देता है। १९१४-१८ के युद्ध के बाद में जर्मनी में यही तो हुआ था। एक सीमा के बाहर कागजी मुद्रा का प्रसार कीमतों के बढ़ने की ओर संकेत करता है । एक सीमा है जिसके बाहर नोट नही छापे जा सकते और वह सीमा बढ़ती हुई कीमतों से प्रकट होगी।

(ब) **विदेशी ऋण** (External Loan)—इस विषय में ऋण लेना देश की आर्थिक स्थिरता और साख पर निर्भर करता है। कुछ ही देशों की असीमित राष्ट्रीय साख होती है। प्रत्येक देश का बजट उस सीमा को बतलाता है जिसके बाद विदेश से ऋण लेने की आशा नही की जा सकती। विदेशी सरकार उधार लेने वाले देश के नागरिकों की कर-सहन शक्ति और देश के प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय के अनुसार कार्य करेगी। कोई भी विदेशी सरकार एक सीमा के बाहर उधार नही दे सकती।

(स) **देशी ऋण** (Internal Borrowing)—यहा फिर से इसे दुहराना पड़ेगा कि उधार लेने की भी एक सीमा है। उसके बाहर उधार लेना असम्भव है। भौतिक संभावित बचत के द्वारा ही उधार लेने की अधिकतम सीमा निर्धारित की जाती है। सिद्धाततः यह कहा जा सकता है कि सरकार वह सब उधार ले सकती है जो कि नागरिक बचत करते है। निःसंदेह जब तक सरकार जन्म-मरण के सघर्ष से न गुजर रही हो तब तक, वस्तुतः ऐसा कम ही होता है। परन्तु अगर सरकार उस सब को, जो कि नागरिक बचाते हैं, ले लेती है, तो व्यापार और उद्योगो को चलाने के लिए कुछ भी नही बचता। नई पूजी का निरन्तर बहाव वर्तमान पूजी को न केवल पूर्ववत् बनाये रखने के लिए है वरन् और नई पूजी बनाने के लिए आवश्यक है, साथ ही उद्योगो को न केवल सुचारु रूप से चलाने के लिए ही बल्कि उनके उत्थान के लिए भी आवश्यक है। अगर सरकार इस बहाव को रोक देती है या बूद-बूद करके आने देती है, तो निःसन्देह व्यापार और उद्योग-धन्धो को हानि पहुंचेगी। इसीलिए हम कह सकते है कि साधारणतया सरकार अतिरिक्त (Surplus) बचत ही उधार ले सकती है। उदाहरणतः वह धन जो उद्योग-धंधों और व्यापारो की आवश्यकता के बाद बचे रहते है।

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकालते है कि चाहे एक सरकार विदेश से उधार ले या देश के भीतर से, या केवल कागजी मुद्रा छाप कर, प्रत्येक दशा में इन सबकी एक सीमा होगी। इस सीमा को या तो देश की सुरक्षा को खतरे में डाले बिना या देश की उत्पादन-शक्ति को हानि पहुंचाये बिना पार नही किया जा सकता।

७. राजकीय ऋण बढ़ाने का मुद्रा-प्रसार एक साधन (Inflation as a Means of Raising Public Funds)—आधुनिक युद्ध इतने महगे हो गये है कि किसी देश का युद्ध मे प्रवृत्त होना पत्र-मुद्रा निकाले बिना असम्भव हो गया है। ऋण और कर इस काम के लिए ठीक सिद्ध नही होते। १९१४-१८ के युद्ध के अन्त में, जर्मनी को करीब-करीब पूर्ण रूप से इसी का आश्रय लेना पड़ा और यह अच्छा भी सिद्ध हुआ। द्वितीय महायुद्ध से संबंधित सभी देशों ने कम या अधिक रूप में इस साधन को अपनाया। इग्लैंड और अमेरिका जैसे देशों में भी प्रचुर मात्रा में कागजी-मुद्रा छापी गई। भारत में इसने बहुत बड़े रूप में खतरे का आह्वान किया, जिसका बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों ने विरोध किया। सितम्बर १९३९ से मार्च १९४३ तक भारत में पत्रमुद्रा

मे ८० प्रतिशत बढती हुई। इस प्रकार आकस्मिक घटनाओं के लिए धन बढाने में पत्र-मुद्रा निकालने के साधन ने राज्य ऋण में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है।

लेकिन यह मानना होगा कि यह एक गलत और चिन्तायुक्त भय का साधन है। यहा हम पत्र-मुद्रा-प्रसार के विपरीत आर्थिक कारणों पर विचार नही करेगे। किन्तु हम बलपूर्वक कह सकते है कि पत्र-मुद्रा-प्रसार या उसके अत्यधिक निकालने का आंतरिक व्यापार पर अस्थिर प्रभाव होता है;यह विदेशी विनिमय को उद्विग्न करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अशांत कर देता है। यह इसमें न सुलझने वाले सट्टे को जन्म देता है और व्यापारिक सम्बन्धो में अविश्वास की भावना उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह व्यापार की जड़ काटता है जिस पर भविष्य की उन्नति निर्भर होती है। डाल्टन (Dalton) के शब्दों मे "कृत्रिम समृद्धि के नशे में चूर व्यापारी लोग पहले खूब प्रसन्न होते है, उसके बाद विक्षिप्त बुद्धि मे भविष्य को गलत आकते है, अपने साधनो का गलत निर्देशन करते है और ऐसे उपक्रमों को आरम्भ करते है जो आर्थिक दृष्टि से दोषपूर्ण होते है। ये व्यापारी लोग उत्पादन-शक्ति के जिस बडे भाग को नियत्रित करते है, उसकी भ्राति को दूर करने के लिए, व्यापारिक विश्वास को नष्ट करने के लिए, माग की पूर्व आशा को निराश करने के लिए, और उसे क्रिया-हीन करने, और कभी-कभी तो एक पर्याप्त अवधि तक के लिए, किसी प्रकार की निश्चित संकुचन के बिना मुद्रा-प्रसार की दर मे कभी-कभी केवल क्षीणता लाने मात्र से ही, अवरोध पर्याप्त होता है।" मुद्रा-चलन के अत्यधिक विस्तार के कारणों से कीमतों मे जो कष्टकर वृद्धि होती है, उससे समाज के कुछ सदस्यो को अनंत कष्ट उठाने पड़ते है। इससे निर्धन उपभोक्ता, परिमित आय वाले और मज़दूरी पाने वालो को सबसे अधिक कष्ट होता है। ऋण लेने और देने वालो के पारस्परिक सम्बन्ध बिगड जाते है। मुद्रा-प्रसार का विशुद्ध परिणाम कुछ को अनुचित लाभ और अनेको को अकारण हानिया होती है। "यह सटोरियों तथा अनुचित लाभ उठाने वालो के लिए स्वर्ग है और वह अशतः मजदूरी उपार्जन करने वालो (क्योकि कीमतें तो उछल-उछल कर बढती है, किन्तु मज़दूरी एक-एक सीढी चढ़कर बढती है), और उससे भी अधिक नियत आय वालों की कीमत पर अपने निजी यत्न के बिना ही सम्पन्न हो जाते है।" [1]

राज्य की स्थिरता मे लोगों का विश्वास विक्षिप्त हो जाता है। मुद्रा-चलन मे भगदड़ होती है और उसके अंततः भीषण परिणाम हो सकते है। सरकार एक भ्रष्ट चक्र में फंस जाती है, जिसमें से निकलना आसान नही होता। नोटो का निकालना कीमतो को बढ़ाता है; इसलिए, सरकार को अपने क्रय के लिए अधिक धन प्राप्त करना ही पड़ता है। इसके फल-स्वरूप पत्र-मुद्रा और अधिक निकाली जाती है, और इसी प्रकार क्रम जारी रहता है। यह बहुत ही फिसलन का मार्ग है, और अपने मुद्रा-चलन का विस्तार करने वाली सरकार आर्थिक और राजनीतिक विनाश की दिशा में बढ रही होती है।

1. Thomas, S.E.: Elements of Economics 1936, p. 671.

किन्तु मुद्रा-प्रसार की इन भीषण प्रतिक्रियाओं को छोडकर, अर्थशास्त्र के पंडितों ने इसकी कडी निन्दा की है, क्योकि यह अर्थ-व्यवस्था की सुदृढ नीतियो की विरोधी है। इसे अस्वाभाविक या विवश ऋण कहा जाता है और साथ ही व्याज से भी मुक्त है। सरकार पत्र-मुद्रा के निकालने से अपनी क्रय-शक्ति को सम्पन्न करती है, किन्तु उसके साथ ही लोगो की क्रय-शक्ति घटाती है। यदि मेरे पास एक सौ रु० का नोट है, और सरकार निर्गमन नोट को दोगुना कर देती है, तो कीमते, द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार दोगुना हो जायेगी और मेरा १०० का नोट केवल पचास रुपये लागत की वस्तुओं का क्रय करने योग्य होगा। इसका सरल अर्थ यह है कि लोगो को विवश होकर उन वस्तुओ और सेवाओ को सरकार की इच्छा पर छोडना पडता है जिन्हे वह क्रय कर सकते थे, और यह भी उनके अनजाने-पन मे ही हो जाता है। यह केवल एक विवश-ऋण नही, परन्तु गुप्त ऋण है। प्रो० सी. एन. वकील इसे डकैती कहते है।

द्रव्य के इस प्रकार के रूप के प्रति आधारमूलक आपत्ति यह है कि यह न्याय अथवा समानता की रीति को भग करता है। जब कीमतें बढती है, तो धनी और निर्धन, सब ऊची कीमतें देते है, और वह सब एक ही कीमत पर क्रय करते है। यदि खाड की कीमत ८ आने प्रति सेर मे १ रु० प्रति सेर हो जाती है, तो निर्धन धनी के साथ-साथ दुगुनी कीमत देता है। किन्तु धनी तो सशक्त है और निर्धन दे नही सकता। मुद्रा-प्रसार की आनुपातिक टैक्स-निर्धारण मे तुलना हो सकती है। यह सहन करने की शक्ति का विचार नही रखती। इसलिये, अपने प्रभाव की दृष्टि मे यह प्रतिगामी (Regressive) है। समाज का निर्धन-वर्ग राज्य के अर्थ-कोष मे अधिक अशदान के लिए विवश किया जाता है और वही, ऐसे लोग है जो देने की शक्ति ही नही रखते। यह सर्वथा अन्याय है। सम्पत्ति का पुनर्वितरण उन्ही के पक्ष में होता है जो पूर्वतः धनी है।

इस प्रकार मुद्रा-प्रसार राजनीतिक दृष्टि मे भयानक, आर्थिक दृष्टि मे विनाशकारी और नैतिकता की दृष्टि मे बुरा है। सरकारों के लिए कभी-कभी अत्यावश्यकता के समय; यदि यह सकट-पूर्त्ति के लिए न होना, तो कोषो की रचना का यह उपाय, सम्भवतः कदापि न अपनाया जाता। यह सम्पत्ति वितरण की असमानताओ मे वृद्धि करता है; यह सम्पत्ति उत्पादन के यत्र को हिला देता है, और यहा तक कि आगम का स्रोत होने के रूप मे यह शीघ्र ही सूख जाता है।

८. ऋण को कम करना या चुकाना (Debt Redemption or Repayment)—आधुनिक सरकारें अपना ऋण चुकाना एक सम्मानपूर्ण कार्य समझती है। ऋण चुकाना उनकी साख और शक्ति को बनाये रखता है। जब कभी राष्ट्र पर संकट आता है, तो बाद में कोष बढ़ाना सरल हो जाता है। ऋण चुका देने से व्यापार और उद्योग के लिए धन मुक्त हो जाता है।

ऋण चुकाने के निम्नांकित कुछ उपाय है :—

(१) **आधिक्य आगम का उपयोग** (The Utilization of Surplus Revenue)—यह एक प्राचीन उपाय है, लेकिन आधुनिक परिस्थितियों मे पूर्ण रूप से विपरीत है। बजट का आधिक्य साधारणतः सम्भव नहीं है और यदि बजट में आधिक्य हो भी तो वह इतना महत्व-हीन होगा कि वह ऋण को कम करने मे उपयोगी नही हो सकता।

(२) **बाज़ार में सरकारी स्टाक का खरीदना** (Purchasing of Govt. Stock in the Market)—सम्भव है, सरकार बाजार मे अपने निजी स्टाक को क्रय कर ले और इस प्रकार उस सीमा तक अपने दायित्व का अन्त कर दे। यह कार्य आगम के आधिक्य या कम व्याज पर अनुकूल परिस्थिति मे लिये हुए ऋण से किया जा सकता है।

(३) **सावधि-वार्षिकी** (Terminal Annuities)—जब यह पूर्ण निश्चय कर लिया जाता है कि सरकार को अपने स्थायी ऋणो का भुगतान करना है तो वह प्रतिवर्ष कुछ निश्चित धन वार्षिकी के रूप मे ऋणदाताओ को उधार चुकाने के लिए बाध देती है। इसी भुगतान को वार्षिकी कहते है। यह प्रकट होगा कि जिस काल मे यह वार्षिकी दी जा रही होगी, उसमे केवल व्याज देने के काल की अपेक्षा सरकारी अर्थ-कोष पर कही अधिक दबाव पडा होगा।

(४) **रूपान्तरकरण** (Conversion)—ऋण को भार-हीन करने का यह एक अच्छा उपाय है। जब सरकार ने ऊची दर के समय ऋण लिया हो और अब अगर व्याज की दर कम हो गई हो तो सरकार ऊचे व्याज की दर वाले ऋण को कम व्याज की दर मे परिवर्तित कर सकती है। ऐसे समय मे सरकार उधार देने वालो को सूचना देती है या तो अपने व्याज की दर को कम करे या अपना रुपया वापिस ले ले। यदि बाड (Bonds) रखने वाले व्याज की दर को कम करना स्वीकार नही करते तो सरकार कम व्याज पर दूसरा धन उधार लेकर उस धन से पिछले ऋण को चुका देती है। इस प्रकार ऊचे व्याज की दर को कम व्याज की दर मे परिवर्तित करने मे सरकार का आर्थिक बोझ कम हो जाता है।

(५) **ऋण परिशोध कोष** (Sinking Fund)—यह उपाय बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। प्रतिवर्ष आगम मे से एक निश्चित धन ऋण चुकाने के लिए निकाल लिया जाता है। यह इस हिसाब से निकाला जाता है कि एक निश्चित समय के अन्दर ऋण को व्याज सहित चुकाने मे आसानी हो।

ऋण चुकाने के इन साधारण उपायो के अतिरिक्त कुछ और भी नवीन क्रातिकारी योजनाएं है। उनमे से ये है :—

(अ) **ऋण निषेध** (Debt Repudiation)—जब कोई नई क्रातिकारी सरकार बनती है तो वह पहली सरकार द्वारा लिये गए ऋण को चुकाने से इन्कार कर सकती है। यह तभी होता है, जब नई सरकार का निर्माण क्रान्ति द्वारा हुआ हो। लेकिन

विद्वान् राजनीतिज्ञ इन प्रस्तावों का स्वागत नही करते। सरकार के लिए यह एक चलन है कि वह अपने पूर्वाधिकारियों के वचनों का सम्मान करे।

(ब) **ब्याज में अनिवार्य कमी** (Compulsory Reduction of Interest)—यदि परिस्थिति के बदल जाने से ऊची ब्याज की दर सरकार को कष्ट-दायक हो गई हो तो सरकार का ब्याज की दर मे कमी कराना कम अप्रिय दिखता है, लेकिन एक सभ्य सरकार के लिए वचन भग करना उचित नही है।

(स) **ऊँची आय पर उच्च करारोपण** (Steep Taxation of Higher Income)—हम पहले कह आये है कि करो की अधिकता से उद्योग-व्यवसायों पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। यह नये धन या बचत को नष्ट कर देता है। नई औद्योगिक योजनाए विफल और व्यर्थ हो जाती है, क्योकि उन्हे ठीक तरह से चलाने के लिए सामयिक सुधार ओर हस्तातरकरण आवश्यक हो जाते है। इसलिये व्यापारी वर्ग के हितों में यह आवश्यक है कि कोई ऐसा आर्थिक कदम न उठाया जाय, जिससे उद्योग व्यापार की पूजी में कमी आये, और व्यापार की क्षति हो। वास्तव मे जब कि पुराने कर अपनी अन्तिम सीमा तक पहुच गए हो उस समय और नये करो का लगाना उद्योग व्यापार के लिए अहितकर होगा।

(द) अन्त मे पूजी पर कर है जिस पर, उसके महत्त्व के कारण, एक अलग खण्ड लिखा गया है।

९. पूजी पर कर लगाना (Capital Levy)—इसके समर्थको का कथन है कि युद्धकाल मे लिये गए ऋणो को चुकाने के लिए पूजी पर एक प्रकार का कर लगाना चाहिये, जिसे पूजी पर कर (Capital Levy) लगाना कहते है। एक ऐसा कानून बनाया जाय, जिसके अनुसार "एक निश्चित मात्रा की सम्पत्ति वाला प्रत्येक व्यक्ति मरा हुआ मान लिया जायगा और दूसरे दिन वह फिर अपनी सम्पत्ति पर कर देने के बाद उस सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के रूप मे जीवित हो जायगा।" यह प्रस्ताव प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के समय बहुत ठीक और उसके अनुकूल था, क्योकि उस समय मनोवैज्ञानिक परिस्थितिया इसके अनुकूल थी। लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद इसके समर्थको का उत्साह कम हो गया। प्रशासन की दृष्टि से कर लगाना बिल्कुल व्यावहारिक है लेकिन यह साधारणतया बिना पूर्ण स्वीकृति के नही चलाया जा सकता। १९२३ मे राज्य ऋण और करों के लिए स्थापित कालविन कमेटी (Colwyn Committee) ने यह परिणाम निकाला था कि "पूजी पर कर लगाने मे ऋण चुकाने मे काफी सहायता मिल सकती है लेकिन यह कष्टकर, अपूर्ण और बडे प्रयोगों के योग्य नही है।"[१]

पूजी पर कर आरोपण के प्रस्ताव के विपक्ष मे भी कई तर्क उपस्थित किये जा सकते है।

---

१. Quoted by Findlay Shirras: Science of Public Finance, 1936, P. 866.

सबसे पहले तो यह कि इससे पूजी तथा साख दोनो को हानि पहुचेगी। इससे उद्योग और व्यापार को क्षति पहुचेगी। इस प्रकार के अपहरण से जनता का विश्वास उठ जाता है और व्यापार मे धन का बहाव रुक जाता है।

दूसरे, यह मितव्ययिता के प्रति एक दण्ड स्वरूप है। जो लोग अधिक खर्च करते है सरकार उनसे कुछ नही ले सकती। वह अपना मस्त जीवन बिताएगे। पूजी पर कर-आरोपण की परछाई मे ही पूजी भाग खडी होगी और बचत निरुत्साहित होगी।

तीसरे, पूजी पर कर-आरोपण से व्यापार पर दबाव पडता है। कीमतों और मजदूरी में कमी आ जाती है तथा व्यापारी वर्ग की उधार देने की शक्ति क्षीण हो जाती है।

अन्त मे इसके द्वारा प्रशासन मे भी कठिनाई आएगी।

पूजी पर कर-आरोपण निम्नाकित आधारो पर न्यायसंगत है :—

(अ) सरकारी खजाने को ऋण के भारी भार से मुक्त करके उसे सार्वजनिक (समाज सेवा) कार्यों में लगाया जाय। अधिक-से-अधिक मनुष्यों की हालत सुधारी जाय। अब यह सम्भव नही है कि आगम का अधिक से अधिक भाग बाड रखने वालों को दिया जाय।

(ब) यह युद्ध-काल मे गरीब और अमीरो के त्याग में समानता लायेगा। कहा जाता है युद्ध-काल मे धनी वर्ग तो घर पर रहा और कीमतो के बढ जाने से अधिक धन कमाते रहे, जबकि गरीबो ने सेना मे भर्ती होकर युद्ध-क्षेत्र मे अपनी जान गंवाई।

(स) यह कर-आरोपण के समानता के सिद्धात का पालन करता है। जो लोग कर देने की क्षमता रखते है, उन्हे कर देना ही पडेगा। पूजी का मालिक उससे प्राप्त आय के अतिरिक्त कुछ आर्थिक लाभ भी उठाता है। पूजीपति के इस आधिक्य पर कर लगाना उचित है।

(द) टीस को एक ही बार सह लेना कही अच्छा है, और दो सौ बरस तक चुकाने की सरदर्दी की अपेक्षा एक ही धक्के मे ऋण चुका देना चाहिए।

(य) ऊचे करो की अपेक्षा पूजी पर कर लगाना अधिक न्याय-संगत है हालांकि दोनों एक ही से है। दोनो ही नैतिक दृष्टि से बहिष्कृत किये जाते है, लेकिन उगाही में व्यक्तिगत रूप से कोई अनैतिकता नही। नैतिकता तो केवल सापेक्ष पदावलि है।

(र) यह धन-वितरण की असमानताओं को कम करेगा।

(ल) अत्यधिक आय कर उद्दीपक तथा उपक्रम को मिटाता है। परन्तु पूजी कर में यह दोष नही होते क्योंकि इसका सम्बन्ध पिछले कार्यों से है न कि वर्तमान प्रयास से।

(व) पूजी-कर का समर्थन युद्धकालीन मुद्राप्रसार को रोकने के लिये किया जाता है क्योंकि इसका प्रसार अपस्फीतिकारी होता है। यह इसलिये है क्योंकि इससे पूजी का पूर्णरूप से हस्तांतरण हो जाता है ताकि करदाताओं के पास कर भुगतान के लिये तरल धन (liquid fund) हो सके। तो भी वास्तव में इसका उल्टा असर हो सकता है क्योंकि

कर का भुगतान करने के लिये उनको ऋण लेने की सुगमता दी जाती है। इस नये ऋण का स्फीतिकारी प्रभाव पडता है।

इस प्रकार विरोधी तर्कों के समक्ष कोई अपना मत उपस्थित करना सरल नही है। इस पर एकराय होना असम्भव है। फिर भी हमारा मत है कि पूजी पर कर-आरोपण आर्थिक सहायता की दृष्टि से व्यावहारिक नही है और न इससे ऋण के चुकाने में ही कमी आती है। वास्तव मे इस पूजी कर के पक्ष मे दो मुख्य तर्क है : (१) ऋण का पूजी-मूल्य अत्यधिक है; और (२) ऋण की वार्षिक लागत भी अधिक है। यह आवश्यक रूप से उचित नही है कि राज्य ऋण की मात्रा घटा दी जाय। राष्ट्रीय ऋण की वापसी पर देश की आर्थिक तथा वित्तीय स्थिति का ध्यान रखना चाहिये। पूजी पर कर लगाने से जो सम्पत्ति का बडे पैमाने मे नाश होता है उससे व्यापार के कार्यक्रम तथा पूजी बाजार मे विघ्न पडता है। तो भी वार्षिक ऋण व्यय को कम करने के बहुत से सारपूर्ण कारण है। पर यह पूजी कर के ढाचे पर निर्भर है अर्थात् उसकी छूट की सीमा की ऊचाई तथा उसकी वृद्धि के ढालुआंपन पर। ऋण पर व्याज की दर कहा तक यह कर-रहित है, ऋण की मात्रा इत्यादि पर भी ध्यान रखना चाहिये। बहुत कम देशो मे पूजी पर कर लगाने की अनुकूल स्थिति होगी। हम श्रीमती हिक्स के शब्दो मे समाप्त कर सकते है, "पूजी पर कर लगाना राजनीति के शरीर पर आपरेशन करना है, इससे या तो मौत हो जायगी या बिल्कुल ठीक ही हो जायगा और इसका प्रभाव सामान्य कर ढाचे की लगातार खूराको से भिन्न होगा।"

१०. राज्य-ऋण का बोझ (Burden of Public Debt)—ऋण चुकाने के बोझ को उतारने के लिये हमे उसके रूप और कारण की विवेचना करनी पडेगी। यदि ऋण उत्पादक या जन-कल्याण के कार्यो के लिए लिया गया है, जैसे सिचाई, रेलवे, इत्यादि, तो यह बोझ नही होगा, वरन् अगर योजना सफलतापूर्वक चलाई गई है, तो लाभ ही पहुंचायेगी। लेकिन यदि ऋण अनुत्पादक कार्यो के लिये लिया गया है तो यह दोनो रूपो में, आर्थिक और समाज पर बोझा होगा, भले ही वह आन्तरिक ऋण हो या विदेशी।

आन्तरिक ऋण मे धन देश मे ही हस्तान्तरित होता है जैसे, अगर सरकार ने किसी से ऋण लिया तो उधार देने वाले का धन हस्तान्तरित होकर सरकार के पास आ जाता है और सरकार फिर उस धन को देश के दूसरे लोगो, जैसे सरकारी नौकरो, ठेकेदारों आदि को देती है। इस तरह देश का धन एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे जाता है। इसे हमें सरकार के ऊपर बोझ नही समझना चाहिये या यह ऋण बोझ के रूप मे नही है। लेकिन देने वाले वर्ग पर यह एक प्रत्यक्ष बोझ होगा; परन्तु यदि धन का हस्तान्तरण उपयक्त रूप से होता है, जैसे अगर धन धनी-वर्ग से गरीब लोगो के पास जाता है, तो राज्य-ऋण बोझ की अपेक्षा लाभदायक ही सिद्ध होगा, लेकिन यदि राज्य-ऋण इसके विपरीत होता है, तो निःसन्देह एक बोझ हो जायगा।

अस्तु, हमें 'हस्तान्तरण' (Transfer) के रूप की पूर्ण विवेचना करनी चाहिए।

ऋण और ब्याज के भुगतान के लिये सरकार को कर लगाना आवश्यक है, लेकिन जो कुछ करों के लगाने मे मिलता है, वह बाड रखने वाले ले लेते हैं। ऐसे पत्र रखने वाले तो निःसन्देह ही धनी होते है, लेकिन करों का बोझ केवल अमीरों पर ही नही, बल्कि गरीबो पर भी पडता है । अधिकतर करों का बोझ गरीबों पर ही पडता है, इसलिए धन के हस्तान्तरण से अधिकतर धन गरीबों के पास से अमीरों के पास जाता है। इसका अर्थ यही है कि आर्थिक हितो की वास्तविक क्षति होती है।

इस तथ्य से यह बोझ और भी वढ जाता है कि युवकों मे वृद्ध, (बांड वाले, जो सरकार के ऋणदाता होते है), सामान्यत. बडी आयु वाले होते है और समाज के सक्रिय सदस्यो मे निष्क्रिय सदस्यो को यह हस्तान्तरण होता है। डाल्टन का कथन है, 'राजस्व के क्षेत्र मे, अन्यत्र नही, समानता अथवा न्याय की ऊची एव स्पष्ट ध्वनि घोषित होती है। उत्पादन के आधार पर यह सामान्य विरोधी धारणा भी है कि निष्क्रिय सक्रिय के खर्चे पर अधिकाधिक धनी होते है जिसके द्वारा सचित संपत्ति के लाभ के लिये कार्य और उत्पादक जोखिम लेना दण्डनीय हो जाते है।[1] इस प्रकार आतरिक ऋण का सपत्ति के उत्पादन और वितरण दोनो पर ही विपरीत प्रतिघात होता है। यह इसका प्रत्यक्ष वास्तविक बोझ है।

इसका वास्तविक भार अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादन की रोक पर लगता है। यदि कार्य करने तथा बचाने की योग्यता और इच्छा को कम कर दिया जाता है तो निश्चय ही उत्पादन पर रोक लगेगी। यदि ऋण चुकाने के लिए भारी करो को लगाया जाता है तो अवश्य ही कार्य करने की योग्यता और धन बचत करने की इच्छा में कमी हो जाती है।

अब विदेशी ऋण-भार के विषय मे क्या होता है ? विदेशी ऋण भी हस्तातरकरण को जन्म देता है, लेकिन धन का यह हस्तान्तरकरण उसी देश में नही होता। विदेशी धन का हस्तातरकरण इससे भिन्न होता है। जब ऋण बढाया जाता है तो धन उधार देने वाले देश से उधार लेने वाले देश को दिया जाता है परन्तु जब भुगतान होता है तो इससे विपरीत दिशा में होता है। जो धन उधार लेने वाला देश देता है, उसमे उसे मूलधन के बोझ के साथ ही साथ ब्याज का भार भी देना होता है। लेकिन यदि हम वास्तविक भार को जानना चाहते है तो हमे इस बात पर विचार करना पडेगा कि इस उधार को चुकाने मे गरीबों और अमीरो ने किस अनुपात मे अंशदान दिया, क्योकि सरकार यह धन करो द्वारा प्राप्त करेगी। यदि यह कर प्रत्यक्ष रूप से धनी वर्ग से लिये जाते है, तो वास्तविक ऋण का सीधा भार अधिकतर गरीबो से लिये गये करो की अपेक्षा कम होगा। जो भुगतान हम बाहरी देशो के साहूकारो को करते है, तो उसमे हमारे माल और सेवा भी आ जाते है। हमारा धन उनके उपयोग का नही होता। वे हमारी सेवाओ और वस्तुओ को लेते है; धन नही लेते। वे उस धन से हमारे देश का सामान मोल लेते है, इसलिये विदेशी ऋण से हमारा माल भी बाहर चला जाता है। ऋणी न होने पर यह माल देश के अन्दर ही हम लोगो द्वारा उपयोग

1. Dalton : Principles of Public Finance, 1943, p. 244.

किया जाता। इसका अर्थ है हमारे आर्थिक सुखो का हनन और फलतः एक प्रत्यक्ष तथा वास्तविक बोझ।

अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी ऋण का भार देश के धन उत्पादन पर रोक लगाता है। ऋण चुकाने के लिये करो के लगने से कार्य करने की क्षमता और बचत करने की इच्छा मे कमी हो सकती है। सरकार द्वारा ऋण चुकाने से सार्वजनिक व्यय की उन दिशाओ मे कमी होगी जिससे उत्पादन मे वृद्धि होती। फलतः उत्पादन घट सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो का भुगतान केवल वस्तुओ के निर्यात मे हो सकता ह। इस कारण उधार लेने वाले देश को उसका भुगतान करने के लिये अधिक उत्पादन बढाना पडता ह। इससे उत्पादन को सहायता मिलती है लेकिन उत्पादन एक निश्चित दिशा मे होता है। साधारणतः उत्पादन और नियोजन (Employment) मे सामान्य वृद्धि नही होती। इसमे उत्पादन के साधन सीमित रहते है, क्योकि ऋण देने वाला देश जिन वस्तुओं को चाहता है, ऋणी देश को उसी का उत्पादन बढाना पडता है या दूसरों से लेना पडता है या अपने कारखानो को उसी वस्तु के उत्पादन मे लगाना पडता है। इस तरह पहली वस्तु के उत्पादन मे कमी होगी। इसका एक ही उपाय है कि साधनों का परिवर्तन किया जाय और उत्पादन और नियोजन मे वास्तविक वृद्धि न की जाय।

११. युद्धकालीन वित्त-व्यवस्था (War Finance)–युद्ध की किसतरह अर्थ-व्यवस्था की जाय ? इस प्रश्न का कोई प्रत्यक्ष या सीधा उत्तर नही दिया जा सकता। युद्ध का कुल व्यय, युद्ध-प्रारम्भ काल, मुद्रा बाजार की परिस्थितियो और इन सब से अधिक मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक परिस्थितियो पर इस प्रश्न का उत्तर निर्भर है। एक परिस्थिति के अन्तर्गत किया हुआ कार्य दूसरी परिस्थिति के अन्दर भिन्न हो सकता है। हम यहा एक पुराने विवादग्रस्त विषय को ले सकते है कि "क्या युद्ध को करो और ऋणो से सहायता पहुचानी चाहिये ?"

कुछ अर्थशास्त्रियो ने पूर्ण कर-प्रणाली तथा कुछ ने पूर्ण ऋण-प्रणाली का समर्थन किया है। रिकार्डो (Ricardo) पूर्ण-कर रीति का पक्का विरोधी था, और युद्ध के लिए ऋण लेने का वह विरोध किया करता था, क्योंकि इसमे घाटा होता है और पूंजी कम हो जाती है। साथ ही युद्ध के लिये लगाये गए कर उस समय की सन्तान के मस्तिष्क में युद्ध की-सी धारणा उत्पन्न कर देते है। ग्लैडस्टन (Gladstone) का मत है कि "युद्ध के व्यय नैतिक अवरोध है, जिन्हे परमात्मा ने विजयी की कामना और तृष्णा पर लागू किया है और वह अनेक राष्ट्रों मे स्वाभाविक है।"[१]

करो के पक्ष मे यही मत दिया जाता है कि कर युद्ध-व्यय को कम से कम सतह तक बनाये रखते है। और युद्ध-काल को भी कम से कम करते है। दूसरे, कर युद्ध के द्वारा

१. Quoted by Findlay Shirras : Science of Public Finance, 1936, p. 690.

उत्पन्न होने वाले मुद्रा-प्रसार को रोकते है, युद्ध के द्वारा जिनका होना अनिवार्य है, जैसा कि पिछले युद्ध के परिणामस्वरूप कितनी ही प्रकार की परेशानियां मुद्रा-प्रसार के कारण झेलनी पडी। करो मे अधिक व्यय और अनावश्यक उपभोग कम हो जायगा।

लेकिन इन मतो के विरोध मे भी कुछ कहा जा सकता है कि कोई भी कर-प्रणाली आधुनिक युद्ध के भयानक बोझ को सहन नही कर सकती है।

अधिक करो मे जनता की आय कम होगी और इससे उत्पादन को क्षति पहुचेगी। भारी कर लगाने से उच्च वर्ग की जनता मे से सरकार के प्रति विश्वास उठ जायगा और यह सरकार के विपक्ष मे गुप्तचर कार्यो को बढ़ावा दगे। गृह-युद्ध भडक उठेगे और सामाजिक सगठन में दरार पड जायगी।

ऋण नीति धन को प्राप्त करने का अच्छा और सरल ढग है। करों की अपेक्षा ऋण लेने मे सरकार की लोकप्रियता नही घटती। ऋण देने वाले यह जानते है कि वे व्याज से जो धन प्राप्त करेगे वह उस कर से अधिक होगा जो कि उनको व्याज भुगतान करने के लिए देना पडेगा। इसलिए अपनी आवश्यकताओ को कम करके लोग युद्धकाल मे बडे-बडे बाड खरीद कर लाभ उठाते है और इस प्रकार युद्ध को भी सहायता मिलती है। कर उद्योग व्यापार मे भी बाधा डालते है लेकिन ऋण उत्पादन का सहायक होता है। ऋण देने वाले अपनी आवश्यकताओ मे बचे हुए धन को ही देते है। इस प्रकार उद्योग-धधों को हानि नही पहुचती। सरकार भी लिये हुए ऋण का उपभोग वस्तुओ को खरीदने और सेवाओ के लिए करती है। अतः इससे व्यापार को सहारा मिलता है।

इस प्रकार युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था के दो रूप है :—

(१) केवल ऋण लेकर ; और (२) अकेले करो मे। लेकिन यह दोनो ही अन्त मे अपने-अपने पक्ष में एकतरफा है। दोनो के मिश्रित उपयोग द्वारा ही आय प्राप्त करना सबसे अच्छा है। एडम स्मिथ (Adam Smith) का कथन है कि "शान्ति के दिनो मे खर्च करने से बचाया हुआ धन युद्धकाल मे देना आवश्यक हो जाता है।" लेकिन हमारे मतानुसार शान्ति काल की बचत ही पूर्ण रूप से आधुनिक युद्ध अर्थ-व्यवस्था को पूर्ण नही कर सकती। ऋण लेना आवश्यक है। लेकिन ऋण लेना उस समय अति आवश्यक हो जाता ह जब युद्ध छिड जाता है और सरकार को शीघ्र ही उसके लिए कोष की आवश्यकता होती है। ऐसे समय मे कर आगम शीघ्र नही वसूल किये जा सकते। इसलिये सरकार के लिये ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। लेकिन युद्ध आय प्राप्त करने का सबसे अच्छा यह ढग है कि सरकार करो पर जोर न देकर ऋण ले।

युद्ध आय का तीसरा तरीका है कागजी मुद्रा का छापना। यह बहुत ही भयानक उपाय है। सदा युद्ध में लगे रहने वाले राष्ट्रों में इसका उपयोग होता है लेकिन इसका उपयोग बड़ी ही सावधानी से करना चाहिये। हम इस विषय पर ७ वे चरण में कह आये है। इस प्रकार युद्ध की अर्थ-व्यवस्था हम तीन तरह से कर सकते है :—

(१) ऋण से (२) करो से (३) पत्र-मुद्रा निकालने से।

११. युद्धकालीन भार कौन सहन करता है ? (Who Bears the Burden of War ?)–युद्ध की लागत का अर्थ द्रव्य लागत से या वास्तविक लागत से हो सकता है। युद्ध की द्रव्य लागत का आशय उन तमाम खर्चो से है जो युद्ध मे करने पड़ते हैं। इसका भार उन लोगो पर पडता है जो युद्ध व्यय के लिए योगदान करते है। जैसे कर देने वाले, ऋण देने वाले और भविष्य मे आने वाली सतान, जिसको इसके लिए कर तथा व्याज देना पडेगा। युद्ध की वास्तविक लागत है—आतक, चिन्ता, गोपनीयता, परेशानिया, घृणा और नैतिक पतन। यह स्पष्टत वर्तमान पीढी मे दिखाई देता है।

युद्ध का भार युद्धकालीन जनता पर है या कि आने वाली सन्तान पर, यह युद्ध के लिए प्राप्त आय और उनकी आर्थिक परिस्थितियो की नीति पर निर्भर है। जहा तक युद्ध आय पत्र-मुद्रा छापने से प्राप्त की जाती है उसका भार अधिकतर उस काल की जनता पर ही होता है। मुद्रा-प्रसार के सभी कुपरिणामो को उस समय की जनता को ही उठाना पडता है, भविष्य के लिए इसका कोई भी कुपरिणाम शेष नही रह जाता। साधारणत. यह कहा जाता है कि करो द्वारा युद्ध के लिए प्राप्त आय का भार उस समय की जनता पर पडता है और ऋण द्वारा प्राप्त आय का भार आने वाली सन्तान पर। लेकिन यह आवश्यक नही है।

ऐसा विश्वास करने के कुछ कारण है कि करो का अधिक आघात वर्तमान पीढी को भी सहना पडता है। कर देनदारो को अपने उपभोग को कम करना पडता है। अधिक करो का तो उपभोग व्यापार पर ऐसा उल्टा प्रभाव पडता है कि आवश्यक वस्तुओ की भारी कमी हो जाती है। लेकिन यह निश्चय है कि क्या यह उत्पादन का कुप्रभाव आने वाली सतान पर न छा जायगा ? कल-कारखानो की उत्पादन की क्षमता के नष्ट होने से भविष्य मे भी उत्पादन कम हो जायगा। भारी कर लगाने से कल-कारखानो के बदलने तथा उनको पूर्व अवस्था मे करने के लिए कुछ भी स्थायी कोष नही बचता और यन्त्र आदि पुराने तथा अयोग्य हो जाते है। भारी कर लगाने से पूजी का सचय रुक जाता है तथा भविष्य में उत्पत्ति को हानि पहुचती है। इसलिये यह कहना कि भारी करो का भार केवल उस मसय की पीढी को ही सहना पडता है, पूर्णतया सत्य नही है।

इसी प्रकार यह कहना कि ऋण केवल अपना बोझ आने वाली संतान पर ही डालता है, आवश्यक नही है। जबकि युद्ध के समय मनुष्य रुपया उधार देते है तो उन्हें भी उस समय अपने उपभोगो की बलि चढानी पडती है। युद्ध में उद्योग-व्यापार से भी धन ले लिया जाता है। इस प्रकार उस काल के उद्योग-व्यापार को भी कष्ट उठाना पडता है। क्योंकि उत्पादन-क्षमता की कमी से उस समय की जनता को भी कष्ट उठाना पडता है। इसलिये यह सत्य है कि ऋण का भार भी उस समय की जनता को सहन करना पडता है।

निःसंदेह ऋण देने वालो को अधिक करों के बोझ से कुछ छुटकारा मिल जाता है।

यह जानने के लिये कि किस सीमा तक आने वाली संतान पर ऋण का भार होता है, हमें यह सोचना पडता है कि क्या यह अल्प अवधि ऋण है या स्थायी ऋण है, और साथ ही यह भी देखना होगा कि वह आन्तरिक ऋण है या बाहरी। यदि ऋण की अवधि २०-३० वर्ष है, तब तो वर्तमान पीढी में ही वह समाप्त हो जायगा, और भावी पीढी पर उसका कोई प्रभाव नही होगा; केवल दीर्घकालीन ऋण की दशा मे ही भावी सतति पर व्याज चुकाने का बोझा पड सकता है।

आन्तरिक ऋण के बारे मे यह शकापूर्ण है कि क्या ऋण का सपूर्ण भार आने वाली सतान पर पड़ता है। नि:संदेह व्याज और मूलधन भविष्य मे चुकाये जायेगे,और उसके लिए लोगों पर कर लगाये जायेगे। इसलिए भविष्य मे कर देने वालो को इसका भार सहन करना पडेगा। किन्तु व्याज का भुगतान कौन प्राप्त करता है? वर्तमान स्कध धारियों (Stock-holders) के बेटे। इसके यह अर्थ हुए कि सपत्ति का भावी पीढी के कुछ वर्गों मे से (अर्थात् कर-दाताओ) भावी पीढी के अन्य वर्गो मे (अर्थात् बाड रखने वालो मे) हस्तातरण हुआ। इसलिए यदि आने वाली सन्तान को कुछ देना पडता है तो आने वाली सन्तान कुछ लेती भी है। इसलिए हम कैसे कह सकते है कि भविष्य की सतान को ऋण का भार सहन करना पडता है। हा यदि ऋण आन्तरिक नही है तो ऐसा नही होता।

लेकिन यदि ऋण बाहरी है तो भविष्य की सन्तान को व्याज तथा मूलधन का भुगतान करना पडता है। इसमे उधार लेने वाले देश का उधार देने वाले देश मे हस्तातरण होता है। इस तरह से एक देश का धन दूसरे देश मे जाने लगता है। युद्ध काल मे या युद्ध के बाद ही जब व्यापार पूरे जोर पर तथा कीमते बढी हुई और बेकारी नही होती है, तब ऋण का बोझ कम होता है। लेकिन जब परिस्थितियां इसके प्रतिकूल होती है, तब यह बोझ बहुत बढ जाता है।

इन सब का सार निकाल कर अगर हम यह कहे कि युद्ध की वित्त व्यवस्था पत्र-मुद्रा से हो तो बहुत हद तक उस काल की सन्तान को ही उसका बोझ उठाना पडता है। लेकिन जहां तक युद्ध-आय की पूर्ति कर द्वारा होती है उस काल की सन्तान को ही मुख्यत: उस बोझ को उठाना पडता है। फिर भी भविष्य की सन्तान भारी करो के कुप्रभाव से बची नही रह सकती। इसी प्रकार हालाकि ऋणों का यह स्वभाव है कि वह भविष्य की संतान पर अपना बोझ डालते है, लेकिन राजकीय ऋण से उस काल की जनता पर प्रभाव पड़ता है। यदि वह अल्पकालीन ऋण है तो आने वाली सन्तान बची रहती है लेकिन आन्तरिक स्थायी ऋण में भी आने वाली सन्तान पूर्ण भार नही उठाती, क्योकि वह भविष्य की सन्तान, भविष्य की सन्तान को ही दे देती है। केवल बाहरी ऋण में ही युद्ध-कर बोझ पूर्णत: आने वाली सन्तान पर पडता है। केवल इसी तरह हम युद्ध-कर को आने वाली सन्तान के ऋण में डाल देते है।

१३. घाटे के बजट (Deficit Budgeting)—इन दिनों बजट वार्षिक ही होते है लेकिन यह व्यर्थ अनिश्चित सा प्रतीत होता है। इसमें १२ माह

की अवधि का होना क्या महत्व रखता है ? इससे तो यही आशा की जाती है कि जिस तरह पृथ्वी साल भर में जब एक बार सूर्य का चक्कर लगा लेती है, तो फिर से नये सिरे से ऋतुओं का आरम्भ होता है, ठीक इसी प्रकार समस्त आर्थिक कार्य चक्कर लगाने के बाद एक वर्ष के अन्तर्गत कर दिये जाते है। यह असम्भव नही है। उत्पादक-व्यय अपनी क्षमता दिखाने के लिए वर्ष से अधिक समय चाहते है। यह कुछ वर्षों में निश्चित किया जा सकता है कि जिस कार्य पर धन व्यय किया था उससे कितना लाभ पहुचा था। पहले तो जब किसी कार्य पर धन व्यय होता है जिससे बजट में कमी आती है, फिर धीरे-धीरे उसमे लगातार आधिक्य आता जाता है। लेकिन इस लाभ को हम उस वर्ष का लाभ नही कहेगे जिसमें वह हुआ है, क्योकि इसका बीज कुछ साल पहले डाला गया था। इसलिए बजट का लेखा निकालने के लिए एक वर्ष का समय लेना ठीक नही है। हमे इसके लिए कम से कम तीन या पांच वर्ष का समय लेना चाहिये क्योकि इसके पहले हमे बजट मे लाभ नही होगा।

राष्ट्रीय अर्थ-प्रबन्ध मे व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्ध की अपेक्षा आधिक्य का होना एक गुण नही समझा जाता। यदि देश मे मंदी (Depression) हो तो उसे उठाने के लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता होगी या अगर देश युद्ध कर रहा हो या कि किसी दैवी सकट मे पड गया हो, जैसे अकाल, भूकम्प, बाढ इत्यादि तो सरकार के ऊपर अधिक उत्तरदायित्व आ जाता है और इस उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप मे निभाने के लिए सरकार को धन अधिक व्यय करना पडता है। उस समय यह नही देखा जाता कि हमारा बजट क्या निर्देश करता है। इसलिये सरकार के बजट में कमी आ जाती है। अर्थ-प्रबन्धको का मत है कि सबमे अच्छा बजट वह है जिस मे थोडा सा घाटा हो, न कि वह जिसमें बहुत आधिक्य है। क्योकि पहला बजट हमे यह बतलाता है कि सरकार ने जनता से कर कम लिये है, और व्यर्थ धन व्यय नही किया है, उचित और महत्वपूर्ण कार्यों के लिए उचित धन लगाया है। लेकिन दूसरा यह बतलाता है, कि सरकार ने जनता से अधिक आगम प्राप्त किया है और करो को बढाकर अधिक आय दिखाई, परन्तु उसका उचित उपयोग नही किया।

फिर भी इस बात पर अधिक जोर दिया जाना चाहिये कि सरकार मुद्रा-प्रसार के समय मे अपने बजट मे कमी न दिखाये। क्योकि बजट में आधिक्य रहने से सरकार को मुद्रा-प्रसार रोकने मे सहायता मिलती है।

निर्देश पुस्तकें

Dalton—Public Finance
Pigou— ,, ,,
U. Hicks—,, ,,
Macgregor—Public Aspects of Finance.
A. Smith—Principles & Methods of Taxation.
Lutz—Public Finance.
Robinson—,, ,,

अध्याय ४९

आर्थिक व्यवस्था

(ECONOMIC ORDER)

१. पूजीवाद क्या है ? (What is Capitalism)—आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के विषय में विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम विद्यमान आर्थिक पद्धति की क्रिया तथा उसमे निहित विषयो को भली भाति समझ ले। इस पद्धति को पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था (Capitalistic Economy), पूजीवाद (Capitalism) या पूजीवादी पद्धति (Capitalistic System) कहते है ।

इस पद्धति के अन्तर्गत समस्त खेत, कारखाने तथा उत्पादन के अन्य साधन व्यक्तियो तथा फर्मो की निजी सम्पत्ति मानी जाती है, तथा अपने लाभ के लिये उनका उपयोग करने अथवा न करने की उन्हे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अपनी सम्पत्ति का किसी प्रकार आदान-प्रदान करते समय लाभ प्राप्त करना सम्पत्ति के स्वामियो का एकमात्र उद्देश्य होता है। हर व्यक्ति उत्पादन का कोई भी मार्ग ग्रहण कर सकता है, तथा अपने लाभ के लिये अन्य नागरिको से सविदा अथवा ठेका (Contract) करने के लिये स्वतन्त्र है। यद्यपि सर्व-साधारण के कल्याण के लिए समस्त आधुनिक राज्य कुछ प्रतिबन्ध लगाते है, तथापि इन प्रतिबन्धो के होते हुए सम्पत्तिवान वर्गो को अपनी सम्पत्ति का जैसे चाहे वैसे प्रयोग करने की, अपने लिए लाभदायक कोई भी कारोबार चालू करने की, तथा अपने हितो को आगे बढाने के लिए किसी प्रकार के सविदा करने की बहुत गुजायश रहती है। पूजीवाद की वेब्स (Webbs) द्वारा की गई परिभाषा से इस पद्धति मे निहित विषय स्पष्ट हो जाते है। यह परिभाषा इस प्रकार है :—"पूजीवाद या पूजीवादी पद्धति या पूजीवादी सभ्यता' का अर्थ है उद्योग के विकास तथा वैधानिक सगठन मे वह स्थिति, जिसमे कि श्रमिको का समुदाय उत्पादन के यन्त्रों के स्वामित्व से इस प्रकार परे हो जाता है कि वह ऐसे मजदूरो में परिणत हो जाता है कि उनका निर्वाह तथा निजी स्वातन्त्र्य राष्ट्र के थोडे से व्यक्तियों की, अर्थात् उन व्यक्तियो की जो भूमि, यन्त्रादि तथा श्रम-शक्ति के स्वामी है, तथा अपने कानूनी स्वामित्व के द्वारा उनके प्रबन्ध का नियन्त्रण रखते है तथा अपने लिए व्यक्तिगत तथा निजी लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से ऐसा करते है. इच्छा पर निर्भर प्रतीत होता है।"

२. पूजीवाद के प्रमुख लक्षण (Outstanding Features of Capitalism)—पूजीवाद के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस पद्धति के कई प्रमुख लक्षण है। इनमे से मुख्य ये है :—

(१) निजी सम्पत्ति का अस्तित्व तथा उत्तराधिकार की प्रणाली सबसे प्रधान है। हरेक व्यक्ति को निजी सम्पत्ति प्राप्त करने का, उसे रखने का, तथा अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने उत्तराधिकारियो को देने का अधिकार होता है। इस पद्धति का फल यह होता है कि धन के वितरण मे विषमता फैलने लगती है। धनवान लोग अधिक धनवान होते जाते है तथा निर्धन लोग अधिकाधिक निर्धन।

(२) इसी से सम्बन्धित दूसरा लक्षण यह है कि उत्पादन के यन्त्र व्यक्तियो के हाथ मे रहते है और वे उनका प्रबन्ध एक-मात्र अपने लाभ के लिये करते है। इस प्रकार ये व्यक्ति खेतो तथा कारखानो के स्वामी होते है तथा कृषि, व्यवसाय और उद्योग के रूप मे अपने निजी लाभ के लिये कारोबार करते है, समाज के लाभ के लिये नही। फलस्वरूप राष्ट्रीय लाभाश का बहुत बडा भाग शक्तिशाली पूजीपतियो तथा धनवान स्वामियो के पास चला जाता है। जनता का शोषण होता है और उसे अपने श्रम का उचित प्रतिफल नही मिलता।

(३) इसी मे वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक और लक्षण प्रगट होता है। वह है वर्ग-सघर्ष। समाज दो वर्गो मे बट गया है। एक वे जो 'भरे' (सम्पन्न) है, दूसरे वे जो 'खाली' है। दोनो वर्गो मे निरन्तर सघर्ष चला करता है। समस्त पूजीवादी देशो मे श्रम तथा पूजी का सघर्ष चल रहा है और इस समस्या का कोई हल हाल मे निकलता नही दिखलाई देता। एक वर्ग दूसरे को अपना प्राकृतिक शत्रु समझता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वर्ग-संघर्ष पूंजीवाद मे स्वाभाविक है।

(४) पूजीवादी व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण आर्थिक स्वातन्त्र्य है जिसमे तीन बाते निहित है :

१. उपक्रम या साहस (Enterprise) का स्वातन्त्र्य ;

२. सविदा या ठेके (Cantract) का स्वातन्त्र्य ;

३. अपनी सम्पत्ति का बे रोक-टोक उपयोग।

हर व्यक्ति को जो उद्योग वह चाहे करने की स्वतन्त्रता होती है तथा अन्य नागरिको से अपने लिये सबसे अधिक लाभदायक ढग से संविदा या ठेका करने की स्वतन्त्रता को निरपेक्ष नही कहा जा सकता, क्योकि सर्व-साधारण के कल्याण की दृष्टि से समस्त राज्यो मे व्यक्तिगत अधिकारो पर प्रतिबन्ध लगाए गए है। अपना काम स्वय चनने की स्वतन्त्रता नाम-मात्र की ही है। पारिवारिक प्रभाव, व्यक्ति-विशेष के साधन, प्रतिकूल प्रवृत्तिया तथा अन्य सामाजिक बन्धन अपना कार्य स्वय चुनने वाले हरेक व्यक्ति के मार्ग में बाधक होते है। फलस्वरूप, निर्धन व्यक्तियों के लिये केवल उन्ही उद्यमो का द्वार खुला रहता है जिनमें आमदनी बहुत कम है।

(५) वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक विशेष लक्षण उसकी विषमता है। आर्थिक क्रियाओं का कोई विचारयुक्त नियमन या केन्द्रीय संचालन नही होता। सब

कुछ अपने आप होता हुआ सा प्रतीत होता है। अनेक एकाकी साहसिक उपक्रमों के करने वालों और उनके निश्चयों के फलस्वरूप उत्पादन जारी रहता है। इस उत्पादन पर उपभोक्ताओ की एक ऐसी विशाल जन-सख्या का प्रभाव पड़ता है जिसके सदस्य बिना एक दूसरे से परामर्श किये निश्चय कर लेते है। इन उपभोक्ताओं की चि और अरुचि के आधार पर ही यह अन्तिम निर्णय अवलम्बित है कि क्या उत्पादित किया जाय और क्या उत्पादित न किया जाय। यह उपभोक्ता-मात्र की, तथा उत्पादकों की अव्यवस्थित क्रियाओ की पूर्ति किसी प्रकार एक दूसरे को सतुलित कर लेती है। कीमते सकेत-चिन्ह का काम करती है। कीमतो का प्रभाव उपभोक्ताओ तथा उत्पादकों दोनो पर पडता है। यही कारण है कि वर्तमान पद्धति को "कीमतो द्वारा शासन" की पद्धति कहा जाता है। मूल्य की प्रधानता है और मूल्य ही वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं को सचालित करता है।

(६) वर्तमान आर्थिक-व्यवस्था का एक मुख्य लक्षण साहसी व्यवसायी का महत्व-पूर्ण कार्य है। सारे देश की समस्त उत्पादक यन्त्रावलि उसी के निर्देशानुसार चलती है। वही अन्य उत्पादक शक्तियो को किराये पर लेकर उनके कार्य के बदले में कीमत देने का आश्वासन देता है। उत्पादन के मामले मे समाज का वह एकमात्र अभिकर्ता या प्रतिनिधि है। यह नही समझ मे आता कि उपक्रमी के बिना वर्तमान प्रणाली का सचालन क्योकर हो सकता है। हर बात उसी मे सम्बद्ध है।

(७) वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक और लक्षण यह है कि कारोबार का नियन्त्रण तथा जोखिम सहगामी है। इसे पूजीवाद का स्वर्ण नियम कहते है। जो अपने रुपये को जोखिम मे डाले, वह कारोबार का नियन्त्रण अवश्य करेगा, जो पूजी लगायेगा वह अपने मन के अनुसार कार्य चाहेगा। यदि पूजी तो किसी और की है और नियन्त्रण ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे है, जिन्होने कारोबार मे बिलकुल पूजी नही लगाई है तो ऐसी दशा मे यह स्पष्ट है कि किये जाने वाले निश्चय बहुधा बेढगे होगे।

(८) हम इस बात पर भी ध्यान रखे कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था न केवल प्रतियोगिता पर अवलम्बित है वरन् साथ-साथ विभिन्न हितो के सगठन पर भी अवलम्बित है। क्रेताओ का क्रेताओ से, विक्रेताओ का विक्रेताओ से तथा श्रमजीवियों मे आपस में नौकरी प्राप्त करने के लिये होड लगी रहती है। परन्तु श्रमजीवी पूजीपतियो से लडने के लिये श्रमिक सघ बनाते है। इस प्रकार नियोजक न केवल आपस मे प्रतियोगिता करते है वरन् अपनी सगठन सस्थाए बनाकर अपने हितो की रक्षा करते है। इस प्रकार वर्तमान आर्थिक व्यवस्था मे प्रतियोगिता और सगठन साथ-साथ चलते है।

वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के यही मुख्य लक्षण है। ससार में असंतोष और अस्थिरता फैली हुई है तथा और अधिक सन्तोषजनक प्रणाली को विकसित करने के प्रयत्न जारी है।

३. पूजीवाद की सफलताएं (Achievements of Capitalism)—पूजीवाद की अनेक सफलताएँ है :—

(१) पूजीवाद के समर्थक हमारा ध्यान सामान तथा सेवाओं कीवि भिन्नता तथा बाहुल्य की ओर आकर्षित करते है। लाभ की तृष्णा के वशीभूत उपक्रमी जोखिम उठाने तथा उत्पादन के नवीन क्षेत्रो को हस्तगत करने का प्रयत्न करने के लिये बाध्य हो जाता है। रहन-सहन का स्तर ऊचा हो गया है। जीवन के वैभव मे वृद्धि हुई है, तथा जीवन अधिकाधिक परिपूर्ण तथा सम्पन्न होता जाता है।

(२) समाज के सीमित साधन अधिकतम मितव्ययिता से तथा न्यूनतम नष्ट होते हुए, प्रयुक्त होते है। जिस व्यक्ति पर विनाश का दायित्व होता है, उसे हानि तथा दिवाले के रूप मे अपनी गलती का फल मिल जाता है।

(३) पूजीवाद मे सबसे अधिक योग्य, साहसी तथा दूरदर्शी उपक्रमी को ही सबसे अधिक लाभ होता है। जो आगे बढ कर असाधारण चातुर्य और जीवट से काम करता है वही ऊचे मे ऊचे लाभ का भागी होता है। इससे अधिक उचित और कुछ दिखलाई नही पडता कि योग्यता के अनुसार पारितोषिक मिले।

(४) उपभोक्ताओ का नियत्रण बना रहने के कारण इस पद्धति पर जनतन्त्र की भावना का थोडा बहुत रग चढ जाता है।

(५) पूजीवाद मे जोखिम और नियत्रण साथ-साथ चलते है, अतः आर्थिक विषयों पर सदा विचारपूर्वक निश्चय किये जाते है।

(६) यदि 'जीवन-सम्पन्न ही जीवित रह पाता है' के सिद्धान्त को किसी पद्धति की श्रेष्ठता का आधार मान लिया जाय तो पूजीवाद निस्सदेह ठोस सिद्धान्त कहा जायेगा। इस पद्धति ने अनेको विषम परिस्थितियो का सामना किया है, परन्तु अन्त मे यही पद्धति अग-भग हो जाने पर भी, विजयी सिद्ध हुई है। इसी पद्धति ने आश्चर्यजनक ढग से अपने आपको परिवर्तनशील परिस्थितियो के अनुकूल बनाया है। इस पद्धति की सुदृढता और अवसर के अनुकूल बन जाने की योग्यता का इससे बडा प्रमाण और क्या हो सकता है कि इस पद्धति ने खर्चीले युद्धो के भार को भली भाति वहन किया है।

४. पूजीवाद की आलोचना (Criticism of Capitalism)—परन्तु अब पूजीवाद चारो ओर से आक्रात हो रहा है। सर्वप्रथम, प्रतियोगिता, जो कि पूजीवादी आर्थिक व्यवस्था का प्रमुख लक्षण है, एक विनाश-मात्र है। विज्ञापन तथा विक्रय-पटुता मे बहुत बडी धन-राशिया केवल प्रतिद्वन्द्वी को मात देने के लिये व्यय की जाती है। इस दौड मे हारने वालो द्वारा प्रयुक्त साधनो को विनाश ही कहा जायेगा। भीषण प्रतियोगिता से कोई विशेष सामाजिक लाभ नही होता।

द्वितीय, आर्थिक व्यवस्था में गडबडी को दूर करने के लिये आवश्यक शक्तियों का आवास-प्रवास प्रतियोगिता के क्रियाशील होने पर ही निर्भर है। परन्तु कानूनी, सामा-

जिक और आर्थिक सघर्ष के फलस्वरूप खुली प्रतियोगिता नही हो पाती तथा उत्पादन-शक्तिया अधिकतर व्यर्थ पडी रहती है ।

तृतीय, उपभोक्ताओ अर्थात् समाज तथा उत्पादको के हितो मे माना हुआ सामजस्य वास्तविक नही होता । खुली प्रतियोगिता न हो सकने के कारण नैतिकताहीन उत्पादको द्वारा जान-बूझकर छले जाने के कारण तथा व्यक्तिगत रूप से उपभोक्ता के अज्ञानी और साहसहीन होने के कारण, यह उपभोक्ता राजा से रक हो जाता है और शोषण का शिकार हो जाता है ।

चतुर्थ, अत्यधिक प्रतियोगिता तथा अत्यधिक बचत के कारण व्यापारिक घट-बढ की पुनरावृत्तियो को जिनके फलस्वरूप अत्यधिक उत्पादन होता है, हम पूजीवाद का सबसे कडुवा फल कह सकते है । जब कि एक ओर उत्पादन योजना-हीन होकर पूजी के निरन्तर बढते हुए एकत्रीकरण के कारण जोर पकडता है, तथा दूसरी ओर उपभोक्ताओ मे से अधिकतर अधिकाधिक चूसे जाते है, तब उत्पादन और खपत मे सतुलन बना रहे, तो यह अवश्य आश्चर्य का विषय होगा ।

पाचवा, हमारे राष्ट्र का बहुत बडा अग श्रमजीवी है और वे हर समय नौकरी से हटा दिये जाने के भय से ग्रस्त रहते है । स्थिरता की कोई भावना उनमे नही है ।

छठा, पूजीवाद मानवीय अधिकारो के विरुद्ध सम्पत्ति के अधिकारो पर अनुचित ज़ोर देता है । ईश्वर का अश, मानव, एक वस्तु-मात्र समझा जाता है ।

सातवा, श्रम तथा पूजी नामक दो प्रतिद्वन्द्वियो मे समाज को बाट कर पूजीवाद ने चिर-सामाजिक असतोष का बीज बोया है । यह दोनो प्रतिद्वन्द्वी एक-दूसरे को घूर-घूर कर देखते है और लडने का अवसर ढूढा करते है ।

आठवा, पूजीवाद का सबसे विषम फल धन के वितरण की वह अत्यधिक असमानता है, जो समय के साथ-साथ बढ रही है । जैसा जी. डी. एच. कोल ने लिखा है, "उद्योग के मन्दिर मे सुख के नाम पर पुजारी और दासों मे जमीन-आसमान का अन्तर है ।"[१]

अन्त मे पूजीवाद घातक विरोधाभासो से परिपूर्ण है । कुछ तो मनमाने वैभव में मस्त है, किन्तु अधिकतर आधे-पेट भोजन करके जीवित है । एक ओर फसलें सड रही है तो दूसरी ओर मनुष्य भूखा मर रहा है । कारखानों के अन्दर मशीनें खाली पड़ी है और बाहर बेकारी नग्न नृत्य कर रही है ।

इन थोडी-सी बातों में वर्तमान पूजीवादी पद्धति की पर्याप्त आलोचना हो जाती है । स्त्रियो और बच्चो के कठोरतापूर्वक शोषण; वृद्ध, रुग्ण और बेकारों की निर्मम उपेक्षा; तथा समस्त मानव सम्बन्धो पर आर्थिक विषमताओं के प्रभुत्व ने समाज की आत्मा को छेद दिया है तथा लोग अन्य किसी मार्ग की खोज मे भटक रहे है । पूजीवाद

१. Cole, G. D. H : Principles of Economic Planning, 1935, p. 3.

के अन्तर्गत पाई जाने वाली असह्य परिस्थितियो से बचाव के निम्नलिखित साधन बतलाये जाते है:--

आयोजित पूजीवाद (Planned Capitalism), समाजवाद जिसमें साम्यवाद भी सम्मिलित है, तथा फासिज्म। हम इनमें से प्रत्येक पर विचार करेंगे।

५. आयोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy)--महान मंदी (Great Depression) के उन दिनो के पश्चात्, जब कि ससार मे बाहुल्य होते हुए भुखमरी का विचित्र तथा असाधारण दृश्य उपस्थित हुआ, ससार की प्रवृत्ति योजनाधीन रहने की ओर अग्रसर होती जा रही है। अब आर्थिक व्यवस्था का माग और पूर्ति के आधार पर अपने आप कार्य करते रहने देना अच्छा नही समझा जाता। वर्तमान प्रणाली मे वैषम्य के असाध्य हो जाने का खतरा मूलत. विद्यमान है। अब बहुत कम लोगो को यह आशा रह गई है कि यदि आर्थिक शक्तियो को निरकुश छोड दिया जाय तो देश के आर्थिक साधनो का आशातीत वितरण हो सकेगा। सर विलियम बेवेरिज का कथन है कि, "यह कदापि आशा नही की जा सकती कि बहुत से छोटे-छोटे कारोबारों की व्यक्तिगत उन्नति से किसी ऐसे उद्योग का जन्म हो सकता है, जो अधिकतम तथा सर्वांगीण कार्य-क्षमता के आधार पर निर्मित हो। ठीक उसी प्रकार जैसे कि छोटे-छोटे अनेको सम्पत्तिवानो तथा निर्माताओ की अव्यवस्थित तथा निरकुश क्रियाएँ एक ऐसा आयोजित नगर नही बसा सकती, जिसमे अनावश्यक मोडो, दोहरी सडको अथवा आवागमन की असुविधाये न हो।" विषमताओ की उन पुनरावृत्तियो को रोकने के लिये, जिसके कारण वर्तमान आर्थिक प्रणाली मे एक व्यापार-चक्र चलाने लगता है, योजनाओ के बनाने की विशेष आवश्यकता पर जोर दिया जाता है।

किन्तु योजना बनाने का क्या तात्पर्य है ? (But What is Planning ?)--इस विषय पर विचारो में बहुत मतभेद है। राबिन्स का कथन है, "सच तो यह है कि आर्थिक जीवन मे हर जगह योजना बनाने की आवश्यकता पडती है। योजना बनाने का अर्थ है कि किसी अभिप्राय को लेकर कार्य किया जाय तथा चयन किया जाय। यही चयन आर्थिक क्रियाओं का मूल तत्व है।"[१] परन्तु सामान्यतया योजना बनाने का यह अर्थ नही लगाया जाता और न योजना बनाने का यह अर्थ है कि उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो अथवा कृषि की पुनः व्यवस्था हो। भारत में केन्द्रीय तथा राज्यो की सरकारो के विभिन्न विभागों ने युद्ध के पश्चात् विकास की योजनाये बनाई है। एक प्रकार से इसे भी भविष्य के लिये योजना बनाना कह सकते है। परन्तु ऐसी योजनाओं का आर्थिक योजना बनाने का मूल तत्व समझ म नही आता। योजना बनाने का अर्थवेत्ता जो अर्थ लगाते है, वह यह है कि राष्ट्रीय साधनों को निश्चित उद्देश्य के आधार पर रेखांकित किया जाय तथा केन्द्रीय नियन्त्रण में रक्खा जाय, जिसमें समस्त आर्थिक विषयों

१. Robbins, Lionel: Economic Planning and International Order, 1937, P. 4.

का निश्चित रूप मे एकत्रीकरण हो जाय तथा उसमें सामंजस्य स्थापित हो जाय तथा इस प्रकार व्यर्थ की प्रतियोगिता तथा व्यर्थ का दोहराव हो ही न पावे। लूइस लारविन ने योजनाधीन अर्थ-व्यवस्था की व्याख्या इस प्रकार की है, "आर्थिक प्रबन्ध की ऐसी योजना समस्त प्राप्य साधनो को उपयोगी बनाने के अभिप्राय से व्यक्तिगत तथा विभिन्न यत्रादि, उपक्रम तथा उद्योगो को एक ही प्रणाली की एक साथ चलने वाली इकाइया माना जाता है जिससे निश्चित समय के अन्दर लोगो की आवश्यकताओ की अधिकतम तुष्टि हो सके।"[१] अथवा जैसा कि डिकेन्सन कहता है, "आर्थिक योजना बनाने का तात्पर्य बडे-बडे आर्थिक निश्चय करना है—क्या और कितना उत्पादन किया जाय, तथा एक सुनिश्चित अधिकारी के विचारयुक्त निश्चयानुसार सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था के विस्तृत निरीक्षण के आधार पर, वह किस को बाटा जाय।"[२]

इस आधार को लेकर योजना बनाने के लिये निम्नलिखित आवश्यतकायें स्पष्ट हो जाती हैं:—

(अ) योजना बनाना विचारयुक्त, जानबूझ कर तथा एक निश्चित उद्देश्य को लेकर हो।

(ब) एक ही ऐसा अविभक्त अधिकारी हो, जो विभिन्न आर्थिक क्रियाओं को आयोजित करने और उनका एकीकरण करने के लिये जिम्मेदार हो। कृत्यो का भार दूसरों पर भी डाला जा सकता है।

(स) सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र आयोजित किया जाना परमावश्यक है। टुकडे-टुकडे करके योजना न बनाई जाय।

(द) समस्त प्राप्य साधनो का एकमात्र सर्वसाधारण के कल्याण के उद्देश्य से वैज्ञानिक वितरण किया जाय।

योजना बनाना अब केवल सैद्धान्तिक वाद-विवाद का विषय नही रह गया है अपितु व्यावहारिक नीति का एक आवश्यक अग हो गया है जून सन् १९३३ के नेशनल इडस्ट्रियल रिकवरी एक्ट (राष्ट्रीय औद्योगिक पुनर्जीवन अधिनियम) द्वारा अमरीका की सरकार को उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में चारो ओर से नियत्रण का अधिकार दिया गया। इस प्रयोग के सफल होने मे किसी को संदेह नही है। रूस मे तो आयोजन द्वारा और भी अधिक शानदार सफलता प्राप्त हुई है, जिससे कि रूस को औद्योगिक उत्पादन मे ोरोप में प्रथम तथा ससार में द्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है। जर्मनी में भी, जहा पूजी पर राज्य का स्वामित्व नही था, आयोजन के फलस्वरूप बेकारी दूर हुई, वेतन बढ़े तथा कृषि का विकास हुआ। आयोजन के बिना जर्मनी इतना आश्चर्यजनक पुनर्निर्माण न कर पाता।

---

१. Quoted by George Frederick in his "Readings in Economic Planning", P. 153.

२. Dickenson, H. D.: Economics of Socialists, 1939, P. 41.

योजनाधीन अर्थ-व्यवस्था किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के साथ-साथ चल सकती है। पूजीवाद मे भी योजना बनाना सभव है। पूजीवाद के समस्त अनुगामी अंग अर्थात् निजी सम्पत्ति, व्यक्तिगत उद्यम तथा उपक्रम बने रह सकते है। परन्तु राज्य की ओर से बहुत अधिक नियत्रण आवश्यक होगा। समस्त उपक्रमी व्यक्तियो को योजना के अन्तर्गत कार्य करना पडेगा। यह स्वाभाविक है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत योजना बनाने मे सीमित सफलता प्राप्त हो। यह भी सभव है कि बिना किसी पूर्व-निश्चित तथा विचार-युक्त योजना के समाजवादी अर्थ-व्यवस्था बनी रहे। आर्थिक नीति एक प्रवाह के समान हो। परन्तु यदि योजना बनाने का अधिकार निश्चित और सुदृढ होता है, तो वह किसी न किसी रूप मे समाजवाद अवश्य होगा।

६. समाजवाद (Socialism)—समाजवाद पूजीवाद का एक विकल्प है। इसका सबसे अधिक विस्तृत प्रभाव है। स्वीडन के एक राजा ने अपने एक मत्री से कहा था, "यदि कोई पच्चीस वर्ष की आयु तक समाजवादी नही होता है तो इससे यह प्रकट होता है कि उसके हृदय नही है। परन्तु यदि पच्चीस वर्ष की आयु के पश्चात् वह समाज-वादी बना रहता है तो उसके मस्तिष्क नही है।" समाजवाद ने सारे ससार के नौजवानों की कल्पना को जकड रखा है।

परन्तु इस विषय पर विद्वानो मे परिपूर्ण एकमत नही है कि समाजवाद वास्तव मे है क्या। ऐसा प्रतीत होता है कि जितने समाजवादी है उतने ही प्रकार के समाजवादी मत भी है। समाजवाद को उस हैट के समान कहा गया है जिसका हर किसी के पहन लेने के कारण, कोई रूप ही नही रह गया है। समाजवादियो की योजना-सम्बन्धी मुख्य बातें समझने के लिये उनकी विभिन्न विचारधाराओ की जानकारी लाभदायक सिद्ध होगी।

७. मार्क्सवादी समाजवाद अथवा वैज्ञानिक समाजवाद (Marxian Socialism or Scientific Socialism)—कार्ल मार्क्स ने सन् १८६७ मे अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दास कैपिटल' लिखी, जो समाजवाद की गीता समझी जाती है। कार्ल मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है। उसके सिद्धान्तो के प्रधान अग निम्नलिखित है:—

(१) **इतिहास की भौतिक धारणा** (Materialistic Conception of History)—उसने इतिहास की प्रत्येक घटना के आर्थिक आधार को लेकर समझाने का प्रयत्न किया है। उसने इतिहास का आर्थिक विश्लेषण किया है। समस्त युद्धो, दगो तथा राजनैतिक आन्दोलनो के मूल में ऐतिहासिक कारण होते है। हर एक आर्थिक स्थिति का समकालीन कोई न कोई उपयुक्त राजनैतिक सगठन होता है। उदा-हरणार्थ, पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था ऐसी शासन-प्रणाली का विकास करती है जो सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारो का समर्थन तथा अनुगमन करती है। वह आगे यह समझाता है कि किस प्रकार पूजीवाद से ऐसी परिस्थितियों का प्रादुर्भाव होगा, जिनमें समाजवाद पूजी-

वाद का स्थान ग्रहण कर लेगा। पूजीपति समय बीतते-बीतते अधिकाधिक धनवान होते जायेंगे परन्तु उनकी सख्या कम होती जायेगी। बडी मछली छोटी मछलियों को लीलती जायेगी। एकाधिकार उत्पन्न हो जायेगे। उत्पादन बढ़ेगा तथा विदेशी बाज़ारों में माल की खपत के लिये भड़भडाहट होगी। साम्राज्यवादी युद्ध होगा जब तक कि इस सघर्ष मे पूजीवाद समाप्त हो जायेगा तथा मजदूर वर्ग के हाथ में बागडोर आ जायेगी।

(२) **मूल्याधिक्य का सिद्धान्त** (Theory of Surplus Value)—कार्ल मार्क्स का कथन है कि उत्पादन अपनी बनाई हुई वस्तु के मूल्य के रूप मे श्रम तथा अन्य लागत में लगे हुए धन से अधिक धन प्राप्त कर लेता है। बाजार मूल्य का वह भाग जो लागत से अधिक होता है, मूल्याधिक्य कहलाता है। यह मूल्याधिक्य श्रमिक की ही सृष्टि है। इसकी उत्पत्ति होने का कारण यह है कि श्रमिक को, जो मिलना चाहिये उससे बहुत कम मिलता है। पूजीपति द्वारा इस मूल्याधिक्य को खतम करना कार्ल मार्क्स की दृष्टि मे लूट तथा शोषण है। उसके अनुसार हर वस्तु श्रम का निखरा हुआ अथवा सिमटा हुआ रूपान्तर मात्र है।

८. सामूहिकवाद अथवा राजकीय समाजवाद (Collectivism or State Socialism)—सामूहिकवादी अथवा राजकीय समाजवादी ससदीय जनतन्त्र मे तथा उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण में विश्वास करते है। वे राजनीतिक शक्तियों को हस्तगत तथा सुदृढ करके उनको समाजवादी उद्देश्यो तथा आदर्शों की प्राप्ति मे प्रयुक्त करना चाहते है। बलवान राजकीय शक्ति का प्रयोग धनोपार्जन तथा उसके समवितरण में करना चाहते है। राज्य ही सब कुछ है, तथा समाजवादियों को राज्य-शक्ति प्राप्त होते ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। राज्य सब कुछ करेगा। व्यक्तिगत उपक्रम समाप्त कर दिये जायेगे तथा समस्त उत्पादन राज्य के वैतनिक अधिकारियो द्वारा सम्पन्न होकर लाभ सार्वजनिक कोष मे एकत्रित होगा और उसका प्रयोग जनता की उन्नति के लिये किया जायेगा। पूजीवाद और राजकीय समाजवाद में केवल इतना ही अन्तर है कि राजकीय समाजवाद में उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और प्रबन्ध व्यक्तिगत रूप मे उपक्रमी के हाथ में न रहकर राज्य के हाथ में रहता है। पूजीवाद के अन्य विनिमय-साधन, जैसे मूल्याकन विक्रय इत्यादि बने रहते है।

९. कारीगर या श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism)—यह समाजवादी राज्य पर अविश्वास करते है, सामूहिकवादियों के समान, कारीगर समाजवादी राज्य को उत्पादक यत्रादि के सफल सचालन के योग्य नही समझते। इन समाजवादियों के अनुसार पूजीवादियों को हटा देना होता है। परन्तु फर्मो, कारखानो तथा उत्पादन के अन्य यत्रादि को कारीगरों की उस श्रेणी को सौप देना होता है, जो उत्पादन को कुशलतापूर्वक व्यवस्थित तथा सगठित कर सकें अर्थात् उद्योगो में स्वशासन होना चाहिये। राज्य तो केवल देख-रेख करे, कीमत निश्चित करने के लिये तथा उत्पादित माल की

कोटि का ध्यान रखने के लिये सामान्य उपभोक्ताओं की ओर से प्रतिनिधित्व करे।

मूल सिद्धान्त यह है कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व राज्य के हाथ में अवश्य हो, परन्तु वास्तविक क्रियान्विति कारीगर के हाथों में होनी चाहिये। राज्य का कार्य तो केवल यह देखते रहना है कि उपभोक्ता को धोखा तो नही दिया जा रहा है या उसके साथ छल तो नही किया जा रहा है। अत्यधिक केन्द्रीकरण की बुराइयों को तथा कारोबार मे नौकरशाही की अयोग्यता को दूर करना इन समाजवादियो का उद्देश्य है। इनका यह दावा है कि इनकी पद्धति के अनुसार विकेन्द्रीकरण होने पर वास्तविक जनतन्त्र तथा कार्यक्षमता अवश्य आ जायेगी।

१०. श्रमिक संघवाद (Syndicalism)—श्रेणी समाजवादियो के समान, समाजवादी आदर्शो की प्राप्ति के लिये भी राज्य शक्ति को उपयुक्त नही समझते। राजकीय अधिकारी मे, वह चाहे जिस श्रेणी का भले ही क्यो न हो, एक विशेष प्रकार की नौकरशाही प्रवृत्ति अवश्य होती है। वह कभी समझ ही नही सकता कि श्रमिक क्या चाहता है ? दूसरो पर रौब जमाने की उसकी आदत होती है। अतः इन समाजवादियो के विचारो के अनुसार राज्य को शक्तिमान बना देने पर बहुत से छोटे-छोटे अत्याचारी शासक उत्पन्न हो जायेगे। अतः सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक ढाचे को, ट्रेड यूनियनो का एक जाल-सा बिछा कर, ये समाजवादी बनाना चाहते है।

वैधानिक मार्गो से ये अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते है—इसमे भी इनका विश्वास नही है। राजकीय अधिकारी बहुत शक्तिमान होते है। अतः इनका विश्वास सीधी तथा हिसात्मक कार्यवाही मे है। हड़ताल इनका प्रधान अस्त्र है। इनका विश्वास है कि यदि हड़ताल असफल भी हो तो भी उससे आर्थिक युद्ध का अनुभव कामकरो को प्राप्त हो जाता है। हडतालो से कामकर सुसगठित होते है और पूजीपतियो के प्रति उनकी घृणा बढ़ती है। इस घृणा को कम न होने देना चाहिये। इनका मत है कि हडताल पर हडताल जारी रहे तथा अन्त मे एक लम्बी आम हडताल होकर राजनीतिक प्रक्रिया को व्यर्थ कर दिया जाय और शक्ति को हस्तगत कर लिया जाय। ये समाजवादी विद्यमान ढाचे को नष्ट करने पर बहुत जोर देते है और क्रान्ति के पश्चात् समाज के उस ढाचे पर जिसे ये जन्म देना चाहते है, जानबूझकर प्रकाश नही डालते।

११. साम्यवाद (Communism)—आजकल का साम्यवाद, जैसा कि सन् १८४५ के साम्यवादी घोषणा-पत्र (Communist Manifesto of 1845) से स्पष्ट है, साम्यवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के सिद्धान्तो को अधिक स्पष्ट करता है, किन्तु जैसे समाज को ये जन्म देना चाहते है उसको स्पष्ट नही करता। साम्यवादी इस बात पर जोर देते है कि सारे देश मे ही नही, वरन् समस्त ससार में साम्यवादी सगठनों का जाल बिछा दिया जाय, तथा अन्य सगठनों के केन्द्रीय पदों को हस्तगत करके चुपचाप अपने अनुयायियो की सख्या बढ़ा दी जाय। जब पार्टी सुदृढ़ हो जाय, तब वह पूजीपतियों को

भगा कर शासन-सूत्र अपने हाथ में ले सकती है और मजदूर राज्य स्थापित कर सकती है। राज्य-शक्ति का उपयोग समस्त विरोध को दबाने तथा पूजीपतियों को समाप्त करने में किया जाय। इनका उद्देश्य है—वर्ग-विहीन समाज की स्थापना, जिसमें कोई ऊंचा-नीचा धनी या निर्धन न हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के पश्चात् राज्य की आवश्यकता ही नही रह जायेगी। राज्य अपने आप विलीन हो जायेगा। साम्यवादी जिस प्रकार का समाज चाहते है, उसका कुछ अनुमान प्लेटो की 'रिपब्लिक' (Republic) तथा वेल की 'न्यू वर्ल्ड फार ओल्ड' (New World For Old)—इन पुस्तकों से लग सकता है। साम्यवादी न केवल उत्पादन के साधनो पर सब प्रकार की निजी सम्पत्ति को समाप्त कर देना चाहते है, वरन् उपभोग वस्तुओं में भी निजी सम्पत्ति के प्रश्न को समाप्त कर देना चाहते है। लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य करें और अपनी आवश्यकतानुसार फल प्राप्त करें। हर एक व्यक्ति को निश्चित कार्य दे दिया जाय। वह स्वय अपना उद्यम न चुन सकेगा। किसी के निजी मकान अथवा बैंक मे हिसाब नही होगा। हर व्यक्ति सरकारी कर्मचारी समझा जायगा। उसे नकद रुपया नही मिलेगा। वरन् राजकीय क्वार्टरो में निवास तथा राजकीय भोजनालयो से भोजन मिलेगा। उसे वही वस्तुएं तथा सेवा कार्य करने को दिये जायेगे, जो राज्य द्वारा तत्कालीन उत्पादन के आधार पर निश्चित किये जायेगे। बच्चो का पालन-पोषण, उनकी शिक्षा-दीक्षा आदि सब राज्य का काम होगा। मूल्याकन की प्रणाली ही समाप्त हो जायेगी। लाभ की नीयत के बिना राज्य उत्पादन को नियत्रित करेगा, काम देगा, तथा कार्य का प्रतिफल तथा वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत निश्चित करेगा। कैसा सुहावना स्वप्न है ! साम्यवादी समाज मे न तो व्यापारिक उथल-पुथल हो सकती है, न बेकारी रह सकती है, न धनवान तथा निर्धन का भेद-भाव रह सकता है, और न पूजी तथा श्रम में सघर्ष ही रह सकता है। विचार निस्संदेह नैसर्गिक है। प्रारम्भिक अवस्थाओ मे रूसियो ने इन विचारो को कार्य-रूप मे परिणत करने का प्रयास किया। उन्होने द्रव्य तथा विनिमय समाप्त कर दिया। परन्तु सफलता नही मिली। द्रव्य-सम्बन्धी आर्थिक-व्यवस्था की पुनः स्थापना करनी पडी। कार्य-कुशलता को प्रोत्साहन तथा फलीभूत करने के लिये विभिन्न वेतन देने पडे।

१२. अराजकतावाद (Anarchism)—साम्यवादियों का अन्तिम उद्देश्य यही है कि समाज का ऐसा ढाचा बना लिया जाय कि राजकीय शासन का अस्तित्व समाप्त हो जाय। 'राज्य विलीन हो जायेगा।' सामान्य बोलचाल में अराजकता का अर्थ अव्यवस्था, कुप्रबन्ध आदि से होता है। परन्तु समाजवादी शब्दावलि के अनुसार इसका अर्थ है 'राज्यहीनता' जब कि शासन अनावश्यक हो चुका हो। साम्यवादियों को आशा है कि जब ससार से पूजीवाद उठ जायेगा तब लोभ, स्वार्थ, छल, अत्याचार आदि पाप नष्ट हो जायेंगे तथा उनके स्थान पर त्याग, समाज-सेवा, सद्भावना आदि गुणों का प्रादुर्भाव होगा, तथा लोगों में हड़पने की प्रवृत्ति के स्थान पर त्याग की भावना प्रबल

होगी। मानव इतना ऊंचा उठ जायेगा कि पुलिस की आवश्यकता नही होगी। न्यायालय बन्द हो जायेंगे। क्या यह स्तम्भित करने वाली बाते है ? प्राचीन भारत के सम्बन्ध में फाहियान हमें बतलाता है कि चोरिया तथा डकैतिया नही होती थी और लोग घरों में ताले नही डालते थे। सभव है, अराजकतावादियो के स्वप्न कभी सजीव हो जाये।

सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को स्वशासित सस्थाओ द्वारा सुसगठित किया जायगा। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के अधिकारो का आदर करेगा, अत. कोई कठिनाई नही होगी। सरकार तो आवागमन पर रोक-थाम रखने वाले चौराहे के सिपाही के समान होगी। जब कुछ घटो के लिये सिपाही चला जाता है तब भी आवागमन चलता रहता है, ठीक इसी प्रकार समाज की क्रियाये चला करेगी। यह और भी अधिक सुखद स्वप्न है। प्रिंस क्रोपाटकिन से हमे इसकी रूप-रेखा प्राप्त हुई है। अराजकतावादियों का कथन है कि पूजीवादियो के अन्यायपूर्वक प्राप्त किये गये लाभो तथा लूट अथवा सम्पत्ति की रक्षा करने के लिये ही राज्य की आवश्यकता है। जब यह सब चला जायेगा तो राज्य-शासन भी उसका अनुगामी होगा।

१३. फेबियन समाजवादी (Fabian Socialists)––बर्नार्ड शा के समान ये समाजवादी साहित्यिक है। इग्लैंड मे और भी बहुत से ऐसे विद्वान् है, जिन्हे यह विश्वास है कि समाजवाद का सम्बन्ध धारणा से है। यदि लोगो को समाजवाद से उत्पन्न विशेषताओ का विश्वास दिलाया जा सके तो समाजवाद के स्थापित होने को रोका नही जा सकता। ये समाजवादी, साहित्य––विशेषतया उपन्यास, नाटको तथा कहानियो––द्वारा पूजीवाद के विरुद्ध अविराम प्रचार करते रहते है, तथा समाजवाद की आवश्यकता तथा उससे लाभ का दिग्दर्शन कराते है। उनका यह विश्वास है कि वह समय आयेगा जब कि ससार को समाजवाद मे विश्वास हो जायेगा तथा समाजवाद चारो ओर फैल जायेगा। यह विश्वास सही हो सकता है। अग्रेज समाजवादी हो गये है। मजदूर पार्टी को उन्होने ऊचा स्थान दे दिया है, जिसमे वे अपने समाजवादी कार्यक्रम को क्रियान्वित कर सके। मत्रिमण्डल की दुर्बलता के कारण भले ही प्रगति रुकी रहे, परन्तु जनता ने उन्हे आगे बढने का आदेश दे दिया है। सुरक्षित हितो की ओर से अवश्य ची-चपड होगी परन्तु राष्ट्र का बहुमत उन्हे आगे बढाना चाहता है।

१४. विकासवादी तथा क्रान्तिकारी समाजवादी (Evolutionary and Revolutionary Socialists)––इस प्रणाली के विषय पर मतभेद है। क्रान्तिकारी समाजवादी क्रान्ति मे विश्वास रखते है। उनका कहना है कि विकास-मार्ग बहुत लम्बा और अनिश्चित है। इतनी प्रतीक्षा कौन करेगा ? विकासवादियों के मतानुसार क्रान्ति का कोई स्थायी फल नही हो सकता। क्रान्ति के दिनो में ऐसे व्यक्ति शक्तिसम्पन्न हो जाते है जो कठोर, अत्याचारी, अनैतिक, स्वार्थी तथा शक्ति के भूखे होते है। क्रान्ति की अग्नि मे सब कुछ पिघल जाता है और कहा नही जा सकता कि फल कैसा

हो। निराशा ही होती है, और प्रगति रुक जाती है। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप स्वाधीनता, समानता तथा बन्धुता का नही, वरन् त्रास का राज्य स्थापित हो गया।

१५. शास्त्रीय समाजवादी (Socialists of the Chair)—यह समाजवादी धारणाओं के व्यक्ति होते है। राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र के प्रोफेसर इत्यादि सिद्धान्तप्रिय अधिक होते है, परन्तु क्रियाशील कम। समाजवादी सिद्धान्तों के प्रचार के इनके पास अपूर्व अवसर रहा करते है।

१६. समाजवादी योजना के आवश्यक अंग (Essentials of a Socialist Scheme)—हमने समाजवादियो के मतो के विभिन्न झुकावो का सिहावलोकन कर लिया है। इन झुकावो मे अन्तर होते हुए भी, जो किसी-किसी विषय पर अत्यन्त तीव्र विरोध का रूप धारण किये हुए है, एक ऐसी योजना समझ मे आ सकती है, जिस पर अधिकाश समाजवादियो का मतैक्य हो। उत्पादन के साधनो का व्यक्तिगत स्वामित्व हटाये जाने के पक्ष मे सभी समाजवादी है। भूमि, कारखाने, रेले, खाने तथा उत्पादन के अन्य समस्त साधनो का राष्ट्रीयकरण अवश्यमेव किया जाय। उनका स्वामित्व तथा नियत्रण राज्य के हाथ मे हो, जिसमे राज्य हर एक व्यक्ति को काम दे सके। कोई निजी उपक्रम नही होगा। उत्पादन मे राज्य ही हाथ डालेगा, तथा राज्य ही उत्पादन का सचालन करके, वेतन तथा अन्य व्यय करेगा, और लाभ राज्य को प्राप्त होगा। पूजीपतियो तथा जमीदारो को व्याज तथा किराये आदि की अदायगी समाप्त हो जायेगी, क्योकि राज्य ही पूजीपति, जमीदार तथा उपक्रमी माना जायेगा। साम्यवादियो को छोड कर समस्त समाजवादी मकान, फर्नीचर, घरेलू सामान तथा अन्य उपभोग सामग्री के रूप मे निजी सम्पत्ति रहने दे सकते है।

बिना कमाई के खाना हतोत्साहित किया जायेगा। कार्य का प्रतिफल कार्य की कोटि के अनुरूप होगा तथा बिल्कुल समान नही होगा। योग्यता के अनुसार इसमे विभिन्नता होगी। माग तथा पूर्ति के नियम को सीमित रूप में क्रियान्विति को मान्य समझा गया है। यह विश्वास निराधार है कि समाजवाद के अन्तर्गत सब लोग आर्थिक दृष्टि से समान होगे। आर्थिक समानता की कोई गारटी नही की जा सकती। श्रेणीविहीन आधार पर सभी के लिये अवसर की समानता अवश्य प्राप्त होगी। राज्य व्यक्ति को अपना उद्यम चुनने मे तथा उसे उस उद्यम के योग्य बनाने मे सहायता करेगा।

राज्य ही उत्पादन तथा वितरण दोनो का दायित्व-भार लेने वाला अधिकारी होगा। समाज के उत्पादन साधनो का वितरण तथा उपयोग केन्द्रीय प्राधिकारी के निर्देशानुसार निश्चित किया जायेगा। उत्पादन के लाभ कुछ थोडे से व्यक्तियो की जेबो मे जाने के स्थान पर राजकीय खजानो मे जायेगे तथा उनका व्यय सामान्य व्यक्ति को, उसके परिवार तथा बच्चों को पर्याप्त चिकित्सा, परिपूर्ण तथा नि.शुल्क शिक्षा तथा आमोद-प्रमोद के यथेष्ट साधन प्रदान करके, उसके भाग्य मे परिवर्तन लाने के लिये किया जायेगा,

आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य ही होगी तथा अरक्षा से उत्पन्न भय के लिये कोई स्थान न रहेगा। हरएक व्यक्ति को अपना उद्यम चुनने में स्वतन्त्रता होगी तथा अपनी आय को वह जैसे चाहे, व्यय कर सकेगा, सक्षेप मे यही समाजवादी योजना है।

बहुत दिनो तक वैब्स द्वारा की गयी समाजवाद की परिभाषा को अधिकांश समाजवादी स्वीकार करते रहे। वह परिभाषा यह है : "समाजवादी सिद्धान्तो पर अवलम्बित उद्योग वह है जिसमे उत्पादन के राष्ट्रीय साधन सावजनिक प्राधिकार अथवा स्वेच्छापूर्वक किये गये सस्थापन के स्वामित्व मे ही तथा अन्य व्यक्तियो को किये गये विक्रय मे लाभ प्राप्ति की दृष्टि से सचालित न हो वरन् उन लोगो की सीधी सेवा के रूप मे हो—जिनका वह प्राधिकारी या सस्था का प्रतिनिधित्व करता है।" यह परिभाषा समाजवाद की वर्तमान धारणा से नही मिलती, क्योकि इसमे योजना बनाने का विचार निहित नही है। अत: डिकेन्सन द्वारा की गई परिभाषा अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। डिकेन्सन के अनुसार समाजवाद समाज का वह आर्थिक सगठन है, जिसमे उत्पादन के भौतिक साधन सम्पूर्ण समाज के स्वामित्व मे होते है तथा ऐसे अगो द्वारा चलाये जाते है, जो एक सामान्य योजना के अनुसार समाज का प्रतिनिधित्व करते हो तथा समाज के प्रति उत्तरदायी हों, और समाज के समस्त सदस्यो को ऐसे समाजवादी आयोजित उत्पादन के फलो से प्राप्त लाभ समान अधिकारो के आधार पर प्राप्त करने का हक हो।[1]

१७. समाजवाद की आलोचना (Case Against Socialism)—समाजवाद के आलोचको ने समाजवादी बुनावट मे बहुत से छिद्र बतलाये है। कुछ आपत्तिया तो विचारहीनता से पूर्ण है, जैसे समाजवाद धर्म को नष्ट कर देगा, विवाह तथा पारिवारिक बन्धनो को समाप्त कर देगा, आदि भोले तथा मूढ व्यक्तियो को भडकाने के ऐसे प्रयत्नो के अतिरिक्त समाजवाद को समझ कर उसकी वास्तविक कहानिया तथा खतरे बतलाने का भी प्रयत्न किया गया है।

समाजवाद के विरुद्ध सबसे महत्त्वपूर्ण तर्को का समूह आर्थिक व्यवस्था के नौकरशाही द्वारा सचालन होने के विरुद्ध है। नौकरशाही को कारोबार चलाने मे कार्यकुशल नही समझा जाता। राज्य-कर्मचारी कारोबार मे उतना तीव्र स्वार्थ नही महसूस करता जितना कि किसी निजी सस्था का कर्मचारी, जिसकी स्थिति उतनी सुदृढ नही होती। राजकर्मचारी जानता है कि नियमानुसार अधिक दिन काम करने के साथ-साथ उसकी उन्नति होती जायेगी। वह चाहे जितना उत्साहपूर्वक अधिक काम करे, परन्तु क्रम-बद्ध सूची मे वह आगे नही बढ पायेगा। उसका प्रधान ध्येय यही रहता है कि किसी प्रकार काम चलता रहे, के नही। वह केवल जनता की आलोचना से बचना चाहता है। अत: वह कोई साहसयुक्त जोखिम नही उठायेगा तथा सामान्य सफलता से सतुष्ट हो जायेगा। अपने आप नये साधनो की खोज होने की बहुत कम आशा है। व्यावसायिक नीति दबी

1. Dickenson, H. D.—Economics of Socialism, 1939, p. 11.

हुई तथा उपक्रम रहित होगी । घिस-घिस तथा "लाल फीते" का बोलबाला होता है, जिस में साधारण आदमी के लिये तो सुरक्षित स्थान होगा, परन्तु असाधारण और वेगयुक्त व्यक्ति के लिये कोई स्थान न होगा । साधारण श्रेणी के आदमी कभी उच्च श्रेणी का कार्य नही कर सकते । इस प्रकार के लोग कारोबार में विशेष सफलता पाने के योग्य नही होते । कोई भी सरकारी विभाग कारोबार मे सफलता का दावा नही कर सकता, क्योंकि तात्कालिक निश्चय करने पडते है तथा साहसयुक्त नीति की आवश्यकता होती है । सरकारी कर्मचारी मण्डल नये क्षेत्रो को हस्तगत करने के योग्य नही होता । सरकारी विभागो मे योग्य व्यक्ति अवश्य आते है परन्तु राज-सेवाओ का वातावरण असाधारण योग्यता प्रदर्शित करने के लिये उपयुक्त नही होता । प्राप्त होने वाला फल किये गये परिश्रम के अनुरूप नही समझा जाता । कम्पनियो के प्रबन्ध मे जो कमिया होती है, वह बढ जाती है । इस से अधिक नौकरशाही का अर्थ होगा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की समाप्ति तथा रोब का बोलबाला इत्यादि ।

यह भी कहा जाता है कि सरकार समस्त उद्योग तथा व्यापार की उन्नति तथा सफल सचालन के लिये बहुत बडी आवश्यक पूजी का प्रबन्ध नही कर सकती ।

समाजवाद के अन्तर्गत समाज के साधनो की सबसे अधिक मितव्ययितापूर्वक उद्योगो के बीच वितरण करने के लिये कोई स्वचालित यत्र नही होगा । पूजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ताओ की पसन्द एक ऐसी बात है, जो कीमतो को अपने आप उतार-चढ़ा कर इन साधनो का आशातीत वितरण करती रहती है । अत. समाजवाद मे हमे अधेरे मे टटोलना पडेगा । कुछ वस्तुएँ अधिक उत्पादित होगी और खराब जायेगी जब कि अन्य वस्तुओ की कमी होगी और माग पूरी नही होगी । भय है कि माग और पूर्ति मे असाध्य वैषम्य उत्पन्न हो जाय । कोई भी एक प्राधिकारी इतने बडे कार्य को नही कर सकता कि उत्पादन का प्रबन्ध करे । भूमि के प्रत्येक एकड को उचित प्रयोग के लिये बाटे, प्रत्येक कामकर को सही काम दे तथा प्रत्येक रुपये को अधिकतम कार्यक्षमता की दृष्टि से लगावे ।

पूजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ता का प्रभुत्व होता है । यह तो सही है कि यह प्रभुत्व उसकी आय, एकाधिकार के अस्तित्व आदि द्वारा सीमित होता है, फिर भी उसके लिये पसन्द और चुनाव का बहुत विस्तृत क्षेत्र है । परन्तु समाजवाद के अन्तर्गत तो उसका प्रभुत्व जाता रहेगा । उपभोग को उत्पादन के अनुकूल बनाना होगा । उपभोक्ता के लिये यह हानि बहुत वास्तविक है । वह अपने आपको यथेष्ट रूप से सतुष्ट नही कर सकेगा । अतः समाजवाद का अर्थ है कि उपभोक्ता को मुसीबत और तगी झेलनी पड़े तथा त्याग करना पडे । राज्य द्वारा मूल्य अवश्य निश्चित किये जायेगे, परन्तु सब स्वेच्छाचार-युक्त होगे । मूल्य-निर्धारण कठोर होगा और बाजार के अनुसार अपने आप को व्यवस्थित

नहीं कर सकेगा जब कि बाजार इतना नाजुक हुआ करता है कि उपभोक्ताओं की पसन्दों में तनिक अन्तर से भी प्रभावित होता है।

यह भी भय है कि जब निजी लाभ या व्यक्तिगत हित का प्रश्न ही न रहेगा तो कठिन परिश्रम तथा आत्मोन्नति की प्रेरणा भी नही रहेगी। लोग लगन से कोई कार्य नही करेंगे। आविष्कार, उपक्रम और आगे बढने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम होती जायेगी तथा सृजन कार्य असभव हो जायेगा। कहा गया है कि "शेक्सपियर के ग्रन्थो का अच्छा सस्करण सरकार अवश्य निकाल सकती है, परन्तु उन ग्रन्थो को लिखवा नही सकती।।"[1]

समाजवाद के विरुद्ध एक अन्य आपत्ति यह है कि जब उपक्रम का स्वातन्त्र्य नही रहेगा तो उद्यम का स्वतत्र चुनाव भी नही होगा। श्रमिकों को निश्चित काम दे दिया जायेगा और वे योजना बनाने वाले अधिकारी की अनुमति के बिना उसे बदल न सकेंगे, क्योकि बदलने से योजना में गडबडी उत्पन्न हो जायेगी। सभव है कि स्वतन्त्रता का इस प्रकार नष्ट होना अत्यन्त खेदजनक हो जाय।

कुछ लोग समाजवाद से इस कारण हतोत्साहित हो गये है कि रूस मे, जहा समाजवाद की क्रियान्विति हुई, वहा आर्थिक समानता स्थापित न हो सकी। वहा अब भी धनदान और निर्धन का भेद-भाव है। वर्ग-विहीन समाज का स्वप्न अब भी बहुत दूर है। पूजीवादी व्यवस्था में, जैसे अमरीका या इग्लैड मे, श्रमिको की अवस्था इतनी शोचनीय नही है। उनके जीवन का स्तर कुछ अधिक ऊचा है। लोग यह मानने को तैयार नही है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत निर्धन व्यक्ति और भी अधिक निर्धन होते जाते है। धनवानो के पास निःसदेह धन बढता जाता है, परन्तु साथ-साथ निर्धन का भाग्य भी चमकता जाता है। इस प्रकार समाजवाद को समस्त सामाजिक दोषो के लिये रामबाण के रूप मे समझने वाले कुछ समाजवादियो को नैराश्य हुआ है तथा उनका उत्साह ठडा पड गया है।

यह मानना पडता है कि समाजवाद के अन्तर्गत बेकारी नही होती। परन्तु समाजवाद के आलोचको का कहना है कि जेल मे भी तो बेकारी नही होती। समाजवादी राज्य को एक बहुत बड़ी जेल समझा जाता है तथा इन आलोचको का कहना है कि रोज़गार से लगाये जाने को स्वातन्त्र्य-विनाश का सही बदला नही माना जा सकता।

अन्त मे यह भी बतलाया जा सकता है कि मार्क्स के समाजवाद की वास्तव में पूर्ण रूपरेखा वैज्ञानिक नही है। समस्त मूल्य का एकमात्र आधार श्रम नही है और न समस्त मूल्य को श्रम द्वारा ही ले लिया जाना अधिकृत माना जा सकता है। इतिहास के भौतिक विवेचन को, जो मार्क्स की मान्यता है, बहुत कम लोग मानते है। यद्यपि आर्थिक विषय सबसे अधिक बलवान होते है, परन्तु वही मनुष्यमात्र के कार्यों को प्रभावित करने वाले एकमात्र विषय नही कहे जा सकते।

1. Pigou: Capitalism and Socialism, p. 80.

१८. आलोचकों को समाजवाद की ओर से दिया गया उत्तर (Answer to Critics of Socialism)—समाजवाद के विरुद्ध तर्कों की एक बलवान पल्टन सी दिखलाई देती है, परन्तु वह ऐसी बलवान नही है जैसी कि प्रतीत होती है। समाजवाद की सुदृढता पूजीवाद की बुराइयो से प्रगट है, जो सिद्ध हो चुकी है। समय-समय पर संसार मे इतनी मन्दी आ जाती है कि अव्यवस्था, बेकारी तथा मुसीबत बहुत बढ जाती है। पूजीवाद द्वारा व्यापारिक परिस्थितियो का स्वायित्व प्राप्त नही हो सकता। राष्ट्रीय साधनो को व्यक्तिगत लाभ के लिये प्रयुक्त गिया गया है। मानव, विशेषतया स्त्री-बच्चों को पूजीपतियो का धन बढाने के लिए मशीनों के रूप मे प्रयोग किया गया है। बच्चों की पुकार को कौन नही सुनेगा ? जिस समय एक निर्धन परिवार को कठोर से कठोर परिश्रम करने पर जब कभी-कभी दोनो समय भोजन नही मिलता, चीथडो में लिपटे हुए कबूतरखानो के निवासी होकर, जब बच्चे बिना चिकित्सा और दूध के मरते है, तब समाज की आत्मा तडप उठती है। इसके विपरीत धनवान विलास मे लुढकते रहते है। उनके घोड़े और कुत्ते उनके सहयोगी मानवो मे उत्तम भोजन और निवास के भागी होते है। वे धनिक सम्भवत. यह समझते है कि निर्धन मे मनुष्यत्व है ही नही। वह तो किसी अन्य कोटि का प्राणी है। जिस पद्धति मे ऐसी असमानता उत्पन्न हो वह अपने-आप कलंकित मानी जायगी।

इसके विरुद्ध समाजवाद की ओर देखिये। समाजवाद मे व्यापारिक मदी नही हो सकती और बेकारी, जो श्रमिकों के सर पर नंगी तलवार के रूप में लटका करती है, दूर भाग जाती है। यह एक बहुत बडी समस्या है जिसको समाजवाद दूर करता है। उद्योग की स्वस्वतन्त्रता पूजीवादी व्यवस्था में विडम्बना-मात्र होती है। अपना उद्योग कौन चुन पाता है? चुनाव तो उसके माता-पिता के साधनो तथा प्रभाव पर निर्भर होता है। कभी-कभी मनुष्य जो भी काम मिल जाय, वही करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। परन्तु काम नही मिलता। पूजीवाद ऐसे व्यक्ति को कूडा समझता है। कोई भी लाचारी मे काम करते रहने को बेकारी और भुखमरी से अच्छा समझेगा। समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत हर एक व्यक्ति को अपनी-अपनी सामर्थ्य तथा झुकाव के अनुकूल स्थायी तथा पेन्शन सहित काम मिलता है।

समाजवादी राज्य मे समाज साधनों को एकमात्र सामाजिक स्थिरता तथा कल्याण के आधार पर बाटा जा सकता है। उपभोक्ताओ की इच्छा के स्थान पर उच्चकोटि की सामाजिक भावनाओ को स्थान दिया जाता है। यह सम्भव है कि किसी स्थिति में किसी प्रकार की उपभोग्य सामग्री की कमी हो जाय। परन्तु ऐसा समाज के वास्तविक कल्याण के लिए जान-बूझ कर किया जाता है। इसमे कोई सदेह नही है कि हम कुछ दिनों के लिए त्याग करें, जिसमें हमारे बच्चे आगे चलकर जीवन अच्छे स्तर पर व्यतीत कर सकें। देश की शक्ति और उन्नति के लिए केवल समाजवादी व्यवस्था ही सुदृढ नीव डाल सकती है। पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था में दृष्टिकोण संकीर्ण तथा नीति अदूरदर्शी होती है, जिससे एकमात्र उपक्रमी के लाभ की ओर ध्यान दिया जाता है।

समाजवाद में सब प्रकार की शिक्षा के प्रसार के लिए बहुत कुछ व्यय किया जा सकता है; समुचित चिकित्सा-प्रबन्ध, उद्योगों को वैज्ञानिक आविष्कारों से सज्जित किया जाना, कृषि का पुनर्संगठन हो सकता है। फलस्वरूप राष्ट्र के भौतिक तथा मानव-साधन बहुत उन्नति कर जाते है। समाजवादी राज्य मे निर्धनों की सहायतार्थ बहुत बडी धन-राशि प्राप्त हो सकती है क्योकि जो पूजीवादी व्यवस्था में धनवानो का धन बढाता है, वह समाजवादी व्यवस्था मे राजकीय कोष में एकत्रित हो जाता है। स्वास्थ्य तथा कार्यक्षमता के लिए उपयोगी वस्तुएं नि.शुल्क अथवा बहुत कम मूल्य में दी जा सकती है। इसमें तो कोई संदेह नही है कि कुछ मार्गो मे उपभोग की कमी हो जाती है परन्तु इससे कोई मुसीबत नही पडती, क्योकि वही खपत अन्य उपयुक्त मार्गो मे बढाई जानी है। समाजवादी राज्य मे बच्चों को नि शुल्क दूध प्राप्त हो सकता है, उनका निःशुल्क भरण-पोषण, शिक्षा तथा चिकित्सा-प्रबन्ध हो सकता है, कामकरों को निःशुल्क सिनेमा, खेलकूद, आमोद-प्रमोद, साप्ताहिक अवकाश के लिए रेलवे पास, तथा कारखानो के अन्दर निःशल्क जलपान प्राप्त हो सकता है। पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था में यह सम्भव नही है, क्योकि वहां तो 'सबसे बड़ा रुपया होता है।' पूजीपति का ध्यान केवल अपनी थैली पर होता है।

समाजवादी राज्य सब प्रकार के उत्पादन मे तत्काल वृद्धि कर सकता है। ऐसे लोग जो कुछ दिन पूर्व ही अपढ, अज्ञानी, पिछडे हुए, रूढिपरायण दीन किसान थे, वे समाज के अतर्गत क्या कर सकते है, इसका जीता-जागता उदाहरण रूसी पंचवर्षीय योजना है। हमारे ही समान रूस भी छोटे-छोटे किसानों का एक देश था, जो सब अपढ थे। अब लगभग शत-प्रतिशत लोग पढे हुए है और उत्पादनों मे रूस ने लगभग उन सब योरोपियन देशो को पछाड़ दिया है, जिन्होने लगभग एक शताब्दी पूर्व औद्योगिक दौड प्रारम्भ की थी। इसका कारण यह है कि समाजवादी राज्य में ही योजना बनाना वास्तव में प्रभाव-युक्त हो सकता है। हमने देखा कि युद्ध के दिनो मे बेकारी बिल्कुल नही थी तथा उत्पादन के आकडे इतने ऊचे हो गए कि जिनको देखकर कुछ वर्ष पूर्व हर व्यक्ति स्तम्भित हो जाता। इसका कारण यह था कि आर्थिक जीवन का प्रत्येक पहलू केन्द्रीय राजकीय नियन्त्रण में था। शातिकाल में भी समाजवादी राज्य ऐसा ही करता है, अर्थात् समाज के समस्त साधनों को अधिक से अधिक प्रभाव-युक्त ढंग मे व्यवस्थित करता है।

नौकरशाही के प्रबन्ध से उत्पन्न खतरों को बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया गया है। कम्पनियों के प्रबन्ध में भी, पूजीवादी पद्धति के अन्तर्गत "लालफीते" की बहुत प्रधानता होती है। समाजवादी राज्य भी लेन-देन तथा बैंकों के कार्य का ऐसा प्रबन्ध कर सकता है कि किसी प्रकार की असमता का नाम न रहे।

जहां तक कठिन परिश्रम का प्रश्न है, समाजवादी राज्य में लगातार प्रचार द्वारा तथा शिक्षा द्वारा जनता की मनोवृत्ति को बदला जा सकता है तथा नई भावनाओं को जमा दिया जा सकता है। उत्पादन-विषयक अतिरिक्त लाभांश द्वारा श्रमिकों को अधिक कार्य के लिए

प्रोत्साहित किया जा सकता है। गदा तथा नीच सेवा-कार्य कौन करेगा ? समाजवादियों का कहना है कि अधिकतर तो वह मशीन से किया जायगा। मशीन का प्रयोग ऐसे कार्यों में आजकल इसी कारण नही हो रहा है कि मनुष्य मशीनो से सस्ता है। पूजीवाद के अन्तर्गत ऐसे कार्यों को करने के लिए बहुत कम पैसा लेकर सहस्त्रों क्षुधा-पीड़ित लोग प्रस्तुत हो जाते है। क्योकि पूजीवाद ने जनता को इतना गिरा दिया है। परन्तु समाजवादी राज्य में, जिसमें राज्य लाभ की दृष्टि से कार्य नही करेगा, मनुष्य को समस्त गदे, खतरनाक तथा हीन कार्यों में लगाया जाने से बचाया जाना सभव होगा।

समाजवाद हर एक को आर्थिक समानता भले ही न प्रदान कर सके। लेकिन यह समाजवादी राज्य की प्रबधकारिणी शक्ति की कमी के कारण नही वरन् मनुष्यों मे जन्मजात असमानता के कारण ही होगा। प्रकृति सब को समान नही बनाती। प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न शक्ति तथा कार्य-सामर्थ्य है। राज्य इसके लिए क्या करे। विधान द्वारा इसे नही सभाला जा सकता। परन्तु समाजवादी राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और झुकाव जानकर शिक्षा तथा प्रशिक्षण द्वारा उसे समुन्नत किया जा सकता है, जिससे हर एक नागरिक राज्य के कल्याण के लिए अपना सर्वश्रेष्ठ भाग प्रदान कर सके। निर्धनता के कारण वास्तविक योग्यता को दबने या नीचे नही गिरने दिया जायगा। समाजवादी राज्य मे नीच से नीच परिवार मे से प्रतिभाशाली व्यक्ति को निकालकर उसे पूरी सुविधाएं तथा अवसर दिये जा सकते है। अतः यदि आर्थिक समानता की प्राप्ति सम्भव नही दिखलाई पड़ती, तो कम से कम अवसर की समानता का हर व्यक्ति को आश्वासन दिया जा सकता है और इतना हो जाना ही कोई छोटा काम न कहलाएगा। जनता को बहुत कुछ समान स्तर पर भी लाया जा सकता है।

अस्तु, समाजवाद का पलडा बहुत भारी जान पड़ता है।

१९. समाजवाद की प्रगति (Progress of Socialism)—पीगो ने कहा था, "यदि वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों को जैसी कुछ वे अपने देश में आज कल है, हम पूजीवाद का प्रतिनिधि मान ले, तथा समाजवाद को अस्पष्ट रूप मे छोड़ दें, तो पूजीवाद का पलडा ऊँचा उठकर समाजवाद के बराबर आने लगेगा, क्योकि ऐसा करते समय हम वास्तव मे पूजीवाद की नग्न मूर्त्ति को, जिसके समस्त दोष स्पष्ट है, समाजवाद की ऐसी मूर्त्ति के सामने रखेगे जिसपर परदा पड़ा हुआ है।"[१] अब समाजवाद की मूर्त्ति परदे के अन्दर नही है। एक समय था जब समाजवाद प्लेटो की 'रिपब्लिक' अथवा मोर की 'यूटोपिया' सरीखी पुस्तको मे ही पाया जाता था अथवा राबर्ट ओवन सरीखे आदर्शवादी उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते थे। छोटी-छोटी साम्यवादी जातिया, जैसे एकता समाज (हारमनी) भ्रातृभाव समाज (ओनेडिया) आदि स्थापित हुईं परन्तु संस्थापकों को बुरी तरह निराश होना पड़ा। यह तो केवल प्रतियोगितापूर्ण विस्तृत पूजीवादी मरुस्थल में

१. Pigou : Capitalism and Socialism.

समाजवादी भाई-चारे के जल-स्थानो के समान थे। इनका अस्तित्व इन पूजीवादी राज्यों के अन्तर्गत था, जिनके हाथ मे न्याय तथा व्यवस्था थी। आधुनिक समाजवादी पूरे देश को समाजवाद से ओत-प्रोत चाहता है, समाजवाद के बिखरे हुए टुकड़े नही।

समाजवाद अब काल्पनिक अपरिपक्व अवस्था से निकल आया है। यह अब आर्थिक-सिद्धात-मात्र नही रह गया है वरन् वास्तविक राजनीति मे खड़ा हो गया है। सन् १८४८ के कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र ने समस्त ससार के मजदूरो से एक होने की पुकार करके सनसनी फैला दी। यह क्राति की पुकार थी और उसमे कहा गया था कि मजदूरों के बन्धन टूटने के अतिरिक्त उनका और कुछ नही बिगड़ता है तथा समस्त ससार विजय किये जाने के लिये सामने है।

तब से समाजवाद के अनुयायी ससार मे बढ़ते जा रहे है। जर्मनी से भाग कर यहूदियों ने साइप्रस मे समाजवादी आधार पर कई समाज स्थापित किये। लेकिन हाल ही में समाजवाद का फैलाव देखने योग्य हुआ है। सन् १९१९ मे जर्मन चुनावो में समाजवादियों को लगभग पचास प्रतिशत वोट मिले। सन् १९२४ मे एक-तिहाई ब्रिटिश जनता ने मजदूर दल को वोट दिया, १९३५ मे यह सख्या चालीस प्रतिशत हो गई तथा १९४५ में मजदूर दल को ठोस बहुमत से चुन लिया गया। फ्रास मे १९३६ मे एक-तिहाई से अधिक सहायक अधिकारी समाजवादी विचारो के थे। स्पेन मे समाजवादी सरकार थी जिसको जनरल फ्रेको ने हिटलर और मुसोलिनी से अनुचित गठ-बन्धन करके उलट दिया। रूसी अस्त्र-शस्त्रो ने पिछले महायुद्ध मे जो शानदार सफलता पाई तथा हिटलर के प्रवाह को ऐसा पलटा जैसा कि अन्य कोई राष्ट्र न कर सका तथा इस प्रकार समस्त ससार की सराहना का भागी बना। स्वाभाविक फल यह हुआ है कि लगभग सब योरोपीय देश लाल हो रहे है। इटली, बलगेरिया, युगोस्लाविया, फ्रास, आस्ट्रिया, और पोलैड सब समाजवाद की ओर झुक रहे है।

पूर्व में कम्युनिस्टों ने पृथ्वी के एक अच्छे खासे भाग, चीन को हस्तगत कर लिया है। चीन की कम्यूनिस्ट जीत मानव-इतिहास की सबसे प्रभाव-युक्त घटना सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम मे समाजवाद का मन्त्र जपा जा रहा है।

भारतीय मस्तिष्क, युवक-हृदय तथा जवाहरलाल सरीखे नेता किसी न किसी रूप मे समाजवाद पर विश्वास करते है। भय का कोई विषय नही है। आन्दोलन को आकस्मिक क्रांति का रूप ग्रहण कराना अनावश्यक है। परिवर्तन शान्तिमय मार्ग द्वारा शनैः-शनैः किया जा सकता है। समस्त समाजवादी क्रांतिकारी परिवर्तन में विश्वास करने वाले नही है। बहुत अर्से से सब स्थानों के विचारशील लोग उत्पादन के प्रधान साधनों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में रहे है। समस्त एकाधिकारों का बिना क्षोभ या विरोध उत्पन्न किये राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है। जब कोई उद्योग पटरी पर चलने लगता है तथा उसकी कार्यशैली बंध जाती है, तब निजी उपक्रम का प्रश्न ही नही रह जाता। ऐसी स्थिति में उस उद्योग

को सरकार द्वारा ले लिया जाना चाहिये, जिसमे लाभ आम जनता के लिये सुरक्षित किया जा सके। व्यक्तिगत उपक्रम के लिये नये उद्योगो में ही क्षेत्र रह जाता है, क्योकि उनमे साहसिक कदम उठाने की आवश्यकता होती है। समाजवाद के लिए उत्साह उत्पन्न करने का श्रेय रूस को है।

यदि हम रूसी प्रयोग के विषय मे कुछ तथ्यो को सकलित करे तो ऐसा करना अवसर के अनुकूल होगा।

२०. रूस का प्रयोग (The Russian Experiment)—रूसियो ने अपनी "लाल क्राति" (Red Revolution) प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने के पूर्व ही कर डाली। मार्क्स के सिद्धान्तो से उत्साहित क्राति के नेताओ ने क्राति-कारी कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया। पूजी तथा भूमि का, बिना मुआवज़ा दिये, राष्ट्रीय-करण कर लिया गया। कुलकी (Kulaki) अथवा धनवान जमीदारो को देशनिकाला दे दिया गया। उत्पादन तथा वितरण का पूर्णतया केन्द्रीकरण किया गया तथा द्रव्य के रूप मे वेतन प्रणाली का अन्त कर दिया गया।

परन्तु इस ढग से काम नही चला। सन् १९२१ मे लैनिन ने एक नई आर्थिक प्रणाली का श्रीगणेश किया जिसे "नीतियुक्त पीछे हटाव" (Strategic Retreat) कहा गया है। नेताओ को यह महसूस हुआ कि उनका तीर लक्ष्य से ऊपर होकर निकल गया। तदनुसार समझौते की नीति प्रारम्भ हुई। भूमि के निजी स्वामित्व को सीमित रूप मे मान्यता दी गई। निजी काश्त की सामूहिक काश्त के साथ-साथ छूट दे दी गई। व्यापार तथा उद्योग मे राजकीय उपक्रम के साथ-साथ निजी उपक्रम को भी छूट दी गई। परिपूर्ण साम्यवाद के स्थान पर एक व्यावहारिक राजकीय पूजीवाद को जन्म दिया गया। इस प्रकार कई प्रकार के औद्योगिक तथा व्यापारिक संगठनो ने जन्म लिया—जिनमे पूर्णतया राज-कीय उपक्रम थे, निजी तथा राजकीय उपक्रम मिश्रित थे, तथा ऐसे उपक्रम भी थे, जिनमे निजी उपक्रमियो को पट्टे तथा सुविधायें दी गईं थी तथा निजी उपक्रमियो से राज्य राजस्व ले लेता था। रूपये के रूप मे वेतन भी पुनः मिलने लगा।

बोल्शेविस्ट युग के प्रारम्भिक काल मे दीनता तथा दु.ख का राज्य था। उत्पादन युद्ध के पूर्वकाल के आकडों का अंश-मात्र रह गया था, तथा रहन-सहन का स्तर बहुत कुछ गिर गया था। परन्तु पुनर्वास का कार्य जारी रहा तथा सन् १९२७ मे युद्ध-काल के पूर्व की स्थिति को प्राप्त कर लिया गया। १९२८ में पचवर्षीय योजना के प्रथम भाग का श्रीगणेश हुआ, जिसमें कृषि-विषयक तथा बडे उद्योगों के उत्पादन की लक्षित सीमा निर्धारित की गई थी। एकत्रीकरण की नीति पूरे जोर से काम मे लाई गई। बड़े-बड़े फार्म बनाए गए, ऋण तथा मशीनें दी गईं। कृषि के उत्पादन मे बाढ़-सी आ गई। सन् १९३३-३४ में एकत्री-करण की चाल धीमी कर दी गई तथा व्यक्तिगत लाभ को कुछ सीमा तक स्थान दिया गया। स्टालिन ने बड़ी वास्तविकतायुक्त नीति ग्रहण की। उसने उस मानव-मनोविज्ञान

का पूर्ण-रूपेण लाभ उठाया जो शक्ति, प्रभाव, यश और प्रतिफल चाहता है। औद्योगिक नेताओं को सम्मान-सूचक पदक प्रदान किये गये। अधिक कार्य-कुशलता के लिए लाभांश तथा पारितोषिक दिये गए। प्रतिस्पर्द्धा की भावना को विभिन्न औद्योगिक समूहों के बीच फैला दिया गया तथा समस्त वातावरण को खिलाड़ियों के ऐसे खेल के समान कर दिया गया, जिसमें दोनों पक्ष सम्मान के लिए परिश्रम करते है। उत्पादन की गति बढ़ी तथा योजना बनाने वाले आयोग (Commission) के निर्देशानुसार लक्ष्य प्राप्त किया गया। जब वे अर्ध-सभ्य अपढ़ किसान, जिन्होंने कभी सामूहिक कार्य करना नही जाना था, नई प्रणालियों में काम पर लगाए गए, तब सभ्य संसार ने रूस को तिरछी निगाहों से देखा परन्तु जब प्रथम योजना ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर ली, तब संसार स्तम्भित रह गया। ट्रैक्टर, मशीन बनाने के कल-पुर्जे, मोटरे तथा अन्य भारी मशीनें कारखानों से तांता बांध-कर निकलने लगी।

द्वितीय योजना में उपभोक्ताओं के प्रयोग की सामग्री के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान दिया गया। सन् १९१९ मे ट्रैक्टरों तथा कम्बाइनों की संख्या, जो उत्पादित हुई, क्रमशः ३४९०० तथा ४५ थी। परन्तु १९३० मे यही संख्या क्रमशः ४७०००० तथा १३७८०० हो गई। बिजली का उत्पादन सन् १९२८ के ५ बिलियन किलोवाट से सन् १९३७ में ३८ बिलियन हो गया। रेलवे लाइन की लम्बाई (मीलों में) सन् १९२३ की अपेक्षा सन् १९३७ में ५० प्रतिशत अधिक थी। बीस वर्षों में निरक्षरता ६७.७ प्रतिशत से ८ प्रतिशत रह गई।[1]

इतनी कम मानव सामग्री के होते हुए, उन्नति का ऐसा चकाचौंध करने वाला उदा-हरण बहुत कम देश पेश कर सकते है। रूसी एक ऐसे रहन-सहन के स्तर का उपभोग कर रहे है, जिसकी कल्पना भी वे ज़ार के समय मे नही कर सकते थे। इसमे कोई सन्देह नही कि अन्य योरोपीय देशों से तुलना किये जाने मे वे कुछ नीचे है, परन्तु रूस मे अब भी निर्माण-कार्य जारी है। उन्होंने अपनी योजनाएं पूरी भी नही कर पाई थी कि उन्हे एक ऐसे महायुद्ध में भाग लेना पड़ा, जिसके समान कोई उदाहरण मानव-इतिहास मे नही मिलता। आक्रमण का पूर्ण वेग उन्ही को सहन करना पड़ा। यदि यह महायुद्ध बीच में न आता तो अब तक उन्होंने अपनी समृद्धि-सूची में और भी बहुत-सी बातें बढ़ा ली होती।

रूसी पद्धति का संगठन सारे देश में जाल के समान फैले हुए सोवियतों (अर्थात व्यावसायिक तथा औद्योगिक समूहों का प्रतिनिधित्व करने वाले मंडलों) पर अवलम्बित है। ये सोवियत कांग्रेसों का संघ महोच्च कांग्रेस के रूप में संगठित है जो देश की सर्वोच्च अधिकारी संस्था है। यह बहुत बड़ी समिति होने के कारण इसका कार्य एक केन्द्रीय कार्य-कारिणी द्वारा होता है, जो सदनीय (ो संसदों में) संगठन है। इसके नीचे २१ सदस्यों की एक

1. Moore and others: Modern Economics, P. 469.

विधान-निर्मातृ-सभा,—प्रेसीडियम है, तथा 'पीपुल्स कोमिसर्स की काउन्सिल' है जो एक छोटी समिति है, तथा मन्त्रिमडल (Cabinet) के समान शासन का सचालन करती है।

२१. समाजवादी राज्य में आर्थिक समस्याएं (Economic Problems in a Socialist State)—रूस ने अपनी विभिन्न आर्थिक समस्याओ का कैसे सामना किया, यह जानना चिकर होगा।

निजी सम्पत्ति (Private Property)—मकान, मोटर, कुछ जानवर तथा अन्य उपभोग सामग्री के रूप मे निजी सम्पत्ति रखना कानून के खिलाफ नही है। सरकारी बाँड तथा प्रतिभूतिया खरीदी भी जा सकती है तथा बैक मे हिसाब रखा जा सकता है। पचास सहस्र रूबल तक की सम्पत्ति उत्तराधिकार में दी जा सकती है परन्तु बिना कमाई की आय पर निर्भर रहना बहुत हतोत्साहित किया जाता है और ऐसी आय पर भारी कर लगाया जाता है।

मूल्यांकन प्रणाली (Pricing System)—स्वतन्त्र व्यक्तिगत पद्धति में मूल्यांकन प्रणाली द्वारा प्रमुख आर्थिक समस्याए अपने आप हल हो जाती है। कुछ अर्थवेत्ताओ, विशेषतया श्रीमती हेयक तथा राबिन्स महोदय का कथन है कि समाजवादी पद्धति के अन्तर्गत विचारयुक्त हिसाब-किताब रखना असम्भव है तथा अधेरे में टटोलना पड़ता है। परन्तु पीगो सरीखे अन्य अर्थ-वेत्ता कहते है कि ऐसा हिसाब-किताब रखने में कोई कठिनाई नही होती। डिकेन्सन का भी कथन है कि मूल्याकन तथा विक्रय-विषयक पूजीवादी यन्त्र का समाजवाद मे प्रयोग किया जा सकता है। रूसियो ने उत्पादित माल के मूल्य निर्धारित किये है। कच्चे माल, मजदूरी, आवागमन तथा अन्य लागत में कुछ थोड़ा-सा लाभ जोड़ दिया जाता है। इसमें कुछ स्वेच्छाचारिता अवश्य है। मूल्यों में उपभोक्ताओ की मांग का कोई पता नही लगता, फिर भी किसी वस्तु की विशेष कमी पर ध्यान रखा जाता है।

श्रम की पूर्ति तथा मजदूरी (Supply of Labour & Wages)—कभी-कभी श्रमिकों को अनिवार्य रूप से भरती होना पड़ा। परन्तु अब यांत्रिक शिक्षा (Technical Training) की बहुत सुविधायें है। शिक्षा का व्यय सरकार इस शर्त पर सहन करने को तैयार है कि शिक्षा के पश्चात् चार-पांच वर्ष की अवधि तक वे सरकारी कारखानों मे काम करे। कार्य का प्रतिफल (मजदूरी) द्रव्य या रुपये के रूप में दिया जाता है और योग्यता, कार्य-कुशलता तथा कार्य-कोटि के आधार पर मजदूरी मे अन्तर होता है। कार्य में कितना श्रम और कितना समय लगता है, इसका परिपूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन करने के पश्चात् मजदूरी का प्रमाप निर्धारित किया जाता है। जिन श्रमिकों को कम समय लगता है, उन्हे कार्य-कुशलता के आधार पर अतिरिक्त पारिश्रमिक दिया जाता है। यदि किसी विशेष कोटि के श्रम की कमी है, तो ऊंचे वेतन का प्रलोभन देना पड़ता है, जिसमें अच्छा और सही श्रम प्राप्त हो सके। कामकरों

को निश्चित कार्य सौपा जाता है, तथा बिना उच्च अधिकारियों कीं स्वीकृति के वे काम नही छोड सकते। आवागमन पर नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है, नही तो योजना पलटने का भय उत्पन्न हो सकता है। युद्ध-काल मे ऐसा नियन्त्रण सभी देशों में लगाना पड़ा था। श्रमिकों को सरकारी कर्मचारियो के समान एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। सरकार मांग के अनुसार पूर्ति का प्रबन्ध करने की व्यवस्था करती है।

वित्त (Finance)—रूसियों ने विदेशी ऋणों को खत्म कर दिया था। अतः विदेशी ऋण मिलने की तो आशा ही नही थी। रुपया बनाना पड़ा। नोट बड़ी संख्या में निकाले गए। मुद्रास्फीति तथा उसके समस्त परिणाम झेलने पड़े,—बढ़े-चढ़े मूल्य और बड़ा महंगा जीवन-निर्वाह। जनता से भी ऋण लिया गया। प्रत्येक श्रमिक को अपने मासिक उपार्जन का कुछ भाग राजकीय बाड खरीदने में लगाना पड़ता था। तत्पश्चात् उद्योगों से आय होने लगी और योजना के आगे बढ़ाने में वित्त-प्राप्ति होने लगी।

लगान (Rent)—एक समाजवादी राज्य में भी लगान के विचार को हटाया नही जा सकता। पूजीवादी आर्थिक व्यवस्था को समाजवादी रूप देने से सीमित भूमि, असीमित नही बन जायेगी। उत्पादन-शक्ति के सूचक के रूप में लगान भूमि को विभिन्न प्रयोगों में वितरण करने में सहायक होगा। समाजवादी राज्य को भी भूमि को एक उपयोग से हटाकर दूसरे उपयोग में लगाना होगा जिससे उसकी सीमांत उत्पादन-शक्ति सब उपयोगों में समान हो जाय। लगान द्वारा सीमांत उत्पादन-शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

व्याज (Interest)—व्याज को समाप्त नही किया गया है। राजकीय ऋण पर राज्य आठ से दस प्रतिशत तक व्याज देता है। व्याज की ऊंची दर से यह प्रगट होता है कि पूजी की मांग और पूजी की प्राप्ति को समतल पर लाने का प्रयत्न किया गया है। व्यक्तिगत खातों पर बैंक भी व्याज देता है। निजी पूंजी के समाप्त हो जाने के कारण पूंजीपतियों को प्रयोगहीन धन के जमा रहने के व्याज के रूप में प्रतिफल नही मिल पाता। राज्य ऋण लेता है, व्याज देता है, और उद्योग का लाभ स्वयं रख लेता है।

समाजवादी व्यवस्था में व्याज का क्या कार्य होता है? जैसा कि हम जानते हैं, पूंजीवादी व्यवस्था में व्याज निम्नलिखित कार्य करता है।

(१) बांड आदि से यह लोगों की आय निर्धारित करता है।

(२) लोगों को पूंजी प्रदान करने के लिये प्रोत्साहन देने में यह आवश्यक है।

(३) यह भावी और वर्तमान आर्थिक मूल्यों को संबंधित करता है:

समाजवादी अर्थव्यवस्था में प्रथम दो बातों का कोई स्थान नही होता। इसका कारण यह है कि पूजी निजी संपत्ति नही होती। लेकिन व्यवस्था के प्रत्येक रूप में व्याज को तीसरा कार्य तो करना ही होगा। पूजी सीमित होती है लेकिन इसके प्रयोग के स्थान असीमित हैं। व्याज की दर यह निर्धारित करती है कि पूंजी किन दिशाओं में प्रयोग की जाय।

निस्सन्देह वे व्यवसाय जहां १२ प्रतिशत व्याज मिलने की संभावना है, उन व्यवसायों से अधिक आकर्षक होंगे जहां केवल १० प्रतिशत आय की संभावना है।

मज़दूरी (Wages)—अन्य उत्पादन-साधनों के विपरीत, श्रम के संबंध में लेखा-कीमत की पद्धति उपयुक्त न होगी क्योंकि श्रम की मात्रा बंधी नही हुई है। लोग कार्यों को अपनी पसन्द के हिसाब से चुन सकते है और यह भी तय कर सकते है कि अधिक काम करें या कम। इसलिये यह आवश्यक है कि वास्तविक बाजार-मजदूरी की दरें निश्चित की जायें। ये दरें विभिन्न बातों पर निर्भर होगी, जैसे काम की पसन्दगी, सहायक धंधों के मिलने के अवसर, श्रमिकों की उत्पादन शक्ति आदि। सीमांत उत्पादन से मजदूरी निर्धारित होगी। अस्तु, समाजवादी राज्य में कोई एक बंधी हुई मजदूरी की दर नही होगी।

उत्पादन के साधनों की बांट (Allocation of Factors of Production) राज्य की योजना बनानेवाला अधिकारी किसी उद्योग से सम्बन्धित उन साधनों को आंकता है, जो उस उद्योग के अधिकतम उत्पादन के सम्बन्ध में आवश्यक होते है। पहले यह निश्चित कर लिया जाता है कि कौन-से उद्योगों को विकसित करना है और किस सीमा तक। उक्त साधनों को उपभोक्ताओं की पसन्द के आधार पर नही, वरन् राज्य के अधिकारियों के निश्चयानुसार प्रवाहित किया जाता है। उदाहरणार्थ, उन्होंने पहले भारी उद्योगों की ओर साधनों को केन्द्रित किया। फलस्वरूप, उपभोग सामग्री का मूल्य अपने आप बहुत बढ़ गया। पूजीवादी पद्धति के अन्तर्गत इस कमी को दूर करने के लिए उत्पादक दौड़ पडेंगे। परन्तु समाजवादी राज्य में प्रवाह इस प्रकार नही बदला जाता। कमी बनी रहेगी। राशनिग और मूल्य नियंत्रण जारी किया जायगा। रूस मे राज्य-प्रणाली द्वारा सामान्य मूल्य-प्रणाली को, जो उपभोक्ताओ के मूल्यांकन के आधार पर साधनों का वितरण करती है, निष्क्रिय कर दिया जाता है। अतः साधनों की बांट, उपभोक्ताओं के मूल्यांकन के आधार पर अवलम्बित रहती है। राष्ट्र के जीवन में अमुक अवधि के लिए सब से उपयोगी क्या है, इसका निर्णय राज्य करता है। उपभोक्ताओं को अपनी मांग राजकीय परिस्थितियों तथा उत्पादन के अनुसार व्यवस्थित करनी पड़ती है।

२२. फ़ासिस्ट योजना (The Fascist Plan)—फासिस्ट सिद्धांतों के प्रधान प्रवर्त्तक मुसोलिनी तथा उनके बड़े साझीदार हिटलर दोनों चले गये हैं, परन्तु जिस आर्थिक पद्धति को वे हमें दे गए है वह अध्ययन करने योग्य है। विशेषतया उन राष्ट्रों के लिए जो उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण किये बिना योजनाधीन अर्थ-व्यवस्था का लाभ प्राप्त करने के लिए चिन्तित हों। उनके लिए उक्त पद्धति विशेषतया उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

फासिज्म का मूल तत्त्व यह है कि भूमि और पूंजी तथा उत्पादन के अन्य साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य है, परन्तु राष्ट्रीय हितों को दृष्टिगत रखते हुए उनकी क्रियान्विति तथा प्रबन्ध का कठोर राजकीय नियमन किया जाता है। व्यक्तिगत उपक्रम तथा

कार्य-प्रेरणा बने रहते हैं, परन्तु उनको राज्य के निर्देशानुसार कार्य करना पड़ता है। लाभ की नोच-खसोट तथा समाज को हानि पहुंचाकर अपनी जेबें भरना तथा कामकरों का शोषण न तो पूजीपति ही कर सकते है और न उपभोक्ता ही।

अनियमित विक्रय-केन्द्रो से हानिया भली-भांति विदित है। भारतीय कृषक को अपने प्रयास तथा लागत का उचित प्रतिफल नही मिल सका है। यह कहन से क्या लाभ है कि मजदूरी उत्पादन के सीमाकन पर अवलम्बित की जाती है जबकि अपना सौदा करने की कमी के कारण कामकर को वास्तव में बहुत कम मिलता है। उपभोक्ता के प्रभत्व की घोषणा करने से क्या लाभ, जब कि उसके साथ वास्तव मे दास-तुल्य व्यवहार किया जाय। एकाधिकारी उसकी खाल खीच लेता है और व्यापारी विज्ञापन द्वारा वशीकरण करके उस पर हावी हो जाता है। भारतीय महाजन किसान की निरक्षरता और असहाय अवस्था का व्याज की अत्यन्त ऊची दरो को वसूल करके पूरा लाभ उठाता रहा। गत महायुद्ध (१९१४-१८) में बम्बई के कुछ कपड़े की मिलों के संचालको ने केवल अपने लाभांशो (Dividends) द्वारा ही अपनी कंपनी का कारोबार चौपट कर लिया। अनियमित अर्थ-व्यवस्था के ये कुछ उदाहरणमात्र है। आर्थिक शक्तियो को छूट दे देने से वे कैसी अन्धी होकर चलती है। माग और पूर्ति का मत्र, जो कई आर्थिक गुत्थियों को सुलझाने वाला कहा जाता है, पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति को मान लेता है। क्या वास्तव में इसका अस्तित्व भी है ? आर्थिक संघर्ष विनिमय के तत्त्वो को निष्क्रिय कर देता है तथा समाज के कुछ विशेष भागो को हानि पहुचाता है।

समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से फासिस्ट राज्य की कुप्रवृत्तियों को रोकना पड़ता है। अनियमित अर्थ-व्यवस्था को नियमित करना पड़ता है, जिसमें कुछ विशेष व्यक्तियों को उस अर्थ-व्यवस्था से हानि न पहुँचे। राज्य अपने कुछ सदस्यों को यह नही करने दे सकता कि वे दूसरों को हानि पहुँचाकर अनुचित लाभ उठायें, क्योंकि वह आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर है। राज्य के लिए पूरे समाज के हितों की प्रधानता होती है और सभी के हित, चाहे वे पूजीपति हों, या कामकर, समस्त राज्य के हितो के नीचे ही है। प्रतियोगिता को उच्छृंखलतापूर्ण नही होने दिया जा सकता। यह आवश्यक नही है कि राज्य की ओर से महत्त्वाकाक्षायुक्त उपक्रम किये जांय। राज्य को पूजी लगाने, उत्पादन का सीधा भार ग्रहण करने तथा कारोबार के प्रबन्ध करने की भी आवश्यकता नही है परन्तु राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग समाज के हितों में उत्पादन आयोजित करने तथा वितरण नियमित करने के लिए कर सकता है।

स्पष्ट है कि फासिज़्म दोनों हाथ लड्डू चाहता है। पूजीवाद के समस्त उपयोगी तत्त्वों को अर्थात् व्यक्तिगत प्रयास और जिम्मेदारी, उन्नति की प्रवृत्ति, कीमतें कम करते हुए उत्पादकों में प्रतियोगिता, उपभोक्ताओं को अधिकाधिक सन्तुष्ट करने के लिए उन की इच्छा-पूर्ति निश्चित रूप में प्रदान करता है परन्तु पूंजीवाद से उत्पन्न बुराइयों को कम

करने के लिए पूजीवाद को राज्य द्वारा नियन्त्रित रखा जाता है तथा राज्य पूजीवाद के क्रिया-कलाप को नियमित करता है, जिसमें बलवान द्वारा निर्बल का शोषण तथा राष्ट्रीय हितो की किसी प्रकार की हानि असम्भव हो जाय। फासिज्म समाजवाद के उपयोगी तत्वों को लेकर उसके खतरनाक तत्त्वों को बचाता है। फासिस्ट राज्य पूजी लगाने की जोखिम नही उठाता और न वर्तमान पद्धति में बहुत बडा उलट-फेर करके उसको पिघलाता है। व्यक्तियों के हाथ में संपत्ति का स्वामित्व तथा उत्पादन के साधनों का प्रबन्ध छोड़ कर फासिज्म भ्रष्टाचार, कार्य-हीनता, नौकरशाही, शासन तथा लालफीते के बोलबाले से बचता है परन्तु पूजीवाद अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की क्षमता, साधन-संपन्नता, उत्साहयुक्त शक्ति को ग्रहण किये रहता है। फासिज्म समाजवादी राज्य के समान योजना बनाता है, परन्तु अधिक जिम्मेदारियों तथा परेशानियों से बच जाता है।

व्यक्तियों के हितो के विपरीत, समाज के हितो की प्रधानता, राष्ट्रीय सामंजस्य को बनाये रखना, विवेकहीन वर्ग-भेद से बचना तथा समाज के साधनो को राष्ट्र के उच्चतम हितो की प्रगति में प्रयोग करना, यही फासिज्म अथवा 'राज्य-नियत्रित पूजीवाद' के प्रमुख लक्षण है।

२३. फासिस्ट संगठन (The Fascist Organisation)—जिस प्रकार के राजकीय नियत्रण को फासिस्ट राज्य द्वारा प्रवर्तित करने का विचार किया जाता है, उसको सुविधाजनक रूप से क्रियाशील बनाने के लिए समुचित आर्थिक सगठन अनिवार्य है। फासिस्ट पार्टी के तथा नियोजको और कर्मचारियो के भी प्रतिनिधियो का समावेश करके प्रत्येक व्यवसाय तथा उद्योग मे सहकारी समितिया या सिडीकेट इटली में बनी। इस प्रकार से स्थानीय सहकारी समिति, प्रातीय सहकारी समिति तथा राष्ट्रीय सहकारी समिति भी थी। नियोजको तथा कर्मचारियो ने अपने अलग संगठन बना रखे थे। प्रत्येक में एक सहकारी परिषद् थी, जो समस्त हितो का प्रतिनिधित्व करती हुई, सर्वोच्च प्रबन्ध-कारिणी थी। प्रत्येक परिषद् मे फासिस्ट पार्टी का प्रतिनिधि इस बात के स्मृति-चिह्न के रूप मे था कि प्रत्येक निश्चय मे राष्ट्रीय हितो का स्थान सर्व-प्रथम है। समस्त सहकारी संगठनो की चोटी पर सहकारियों की राष्ट्रीय परिषद् थी, जो सहकारियो के मत्रिमंडल के नीचे कार्य करती थी। यह राष्ट्रीय परिषद् समस्त आर्थिक नीति निर्मित करती थी तथा बड़े-बडे आर्थिक निश्चय करती थी। यह देश की समस्त आर्थिक क्रियाओ में सामजस्य स्थापित करती, आर्थिक योजना बनाती तथा उसे कार्यान्वित करती थी।

जर्मनी में भी ऐसी स्वशासित समितियो का सगठन प्रत्येक उद्योग तथा व्यवसाय मे होता था, जो समस्त अन्तर्ग्रस्त का प्रतिनिधित्व करते थे। सब से ऊपर अर्थमंत्री के निर्देशानुसार तथा उसकी देख-रेख मे कार्य करनेवाली राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् थी। इस परिषद् पर पूरे देश के आर्थिक जीवन को आयोजित तथा नियमित करने का तथा उसको एक मार्ग पर चलाने का दायित्व था। नियोजकों तथा कर्मचारियों के अलग संगठन

नहीं हो सकते थे, जब कि इटली में हो सकते थे। दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व करने वाला एकमात्र संगठन अर्थात् लेबर फ्रंट (मजदूर-मोर्चा) था।

यह है वे आर्थिक पद्धतियां, जिनको कि संसार अब जान गया है। प्रत्येक देश अपनी परम्परा तथा अपनी जनता के उच्च-कोटि के मस्तिष्क के अनुकूल पद्धति विकसित करेगा।

निर्देश पुस्तकें

Taylor and Lange—On the Economic Theory of Socialism.
Mises—Socialism.
Joad—Modern Political Theories.
Cole—Principles of Economic Planning.
Dickenson—Economics of Socialism.
Robbins—Economic Planning.
Pigou—Capitalism Vs. Socialism.
Hayek—Collectivist Economic Planning.
Lewis—Principles of Economic Planning.
Dobb—Studies in Development of Capitalism.
Meade—Planning & Price Mechanism.
Robinson—Essay on Marxian Economics.
Wootton—Freedom Under Planning
Harris—Economic Planning.
Govt. of India—First Five Year Plan

अध्याय ५०

नियोजन-सिद्धान्त

(THEORY OF EMPLOYMENT)

१. संपूर्ण उत्पत्ति और नियोजन (Aggregate Output and Employment)—पूर्व अध्यायों में हमने मुख्यतः उत्पादक साधनों की कीमत निश्चित करन वाले सिद्धान्तों तथा उनके विभिन्न उपयोगों के वितरण का अध्ययन किया है। मूल्य और नियोजन का सिद्धांत मुख्यतः इन सिद्धांतों के साथ सम्बन्धित है। अब हम एक नवीन एवं अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश करते है। अब हमारा ध्यान अर्थ-व्यवस्था के खंडित भागों से संपूर्ण रूप की अर्थ-व्यवस्था की ओर जाता है। अब हम वस्तुओं और सेवाओं की कुल उत्पत्ति और इन वस्तुओं तथा सेवाओं को उत्पन्न करने वाले उत्पादक साधनों के कुल नियोजन का अध्ययन करेंगे। जिस समस्या की हमें जांच करनी है, वह यह है : कुल उत्पत्ति और नियोजन के स्तर का, और एक से दूसरे वर्ष के इस स्तर में घटा-बढी का कैसे निश्चय होता है ? इस प्रकार प्रस्तुत समस्या के दो रूप है—प्रथम, संपूर्ण उत्पत्ति और नियोजन का निश्चय; द्वितीय, व्यापार और उद्योग में परिवर्तनों के कारण इस स्तर में घटा-बढ़ी। द्वितीय रूप औद्योगिक उतार-चढ़ाव के उस सिद्धांत का द्योतक है, जो साधारणतया व्यापार-चक्र कहलाता है।

२. से का बाज़ार-संबंधी नियम (Say's law of Markets)—निःसन्देह, संपूर्ण उत्पत्ति और नियोजन की इस समस्या पर प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने भी ध्यान दिया था। अनेकों की इस अशुद्ध धारणा के विपरीत, नियोजन के प्राचीन सिद्धांत का अस्तित्व है। इस सिद्धांत का न्यूनाधिक स्पष्ट शब्दों में प्रसार करनेवाला सर्वप्रथम अर्थशास्त्री जीन बैप्टिस्ट से (Jean Baptiste Say) था। से भौतिकवादी मत (Physiocratic School) का फ्रांसीसी अर्थशास्त्री एवं एडम स्मिथ का प्रबल अनुयायी था। से ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि समस्त रूप में अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन-आधिक्य हो ही नही सकता। पूर्त्ति स्वतः अपनी मांग उत्पन्न करती है और फलतः किसी समुदाय के अन्तर्गत वस्तुओं और सेवाओं का कुल बहाव, बशर्ते कि वह आवश्यक है, शीघ्र अथवा देरी में अपने उपभोक्ताओं को पा लेगा। यदि मांग और पूर्त्ति में असमता जान पड़ेगी तो वह उस समय तक अस्थायी होगी जब तक निजी निर्माता अथवा राज्य द्वारा एकाधिकारी नियंत्रण नही किया जाता। यह मान कर कि विभिन्न बाजारों में हस्तगत अंशों के स्वतन्त्र समन्वय के लिए पर्याप्त क्षेत्र और समय है, और जो लोग उन्हें हस्तगत करते हैं, उनमें न्यूनाधिक पूर्ण दूरदर्शिता है, एक बाजार

का उत्पादन-आधिक्य किन्ही अन्य बाजारों के न्यून-उत्पादन द्वारा प्रति-संतुलित (Counter-balanced) हो जायगा। इस प्रकार, सभी बाज़ारों में एक ही समय पर उत्पादन-आधिक्य नही हो सकता। इसी प्रकार, सम्मिलित रूप में सभी बाजारों में न्यून उपभोग नही हो सकता। से और उसके अनुयायियों ने उन उपायों द्वारा अनियोजन (बेकारी) की व्याख्या करनी चाही कि जिन्हें वे निर्माण अथवा संघर्ष-संबंधी बाधाएं कहते थे। ऐसी एक बाधा उच्च मज़दूरी के प्रत्युत्तर में श्रमिकों के एक काम से दूसरे काम में अथवा एक से दूसरे स्थान में जाने की अनिच्छा थी। एक अन्य बाधा निर्माताओं की इस अनिच्छा के कारण थी कि वे अपने निजी उद्योग से बाहर के लाभ-सीमांतों का उपयोग करने को तैयार नही थे। तिस पर भी एक अन्य, वस्तुओं की पूर्त्ति पर एकाधिकारियों के नियंत्रण की थी। प्राचीन अर्थशास्त्री इन सब बाधाओं को अनुचित मानते थे। जब तक इन सब का अत नही होगा, अनियोजन या बेकारी का उपचार नही हो सकता। इस बात का समर्थन किया जाता था कि राज्य को चाहिए कि वह अपनी पूरी शक्ति के साथ इन्हे नष्ट करे जिससे कि अर्थ-व्यवस्था में स्वतन्त्र और पूर्ण प्रतियोगिता हो सके। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अनियोजन पर विजय पाने के लिए यह विशिष्ट उपचार निर्धारित किया था कि श्रमिकों को उस समय मज़दूरी की कटौती स्वीकार कर लेनी चाहिए जब उनके समक्ष गिरती कीमतों तथा अल्प वृत्तियों की समस्या उपस्थित हो। चूकि मंदी में कीमतें सामान्य स्तर से भी नीचे गिर जाती है, इसलिए मजदूरी की कटौती, बशर्ते कि वह कीमतों की न्यूनता के समान नहीं है, श्रमिकों को आघात नही पहुँचा सकती। उनकी वास्तविक मजदूरी उस समय तक न्यून नही होगी जब तक कीमतें प्रबलता के साथ न्यून नही होती। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुओ और सेवाओं की टोकरी, जिसमें वह सब-कुछ है जिसका वे सामान्यतया उपभोग करते है—उनके जीवन-यापन के स्तर का ठोस चिह्न—उनकी मजदूरी में कटौती के बावजूद भी छोटी नही होगी। प्राचीन अर्थशास्त्रियों का मत है कि मंदी के काल में भी यदि श्रमिक संघ कम मज़दूरी को स्वीकार करने से इंकार करते है तो वे मूर्ख है, और इसके फलरूप मंदी का पूर्ण उपचार नही किया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में हम आगे अधिक अध्ययन करेंगे।

३. से के नियम की कमजोरियां (Weaknesses of Say's Law)– यहां तक कि से के जीवन-काल में भी उसके बाजार-सम्बन्धी नियम की कडी आलोचना हुई थी। यद्यपि नियोजन के प्रभुत्वकारी सिद्धान्त के रूप में समूची उन्नीसवी सदी और प्रस्तुत सदी की लगभग तीन दशाब्दियो में इस नियम का प्रभाव रहा तथापि यह आलोचना भी निरन्तर बनी रही। सर्वाधिक प्राचीन आलोचक टी. आर. मालथस था, जो जनसंख्या के सिद्धांत का प्रणेता है। मालथस का मत था कि सम्पूर्ण मांग और सम्पूर्ण पूर्त्ति, अर्थात् परिबद्ध अर्थ-व्यवस्था में कुल उत्पादन और कुल उपभोग के बीच किसी प्रकार की अनिवार्य दीर्घकालिक समता नही है। यह न केवल सम्भव है प्रत्युत बहुधा सम्भव भी है कि दोनों

असमान रहें, जिसके कारण वस्तुओं और सेवाओं की बार-बार बहुलता और दुर्लभता हो। इस बात के बावजूद भी कि प्रख्यात प्राचीन अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो ने से के नियम का पक्ष लिया, पर मालथस अपनी धारणा के प्रति दृढ़ रहा। से का एक अन्य आलोचक कार्ल-मार्क्स था। उसने भी इस बात को अस्वीकार किया कि सामाजिक मांग और पूर्ति के बीच सदैव और अनिवार्यतः समता होनी ही चाहिये। इतने समय के अन्तर में हम से के नियम के पूर्ण अर्थों को भली प्रकार ग्रहण कर सकते है। यदि मांग और पूर्त्ति के स्वतन्त्र और पूर्ण समन्वय पर किसी प्रकार के अवरोध नही; यदि विनियोजन (Investment) के चरण सदा नयी वस्तुओं और सेवाओ की माग के समान रहते है, यदि लोग स्वेच्छापूर्वक बचत का नित नया विनियोजन करते है, केवल तभी से का नियम स्थिर रहेगा और सामान्य उत्पादन-आधिक्य असम्भव बन जायगा। किन्तु वास्तविक जगत् मे इन निरोधात्मक धारणाओं की उपलब्धि नितांत कोरी और अवास्तविक है। इस प्रकार सैद्धातिक आधारों पर सामान्य उत्पादन-आधिक्य सभव है, और फलस्वरूप अनियोजन भी। से के अनुसार अर्थ-व्यवस्था का एक ऐसा चित्र था, जिसमे वस्तुओं और सेवाओं की प्रभावकारी माग सदा एक स्तर पर रहती है, जहा काम की खोज करने वालों को काम मिल सकता है और जहां अनियोजन, जो स्वेच्छया नही है, विद्यमान नही। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था की दशा को पूर्ण नियोजन कहा जाता है। ज्यो-ज्यो हम आगे अध्ययन करेगे, इसके अर्थ स्पष्ट होते जायेगे।

४. नियोजन का आधुनिक सिद्धान्त (The Modern Theory of Employment)–समूची उन्नीसवी सदी मे अनेको तेजिया और मदिया हुई और प्रस्तुत सदी के प्रारम्भिक भाग तक ये बनी भी रही, किन्तु सन् तीस की महान् मदी इन सबमें महान् थी। इस प्रकार की तेजियो और मदियों का बारम्बार होना अनियोजन के प्राचीन सिद्धान्त के लिए गभीर चुनौती थी, और तिस पर यह तेजिया और मदियां ऐसी थी कि प्राचीन सिद्धान्त उनका समुचित स्पष्टीकरण भी नही कर सका। क्योकि प्राचीन सिद्धान्त ऐसी दुनिया पर लागू होता था, जहा स्वतन्त्र और पूर्ण प्रतियोगिता हो; जहा किसी प्रकार के सघर्ष न हो, जिसमें श्रमिक सघ सदा विवेकपूर्ण आचरण करते हो और जिसमें दीर्घ-कालिक प्रवृत्तियों में सदा सफलता प्राप्त होती हो।

किन्तु अब १९३० की महान् मन्दी के कारण सब अर्थशास्त्रियों को प्रारम्भिक मूल-तत्त्वो से लेकर नियोजन-सिद्धान्त पर विचार करना पड़ा। और फलस्वरूप एक नवीन सिद्धान्त का जन्म हुआ जो प्राचीन की अपेक्षा पूर्णतया भिन्न था। इसका सर्वप्रथम निर्माण जान मेनार्ड कीन्स (John Maynard Keynes) ने किया था जो असंदिग्ध रूप मे आधुनिक काल के महान् अर्थशास्त्री है। १९३६ में उनका "General Theory of Employment, Interest & Money" (नियोजन, व्याज और द्रव्य का सामान्य सिद्धान्त) नामक विख्यात ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। कीन्स ने क्राति-

कारी उग्रता के साथ अपने विचारों को उपस्थित करने की चेष्टा की और ऐसा करते हुए उन्होने, अपने मतानुसार नवीन का निर्माण करने से पूर्व जो कुछ भी पुराना था, उस सारे को नष्ट करने की चेष्टा की। इससे उन लोगों की ओर से अनावश्यक विरोध उत्पन्न हुआ जो प्राचीन विचारो पर स्थिर थे। फलस्वरूप प्राचीन और कीन्सवादी विचारधाराओं में बड़ा भारी विवाद उत्पन्न हो गया, और अभी हाल ही में इसकी इति हुई है । अब तो इसका बहुत बडा अंश अर्थहीन भी हो गया है और हम समझते है कि उससे हमारा कोई सम्बन्ध भी नही। इससे आगे हम आय-उत्पत्ति और नियोजन के स्वीकृत मूल तत्वों को उपस्थित करने की चेष्टा करेगे।

५. सामाजिक आय और उत्पत्ति (Social Income & Output)— किसी अर्थव्यवस्था के संपूर्ण दृष्टिकोण को जानने के लिये कुछ आधारमूलक धारणाओ के साथ आगे बढ़ना आवश्यक है। सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय या उत्पत्ति है, जो सामाजिक आय जैसी ही वस्तु है। यह वस्तुओं और सेवाओ के बहाव का द्रव्य-सम्बन्धी मूल्य है, जो अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत समय की एक इकाई, जैसे कि एक वर्ष में, उत्पन्न किया जाता है। इस तरह नापी गई वार्षिक राष्ट्रीय आय सकल (gross) रूप में मानी जा सकती है, अर्थात् मूल्य ह्रास और नकारा करने (depreciation & obsolescence) यानी टैक्नीकल ज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप पूजीगत यत्रों की घिसाई और टूट फूट के लिये किसी प्रकार की छूट दिये बिना। यह कुल राष्ट्रीय आय है। कोई राष्ट्रीय आय के विषय में मूल्य ह्रास और घिसाई के लिये छूट देकर उसके विशुद्ध रूप पर भी विचार कर सकता है। तब यह विशुद्ध राष्ट्रीय आय होगी। विशुद्ध राष्ट्रीय आय में निम्न दो मुख्य साधन सहायक है : प्रथम, निजी आय, और दूसरी सरकारी आय। प्रथम सहायक व्यक्तिगत, और द्वितीय सम्मिलित आय द्वारा निर्मित होता है। इसके विपरीत, सरकारी आय स्थानीय प्रान्तीय (एकात्मक) और केन्द्रीय अधिकारियो की आय के मेल से बनती है। यह विशुद्ध राष्ट्रीय आय सदा विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति के बराबर होती है जो विशुद्ध राष्ट्रीय व्यय के भी बराबर होती है, क्योकि एक अवधि मे उपार्जित सारी आय खर्च की गई आय के समान होती है। विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति सदा उपभोग वस्तुओं, वस्तुओं के विनियोग और खंड लागत पर अंकित मूल्य की सब प्रकार की सेवाओं के कुल-योग से बनती है। अब यह उत्पत्ति सदैव उत्पादन के साधन को किये गये भुगतान के बराबर होगी। इसमे उपक्रमी का लाभ पारितोषिक-मात्र ही होगा। इससे परिणाम यह निकला कि राष्ट्रीय व्यय राष्ट्रीय उत्पत्ति के मूल्य के बराबर हो जाता है। राष्ट्रीय आय का व्यय करने के दो मार्ग है। एक तो इसके उपभोग का है, और दूसरा बचत का। बचत उपभोग नहीं है, क्योंकि इसमें उपभोग से परे रहने का निर्णय निहित है। इसके विपरीत, राष्ट्रीय उत्पत्ति उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य और पूजीगत वस्तुओं के मूल्य के समान होती है। इस प्रकार हमें निम्न एकात्म्य प्राप्त होता है।

प्रत्येक नियत काल-अवधि में

राष्ट्रीय आय = प्रचलित उपभोग + प्रचलित बचत

राष्ट्रीय व्यय = प्रचलित उपभोग + प्रचलित विनियोग

चूंकि राष्ट्रीय आय राष्ट्रीय उत्पत्ति के समान है और उपभोग वस्तुओं का मूल्य भी राष्ट्रीय उपभोग के ही समान है, तो इससे परिणाम यह निकला कि बचत वस्तुओं के विनियोग मूल्य या प्रचलित विनियोग के समान होती है। निःसंदेह हम दोनों शब्दावलियों को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं–बचत और विनियोग जिससे कि उन्हें तदात्मक बनाने की बजाय उन्हें एक दूसरे से भिन्न किया जा सके।

६. बचत और विनियोग (Saving and Investment)—अब हम बचत और विनियोग के वास्तविक अर्थ को समझने का प्रयत्न करेगे। जब एक व्यक्ति बचत करता है, तो वह उपभोग स्थगित करने का निर्णय करता है और वैसा करने पर उसे उस आय को भविष्य में व्यय करने का स्वत्व हो जाता है। सभव है उसकी बचत विभिन्न रूप ग्रहण करे। वह कुछ नकदी भविष्य के उपभोग के लिए रख सकता है, वह अपने द्रव्य को बैंक के चालू या सावधि खाते मे जमा करा सकता है; वह सरकार को ऋण दे सकता है और प्रतिभूतियाँ खरीद सकता है, अथवा किसी कंपनी को ऋण दे सकता है और औद्योगिक या व्यापारिक हिस्से क्रय कर सकता है; अथवा उन्हें छोड़ कर, वह एक मकान या किसी प्रकार की अन्य पूजीगत वस्तुओ का निर्माण कर सकता है। जो भी हो, बचत के ये सब रूप व्यक्तिगत है, क्योकि यह आवश्यक नही है कि किसी व्यक्ति की बचत करने की क्रिया समाज की बचत की क्रिया पर भी लागू हो। वस्तुतः, ऐसा तो हो सकता है कि एक व्यक्ति ऐसे ढंग से बचत करे कि उसमे एक अन्य व्यक्ति की बचत की अयोग्यता का समावेश हो। यदि एक व्यक्ति स्कद विनिमय मे किसी अन्य बाजार से हिस्से क्रय करता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि पहले ने तो बचत की है जबकि दूसरे ने बचत की अयोग्यता। यदि एक व्यक्ति एक अन्य से एक मकान क्रय करता है, तब भी यही बात होगी। ऐसी अवस्थाओं में एक व्यक्ति की बचत एक अन्य व्यक्ति की बचत करने की अयोग्यता के कारण शून्य हो जायगी और किसी प्रकार की सामाजिक बचत भी नही होगी। जब समाज बचत करता है, अर्थात् उपभोग को स्थगित करता है, तो उसकी बचत के फल का विभिन्न रूप में उपभोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, सरकार नये ऋण जारी कर सकती है, और उनसे नयी सड़कें और भवन बना सकती है। एक नवीन औद्योगिक कंपनी जारी की जा सकती है और बाज़ार मे नये हिस्से उपस्थित किये जा सकते है, जिनसे नयी वस्तुओं का निर्माण हो सकता है, नये मकान बनाये जा सकते है, अथवा इनके अलावा सरकार या निजी उद्योग या व्यापार अपनी कार्यकारी पूजी में कच्चे पदार्थो, अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं या पूर्ण निर्मित वस्तुओं के स्कंदों के रूप मे वृद्धि कर सकते है। जब इस तरह की सामाजिक बचतें होती है तो इससे पूजी के स्कंद में विशुद्ध वृद्धि, अर्थात् नव-पूजी निर्माण हो जाता है। यह विनि-

योग का दूसरा नाम है। उपरांत, हम प्रतिदिन के प्रयोग में अपनी आय को तब "विनियोजित" कह सकते है जब हम स्वतः भावी आय का कोई स्वत्व क्रय करते है। किंतु निजी विनियोग का यह रूप व्यक्तिगत विनियोग की अयोग्यता के साथ-साथ भी चल सकता है और दोनों क्रियाएं एक दूसरे को काट भी सकती है। सामाजिक विनियोग निश्चयात्मक होता है और अनिवार्यतः व्यक्तिगत विनियोग मे प्रकट नही होता।

७. आय कैसे उत्पन्न की जाती है? (How Income is Generated)– अब हमें देखना है कि सामाजिक या राष्ट्रीय आय कैसे उत्पन्न की जाती है। हम सबको ज्ञान है कि हम तब तक कोई आय उपार्जन नही कर सकते जब तक कि हमारी विक्रय की वस्तु को कोई लेने के लिए तय्यार न हो। यह हमारी निर्मित वस्तुएं भी हो सकती है अथवा अन्य ऐसा कार्य हो सकता है जिसे हम मजदूरी या वेतन के लिए करना चाहते है। सो यह कार्य या वस्तुए उनके विक्रय की सभावनाओं के अनुकूल उत्पन्न करनी होगी। समाज में वस्तुओ के स्टाक में किसी प्रकार की वृद्धि के लिए पूजी निर्माण या विनियोग आवश्यक होगा। अन्य शब्दो में, हम तब तक किसी प्रकार की आय का उपार्जन नही कर सकते जब तक हम सामाजिक उत्पत्ति के स्टाक में वृद्धि नही करते। यह, वस्तुतः इस प्रश्न का आधार है कि आय कैसे पैदा की जाती है, क्योकि वह सामाजिक उत्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि कर रहा होता है, और क्योंकि वह उत्पादन के विभिन्न अशों का भुगतान कर रहा होता है। जब इस प्रकार की वृद्धि होती है, तो आय का स्रोत उत्पन्न हो जाता है। यह आय का स्रोत उत्पादन के साधनों को किये भुगतान के बराबर होता है। यह इस कथन का केवल दूसरा रूप है कि सामाजिक उत्पत्ति में किसी प्रकार की वृद्धि के साथ-साथ साधन-लागतों या साधन-भुगतानों में भी समान वृद्धि होगी। अब ये साधन-भुगतान वही स्थिर नहीं रहते जहां भुगतान किये गए थे। एक श्रमिक को उपार्जन के बाद तत्काल ही अपनी मजदूरी संबंधी आय का व्यय करना होता है। उसे अपने लिए भोजन, वस्त्र, अन्य आवश्यकताएं और सुविधाएं क्रय करनी होती हैं, और ऐसा करते हुए वह अपनी उपार्जित आय को उन दूकानदारों के हाथों में दे देता है जिनसे वह अपने लिए सामान खरीदता है। सो, आय के हस्तांतरण का यह चक्र एक से दूसरे तक निरंतर चलता रहता है। किंतु प्रत्येक चक्र पूर्व की अपेक्षा छोटा होता है। क्योंकि जब एक व्यक्ति अपनी आय प्राप्त करता है तो वह सारी की सारी खर्च नहीं कर डालता, प्रत्युत उसके एक भाग को भावी उपभोग के लिए अपनी बचत के रूप में रोक लेता है। जिन चक्रों में यह विधि चलती है, इसे निम्न रूप में अंकित किया जा सकता है :

मान लो एक व्यक्ति सौ रुपया उपार्जन करता है। पहली तारीख को वह अपनी बचत के रूप में $\frac{१}{१०}$ रख लेता है और शेष खर्च डालता है। उसका लेखा इस प्रकार होगा : **आय** १०० रु०=९० रु० **उपभोग** +१० रु० **बचत**। ९० रु० की जिस राशि को वह खर्च करता है, वह किसी दूकानदार के हाथों में चली जाती है। अब अपनी बारी के रूप

में दुकानदार को यह आय खर्च करनी है। मान लीजिये कि वह भी $\frac{१}{१०}$ भी बचत करता है और शेष खर्च कर डालता है। उस का लेखा इस प्रकार होगा : **आय** ९० रु०=**उपभोग** ८१ रु० +९ रु० **बचत**। इस दुकानदार का ८१ रु० का व्यय समाज की अन्य परतों में घूमता है। मान लीजिए कि वह थोक के दुकानदार के हाथों में जाता है और वह भी $\frac{१}{१०}$ की बचत करता है और शेष खर्च कर डालता है। अब हमारी ८१ रु० की **आय**=७२.९ **उपभोग** + ८.१ **बचत** के है। थोक दुकानदार अपनी आय का $\frac{९}{१०}$ श्रमिकों, ठेकेदारों आदि पर खर्च करता है। जब ये लोग अपनी आय उपार्जन करेंगे तो वे भी, अपने तौर पर, $\frac{१}{१०}$ की बचत कर सकते हैं और शेष खर्च, जिससे ७२.९ रु० का व्यय ६४.६१ **उपभोग**+७.२९ **बचत** के समान हो जायगा। व्यय के ये चक्र निरंतर चलते जायंगे और इस रूप में अल्प होते जायंगे कि इसका प्रत्येक अनुवर्ती सदस्य पूर्व की अपेक्षा लघु होगा। चूकि ये क्रम अल्प हो रहे है इसलिए उन्हे सहज ही संयुक्त किया जा सकता है। संपूर्ण क्रमों, अर्थात्, व्यय के सब चक्रों की राशि १०० रु० के मूल-व्यय से दस गुना होगी। अन्य शब्दों में, १०० रु० का मूल-व्यय १००० रु० के संपूर्ण व्यय को जन्म देगा। अब नव-निर्मित आय और मूल आय का संबंध बचत और आय के अनुपातानुसार एक निश्चित संबंध का होगा। यदि यह अनुपात $\frac{१}{१०}$ है, तो उत्पादित आय मूल व्यय से दस गुना बड़ी होगी। यदि अनुपात $\frac{१}{५}$ है, तो उत्पादित आय मूलव्यय से नौ गुना होगी, और इसी प्रकार अन्य भी। सो इस तरह जितनी बार मूल पूजी व्यय फैलता है, उसे विनियोग गुणक कहते हैं। हमने ऊपर जो उदाहरण दिया है, उसमें गुणक १० रु० है। यह किसी नये विनियोग के फलरूप उत्पादित नयी आय की राशि को नापने का उपयोगी साधन है। हम आगे देखेंगे कि इस साधन की सहायता से हम अधिक प्रभाव के साथ अनेक समस्याओं का निराकरण कर सकेंगे।

८. नियोजन के निर्णायक (Determinants of Employment)—अब हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिये कि नियोजन का आकार कैसे निश्चित होता है? किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप के अभाव में और बाजार संबंधी स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था में, निजी व्यापारियों और व्यवसायों के नये व्यापार और उद्योग में विनियोग के निर्णय पर श्रम और पूंजी का नियोजन निर्भर करता है। यही वह विनियोग के निर्णय हैं, जो इस समस्या के निराकरण की मूल कुंजी है। तो अब यह देखना है कि विनियोग संबंधी ये निर्णय किस आधार पर किये जाते है? प्राचीन अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि य व्याज की दर पर, अर्थात् ,नयी पूजी की पूर्त्ति-कीमत, अथवा विनियोजन योग्य राशियों पर निर्भर करते हैं। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार, व्याज दर की न्यूनता निजी पूजीपतियों को अधिक धन ऋण लेने और उसे नये व्यापार और उद्योग में लगाने की प्रेरणा करती है, जिसके कारण नियोजन के आधार में वृद्धि होती है। फलस्वरूप, यह निष्कर्ष निकाला गया कि यदि किसी प्रकार का अनियोजन हो और यदि निजी पूंजीपतियों को इसके

उपचार के लिए प्रभावित करना हो तो व्याज की दर को कम करना होगा। लेकिन यह प्राचीन दृष्टिकोण वास्तविक मंदी में कभी सफल नही हुआ। उदाहरणार्थ, विगत महान् मंदी के समय इंगलैंड मे बैक दर कम की गई थी, द्रव्य सस्ता किया गया था। किंतु इतने पर भी निजी विनियोग असफल रहा। प्राचीन दृष्टिकोण में मुख्य दोष यह है कि वह विनियोग और नियोजन के निर्णायक रूप में व्याज दर को अत्यधिक महत्त्व देता है।

गंभीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम होगा कि व्यवसायी और व्यापारी भविष्य में लाभ बनाने की आशा मे विनियोग के लिए ऋण लेने को प्रेरित है। तात्पर्य यह कि जब वे सोच लेते है कि उनके विनियोग की योजनाएं परिपक्व हो सकती है और पूजीगत योजनाओं से लाभ होना शुरू हो गया है। किसी भी व्यापार के लिए योजनाएं बनाने और पूर्ण करने के बीच पर्याप्त समयातर होता है। यह समय ६ मास से एक वर्ष और डेढ़ वर्ष अथवा अधिक भी हो सकता है। इस प्रकार, लाभ प्राप्त करने की आशा पूंजीपतियों के विनियोग-संबंधी निर्णयों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यदि अधिक लाभों की आशा है तो वह महंगी दरों पर भी ऋण लेने के लिए प्रेरित होंगे और यदि लाभों की कम आशा होगी तो भले ही कितनी भी सस्ती दरें क्यों न हों, वे ऋण लेने को तय्यार नही होंगे। साम्यावस्था मे व्याज-दर के कारण ऋण की लागत को उसके मूल्य के ऊपर विनियोग के (भावी) प्रत्याय की सीमांत दर, अर्थात् भावी लाभ की सीमान्त दर के बराबर करना होगा। नियोजन तब तक उन्नत नही हो सकता जब तक कि लाभ की आशा उज्ज्वल नही होगी। इस प्रकार की आशा के अभाव में, साख को चाहे जितना सस्ता किया जाय, विनियोग के आकार में प्रभावपूर्ण वृद्धि नही हो सकती।

जब व्यापार और उद्योग मदे हों और पूजीपतियों का भविष्य संबंधी दृष्टिकोण निराशावादी हो, तो मंदी हो जाती है और बेकारी उत्पन्न हो जाती है। यही वह समय होता है जब सरकार इस क्षेत्र में उतर कर और विनियोग का कार्य स्वतः अपने ऊपर लेकर परिस्थिति की रक्षा कर सकती है। सरकार सडकें, मकान, पुल और ऐसी अनेक सार्वजनिक उपयोग की वस्तुएं बना सकती है, जिससे अर्थ-व्यवस्था के भिन्न भागों में बेकार साधनों का उपयोग हो सके। इन साधनों के एक बार नियोजित होने पर निजी लाभ की आशा पर प्रभाव होता है और निजी पूजीपति उन्हे ग्रहण करते है। हम पूर्वतः देख चुके है कि प्रारंभिक विनियोग किस प्रकार विनियोग की लहरों अथवा अनुप्रेरित विनियोग को उन्नत करता है। सरकारी विनियोग के गुणक प्रभावों को शीघ्र ही तब अनुभव किया जाने लगता है जब सरकार सार्वजनिक व्यय का कार्यक्रम उपस्थित करती है। इस प्रकार की सरकारी कार्यवाही को अंग्रेजी में पम्प-प्रिमिंग (Pump Priming) कहते है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार सर्वथा उदासीन दृष्टिकोण (राम-भरोसे पर आधारित) नही अपना सकती। उसे क्रियाशील रहना होगा और जब व्यापार

तथा उद्योग शिथिल हों तो उसे विनियोजन और नियोजन के क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहिये। स्वतंत्र बाजार-संबंधी अर्थव्यवस्था के पूर्ण एवं स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने के लिए यह वस्तुतः आवश्यक है कि उसे इस सक्रिय रूप को पूर्ण करना चाहिये तथा नियोजन का उच्च एवं सुदृढ़ स्तर स्थिर रखना चाहिये। मंदी काल में सरकार को अपने उपार्जनों की अपेक्षा अधिक खर्च करना चाहिए, तात्पर्य यह कि, उसे घाटे के बजट बनाने चाहिएं; किन्तु, यदि तेजी हो तो उसे अपने उपार्जनों की अपेक्षा कम खर्च करना चाहिये, और इस प्रकार बचत के बजट बनाने चाहिए। इस भांति सरकार अपने बजटों को प्रतिवर्ष नही प्रत्युत कुछ वर्षों में संतुलित करने की चेष्टा करती है, जिससे आर्थिक कार्य-कलाप और नियोजन उच्च एव सुदृढ़ स्तर पर स्थिर रखे जा सकें।

९. पूर्ण-नियोजन का विचार (The Concept of Full Employment)—उक्त विचार-विनिमय के आधार पर हम पूर्ण नियोजन के विचार पर पहुच जाते है। नियोजन तब पूर्ण कहा जाता है जब किसी को काम की आवश्यकता हो तो उसे वह मिल सके। नि.सदेह, पूर्ण नियोजन का आशय अनियोजन का सर्वथा अभाव न तो समझना चाहिए और न ही समझा जा सकता है। क्योकि, किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मे अनियोजन की कोई सीमा तो होगी ही। प्रथमतः, कुछ लोग ऐसे है, जो किसी कारणवश अनियोजित (बेकार) रहना पसंद करते है, और उन्हे थोडे ही समय के लिए, चाहे जितना भी प्रलोभन क्यो न हो, कार्य करने की प्रेरणा नही की जा सकती। द्वितीयतः, कुछ लोग ऐसे है, जो एक कार्य को छोड कर दूसरे की खोज करते है, और उन्हें एक कार्य को छोड़ कर दूसरे तक पहुंचने के मध्यकाल तक बेकार रहना पडता है। इसके बाद, कुछ लोग ऐसे है, जिन्होने अपने पुराने कार्य को छोड दिया होता है, और उन्हे नया काम सीखने में कुछ समय लगाना पडता है। उस सीखने के काल में वे अस्थायी होते है और उन्हे कोई पारिश्रमिक नही मिलता अथवा मिलता भी हो तो नाममात्र का भत्ता मिलता हो। बेकारों में ऐसे सब लोगों की संख्या ३ से ५ प्रतिशत अथवा अधिक भी आंकी जा सकती है। इस सीमा को छोड़ कर, शेष प्रभावी मनुष्य-शक्ति नियोजन के लिए उपलब्ध होती है। नियोजन तब पूर्ण कहा जाता है जब यह श्रम-शक्ति, जो सपूर्ण मनुष्य शक्ति की ९५ से ९७ प्रतिशत है, पूर्ण रूप से नियोजित हो। नियोजन का ऐसा उच्च स्तर व्यापक युद्ध के समय ही पूर्णरूपेण दृष्टि-गोचर होता है। किंतु समस्या तो इसे शांतिकाल मे प्राप्त करने की है। वस्तुतः, प्रत्येक स्वतंत्र बाजार-संबंधी अर्थ-व्यवस्था की यह सबसे जटिल समस्या है।

हमारे उक्त विचार-विनिमय के आधार पर पूर्ण नियोजन प्राप्त करने तथा स्थिर रखने संबंधी सामान्य मूलतत्त्वों को सहज ही ग्रहण किया जा सकता है। प्रथमावस्था में, सरकार को चाहिए कि वह सार्वजनिक विनियोग की समुचित नीति द्वारा बारंबार होने वाली मंदियों की प्रतिक्रिया करे। इसके विपरीत, उसे उस काल में सार्वजनिक विनियोग

में कटौती करनी चाहिए और द्रव्य को महंगा बनाना चाहिए जब कि व्यापार और उद्योग में तेजी हो और विनाशकारी सट्टे संबंधी कार्यकलाप हों। द्वितीयतः, उसे इस ढंग से योजना करनी चाहिए, और उद्योग स्थापना के विषय में भौगोलिक दृष्टिकोण को समक्ष रखना चाहिये कि अनियोजित पुरुषों और स्त्रियों के समूह मदी वाले क्षेत्रों में, जहां वे रहते हों, कार्य प्राप्त कर सकें। यह कार्य को श्रमिकों तक ले जाने की नीति है। तृतीयतः, उसे समुचित व्यापार नीति द्वारा अपनी निर्यात और घरेलू उद्योगो को सहायता करनी चाहिए। नियोजन के उच्च एव सुदृढ़ स्तर को स्थिर रखने के लिए ऐसी तथा अन्य विधियां आवश्यक है।

१०. अर्ध-विकसित देशों की विशिष्ट समस्याएँ (The Special Problems of Under-Developed Countries)—अर्ध--विकसित देशों में पूर्ण नियोजन से सबधित समस्याओं का गभीरतापूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। निःसदेह, हमारे लिए तो इस देश में इनका विशेष महत्त्व है। जब किसी देश के साधनों का पूर्ण विकास नही होता, तो वह इन बातो के कारण पीडित होता है। अत्यधिक बडी मनुष्य शक्ति, और वह भी अधिकांशतः अनिपुण और कृषक; अत्यधिक छोटी पूजी और छोटे कारखाने, जो अधिकांशतः उपभोग वस्तुओ का ही निर्माण करते है। इस प्रकार के देशों को सर्वप्रथम अपने सामरिक साधनों, अर्थात्, भारी उद्योगो या आधारमूलक उद्योगों—इस्पात, लोहा, कोयला, सीमेट, रासायनिक आदि—का विकास करना चाहिए। यदि इन साधनों का शीघ्रतापूर्वक विकास करना होगा तो यह अत्यावश्यक है कि सरकार इस दिशा में सक्रिय नेतृत्व ग्रहण करे। यह कार्य, विनिमय नियंत्रण और भौतिक कोटों के द्वारा घरेलू बाजार की विदेशी प्रतिद्वंद्विता से रक्षा करने से किया जा सकता है। इससे अधिक वह सार्वजनिक विनियोग की धारा को भारी रचनात्मक उद्योगों की दिशा में निर्दिष्ट कर सकती है, और साथ ही वह निजी विनियोगों को इन उद्योगों की दिशाओं में प्रवृत्त करने की प्रेरणा भी कर सकती है। जो भी हो, इस प्रकार के अर्ध-विकसित देशों में इस बात की विशेष आवश्यकता है कि उनकी उपलब्ध श्रम-शक्ति का यथासंभव पूर्ण उपयोग किया जाय। वस्तुतः, यदि इन देशों के आर्थिक साधनों का शीघ्रतापूर्वक विकास करना है तो यह आवश्यक है कि श्रम का उपयोग परिपूर्णता के साथ हो किन्तु पूजी का उपयोग थोड़ा हो। कहने का तात्पर्य यह है कि सरकार को ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन देना चाहिए, जिनमें पूजी की अपेक्षा श्रम का अधिकाधिक उपयोग हो। ऐसा करने से अर्थव्यवस्था सरलता एवं गतिपूर्वक प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकेगी।

●

कुछ प्रश्न

TYPICAL QUESTIONS

[Answers to most of these questions can be found in *Refresher Course in Economic Theory* by the same author.]

Introductory

1. Economics has been defined as a science of wealth. Is this definition adequate or appropriate ? Give reasons.

2. Is it correct to describe Economics as a 'dismal' science ? Give reasons. (P. U. 1949)

3. "Economics is a study of man's actions in the ordinary business of life." Discuss. (C. U. 1934, 1940 ; Bom. 1942 ; All. 1943)

4. "Economics is the science which studies human behaviour as relationship between ends and scarce means which have alternative uses." (Robbins) Discuss.

5. "Whatever Economics is concerned with, it is not concerned with the causes of material welfare." (Robbins) Discuss. (Delhi Univ. B.H. 1951)

6. "Economics deals with means ; the study of ends lies outside its scope." Give reasons. (P. U. 1939)

7. "The role of the Economist is more conceived of as that of the expert who can say what consequences are likely to follow certain actions, but who cannot judge, as an Economist, the desirability of these actions." Discuss. (P U. 1941)

8. "The function of the Economist is, therefore, to explore and to explain, not to uphold or to condemn." Comment.

9. "The study of Economics does not furnish a body of settled conclusions immediately applicable to policy , it is a method rather than a doctrine, an apparatus of the mind, a technique of thinking, which helps its possessor to draw correct conclusions." Comment.

10. Examine the nature and scope of Economics.
(C. U. B Com 1931 , Agra 1928, 1933, 1939 . Bom 1940)

11. "Emphasis has now shifted from economy to what may appopriately be called political economy." Discuss.

12. "Economics cannot be a science because the economists disagree." Comment. (C. U. 1933 , Agra 1935 ; P. U. 1931)

13. What is an Economic Law ? Examine in this connection the statement that "the laws of Economics are to be compared with the laws of tides rather than with the simple and exact law of gravitation."

(P. U. 1930 , Agra 1939 , C.U. 1926 , Delhi 1934 , Madras 1936 , Patna 1945)

14. Explain briefly the method most suited to economic investigations.
(P. U. 1937 ; Agra 1937 ; C. U. 1935)

15. Describe the End and Method of the Science of Economics. (P. U. 1950)

16. What is Economics ? Consider its relation to other social sciences.
(C. U. 1917, 1939 ; P. U. 1940)

17. Estimate the utility of Economics as an aid to good citizenship in a democratic State. (P. U. 1942)

18. Define Wealth and discuss the relation between Wealth and Welfare.

19. What is economic welfare ? To what extent can the study of economics help in the advancement of economic welfare ? (Delhi 1952)

Consumption

1. Reconcile the following statements :—

(*i*) Consumption is the end of all economic activity.
(*ii*) Human wants are the starting point of all economic activity.

2. Explain the Law of Stability of Want. Yet how are wants insatiable ? (P. U. 1949)

3. Discuss the relation between wants and utility. (All. 1936 ; Pun. 1936 ; Agra 1931, 1931)

4. Discuss the characteristics of consumer's demand. Can any laws be formulated ? Explain. (P.U. 1948)

5. Define the Law of Diminishing Utility, and explain carefully the relation it bears to the principles of taxation. (P. U. 1933)

Or,

Estimate its importance in shaping the theory and practice of modern taxation. (P. U. 1939)

6. What is utility ? Show that the total utility is maximum when marginal utility is zero.

7. Explain the principle of maximum satisfaction and show how it determines our scheme of expenditure. (P. U. 1942 ; C. U. 1923)

8. What is meant by the principle of Equi-Marginal Returns ? Explain its importance in Economics. (P. U 1944)

9. Examine the principle of Substitution as applied to industry. (P. U. 1949)

10. Write a note on marginal rate of substitution. (P. U. 1952)

11. Write a critical note on consumer's surplus and discuss its importance in economic theory. (P. U. 1943, 45 , C. U. 1922, 1926, 1945)

12. Explain the conception of consumer's surplus. What are the effects which a change in the conditions of supply is likely to exert on it ? (P. U. 1933)

13. What are the assumptions underlying the concept of consumer's surplus ? Discuss the uses of the concept in Welfare Economics. (Delhi, B H. 1951)

14. What is consumer's surplus ? Show how it is related to individual demand price and market price. (C. U. 1951)

15. Discuss the utility of the concept of consumer's surplus both as an explanation of economic phenomenon and as a guide to economic policy. (C. U. B. A. Hons. 1946)

16. State the Law of Demand. Discuss the relationship between the Law of Diminishing Utility and the Law of Demand. (C. U. 1934 ; Agra 1932 ; All. 1937, 1939, 1940 , Nag. 1935 ; Pat. 1940, 1945 ; Pun. 1945)

17. Enumerate the factors which lead to the increase of demand for a commodity. Show how an increase of demand may be represented diagrammatically. (P. U. 1951 Suppl.)

18. Why does a consumer buy only a definite amount of a commodity at a given market price and neither more or less. (C. U. 1950)

19. What is the nature of the demand curve for the product of an individual firm under full and free competition ? (P. U. 1952)

20. Write a note on the nature of demand for a factor of production. (P. U. 1951 Suppl.)

21. How would you explain the demand of a consumer in terms of his preference ? Is this explanation an improvement upon that in terms of utilities ? (C. U., B. A. Hons. 1951)

22. Explain Elasticity of Demand. Carefully indicate qualifying assumptions. (P. U. 1950)

23. Consider the effect of elasticity of demand on: (*a*) Taxation, and (*b*) monopoly profits. (C. U. 1936)

24. Explain the concept of 'elasticity of demand'. What is its use in the theory of value? (P. U. 1934, 1938, 1942)

25. How can elasticity be measured?
(P. U. 1938, 1940; C. U. 1936, 1942, 1946)

State the circumstances in which a demand curve throughout its length, represents unit elasticity. (P. U. 1952).

26. Define elasticity of demand and give a few instances of the use of the concept in economic analysis. (P. U. 1951)

27. Point out the importance of elasticity of demand and of supply in the determination of international value. (P. U. 1951 Suppl.)

28. Show that (*a*) the law of demand states a (qualitative) relation between the prices prevailing in a market and the amount demanded at each price; and

(*b*) The elasticity of demand expresses a (quantitative) relation between the *change* in price and the corresponding *change* in the amount of demand.
(C. U. 1952)

29. Explain the concept of elasticity of demand and give a technique of measuring this elasticity.

Take a falling straight line demand curve. Demonstrate how the elasticity of demand at a lower point on the curve is less than the elasticity of demand at a higher point. (Delhi, 1951)

30. Enunciate the Law of Diminishing Utility bringing out the distinction between total utility and Marginal Utility. Also explain how the law is related to: (*a*) The Law of Demand, (*b*) Elasticity of Demand, (*c*) The Law of Equi-Marginal Utility. Explain the relation between Elasticity of Demand and Consumer's surplus.

31. Write short notes on any *three* of the following:—

(*a*) Joint Demand. (*b*) Standard of Living. (*c*) Engel's Law. (*d*) Consumer's indifference.

32. Explain the concept and properties of indifference curves.
(P. U. 1952 Suppl.)

Give examples showing the use of such curves. (Delhi, 1951)

33. What do you understand by Consumer's sovereignty? How far is it real and what are its functions? (P. U. 1943)

Production

General

1. "Production is the creation of utilities." Comment.

2. What is production? What influences govern its volume? Discuss the significance of the volume of production.

3. How can the volume of production be measured?

4. Indicate the criticism to which the traditional classification of the factors is subjected.

Land

1. In economic discussion land is usually distinguished from capital. How far, in your opinion, is the distinction valid? (P. U. 1951 Suppl.)

2. Explain the Law of Diminishing Returns both with special reference to agriculture and as a general law applicable to all industries. (P. U. 1937)

3. State the Law of Diminishing Returns with its limitations. (C. U. 1926, 1937; Agra 1937; All. 1934; Delhi 1936; Mad 1937; Nag 1941; Pun. 1937)

4. Examine the significance of the Law of Diminishing Returns and indicate its bearing on (*i*) the Malthusian Theory of Population, and (*ii*) the Theory of Rent.

5. Does the Law of Diminishing Returns apply also to factors other than land ? Explain fully.

6. Explain the Law of Diminishing Returns and show how it is a statement relating to the limitation of substitution of one factor of production for another ?
(P. U. 1951)

Labour

1. Define Labour. Distinguish between productive and unproductive labour.

2. What are the peculiarities of labour as a factor of production ?

3. What was Malthus's Theory of Population ? Discuss the present position concerning this problem. (P. U. 1940 ; Agra 1944 ; Nag. 1942)

4. Write a note on the Optimum Theory of Population ? (P. U. 1935)

Define over-population and under-population in the light of the Optimum Theory. (Banaras 1938 ; Dacca 1942, 1943)

5. "The problem of population is not one of mere size in relation to food supply but of efficient production and equitable distribution." Discuss.

6. What are the factors that affect the efficiency of labour and what method do you consider best to measure it ?
(P. U. 1938 ; C. U. 1939 ; Agra 1940 , Nag. 1942)

7. Examine the conditions that promote efficiency of Labour. (P. U. 1948)

8. What is meant by Division of Labour ? Briefly discuss its advantages and disadvantages. (P. U. 1939 ; C. U. 1930 ; All. 1939)

9. "Division of Labour is limited by the extent of the market." Discuss.
(P. U. 1943)

10. "Of all sorts of luggage man is the most difficult to be transported." Discuss with special reference to India. Discuss the factors which in recent years have increased the mobility of labour.

11. Discuss the causes that hinder the mobility of labour. Would there be difference in wages if there were perfect mobility of labour ?
(C. U., B. A. Hons. 1946)

Capital

1. Define capital and briefly discuss the functions it performs in production.
(C. U. 1924, 26)

2. Write short notes on Fixed Capital and Circulating Capital, and mention the factors that determine the ratio between the two in an industry.

3. 'Land is capital.' Discuss.

4. "In the short run Labour and Capital are competitive ; in the long run they are complementary." Discuss the statement. (C. U. 1932)

5. What do you understand by capitalistic production ? What are its advantages ? Is capitalistic production associated with capitalism only?
(Delhi 1952)

6. Review the factors that are essential to capital formation in a country.
(P. U. 1949, 1950; Delhi 1951)

Account for slow growth of capital in India.

7. Discuss the economic effects of the introduction of machinery. Does machinery create unemployment ? Give reasons.

8. What is meant by mobility of capital ? How far can capital be said to be mobile in India ?

Organisation

1. Analyse the functions of the entrepreneur and show what light this analysis throws on the nature of profit. (C. U., B. A. Hons. 1946)

2. How far have the functions of the entrepreneur been delegated in modern times ?

3. What is the nature of the services performed by the entrepreneur and how is he rewarded ? (C. U. 1943)

4. Indicate the characteristic features of a joint stock company and compare it with partnership.

5. Account for emergence of combinations in industry. Do they make for industrial stability ? (C. U., B. A. Hons. 1951)

6. Consider the difficulties in the way of the maintenance of industrial combinations.

7. Discuss the various forms of combinations among producers Are such combinations necessarily injurious to society ? (C. U. 1927)

8. What are Trusts and Cartels ? Examine their merits and demerits. (C. U. 1945)

9. Explain with illustrations what is meant by (*a*) Vertical combination, (*b*) Horizontal combination.

10. What is a Holding Company ? Discuss its merits and demerits.

11. Discuss the contention that monopoly retards rather than promotes efficiency. Give reasons for your views. (P. U. 1949)

12. What do you understand by monopoly ? What difficulties are encountered in its formation ?

13. Compare a joint stock concern and a co-operative store as types of business organisation.

14. Discuss the fundamental principles underlying co-operation, and show how it avoids the drawbacks of both capitalism and socialism.

15. Account for the increasing scope of State undertakings and indicate their advantages and drawbacks.

16. How far is it desirable to extend State ownership of industries as a means of securing additional public revenues ? (C. U B. A. Hons. 1946)

17. Explain the origin of rationalisation and indicate its main features.

18. Give the main features of modern industrial organisation.

19. What do you understand by the Scale of Production ? Indicate the factors that lead to variations in the scale of production. (P. U. 1936, 1938)

Or,

Indicate the factors that determine the size of industrial unit in a community. (P. U. 1938)

20. Explain what is meant by internal and external economies, and consider the part played by them in bringing about increasing returns. (P. U. 1941)

21. " The growth of a firm must be considered biologically and not mechanically. What is optimum and what is sub-optimum depends on the industrial environment."

Explain the statement and consider its implications for the policy of nationalisation. (C. U., B. A. Hons. 1951)

22. Why are modern industries organised on a large scale ? Indicate the limitations of large-scale production and explain in this connection the concept of the optimum firm.

23. Describe the forces which perpetuate the existence of small-scale business. Illustrate your answer by reference to Indian conditions. (P. U. 1952 Suppl.)

24. Explain the economics of cottage industry. Mention the factors that can promote its efficiency. (P. U. 1950)

25. Explain the Law of Diminishing Costs. In what sense can its operation be checked ? (P. U. 1949)

26. " The part played by Nature conforms to Diminishing Returns while the part which Man plays conforms to Increasing Returns." Discuss.

27. Is it proper to regard the laws of increasing and decreasing returns as in some way parallel to one another ? (C. U., B.A. Hons. 1951)

28. Account for the operation of the Law of Diminishing Returns in Indian agriculture, and say how it can be counteracted.

29. " The Law of Diminishing Returns is the only one phase of the universal law of variable proportions." Explain.
(C. U., B. Com. 1942 ; Nag. 1943 ; Dacca 1943)

30. " Labour and capital cannot be withdrawn from a part of the land and centralised on the rest without causing a reduction in social income." Bring out the significance of this statement. (C. U 1944)

31. Enunciate the Law of Constant Returns and indicate the cases where it operates.

32. Distinguish between Optimum Firm and Representative Firm. What causes determine the size of optimum firm ?

33. Discuss the causes of localisation of industries, and account for the present-day tendency towards decentralisation. (P. U. 1939)

34. Why does an industry once started in a particular place tend to remain there ?

35. On what principles are the factors of production combined by an entrepreneur ?

36. Amplify the statement that there is a continual movement towards equality of advantages in different fields of industry, and note the circumstances under which the tendency may become inoperative. (P. U. 1939)

37. How are the factors of production allocated among the various uses ?

38. How far is the modern economic system adaptable ?

Exchange

Exchange, Markets and Price Formation

1. Distinguish between perfect and imperfect competition. Bring out the implications of perfect competition.

2. Analyse the essential features of free and full competition. (P. U. 1951)

3. Discuss the merits and demerits of perfect competition.

4. Enumerate the factors which hinder the operation of free competition in a market. (P. U. 1952)

5. Define a market and discuss the factors which determine its size for different commodities. (P. U. 1940 ; C. U. 1920)

What would you expect to be the size of the market in bricks, vegetables and precious metals ?

6. How would you distinguish between a perfect market and an imperfect one ? What are the conditions of a perfect market ?

7. What is meant by organised marketing ? In what respect and why is such marketing lacking in India ?

8. What are the functions of a Stock Exchange ? How does it facilitate the financing of industries ? (P. U. 1934 ; C. U. 1930)

9. Describe the working of either stock exchange or produce exchange with which you may be familiar. (P. U. 1943)

10. Write short notes on any three of the following:—(*a*) Contango; (*b*) Futures; (*c*) Produce Exchange; (*d*) Rigging; (*e*) Opportunity Costs; (*f*) Imperfect competition; and (*g*) Hedging.

11. Distinguish between legitimate and illegitimate speculation. Explain the economic consequences of the latter. (P. U. 1933, 1937)

How would you suppress illegitimate speculation ? (P. U. 1937)

12. What is the economic role of speculation ? What are its abuse, and how would you deal with them ?

13. Distinguish between the market price and the normal price. Point out the dominant influences that determine them. (C. U. 1951)

14. Explain the meaning of supply in the contest of analysis of (*a*) market value, (*b*) normal value. (P. U. 1952 Suppl.)

15. "If prices fall, demand increases, but if demand increases prices rise; I cannot see how it is that prices ever change." Comment and criticize. (P. U. 1934)

16. What is meant by equilibrium price ? How is it determined under competitive conditions ? (C. U. 1929, 1933, 1939)

17. Discuss briefly the problem of competitive price under conditions of decreasing return. (C. U. 1946)

18. Show how in perfectly competitive equilibrium the price of a commodity is equal to its marginal and average cost of production. Illustrate your answer diagrammatically. (Delhi 1952)

19. What is Normal Price ? How is it determined ? (P. U. 1940; C. U. 1917, 1923)

Under what conditions can normal value change ? (P. U. 1951 Suppl.)

20. Classify the problem of value from the point of view of time, noting carefully the interpretation which you put on 'demand' and 'supply' in each case. (C. U., B.A. Hons. 1946)

21. A rise in demand may lead to fall in price. How do you explain the paradox ?

22. Discuss the effects of increased consumption of (*a*) Wheat, (*b*) Steel manufactures on the value of these commodities. (C. U. 1931, 1934)

23. Briefly explain the theory of short period normal value, and indicate how the problem of quasi-rent arises in the analysis of short-period normal value.

24. "Ricardo and his followers maintain that the value of a commodity is fixed by its cost of production; while Jevons and those who agree with him contend that value is determined by its marginal utility." Which of these two views is correct ? (C. U. 1935)

25. "Cost of production, eagerness of demand, margin of production and price of the produce mutually govern one another." Explain.

26. What do you understand by the term 'cost of production' ? Distinguish between Prime Costs and Supplementary Costs and examine the bearing of this distinction on the theory of value. (Pun 1945; All 1935; Delhi 1936)

27. Show the cost curve of a firm under competition. (Delhi 1951)

28. Distinguish between Prime Costs, Supplementary Costs and Total Cost. Is the distinction valid for the long-period ? (C. U. 1930)

29. Fully explain the significance of the distinction ? (P. U. 1951 Suppl.)

30. Marginal uses do not govern value, but are governed together with value by the conditions of demand in relation to supply." Elucidate. (All 1933; Ban 1939)

31. The normal price of a commodity cannot be permanently either above the cost of production or below it. Why ?

32. "Water is more useful than gold, and yet gold has greater value." How do you explain the paradox ? (C. U. 1932, 1937 ; Pat 1940)

33. Explain the concept of 'Opportunity Cost' and discuss its bearing on the problem of relative values.

34. Explain the marginal theory of value and show why it is necessary to study the behaviour of demand and supply at the margin.

35. In every market some possible buyers are willing to bid very high and some possible sellers to sell very low. Why then, do lower bids and higher offers not become effective ? (P. U. 1935)

36. "There is a balancing mechanism brought about through price which is at the very foundation of the economic life and is the final deciding factor of the way in which man's efforts are distributed in alternative walks of life." Discuss. (C. U., B. A. Hons. 1946)

37. Indicate how the problem of value is influenced by short and long-term considerations. Illustrate. (P. U. 1949)

38. Distinguish between a 'Marginal Firm' and a 'Representative Firm.' Which of these do you think, and why, is more important in price determination in practical life ? (P. U. 1938)

39. Explain Marshall's concept of Representative Firm and discuss its use in the determination of value. (Delhi, B.H. 1951)

40. Distinguish between monopoly prices and competitive price. How are monopoly prices determined ? (P. U. 1935, 1939)

41. Explain the factors which determine price under simple monopoly. Use a diagram to illustrate your answer. (Delhi 1951)

42. Indicate the methods and objects of Price Discrimination under monopoly. (P. U. 1939)

43. Enumerate the conditions which are necessary in order to enable a monopolist to practice price discrimination successfully. (C. U., B. A. Hons. 1951)

Examine the effect of such discrimination on consumers surplus.

Distinguish between simple monopoly price and discriminating monopoly price. How is the former determined ? (Delhi 1952)

44. "Monopoly price is influenced by cost of production in a different way from competitive price." Discuss. (P. U. 1946)

45. Both the monopolist and the competitive producer aim at maximising their net gain. Show how they achieve their objective. (P. U. 1952)

46. Show how monopoly price is affected by (*i*) elasticity of demand, (*ii*) substitutes, (*iii*) potential competition, (*iv*) regard for future demand, and (*v*) risk of legal interference.

47. How far is monopoly detrimental to the consumer ? Indicate the restraining influences to which a monopolist is subject.

48. Discuss the applicability of the principle of joint cost to the case of railway rates. (C. U. B.A. Hons. 1952)

49. How is value determined under imperfect competition ? How will the rise in price of wool affect the price of mutton ? (C. U. 1940)

50. Explain how prices are fixed under oligopoly. (C. U., B.A. Hons. 1952)

51. Distinguish between 'joint demand' and 'composite demand'. Explain the difficulties of price determination under conditions of joint demand.

52. What is joint supply ? How is value determined under joint supply ?

53. Gas and coke are jointly produced. A duty of 10% is imposed on gas. How will it affect the price of coke ? (C. U. 1932)

54. " Cost of production is coming more and more to mean joint cost. The price of a given product may bear only a remote relation to its individual cost of production." Elucidate. (C. U. 1927)

55. How is the value of goods in joint demand determined ? State the conditions under which a factor of production can permanently raise its remuneration. (C. U. 1934 ; P. U. 1945 ; All. 1942)

56. Briefly explain the meaning of the following proposition :—

" The tyranny which one factor of production of a commodity might in some cases exercise over the other factors through the law of derived demand is tempered by the law of substitution." (P. U. 1952 Suppl.)

57. What do you understand by joint demand ? Briefly explain the theory of normal price in the case of joint demand. (Delhi 1951)

58. What do you understand by ' composite demand ' and ' composite supply ' ? Explain how value is determined in such cases.

59. State briefly : (*a*) the relation between the prices of competing goods, (*b*) the relation between the prices of complementary goods, (*c*) the relation between the prices of joint cost goods. (C. U. 1952)

Distribution

General

1. " National Dividend is at once the aggregate net product of and the sole source of payment for, all the agents of production within the country. " Discuss. (C. U. 1935 , Mad 1939 ; Agra 1942)

2. Explain the term ' National Dividend '. Briefly discuss the principle which governs its distribution among various agents of production (C. U. 1935 , Agra 1942 , Pat 1944 and Mad 1939)

3. Why does the marginal productivity of a factor of production diminish as more of it is employed ? In this connection show that a change in the supply of one factor reacts on the earnings of other factors. (C. U., B.A. Hons. 1951)

4. How far is the general theory of value applicable to the distribution of National Dividend ?

5. Carefully explain how the National Income of a country can be estimated. (C. U., B.A. Hons. 1952)

6. Analyse carefully the effect of an increase of population on rent, interest and wages. (C. U., B.A. Hons. 1946)

Rent

1. What do you understand by economic rent ? Distinguish it from contract rent.

2. Is there any fundamental difference between Land and Capital ? Consider the bearing of this question on the theory of rent. (C. U. B.A. Hons. 1952)

3. ' Rent is paid for the original and indestructible powers of the soil. Explain. (C. U. 1935, 54 ; Agra 1941 ; All 1935 ; Ban 1938 ; Pun 1938 , Nag 1943)

4. Attempt a statement of the Ricardian Theory of Rent. (P. U. 1935)

5. Examine the concept of Rent in relation to agricultural land and building cites in cities. (P. U. 1950)

6. Explain the Marshallian restatement of the theory of rent. (C. U. 1935 ; Agra 1936 ; Nag 1939 ; Mad 1936)

7. Give some modifications made by modern economists in the theory of rent.

8. Explain Opportunity Cost. What effect, if any, does it exert on rent ? (P. U. 1949)

9. Discuss the relation between agricultural rent and agricultural price.

10. Tradesmen often say that they have to charge high prices because they have to pay high rent. Do you agree ?

11. Explain, giving reasons, the effect on rent of (*a*) Improvement in the means of communication and transport, (*b*) Increase in population, (*c*) Improvement in methods of cultivation, (*d*) Economic progress in general.

12. " The rent of the land is not a thing by itself, but the leading species of a larger genus." What does Marshall mean by this statement ? (P. U. 1933)

13. Write short notes on any three of the following —

(*a*) Producer's Surplus ; (*b*) Quasi-Rent ; (*c*) Transfer Earnings ; (*d*) Margin of cultivation, and (*e*) No-rent land.

14. Distinguish between Rent and Quasi-Rent. Show how the two are related to transfer earnings. (P. U. 1951)

15. Would there be rent (*a*) if all lands were equally fertile ? (C. U. 1945 1929) ; (*b*) if there were no tendency to diminishing returns , (*c*) if the Government owned all lands ; (*d*) if the lands were cultivated by the owners , (*e*) if the supply of better lands were practically unlimited , and (*f*) if land revenue were abolished? Give reasons in each case.

16. Analyse the nature of rent and indicate the position it is likely to hold under a socialistic regime. (P. U. 1938)

Wages and other Labour Problems

1. What are the peculiarities of labour in relation to demand and supply ? (P. U. 1935)

2. Distinguish between real and normal wages. What factors would you take into consideration in determining real wages ? (C. U. 1925 , Agra 1941 ; All 1942 ; Mad 1937)

At present, in India, nominal wages are high, but real wages are low. Why ?

3. Briefly examine the various theories of wages. (C. U. 1924 ; Agra 1942 ; Delhi 1940 ; Pun 1935)

4. Briefly describe the most acceptable theory of wages of labour. (P. U. 1934)

State and examine the marginal productivity theory of wages. Is it correct to say that wages under pure competition are equal both to the marginal and average product of labour ? (Delhi 1951 ; P. U. 1951)

5. How far is it true to say that the theory of wages is an application of the general theory of value ? (C. U. 1931 , Agra 1939 ; P. U. 1935)

6. How are wages determined ? Do wages in India always attain the same level ? Give reasons.

7. How is marginal analysis applied in the determination of wages ?

8. " The rate of wages is determined by the discounted marginal product of labour." Explain.

9. Explain the connection between changes in the manner of living and the rate of earnings with reference to Indian conditions. (P. U. 1937)

10. How do you explain the fact that labour in different occupations earns strikingly different rates of wages ? (C. U. 1930)

11. Why do wages differ (*i*) from occupation to occupation, and (*ii*) from country to country ?

12. The average woman earns considerably less than the average man. Why ? (P. U. 1944 ; C. U. 1918)

13. Discuss the functions and utility of Trade Unions. (P. U. 1940)

14. Trace the influence of Trade Unions on the wage rate. Consider limitations. (P. U. 1940, 1948 ; C. U. 1936, 1938)

15. How far is it possible by trade-union action to raise wages permanently (*i*) in any given occupation, and (*ii*) in all occupations ?

16. It is sometimes said that labourers could increase their wages by first increasing their standard of living, that is, by demanding more and better goods for consumption. Is this statement correct ? Explain how wages are determined and how best labourers can succeed in increasing their wages. (P. U. 1934)

17. What do you mean by the 'minimum wage' ? What considerations should enter in its determination ? (P. U. 1937)

18. Examine the basis for the determination of minimum wages rate. Consider the limiting factors. (P. U. 1949)

19. Discuss the desirability and feasibility of (*a*) national minimum wage and (*b*) minimum wage for selected occupations.

20. Examine the merits and demerits of the (*a*) Labour co-partnership, (*b*) Profit-sharing, and (*c*) Sliding scale of wages as means of settling differences between labour and capital. (C. U. 1944, 1947)

21. Analyse the causes of, and suggest remedies for, unemployment.

22. "Unemployment may be regarded as a shadow side of modern progress." Discuss.

23. What is Social Insurance ? How far has India gone in providing social insurance to the factory workers ?

24. What are the principal labour problems of today ? How would you attempt to solve them in India ? (P. U. 1933)

25. What is meant by economy of high wages ? Explain the statement that dear labour is really cheap labour. (C. U. 1944)

Interest.

1. Distinguish between Gross Interest and Net Interest and analyse Gross Interest into its various constituents.

2. Why does a village money-lender charge 18% interest, whereas a bank charges only 6% ?

3. What do you understand by Interest ? How does it arise ?
Indicate the factors that determine the general rate of interest. (P. U. 1939)

4. Why is interest paid ? Do you think that the complete abolition of interest payment would cause all savings to cease ? (P. U. 1942)

5. Write short notes on :

(*a*) Liquidity Preference, (*b*) Forced Savings.

6. Explain the concept of "liquidity preference". What part does liquidity preference play in the determination of the rate of interest? (P. U. 1952)

7. Distinguish between money rate of interest and real rate of interest. How is the former a necessary price for overcoming the preference for liquidity ? (Delhi 1952)

8. Account for differences in rates of interest on loans of different kinds, with special reference to long-term and short-term rates. (C. U., B. A. Hons. 1951)

9. Enumerate the causes that give rise to interest payment. Does the net rate of interest tend towards equality ? (P. U. 1945)

10. "Interest is the measure of marginal productivity or marginal forbearance." Explain and comment.

11. "Interest is the price of time." Discuss.

12. State Keynes' Theory of Interest and explain how it differs from the classical theory. (Delhi, B. A., 1951)

13. Interest balances the supply of capital savings and capital investments. Discuss. (P. U. 1951 Suppl.)

14. Why is there a tendency to equality in interest rates and not in wage rates ?

15. What do you understand by 'mobility' in the economics of Distribution ? Indicate its relationship to the rates of interest. (P. U. 1936)

16. Examine the effect of economic progress on interest. Will the rate of interest ever fall to zero ?

17. Compare Rent and Interest.

18. Discuss the socialist criticism of interest.

19. What would be the position of interest in a socialist state ? Is there any justification for controlling rates of interest by legislation ?

Profits.

1. Distinguish between Gross Profits and Net Profits. What are the constituents of gross profits ?

2. Who is to be regarded as the risk-taker in modern economic organisation ? Is he paid for it and, if so, on what principles ?

3. Give briefly the important theories of profits.

4. Discuss the importance of the distinction between the Static and Dynamic state for the theory of value and for the theory of profits (C. U. B.A., Hons. 1952)

5. Write short notes on :
(*a*) Net profits. (*b*) Normal Profits.

6. "Profits are like rent and do not enter price." Do you agree ?

7. Explain : "Profits are a constituent part of normal supply price." (P. U. 1942)

8. Distinguish between *normal* profits and *actual* profits. Show how expected profits influence production. (C. U. 1952)

9. Explain the causes of differences in normal profits.

10. Examine the validity of the following propositions :—
(*a*) Profits tend to equality ;
(*b*) Profits tend to a minimum.

11. Is there any social or economic justification for profits ? Do you consider that profits are excessive under the present capitalistic system ?

12. Critically examine the socialistic view of profits as a share in distribution. (C. U. 1922)

13. Indicate the nature of profits and indicate the position they are likely to hold under a socialistic regime. (P. U. 1943)

Money

General.

1. "Money is what money does." Explain this statement and briefly define money.

2. If all money suddenly disappeared from the country, what difficulties would be encountered in ordinary business ?

3. Write short notes on :—(*a*) Bimetallism, (*b*) Reflation, (*c*) Seigniorage, (*d*) Fiduciary money, (*e*) Standard money, (*f*) Token money, (*g*) Gold Bullion Standard, (*h*) Monometalism, and (*i*) Legal Tender.

4. Explain Gresham's Law. Indicate the essentials of a sound monetary system.

5. "The Indian rupee is a curious mixture of token and standard coin." Discuss.

6. What are the prospects of the managed paper currency standard ?

7. Elucidate the merits and drawbacks of a paper currency system. Indicate methods of control. (P. U. 1949)

8. Account for the adoption of gold as a money material. Why has it been discarded in recent times ?

9. Distinguish between (*a*) free coinage and gratuitous coinage. (*b*) mint price and market price of gold.

10. Define money and briefly discuss its various functions. How are these functions performed by the different forms of money that we use ?

Monetary Systems.

1. What do you mean by the term "System of Money" ? What are the essential features that a monetary system should have before it can be looked upon as satisfactory ? (P. U. 1936)

2. What do you understand by bi-metallism ? Briefly discuss its merits and demerits.

3. Discuss the strong and weak points of the gold standard and indicate its future.

4. State the grounds on which the decision to restore gold Standard in Great Britain in 1925 was criticised in the ensuing years. Indicate also the causes that led to the suspension of the gold standard in 1931. (C. U. B.A. Hons., 1946)

5. Explain the principal features of the Gold Bullion Standard and compare it with Gold Exchange Standard.

6. How far can Gold Standard ensure stability of the price level ?

7. Show that a country may have a Gold Standard though it has no gold in circulation and no great stock of gold.

8. What is Gold Exchange Standard ? Under what conditions is it likely to be a failure ? (P. U. 1936)

9. The case for the gold standard is the case for a strict *de jure* gold standard, with each country following "the rules" so that no gold standard currency becomes distrusted. Explain and illustrate. (P. U. 1941)

Value of Money

1. In what sense is the phrase 'value of money' used ? What do you understand when it is said that money is cheap or money is dear ?

2. What is the Quantity Theory of Money ? Does this theory give adequate explanation of the forces governing the value of money ? (P. U. 1951 Suppl.)

3. Why does the value of money fluctuate from time to time ?

4. Explain clearly the relation between the quantity of money in circulation and general price level in the country. (C. U. 1942, 1938, Agra 1942 ; Delhi 1939)

5. "The value of money depends on its quantity." Do you agree ?

6. What are the considerations determining an individual's demand for money, and what are the principal influences which cause variation in this demand ?

7. What, according to the Quantity Theory of Money, would be the effect on the general level of prices of the following (other things being supposed to remain the same)—

(*a*) Improvement in the means of communication ; (*b*) The growth of trade and population ; (*c*) The development of deposit banking ? (P. U. 1932)

8. Give reasons for the view that the Savings and Investment theory marks an improvement on the older formulation of the Quantity Theory in explaining price changes. (C. U., B. A. Hons. 1946)

9. "Elasticity of demand for money is unity." Discuss.

10. "The value of money, like the value of anything else, is mainly a question of demand and supply." Elucidate.

11. What do you mean by changes in the value of money? How can you measure these? Do you notice any change in the value of Indian money these days? If so, account for these. (P. U. 1947)

12. "Since everyone is both a creditor and a debtor, changes in the value of money do not matter." Comment and criticise. (P. U. 1935)

13. Indicate briefly the influence that the volume of credit exercises on the price level. How do you measure the latter? (P. U. 1937)

14. What are weighted index numbers and what purposes do they serve?

15. What are index numbers? How are they prepared? Briefly discuss the utility of index numbers.

16. Describe the construction of Cost of Living Index Numbers. Illustrate their utility in the settlement of wages disputes. (P. U. 1950)

17. Explain how real wages index number is prepared. Indicate its uses in labour disputes.

18. "Inflation is unjust and inequitable and deflation is inexpedient." (Keynes) Discuss.

19. What are the evils of currency inflation? What are the special war-time factors contributing to it? (Bom. 1942)

20 What is inflation? Discuss its effects upon production, price-level and distribution. (C. U. 1951)

21. Briefly mention the evils associated with inflation. What measures can you suggest to counteract these evils?

22 "Stable prices are as harmful and iniquitous as rapidly rising or rapidly falling prices." Discuss.

23. Indicate the factors that determine the price-level of a country. (C. U. 1944)

24. "Thus money which is a source of so many blessings to mankind becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion." Elucidate.

25. Explain the terms 'inflation', 'deflation' and 'reflation'. Discuss the influence of an unbalanced budget on prices. (C. U. 1936)

Credit and Banking

1. Explain the economic advantages of a sound system of credit.

2. "Like all useful and delicate instruments, credit is dangerous when abused." Why? (P. U. 1935)

3. 'Credit is capital.' Criticise. Trace the effect of credit on prices.

4. What do you mean by "Money Market"? Indicate the constituents of the money market and the nature of the transactions which take place therein. (Delhi 1952)

5. What is an exchange bank? Indicate its place in the economic organisation of the country. (P. U. 1937)

6. Explain the following:—

(*a*) 'Every bank loan creates a deposit.'
(*b*) 'A good bank manager knows the difference between a bill and a mortgage'.

7. What functions does a commercial bank perform? What economic advantages does it confer on the community?

8. Explain how a bank deposit arises, and consider the limitations on banks to create credit.

9. Show why banks should maintain adequate cash reserves. What help can legislation offer in this matter ?

10. What considerations influence the bankers in determining the character, composition and the amount of his reserves ?

11. In what sense is it true to say that the main function of a bank is to exchange its own credit for its customer's credit ? What limits, if any, are there to the bank's power of creating credit ? (C. U. 1932 ; All. 1940 ; Agra 1928)

12. Discuss the role of bank credit in national economy and the importance of controlling such credit. (Delhi 1951)

13. Prepare an imaginary balance-sheet of a bank.

14. What are the main functions of the Central Bank ? How far has the Reserve Bank of India succeeded in discharging these functions ? (P. U. 1941)

15. What are the principle methods of regulating note issue ? (P. U. 1940)

16. Consider the need for controlling monetary supply. Briefly enumerate the more important methods which the central bank of a country may adopt in order to control such supply. (P. U. 1951)

17. Discuss the aims and objects of Bank Rate, Manipulations and Open Market Operations by central banking authorities. (P. U. 1939)

18. Explain the significance of bank rate.

How does it influence the general level of production and prices, business activity and employment ? (Delhi 1952)

19. Examine the effects produced by bank rate charges with special reference to internal economic activity.

20. "Bank rate as an instrument of credit control has become obsolete." Discuss.

21. Enumerate the main difficulties in the way of and limitations to the central bank's power of controlling credit.

22. Indicate the importance of the Clearing House System in modern banking. (C. U. 1951)

International Trade

1. "In fact, foreign trade is nothing more than a highly organised system of barter." Explain.

2. "Foreign trade is merely an extension of the principle of division of labour." Explain.

3. In what respects does international trade differ from home trade ?

4. Why is it necessary to formulate a theory of international trade distinct from that of domestic trade ?

5. Write short notes on any three of the following :—(*a*) Law of comparative costs, (*b*) Invisible exports, (*c*) Dumping, (*d*) Discriminating Protection, (*e*) Protective Tariff, (*f*) Free Trade, (*g*) Imperial Preference, (*h*) Import duties *vs.* import quotas, (*i*) Terms of Trade.

6. Examine the principle of comparative cost as an explanation of international trade. (C. U. 1950)

7. Explain, with examples, why certain countries export more than they import, while others import more than they export. (C.U. 1940)

8. Explain :—

(*a*) Why does a country import a commodity that it can produce more cheaply ?

(*b*) Why does a country produce a commodity which it also imports ?

9. Review the chief arguments in favour of free trade and show why it has been almost universally abandoned.

10. Discuss the case for protection in the light of modern economic conditions (P.U. 1951)

11. In what circumstances and how long should protection be given to an industry? Give reasons for your answer. (C.U. 1952)

12. Indicate the dangers of a policy of protection. How would you prevent or minimise them?

13. Distinguish between protective tariff and revenue tariff.

14. In what manner, and to what degree, is the infant industry argument compatible with the principle of multi-lateralism in international trade? Expound. (P.U. 1949)

15. Discuss on what grounds it may be considered desirable to impose restrictions on the freedom of international trade. (C.U. 1942, Mad. 1937)

16. Compare import duties and quota system as a means of protecting home industry.

17. Indicate the forms in which international trade has been restricted in recent times.

18. If a country to which other countries owe large sums of money puts almost prohibitive duties upon all imports, what will happen? (P.U. 1941)

19. Distinguish between Balance of Trade and Balance of Account. What steps can be taken to correct an adverse balance of account?

20. State and explain the various items in the balance of account of a country's foreign trade. (P.U. 1952 Suppl.)

21. Weigh the effects of Devaluation on the economy of a given country that may happen to adopt it. (P.U. 1950)

22. What do you understand by a favourable balance of trade? Is it necessarily advantageous to a country? Discuss with reference to Indian conditions.

23. Briefly mention the advantages and disadvantages of foreign trade.

24. Analyse the dictum that 'Exports pay for Imports'. How should this notion effect tariff policy? (P.U. 1949)

Foreign Exchanges

1. Explain how foreign exchange rates are determined. (C.U. 1947)

2. Show how the rate of foreign exchange is determined under a system of inconvertible paper currencies. (C.U. 1951)

3. What are specie points? On what do these points depend? Can exchange go beyond these points? If so, when and how?

4. "The purchasing power parity does not provide a ready-made measure of the true value of exchange." Discuss.

5. Enumerate the influences that bring about fluctuations in the rates of exchange. (P.U. 1936)

6. Estimate the effects of a depreciated currency on foreign trade and inland trade.

7. Discuss the limits of the fluctuations of the rate of foreign exchange under paper standard. (C.U. 1944)

8. What methods are adopted to correct adverse exchange rates?

9. "The distribution of metallic money is in a large measure the result of international forces." Explain the statement. What are the factors which cause gold movements nowadays?

10. Write brief explanatory note on the object and working of exchange control in any country with which you may be familiar. (P.U. 1942)

11. Write short notes on any three of the following —

(*a*) Cross Rate. (*b*) Purchasing Power Parity (*c*) Exchange Equalization Fund, (*d*) Exchange Control, (*e*) Blocked Accounts, (*f*) Clearing Agreements (*g*) Specie Points, (*h*) Mint Par.

12. Describe the origin and character of Exchange Clearing Agreements and discuss their influence on foreign trade (C.U.B.A. Hons. 1946)

Trade Cycles

1. What is a trade cycle ? Discuss some of its characteristics

2. Clearly indicate the main phases of a trade cycle

3. State the fundamental causes of the trade cycle and briefly point out the weapons with which to combat it. (P U. 1951 Suppl.)

4. What do you understand by a trade cycle ? How are the cyclical fluctuations in trade and industry caused ? Suggest remedies

5. What is a crisis, and how is it brought about ? (P U 1938)

6. Comment on the following dicta issued by a firm of manufacturers

When some one stops buying, some one stops selling

When some one stops selling, some one stops making

When some one stops making, some one stops earning

When some stops earning, some one stops buying P.U 1934

7. Discuss the various measures which should be adopted to fight business fluctuations.

8. What is, in your judgment, the most satisfactory explanation of trade cycles. Give reasons for your answer P U 1952

Public Economics

1. Write a critical note on the desirability of efficient State regulation of industry with reference to existing conditions in India (P U 1935)

2. Every State intervenes or interferes to some extent but some States go much further than others What, in your opinion, should be the limits of State intervention in economic matters ?

3. Enumerate the economic functions of a modern State

Public Finance

1. What is Public Finance ? Distinguish between Private and Public Finance

2. Write a short note on the doctrine of maximum social advantage as the aim of public finance Agra 1942 Mad 1934

3. Give the principal sources of income and the main items of expenditure of the Government of India. What changes if any, would you wish to effect State your reasons clearly in either case P U 1932

4. Examine the principles which should govern public expenditure and bring out their implications Delhi 1951

5. Distinguish between recurring and non-recurring expenditure. How would you proceed to raise income to meet them ? (P.U 1937)

6. Discuss whether (*a*) wars and (*b*) public utility projects would be financed by taxes or loans P.U. 1950

7. Discuss the effects of public expenditure on production and distribution.

8. Under what circumstances is unproductive expenditure justified ? Discuss the question with special reference to irrigation and famine relief in India.

9. What are the dangers attendant on excessive public expenditure ?

10 What are the main functions of taxation ?

11. Discuss how far taxation may be used for reducing inequalities in the distribution of wealth and economic welfare Explain in this connection the relative merits of productional and progressive taxes. (Delhi 1951)

12 What do you mean by a Progressive Tax ? With what ends in view is this kind of taxation usually adopted ? (P.U. 1938)

13. Enunciate the fundamental principles of taxation (P.U. 1952 Suppl.)

14 Discuss the Canon of Equity in taxation (P.U 1948 and 1949)

15 Mention the taxes which (*a*) violate and (*b*) observe the principle " The rich should pay more in taxes than the poor "

16 Explain the doctrine of equality of sacrifice in a system of taxation. (P.U 1949, 1948)

17 Examine and compare the merits of the different interpretations placed upon the principle of justice in taxation

18. Discuss the main considerations which usually underlie the system of taxation in a country (C.U. 1941)

19 How far is equality in taxation attained by income-tax and a tax on expenditure

20 Critically examine the following principles of taxation and point out the difficulties in their practical application

(*a*) The principle of equality of sacrifice

(*b*) The principle of ability to pay

21 Explain the Diffusion Theory in relation to taxation

22 Write short notes on

(*a*) Canon of Taxation, (*b*) Progressive Taxation (*c*) Treasury Bills

23 From the point of view of its effects on production, an inheritance tax has certain advantage over an income tax " Elucidate this statement (C.U. B.A. Hons 1946)

24. What do you mean by the incidence of tax ? Trace the incidence of (1) customs duty paid in Bombay on long cloth imported from Lancashire by a wholesale merchant in Delhi, who sold it to a retailer in Gurdaspur who sold it to a local resident, and income-tax paid by the retail dealer in Gurdaspur (P.U. 1936)

25. Discuss the practical importance of the study of the incidence of taxation. How would you determine the incidence of a tax on a consumable commodity ? (P.U. 1939)

26 Distinguish between impact and incidence of a tax Give illustrations Trace the incidence of a tax on (*a*) economic rent (*b*) monopoly, (*c*) building, (*d*) import duties, and (*e*) sales tax.

27 What is meant by 'differentiation' in taxation ? Give illustrations

28. Examine the merits and demerits of direct and indirect taxes

29. Examine the limitations of rising revenue by indirect taxes (C.U. 1952)

30 What is meant by taxable capacity ? What factors determine it ?

31 Examine the purposes for which public debt is generally incurred (C.U. 1946)

32. What are Public Debts ? Discuss the ways in which their burden can be diminished. (C.U. 1951)

33 Discuss the uses and dangers of external loans.

34 What are the uses of public loans in peace and war ? Should a war be financed by taxes or loans or both ?

35 How is war financed ? Can the burden of a war be shifted to posterity ? If so, how ?

36. Discuss inflation as a means of financing war

37. Some writers have urged that there should be only one tax a tax on land value. Do you agree or disagree with the view ? Give reasons for your answer. (P.U 1941)

38 Consider the view that an unbalanced budget necessarily leads to inflation. (C U B A. Hons 1946)

Economic Order

1. The present organization of industry is often described as capitalistic Give an explanation of the meanings of this term pointing out the distinguishing feature of capitalism. (P U. 1949, 19.

2. Discuss the economic consequences of the institution of private property (P.U 1951 Suppl)

3 Analyse the problem of inequality of incomes in modern society and suggest remedies (Delhi 1952

4. The modern economic system has been called "a Government by price" Do you agree ? Give reasons

5 "The present is frequently described as the age of Economic Freedom" Discuss

6 Critically examine the thesis that maximum satisfaction is attained under the capitalist *laissez-faire* economy (P.U. 1951)

7. What is wrong with capitalism ? How would you propose to remove its defects ? (C U. 1951)

8. Do you agree with the view that capitalism should be allowed to function unhampered in India for some time ? Give reasons

9. Critically examine the main tenets of socialism (P U. 1948)

10. Write a note on socialist programmes (C U 1946)

11. Weigh whether individual initiative is furthered or frustrated under socialism. (P U. 1949)

12. How does socialism maintain the principle of the right to work, and in what way does it achieve it ? Exemplify (P.U 1949)

13. Enumerate the distinguishing features of socialism Would you recommend a socialist economy for India ? (P.U 1952)

14. Analyse the essentials of Planned Economy. (P U 1950)

15. Trace the effects of social institutions on the economic life of a country. (P. U 1944)

16. Write short notes on :

(*a*) *Laissez faire* (*b*) Socialism (*c* Planned Economy